भारतीय समाज

राम आहूजा

रावत पब्लिकेशन्स
जयपुर • नई दिल्ली • बैंगलोर • मुम्बई • हैदराबाद • गुवाहाटी

ISBN 81-7033 639-2 (hardback)
ISBN 81-7033-640-6 (paperback)

Reprinted, 2007

Published by
Prem Rawat for Rawat Publications
Satyam Apts , Sector 3, Jawahar Nagar, Jaipur 302 004 (India)
Phone 0141 265 1748 / 7006 Fax 0141 265 1748
E mail info@rawatbooks com
Website rawatbooks com

New Delhi Office
4858/24, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi 110 002
Phone 011 23263290

Also at Bangalore, Mumbai, Hyderabad and Guwahati

Typeset by Roshan Computers, Jaipur
Printed at Nice Printing Press, New Delhi

विषय सूची
(Contents)

भूमिका

यह पुस्तक मेरी पूर्ववर्ती पुस्तकों से कुछ हट कर है। यह विभिन्न व्यवस्थाओं के परम्परागत व आधुनिक ढाँचे-सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक, ग्रामीण नगरीय और जनजातीय-प्रस्तुत करती है तथा कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं व प्रकरणों का विवेचन करती है। परम्परागत उपागम समाजशास्त्र, इतिहास तथा अन्य समाज विज्ञानों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए सुस्थित मूल्यों और विचारधाराओं पर प्रकाश डालता है जबकि आधुनिक ढाँचा समकालीन परिवर्तनों, सामाजिक विकास एव प्रगति की रफ्तार में भी रुचि रखता है, जो सभी नये प्रश्नों को जन्म देते हैं। समाजशास्त्रीय ढाँचा 'क्या था', 'क्या है' तथा 'क्या सम्भावना है' पर प्रकाश डालता है। प्रत्येक अध्याय समकालीन भिन्नताएँ, उदीयमन तत्व और भावी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का उपागम अतीत से वर्तमान तक के परिवर्तन के प्रकरणों के परीक्षण में कार्यात्मक है। समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं की कार्यशीलता के लिए गहन विश्लेषण और सैद्धान्तिक मूल्याकन वाच्छित है।

वर्तमान भारतीय समाज को अब परम्परागत समाज नही माना जाता। इसे उभडते हुए आधुनिक समाज के रूप में देखा जाता है। लेकिन विभिन्न नियोजित उपायों से आधुनिक समाज में आए व्यवस्था परिवर्तन अपनाए गए उपायों के परिणामों के नकारात्मक पक्षों को भी उजागर करते हैं। यदि आरक्षण नीति आज कार्यात्मक है और यदि दो या तीन दशकों बाद विकार्यात्मक सिद्ध होती है, तब क्या शक्तिशाली अभिजन इसमें परिवर्तन कर सकेंगे? यदि समाज के कमजोर वर्ग, किसान वर्ग, महिलाओं और युवाजनों द्वारा चलाए गए आन्दोलनों को रोका नही जाता, तो सामाजिक असन्तोष को यह सब कैसे उदव्यक्त करेंगे? इस प्रकार के प्रकरणों के मूल्याकन के लिए आवश्यक है कि इनको वर्तमान व उदीयमान दोनों समाजों के सदर्भ में प्रस्तुत किया जाये। इस पुस्तक में यद्यपि विभिन्न व्यवस्थाओं के सभी महत्वपूर्ण पक्षों के विश्लेषण एव पुनरीक्षण का प्रयास किया गया है, लेकिन इसका उद्देश्य वृहत् और महत्वाकाक्षी विश्लेषण नहीं है। किसी नये सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का भी इरादा नही रहा है बल्कि यह समझाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय समाज में समय-समय पर क्या होता रहा है।

वर्षो से मैंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं—अग्रेजी व हिन्दी दोनों ही में—जिनमें अपराध, स्त्रियों, और सामाजिक समस्याओं के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के लिए प्रेरणादायक सामग्री के महत्व को प्रस्तुत करती है। अत· विभिन्न प्रकरणों का विश्लेषण विषय के विकास का बोध कराने का प्रयास है तथा विभिन्न

स्रोतों तक पहुँच को सुलभ बनाता है। उदीयमान समाजशास्त्र को निरन्तर परिवर्तन होते समाज के निरन्तर पूछताछ पर बल देना है। स्पष्ट है, यह हमारा दावा नही है कि कुछ बातें छूटी नही होंगी या कोई अध्याय कमजोर नही होगा। परन्तु व्यवस्थाओं के प्रमुख पक्षों का विस्तृत रूप से विवेचन करने का प्रयास किया गया है। मैंने विविध दृष्टिकोणों की चर्चा की है, प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा विकसित प्रारूपों का विश्लेषण किया है, विविध सैद्धान्तिक व्याख्याओं का परीक्षण किया है तथा पुस्तक को अधिक विषद् और विस्तृत बनाने के लिए अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध विद्वानों के योगदान के उदाहरण भी दिए हैं। मुझे विश्वास है कि छात्र इस पुस्तक को स्वागत योग्य योगदान के रूप में देखेंगे। स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन करने वाले छात्रों सहित विभिन्न श्रेणियों के छात्रों के दृष्टिकोण को दृष्टिगत करते हुए मैंने विविध प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में विनिहित उन शीर्षकों पर भी चर्चा करने का प्रयत्न किया है जिनको आमतौर पर छात्र साहित्य न मिलने के कारण छोड देते हैं। विस्तृत परिप्रेक्ष्य में विषय को भली-भाँति समझने का उद्देश्य रहा है।

अध्यायों को इस क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया गया है जैसा कि भारतीय प्रशासनिक सेवाओं व राज्य प्रशासनिक सेवाओं के लिए प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के लिए विषय सामग्री निश्चित की गई है। निर्धारित पाठ्यक्रम में जो कुछ पक्ष नहीं भी दिए गए हैं उन पर भी चर्चा छात्रों के हितों को ध्यान में रखते हुए की गई है। मैं आशा करता हूँ और आश्वस्त हूँ कि पुस्तक उनके लिए लाभकारी होगी जिनके लिए लिखी गई है क्योंकि यह विविध व्यवस्थाओं और प्रकरणों के वैज्ञानिक विश्लेषण और वाञ्छित आँकड़े पठनीय और विशद् शैली में प्रदान करती है।

राम आहूजा

लेखक की ओर से

बहुत समय से मैं एक ऐसी पुस्तक के लेखन पर विचार कर रहा था जिसमें भारतीय प्रशासनिक सेवाओं, राज्य प्रशासनिक सेवाओं, बैंक सेवाओं तथा नेट (NET) आदि प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में समाजशास्त्र विषय लेकर सम्मिलित होने वाले छात्रों को इन परीक्षाओं के लिए आमतौर पर निर्धारित विभिन्न शीर्षकों का विश्लेषण तथा पर्याप्त और विस्तृत विवेचन उपलब्ध हो सके। यद्यपि मेरी दो पूर्ववर्ती पुस्तकों—भारतीय सामाजिक व्यवस्था और भारत में सामाजिक समस्याए—में भी विविध प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के लिए निर्धारित विषय निहित हैं, फिर भी कुछ ऐसे शीर्षक रह गए थे जिन पर विशेष रूप से इन पुस्तकों में चर्चा नही हो पाई थी, जैसे, आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, ग्रामीण व्यवस्था, नगरीय व्यवस्था, जनजातीय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, आदि। वर्तमान पुस्तक का उद्देश्य शीर्षकों की विस्तृत व्याख्या के द्वारा इस खाई को पाटना है। पूर्ववर्ती पुस्तकों में विवेचित विषयों का पुनरीक्षण किया गया है तथा आधुनिकतम आँकड़ों से अद्यतन किया गया है। जो कुछ कमियां रह गई थी उनको भी ठीक करने का प्रयत्न किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि कैरियर परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले छात्र इस पुस्तक को काफी उपयोगी पायेंगे—कम से कम समाजशास्त्र में निर्धारित दो पेपर में से एक पर। भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के स्नातकोत्तर छात्रों के लिए भी यह पुस्तक ज्ञानवर्धक एव उपयोगी सिद्ध होगी।

इस पुस्तक को यह रूप देने के लिए मैं अपने सहयोगी डा केवलरमानी तथा अपने पुत्र डा मुकेश आहूजा को हार्दिक धन्यवाद देना चाहूँगा, विशेष रूप से आवश्यक पुस्तकों व पत्र पत्रिकाओं के जुटाने में जो उन्होंने सहायता की। मैं अपने पुत्र सजय आहूजा का भी पुस्तक की हस्तलिपि तैयार करने के लिए आभारी हूँ। अत में अपनी पत्नी के प्रति भी आभारी हूँ जिसने मुझे निरन्तर समर्थन दिया व प्रोत्साहित किया। छात्रों, शिक्षकों, व अन्य पाठकों की ओर से सुझाव व टिप्पणिया भी आमत्रित करता हूँ ताकि इस पुस्तक को और अधिक सुधारा जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक का अग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद मेरे मित्र डा विप्र कुमार शर्मा ने किया है। मेरी पूर्ववर्ती दो पुस्तकों—भारतीय सामाजिक व्यवस्था और अपराधशास्त्र का भी डा

शर्मा ने ही सरल हिन्दी में अनुवाद किया था। सम्प्रति डा शर्मा अवकाश प्राप्त करने के बाद जयपुर में निवास करते हुए इसी प्रकार के लेखन कार्य से जुडे हुए हैं। मैं उनका अति आभारी हूँ।

राम आहूजा

1

भारतीय समाज का ऐतिहासिक परिदृश्य

(Historical Moorings of the Indian Society)

परम्परागत हिन्दू सामाजिक संगठन
(Traditional Hindu Social Organisation)

परम्परागत, आधुनिक और आधुनिकोत्तर समाज अवधारणाएँ
(Traditional, Modern and Post-modern Societies : Concepts)

समाज का वर्गीकरण परम्परागत, आधुनिक और आधुनिकोत्तर समाजों में किया जा सकता है। *परम्परागत समाज* में व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमानों और मूल्यों में धर्म (और जादू) पर बल दिया जाता है जिसमें वास्तविक या काल्पनिक अतीत से गहरे जुड़ाव अथवा निरन्तरता का संकेत मिलता है। यह समाज पवित्र भोज, बलि, एवं कर्मकाण्ड (rituals) आदि को स्वीकार करता है। मोटे तौर पर परम्परागत समाज वह होता है जिसमें (1) व्यक्ति की प्रस्थिति उसके जन्म से निर्धारित होती है और वह सामाजिक गतिशीलता के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता (2) व्यक्ति का व्यवहार अतीत की गहराइयों से जुड़े मूल्यों, प्रतिमानों, रीतियों व परम्पराओं से संचालित होता है, तथा लोगों के सामाजिक लोकाचार एवं व्यवहार पीढ़ी दर पीढ़ी थोड़े से ही बदलते रहते हैं। (3) सामाजिक संगठन (समाज में व्यक्तियों और उप-समूहों के सामाजिक सम्बन्धों का स्थाई स्वरूप जो सामाजिक अन्तर्क्रिया में नियमितता (regularity) तथा पूर्वाभास (predictability) प्रदान करता है) श्रेणीक्रम (hierarchy) पर आधारित होता है। (4) अन्तर्क्रिया में नातेदारी सम्बन्ध प्रमुख होते हैं और व्यक्ति अपनी पहचान प्राथमिक समूहों से करता है। (5) सामाजिक सम्बन्धों में पद की तुलना में स्वयं व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। (6) लोग रुढ़िवादी होते हैं। (7) अर्थ व्यवस्था सरल होती है, अर्थात यान्त्रिक (tool) अर्थ व्यवस्था की प्रधानता होती है, तथा निर्वाह स्तर से ऊपर आर्थिक उत्पादकता अपेक्षाकृत कम होती है। (8) पौराणिक व काल्पनिक विचार (न कि तर्क पर आधारित विचार) समाज में सर्वोपरि होते हैं।

आधुनिकता परम्परागत समाज से काफी हटकर होती है। आधुनिक समाज विज्ञान और तर्क पर केन्द्रित होता है। स्टूअर्ट हाल (Hall and Gay, *Questions of Cultural Identity*, 1996, साथ ही Mike O' Donell, *Sociology*, 1997 . 40 भी देखें) के अनुसार आधुनिक समाज की विशेषताएँ (जो कि इसे परम्परागत समाज से अलग करती हैं) यह हैं : (1) धर्म का पतन और धर्म निरपेक्ष भौतिकवादी संस्कृति का उदय (धार्मिक विशेषता)। (2) सामन्तीय (feudal) अर्थ व्यवस्था के स्थान पर ऐसी अर्थ व्यवस्था जिसमें

आदान प्रदान के लिए मुद्रा प्रणाली माध्यम प्रदान करती है। यह (अर्थ व्यवस्था) बाजार के लिए बडे पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग पर, निजी सम्पत्ति के वृहत् स्वामित्व पर, और लम्बी समय अवधि के लिए पूजी सग्रह पर आधारित होती है (आर्थिक विशेषता)। (3) राज्य पर धर्म निरपेक्ष राजनैतिक सत्ता का प्रभुत्व तथा राजनैतिक मामलों पर धार्मिक प्रभाव का सीमित होना (राजनैतिक विशेषता)। (4) सरल श्रम विभाजन पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का क्षय (decline) तथा नवीन श्रम विभाजन का विकास और नये वर्गों का उदय एव स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्धों में परिवर्तन (सामाजिक विशेषता)। (5) नये राष्ट्रों (नृजातीय अथवा राष्ट्रीय समुदायों) का निर्माण जिनके अपने उद्देश्यों के उपयुक्त अपनी परम्पराए तथा अपनी पहचान हो जैसे, फ्रान्स के द्वारा राजतत्र (monarchy) और कुलीनतत्र (aristocracy) को अस्वीकार करना, ब्रिटेन का राजतत्र को प्रतीक रूप में अपनाना, यू.ए. आर (मिश्र) द्वारा राजतत्र को अस्वीकार करना और लोकतत्र को स्वीकार करना, आदि (सास्कृतिक विशेषता)। (6) विश्व के प्रति वैज्ञानिक एव विवेकपूर्ण दृष्टिकोण का उदय (बौद्धिक विशेषता)। इस प्रकार जहा परम्परागत समाज की विशेषताओं में सस्कार, रीति रिवाज, सामूहिकता, सामुदायिक स्वामित्व, यथास्थिति तथा सरल श्रम विभाजन प्रमुख है, वही *आधुनिक* समाज की विशेषताओं में विज्ञान का उदय, तर्क और विवेक पर बल, प्रगति में विश्वास, विकास के लिए सरकार और राज्य को आवश्यक मानना, आर्थिक विकास और जटिल श्रम विभाजन, मानव को प्रकृति और पर्यावरण पर नियत्रण करने योग्य देखना, और जगत को द्वैतवाद (dualism) या विरोधाभास के अर्थ में देखना, आदि प्रमुख हैं। *आधुनिकोत्तर* (Post-modern) समाज (या अति आधुनिकता) आलोचनात्मक जागृति पर बल देता है तथा प्रकृति, पर्यावरण और मानवता पर अनुप्रयुक्त विज्ञान (applied science) के विनाशक प्रभावों के प्रति चिन्तित है। यह प्रगति की दौड के अवाछित नकारात्मक *परिणामों और जोखिम की ओर सकेत करता है। यह राष्ट्रवाद (जिस पर आधुनिक समाज में* बल दिया जाता है) मे वैश्वीकरण (globalisation) की प्रक्रिया की ओर गतिशील है। आर्थिक विकास को महत्व देने (जैसा कि आधुनिक समाज में होता है) की अपेक्षा यह (आधुनिकोत्तर समाज) सस्कृति को अधिक महत्व देता है। आधुनिक समाज (जो कि ससार को द्वैतवादी या विरोधाभास के अर्थ में देखता है) के विपरीत अतिआधुनिक समाज एकता, समानता और सबधन व जोड को महत्त्वपूर्ण मानता है।

परम्परागत भारतीय समाज तीन परिप्रेक्ष्य
(Traditional Indian Society : Three Perspectives)

परम्परागत समाज की उपरोक्त अवधारणा एव विशेषताओं सहित, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में परम्परागत समाज को किस प्रकार देखा जा सकता है ? परम्परागत भारतीय समाज को समाजशास्त्रीय आधार पर समझने के लिए तीन परिप्रेक्ष्यों का उपयोग हो सकता है प्रकार्यात्मक, मार्क्सवादी, और सामाजिक क्रिया परिप्रेक्ष्य। प्रकार्यात्मक (दुर्खिम का) परिप्रेक्ष्य इस विचार पर आधारित है कि प्रमुख सामाजिक सस्थाए और उप-व्यवस्थाए (जैसे, नातेदारी, आर्थिक सस्थाए, आदि) मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं (जैसे प्रजनन, उत्पादन, उपभोग) की पूर्ति करती हैं। मार्क्सवादी (कार्ल मार्क्स) परिप्रेक्ष्य इस विचार पर आधारित है कि वर्ग

सघर्ष एक मूलभूत सामाजिक शक्ति है और समाज की कार्यात्मकता सघर्षपूर्ण हितों वाले वर्गों से प्रभावित होती है। सामाजिक क्रिया (मैक्स वेबर) का परिप्रेक्ष्य इस पर बल देता है कि व्यक्ति समाज को बनाते है और प्रभावित करते हैं न कि समाज व्यक्तियों को तथा समाज व्यक्तियों के अनुभवों की सरचना नही करता बल्कि 'व्यक्ति' स्वय ही सामाजिक अनुभवों की रचना में सहायता करता है।

प्रथम दो परिप्रेक्ष्य सरचनात्मक हैं, अर्थात् वे प्रमुख रूप से यह विचार करते हैं कि समाज व्यक्ति और समूह के व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करता है बजाय इसके कि व्यक्ति और समूह समाज की रचना किस प्रकार करते हैं (वास्तव में तीसरा दृष्टिकोण भी सरचनात्मक ही माना गया है)। अत सरचनात्मक समाजशास्त्री इस विषय में रुचि लेगा कि धार्मिक विचार और मूल्य या विज्ञान और तर्क या जाति और वर्ग, या परिवार और नातेदारी, या यात्रिक और औद्योगिक अर्थ व्यवस्थाएँ, या व्यक्ति की सामाजिक-सरचनात्मक स्थिति किस प्रकार समाज द्वारा अपेक्षा किए जाने वाली भूमिकाओं के निर्वाह के लिए व्यक्ति के अवसरों को प्रभावित करते हैं। जहाँ प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवहार पर सहमति दर्शाता है, वही मार्क्सवाद और सामाजिक क्रिया सबधी दृष्टिकोण समाज में सघर्ष पर बल देते हैं। माइक डोनेल (Mike O' Donnel, 1997 6) के अनुसार सरचनात्मक परिप्रेक्ष्य के आधार पर जो प्रश्न और उनके उत्तर बनाए जा सकते हैं वे है (1) समाज का निर्माण किस प्रकार होता है ? (2) यह (समाज) कैसे कार्य करता है ? (3) समाज में कुछ समूह किस प्रकार अन्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं ? (4) सामाजिक परिवर्तन किन कारणों से होता है ? (5) समाज क्या सहमति पर आधारित होता है या सघर्ष पर ? (6) व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है ? हम इन्ही प्रश्नों के आधार पर परम्परागत भारतीय समाज का विश्लेषण करेंगे।

परम्परागत हिन्दू समाज . आधारभूत मत एव सिद्धान्त
(Traditional Hindu Society : Basic Tenets and Doctrines)

(i) हिन्दू जीवन दर्शन कर्म एव धर्म
(Hindu View of Life Karma and Dharma)

परम्परागत भारतीय समाज से सम्बन्धित उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर देने से पूर्व यह विचार करें कि वैदिक दर्शन में हिन्दुओं का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण था ? मूल विचार यह था कि मनुष्य पूर्णरूप से इच्छाओं का बना हुआ है। जैसी उसकी इच्छाए होंगी वैसी उसकी अन्तर्दृष्टि/विचारशीलता होगी (कृतु) जैसी उसकी विचारशीलता व समझ होगी वैसे ही उसके कर्म होंगे, और जैसे उसके कर्म होंगे वैसा उसका भाग्य बन जायेगा। अत यदि अपने जीवन काल में मनुष्य की कुछ इच्छाएँ पूर्ण होने से रह जाती हैं तो वह फिर जन्म लेगा, लेकिन यदि उसकी कोई इच्छा अपूर्ण नही रहती तब वह ब्रह्ममय (ईश्वर से एकाकार) हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में इच्छाओं के विनाश के लिए 'कृतु' (discretion) का दमन आवश्यक है। मनुष्य की इच्छा ही उसे इस ससार के जाल में फसाए रखती है अथवा वह जन्म मरण के बन्धन में फसा रहता है। अत कर्म ही पुनर्जन्म और इच्छाओं के बीच एक सयोजक है। इस

प्रकार इच्छाओं से छुटकारा प्राप्त करने के बाद मनुष्य अमर हो जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

यह कहना गलत होगा कि यही केवल एक मात्र हिन्दू दर्शन का दृष्टिकोण है। वास्तव में हिन्दू साहित्य में *अन्तिम सत्य* (ultimate reality) के प्रति अनेक दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण इच्छाओं के त्याग के सम्बन्ध में गीता में दिया गया है। गीता में *कर्म* का दर्शन जीवन का नवीन दर्शन है। गीता में इच्छाओं से छुटकारा पाने (eradication) की अपेक्षा उनके शुद्ध उदात्तीकरण (sublimation) पर बल दिया गया है और यह कर्म के सत्य स्वरूप को समझकर ही किया जा सकता है। (कापडिया, 1972 · 13-14)

हिन्दू दर्शन एक ओर वर्तमान की अतीत के साथ निरन्तरता में विश्वास करता है (जिसमें यह समाहित (rooted) है) और दूसरी ओर वर्तमान को भविष्य में अभिव्यक्त करता है। परम्पराओं के प्रति हिन्दुओं के आदर करने के पीछे उद्देश्य है। इसके द्वारा विचार में साम्य (homogeneity) और समन्वय (harmony) प्राप्त किया जाता है। विभिन्न अवस्थाए केवल विभिन्न काल खण्डों में बल देने (emphasis) में अन्तर दर्शाती हैं। उदाहरणार्थ, सतयुग में सत्य ही धर्म था, त्रेतायुग में 'यज्ञ' (बलि), द्वापर युग में 'ज्ञान' और कलियुग में 'दान'। हिन्दू दर्शन कुछ आध्यात्मिक विचारों में भी विश्वास रखता है, जैसे, 'पाप' 'पुण्य' 'धर्म', आदि। इन विचारों पर हम 'हिन्दुत्व के मूल विश्वास' के रूप में चर्चा करेंगे।

हिन्दुत्व के मूल विश्वास व उसूल (Basic Tenets of Hinduism)

हिन्दुत्व के मूल विश्वासों और सिद्धान्तों को केन्द्र बिन्दु बना कर क्या यह कहा जा सकता है कि हिन्दुत्व *समानता व समतावाद* (equality) *में विश्वास करता है ? क्या कर्म* और पुनर्जन्म के विचार सभी हिन्दुओं को स्वीकार्य हैं ? क्या मोक्ष सभी का अन्तिम लक्ष्य है? क्या सहिष्णुता एव अहिंसा हिन्दुत्व के लक्षण हैं ? क्या सभी हिन्दू व्यक्ति की आत्मा का *परमात्मा में विलय में विश्वास करते हैं ? योगेंद्र सिंह (1973 · 31) का विचार है* कि हिन्दुत्व के आदर्शात्मक सिद्धान्त (normative principles) विश्वासों, आदर्शों, अनुमति के तर्कों, उदारवाद, रचना और विनाश, सुखवाद (hedonism), उपयोगितावाद (utilitarianism) *तथा आध्यात्मिक सर्वातिशयता* (spiritual transcendence) पर आधारित हैं। मोटे तौर पर हिन्दुत्व के मूल विश्वासों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है

1. आध्यात्मिक विचार (Theological Ideas)

हिन्दुत्व कुछ आध्यात्मिक विचारों (ईश्वर के स्वभाव के विषय में तथा धार्मिक विश्वासों की स्थापना से सम्बन्धित सिद्धान्तों की श्रखला) में विश्वास रखता है, जैसे कि *पुनर्जन्म*, *आत्मा* की अमरता, *पाप*, *पुण्य*, *कर्म*, *धर्म* और *मोक्ष*। *कर्म* का सिद्धान्त एक हिन्दू को यह सिखाता है कि वह अपने उन कर्मों के कारण विशेष सामाजिक समूह (जाति/परिवार) में जन्म लेता है, जो उसने अपने पूर्व जन्म में किये थे। *धर्म* का विचार यह कहता है कि यदि वह इस जन्म

में अच्छे कर्म करेगा तो अगले जन्म में वह उच्च सामाजिक समूह में जन्म लेगा। *मोक्ष* का विचार मनुष्य को स्मरण कराता है कि उसके पाप और पुण्य उसके जन्म मरण के चक्र से मुक्ति निर्धारण करेंगे।

2. अपवित्रता और पवित्रता (Pollution and Purity)

हिन्दुत्व में अपवित्रता और पवित्रता के विचार भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि पवित्रता और अपवित्रता के नियम अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न हैं लेकिन हर जगह वे जीवन के बड़े भाग में रहते हैं। उनका महत्व, सहभोजी (commensal) सम्बन्धों में, दूसरे समूह के सदस्यों के स्पर्श और शारीरिक सम्पर्कों में दूरी बनाए रखने में, अन्तर्जातीय विवाह में, तथा व्यक्ति के निजी जीवन के कई अवसरों (जैसे जन्म, मृत्यु, विवाह, मासिक ऋतु चक्र (menstruation), प्रार्थना आदि) में अत्यधिक होता है। अपवित्रता की अवधारणा जन्म से सम्बद्ध है न कि स्वच्छता से। पवित्रता के नियमों के उल्लघन की गम्भीरता के आधार पर व्यक्ति को सरल या बृहत् शुद्धीकरण संस्कार करने पड़ते हैं। ऐसे मामलों में जाति पचायत ही आवश्यक अनुशासनात्मक कदम उठाती है।

3. श्रेणीक्रम (Hierarchy)

हिन्दुओं में श्रेणीक्रम इन अर्थों में मिलता है (a) वर्ण और जातियों में विभाजन; (b) व्यक्ति के चमत्कारी (charismatic) गुणों में (जिनमें सर्वोच्च सद्गुण 'सत्व', अर्थात साधुओं और ब्राह्मणों से सम्बद्ध तेजस्विता है, और उसके बाद रजो गुण अर्थात, कर्म (action) और शक्ति (power) के प्रति प्रतिबद्धता है, जैसा कि राजाओं और क्षत्रियों में मिलता है, और अन्त में 'तमस्' गुण हैं जो कि श्रेणीक्रम में निम्नतम हैं और जो आलस्य और पतित कार्यों में सलग्न हैं) (c) जीवन लक्ष्यों से सम्बद्ध मूल्यों में, जैसे *काम* (अर्थात् इन्द्रिय भोग और यौन सुख की तलाश में), *अर्थ* (अर्थात् धनोपार्जन), *धर्म* (अर्थात् धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक क्षेत्रों में नैतिक कर्तव्यों का निर्वाह), और *मोक्ष* (अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति)।

4. मूर्ति पूजा (Idol Worship)

हिन्दू धर्म की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता मूर्ति पूजा में विश्वास है। पूज्य-मूर्ति एक सी नहीं होती है बल्कि यह विभिन्न धर्म सम्प्रदायों में भिन्न होती है। प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय की एक मूर्ति होती है (कृष्ण, राम, गणेश, शिव, हनुमान, आदि) जो अलग-अलग मन्दिरों में स्थापित होती है और सदस्य समय समय पर उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। इन मन्दिरों में म्लेच्छों (मुस्लिमों और अस्पृश्यों) के प्रवेश निषेध के पीछे मन्दिरों को अपवित्रता से बचाने का उद्देश्य था न कि अन्य धर्मों के साथ मन मुटाव।

5. एकेश्वरवादी लक्षण (Monolithic Character)

हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषता है कि यह समान रूप से एकाश्मीय धर्म नही है बल्कि

लचीले धार्मिक पन्थों का समन्वय है। यही लचीलापन इसकी शक्ति है जिसमें गैर-जाति और वैदिक समूहों के, धर्मशास्त्रों की अवज्ञा करते हुए भी, रहने की अनुमति है।

6. सहिष्णुता (Tolerance)

क्या हिन्दुत्व सहिष्णु है ? एक दृष्टिकोण तो यह है कि हिन्दुत्व एक धर्मनिरपेक्ष (secular) और सहिष्णु दर्शन है क्योंकि यद्यपि यह अपने में अनेक मतों और उपासना पद्धतियों को समेटे हुए है लेकिन सभी हिन्दू सामान्य देवताओं की शपथ लेते हैं। सामाजिक समुदायों की पृथक्ता तथा इनकी धार्मिक विविध पहचान ने प्रत्येक समूह को पृथक अस्तित्व के साथ रहने को सम्भव कर दिया। झगडा केवल सरक्षण के लिए प्रतिस्पर्धा में हो सकता है। इससे हिन्दू धर्म में सहिष्णुता स्पष्ट है।

लेकिन ऐसे विद्वानों का भी एक समूह है जो हिन्दुत्व में धार्मिक असहिष्णुता की बात करता है। इन्होंने पन्थिक (sectarian) प्रतिद्वंद्विता और सघर्षों के विषय में चर्चा की है। प्रारम्भ में शैव मतावलम्बियों ने बौद्धों और जैनियों का उत्पीडन किया। ईसा के पश्चात् प्रथम सहस्राब्दि (millennium) के मध्य में उत्तर भारत में मिहिर कुल और शशाङ्क द्वारा बौद्ध मठों का विनाश किया गया और बौद्ध भिक्षुओं की हत्या की गई। वैष्णव परिप्रेक्ष्य में मूल ग्रन्थों (texts) का पुनर्लेखन धार्मिक असहिष्णुता का एक और रूप है क्योंकि यह कार्य केवल जैन परिप्रेक्ष्य को ठीक करने के लिए किया गया था। सन्यासी समूहों में भी कुम्भ मेले में प्रथम स्नान के प्रश्न पर दसनामियों और बैरागियों के बीच झगडा विदित है। इस प्रकार का विरोध हिन्दुओं का अन्य धर्म के लोगों से नहीं था बल्कि एक विशेष पन्थ (sect) के लोगों का दूसरे पन्थ के लोगों के प्रति था।

7. पृथक्कता (Segregation)

हिन्दू धर्म की एक और विशेषता यह है कि यह सामाजिक सम्बन्धों में, तथा पूजा और धार्मिक विश्वासों में सामाजिक समुदायों (जातियों) के अलगाव का समर्थन करता है। पृथक्कता की प्रकृति वर्ण/जाति की स्थिति पर निर्भर करती है जिनकी रचना परम पुरुष के शरीर से (ब्राह्मण उसके मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसकी जघा प्रदेश से, और शूद्र उसके चरणों से) ही हुई थी। इसके विरोध में तर्क यह दिया जाता है कि इस प्रकार की पृथक्कता में केवल कुछ ही पन्थ और प्रतिष्ठित ब्राह्मण, जिनमें शकराचार्य प्रमुख थे, विश्वास करते थे। लेकिन यह तर्क सही नही है क्योंकि सभी हिन्दू विश्वास करते हैं कि किसी विशेष समूह की सदस्यता जन्म से निर्धारित की जाती है न कि योग्यता से। तब भी यह कहा जाता है कि हिन्दुत्व में विविध पन्थ न पनपते और नष्ट हो जाते, यदि बौद्धिक श्रेष्ठ पदों का निर्धारण विशेष समूह में जन्म के आधार पर होता।

8. अहिंसा (Non-Violence)

क्या हिन्दुत्व अहिंसा में विश्वास करता है ? एक सम्प्रदाय का मानना है कि हिन्दू अहिंसक लोग हैं, लेकिन दूसरा सम्प्रदाय मानता है कि धार्मिक हिंसा हिन्दूवाद के लिए अपरिचित

विचार नही है, गीता का त्याग पर बल देना निश्चित रूप से अहिंसा पर आधारित नही है। लेकिन 17वी शताब्दि में उप-महाद्वीप में बहुचर्चित भक्ति मार्ग निश्चित रूप से हिंसा के विरुद्ध था।

यह कहा जा सकता है कि हिन्दुत्व में अहिंसा का समावेश इसमें भक्ति और सस्कार (ritual) पक्ष पर बल दिए जाने के बाद ही हुआ, या जब वैष्णव और शैव पन्थों का उदय बारहवीं शताब्दि के बाद हुआ, या जब भक्ति-उदारवादी परम्पराएँ 15वी व 16वी शताब्दियों में पनपी जब कबीर, तुलसीदास जैसे सन्त उत्तर प्रदेश में, गुरु नानक पजाब में, चैतन्य महाप्रभु बगाल में, मीरा बाई राजस्थान में, और तुकाराम तथा रामदास महाराष्ट्र में उदित हुए। इन सन्तों ने न केवल अपनी भाषा में लोगों तक धार्मिक विश्वास पहुँचाए बल्कि उन्होंने रूढिवादिता की आलोचना करते हुए सस्कार-युक्त (ritual-ridden) धार्मिक विश्वासों को सरल मानवीय मूल्यों में बदल दिया।

(ii) पुरुषार्थ . भारतीय सस्कृति के मूल्य

(Purushartha : Values of Indian Culture)

हिन्दू सस्कृति चार मूल्यों पर केन्द्रित है काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। यह चौहरी मूल्य व्यवस्था इस मान्यता पर आधारित है कि मानव की बहुत सी आवश्यकताएँ होती हैं (देखें, S P Kanal, *Dialogue on Indian Culture*, Delhi, 1955 :8)। मनुष्य को भोजन और यौन सुख की, शक्ति और सम्पति की तथा मानव समाज और जगत के साथ सम्बन्धों की अर्थात् मानव समाज की आवश्यकता होती है। शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि काम है; शक्ति और सम्पत्ति की आवश्यकता की सन्तुष्टि अर्थ है, सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता की सन्तुष्टि धर्म है; और जगत के साथ एकाकार होने की आवश्यकता की तृप्ति ही मोक्ष है।

साधारण अर्थ में काम का अर्थ मन के निर्देशों के अन्तर्गत सचालित पाँच इन्द्रियों—दृष्टि (sight), श्रवण (hearing), स्पर्श (touch), स्वाद (taste), और गन्ध (smell)—के द्वारा सुखद अनुभवों की इच्छा है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या शारीरिक सुख प्राप्ति का प्रयत्न ठीक है ? इसका उत्तर है कि कष्ट और पीडा स्वय में बुरे हैं। आज जिस प्रकार हम सभी इस तथ्य से सहमत हैं कि लोगों की गरीबी और कष्ट का निवारण उनकी बीमारियों के इलाज और उनसे बचाव के द्वारा, उनकी आर्थिक स्थिति सुधार कर, तथा उनको मकान और मनोरजन आदि के साधनों की सुविधा प्रदान करके किया जा सकता है, उसी प्रकार शारीरिक सुख मनुष्य की यातनाओं को कम करता है। उदाहरणार्थ, स्वादिष्ट भोजन आनन्द देता है लेकिन यह अपच (indigestion) पैदा करता है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है और हम खराब स्वास्थ्य का दुख भोगते हैं। स्वास्थ्य का सुख लेने के लिए हम भोजन बन्द कर देते हैं। इस प्रकार प्रतिस्पर्धात्मक सुख के बीच चयन के सिद्धान्त के माध्यम से उत्पन्न एक दुख दूसरे सुख के द्वारा समाप्त हो जाता है। जहा इन्द्रिय तृप्ति मस्तिष्क द्वारा निर्देशित नही वहा 'काम' मानव स्तर का नही रहता। मानव समाज ने इन्द्रिय सुखों

अलग से वस्तुओं का विकास किया है। हमने पाक कला, फैशन, भ्रमण स्थलों, बाग बगीचों, सगीत, कला, आदि का विकास किया है। यह सभी विकास 'काम' की तृप्ति में सहायक हैं। 'काम' में यौन सुख भी निहित है क्योंकि यह शारीरिक सुख होता है। फ्रायड ने भी माना है कि सभी शारीरिक सुखों की परिणति यौन सुख में ही होती है। अत 'काम' वह मूल्य है जिसकी तृप्ति इन्द्रियों द्वारा ही होती है।

'अर्थ' प्रकृति और मनुष्य पर शक्ति प्राप्त करने के लिए मानव की एक आवश्यकता है। एवरेस्ट पर विजय और बाढ, अकाल और महामारी पर नियंत्रण प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अभिव्यक्ति है। विज्ञान प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की इच्छा की अभिव्यक्ति है। धन, प्रकृति और मनुष्य पर अधिकार का रूप है। आज हम शक्ति की राजनीति की बात करते हैं। हिटलर और मसोलनी जैसे तानाशाओं के आदर्श इन्द्रिय सुख नहीं थे बल्कि भूमण्डल पर अधिकार करना था। 1998 में पाँच परमाणु महाशक्तियों (अमेरिका, रुस, ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रास) ने घोषणा की कि वे अपने परमाणु अस्त्रों को नष्ट नहीं करेंगे और फिर भी भारत पर सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर के लिए दबाव डालना, (जिसने केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्देश्य से मई 1998 में पोखरन में परमाणु परीक्षण किया था) भूमण्डल पर उनके प्रभाव की इच्छा का ही द्योतक है। भारतीय सस्कृति में यह सब 'अर्थ' में निहित है।

'अर्थ' प्रकृति और मनुष्य पर शक्ति प्राप्त करने की इच्छा तथा धन की इच्छा, दोनों ही है। क्या यह इच्छा मूल्यवान है ? यदि हाँ, तो हम पूँजीवाद तथा शक्ति की राजनीति की निन्दा क्यों करते हैं ? 'अर्थ' उस समय बुरा (evil) हो जाता है जब यह मानव की विभिन्न मार्गो का तिरस्कार करता है तथा जब यह औचित्य (righteousness) से नियंत्रित नही होता, जैसे दूसरों के अधिकारों को या मानव की आवश्यकताओं को महत्त्व नही देता। अमेरिका, रुस, योरप आदि की विज्ञान और उद्योग में आधुनिक प्रगति 'अर्थ' के कारण ही हुई है। हम उनकी सभ्यता को भौतिकवादी कहते हैं क्योंकि वे लोग प्रकृति और मनुष्य पर विजय प्राप्त करने में मशगूल हैं। यदि 'अर्थ' को अनियंत्रित छोड दिया जाये तो यह अपनी ही उपलब्धियों का विनाश कर सकता है और मानव जाति का सर्वनाश कर सकता है। धर्म के नैतिक व नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों को मनुष्य के इन्द्रिय, आर्थिक, व राजनैतिक आकाक्षाओं को नियन्त्रित करना चाहिए।

धर्म उस एकीकरण (integration) के सिद्धान्त के लिए है जो व्यक्ति, समुदाय तथा समस्त जगत के जीवनक्रम में निहित है। वह सब जो व्यक्ति और समाज की अखण्डता को तोडता है वह 'अधर्म' है। इस प्रकार 'धर्म' उन कर्त्तव्यों को बताता है जो व्यक्ति को पूरे करने चाहिए यदि समाज को विघटित नही होने देना है। जिस प्रकार विद्यालय/विश्वविद्यालय में शिक्षकों के लिए नियम (कक्षाए लेना, निश्चित समय में कोर्स पूरा करना, आदि), छात्रों के लिए नियम (कक्षाओं में बैठने, शुल्क भुगतान, परीक्षा में बैठने, आदि सबधी), और प्रशासकीय तथा क्लर्क कर्मचारी वर्ग के लिए भी नियम (अभिलेखों का सरक्षण, परीक्षाओं का सचालन, आदि) होते हैं, तथा सभी के द्वारा नियमों का अनुपालन व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है और विचलन से शैक्षिक सस्थाओं का पतन होने लगता है, उसी प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कर्त्तव्य करने होते हैं। रीतिया, परम्पराए और नियम इन कर्त्तव्यों को निर्देशित करते हैं। मनु व रामानुजन जैसे विचारकों ने धर्मशास्त्र में इन

कर्त्तव्यों का वर्णन किया है ताकि मानव सम्बन्ध नियमित रूप से चलते रहें। उन्होंने इन्हें हमारे अस्तित्व, आनन्द और उद्विकास के लिए मूल्यवान भी समझा था।

भारतीय सस्कृति में एस पी कनाल (S.P. Kanal op cit.) के अनुसार इन कर्त्तव्यों के पीछे जो व्यवस्थाएँ है, वे हैं . (a) वर्णाश्रम धर्म या *विशेष* धर्म (b) *साधारण* या *सामान्य* धर्म। वर्णाश्रम कर्त्तव्य जीवन की चार अवस्थाओं में विभाजित हैं विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, कर्मविरत जीवन और त्याग का जीवन (renunciation)। इनका सम्बन्ध पेशेवर भूमिकाओं से भी है। *साधारण* धर्म का सकेत उन साधारण कर्त्तव्यों की ओर है जो जीवन की किसी एक अवस्था या पेशेवर भूमिकाओं से सम्बद्ध नही होते, जैसे चोरी से बचना (*आस्तेय*), क्रोध का दमन (*अक्रोध*), क्षमा, प्राणि मात्र को आहत करने से बचना (*अहिंसा*), और *सत्य*। ये कर्त्तव्य मनुष्य के मनुष्य के प्रति *सामान्य* कर्तव्य हैं।

धर्म में सद्‌गुण भी सम्मिलित हैं (कर्त्तव्य और सद्‌गुण भिन्न होते हैं। कर्त्तव्य कर्म के लिए है और सद्‌गुण मस्तिष्क की आन्तरिक दशा को दर्शाता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति को अवैधानिक यौन क्रिया से बचाना कर्तव्य है और यौन विचारों से मुक्त रहना सद्‌गुण है। क्योंकि सद्‌गुण मन की पवित्रता है इसलिए गुणवान जीवन कर्तव्य की अवस्था से कही ऊपर है। अच्छा कार्य करने से अच्छा है अच्छा होना। कर्तव्य बिना यह सोचे किए जाते हैं कि क्या चीज उन्हें अच्छा बनाती है। सद्‌गुण सही और गलत पर मनन कराता है। कर्तव्य *परम्परागत* नैतिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं जब कि सद्‌गुण *नैतिक विचारों* का। माता-पिता को प्यार करने वाले पुत्र तथा उन्हें आर्थिक सहयोग देने वाले पुत्र दोनों में अन्तर है। बाद वाला पुत्र वही करता है जो समाज ने उसके लिए माता-पिता के लिए कर्त्तव्य निर्धारित किए हैं जबकि पहला पुत्र दया के वे अनेक कार्य करता है जो समाज द्वारा निर्धारित नही किए गये हैं। सद्‌गुण गतिवान हैं जबकि कर्त्तव्य स्थिर हैं। लेकिन कर्त्तव्य सद्‌गुणों का मार्ग प्रशस्त करते हैं। धर्म समाज को एक सूत्र में बाँधे रखता है और सद्‌गुण हमारे मस्तिष्क में एकता भाव पैदा करते हैं।

मोक्ष मुक्ति या स्वतन्त्रता की स्थिति बताता है। शकरा ने *'मुख्य प्रयोजन'* या अन्तिम लक्ष्य और *'गौण प्रयोजन'* या द्वैतियक लक्ष्यों में भेद किया है। किसी भी वस्तु के लिए इच्छा करना 'मुख्य प्रयोजन' होता है लेकिन किसी वस्तु की 'मुख्य प्रयोजन' के लिए प्राप्ति 'गौण प्रयोजन' होता है। आनन्द मुख्य प्रयोजन का विषय है जबकि किसी नौकरी के लिए प्रशिक्षण धनार्जन गौण प्रयोजन है। शकरा की मान्यता है कि आनन्द दो प्रकार का होता है . अनुभवजन्य आनन्द तथा परम आनन्द। प्रथम आनन्द हमारे शरीर के माध्यम से प्राप्त होता है जबकि दूसरा आध्यात्मिक आनन्द है। *मोक्ष, आत्मा* की ब्रह्म के साथ पहचान करना अथवा सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति है।

भारतीय सस्कृति में मोक्ष प्राप्ति के लिए दो अवस्थाएँ बताई गई है *प्रवृत्ति मार्ग* और *निवृत्ति मार्ग* (अवस्था)। प्रवृत्ति अवस्था शारीरिक आवश्यकताओं की नियमित सन्तुष्टि की अवस्था है और इसमें सासारिक वाच्छित वस्तुओं का आनन्द निहित है, जबकि निवृत्ति में ससार के प्रति वैराग्य भाव विकसित होता है। दोनों अवस्थाए निरन्तर और एक दूसरे की पूरक हैं। (देखें, S P. Kanal, op cit , 1955)

(iii) आश्रम जीवन के आदर्शों की प्राप्ति की अवस्थाएँ
(Ashramas Stages in realising the ideals of life)

आश्रम जीवन की अवस्थाएँ हैं जो जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए पर्यावरण एव प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। आश्रम चार होते हैं। *ब्रह्मचर्य* (छात्र जीवन), *गृहस्थ* (पारिवारिक जीवन), *वानप्रस्थ* (कर्मविरत व अवकाश प्राप्त जीवन), और *सन्यास* (त्याग का जीवन)। प्रथम दो अवस्थाएँ प्रवृत्ति मार्ग प्रदान करती हैं तथा दूसरी दो अवस्थाएँ निवृत्ति मार्ग के विकास में सहायक होती हैं। प्रत्येक अवस्था में कुछ विशेष कर्त्तव्य होते हैं (विशेष धर्म)। यहाँ हम गृहस्थी, ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) कर्मविरत व्यक्ति तथा सन्यासी व्यक्ति के कर्त्तव्यों की पृथक चर्चा करेंगे। जिस प्रकार आश्रम जीवन विशिष्ट कर्त्तव्यों का आभास कराते हैं, वर्ण जीवन में चार पेशे सबन्धी भूमिकाओं से सम्बन्धित कर्त्तव्य बताते हैं विद्वता सम्बन्धित पेशा, प्रशासन व रक्षा सम्बन्धित पेशे, उत्पादन और वितरण सम्बन्धित पेशे, तथा अकुशल श्रम सम्बन्धित पेशे। अत आश्रम व्यवस्था के साथ साथ हम वर्ण व्यवस्था का विश्लेषण भी करेंगे।

ब्रह्मचर्य आश्रम यह सभी युवा लोगों के लिए शिक्षा गृहण करने की विशेष अवस्था है जिसके पश्चात ही वे जीवन में स्वतत्रता पूर्वक कार्य करने योग्य बनते हैं। घर पर बालक शिक्षा प्राप्त करता है कि किस प्रकार वह भोजन करे, चले, बोले, कपडे पहने, और दूसरों की उपस्थिति में किस प्रकार व्यवहार करे। कुछ जातियों व समुदायों में वह यह भी सीखता है कि जमीन पर हल किस प्रकार चलाये जाँयें, जूते कैसे बनाये जाँयें, मिट्टी के बर्तन कैसे बनायें, लोहार, सुनार, बढई आदि के कार्य किस प्रकार किये जाँयें, आदि। लेकिन वह पढना लिखना या अन्य व्यवसायिक प्रशिक्षण की शिक्षा प्राप्त नही करता। यह शिक्षा उसे गुरु से मिलती है। शिक्षा की इस अवधि में उसे कुछ आदर्शों का अनुपालन करना पडता है और कुछ विशेष पर्यावरण में रहना पडता है। अतीत में विद्यालय आवासीय होते थे जहा कुछ सस्कारों के बाद 8 से 12 वर्ष की आयु के बीच बालक को उस विद्यालय में प्रवेश कराया जाता था तथा उसको ज्ञान दिया जाता था, किसी शिल्प आदि में दीक्षा दी जाती थी, एव सामान्य एव शारीरिक शिक्षा तथा तर्क में प्रशिक्षण दिया जाता था। इस अवस्था के प्रमुख लक्षण थे शिक्षक का कुशल ज्ञान, गुरु शिष्य में साथी भाव (comradeship) तथा शिक्षक की निष्ठा, और कुछ मूल्यों और आदर्शों के प्रति छात्रों की प्रतिबद्धता। इस अवस्था में छात्रों को जीवन का अनुशासन सिखाया जाता था तथा उन्हें चार प्रतिज्ञाएँ लेनी पडती थी यौन प्रवृत्ति पर नियत्रण, भोजन और वस्त्र में सरलता (जिससे समानता, भ्रातृभाव और स्वतत्रता का आभास हो सके), गुरु की आज्ञापालन के प्रति सम्मान (अनुशासन पैदा करने के लिए) तथा ज्ञान अर्जन के लिए परिश्रम करना, और दैवी शक्तियों के सहयोग के लिये प्रार्थना (मन्त्रों का उच्चारण और ध्यान) करना। अत पवित्रता, सरलता, कठिन परिश्रम, ज्ञान के प्रति समर्पण और आध्यात्मिक सत्य छात्र जीवन के आदर्श होते थे।

गृहस्थ आश्रम जीवन की इस अवधि में 25 वर्ष के विद्यार्थी जीवन के बाद वे 25 वर्ष आते हैं जिनमें व्यक्ति समाज के प्रभावी सदस्य के रूप में सक्रिय भूमिका निभाता है। यह गृहस्थ तथा वैवाहिक जीवन होता है। आदर्श विवाह उसे समझा जाता था जो *मोक्ष* प्राप्ति के लिए किया जाता था तथा जो गृहस्थ के कर्त्तव्यों (जिन में बच्चों का लालन-पालन तथा पूर्वजों का श्राद्ध भी सम्मिलित होता था) के माध्यम से बौद्धिक सत्सग तथा अन्तिम

मुक्ति के लिए होता था। इस प्रकार हृदय की पवित्रता, परस्पर विश्वास, शील (chastity) और परस्पर प्रेम आदि सद्गुणों का विकास करके विवाह को मात्र जैविक साहचर्य (biological association) से ऊपर उठाया गया था। भारतीय संस्कृति विवाह को मात्र साहचर्य ही नही बल्कि पूर्णरूपेण एकाकार (absolute oneness) मानती है। विवाह स्त्री पुरुष को एक सूत्र में बाँधता है जिसका आधा भाग स्त्री व आधा पुरुष होता है। यह एकीकरण केवल जीवन काल में ही समाप्त नही होता बल्कि यह तो जन्म जन्मान्तर तक चलता रहता है। इस प्रकार क्यों कि विवाह एकाकार होने के आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए होता है (जैविक व सामाजिक उद्देश्यों से प्रेरित समागम से भिन्न), इसलिए यह एक समझौता नही परन्तु पवित्र बन्धन माना जाता है।

वानप्रस्थ आश्रम . बच्चों के प्रति उत्तरदायित्वों के पूरा हो जाने के बाद माता-पिता से समाज कल्याण कार्य करने की अपेक्षा की जाती है ताकि वे *मोह* पाश में न फँसे रहें। उन्हें जंगल में नही जाना होता है और न ही मानव आवास एव घने बसे नगरों से दूर बल्कि गावों में ही रहना होता है। इस प्रकार तीसरी अवस्था का उद्देश्य कार्य और रूचि के नवीन स्तरों का विकास करना है, न कि किसी विशेष स्थान में चले जाना मात्र। इसके पीछे यह भी भावना है कि दूरस्थ (गाँवों) के लोग भी अपनी समस्याओं के समाधान में इन लोगों के अनुभव का लाभ उठा सकें। राजा और शासक भी इन निवृत्ति प्राप्त लोगों के पास इसी उद्देश्य से जाते थे। *वानप्रस्थी* लोग सामाजिक समस्याओं के समाधान में अच्छे पथ प्रदर्शक होते थे। वृद्ध लोगों का निवृत्ति प्राप्त करना (50 वर्ष की आयु के बाद जो निश्चित आयु नही है बल्कि औसत आयु है जिसमें विविधता की अनुमति है) युवकों को अनुभव प्राप्त करने और जीवन को समृद्ध बनाने में योगदान करने का अवसर भी प्रदान करता है। वृद्धों द्वारा सक्रिय जीवन से बहुत देर से निवृत्ति प्राप्त करने से युवाओं को नवीन कार्य क्षेत्र प्रारम्भ करने का अवसर नही मिलता। वानप्रस्थ अवस्था में पति और पत्नि के आपसी सम्बन्धों के टूटने की अपेक्षा भी नही की जाती। यह पति पत्नि के विचारों पर निर्भर होता है। लेकिन उनसे पवित्र और विरक्त जीवन व्यतीत किए जाने की अपेक्षा की जाती है। तृतीय अवस्था का सास्कृतिक महत्व यह है कि शारीरिक सुख भोगने के बाद जब शरीर अशक्त हो जाता है तो व्यक्ति को कुण्ठा एव गिरावट की भावना सताने लगती है। तब वह कृत्रिम साधनों से शारीरिक सुख प्राप्त करने की इच्छा करने लगता है। निवृत्ति से व्यक्ति कुण्ठा से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। जैविक इच्छाओं में कमी (यौन. आत्म अभिकथन) मानव कल्याण में रुचि से पूरी हो जाती है।

सन्यास आश्रम जीवन विकास की अन्तिम अवस्था सन्यास है। यह वानप्रस्थ से दो अर्थों में भिन्न है—रुचियों के विकास में और प्रेरणा (motivation) के विकास में। जहाँ गृहस्थ अवस्था में रुचि का प्रमुख केन्द्र परिवार और वानप्रस्थ अवस्था में सम्पूर्ण मानव समाज होता है वहा सन्यास अवस्था में सर्वव्यापी (universal) चेतना पर आधारित समस्त जगत (universe) रुचि का केन्द्र होता है। जहा तक गृहस्थ अवस्था में प्रेरणा का सम्बन्ध है, व्यक्ति परिवार और उसके सदस्यों में रुचि लेने की प्रेरणा प्राप्त करता है जबकि वानप्रस्थ में वह विशेष समूह, समुदाय यथा मानव समाज में ही रुचि लेने के लिए प्रेरित होता है। दोनों ही अवस्थाओं में यदि आकाक्षाओं की पूर्ति हो जाती है तब गृहस्थी और वानप्रस्थी

दोनों ही सुख का अनुभव करते हैं, यदि नही तो वे दुखी रहते हैं। जब प्रेरणा किसी लक्ष्य से सम्बन्धित होती है तब उसमें सफलता से सुख की तथा असफलता से दुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार के कार्यों को रुचिकर कार्य (interested action) अर्थात् फल से प्रेरित कार्य कहा जाता है। इसके विपरीत, सन्यास में कार्य रुचिविहीन कार्य होता है। सत्य बोलने का ही उदाहरण लें। एक व्यक्ति तब सत्य बोलता है जब उसे कोई लाभ हो और दूसरा व्यक्ति तब भी सत्य बोलता है जब उसे हानि ही क्यों न उठानी पडे। व्यक्ति सत्य तब बोलता है जब इसको या तो कर्त्तव्य मानता है या फिर अन्तरात्मा की आज्ञा समझता है। इसमें वह न तो लाभ-हानि की गणना करता है और न ही अपने जीवन खोने की। केवल सन्यासी ही निस्वार्थ कार्य करने के लिये प्रेरित होता है जिसे फल की चिन्ता न इस जन्म में है और न बाद में। सन्यासी की सरल पोशाक जीवन के उस आदर्श का प्रतीक होती है जिसके लिए वह जीवित है। सन्यासी अपने घर द्वार का समर्पण कर देता है क्योंकि वह तो समस्त जगत को ही अपना घर मानता है। वह भय, इच्छा और घृणा से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार सन्यास अकर्मण्यता का जीवन नही है बल्कि सक्रिय जीवन है जो प्रेरणा और बहुजन हिताय के सर्वोच्च शिखर तक उठ जाता है।

यहा यह उल्लेखनीय है कि जीवन की ये चार अवस्थाए औसत व्यक्ति के लिए हैं। प्रतिभावान या असाधारण गुणों वाले व्यक्ति के लिए ये आवश्यक नही हैं। टैगोर और चार्ल्स डिकन्स जैसे लोग कभी भी स्कूल नही गए। शैली और वर्डसवर्थ जैसे लोग अधिक शिक्षित नही थे फिर भी वे महान कवि हुए। प्रतिभावान किसी भी अवस्था में लाघ कर शिखर पर पहुच सकते है।

(iv) वर्ण समाज की चतुर्मुखी व्यवस्था
(Varnas The Fourfold Order of Society)

वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था से भिन्न है। जाति व्यवस्था के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि यह भारतीय सस्कृति पर बदनुमा दाग है क्योंकि इसने समाज को सघर्षमय कैम्पों में विभाजित कर दिया है, भारतीय जन को एक बडे भाग को कष्टों में धकेला है, और सामाजिक न्याय को कठिन बना दिया है। जाति व्यवस्था सामाजिक रूप से हानिकारक, राजनैतिक रूप से आत्मघाती, नैतिक रूप से घृणित और आर्थिक रूप से विनाशकारी सिद्ध हुई है। परन्तु वर्ण व्यवस्था लोगों का उनकी अभिरुचि, योग्यता और पेशों के आधार पर समूहों में विभाजन है। अभिरुचियों और योग्यताओं को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है (a) विद्वत्ता के लिए, (b) प्रशासन और रक्षा के लिये, (c) उत्पादन और वितरण के लिए, और (d) अकुशल श्रम के लिए। प्रथम समूह के लोगों को *ब्राह्मण* कहा गया जो पूजा अर्चना, अध्यापन, औषधि, इत्यादि कार्यों में लगे, दूसरे समूह को *क्षत्रिय* कहा गया जो युद्ध, प्रशासन और शासन करते थे, तीसरे समूह को *वैश्य* कहा गया जो कृषि, व्यापार और वाणिज्य करने लगे, और चौथे समूह के लोगों को शूद्र कहा गया जो अन्य तीन समूहों के सदस्यो के निर्देशन में अकुशल श्रम करने के लिए लगाए गए।

ब्राह्मणों में आत्म नियत्रण, पवित्रता, शुद्धता, गम्भीरता, क्षमा, सरलता, बुद्धिमानी, सत्य और दार्शनिक अर्न्तदृष्टि के गुण होते हैं। *क्षत्रियों* में साहस, शक्ति, दृढता, कुशलता,

दानशीलता, और प्रशासकीय योग्यता जैसे गुण होते हैं। *वैश्यों* में कठिन परिश्रम, बुद्धि, और शीघ्र निर्णय करने के गुण होते हैं। शूद्रों में प्रशिक्षण के अभाव में योग्यता एव पात्रता की कमी रहती है इसलिए उन्हें दूसरों के निर्देशन में काम करना पडता है और उनकी आधीनता और सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

ब्राह्मणों के कर्त्तव्य (धर्म) हैं · पूजा अर्चना करना, सस्कार एव यज्ञ आदि करवाना तथा अध्यापन। क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं· बाधाओं से सुरक्षित रखना, उन पर शासन करना, दुष्टों को दण्ड देना तथा राष्ट्र निर्माण में लगे संस्थानों को उदारता से सहयोग देना। वैश्यों के कर्त्तव्य हैं · कृषि कार्य करना, दूसरों से वस्तुए लेकर उन्हें सुरक्षित रखना और बेचना, पशुओं को पालना, तथा गरीब और जरूरतमदों की सहायता करना। शूद्रों के कर्त्तव्य हैं · वे कार्य करना जो अन्य लोग उनसे कराना चाहते हों। शूद्रों को वेदों को पढने की, वैदिक सस्कार करने की, तथा मन्त्रों के उच्चारण की अनुमति नही है।

कोई भी व्यक्ति या समूह इन योग्यताओं के आधार पर किसी भी वर्ण में स्थान प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार वर्ण की सदस्यता जन्म से नही वरन् योग्यता से निर्धारित होती थी। एक शूद्र अपनी योग्यता से ब्राह्मण हो सकता था, एक ब्राह्मण वेद न पढने के कारण शूद्र हो सकता था, तथा इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपना वर्ण बदल सकते थे। भागवत् गीता में भी उल्लेख है कि चारों वर्णों का गठन *'गुण'* सिद्धान्त पर अर्थात् स्वभाव से सबधित व अर्जित लक्षणों के आधार पर और कर्म सिद्धान्त अर्थात् पेशे के आधार पर किया गया है। परन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि वर्ण व्यवस्था उतनी ही कठोर थी जितनी आज जाति व्यवस्था है। प्रारम्भ की कुछ धार्मिक पुस्तकों में उल्लिखित व्यक्तियों के उत्थान के जो उदाहरण हैं (जैसे, वशिष्ठ जो वेश्या से जन्मे थे, व्यास मछुआरिन से जन्मे थे, पारासर निम्न जन्म की कन्या से जन्मे थे) वे नियम न होकर केवल अपवाद (exceptions) ही थे।

(v) जातिया (Castes)

सिद्धान्त रूप में जातियाँ जन्म के आधार पर लोगों को समूहों में विभक्त करती हैं जिसमें कुछ लोगों को कुछ विशेषाधिकार दिये जाते हैं तथा अन्य को उन से वचित रखा जाता है। जातियों के अपने आचारतत्व, अपनी जीवन शैली, सही और गलत के प्रति अपनी धारणाएँ, और उनके रीति-रिवाज होते हैं। जाति में निहित अभिप्रेरक (motive) प्रजातीय (racial) एव नृजातीय (ethnic) था। भारत को एक के बाद दूसरे प्रजातीय आक्रमणों का सामना करना पडा था। इतिहास के प्रारम्भ में भी, भारत में भिन्न-भिन्न प्रजातियों के लोग रहते थे द्रविड, मगोल, व मेडीटेरेयिन। बाद में अन्य प्रजातियों के लोग परशियन, युनानी, और सीथियन भारत में बस गए। जब अन्य देशों (ब्रिटेन, अमेरिका, आदि) को निर्मूलन (extermination), सपरिवर्तन (conversion) (जीवन-शैली परिवर्तन सहित) और मानव अधिकारों की वञ्चना, (जैसे, कानून सरक्षण की मनाही) सबधी प्रजातीय समस्याओं का सामना करना पड रहा था, भारत ने इनका सामना सामजस्य के द्वारा अर्थात् इस प्रकार से परस्पर सामजस्य से किया कि प्रत्येक प्रजातीय समूह जीवन का अपना प्रतिमान विकसित कर सका। प्राम्भ में तो प्रवासी (migrants) प्रजातीय समूह सामाजिक, वैवाहिक व सहभोजी सम्बन्धों के स्तर पर एव विश्वास और रिवाजों के स्तर पर अधिक कठोर नही थे और भारत

के मूल निवासियों के साथ मेलजोल में काफी लचीले थे, लेकिन धीरे-धीरे अनेक समूहों ने अपने पेशे व जीवन-शैली बदल दिये और नये नाम धारण कर लिए। यही समूह *जातिया* कहलाए और उनकी सख्या में वृद्धि होती गई। प्रत्येक जाति ने अपने जीवन के तरीकों और विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों के साथ अन्तर्क्रिया में सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए। इस प्रकार नयी-नयी जातियों तथा उपजातियों का उदय हुआ। गुप्त काल (300 A D से 500 A D) तक जाति व्यवस्था बहुत कठोर हो गई तथा अन्य सभी जातियों के ऊपर ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो गया। इसी जातिगत कठोरता, ब्राह्मणों के वर्चस्व और निम्न हिन्दू जातियों पर विविध प्रतिबन्धों पर आक्रमण शुरू हुए—प्रथम तो बुद्ध के द्वारा, तत्पश्चात भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भ होने से अनेक भक्तों के द्वारा। लेकिन जाति व्यवस्था बीसवी सदी के प्रारम्भ तक कठोर बनी रही, जब तक अग्रेजों ने औद्योगीकरण, शहरीकरण, एव शिक्षा प्रसार की प्रक्रिया प्रारम्भ की तथा रामकृष्ण, विवेकानन्द, गाधी, आदि महान पुरुषों ने सामाजिक विचारधाराओं द्वारा जाति व्यवस्था पर आक्रमण करना शुरु किया। आज जाति के बन्धन ढीले पडते जा रहे हैं यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है या भविष्य में समाप्त हो जायेगी। अब जब जाति व्यवस्था राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है और अनुसूचित जातिया, जनजातिया व अन्य पिछडी जातिया जो कि हमारे देश की कुल जनसख्या के अच्छे प्रतिशत में हैं (77%), कुछ विशेषाधिकारों का लाभ लेने लगी हैं (जैसे, नौकरियों, शिक्षा सस्थाओं, विधायिकाओं में आरक्षण, तथा छात्रवृत्तिया, आयु सीमा में छूट आदि प्राप्त कर रहे हैं) और इस प्रकार स्वार्थी प्रवृत्ति का विकास हो रहा है, इस सबसे ऐसा प्रतीत होता है कि जाति व्यवस्था हमारे देश में जारी रहेगी।

युगो से भारतीय समाज भारतीय सस्कृति पर सास्कृतिक पुनर्जागरण, बौद्धधर्म, इस्लाम और पश्चिम का प्रभाव

(Indian Society through the Ages : Impact of Cultural Renaissance, Buddhism, Islam, and the West on Indian Culture)

आदि हिन्दू वैदिक दर्शन पर बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव था। यद्यपि दोनों ही पृथक धर्मों के रूप में विकसित हुए थे लेकिन उनकी जडें हिन्दू परम्पराओं में भी काफी गहरी जमी थी। जैन लोगों को शहरी वाणिज्य समुदाय का सरक्षण प्राप्त था जबकि बौद्धों को राजकुमारों का सरक्षण था। दोनों ही निरन्तरता के मूल्य, पूर्व निर्धारण, (predestined), पुनर्जन्म, आवागमन (transmigration) पर बल देते थे और श्रेणीक्रम (hierarchy) तथा वर्ण और जाति व्यवस्था में विश्वास की आलोचना करते थे। दोनों ही मन्दिरों में बलि प्रथा के निषेध और अहिंसा पर बल देते थे। बौद्ध धर्म की सदस्यता सभी जातियों और लिंगों के लिए खुली थी। बौद्ध धर्म निर्वाण के माध्यम से आत्मा की मुक्ति पर केन्द्रित था, जबकि जैन धर्म आत्म सयम के माध्यम से नैतिक गुणों की भावना के विकास के द्वारा आत्मा की मुक्ति की बात करता था। सक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध और जैन धर्मों का ईश्वर सबधी नास्तिक दृष्टिकोण है जबकि हिन्दुत्व आस्तिकवाद पर आधारित है। एक प्रकार से बौद्ध और जैनियों ने हिन्दू धर्म की कुछ विशेषताओं का विरोध किया, जैसे कठोर औपचारिकतावाद

(rigid formalism), बर्बरतापूर्ण सस्कार (tyrannical ritualism), श्रेणीक्रम पर आधारित मूल्य व्यवस्था, ब्राह्मणों का वर्चस्व, और धार्मिक कट्टरवाद।

हिन्दू मूल्यों और विश्वासों पर शंकराचार्य (नवी शताब्दि), रामानुजाचार्य (1017-1137 अर्थात् 11वी व 12वी शताब्दि), और माधवाचार्य (14 वी शताब्दि) के उपदेशों का भी प्रभाव पडा जिन्होंने देश के भिन्न-भिन्न कोनों में ऐकेश्वरवाद (monotheism) के प्रसार के लिए मठों की स्थापना की। रामानुजाचार्य ने वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की और जैन, शैव तथा निम्न जाति के व्यक्तियों को भी अपना अनुयायी बना लिया। दक्षिण भारत के लिंगायत सम्प्रदाय ने अनेक गैर ब्राह्मणों को मात्र (exclusively) शिव की पूजा अर्चना के लिए परिवर्तित कर लिया।

पन्द्रहवी और सोलहवीं शताब्दि के बीच भक्ति सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसने हिन्दू धर्म में कुछ नवीन मूल्यों का प्रचार करने का प्रयास किया। कबीर (1440-1518), गुरु नानक (1469-1538), रामानन्द (चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दि), तुकाराम और रामदास आदि सन्तों ने हिन्दू धर्म में समतावादी (equalitaraın) एव गैर-श्रेणीक्रमिक मूल्य व्यवस्था पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू परम्पराओं की उदारता तथा इस्लाम के साथ समन्वय के लिए भी प्रयत्न किए।

मध्य युग में इस्लाम ने हिन्दू आदर्शों को प्रभावित किया। यद्यपि मुसलमानों के आक्रमण भारत पर दसवी शताब्दि में ही शुरु हो गए थे लेकिन पन्द्रहवी शताब्दि से इस्लामी सस्कृति का हिन्दू महान परम्पराओं पर प्रभाव प्रकट होने लगा। इस्लाम मूर्ति पूजा में विश्वास नही करता। यह धर्म एकेश्वरवादी और गैर श्रेणीबद्ध है, अर्थात् यह समानता में विश्वास रखता है। यद्यपि हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्म सम्पूर्णता (holism) के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं लेकिन हिन्दू धर्म में यह सम्पूर्णता श्रेणीक्रम से सम्बद्ध है जबकि इस्लाम में यह सम्पूर्णता श्रेणीक्रमता से भिन्न है।

योगेन्द्र सिंह (1973 67) ने हिन्दू परम्पराओं पर इस्लाम के प्रभावों का तीन चरणों में विवेचन किया है इस्लामिक शासन काल में (1206-1818), ब्रिटिश शासन काल में (अठारहवीं, उन्नीसवीं और स्वतत्रता आन्दोलन काल में (1930 से देश के विभाजन तक)। इस्लामी शासन काल में कुछ मुस्लिम शासकों ने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने, इस्लाम का प्रचार करने और हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की नीति अपनाई। इस काल में यद्यपि हिन्दू और मुसलमानों के बीच तनाव और सघर्ष हुए परन्तु साथ में अनुकूलन (adaptation), परम्पराओं का सास्कृतिक समन्वय (synthesis) और हिन्दू मुसलमानों के सांस्कृतिक सहअस्तित्व (co-existence) को भी प्रोत्साहन मिला। सूफीवाद ने भी हिन्दुओं को प्रभावित किया। इसमें विरागी (ascetic) व्यक्तिगत नैतिकता, भौतिकवाद की क्षण भगुरता (lastıng for short tıme) तथा आत्म बलिदान पर बल दिया जाता है। गैर-सस्कारवाद (non-ritualism) तथा निरपेक्ष (abstract) ऐकेश्वरवाद भी जो कि सूफी सन्तों और दार्शनिकों द्वारा बताया गया था, हिन्दू जन मानस को अच्छा लगा। योगेन्द्र सिंह ने सकेत दिया है कि कुछ मुस्लिम शासकों एव विद्वानों ने हिन्दू परम्पराओं के कुछ पक्षों को इस्लाम धर्म के साथ मिलाने का भी प्रयत्न किया। उदाहरणार्थ, अकबर ने दीन-ए इलाही नामक एक नये समन्वित पन्थ (synthetic cult) को प्रारम्भ किया जो कि हिन्दू, इस्लाम, जैन तथा

पारसी धर्म का मिश्रण था। दारा सिंह ने इस्लाम के साथ उपनिषदीय (Upanishadic) ऐकेश्वरवाद के समन्वय (synthesis) की वकालत की। प्रसिद्ध विद्वान अमीर खुसरो ने मुसलमानों को हिन्दू परम्पराओं की व्याख्या व टिप्पणी दी। सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दि में अनेक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी में लिखा। फिर भी, इस्लामी धार्मिक और राजनैतिक अभिजात वर्ग न केवल महत्वपूर्ण प्रशासकीय, न्यायिक और राजनैतिक पदों पर आसीन थे बल्कि वे इस्लाम की निरन्तरता और विस्तार में भी विश्वास करते थे। ब्रिटिश शासन काल में स्थिति बदल गई और मुसलमान अभिजात वर्ग की शक्ति और स्थिति कमजोर होने लगी। अत, महान् इस्लामी परम्परा अपने प्रारम्भिक जोश और विश्वास को कायम न रख सकी। अठारहवी शताब्दि में इस्लाम की पूर्ववर्ती उदार प्रवृत्तियाँ समाप्त होने लगी और उनके स्थान पर कट्टरवाद तथा पुनरुद्धार इसके प्रमुख आधार बन गए। हिन्दू परम्परा लोकाचार में अनुकूलिनी (adaptive) की अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियावादी हो गयी और सास्कृतिक परिवर्तन की दौड में पीछे रह गयी। दूसरी ओर इस्लामी परम्पराएँ अधिक राजनीतिकृत हो गयीं, लेकिन उन्नीसवी शताब्दि में उदार और कट्टर इस्लामी परम्पराओं का ध्रुवीकरण (polarization) शुरु हो गया। इन दो सास्कृतिक शक्तियों के बीच खीचतान से उत्पन्न राजनैतिक सास्कृतिक घटना ने पृथक इस्लामी राष्ट्र (पाकिस्तान) के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

भारत में ब्रिटिश शासन की अवधि में, योगेन्द्र सिंह (1973 43) के अनुसार हिन्दुत्व में दो प्रकार के सुधार आन्दोलनों का उदय हुआ। प्रथम, वे सुधार जो वेदों के प्रारम्भिक आदर्शों के अनुसार हिन्दू धर्म में मूल्यों और सास्कृतिक प्रथाओं में परिवर्तन चाहते थे और दूसरे वे जो नवीन व परम्परागत मूल्यों और सास्कृतिक प्रतिमानों के समन्वय लाने की परिकल्पना करते थे। प्रथम श्रेणी के सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण (1836-86), विवेकानन्द (1863 1902), और महात्मा गान्धी प्रमुख थे जबकि दूसरी श्रेणी के सुधारकों में राजा राममोहनराय, और नेहरु थे। दयानन्द, विवेकानन्द और गान्धी जी ने हिन्दू धर्म के मूलभूत सास्कृतिक प्रसगों को अस्वीकार नही किया था। उन सभी ने वर्ण व्यवस्था, श्रेणीक्रम सिद्धान्त, कर्म योग अथवा निरपेक्ष (detached) सामाजिक क्रिया को स्वीकार किया था। सभी ने जाति की सस्कारगत निर्योग्यताओं (ritualistic disabilities) को हिन्दू परम्परा में गलतफहमी पर आधारित समझा और उनके निषेध के लिए प्रयत्न किए। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने गैर हिन्दू सास्कृतिक मूल्यों और धार्मिक विश्वासों को अस्वीकार करने की वकालत की लेकिन विवेकानन्द और गान्धी ने ऐसे निषेध पर बल नहीं दिया।

यह सब दर्शाता है कि किस प्रकार हिन्दू धर्म, हिन्दू विश्वास और मूल्य समय-समय पर बदलते रहे हैं और भारतीय सस्कृति में धार्मिक सास्कृतिक परिवर्तन होता रहा है।

भारत मे पश्चिम और आधुनिकीकरण का प्रभाव
(Impact of the West and Modernization in India)

अलातास (Alatas, 1972 121) के अनुसार भारत पर पश्चिम के प्रभाव की पाँच चरणों में चर्चा की जा सकती है। प्रथम चरण सिकन्दर के आक्रमण से सम्बद्ध है जो भावी शताब्दियों के वाणिज्य और व्यापार सम्बन्धों के कारण शान्तिपूर्ण आदान-प्रदान में बदल

गया। दूसरा चरण पन्द्रहवी शताब्दि के अन्त (1498 A.D.) से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा अपने जहाजों के साथ कालीकट में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव सीमित ही रहा। तीसरा चरण अठारहवी शताब्दि के प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की स्थापना से प्रारम्भ हुआ और बाद में अठारहवी शताब्दि के मध्य तक ब्रिटिश शासन भारत में स्थापित हो गया। भारत में पश्चिमी सस्कृति के विस्तार का यह प्रथम चरण था। चौथा चरण उन्नीसवी शताब्दि के आरम्भ से औद्योगिक क्रान्ति के कारण प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजों द्वारा कच्चे माल के स्रोत के रूप में भारत के आर्थिक शोषण के साथ सास्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी आधिपत्य का विस्तार प्रारम्भ हुआ। पाँचवा चरण 1947 में देश की राजनैतिक स्वाधीनता के पश्चात से प्रारम्भ हुआ।

हमारे समाज पर सस्कृति और सामाजिक व्यवस्था के सदर्भ में पश्चिमी सस्कृति का प्रभाव क्या हुआ है ? इस प्रभाव का सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :

(1) बैंकिंग प्रणाली सार्वजनिक प्रशासन, मिलिट्री सगठन, आधुनिक औषधियों, कानून आदि जैसी पश्चिमी सस्थाओं का हमारे देश में प्रारम्भ हुआ।

(2) पश्चिमी शिक्षा ने देश के लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत किया जिन्होंने अपने अधिकारों और आजादी की बातें करना शुरू कर दिया। नवीन मूल्यों और तर्कसगत व धर्मनिपेक्ष भावना का प्रारम्भ तथा व्यक्तिवादिता, समानता, और न्याय की विचारधाराओं का महत्व बढने लगा।

(3) वैज्ञानिक नवाचारों की स्वीकृति ने रहन-सहन के स्तर को उठाने और लोगों को भौतिक कल्याण प्रदान करने की आकांक्षाओं को बढावा दिया।

(4) कई सुधार आन्दोलन भी शुरु हुए। अनेक पाम्परवादी विश्वासों और समाज के लिए विकार्यवादी प्रथाओं को त्याग दिया गया तथा व्यवहार के अनेक नये प्रतिमानों को प्रारम्भ किया गया।

(5) हमारी औद्योगिकी, कृषि, उद्यमकर्त्ता (entrepreneurial) और उद्योग का आधुनिकीकरण किया गया जिससे हमारे देश का आर्थिक कल्याण प्रारम्भ हुआ।

(6) राजनैतिक मूल्यों के श्रेणीक्रम का पुनर्गठन किया गया है। लोकतान्त्रिक सरकार के स्वरूप को स्वीकार करते हुए सभी देशी (native) राज्य, जो कि साम्राज्यवादी (monarchic) सरकार के आधीन थे, भारतीय राज्य में मिला दिये गए हैं और जमींदारों तथा सामन्तों की सत्ता और अधिपत्य समाप्त कर दिए गए हैं।

(7) विवाह, परिवार और जाति जैसी सस्थाओं में सरचनात्मक परिवर्तन आया है जिससे सामाजिक जीवन, धर्म, आदि में नये प्रकार के सम्बन्धों का उदय हुआ है।

(8) सचार के आधुनिक साधनों के प्रारम्भ हो जाने से, जैसे रेलवे व बस से यात्रा, डाक सेवा, समुद्री व हवाई यात्रा, प्रेस, रेडियो और दूरदर्शन, आदि आदमी के जीवन के कई पक्ष प्रभावित हुए हैं।

(9) राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ है।

(10) मध्यम वर्ग के उदय से समाज के प्रबल (dominant) मूल्यों में परिवर्तन आया है।

अलातास (Alatas) ने हमारी सस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में चार प्रकार के परिवर्तनों के सदर्भ में पश्चिमी सस्कृति के प्रभाव का वर्णन किया है : समाप्ति वाले (eliminative) परिवर्तन, सयोज्य व योगात्मक (additive) परिवर्तन, समर्थक (supportive) परिवर्तन एव सश्लेषणात्मक (synthetic) परिवर्तन। *समाप्ति वाले* परिवर्तन वे परिवर्तन हैं जो सास्कृतिक विशेषताओं, व्यवहार के स्वरूपों, मूल्यों, विश्वासों, सस्थाओं, आदि के समाप्ति के कारण होते हैं। उदाहरण स्वरूप, हम युद्ध में अस्त्र शस्त्रों में कुल परिवर्तन, सती प्रथा उन्मूलन, आदि के उदाहरण ले सकते हैं। सयोज्य परिवर्तन जीवन के विविध पक्षों में *नवीन* सास्कृतिक विशेषताओं, सस्थाओं, व्यवहार के स्वरूपों और विश्वासों/प्रथाओं को अपनाने को सदर्भित करते हैं। ये (additions) लोगों की सस्कृति में पहले नही थी। हिन्दू समाज में तलाक का प्रारम्भ, पिता की सम्पत्ति में पुत्री को हिस्सा देना, पचायतों में चुनाव प्रक्रिया लागू करना, आदि इस प्रकार के परिवर्तनों के कुछ उदाहरण हैं। *समर्थक* परिवर्तन वे हैं जो पश्चिमी प्रभाव के सम्पर्क में आने से पहले समाज में विद्यमान मूल्यों, विश्वासों और व्यवहार के स्वरूपों को सुदृढ करते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन का एक उदाहरण ऋण लेनदेन में हुण्डी प्रथा का प्रयोग है। *सश्लेषणात्मक परिवर्तन* विद्यमान तत्वों तथा अपनाए गए तत्वों से मिलकर नए स्वरूपों की रचना करते हैं। इसका सबसे सरल उदाहरण आवासीय रूप से एकाकी किन्तु कार्यात्मक रूप से सयुक्त परिवार है जो माता पिता तथा सहादरों के प्रति सामाजिक कर्तव्यों को आज भी निभाए जा रहे हैं। सश्लेषणात्मक परिवर्तन के दो और उदाहरण हैं दहेज प्रथा का जारी रहना किन्तु दहेज की रकम के लेने व देने पर प्रतिबन्ध के साथ, तथा जीवन साथी के चुनाव में माता पिता तथा बच्चों का सम्बद्ध होना।

पश्चिमी प्रभाव के कारण परिवर्तनों का वर्गीकरण केवल विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के लिए है। व्यवहार में इन दोनों को एक दूसरे से अलग करना सम्भव नही है। एक ही प्रकार के परिवर्तन के भीतर अन्य प्रकार के परिवर्तनों के तत्त्व देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वस्त्र उद्योग के प्रारम्भ होने में समर्थक तत्व भी इस अर्थ में निहित हैं कि यह कपडे के उत्पादन में सुविधाजनक होता है, लेकिन साथ ही साथ, क्योंकि इसने हाथकरघा उद्योग को पीछे धकेल दिया तो इसमें समाप्ति वाले (eliminative) परिवर्तनों के तत्वों का समावेश भी कहा जा सकता हैं। कारागार व्यवस्था में खुली जेल या प्राचीर-विहीन (wall-less) कारागार परिवर्तन का एक और उदाहरण है जिसमें तीन विभिन्न प्रकार के तत्व हैं। शिक्षा व्यवस्था में परितर्वनों में भी इसी प्रकार अन्य परिवर्तनों के तत्वों का समावेश है। बैंकिंग प्रणाली, परिवार व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, आदि में भी इसी प्रकार परिवर्तन के विविध तत्वों का समावेश दिखाई देता है।

अब मुख्य प्रश्न है भारत पश्चिमी प्रभाव के सम्पर्क के बाद कहाँ पहुँचा है ? क्या भारत ने प्रगति की है ? क्या इसने लोगों के कल्याण में कोई योगदान किया है ? क्या इस प्रश्न का निरपेक्ष रूप से उत्तर दे पाना सम्भव है ? क्या निरपेक्षवाद तथा दार्शनिक पक्षपात को इस प्रकार के विश्लेषण करते समय अलग रखा जा सकता है ? कुछ विद्वान अनुभव करते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत के समक्ष अनेक समस्याएँ थीं, जैसे आर्थिक पिछडेपन की समस्या, बडी सख्या में लोगों के गरीबी रेखा से नीचे रहने की समस्या,

बेरोजगारी, जीवन के हर क्षेत्र में धर्म का वर्चस्व, ग्रामीण ऋणग्रस्तता, जाति सघर्ष, साम्प्रदायिक असामजस्य, पूजी की कमी, प्रौद्योगिकी क्षमता वाले दीक्षित कर्मियों की कमी, मानव एवं भौतिक ससाधनों को गतिशील बनाने के साधनों की अपूर्णता, आदि। पश्चिमी प्रभाव ने इन समस्याओं के वैकल्पिक समाधान प्रदान किए हैं। लेकिन कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि इन समस्याओं के समाधान में पश्चिमी प्रभाव ने भारत को कोई सहायता नही दी। यदि कुछ समस्याओं का समाधान हुआ भी है तो अनेक नवीन समस्याएँ जन्मी हैं। भारत उनका सामना पश्चिमी मॉडल के आधार पर नही कर रहा है। भारत अपने स्वदेशी मॉडल द्वारा ही कर रहा है। देश की स्वतत्रता के पश्चात ही औद्योगिक विकास का उदय हुआ, शिक्षा का विस्तार हुआ, ग्रामीण रोजगार के अवसर मिलने लगे, जनसख्या नियंत्रण का प्रयास होने लगा, इत्यादि। इस प्रकार पश्चिमी शासन से मुक्ति से, न कि पश्चिम के सम्पर्क से, आधुनिकीकरण सम्भव हुआ।

सत्य तो यह है कि जीवन के कुछ क्षेत्रों में पश्चिम के सकारात्मक प्रभाव को स्वीकार करना पडेगा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, आधुनिक प्रौद्योगिकी, प्राकृतिक आपदाओं से निबटने के आधुनिक तरीके, देश को बाहरी खतरों से सुरक्षा प्रदान करने की आधुनिक विधिया, आदि भारत के इतिहास में पश्चिम के निर्विवाद योगदान माने जायेंगे। लेकिन भारत जनमानस के उत्थान में अपनी परम्परागत सस्थाओं, विश्वासों, और प्रथाओं का भी प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव और विभिन्न व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के बाद भी, भारत, भारत ही रहेगा। भारतीय सस्कृति जीवन्त और आने वाली कई दशाब्दियों तक चलती रहेगी।

आज का हिन्दू दर्शन प्रारम्भिक हिन्दू दर्शन से भिन्न है। नव हिन्दूवाद, जिसे 'अभिषदीय हिन्दूवाद' (Syndicated Hinduism) भी कहा जाता है, विस्तार और अकन (scale) में पूर्णरूपेण स्वदेशी है। यह किसी नवीन पथ की उपज नहीं है बल्कि यह एक नवीन धार्मिक स्वरूप है जो पूर्व के सभी पन्थों को एक सूत्र में पिरोने के प्रयत्न में लगा है। इस 'अभिषदीय हिन्दूवाद' की रचना धार्मिक उद्देश्यों की अपेक्षा राजनैतिक उद्देश्यों के लिए अधिक है, अत इसको 'राजनैतिक हिन्दूवाद' भी कहा जाता है। ईसाई और मुस्लिम हिन्दुओं को 'अन्य' (the other) मानते थे जैसे कि हिन्दू उन्हें 'म्लेच्छ' मानते थे। अनिवार्यत नव हिन्दूवाद उन्नीसवी और बीसवी शताब्दियों में अपरिहार्य (unavoidable) अथवा टालने वाला नही था। बीसवी शताब्दि के नव हिन्दूवादी आन्दोलनों को विशेषरूप से स्वतत्रता के बाद राजनैतिक रग दे दिया गया जिसे अब भी इस रूप में हिन्दुत्व को स्वीकार किया जाता है। रोमिला थापर (1985 21) के अनुसार वर्तमान में पाया जाने वाला अभिषदीय हिन्दूवाद इसी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है और आज इसी अभिषदीय हिन्दूवाद को स्वदेशी भारतीय धर्म का उत्तराधिकार-प्राप्त एक मात्र दावेदार के रूप में आगे बढाया जा रहा है।

इस 'अभिषदीय हिन्दूवाद' की धार्मिक अभिव्यक्तियों (expression) को नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्रामीण अमीर व्यक्तियों और शहरी मध्यम वर्गीय लोगों के राजनीति में ऐकेश्वरवादी हिन्दुत्व में लाने के लिए अधिक प्रयोग किया जा रहा है। नये सशोधित हिन्दूवाद के भेष में बडी सख्या में लोगों को अनुयायी बनाने में और उन की

आवाज को उठाने में प्रयत्न किये जा रहे हैं। अभिषदीय हिन्दूवाद के आग्रहों (appeals) में राजनैतिक उद्देश्य सदैव निहित रहता है।

रोमिला थापर (Romila Thapar, 1985 21-22) तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इस नव हिन्दूवाद के निम्नलिखित मूल तत्त्व (postulates) बताये हैं

(1) अभिषदीय हिन्दूवाद का अधिकार आधार ब्राह्मण कालीन मूल ग्रन्थ—गीता और वेदान्त विचार—है। यह धर्मशास्त्रों के कुछ पक्षों को स्वीकार करता है और एक आधुनिक सुधरा हुआ धर्म प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। यह कहा जा सकता है कि 'हिन्दुत्व' का आदर्श अर्जित परम्परा और इस परम्परा के सक्रिय पुनर्निर्माण के मेल पर आधारित है, या यह भी कहा जा सकता है कि 'हिन्दुत्व' एक सरचित विश्वास व्यवस्था, (structured belief system) है जिसमें अतीत की व्याख्या व टीका टिप्पणी, वर्तमान का विश्लेषण, तथा भविष्य के व्यवहार के लिए मार्ग दर्शक विचारों का सग्रह निहित है।

(2) इसकी मान्यता है कि गैर-जाति धार्मिक पन्थ के लोगों को शक्तिशाली लोगों के धर्म को स्वीकार करना पडता है लेकिन उनका आधीन बनकर रहना पडता है। समाज की निचली श्रेणी के लोग नये धार्मिक आन्दोलनों के माध्यम से उच्च गतिशीलता के लिए प्रयत्न कर सकते हैं।

(3) यह धर्म परिवर्तन (proselytization) में विश्वास करता है क्योंकि इसका दावा है कि हिन्दुओं पर यूनानियों, तुर्कों, मुगलों और अंग्रेजों द्वारा हजारों वर्षों तक अत्याचार किए गए थे। इसी प्रसग में वे धर्म परिवर्तन, मन्दिरों को नष्ट करने, मूर्तियों को तोडे जाने, मन्दिरों की सम्पत्ति को जब्त करने, आदि को इसी में सम्मिलित करते हैं। इसलिए वे मठों, आश्रमों, मन्दिरों, रथ यात्राओं की रचना को न्याय सगत ठहराते हैं और मुसलमानों तथा ईसाइयों को हिन्दू बनाने को तर्क सगत मानते हैं। मीनाक्षीपुरम (1982) में, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात (1998) में, दक्षिण भारत (1998) में धर्मान्तरण कैम्पों का गठन हिन्दू धर्म के मूल मतानुयायियों (fundamentalists) द्वारा समर्थित एव रक्षित था। गत बीस वर्षों में, विश्व हिन्दू परिषद का दावा है कि उन्होंने लगभग 47,000 मुसलमानों को परिवर्तित किया जो कि लगभग 8,000 परिवारों से सम्बन्धित थे (मुख्यत मेहरात, और रावत सम्प्रदायों के जो कि परम्परागत प्रथाओं को मानते थे, जैसे मुर्दे को दफनाना, निकाह सस्कार करना, हलाल करके खाना, मूर्ति पूजा की निन्दा करना, ईद, शबे ए-बारात, आदि त्यौहार मनाना), और राजस्थान में चार जिलों (अजमेर, पाली, उदयपुर, और भीलवाडा), तथा गुजरात और दक्षिण भारत के 2000 ईसाइयों का भी धर्मान्तरण किया।

(4) यह समानतावाद का समर्थन नही करता। यह सामाजिक व आर्थिक असमानता को मान्यता प्रदान करता है और श्रेणीक्रम सरचना स्वीकार करता है। इसके विपरीत इस्लाम जैसे धर्म सिद्धान्तत समानतावादी हैं। बौद्ध जैसे अन्य धर्म समानता का जीवन के नैतिक क्षेत्र में निषेध करते हैं। हिन्दूवाद का जन्म और उद्‌विकास ऐसे काल में हुआ जब असमानताओं को जीवन का एक सत्य माना जाता था, और धर्म का सामाजिक कार्य इस (असमानता) में परिवर्तन करना नही था बल्कि उन लोगों के

लिए इस सत्य को सुधारना था जो इस (असमानता) को कठोर व अपघर्षी (abrasive) मानते थे।

(5) यह धार्मिक अभिव्यक्ति (manifestation) को विविधता (multiplicity) को जरूरी नहीं मानता। यह कुछ चुनिन्दा सस्कारों, विश्वासों और प्रथाओं को आवश्यक मानता है इसलिए उन्हें अधिक महत्व दिया जाता है। यह परम्परागत स्थिति से छूटने की स्थिति है। छाँटने का कार्य कौन करे, किन स्रोतों से यह कार्य किया जाये और किस उद्देश्य के लिए किया जाये, ये सब विचारणीय महत्व के बिन्दु हैं।

(6) अभिषदीय हिन्दूवाद के लिए बढते हुए महत्त्व का एक कारक है हिन्दुओं का अन्य देशों में फैलना। भारत के बाहर रहने वाले हिन्दू सास्कृतिक असुरक्षा की भावना से पीड़ित रहते हैं क्योंकि वे ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, खाड़ी देशों, यूरोप या उत्तरी अमेरिका जैसे इस्लामी या ईसाई समाजों में अल्पसख्यक समुदाय के रूप में होते हैं। यह अल्पसख्यक समुदाय (हिन्दू) बहुधा हिन्दुत्व के ऐसे स्वरूप को पसन्द करता है जिसको वे हिन्दू स्कूलों के माध्यम से अपने बच्चों को सिखा सकें और जो उनके नये उद्यम का समर्थन करे। अन्य देशों में बसे ये अल्पसख्यक समुदाय और उनका वित्तीय समर्थन अभिषदीय हिन्दूवाद के धर्मोपदेशकों और सस्थाओं के लिए आधार प्रदान करेगा। इस विस्तार का महत्व न केवल नव-हिन्दूवाद को भारत में रहने वाले और बाहर बसे समर्थकों के बीच, सामाजिक कड़ी का स्पष्ट प्रदर्शन है बल्कि उस बढती हुई सन्निकटता का भी जिससे संघ, परिषद और समाज विदेशों में सभाएं करते हैं और उनका समर्थन प्राप्त करते हैं और धनी व्यक्तियों के 'मत परिवर्तन' (conversion) में सफलता प्राप्त कर रहे हैं।

(7) अभिषदीय हिन्दूवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद की एक नवीन अवधारणा प्रस्तुत की है जिसे 'हिन्दू राष्ट्रवाद' की सज्ञा दी गई है। इस अवधारणा के अनुसार हिन्दू बहुसख्या में होने के नाते, और अतीत में जो कुछ भी महान् और वीरता के कार्य हुए उनके उत्तराधिकारी होने के नाते, अन्य लोगों पर आधिपत्य रखने, अधिकार दर्शाने और उन्हें अपने आधीन समझने के लिए अधिकृत मानते हैं। यह कहा जाता है कि कोई भी, गैर-हिन्दुओं सहित, भारतीय हो सकता है बशर्ते कि वह हिन्दू देवताओं को स्वीकार करे और गैर-हिन्दुओं को विदेशी माने। हिन्दू अन्य गैर-हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक देश भक्त हैं। ग़ैर हिन्दुओं को अपनी राष्ट्रवादी विश्वसनीयता सिद्ध करने के लिए बहुसख्यक समुदाय के प्रति निष्ठा का प्रदर्शन करना चाहिए और पूजा के उन स्थलों को गिराने में देश भक्ति का कर्तव्य मानकर हिन्दुओं के साथ मिलना चाहिए, जो स्थल गैर-हिन्दुओं के द्वारा हिन्दू मन्दिरों पर स्थापित कर दिए गये थे। हिन्दू राष्ट्रवाद उन गैर-हिन्दू लोगों के लिए हिन्दुओं के क्रोध का सामना करने की धमकी है जो उपरोक्त लीक पर चलने मे मना करते हैं। ये अतिवादी धार्मिक नेता जो हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करते हैं न्यायपालिका में विश्वास नहीं रखते और स्थापित सस्थाओं के प्रति सम्मान नहीं करते। वे मानते हैं कि 'लोक शक्ति' 'राष्ट्र शक्ति' से अधिक महान है।

(8) नव हिन्दूवाद या हिन्दुत्व के प्रणेता (proponents) 'सापेक्ष धर्म निरपेक्षता'

(positive secularism) की बात करते हैं। वे मुसलमानों के परिपोषण (pampering) की ओर उन्हें सरक्षण दिये जाने तथा अल्प सख्यकों को राज्य द्वारा विशेषाधिकार दिये जाने को 'मिथ्या धर्म निरपेक्षवाद' (pseudo-secularism) मानते हैं। 'सापेक्ष धर्म निरपेक्षता' उनके अनुसार समान आचारसहिता, अधिकारों और उत्तरदायित्वों से बन्धे सभी धार्मिक समुदायों को एक साथ आने की कल्पना है। इस प्रकार वे चाहते हैं कि सरकार द्वारा एक नागरिक सहिता (civil code) लागू की जाये जो भारत के सभी नागरिकों पर धर्म और जाति भेद भाव के बिना समान रूप से लागू हो। वे केवल हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, या पारसियों के लिए अलग-अलग, विवाह सम्बन्धी तथा सम्पत्ति सम्बन्धी नियमों को लागू कराना नहीं चाहते। उनका विश्वास है कि साम्प्रदायिक सघर्षों के लिए यह एक आदर्श लोकतांत्रिक समाधान होगा। वे यह नहीं मानते कि इससे अल्प सख्यक समुदायों की धार्मिक व सास्कृतिक पहचान बहुसख्यक समुदाय में निमग्न (submerge) हो जायेगी। अपेक्षाकृत उनका विश्वास है कि इस प्रकार की नीति (समान सहिता) सभी सम्प्रदायों में प्रचलित अन्ध विश्वासों, सडे गले रिवाजों तथा तर्कहीन व पिछड़ेपन की प्रथाओं को समाप्त कर देगी और एक वैज्ञानिक सोच का विकास करेगी जो धर्म निरपेक्ष राज्यों के लिए मोड का पत्थर होना चाहिए।

जिन भावनाओं का उदय हो रहा है वह यह है कि अभिषदीय हिन्दूवाद, जो स्वदेशी हिन्दूवाद की पुनर्स्थापना का दावा कर रहा है, वास्तव में स्वय को स्थापित कर रहा है। यह तो केवल समय ही बतायेगा कि यह नव हिन्दूवाद या 'हिन्दुत्व' या हिन्दूवाद का पुनर्स्पष्टीकरण (reinterpretation) अर्थात् 'हिन्दू राष्ट्रवाद' का आदर्श भारतीय राजनीति के धर्म निरपेक्ष स्वरूप को कहा तक प्रभावित करेगा। इसी प्रकार, केवल समय ही यह निर्धारित करेगा कि वे धार्मिक विचारधाराए जो जन साधारण पर अपना वर्चस्व स्थापित करेंगी, भारत के लोगों के हितों और आकाक्षाओं पर खरी उतरेगी या फिर सामाजिक व्याधि की दशाए पैदा करेंगी जो समाज में घृणा व द्वेष उत्पन्न करेंगी।

भारतीय समाज मे निरन्तरता तथा परिवर्तन के कारक
(Factors in Continuity and Change in Indian Society)

ऐसे अनेक कारक हैं जो भारतीय समाज में निरन्तरता बनाए रखने तथा परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। परिवर्तन एकीकरण (integration) और अनुकूलन के माध्यम से आ सकता है। अनुकूलन तब होता है जब विद्यमान सस्थाएँ नयी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए फिर से सामजस्य करें। एकीकरण तब होता है जब कोई समाज नये तत्वों को धारण करे और इनको अपना हिस्सा बना ले। उन अनेक कारकों में से जिन्होंने हमारे समाज को अनुकूलन या एकीकरण के लिए प्रेरित किया है या इसमें बाधक बने हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं: राजनैतिक स्वतत्रता और लोकतान्त्रिक मूल्यों का चलन, औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा प्रसार, वैधानिक उपाय, जाति प्रथा में सामाजिक परिवर्तन, और सामाजिक आन्दोलन तथा सामाजिक चेतना (जैसे, परिवारवाद, वैश्वीकरण, और जातिवाद विरोध)।

राजनैतिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रारम्भ

(The Political Independance and Introduction of Democratic Values)

राजनैतिक स्वतंत्रता से सभी व्यक्तियों को यह अवसर प्राप्त हुआ है कि वे अपनी पहचान, स्थिति, प्रतिबद्धता, और इच्छाओं में निहित हितों और मूल्योंन्मुख चेतना और अचेतना के चारों ओर रहकर स्वयं का विकास कर सकें। आज व्यक्ति अपनी व्यक्तिवादिता को लेकर अधिक परेशान है। वे समूह जो पीढ़ियों तक स्वतंत्र सामाजिक अन्तर्क्रिया से वंचित रहे थे अब वे भी सामाजिक ढाँचे में भेदभाव पूर्ण विशेषाधिकार प्राप्त करके ऊंचा उठने का आग्रह करते हैं। वे क्षेत्र जो ब्रिटिश शासकों की नीतियों के कारण आर्थिक रूप से पिछड़ रहे थे, अब विकास योजनाओं में अपना हिस्सा चाहते हैं। कुछ नृजातीय (ethnic) समूह अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता चाहते हैं। धार्मिक समूह अपने सदस्यों को कुछ मूल्य और उप-सांस्कृतिक प्रतिमानों को सिखाने की आजादी चाहते हैं। इन सभी आकांक्षाओं और मांगों ने गत पाँच दशाब्दियों में हमारे देश में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को प्रभावित किया है।

राजनैतिक स्वतंत्रता ने सामन्ती जमींदारी प्रथा, जागीरदारी और राजाओं के राज्यों का उन्मूलन करके हमारे समाज की संरचना और इसकी अधिकार प्रणाली में भारी परिवर्तन करने का मार्ग प्रशस्त किया है। इसने हमारे ग्रामीण समाज के आर्थिक और सामाजिक आधार में क्रान्ति लाने का काम किया है जिसके परिणाम आज भारत के प्रत्येक गाँव में देखे जा सकते हैं। किराये पर भूमि लेने वाले काश्तकार अब इतने स्वाधीन हैं कि वे शक्तिशाली ग्रामीण मध्यम वर्ग के रूप में उभरे हैं। राजनैतिक परिक्षेत्र में इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली आवाज है। देश में हरित क्रान्ति मुख्यत. इसी वर्ग की देन रही है। सामाजिक एव सांस्कृतिक लचीलापन, ब्राह्मणीय परम्पराओं के प्रति सहिष्णु उदासीनता, सांस्कृतिक एव भूमि सम्बन्धी आन्दोलनों के निरन्तर भागीदारी, और कलहप्रिय उपयोगितावाद (pugnacious utilitarianism) ने इस वर्ग को देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। यही समूह आज देश के शक्तिशाली पिछड़े वर्ग के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा है।

राजनैतिक स्वतंत्रता ने राष्ट्र के लिए औद्योगिक, प्रौद्योगिकीय/वैज्ञानिक तथा प्रबन्धकीय विकास को सम्भव बनाया है। एक अत्यन्त सुदृढ प्रौद्योगिक और वैज्ञानिक मानव शक्ति को उत्पन्न किया गया है। योगेन्द्र सिंह (1994 22) ने भी कहा है कि एक नये वर्ग, जो स्वतंत्रता पूर्व के मध्यम वर्ग की विशेषताओं से बिल्कुल भिन्न है, का उदय हुआ है। इस वर्ग का कहीं अधिक विस्तृत सामाजिक आधार है जो निम्न और मध्यम जातियों और समाज के ऐसे ही स्तरों से सम्बद्ध है। शहरी क्षेत्रों में नये उद्यमी और पेशेवर वर्ग और गाँवों के धनवान कृषक वर्ग भारत के मध्यम वर्ग में आते हैं जो अनुमानत भारत की कुल जनसख्या के एक चौथाई के लगभग हैं। देश की जीडीपी (G D P) में सेवारत क्षेत्र के प्रतिशत में निरन्तर वृद्धि हुई है जो दर्शाता है कि समाज की रचना और आर्थिक सरचना में किस सीमा तक परिवर्तन आया है। उपनिवेशवाद ने भारतीय समाज की औद्योगिक नींव को क्षीण व दुर्बल बना दिया था और स्वतंत्रता के बाद देश आज औद्योगिक प्रगति के मामले में तेरहवें

स्थान पर आ गया है। ये उपलब्धिया इसके सामाजिक जीवन के आधारभूत क्षेत्रों में योजनाबद्ध विकास का परिणाम हैं।

नगरीकरण (Urbanisation)

नगरीकरण एक और कारक है जिसने परिवार व समाज को प्रभावित किया है। गत कुछ दशाब्दियों में हमारे देश की शहरी जनसख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। मध्य अठारहवीं शताब्दि में भारत में करीब 10 प्रतिशत जनसख्या शहरों में रहने वालों की थी। उन्नीसवीं शताब्दि के दौरान भारत के शहरवासियों की सख्या सौ वर्षों में दस गुनी हो गई, बीसवीं शताब्दि में जब समूचे देश की जनसख्या 1901 में 23 करोड 80 लाख से बढकर 1991 में 84 करोड 63 लाख हो गई, शहरी जनसख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1951 में शहरी जनसख्या कुल जनसख्या की 17 29 प्रतिशत थी, जो 1961 में बढकर 17 97 प्रतिशत, 1971 में 19 91 प्रतिशत, 1981 में 23 34 प्रतिशत और 1991 में 25 73 प्रतिशत हो गई। 1961 में शहरी जनसख्या की दस वर्षीय विकास दर 26 41 प्रतिशत थी जो 1971 में बढकर 38 23 प्रतिशत, 1981 में 46 14 प्रतिशत और 1991 में 36 19 प्रतिशत रही। सही अर्थों में भारत की शहरी जनसख्या 1961 में 7 8 करोड थी जो 1991 में 21.7 करोड हो गई। (*Manpower Profile, India,* 1998 24)

शहरी क्षेत्रों में परिवार, नातेदारी, जाति व विवाह आदि व्यवस्थाएँ ग्रामीण क्षेत्रों से न केवल रचना में भिन्न होती हैं बल्कि विचारधारा और कार्यप्रणाली में भी भिन्न हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शहरी क्षेत्र में एकल परिवार, गैर-शहरी एकल परिवार से कुछ छोटा होता है, और नगरवासी ग्रामवासियों की अपेक्षा एकल परिवार को अधिक पसन्द करता है। एमएसगोरे (1968) ने उल्लेख किया है कि शहरी परिवार अपनी अभिरुचियों, भूमिका दृष्टिकोण और व्यवहार में सयुक्त परिवार के प्रतिमानों से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, निर्णय करने के क्षेत्र में, ग्रामीण परिवारों के विपरीत शहरी परिवारों में बच्चों के विषय में वरिष्ठ पुरुषों की अपेक्षा माता पिता ही निर्णय लेते हैं, उनकी सख्या अपेक्षाकृत इसी रुझान के ग्रामीण लोगों में कम होती है।

परन्तु आई पी देसाई (1964) इस विचार से सहमत नही है कि नगरीकरण सयुक्त परिवार व्यवस्था को तोडने का काम करता है। सयुक्ता (jointness) पर नगरीकरण के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने परम्परागत सयुक्तता और शहरी क्षेत्र में परिवार के रहने की अवधि में महत्वपूर्ण सम्बन्ध पाया। उनकी परिकल्पना थी कि शहरी क्षेत्र में परिवार का लम्बे समय तक रहना सयुक्तता की मात्रा को कम करेगा। परन्तु उन्होंने पाया कि सयुक्तता 'बहुत पुराने' (very old) (शहरों में 50 वर्षों से अधिक समय से रह रहे) तथा 'पुराने (old) परिवारों (शहर में 25 से 50 वर्ष की अवधि से रह रहे) में 'नये' परिवारों (25 या इससे कम वर्षों से शहरों में रह रहे) की अपेक्षा अधिक विद्यमान है।

ल्युइस वर्थ (Louis Wirth, 1938) का भी मानना है कि शहर परम्परात्मक प्रकार के पारिवारिक जीवन के लिए प्रेरणादायक नहीं होता। उनके अनुसार परिवार (सामाजिक जीवन की एक इकाई के रूप में) गाँव के वृहद् नातेदारी समूह के लक्षण से मुक्त हो जाता है तथा परिवार के सदस्य अपने पेशे, शिक्षा और धार्मिक, मनोरजन और राजनैतिक जीवन में

अपनी अलग रुचियों के अनुसार लगे रहते हैं।

अन्य अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं में भी शहरों में परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। शहरी क्षेत्रों में नातेदारी सम्बन्ध इतने निकट के नही होते जितने ग्रामीण क्षेत्रों में। शहरों में जब केवल प्राथमिक व द्वैतियक नातेदार ही निकट सम्पर्क रखते हैं, गाँवों में तृतीयक व दूर के नातेदार भी सम्बन्ध बनाए रखते हैं। शहरों में जाति व्यवस्था इतनी कठोर नही है जितनी गाँवों में। शहरों में जाति अब प्रबल सामाजिक पहचान नही है जिसके माध्यम से लोग अपनी सामाजिक अन्तर्क्रिया को अभिव्यक्त करें। लेकिन गाँवों में लोग अभी भी अपने सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक लक्ष्यों को जाति के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं। शहरों में जाति पंचायतें जाति संघों में प्रतिस्थापित होती जा रही हैं। वे सघ अब सजातीय विवाह के प्रति मानों प्रदूषण और शुद्धता, या जाति विवादों के समाधान, आदि के प्रयास सबधी दबाव डालने की भूमिका नही निभाते बल्कि इन जाति संघों ने अपना कार्यात्मक व संघीय क्षेत्र विस्तृत कर लिया है। इस कार्य प्रणाली में लगभग 300 जातियां सक्रिय रूप से कार्यरत हैं।

हमारा विचार है कि विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन में नगरीकरण की भूमिका अहम् रही है। शहरी रहन-सहन ने संयुक्त परिवार के स्वरूप को कमजोर किया है और एकल परिवारों को मजबूत। शहर नये व्यवसायों तथा उच्च शिक्षा के लिए निरन्तर अवसर प्रदान करते हैं। जो परम्परागत पारिवारिक व्यवसाय छोडकर नये अपनाते हैं वे परम्परागत पेशे अपनाने वाले लोगों की अपेक्षा अपनी अभिरुचि में अधिक बदलाव प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में शिक्षित लोग संयुक्त परिवार के प्रतिमानों के पक्ष में कम होते हैं। यह कहा जा सकता है कि अभिरुचि में परिवर्तन का शहर में रहने की अवधि से सीधा सम्बन्ध है। शहर स्त्रियों को भी लाभकारी रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं और स्त्री धन अर्जन करने लगती है तो वह कई क्षेत्रों में स्वतत्रता प्राप्त कर लेती है। वह पति के परिवारोन्मुख होने से अधिक से अधिक बचने का प्रयत्न करती है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समाज में परिवार के स्वरूप में शहरी रहन-सहन ने कुछ भिन्नताए पैदा की हैं।

औद्योगीकरण (Industrialization)

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ उन्नीसवी शताब्दि के अन्तिम 25 वर्षों और 20वी शताब्दि के पूर्वार्ध में प्रारम्भ हुआ। नवीन उद्योगों के चारों ओर शहरों का विकास हुआ। औद्योगीकरण से पूर्व हमारे यहा (i) कृषि आधारित मुद्राविहीन अर्थ व्यवस्था थी, (ii) प्रौद्योगिकी का ऐसा स्तर था जहां घरेलू इकाई भी आर्थिक आदान-प्रदान की इकाई थी, (iii) पिता-पुत्र तथा भाई-भाइयों के बीच पेशों में अन्तर नही होता था (iv) ऐसी मूल्य व्यवस्था थी जहा बजुर्गों की प्रभुता और परम्पराओं की पवित्रता दोनों ही 'विवेक' (rationality) के सिद्धान्त के विपरीत माने जाते थे। लेकिन औद्योगीकरण से आमतौर पर हमारे समाज में और विशेष रूप से परिवार में आर्थिक और सामाजिक व सास्कृतिक परिवर्तन आये। आर्थिक क्षेत्र में इसका परिणाम है काम में विशिष्टीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, अर्थव्यवस्था का मुद्रीकरण, तथा नातेदारी व व्यावसायिक सरचना में बिखराव। सामाजिक क्षेत्र में इसका परिणाम है : ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन, शिक्षा का विस्तार और एक

सुदृढ केन्द्रीय राजनैतिक सरचना। सास्कृतिक क्षेत्र में शहरीकरण से विश्वासों में धर्म निरपेक्षता सम्भव हुई है।

पारिवारिक सगठन पर औद्योगीकरण के तीन महत्वपूर्ण प्रभाव हुए है - *प्रथम*, परिवार जो उत्पादन की प्रमुख इकाई था अब उपभोक्ता इकाई में बदल गया है। एकीकृत आर्थिक उद्यम में परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ काम करने के बजाय, परिवार के कुछ पुरुष सदस्य परिवार के लिए रोजी रोटी कमाने हेतु घर से बाहर जाते हैं। इसने न केवल सयुक्त परिवार के परम्परागत सरचना को बल्कि सदस्यों के बीच सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है। दूसरे, फैक्ट्री रोजगार ने युवा प्रौढों को अपने परिवारों पर सीधी निर्भरता से मुक्त कर दिया है। उनके पारिश्रमिक ने क्योंकि उन्हें आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बना दिया है, अत घर के मुखिया का प्रभुत्व और भी कम हो गया है। शहरों में कई मामलों में पुरुषों के साथ उनकी पत्नियों ने भी काम करना व धनार्जन शुरु कर दिया है। इसने एक सीमा तक अन्तपारिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित किया है। अन्तिम, बच्चे अब आर्थिक परिसम्पत्ति (assets) न होकर दायित्व (liabilities) बन गए हैं। यद्यपि कुछ मामलों में बाल श्रम के उपयोग व दुरूपयोग बढ गए हैं, कानून बच्चों को काम की अनुमति नही देता। इसी के साथ शैक्षिक आवश्यकनाए इतनी बढ गई है कि बच्चों को लम्बे समय तक अपने माता-पिता पर निर्भर रहना पडता है। शहरों में आवासीय व्यवस्था महगी है और बालकों का रख रखाव भी। इस प्रकार औद्योगीकरण के कारण घर और काम अलग अलग हो गए हैं।

कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के कारण एकल परिवारों के उद्‌भव (emergence) के सिद्धान्त को चुनौती दी है। यह चुनौती अनुभवजन्य अध्ययनों और विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में परिवार व्यवस्था की विविधता पर तैयार किए गए दस्तावेजों (documentation) पर आधारित है। एमएसए राव, एमएस गोरे तथा मिल्टन सिंगर जैसे विद्वानों के अध्ययनों ने यह बताया है कि सयुक्तता व्यापारी समुदाय में अधिक प्रचलित है और इसे अधिक अच्छा माना जाता है और कई एकल परिवार विस्तृत नातेदारी बन्धन बनाए रखते है। पश्चिमी औद्योगिक जगत में अनेक आधुनिक अनुसधानकर्त्ताओं ने भी अवैयक्तिक विस्तृत जगत और परिवार के बीच नातेदारों की समर्थक भूमिका और उनके बीच सयोजक के कार्य पर बल दिया है (Abbi, 1970)। सामाजिक इतिहासकारों ने भी दर्शाया है कि औद्योगीकरण से पूर्व भी यूरोप और अमेरिका में एक सास्कृतिक प्रतिमान के रूप में एकल परिवार प्रचलित था। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि नातेदारों की समर्थक भूमिका (supportive role) में अनिवार्यता का वह लक्षण नही है जो भारतीय एकल परिवार के दायित्वों (obligations) में पाया जाता है। एकल परिवार के नवयुवक आज भी प्राथमिक नातेदारों (जैसे, माता पिता, सहोदर) के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह स्वेच्छा से करते हैं। निकट स्वजन (kin) से एकता और परिवार के साथ एकता-भाव का निर्वाह भी करते हैं, यद्यपि वे अलग-अलग मकानों में रहते है (Leela Dube, 1974 . 311)।

इन सभी परिवर्तनों ने हमारे परिवार व्यवस्था में परिवर्तन किया है। जहा ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसख्या की गतिशीलता से अधिकार शक्ति मे कमी आई है, धर्म निरपेक्षवाद ने ऐसी मूल्य व्यवस्था का विकास किया है जो व्यक्तिगत प्रेरणा और उत्तरदायित्व पर बल देती है। व्यक्ति अब प्रतिबन्धात्मक पारिवारिक नियत्रण के बिना काम करता है।

पहले जब व्यक्ति परिवार में काम करता था और सभी सदस्य उसके काम में उसकी सहायता करते थे, तब परिवार के सदस्यों में अधिक घनिष्टता होती थी, लेकिन क्योंकि अब वह परिवार से दूर उद्योग/आफिस में काम करता है, अत सम्बन्धों की घनिष्टता पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है। परिवार के सम्बन्धों पर औद्योगीकरण का प्रभाव परिवार की आत्मनिर्भरता से भी तथा परिवार के प्रति रुचि में परिवर्तन से भी स्पष्ट होता है। इस प्रकार औद्योगीकरण ने एक नये प्रकार के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति में योगदान दिया है जिसमें सयुक्त परिवार का प्रभुतापूर्ण सगठन जो प्रारम्भ में था अब कठिन हो गया है।

औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण समुदायों की सामाजिक रूपरेखा (profile) अन्तर्क्रियाओं के अनेक पहलुओं को प्रस्तुत करती है, जैसे विभिन्न क्षेत्रों, समुदायों व सामाजिक श्रेणियों के मध्य सम्पर्क (linkages) व अन्तक्रियाएँ। यह लोगों के एक क्षेत्र से दूसरे में प्रवजन से भी प्रदर्शित होता है जिसने द्विभाषावाद (bilingualism) को बढावा दिया है। 1991 की भारत जनगणना ने द्विभाषावाद को लगभग 15 प्रतिशत बताया है जबकि समुदायों के सर्वेक्षण में इसका 60 प्रतिशत तक अनुमान किया गया है। सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी समानता एव अन्तर्क्रिया सास्कृतिक लक्षणों में प्रदर्शित होती है। यह क्षेत्रों (regions) और सीमाओं (territories) से परे भी बडी सख्या में समुदायों के लिए भी सत्य है। इस प्रकार के सास्कृतिक लक्षण न केवल सस्कारों और सस्थात्मक प्रथाओं से बल्कि पेशों को प्रौद्योगिकी दक्षताओं और श्रम विभाजन से भी सम्बन्ध है। अनेक समुदाय अपने परम्परागत पेशे से हट गए हैं और सरकार द्वारा प्रायोजित विकास कार्यक्रमों के प्रति तीव्र जागृति दर्शाते हैं। उच्च आकाक्षाओं के साथ इस प्रकार की जागृति सामाजिक व्यवस्था में एक प्रकार का तनाव और सघर्ष पैदा करती है जो हमारे सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में परिलक्षित होती है (देखें, Yogendra Singh· "Present Social Situation in India" in K.Sachidananda Murty and Amit Das Gupta (ed) *The Divine Peacock*, 1995 22-23)

शिक्षा मे विस्तार (Increase in Education)

आधुनिक युग में भारतीय समाज ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में विस्तार किया है क्योंकि इसे अधिक साक्षर लोग चाहिए। यद्यपि साक्षरता का प्रतिशत 1951 के 36 प्रतिशत से बढकर 1999 में 60 प्रतिशत हो गया है तथापि 33 करोड लोग अभी भी साक्षर बनाने हैं। पुरुष साक्षरता दर अब 70 प्रतिशत पर पहुँच गई है और स्त्री साक्षरता दर (1999 के अन्त एक) 50 प्रतिशत हो गई है। राज्यों में साक्षरता दर केरल, मिजोरम, गोआ, दिल्ली में 75 प्रतिशत से ऊपर तथा 5 या 6 केन्द्र शासित प्रदेशों में 70 प्रतिशत से ऊपर पहुच गई है। 16 राज्यों में साक्षरता 50 से 65 प्रतिशत तक हो गया है। अनुसूचित जातियों में शिक्षित प्रतिशत 37 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों में 30 प्रतिशत (1991) तक पहुँच गया है। स्कूलों और कालेजों में पढने वाले छात्रों की सख्या (स्नातक स्तर तक केवल) 1971 में 5 48 करोड से बढकर 1991 में 8 46 करोड हो गई है (*Manpower Profile, India*, 1998 42-47)।

शिक्षा ने न केवल लोगों की अभिवृत्तियों, विश्वासों, मूल्यों और विचारधाराओं में परिवर्तन किया है बल्कि वैयक्तिकता (individualism) की भावनाओं को भी भडकाया है।

बढती हुई शिक्षा न केवल स्त्री पुरुषों के जीवन-दर्शन में परिवर्तन करती है बल्कि स्त्रियों के जीवन में रोजगार के नये क्षेत्र भी प्रदान करती है। आर्थिक स्वतत्रता प्राप्त करने के बाद स्त्रिया पारिवारिक मामालों में अधिक दखल (voice) चाहती हैं और किसी के भी प्रभुत्व को अस्वीकार करती हैं यह दर्शाता है कि किस प्रकार शिक्षा परिवार में सम्बन्धों में परिवर्तन करती है और अन्तत सरचनात्मक परिवर्तन भी आते हैं।

आई पी देसाई और एलिन डी रास ने भी शिक्षा और परिवार के पारस्परिक प्रभाव के विषय में चर्चा की है। आई पी देसाई ने सयुक्त परिवार के विरूद्ध शिक्षा की कार्यप्रणाली के दो तरीके बताए हैं एक, व्यक्तिवाद पर बल देकर शिक्षा लोगों के सामने ऐसे प्रकार के परिवार की रूपरेखा प्रस्तुत करती है जो विद्यमान सयुक्त परिवार की रूपरेखा के विपरीत है, और दूसरा, लोगों को ऐसे व्यवसायों के लिए तैयार करती है जो उनके मूल स्थानों में नही पाये जाते जिसके फलस्वरूप वे पैतृक परिवार से अलग हो जाते हैं और ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जहा उनको अपनी शैक्षिक योग्यता के अनुरूप व्यवसाय मिल जाता है। समय के दौरान ये लोग अपने माता पिता के परिवार से सम्पर्क कम कर देते हैं और रहने (निवास) तथा विचारने के ऐसे नये तरीके विकसित कर लेते हैं जो सयुक्त परिवार के लिए घातक परन्तु एकल परिवार के लिए साधक होते हैं।

लेकिन देसाई ने महुआ (Mahuva) के अपने ही अध्ययन में आश्चर्य से यह पाया कि शैक्षिक स्तर की वृद्धि के साथ साथ सयुक्तता में भी वृद्धि हुई और एकलता में कमी आई। देसाई का मत है कि केवल कुछ लोग ही समाचार पत्र या सामान्य और लोकप्रिय पुस्तकें खरीदते हैं। लोगों के विश्वास और विचार समाचार पत्रों, पत्रिकाओं या विशेष रूप से अंग्रेजी की पुस्तकें या सामान्य रूप से पश्चिमी शिक्षा प्रणाली से सीधे प्रभावित नही होते। शिक्षा का जो कुछ भी प्रभाव लोगों पर होता है वह सब अभिजात वर्ग तथा घर और स्कूल के वातावरण से ही हो सकता है। अत परिवार के मुखिया का या सारे घर का शिक्षा स्तर नये और भिन्न विचारों और विश्वासों के प्रभाव का सकेत नही होता। यह नये विचारों वाले व्यक्तियों के साथ सम्पर्क पर निर्भर करता है (वही 107)।

हमें देसाई के कथन में कोई तर्क नही दिखाई देता। यह सत्य है कि परिवार से बाहर व्यक्ति के सम्पर्कों के प्रकार व्यक्ति की अभिरुचियों और विश्वासों को प्रभावित करते हैं लेकिन उसका अपना ही प्रभाव होता है। दूसरी ओर, परिवार के सदस्यों का शैक्षिक स्तर व्यक्ति के विचारों और विश्वासों में परिवर्तन का एक अलग ही महत्त्वपूर्ण कारक होता है। इसलिए यह नही माना जा सकता, जैसा कि देसाई मानते हैं, कि परिवार के सदस्यों का शिक्षा का स्तर परिवार के सगठन और सरचना में परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारक नही है।

इसी प्रकार देसाई का यह निष्कर्ष कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ सयुक्तता में वृद्धि और एकलता में कमी होती है, भी सत्य प्रतीत नही होता। सम्भवत उनके निष्कर्ष परिवार के शिक्षा स्तर का पता लगाने के लिए उनके अध्ययन में गलत विधि का प्रयोग करने के कारण हों। उन्होंने परिवार की शिक्षा का औसत, परिवार के "न पढने वाले" सदस्यों (अर्थात् वे वयस्क और बडे बच्चे जो और अधिक शिक्षा नही प्राप्त कर सकते) के स्कूल जाने के औसत वर्षों की सख्या के आधार पर लिया। इन सभी सदस्यों द्वारा स्कूल के वर्षों की औसत सख्या को सदस्यों की सख्या से भाग दे कर परिवार की शिक्षा का औसत निकाला

गया। परिवार के शिक्षा स्तर का पता लगाने की यह विधि निश्चय ही प्रश्न-चिन्ह लगाने योग्य है। यदि उन्होंने अन्य विद्वानों द्वारा आमतौर पर प्रयोग किए जाने वाली विधि का प्रयोग किया होता, तब उन्हें भिन्न परिणाम मिलते। केवल तर्क के लिए यदि यह मान भी लिया जाये कि परिवार के शिक्षा स्तर का पता लगाने की उनकी विधि सही थी तो स्नातक शिक्षा प्राप्त परिवारों में सभी एकल परिवार क्यों थे और एक भी परिवार सयुक्त क्यों नहीं था ? यदि अधिक शिक्षा सयुक्तता की वरीयता दर्शाती है, तब स्नातक परिवारों में मैट्रिक या गैर-मैट्रिक परिवारों की अपेक्षा सयुक्त परिवारों की अधिक सख्या होती। इन तर्कों के आधार पर परिवार सरचना और शिक्षा के बीच सम्बन्धों के प्रकार के विषय में देसाई के विचार से हम सहमत नही हैं। हमारी मान्यता है कि शिक्षा में वृद्धि एकलता के विचार को बढावा देती है न कि सयुक्तता को।

रास (1961) ने कहा है कि मौजूदा व्यवसाय ऐसे हैं कि उन्हें विशिष्ट शिक्षा-दीक्षा और कुशलता की आवश्यकता अपने से ऊचा उठाने के लिए बेटों को उच्च शिक्षा दिलाने हेतु सदैव महत्वाकाक्षी रहते हैं, विशेष रूप से शहरों में मध्यम और उच्च परिवारों में। कुछ गरीब माता-पिता इतने महत्वाकाक्षी होते हैं कि वे किसी भी कष्ट, बलिदान और मुसीबत को कीमत पर अपने बेटों को उच्चतम शिक्षा दिलाने को प्रयत्नशील रहते हैं। कभी कभी तो वे स्वय को ही प्रमुख आवश्यकताओं और सुविधाओं से वचित रखते हैं। ऐसे मामलों में यदि दुर्भाग्यवश उनके बेटे परीक्षा में असफल हो जायें या एक योग्यता स्तर तक न पहुंच पाएँ, तो उनके माता-पिता निराश हो जाते हैं। कुछ ऐसे मामलों में वे अपने बच्चों को भला-बुरा भी कहना शुरू कर देते हैं। कभी-कभी यह इतना अधिक हो जाता है कि उनके लडकों की सफलता प्राप्त करने की योग्यता और इच्छा ही समाप्त हो जाती है और वे परिवार से नाता तोड लेते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे माता-पिता भी होते हैं जो अपनी गरीबी के कारण अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति अति महत्वाकाक्षी नही होते लेकिन उनके बच्चे अत्यधिक महत्वाकाक्षी होते हैं। इसलिए वे (बच्चे) अपने माता-पिता को छोडकर भिन्न शहरों या कस्बों में शिक्षा प्राप्त करने चले जाते हैं। आर्थिक रूप से अपनी सहायता स्वय करने के लिए वे ट्यूशन या नौकरी कर लेते हैं। इस प्रकार ये बच्चे धीरे-धीरे अपने परिवारों से नाता तोड लेते हैं। शादी के बाद भी वे शहरों में ही रहना जारी रखते हैं। इस प्रकार से शिक्षा उनके परिवार को प्रभावित करती है (वही, 208-231)। स्त्रियों के मामले में भी शिक्षित लडकियों का दृष्टिकोण अपने पति, बच्चों व परिवार के प्रति बदल जाता है और वे अपनी रूढिवादी सास से भिड जाती हैं और पृथक घर में रहने पर जोर देती हैं। यह सब परिवार के स्वरूप पर शिक्षा के प्रभाव को दर्शाता है। जैसे जैसे शिक्षा का स्तर उठता है, एकल परिवार के पक्षधर लोगों का प्रतिशत भी बढता है तथा सयुक्त परिवार में रहने की इच्छा वाले लोगों का प्रतिशत घटता जाता हैं।

वैधानिक उपाय (Legislative Measures)

वैधानिक उपायों का भी समाज पर प्रभाव पडता है। बाल विवाह का निषेध और बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 1929, (1976 में सशोधित) तथा हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने शिक्षा के लिए उपलब्ध अवधि बढ़ा दी है तथा विवाह के बाद नये वातावरण में

दम्पत्तियों के अनुकूलन में कार्यात्मक योगदान दिया है। साथी के चुनाव में स्वतत्रता और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के आधार पर एक आयु के बाद माता पिता की अनुमति के बिना किसी भी जाति व धर्म में विवाह करना, विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 के अनुसार विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के आधार पर किसी भी समय विवाह विच्छेद, तथा हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार पिता की सम्पत्ति में से पुत्री को हिस्सा देना जैसे कानूनों ने न केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों में और परिवार रचना में सुधार किया है बल्कि सयुक्त परिवार में स्थायित्व भी प्रदान किया है।

उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856, सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1987, दहेज निषेध अधिनियम, 1961, अनैतिक धन्धा निरोधक अधनियम, 1956 (SIT फिर से नाम दिया गया) तथा स्त्रियों के अभद्र प्रदर्शन (निषेध) अधिनियम, 1986, आदि इन सभी अधिनियमों ने समाज में स्त्रियों के स्तर को उठाने और उनके प्रति हिंसा और उनका शोषण रोकने में योगदान किया है। नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम, 1955, अस्पृश्यता अधिनियम, 1955 तथा अनुसूचित जाति और जन जाति (अत्याचार के विरुद्ध निरोधक) अधिनियम, 1989 ने समाज के कमजोर वर्गों का शोषण रोक दिया है। इन अधिनियमों के अलावा, बन्धुआ मजदूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम, 1976, बाल श्रम (निषेध और नियमतीकरण) अधिनियम, 1986, मानवाधिकार सरक्षण अधिनियम, 1993, समान पारिश्रमिक (remuneration) अधिनियम, 1976, मुस्लिम महिला (तलाक से सरक्षण का अधिकार) अधिनियम 1986, ने समाज के अनेक पीडित श्रेणियों को राहत पहुँचायी है।

जाति व्यवस्था में परिवर्तन
(Change in Caste System)

जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा अध्याय 2 ("सामाजिक स्तरीकरण") में की गयी है।

सामाजिक आन्दोलन और सामाजिक चेतना
(Social Movements and Social Awareness)

विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों ने विभिन्न प्रकार के समूहों में अधिकारों के प्रति चेतना जागृत की है। जनजातियों, किसानों, स्त्रियों, और पिछडी जातियों के आन्दोलनों की चर्चा "सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण" अध्याय 16 में की गयी है। यहा हम विशेष रूप से तीन आन्दोलनों—नारीवाद (feminism), वैश्वीकरण (globalization), और जाति विरोधी (anti casteism)—की चर्चा करेंगे।

नारीवाद (Feminism)

1950 तक हमारे समाज में नारी हर प्रकार से पुरुषों के आधीन थी। समाज में उसका अधीनस्थ और द्वैतियक स्थान था। आज स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गई हैं। वे समानता के अवसर चाहती हैं और अपनी पहचान अलग से चाहती है। यद्यपि उच्च स्थिति पदों में स्त्रियों के अनुपात में कुछ वृद्धि हुई है, फिर भी स्त्रियों के प्रति हिंसा की दर

बढ रही है। नारीवादी आन्दोलन स्त्रियों को अपनी इच्छा की भूमिका निर्वाह के अवसर चाहते हैं। इसमें आश्चर्य नही कि सामाजिक वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों ने लिग-निरपेक्ष (gender-neutral) भाषा में बोलना शुरू कर दिया है। स्त्रियों की प्राथमिकताऐं और पितृतन्त्र के विषय सभी सामाजिक-राजनैतिक चर्चाओं का हिस्सा बन गए हैं। नारीवादी आन्दोलनों ने यह भाव (sentiment) विकसित किया है कि राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन की मुख्य धारा बहुसख्यकों के मूल्यों और अनुभवों से बहुत दूर हो गई है। नारीवादी नारा "व्यक्तिगत राजनैतिक है" (personal is political) केवल वैचारिक अभिव्यक्ति नही है बल्कि यह तो सामाजिक परिवर्तन के लिए एक कार्यक्रम है।

वैश्वीकरण (Globalisation)

वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक और सास्कृतिक प्रबन्धों में भौगोलिक बन्धन कम हो जाते हैं और जिसमें लोग अधिकाधिक जागृत हो जाते हैं कि वे (भौगोलिक बन्धन) कम होते जा रहे हैं (Malcom Waters, 1995 3)। इस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रिया में भौतिक दूरी और बाधाए सामाजिक और सास्कृतिक मामलों में सचार और विनिमय में कम महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। पचास वर्ष पूर्व ग्रामों से नगरों की ओर गतिशीलता होती थी, फिर यह शहर और शहर के बीच अधिक हो गई, क्षेत्र से क्षेत्र के बीच बढ़ गई, और अब यह एक देश से दूसरे देश के बीच अधिक हो गई है। हर आदमी जानता है कि आज लोगों तथा वस्तुओं को अतीत की अपेक्षा अधिक तेजी से लाया ले जाया जा सकता है और शब्द तथा सन्देश सारी दुनिया में मिनटों व क्षणों में भेजे जा सकते हैं। पचास वर्ष पूर्व वाणिज्य व्यापार सम्बन्धी सन्देश, या सामाजिक सस्कृति और यहा तक कि राजनैतिक सन्देश भी काफी प्रयत्न और कई सप्ताह में पहुचते थे, लेकिन आज कुछ ही मिनट लगते हैं। इस प्रकार आर्थिक जीवन, राजनीति, और सस्कृति में समकालीन जीवन में भूमण्डलीकृत आयाम स्पष्ट दिखाई देता है। विविध स्तर पर बढती हुई अन्तर्क्रिया के साथ ही हर स्तर पर प्रतिक्रिया जल्दी ही होने लगती है। स्थानीय, राज्य, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर परस्पर सहयोग ने कार्यवाही और पहचान को प्रभावित किया है।

भारत में लोगों के बीच वैश्वीकरण के परिणाम अब आर्थिक, राजनैतिक और सास्कृतिक क्षेत्रों में देखे जाते हैं। *आर्थिक* प्रभाव व्यापार के रास्तों, व्यापार विकास, आर्थिक स्वतत्रता, विश्व में पूजी के विस्तृत फैलाव, आदि में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। राजनैतिक परिणाम यह है कि ब्लाक-विस्तृत अन्तर्सरकारी सस्थाए (block-wide inter-governmental institutions) सार्वभौमिक शक्ति और उपस्थिति के साथ विकसित हुई हैं। 'राष्ट्र-राज्य' (nation-state) अब जीवन की बडी समस्याओं के लिए बहुत छोटे रूप में देखे जाते हैं। 'राष्ट्र-राज्यों' ने बड़ी समस्याओं का प्रभावशाली ढग से सुलझाने के लिए बडी इकाइयों की खातिर कुछ शक्ति कम कर दी है। सक्षेप में, आधुनिक 'राष्ट्र-राज्य' की शक्ति कम हो गई है, भूमण्डलीय सस्थाओं का विकास हुआ है और एक 'अतिरिक्त राष्ट्रीय राज्य' (supra-national state) का उदय हुआ है। सास्कृतिक परिणाम यह हुआ है कि विश्व स्तर पर एक सामान्य (common) सस्कृति का विकास हुआ है। यहा सस्कृति को अधिक सामान्य अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ 'जीवन के तरीके' (way of life) से

लगाया गया है। इसमें न केवल आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक प्रतिमान बल्कि अवकाश (खाली समय) (leisure) और उपभोग (consumption) भी निहित हैं। फेदरस्टोन (Featherstone) ने सास्कृतिक वैश्वीकरण का उदाहरण देते हुए भूमण्डलीय वित्तीय बाजार के विकास का उदाहरण दिया है जिसमें प्रमुख कर्मी अनेक व्यापारों और जीवन शैली के प्रतिमानों और मूल्यों में हिस्सा लेते हैं जैसे, खाली समय और काम में सन्दर्भों के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को काम में लाना। उपभोग के कुछ अन्य क्षेत्रों, जैसे 'फास्टफूड' 'विश्व' कारों का भी भूमण्डलीकरण हो चला है। परन्तु सास्कृतिक भूमण्डलीकरण का अर्थ यह नही है कि सास्कृतिक अन्तर है ही नही (देखें, Mike O' Donnel, op cit , 596-97)।

जातिवाद विरोध (Anti Casteism)

जाति शोषण और जातिवाद के विरोध और जाति समानता तथा निम्न जाति के लोगों को विशेष अधिकार देने के पक्ष में आन्दोलन हुए हैं। यह आन्दोलन सास्कृतिक तथा सरचनात्मक आयामों, दोनों में हुए हैं। सास्कृतिक रूप में, जाति प्रतिबन्धों पर प्रहार करके और सामाजिक आन्दोलनों के यथार्थ को तथा सामाजिक गतिशीलता को स्वीकारते हुए उन्होंने जाति-पूर्वाग्रहों का विरोध किया है। जातिवाद विरोध सरचनात्मक पक्ष सस्थाओं के भीतर शक्तिहीनता की बात पर ध्यान आकर्षित करता है, जैसे व्यापार, नौकरी, शिक्षा, विधान, आदि।

उपसहार में यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन की शक्तियों का, जिनका सामना आज का भारत कर रहा है, केवल प्रकार्यात्मक पक्ष ही नही है बल्कि उनका विकार्यात्मक (dysfunctional) पक्ष भी है। जाति, नृजातीय और स्वार्थी समूहों की राजनीति पर आधारित, सास्कृतिक, राजनैतिक व सामाजिक तनाव जो आज व्याप्त हैं, स्वतत्रता के बाद से ही इस प्रक्रिया के अग रहे हैं। आज परिवर्तन का सास्कृतिक पक्ष न केवल दलितों, धार्मिक अल्प सख्यकों और स्त्रियों द्वारा नवीन पहचान की खोज में परिलक्षित हो रहे हैं बल्कि मीडिया द्वारा उनकी समस्याओं को उजागर किया जाना महत्त्वपूर्ण हो गया है। जैसे जैसे विकास कार्यक्रम गति पकडते हैं, वैसे सामाजिक असमानताओं का उतना ही तीव्र होना आवश्यक हो जाता है। इन मामलों पर मीडिया की रिपोर्ट के साथ ही असमानताओं की अभिव्यक्ति खतरनाक रूप से परिवर्तन की दिशा धारण कर लेती है जिसका परिणाम विविध प्रकार की चरम परिणितियों (extremisms) में होता है।

2

सामाजिक स्तरीकरण

(Social Stratification)

जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण
(Caste System and Social Stratification)

समाज इस प्रकार श्रेणीक्रम समूहों में विभाजित हैं कि यद्यपि विविध समूह परस्पर सम्बन्धों में असमान समझे जाते हैं लेकिन एक ही समूह के सदस्य समान माने जाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख आधार जाति और वर्ग है, लेकिन कुछ अन्य मान्य आधार आयु, लिंग, प्रजातीय/नृजातीय भी हैं। सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण से भिन्न है। 'विभेदीकरण व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है क्योंकि यह तुलना के उद्देश्य से व्यक्तियों और समूहों को एक दूसरे से अलग और स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ वर्ग के भीतर ही आय (उच्च, मध्यम और निम्न), व्यवसाय (उच्च स्थिति वाला और निम्न स्थिति वाला), और शिक्षा (उच्च स्तर, मध्य स्तर और निम्न स्तर), तुलना और विभेदीकरण का आधार प्रदान करते हैं। स्तरीकरण तब होता है जब भेद श्रेणीबद्ध क्रम में अंकित किए जाते हैं।

जाति : एक इकाई (समूह) और व्यवस्था के रूप मे
(Caste : As a Unit (group) and a System)

भारत में जाति और वर्ग श्रेणीबद्ध क्रम के आधार के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। परन्तु जाति को, जो धार्मिक विश्वास में आबद्ध है, स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण आधार माना जाता है। 'जाति' एक आनुवांशिक सामाजिक समूह है जो अपने सदस्यों को सामाजिक गतिशीलता (यानी सामाजिक प्रस्थिति बदलने) की अनुमति प्रदान नही करती। इसमें जन्म के अनुसार प्रस्थिति अथवा श्रेणी निर्धारित होती है जो व्यक्ति के व्यवसाय, विवाह, और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है।

जाति एक इकाई (समूह) और व्यवस्था दोनों ही रूप में प्रयोग होती है। इकाई के रूप में जाति एक 'बन्द-क्रम (closed) प्रस्थिति समूह' होती है, अर्थात् एक ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को प्रस्थिति, उनका पेशा, जीवनसाथी के चयन का क्षेत्र, तथा दूसरों के साथ अन्तर्क्रिया, आदि निश्चित होते हैं। व्यवस्था के रूप में, जाति का अर्थ 'प्रतिबन्धों की सामूहिकता, (collectivity) से होता है, जैसे सदस्यता परिवर्तन, व्यवसाय, विवाह और सहभोज तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि पर प्रतिबन्ध। इस सन्दर्भ में एक पूर्वधारणा यह है कि कोई भी जाति पृथक नही रह सकती अथवा प्रत्येक जाति दूसरी जातियों से आर्थिक,

राजनैतिक और सस्कार सम्बन्धों (ritualistic relations) के जाल में जुडी हुई है।

जाति सरचनात्मक और सास्कृतिक अवधारणाएँ
(Caste : Structural and Cultural Concepts)

जाति को सरचनात्मक तथा सास्कृतिक सदर्भों में देखा जाता है। सरचनात्मक आधार पर यह अन्त सम्बद्ध प्रस्थितियों, विविध निषेधों के आधार पर जातियों के बीच प्रतिमानित (patterned) अन्तर्क्रिया, और सामाजिक सम्बन्धों के एक स्थाई स्वरूप (stable set) की ओर सकेत करती है। सास्कृतिक आधार पर इसको मूल्यों, विश्वासों और प्रथाओं की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। अधिकतर विद्वानों ने जाति को एकात्मकता (solidarity) के रूप में देखा है, न कि मूल्यों और अभिवृत्तियों की सामूहिकता के रूप में। जाति व्यवस्था की सरचना ऐसी है कि इसमें प्रस्थितियों, भूमिकाओं और सामाजिक प्रतिमानों के सदर्भ में प्रत्येक जाति के सदस्यों की, और प्रत्येक जाति को एक समूह के रूप में भी, एक परस्पर सम्बन्ध अधिकारों और दायित्वों की सुगठित व्यवस्था (organised pattern) मिलती है।

सरचनात्मक अर्थ में बूगिल (Bougle, 1958 9) ने जाति को "आनुवाशिक रूप से विशिष्ट (specialised) और श्रेणीक्रम में व्यवस्थित (hierarchically arranged) समूह कहा है, जबकि व्यवस्था के रूप में उन्होंने इसके तीन लक्षणों की व्याख्या की है : श्रेणीक्रम, आनुवाशिक विशिष्टीकरण, और विकर्षण (repulsion)। अन्तिम लक्षण की व्याख्या करते हुए उसने दावा किया है कि विभिन्न जातिया परस्पर आकर्षण (attract) की अपेक्षा प्रतिकर्षण (repel) करती हैं। यह विकर्षण अन्तर्विवाह, सहभोज निषेधों, और सामाजिक सम्पर्कों में प्रकट होते हैं। परन्तु यह व्याख्या सत्य नहीं है। जातियों के बीच प्रतिकर्षण न तो दिखाई देता है और न ही देखा जा सकता है क्योंकि उन्हें (जातियों को) एक दूसरे की आवश्यकता होती है। कैथलीन गफ़ (Kathleen Gough, Cf Leach, 1960 11) जाति को पदक्रम जन्म प्रस्थिति (ranked birth-status) समूह कहती है जो प्राय अन्तर्विवाही (endogamous) होते हैं और एक व्यवसाय से जुडाव रखते हैं"। सेनार्ट (Senart, 1930) ने जाति को एक "ऐसा बन्द सघ (corporation) कहा है जो आनुवाशिक दूसरी जातियों के साथ एक से पेशे से सम्बन्धित, तथा एक परिषद् (council) से सचालित होता है जो अपने सदस्यों पर दण्ड द्वारा नियत्रण रखता है।" इस परिभाषा में 'बद सघ' पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। इसके अतिरिक्त, सभी जातियों में परिषद (पचायत) नही होती। बेली (Bailey) और श्रीनिवास ने जाति को 'सरचना' के रूप में माना है और जाति की परिभाषा नहीं दी है। एन के दत्त (N K Dutt, 1931 3-4) ने जाति व्यवस्था का वर्णन करते हुए इसके द्वारा विवाह, खानपान, व्यवसाय व आनुवाशिक सदस्यता में परिवर्तन पर प्रतिबन्ध की चर्चा की है। इसके साथ उसने जातियों के श्रेणीक्रम में वर्गीकरण की बात भी कही है। ओपलर मारिस (Opler Morris, 1950 284) मानता है कि जाति की छोटी सी परिभाषा सन्तोषजनक नही है, इसलिए जाति के लक्षण बताना ही अधिक प्रभावी है। उसने जाति व्यव था के तीन प्रमुख लक्षण बताये हैं आनुवाशिक सदस्यता, अन्तर्विवाह, तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया को नियमित करने वाले प्रतिमान। (Ghurye, 1957 2-19) ने भी जाति व्यवस्था की ऐसी ही विशेषताए बताई है। आनुवाशिक सदस्यता के अतिरिक्त,

जाति पचायत, श्रेणीक्रम, और अन्तर्विवाह जैसे लक्षण बताते हुए उसने भोजन व सामाजिक अन्तर्क्रिया पर प्रतिबन्ध, व्यवसाय के असीमित चयन की कमी, और नागरिक (civil) तथा धार्मिक निर्योग्यताओं की ओर भी सकेत किया है। विक्टर डिसूज़ा (Victor D'souza,1969 · 72) ने जाति व्यवस्था की परिभाषा के सन्दर्भ में कहा है कि "जाति व्यवस्था उन आनुवाशिक समूहों का प्रस्थिति श्रेणीक्रम (status hierarchy) की सरचना में एकीकरण (integration) है जो आपसी सबधों में तो विषमागी (heterogenous) हैं परन्तु आतरिक रूप से वे समरूप (homogenous) हैं। यह अवधारणा जाति व्यवस्था को समाज में आनुवांशिक समूहों के बीच श्रेष्ठ या आधीन सम्बन्ध बताती है तथा उन दशाओं का वर्णन भी करती है जिनमें ऐसे सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

योगेन्द्र सिंह (1974 319) मानते हैं कि सरचनात्मक रूप से जाति व्यवस्था दो प्रवृत्तिया (tendencies) एक साथ प्रदर्शित करती है : एक खण्डों में विभक्त (segmental) और दूसरी समन्वित (organic)। खण्डित यथार्थ के रूप में प्रत्येक जाति या उप-जाति परस्पर विकर्षण (mutual repulsion), सामाजिक दूरी व सामाजिक असमानता को दर्शाती है, किन्तु एक समन्वित व्यवस्था के रूप में जाति खण्ड (segments) जजमानी प्रथा के माध्यम से पारस्परिकता के सिद्धान्त द्वारा आपस में जुडे हुए होते हैं। बेली (Bailey) ने जाति स्तरीकरण के सन्दर्भ में कहा है कि यह "बन्द समन्वित स्तरीकरण" है और इसके विपरीत वर्ग "खण्डित स्तरीकरण" है। जाति व्यवस्था में सामाजिक खण्ड (जातिया व उपजातिया) सहयोग के माध्यम से अन्तर्क्रिया करते हैं और वर्ग व्यवस्था में *प्रतियोगिता* के माध्यम से करते हैं।

जाति · अध्ययन के तीन परिप्रेक्ष्य (Caste : Three Perspectives of the Study)

भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है · भारतशास्त्रीय (Indological), सामाजिक-मानवशास्त्रीय, और समाजशास्त्रीय। भारतशास्त्रीय विद्वानों ने जाति को धर्मग्रथ सबधी (scriptural) दृष्टिकोण से, मानवशास्त्रियों ने सस्कृति दृष्टिकोण से, और समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण की दृष्टि से देखा है।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, उद्देश्य और भविष्य आदि के अध्ययन के लिए धर्मग्रन्थों को आधार बनाया गया है। जिन्होंने इस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया है उनका मानना है कि वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से हुई और जातिया वर्ण व्यवस्था में विखडित इकाइया (fissional units) हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप हुआ। यद्यपि विविध जातियों द्वारा माने जाने वाले रीति रिवाज 200-100 B C में लिखी गयी स्मृतियों में विहित (prescribed) हैं परन्तु क्षेत्रीय, भाषायी, नृजातीय (ethnic) और फ़िरकापरस्त (sectarian) भिन्नताए धीरे-धीरे जाति सम्बन्धों को प्रभावित करती रहीं। भारतशास्त्रियों के अनुसार जातियों की उत्पत्ति श्रम विभाजन के उद्देश्य से हुई। धीरे-धीरे जातिया अधिक कठोर होती गईं तथा सदस्यता और व्यवसाय आनुवाशिक हो गए। जाति व्यवस्था में कठोरता 'कर्म' और 'धर्म' में विश्वास का परिणाम है जिसका अर्थ है कि धर्म ही जाति परम्पराओं व नीतियों के लिए प्रेरक शक्ति (motivating power) था। भारतशास्त्री यह भी कहते हैं कि क्योंकि जातिया दैवीय (divine) हैं, अत वे भविष्य

में भी जारी रहेंगी (Verma, 1972 159)।

सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य को *मानवशास्त्रियों* ने (Hutton, Risley, Kroeber) तीन दिशाओं में विभक्त किया है सरचनात्मक, सस्थात्मक तथा सम्बन्धात्मक। सरचनात्मक दृष्टिकोण जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, विकास और सरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। सस्थात्मक (institutional) दृष्टिकोण (Rex John) के अनुसार जाति व्यवस्था केवल भारत में ही पाई जाने वाली अनोखी व्यवस्था नही है, बल्कि यह अमरीका आदि में भी पाई जाती है। सम्बन्धात्मक (relational) दृष्टिकोण के अनुसार जाति स्थितियाँ सैन्य बलों, व्यापार, फैक्टरी, प्रबन्धन, राजनीति, आदि में भी देखी जा सकती है। इन सगठनों में जाति व्यवस्था तब कमजोर होती है जब गतिशीलता सामान्य होती है और तब दृढ होती है जब इसमें रुकावट हो।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को सामाजिक असमानता के रूप में देखता है। समाज के कुछ सरचनात्मक पक्ष होते हैं जो सदस्यों को विविध सामाजिक स्थितियों में विभाजित कर देते हैं।

तीन विविध प्रिप्रेक्ष्यों के सन्दर्भ का यह अर्थ नही है कि समाजशास्त्री, भारतशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों की भाँति जाति व्यवस्था की उत्पत्ति एव विकास में रुचि नही रखते, या कि मानवशास्त्रियों को समाजशास्त्रियों की भाँति जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण के परिणाम के रूप में स्वीकार्य नही है।

जाति और वर्ण, उपजाति और वर्ग (Caste and Varna, Sub-caste and Class)

जाति और वर्ण (Caste and Varna)

जाति और वर्ण दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। सामाजिक सगठन का हिन्दू सिद्धान्त *वर्णाश्रम* सगठन के सन्दर्भ में ही है, जहाँ *वर्ण* और *आश्रम* सगठन दो अलग सगठनों के रूप में माने जाते हैं। आश्रम सगठन ससार में व्यक्ति के व्यवहार को जीवन की विविध अवस्थाओं में इगित करता है, जबकि वर्ण सगठन उस कार्य से सम्बद्ध है जो व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति (position) के अनुकूल तथा अपने जन्मजात स्वभाव व अपनी प्रवृत्तियों और प्रकृति के अनुसार करेगा। यद्यपि ऋग्वेद में दो वर्णों का ही उल्लेख है—आर्य और दास—और समाज के विभाजन का उल्लेख तीन क्रमों में है— ब्रहम् (पुरोहित), क्षत्र (योद्धा) और विस (सामान्यजन)—लेकिन चौथे क्रम अर्थात शूद्र का कही भी उल्लेख नही है, यद्यपि आर्यों द्वारा घृणा किए जाने वाले समूहो का सन्दर्भ आता है, जैसे अयोग्य, चाण्डाल, और निषाद, आदि। ये चार क्रम अन्तत चार वर्ण हो गए। वैदिक काल में उच्च या निम्न वर्ण जैसा कुछ नही था। समाज का चार वर्णों में विभाजन-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र श्रम विभाजन पर आधारित था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अलग-अलग कार्य करते थे (क्रमश पुजारी का, शासक व योद्धा का, व्यापार का और सेवाओं का), विभिन्न देवी देवताओं की पूजा करते थे और विविध-सस्कारों का पालन करते थे, लेकिन सह-भोज या सामाजिक सम्बन्धों या एक वर्ण से दूसरे वर्ण में परिवर्तन पर कोई प्रतिबन्ध नही थे। बाद में, जैसे-जैसे हम वैदिक काल (4000-1000 BC) से ब्राह्मण काल (230 BC से 700 AD) तक चलते है, ये चारों वर्ण

श्रेणीक्रम में व्यवस्थित होते चले गए और ब्राह्मण सर्वोच्च शिखर पर रहे। एक दृष्टिकोण के अनुसार वर्ण का अर्थ होता है रग, और शायद इसीलिए समाज का विभाजन गोरे और काले रग के आधार पर हो गया। हट्टन (Hutton, 1963 .66) का विश्वास है कि यह सम्भव है कि यह रग-भेद काफी मात्रा में प्रजाति (race) से सम्बद्ध है। होकार्ट (Hocart,1950 46) के अनुसार रग का सास्कारिक (कर्मकाडी) (ritualistic) महत्त्व है न कि प्रजातीय (racial)।

वर्णों की उत्पत्ति की भाँति ही जातियों की उत्पत्ति की भी रिजले, घूर्ये, मजमूदार, आदि जैसे विद्वानों द्वारा प्रजातीय अर्थों में व्याख्या की गई है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि जातिया वर्णों के उप-भाग (sub-divisions) हैं। जातियों की उत्पत्ति का वर्ण से कोई सम्बन्ध नही है। जातियों का श्रेणीक्रम और जाति की गतिशीलता वर्ण के सदर्भ में ही प्रयोग होने लगी। इस प्रकार *वर्ण* ने एक ऐसी रूपरेखा (framework) प्रस्तुत कर दी जिसमें जाति के प्रति सभी भारतीय विचार और सभी प्रतिक्रियाए उसी में सम्मिलित हो गईं (Hsu, 1963 96)। श्रीनिवास ने (1962.69) भी यह कहा है कि वर्ण ने एक सामान्य सामाजिक भाषा प्रदान की है जो सम्पूर्ण भारत के लिए सही है, अर्थात् इसने एक सरल और स्पष्ट योजना प्रदान कर के सामान्य स्त्री पुरुषों को जाति प्रथा समझने और अपनाने के योग्य बना दिया है जो भारत के सभी भागों में लागू है। उसने यह भी माना है कि वर्ण व्यवस्था का महत्व इस बात में निहित है कि इसने अखिल भारतीय स्तर पर एक ढावा (frame) प्रदान किया है जिसमें निम्न जातियों ने सदैव उच्च जातियों के रीति रिवाजों को अपना कर अपनी प्रस्थिति को ऊचा करने का प्रयत्न किया है। इससे समस्त हिन्दू समाज में समान सस्कृति के विस्तार में सहायता मिली है।

जाति और उप जाति (Caste and Sub-Caste)

जाति और उपजाति के बीच अन्तर स्पष्ट नही है क्योंकि दोनों के समान लक्षण हैं। एक उप-जाति जाति का ही उप विभाजन है। 'ब्राह्मण' वर्ण और जाति दोनों में ही पदासीन हैं। कान्यकुब्ज, सरयूपारीण और गौड ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं, और श्रीमाली, पुरोहित और पुष्कर्ण ब्राह्मण उपजातियों के उदाहरण हैं, जबकि भारद्वाज, गौतम और कश्यप ब्राह्मण गोत्र हैं। जातिया और उप-जातिया अन्तर्विवाही समूह हैं लेकिन गोत्र बहिर्विवाही समूह हैं।

उप-जातियों की उत्पत्ति के विषय में दो दृष्टिकोण हैं : प्रथम कि उनका एक ही समूह के विखण्डन से उदय हुआ, और दूसरा कि उनका उदय स्वतत्र समूहों के रूप में हुआ (A C. Mayer, 1960 : Yogesh Atal, 1968, Iravati Karve, 1958, Chauhan, B R, 1968 :44)। घूर्ये के अनुसार (1957 34) उपजातियों का जातियों में प्रभेद निम्न कारकों के आधार पर किया गया - क्षेत्रीय पृथकता, मिश्रित उत्पत्ति, व्यावसायिक श्रेष्ठता, व्यावसायिक प्रविधि (technique) में अन्तर, रीति रिवाजों में असमानता, और उपनाम का अपनना। रिजले (1915), हट्टन (1961 : 55) और मजूमदार (1958 -357) ने उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम कहा है। बी आर चौहान (1968 45) ने माना है कि विखण्डन के कारण उपजाति का जन्म प्रव्रजन, रिवाजों के परिवर्तन, राजनैतिक

निर्गमों आदि कारकों के प्रकाश में समझाया जा सकता है। क्रिकपैट्रिक (Krickpatrick, 1912) ने कहा है कि उपजातियाँ, जो जातियों से विखण्डित समूह हैं, प्रारम्भ में प्रव्रजन (migration) तथा सामाजिक व राजनैतिक कारकों के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई लेकिन आज वे किसी घृणित जाति में समृद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने निम्न जातीय भाइयों से अलग होकर नये नाम से सामाजिक पैमाने में अपने को उठाने और अपने को किसी उच्च जाति से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में आ रही हैं। आन्द्रे बेतेइ (Andre Beteille) (1965) ने एक जाति द्वारा अनेक उपजातियों को अपने अन्तर्गत मिलाने तथा जाति के कार्यों में विविध ध्रुवता (multi polarity) को प्रकाशित किया है।

आज जातियों और उप जातियों के विविध कार्य (function) और क्रियाकलाप (activities) हैं। उपजातियों द्वारा किए जाने वाले तीन कार्य हैं विवाहों का नियंत्रण करना, सहभोज सम्बन्धों का प्रतिबन्ध, और एक वृहत समाज के भीतर ही रहन-सहन के अर्थ में साम्प्रदायिक जीवन या व्यवहार को सचालित करना। जातियों के तीन कार्य हैं · प्रस्थिति प्रदान करना, नागरिक और धार्मिक अधिकारों की सीमाओं को समाप्त करना, और व्यवसाय का निर्धारण करना। इन विशेषताओं के सन्दर्भ में घूर्ये (1957 ·19) ने माना है कि "हमें उपजातियों को ही वास्तविक जातियों की मान्यता देनी चाहिए"। एमीमेयर (Mayer, 1960 151) ने भी जाति से उपजाति को मान्यता देने की आवश्यकता के विषय में कहा है। उसने घूर्ये के जाति के सन्दर्भ को समाज के लिए सार्थक और उपजाति को व्यक्ति के सन्दर्भ में सार्थक माना है। एक ही जाति के भीतर सदस्यों के सन्दर्भ में उसने माना है कि उपजाति उनके लिए अधिक सार्थक है, जबकि अन्य जाति के सदस्यों के सन्दर्भ में उसका विचार है कि जाति पहचान का मुख्य बिन्दु है। इस प्रकार उसका विचार है कि एक दूसरे से अधिक यथार्थ न बन कर जाति और उपजाति सह अस्तित्व बनाये रख सकती हैं।

जाति व्यवस्था की इकाई क्या है ? क्या यह जाति है या उपजाति ? श्रीनिवास (1952 24) का मत है कि 'उपजाति' ही जाति व्यवस्था की 'वास्तविक' इकाई है। परन्तु अपने अध्ययन में (कर्नाटक राज्य के मैसूर प्रदेश में रामपुरा गाँव में) उसने जाति को ही केन्द्र-बिन्दु माना था। मेयर (1960 8) के अनुसार क्षेत्रीय (regional) स्तर पर उपजाति अन्तर्जातीय तथा अन्त जातीय सम्बन्धों की इकाई हो सकती है। लेकिन गाँव के भीतर अन्तर्जातीय सम्बन्ध उपजाति के बजाय जातियों के सदर्भ में देखे जाते हैं। इरावती कर्वे (1938 33) उपजातियों को विश्लेषण की 'अन्तिम इकाइया' मानती हैं। घूर्ये (1950 : 20) की मान्यता है कि आमतौर पर जाति ही अधिकतर समाज के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है लेकिन एक विशेष जाति या व्यक्तियों द्वारा उपजाति ही अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसलिए हमें उपजाति को ही जाति सस्था के समाजशास्त्रीय रूप में सही दृष्टिकोण जानने के लिए मान्यता देनी चाहिए। स्टीवेन्सन (Stevenson, 1954) के अनुसार जाति और उपजाति की अवधारणाओं में भ्रम होने के कारण अच्छा तो यह है कि इन दोनों के बीच के अन्तर की उपेक्षा कर दी जाये। लेकिन ऐसा नही किया जा सकता क्योंकि दोनों के कार्य अलग-अलग हैं।

जाति और वर्ग (Caste and Class)

जाति और वर्ग, मैक्स वेबर के अनुसार, दोनों ही 'प्रस्थिति-समूह' हैं। प्रस्थिति समूह उन व्यक्तियों का समूह है जिनकी एक जैसी जीवन शैली होती है और जो एक ही प्रकार की चेतना अभिव्यक्त करते हैं। जहा जाति को एक निर्धारित सास्कारिक (ritualistic) प्रस्थिति वाला आनुवाशिक समूह समझा जाता है वहीं सामाजिक वर्ग ऐसे लोगों की श्रेणी होती है जिनकी अपने सम्प्रदाय या समाज में अन्य खण्डों (segments) के साथ सम्बन्धों के अर्थ में समान सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है। व्यक्ति और परिवार जो एक सामाजिक वर्ग बनाते हैं शैक्षिक, आर्थिक और प्रतिष्ठा प्रस्थिति में सापेक्ष रूप से समान होते हैं। वे जो एक ही सामाजिक वर्ग के रूप में वर्गीकृत हैं उनको जीवन के एक-समान अवसर प्राप्त होते हैं। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक वर्गों को प्रकृति में प्रमुख रूप से आर्थिक मानते हैं जबकि कुछ अन्य विद्वान दूसरे कारकों पर बल देते हैं, जैसे प्रतिष्ठा, जीवन शैली, अभिवृत्तियाँ, आदि। जाति व्यवस्था की विशेषता 'सचित असमानता' (cumulative inequality) है, लेकिन वर्ग व्यवस्था की विशेषता 'विकीर्ण (dispersed) असमानता, है। एक वर्ग के सदस्यों की समाज में अन्य वर्गों के साथ एक समान सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है, जबकि जाति के सदस्य अन्य जातियों के साथ उच्च या निम्न प्रस्थिति अनुभव करते है। जाति भारत में पाई जाने वाली अनोखी व्यवस्था है (Leach and Dumont) लेकिन वर्ग विश्वव्यापी सार्वभौमिक घटना है। जाति गाव में एक सक्रिय राजनैतिक शक्ति के रूप में काम करती है न कि वर्ग के रूप में। आन्द्रे बेतेई ने दक्षिण भारत में श्रीपुरम में जाति और वर्ग के अध्ययन में पाया कि साम्प्रदायिक और राजनैतिक कार्यवाही के लिए वर्ग आधार नही होता। इस सन्दर्भ में लीच (1960) ने कहा है कि जब जाति आर्थिक और राजनैतिक कार्य करती है और दूसरी जातियों के साथ प्रतिस्पर्धा करती है तो यह जाति सिद्धान्तों की परवाह नही करती। गफ़ और रिचर्ड फाक्स (Gough and Richard Fox) ने भी यही स्थिति मानी है। परन्तु एम.एन श्रीनिवास (1972 7) लीच के साथ इस बिन्दु पर सहमत नही है। उनकी मान्यता है कि जातियों के भीतर प्रतिस्पर्धा को जाति सिद्धान्तों की परवाह न करना नही कहा जा सकता। यह सत्य है कि जातियाँ एक दूसरे पर निर्भर हैं (यजमानी प्रथा) लेकिन इस अन्तर्निभरता के साथ जातिया राजनैतिक और आर्थिक शक्ति तथा सास्कारिक प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करती हैं। जाति और वर्ग के बीच एक और अन्तर यह है कि जाति की समन्वित (organic) विशेषता होती है लेकिन वर्ग खण्डों (segments) में बँटा होता है। जाति व्यवस्था में उच्च जातिया निम्न जातियों की सेवाओं के लिए आपस में स्पर्धा करती हैं लेकिन वर्ग व्यवस्था में निम्न वर्ग उच्च वर्ग का सरक्षण प्राप्त करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं (Leach 1960 : 5-6)। जाति व्यवस्था में किसी जाति की प्रस्थिति आर्थिक व राजनैतिक विशेषाधिकारों से निर्धारित नही होती बल्कि सत्ता की कर्मकाडी (ritual) वैधानिकता से होती है, अर्थात् जाति व्यवस्था में कर्मकाडी प्रतिमान शक्ति और धन के प्रतिमानों की परिधि में नही होते हैं (Dumont)। उदाहरणार्थ, यद्यपि ब्राह्मणों के पास आर्थिक या राजनैतिक शक्ति नही होती, फिर भी जाति श्रेणीक्रम में उनका स्थान सर्वोपरि होता है। वर्ग व्यवस्था में कर्मकाडी प्रतिमानों (ritual norms) का कोई

महत्व नही होता बल्कि शक्ति और धन ही व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं। बेली डयूमान्ट के कथन से सहमत नहीं है कि आर्थिक मूल्यों के बजाय धार्मिक विचार प्रत्येक जाति के क्रम को स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम इस कथन को स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ होगा कि आर्थिक ससाधनों पर नियत्रण में परिवर्तन क्रम (rank) में परिवर्तन किये बिना हो सकते हैं। यह केवल आशिक सत्य है। ब्राह्मणों और अस्पृश्यों के लिए यह सत्य हो सकता है लेकिन मध्य जातियों के लिए नही। बिसीपारा (Bisipara) में अपने अध्ययन में (1957 264-65) उसने पाया कि धन में परिवर्तन से क्रम (rank) में परिवर्तन आ जाता है। अन्त में, सामाजिक गतिशीलता जाति व्यवस्था में सम्भव नही है लेकिन वर्ग व्यवस्था में प्रस्थिति परिवर्तन सम्भव है। डीएन मजूमदार (1958) ने इस सन्दर्भ में जाति को बन्द वर्ग के रूप में समझाया है। एमएन श्रीनिवास ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया है। वह मानता है (1962 42) कि गतिशीलता केवल सस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं से ही सम्भव है। आन्द्रे बेतेई (1965) ने भी कहा है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द नही होती। वैकल्पिक समन्वय के लिए थोडा ही भले हो लेकिन विस्तार की गुजाइयश होती है।

गैर-हिन्दुओ मे जाति व्यवस्था (Caste System Among Non-Hindus)

क्या जाति विशिष्ट (particularistic) या सार्वभौमिक (universalistic) घटना है ? क्या यह अनोखी व्यवस्था केवल भारत में ही पाई जाती है या यह अन्य देशों में भी पाई जाती है ? मुख्य विचार यह है कि जाति को जब सास्कृतिक घटना (विचारधारा या मूल्य व्यवस्था) के रूप में देखा जाता है तो यह केवल भारत में ही पाई जाती है और जब सरचनात्मक घटना के रूप में देखा जाता है तो यह अन्य समाजों में भी पाई जाती है।

स्वतत्रता से पूर्व जनगणना आयुक्तों ने भारत में (वर्तमान पाकिस्तान सहित) जाति की तरह की अन्तर्विवाही समूहों और गैर-हिन्दुओं में व्यावसायिक विशिष्टीकरण होने की रिपोर्ट दी थी। एनके बोस के अनुसार (1949 1951) हिन्दुत्व से परिवर्तित मुस्लिम लोग भी जाति प्रारूप में अन्तर्विवाह और आनुवाशिक परम्परागत व्यवसाय को ही अपनाए हुए थे क्योंकि वे इसमें आर्थिक सुरक्षा का अनुभव करते थे। 1956 और 1965 के बीच आरगुप्ता द्वारा 1956 में (उत्तरी पश्चिमी उत्तरप्रदेश के एक गाव के मुस्लिमों में), जीअनसारी द्वारा 1960 में (Muslim Castes in U P), अहमद द्वारा 1962 में (On Muslim Castes in U P), एम के सिद्दीकी द्वारा 1970 में (Caste Among Muslims of Calcutta), गुहा द्वारा 1971 में (Rural Bengali Muslims), सागे द्वारा 1959 में (on Jains), आईपीसिंह द्वारा 1958 में (सिखों पर), शिफरा स्ट्राहिजोणर (Suchifra Strezower) द्वारा 1959 में (Jews पर), और मैकिम मेरियट (McKim Marriott) द्वारा 1960 के दशक में किए गये अध्ययनों से गैर-हिन्दुओं में जाति प्रथा के प्रचलन का सकेत मिलता है (देखें Surajeet Sinha, "Caste in India", ICSSR Report on *A survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, 1974 243)। डयूमान्ट, लीच, पोकाक, और टीएनमदान ने भारतीय सभ्यता के बाहर के लोगों का अध्ययन किया और उनमें जाति

की सामाजिक सरचना के लक्षण पाये। लीच ने अपने अध्ययन (Aspects of Caste in South India, Ceylon and North West Pakistan, 1960) में श्रीलंका में बौद्धों में तथा पाकिस्तान में स्वात (Swat) के मुसलमानों में जातियां देखी। रयूक नाइट (Reuck Knight, 1987) और बेरीमैन (Berreman, 1966) में भी यूरोप और अमरीका में प्रजातीय स्तरीकरण में जाति व्यवस्था की कुछ विशेषताए और जापान में अस्पृश्य जातियों को सन्दर्भित किया है। स्तरीकरण के जाति और प्रजाति व्यवस्था की तुलना के बावजूद भी यह कहना अधिक सही होगा कि सरचनात्मक तथा सास्कृतिक दृष्टि दोनों से जाति प्रथा उन क्षेत्रों तक ही सीमित है जहां भारतीय सभ्यता के कुछ तत्व पाए जाते हैं। इन क्षेत्रों की जनसख्या अनेक अन्तर्विवाही सामाजिक इकाइयों में विभक्त है जो वर्ण नमूने के क्षेत्रीय प्रतिदर्श को अपनाए हुए श्रेणीक्रम में अन्तर्क्रिया करते हैं।

योगेन्द्र सिंह (Sociology of Social Stratification, *A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, Vol. 1, 1974 . 316) ने सैद्धान्तिक रचना के दो स्तरों के बीच अन्तर करते हुए जाति के प्रति चार दृष्टिकोणों का सन्दर्भ दिया है . सास्कृतिक व सरचनात्मक तथा सार्वभौमिक व विशिष्टीकरण। ये चार दृष्टिकोण हैं सास्कृतिक-सार्वभौमिक, सास्कृतिक-विशिष्टीकरण, सरचनात्मक-सार्वभौमिक और सरचनात्मक-विशिष्टीकरण। लीच (1960) ने जब जाति के सरचनात्मक विशिष्टीकृत दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए माना है कि जाति प्रथा भारतीय समाज तक ही सीमित है, अन्य लोग जो जाति को सरचनात्मक सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखते है, मानते हैं कि भारत में जाति, सामाजिक स्तरीकरण के बन्द स्वरूप की एक सामान्य घटना है। घुर्ये (1957,1961) जैसे समाजशास्त्रियों का तीसरा दृष्टिकोण भी है जो जाति को सास्कृतिक सार्वभौमिक घटना मानते हुए, (विशेष रूप से उस श्रेणीक्रम में जो व्यक्तियों या समूहों के क्रम को निश्चित करने का आधार बनाता है) कहते हैं कि जाति जैसा स्तरीकरण का आधार अधिकतर परम्परागत समाजों के रूप में भारत में जाति प्रस्थिति आधारित सामाजिक स्तरीकरण की सामान्य व्यवस्था का एक विशेष स्वरूप है। पूर्व में मैक्स वेबर द्वारा बनाया गया यह दृष्टिकोण समकालीन समाजशास्त्र में भी प्रचलित है। जाति पर चौथा विचार सास्कृतिक-विशिष्टीकरण विचार है। डयूमान्ट (Louis Dumont, 1986, 1961) मानता है कि जाति केवल भारत में ही पाई जाती है।

योगेन्द्र सिंह (1974 ·317) ने जाति के सरचनात्मक विशिष्टीकृत विचार को मानते हुए कहा है कि सस्थात्मक असमानता और इसके सास्कृतिक व आर्थिक अवयव (coordinates) वास्तव में वे कारक हैं जो भारत में सामाजिक स्तरीकरण की अनोखी व्यवस्था के रूप में बनाए हुए हैं। सरचनात्मक दृष्टि से जाति व्यवस्था में चार मुद्दे (issues) विशेष महत्त्व के हैं (i) जाति क्रम (ranking) निर्धारण में इकाई अवयवों (unit components) से सम्बद्ध (जैसे, वर्ण, जाति, उपजाति), (ii) जाति विलय (fusion) और विखण्डन (fission) के तरीके, जाति सघ निर्माण, जाति महासघ या सस्कृतीकरण द्वारा नयी उपजाति बनाने से सम्बद्ध, (iii) सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में जाति प्रभुत्व व सघर्ष से सम्बद्ध, और (iv) जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता के विस्तार से सम्बद्ध। इन सन्दर्भों में जाति केवल भारत में ही पाई जाती है।

जाति व्यवस्था मे परिवर्तन प्रारम्भ से मध्य और ब्रिटिशकाल तक— इसके सास्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक पक्ष

(Transformation of Caste System : From Early to Medieval and British Periods-Its Ritual, Economic and Social Aspects)

जाति व्यवस्था जैसी आज है यह अनेक शताब्दियों में विकसित हुई है। प्राचीन काल में (4,000 B C से 700 A D, अर्थात् वैदिक, ब्राह्मण, मौर्य तथा मौर्योत्तर काल में (या सागा, कुषाण और गुप्त काल), इसके कार्य और सरचना मध्य काल (राजपूत और मुस्लिम काल अर्थात् 700 A D से 1707 A D तक) और ब्रिटिश काल (अर्थात् 1757-1947 A D) से काफी भिन्न थी।

वैदिक काल (1500 B.C.-322 B.C.)

जाति व्यवस्था के प्रचलन से सम्बद्ध दो विचार हैं। एक सम्प्रदाय (Hang, 1863, Kern, N K Dutt and Apte 1940, B R Kable, 1979) का मानना है कि जाति व्यवस्था पहले से ही विद्यमान थी और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाति के तीन भाग थे जिन्हें ऋग्वेद काल के समाज ने स्पष्ट मान्यता प्रदान की थी। परन्तु शूद्र जाति विद्यमान नहीं थी। दूसरा सम्प्रदाय (Weler, 1882 और Ghurye, 1932) मानता है कि ये तीन जातिया नही वरन् वर्ण थे जो आनुवाशिक न होकर लचीले थे। ब्राह्मण काल में, जो ब्राह्मण और उपनिषदों के बाद का काल था, चार वर्णों की श्रेणीक्रम व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और आगे आने वाले समय में भी चलती रही। धर्म की आड में ब्राह्मण लोग विशेषाधिकारों का आनन्द लेते रहे जिसने उन्हें अनेक प्रतिबन्ध लगाने योग्य बनाया। यद्यपि ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे पर श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए परस्पर सघर्षरत रहे लेकिन क्षत्रियों ने वैश्यों तथा शूद्रों के ऊपर अपनी शक्ति बढा ली। विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सामाजिक सम्बन्धों के विषय पर सहिताओं और ब्राह्मणों में, जाति भिन्नताए स्पष्ट होती गयी। रामायण और महाभारत (epics) काल के पिछडे भाग में पुजारी कार्य आनुवशिक हो गया और अपरिहार्य रूप से ब्राह्मणों ने रक्त की पवित्रता और अन्य लोगों पर अपनी श्रेष्ठता प्राप्त करने पर ध्यान देना शुरु कर दिया। उन्होंने गृह सूत्र (700-300 B C) तथा धर्म सूत्र (600-300 B C) के माध्यम से सामाजिक व्यवहार और सम्बन्धों की सहिता बना दी। अत यह कहा जा सकता है कि जाति प्रथा का प्रारम्भ-बिन्दु परावैदिक काल (800-500 B C) और महाकाव्य (रामायण-महाभारत) काल (500-200 B C) था। क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण का आधार श्रम विभाजन था, इसलिए अपने मौलिक स्वरूप में यह जाति व्यवस्था की अपेक्षा वर्ग व्यवस्था अधिक थी। प्रजाति कारक, व्यावसायिक पूर्वाग्रह, कर्म का दर्शन, और शुद्धता तथा अशुद्धता की धार्मिक अवधारणा सभी ने जाति व्यवस्था की रचना में योगदान दिया।

मौर्य काल (322 B C से 184 B C तक) में सम्पूर्ण भारत एक शासक के आधीन प्रथम बार राजनैतिक रूप से एक हुआ। राजनैतिक एकता ने देश की सास्कृतिक एकता को सुदृढ किया। कौटिल्य के लेख इस काल मे जाति प्रथा के सामाजिक सगठन और कार्य प्रणाली पर प्रकाश डालते हैं। कौटिल्य (शूद्र शासक चन्द्र गुप्त मौर्य का एक ब्राह्मण मत्री) ने

ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों पर लगाए गए कई प्रतिबन्धों को हटाने का प्रयत्न किया और घोषणा की कि शाही कानून धर्म के कानून से ऊपर होंगे। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के शासन काल में ब्राह्मणों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को एक और आघात लगा। अशोक की धार्मिक नीति सहिष्णुता और सार्वभौमिक भ्रातृत्व पर आधारित थी जो जाति बन्धनों को नही मानती थी। इन सभी उपायों के कारण जाति प्रथा इस काल में एक कठोर संस्था के रूप में विकसित न हो सकी।

मौर्योत्तर काल में ब्राह्मण धर्म और जाति व्यवस्था को विकास के पुनर्जागरण के लिए फिर से प्रोत्साहन दिया गया। ब्राह्मणों ने मनुस्मृति (185 BC) में अपने लिए विशेषाधिकारों का प्रावधान किया और शूद्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। मनु स्मृति में शूद्रों के लिए ब्राह्मणों का अपमान करने पर कठोर दण्ड का प्रावधान किया गया (जीभ काटना, मुह में कील ठोकना, कानों में गर्म तेल डालना, आदि)। अत. इस प्रकार के प्रावधानों से कानून में समानता पूरी तरह नष्ट कर दी गई और जाति प्रथा कठोर मार्ग पर चल पड़ी और इसने एक नवीन सरचना धारण कर ली। गुप्त काल (जो सुंग काल के बाद आया, 300 A D.-500 A.D) हिन्दू जागरण का काल था। इस काल में ब्राह्मणवाद भारत का नृजातीय (ethnic) धर्म हो गया और जाति प्रथा को अधिक प्रोत्साहन मिला। परन्तु यह बहुत कठोर नही हुआ। विवाह के नियम लचीले थे और अन्तर्विवाह तथा अर्न्तभोज के उदाहरण मिलते थे। शूद्रों को व्यापारी, शिल्पी और कृषक व्यवसाय अपनाने की स्वीकृति थी। लेकिन इस काल में अस्पृश्यता लगभग उतनी ही थी जितनी कि आज है। शुद्र लोग मुख्य आवासीय क्षेत्रों से बाहर हो रहते थे। गुप्तोत्तर काल में (हर्षवर्धन और अन्य, 606-700 A D.) भी जाति प्रथा की वही सरचना जारी रही जो गुप्त काल में थी। इस काल की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशाओं का विशद वर्णन चीनी विद्वान ह्वेनसाँग के लेखों में उपलब्ध है जो 630 A D. में भारत आया था और 13 वर्ष तक यहा रहा। वह लिखता है कि जाति सामाजिक ढाँचे पर हावी थी, ब्राह्मणवाद का आधिपत्य था, और अशुद्ध पेशेवर लोगों (भगी, कसाई, आदि) को नगर की चार दीवारी के बाहर रहना होता था।

मध्य युग में राजपूत काल (700 से 1200 A D) और मुस्लिम काल (1206 A D से 1707 A D) शामिल हैं। *राजपूत काल* में हिन्दुओं का सास्कृतिक जीवन प्रारम्भ काल के जीवन से बिल्कुल भिन्न था। राजनैतिक कारकों के कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था नही बदली। ब्राह्मणों ने स्वय को विशेषाधिकार दे रखे थे। शकराचार्य द्वारा स्थापित मठ विलासी जीवन के केन्द्र बन गए थे। देवदासी प्रथा ने मन्दिरों में वेश्यावृति को विकसित किया, जिससे नैतिक आचार सहिता कमजोर हो गई। राजपूतों की अपने वशों के प्रति निष्ठा ने उन्हें देश के प्रति राष्ट्र भक्ति से उदासीन बना लिया। नयी जातियों और उपजातियों का जन्म हुआ जो अपने ही हितों में इतने सलग्न हो गए कि इसका देश के सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ा। परिणामत, विदेशी मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण शुरु कर दिया। 1175 A D में भारत में महमूद गौरी द्वारा मुस्लिम साम्राज्य की नीव रखी गई और उसके बाद मुगल आक्रमण होते रहे। मुस्लिम काल (1206 से 1707 A D) में जाति प्रथा और अधिक कठोर हो गई क्योंकि मुस्लिम हिन्दुओं के लचीलेपन में समाहित नही हुए। उनका धर्म ऐकेश्वरवादी होने के कारण अनेकेश्वरवाद से समझौता न कर सका,।

मुसलमानों ने भारत पर क्योंकि धार्मिक जेहाद बोल दिया और लोगों को इस्लाम में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया, ब्राह्मणों ने हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन से बचाने का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए, हिन्दुओं पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए और जाति व्यवस्था को कठोर बना दिया। यद्यपि कुछ भक्तों ने—जैसे रामानुज, कबीर, गुरु नानक, चैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, नामदेव, आदि इस काल में भक्ति की राह दिखाई जो मूर्तिपूजा और जाति की निन्दा करते थे, लोगों में समानता का उपदेश देते थे, अति कर्मकाण्ड तथा पुजारी वर्ग के आधिपत्य का विरोध करते थे, फिर भी भक्ति मार्ग जाति व्यवस्था को तोड न सका। ब्राह्मणों का हिन्दुओं पर नेतृत्व जारी रहा क्योंकि मन्दिर न केवल धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयोग होते थे बल्कि सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए भी। ब्राह्मणों ने यह घोषणा करते हुए कि वे सभी हिन्दू जो मुसलमानों के लिए या उनके साथ काम करेंगे, वे मलेच्छ समझे जायेंगे, जाति भेद को और कठोर व गहरा बना दिया। इस प्रकार लोहार, सुनार, नाई, धोबी, खाती, और ऐसे ही लोग निम्न जाति के समझे जाने लगे। पुराण फिर से लिखे गए और जाति व्यवस्था को और कठोर बनाने के उद्देश्य से नये आदेशों का प्रावधान किया गया।

प्रारम्भिक ब्रिटिश काल (या पूर्व औद्योगिक युग) में देश के भौतिक विकास, बाहरी दुनिया से सम्पर्क, सरकार की सामाजिक-आर्थिक नीतियों और कुछ वैधानिक उपायों द्वारा हमारे धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं तथा समाज की जाति सरचना में भी परिवर्तन आया। जाति पचायतों की न्यायिक शक्तियां दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों को दे दी गई। 1850 का जाति निर्योग्यता निवारण (Disabilities Removel Act) अधिनियम, 1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम और 1872 का विशेष विवाह अधिनियम ने भी जाति प्रथा पर प्रहार किया। जाति प्रथा की दृढता को एक और आघात तब लगा जब कुछ सामाजिक उपायों से अस्पृश्यों की कुछ निर्योग्यताएं समाप्त कर दीं गईं। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इन उपायों को विशुद्ध प्रशासनिक कारणों से किया था न कि इसलिये कि सरकार जाति प्रथा समाप्त करना चाहती थी। घूर्ये (1961 190) ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। समाज सुधारकों के कुछ सामाजिक आन्दोलनों ने भी जाति व्यवस्था पर प्रहार किया। राजा राममोहन राय द्वारा चलाये गये 'ब्रह्म समाज आन्दोलन' ने जाति बन्धनों को अस्वीकार कर दिया और मनुष्य के सार्वभौमीकरण तथा भ्रातृत्व के लिए कार्य किया। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा समर्थित 'प्रार्थना सभा आन्दोलन' ने भी अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्भोज, तथा विधवा पुनर्विवाह आदि समाज सुधारों की ओर ध्यान केन्द्रित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज आन्दोलन' तथा 'रामकृष्ण मिशन आन्दोलन' ने भी जाति के विरुद्ध आवाज उठाई और इसके उन्मूलन का उपदेश दिया। दक्षिण भारत के लिंगायत आन्दोलन ने लोगों को जाति व्यवस्था छोडने का उपदेश दिया। यद्यपि ये सभी प्रहार इस काल में (अर्थात् 20वीं शताब्दि के प्रथम 25 वर्षों में) जाति व्यवस्था की कठोरताओं को समाप्त न कर सके, फिर भी जाति के कुछ सरचनात्मक गुण निश्चित रूप से प्रभावित हुए।

औद्योगिक अवधि, ब्रिटिश काल में प्रथम विश्व युद्ध के बाद 1920-25 से प्रारम्भ हुई। औद्योगीकरण और नगरीकरण (गावों से शहरों में लोगों का प्रव्रजन) की प्रक्रिया ने भी जाति सरचना को प्रभावित किया। औद्योगिक विकास ने लोगों को जीवन निर्वाह का नया साधन प्रदान किया और पेशेवर गतिशीलता सम्भव हो सकी। नयी आवागमन की सुविधाओं

ने भी शीघ्र संचार सम्भव बना दिया जिसने सभी जाति के करोड़ों लोगों को एक साथ ला दिया। भोजन संबंधी सबधों पर निषेध (toboos) तब कमजोर पड़ने लगे जब विभिन्न जातियों के औद्योगिक श्रमिकों ने गांवों में अपने परिवारों को छोड़कर शहरों में एक ही मकान में इक्टठा रहना शुरू कर दिया।

नगरीकरण और शहरों के विकास ने जाति प्रथा की कार्य प्रणाली को काफी बदल दिया। न केवल सहभोजी अवरोध कम हो गए हैं बल्कि ब्राह्मणों के अधिकारों पर भी प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं। किंग्स्ले डेविस (Kingsley Davis, 1951) ने कहा है कि शहरों का अनजानापन, भीड़-भाड़, गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता और परिवर्तनशीलता जाति की क्रियात्मकता को लगभग असम्भव बना देती है। घूर्ये (1961 · 202) भी शहरी जीवन के विकास के कारण जाति प्रथा की कठोरताओं में परिवर्तन को स्वीकारता है। एम.एन. श्रीनिवास (1962 · 85-86) का भी मानना है कि ब्राह्मणों के शहरों में प्रव्रजन के कारण, गैर-ब्राह्मण पहले जैसा आदर भाव नही दर्शाते और अन्तर्जातीय खान-पान के निषेध कमजोर हो रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जाति प्रथा की सरचना और कार्य प्रणाली और इसके संस्कार, आर्थिक व सामाजिक पक्ष ब्रिटिश काल के औद्योगिक चरण में काफी बदल गए।

वर्तमान भारत मे जाति व्यवस्था (Caste System in Present India)

1947 में देश की राजनैतिक स्वतत्रता के बाद, औद्योगीकरण और नगरीकरण के अलावा अन्य कारणों ने भी जाति व्यवस्था को प्रभावित किया। ये हैं विभिन्न राज्यों का विलय, अनेक सामाजिक कानूनों का लागू होना, शिक्षा का विस्तार, सामाजिक-धार्मिक सुधार और आन्दोलन, पश्चिमीकरण, आधुनिक पेशों का विकास, स्थान गतिशीलता, और बाजार अर्थव्यवस्था का विकास। वर्तमान काल में जाति की कार्यप्रणाली के बारे में मोटे तौर पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं .

- जाति व्यवस्था उन्मूलन की प्रक्रिया में नही है बल्कि आधुनिक परिवर्तनों के साथ पर्याप्त सामजस्य कर रही है।
- जाति का धार्मिक आधार टूट गया है।
- विविध प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की पुरानी सामाजिक प्रथाए समाप्त हो गई है। जाति अब नवीन मूल्यों वाली व्यक्तिगत स्वतत्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती।
- अब जाति व्यक्ति के पेशेवर जीवन को निर्धारित नही करती यद्यपि उसकी सामाजिक प्रस्थिति आज भी उसकी जातीय सदस्यता पर निर्भर है।
- पिछडी जाति/दलितों को समानता प्रदान करने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये जा रहे हैं।
- अन्तर्जातीय सघर्ष बढ रहे हैं, परन्तु यह सघर्ष सास्कारिक प्रस्थिति के आधार की अपेक्षा शक्ति अर्जित करने के लिए अधिक हैं।
- जातिवाद में बढोत्तरी हुई हैं।
- गावों में यजमानी प्रथा कमजोर पड गई है, इससे अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर प्रभाव पडा है।

- गावों में किसी जाति का वर्चस्व अब उसकी धार्मिक प्रस्थिति पर निर्भर नही करता।
- जाति और राजनीति एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।
- एक ओर कुछ जातियों के सगठन मजबूत हुए हैं तो दूसरी ओर अधिकतर जातियों ने अपनी सामूहिक एकता खो दी है और उत्तरदायित्व की भावना का ह्रास हुआ है।
- जाति अब सामाजिक प्रगति व राष्ट्रीय विकास में बाधक नही है। जाति व्यवस्था के बावजूद भी भारत प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

क्या जाति व्यवस्था परिवर्तित हो रही है, कमजोर हो रही है, या विघटित हो रही है ? जाति का भविष्य

(Is Caste System Changing, Weakening or Distintegrating ? Future of Caste System)

जाति प्रथा के भविष्य के विषय में तथा वर्तमान के सम्बन्ध में दो विचार हैं। एक विचार यह है कि जाति व्यवस्था तेजी से बदल रही है और कमजोर हो रही है, यद्यपि यह समाप्त नही हो रही है। इस सम्प्रदाय के डी एन मजमूदार, कुप्पूस्वामी, काली प्रमाद, गार्डनर मर्फी, पालीन कोलेन्डा, और मैक्स वेबर जैसे 1950, 1960 और 1970 के दशक के विद्वान हैं, और आर के मुकर्जी, ई जे मिल्लर, और एम एन श्रीनिवास जैसे 1970, 1980 और 1990 के दशक के विद्वान हैं। दूसरा विचार है कि जाति व्यवस्था इतनी तेजी से नही बदल रही है। परिवर्तन धीमी गति मे हो रहा है। इस सम्प्रदाय के प्रारम्भिक विद्वान घूर्ये, आई पी देसाई, नर्मदेश्वर प्रसाद और कापडिया जैसे और वर्तमान विद्वान डामले, डयूमान्ट, आन्द्रे बेतेइ, हैरोल्ड गूल्ड योगेन्द्र सिह, एस सी दुबे, और टी एन मदान जैसे है।

डी एन मजूमदार ने "कैसे जाति प्रथा तेजी से बदली है" की व्याख्या करते हुए जातियो के विलय और विखण्डन और जनजातियों के एकीकरण का सन्दर्भ दिया है। कुप्पूस्वामी (देखें, *Sociological Bulletin*, September 1962) और कालीप्रसाद (*Social Integration Research A study in Inter-caste Relationship*, Lucknow University, Lucknow, 1954 3) ने भी जाति व्यवस्था में कुछ मूलभूत परिवर्तनो का सकेत दिया है। काली प्रसाद के अपने निष्कर्ष ने कि 90 प्रतिशत उच्च जाति के लोगों ने निम्न जाति के लोगों को भोजन में अपना साथी स्वीकार कर लिया है, उसे यह कहने के लिए मार्ग प्रशस्त किया कि जाति विखण्डन अब तेजी से समाप्त हो रहा है। गार्डनर मर्फी ने (*In the Minds of Men, 1953 65) जिसने 1950-52 के दौरान भारत में सामाजिक तनाव पर अध्ययन किए थे, यह निष्कर्ष निकाला कि जाति व्यवस्था को चुनौती का सामना करना पड रहा है। मैक्स वेबर* (*Essays on Sociology*, 1952) का विचार था कि सभी जाति सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो गए हैं और बुद्धिजीवी विशिष्ट राष्ट्रवाद के अधिकर्ता हो गए है। आरके मुकर्जी (*The Rise And Fall of the East Indian Company*, 1958) ने कहा है कि जाति प्रथा के आर्थिक पक्ष (व्यावसायिक विशिष्टीकरण में परिवर्तन) और सामाजिक पक्ष (उच्च जातियों के रीति रिवाजों को ग्रहण करना, अपवित्र/अशुद्ध पेशों का त्याग) बहुत बदल गए हैं। उसने कहा कि यह परिवर्तन शहरी क्षेत्रों में विशेष हैं जहा

सामाजिक मेलजोल और जाति सहभोज आदि के नियम अधिक ढीले पड गए हैं और निम्न जातियों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताएं समाप्त कर दी गई हैं। ईजे मिल्लर (1958) ने जाति प्रथा में परिवर्तन की बात करते हुए कहा है कि अतीत में जब अन्तर्जातीय सम्बन्धों में परम्परा से मान्य और स्पष्ट अधिकार, दायित्व और प्रभुत्व और आधीनता के प्रतिमान विद्यमान थे, वर्तमान में अन्तर्जातीय सम्बन्धों का स्वरूप अत्यधिक बदल गया है। मिल्लर के साथ ब्राइस रियान (Bryce Ryan) एमएन श्रीनिवास, एससी दुबे जैसे अनेक अन्य विद्वानों ने भी बताया है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है। एमएन श्रीनिवास (1952 and 1985) ने माना है कि जातियों के बीच परस्पर अधिकार और कर्त्तव्य धराशायी हो रहे हैं। गावों में व्यक्ति में जाति के प्रति वफादारी में बदलाव नोट किया जा रहा है। यह परिवर्तन मस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण के कारण भी आया है। ब्राह्मणों से पहले अंग्रेजों का स्थान हो गया था, भले ही वे गाय, आदि का मास खाते थे, शराब पीते थे व पाइप से धूम्रपान करते थे। लेकिन लोग डरते थे, उनकी प्रशसा करते थे और उनका सम्मान करते थे। परिणाम यह हुआ कि नयी और धर्म निरपेक्ष जाति व्यवस्था परम्परागत व्यवस्था पर हावी हो गई जिसमें अंग्रेज नये क्षत्रियों की तरह उच्च शिखर पर आसीन हो गए।

लेकिन दूसरी विचारधारा के विद्वान (जो जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तन को धीमा और क्रमिक तथा यहाँ तक कि कुछ मामलों में ऊपरी व दिखाऊ बताते है) इन परिवर्तनों को समूची जाति व्यवस्था के लिए विघटनकारी नही मानते। ये विद्वान, यद्यपि जाति प्रथा के पूर्ण समापन की बात नही कहते, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आज जाति बिल्कुल वैसी नही है जैसे अर्ध या पूर्ण शताब्दि पूर्व थी। उदाहरणार्थ, एआर देसाई और दामले (Damle, 1981 : 66) ने कहा है "जाति व्यवस्था के लक्षणों में परिवर्तन की विस्तृतता इतनी महान नही है जितनी समझी जाती है। इन परिवर्तनों ने समूची जाति व्यवस्था के आवश्यक लक्षणों को प्रभावित नही किया है।" घूर्ये (1961, 209-210) का विचार था कि जाति व्यवस्था ने अपनी कुछ विशेषताओं को हटा दिया है। उसने कहा कि अब जाति व्यक्ति के पेशे को निर्धारित नही करती लेकिन पुरानी व्यवस्था का अनुसरण करते हुए विवाह व्यवस्था में वही भावना जारी है। व्यक्ति को जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों पर अब भी जाति की सहायता पर ही निर्भर रहना पडता है, जैसे विवाह और मृत्यु, आदि। उसने आगे कहा, "यद्यपि जाति न्याय करने वाली इकाई के रूप में अब काम नही करती फिर भी व्यक्ति पर इसकी पकड कम नही हुई है। व्यक्ति आज भी जाति की राय से नियन्त्रित होते है" (वही . 190)। उसका विश्वास था कि सामाजिक जीवन में जाति व्यवस्था की ताकत अभी तक हमेशा की तरह मजबूत है (वही 211)।

नर्मदेश्वर प्रसाद (1956 240) ने जाति के कार्यों को दो स्तरों पर विश्लेषित किया है : सास्कारिक (ritual) (विवाह, भोज, आदि) और वैचारिक (ideology) (ब्राह्मणों के प्रति अभिवृत्ति, चुनाव लड़ने के लिए एक हो जाना, आदि)। उसने पाया कि दोनों ही स्तरों पर परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद भी जाति प्रथा काफी सीमा तक वैसी ही है। व्यवस्था के भीतर तो परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु व्यवस्था से परे नही।

कापडिया ("Caste in Transition" in *Sociological Bulletin,* September 1962 : 75) ने चार विशेषताओं को केन्द्र मानकर जाति व्यवस्था की विशेषताओं के

परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया जाति पचायतें, सहभोजी निषेध, सास्कारिक पवित्रता, और अन्तर्विवाह। जाति पचायतों की कार्य प्रणाली का विश्लेषण करते हुए उसने पाया कि जब जाति पचायते 1860 और 1910 के दशकों में शक्तिशाली थी, 1960 के दशक में भी वे शक्तिशाली रही यद्यपि कानूनी रूप से उन्हें अपने सदस्यों को बहिष्कृत (ex-communicate) कर परम्परागत प्रतिमानों को थोपने का अधिकार नही रह गया था। वे अपने सदस्यों के मन और व्यवहार को नियत्रित व सचालित करती रहती थीं। सहभोजी निषेधों की बात करते हुए उसने पाया कि यद्यपि यह सत्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों तक में अर्न्तभोज (जहा सब जातियों के सदस्य पक्ति में बैठकर भोजन करते हैं—हरिजनों सहित) 1960 के दशक में असाधारण बात नही थी लेकिन साथ ही इस बात के साक्ष्य भी हैं कि शहरी क्षेत्रों में भी इस प्रकार के निषेध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पूरी तरह समाप्त नही हुए थे (वही 74)। उत्सवी शुद्धता (ceremonial purity) में परिवर्तन के सन्दर्भ में कापडिया (वही 77) ने कहा कि अशुद्धता (pollution) की हिन्दू अवधारणा विषय-क्षेत्र (scope) में विस्तृत थी और सदी के 20 वर्षों तक परिपालन (observance) में भी अधिदेशात्मक (mandatory) थी। यह नियम आज भी (1960 के दशक तक) ग्रामीण और नगरेत्तर क्षेत्रों (moffusil) में उच्च जाति परिवारों में पालन किए जाते हैं। लेकिन समग्र रूप से (on the whole) कहा जा सकता है कि उनसे लगभग छुटकारा पा लिया गया है। अन्त में, अन्तर्विवाह के सन्दर्भ मे (वही 77) उसने कहा कि जाति के अन्तर्विवाही चरित्र में परिवर्तन स्पष्ट नही है। अन्तर्जातीय विवाहों की सख्या में वृद्धि देखी जा सकती है, विशेष रूप से गत 20 वर्षों मे। साथ ही जाति अन्तर्विवाह के मौजूद होने के साक्ष्य भी है।" इस प्रकार उसने निष्कर्ष रूप में कहा (वही 87) कि लोग जाति के विषय में कुछ भी कहें, जाति बन्धनों की स्वीकृति आज भी (1960 के दशक तक) है। इस साक्ष्य में त्रुटि नही है कि जाति अन्तिम साँसें नही गिन रही है, यद्यपि इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है।

'आजकल जाति व्यवस्था का क्या हो रहा है' इस प्रश्न पर डयूमान्ट अपनी पुस्तक (*Dumont, HomoHierarchicus*, 1971 217-18) में कहता है कि समकालीन (contemporary) साहित्य में परिवर्तन को अतिशय के (exaggerated) ढंग से प्रस्तुत किया है। इतना निश्चित है कि जाति समाज एक समग्र रचना (overall framework) के रूप में परिवर्तित नही हुआ है। मात्र परिवर्तन जो हुआ है वह यह है कि जातियों की परम्परागत परस्पर निर्भरता के स्थान पर उन अथाह खण्डों (impenetrable blocks) में वृद्धि हुई है जो आत्म निर्भर हैं तथा एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा में भी हैं। डयूमान्ट ने इसको जाति का ठोस प्रमाणीकरण (substantialization of caste) कहा है (Cf TN Madans' article in Dipankar Gupta (ed), *Social Stratification, 1992 82)*

आन्द्रे बेतेइ (1976 61-65) ने भी जाति प्रथा में कुछ परिवर्तनों का हवाला दिया है। उदाहरणार्थ, सरचनात्मक दूरी में, जीवन शैली में, सहभोजी सम्बन्धों में, और अन्तर्विवाह आदि में। अतीत में जातियों के बीच सरचनात्मक दूरी न केवल विविध जीवन शैली अपना कर रखी जाती थी बल्कि विवाह, सहभोज और सामान्य सामाजिक परस्पर लेनदेन में विविध प्रकार के निषेधों द्वारा भी रखी जाती थी। आज एक ही उपजाति के दो उपविभागों के बीच सरचनात्मक दूरी इन दोनों में से किसी एक के बीच की अपेक्षा कम है। परम्परागत व्यवस्था

में विशेष जाति की विशिष्ट जीवन शैली में भी परिवर्तन आया है। परम्परागत व्यवस्था में सहभोज की इकाई जाति सम्बद्धता के अर्थ में स्पष्ट रूप से कठोरता से परिभाषित की गई है। हाल के ही दशकों में इस इकाई का क्रमिक विस्तार हुआ है। आज ब्राह्मण 'स्वच्छ' शूद्रों के साथ भोजन कर सकते हैं लेकिन आमतौर पर मलिन/अशुद्ध (pollutable) जाति के सदस्यों के साथ नही। अन्तर्विवाह की इकाई का भी विस्तार हुआ है यद्यपि थोडा ही। बेतेइ के अनुसार जाति व्यवस्था में ये सभी परिवर्तन भौगोलिक गतिशीलता, पश्चिमी शिक्षा, नये पेशों के सृजन-जिनमें प्रवेश जाति के अलावा अन्य कारकों के आधार पर भी होता है, आधुनिकीरण की प्रक्रिया, और राजनैतिक कारकों के परिणाम हैं। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुछ जातियों में अन्य की अपेक्षा आन्तरिक विभेद बहुत अधिक आ चुके हैं। वे जातिया जिन पर पश्चिमीकरण का प्रभाव सबसे अधिक पडा है वे हैं जो सबसे अधिक बदली हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, कायस्थ, नायर, आदि जातिया तथा सामान्य रूप से वे जातिया जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण की है और मध्यम-वर्गीय पेशे अपनाए हैं और जो मुख्य रूप से वितरण (distribution) की दृष्टि से शहरी हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक-वर्गीय जातियों ने अधिक समता बनाए रखी है तथा उन पर परिवर्तन का प्रभाव कम हुआ है।

हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1988 158) ने कहा है कि सत्य कही इन स्थितियों के बीच स्थित है। जाति व्यवस्था पर औद्योगीकरण का प्रभाव अधिक हुआ है, अपेक्षाकृत वेबर के विचार के। लेकिन उस पैमाने पर जिस पर मार्क्स ने पूर्वानुमान किया था जाति विलीन नही हुई है। पारसस (Parsons, *The Social System*, 1952 . 185) ने इस यथार्थ (reality) की 'अनुकूलिनी सरचनाएँ' (adaptive structures) कहकर विशेषता बतायी है। इन अनुकूलिनी सरचनाओं ने प्रतिस्पर्धात्मक दबावों में घिरे लोगों के सरचनात्मक तनावों (structured strains) को कम किया हैं। हैरोल्ड गूल्ड की मान्यता है कि भारत में जाति की यह विशेषता (अनुकूलिनी सरचना की) न केवल शहरों में स्पष्ट है बल्कि गाँवों में भी है जहा जाति अभी भी सुरक्षा, एकता और लोगों के समूहों के लिए वरीयता व्यवहार को बनाये हुए है।

हैरोल्ड गूल्ड के अनुसार (1988 162-164) आधुनिक होते हुए भारतीय समाज में अनुकूलिनी सरचनाओं की तरह कार्य करने वाली जातिया (जो उनका भविष्य स्थाई एव सुरक्षित बनाती हैं) का तीन स्तरों पर परीक्षण किया जा सकता है . राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। राजनैतिक स्तर पर गावों और शहरों दोनों में जाति साम्प्रदायिकता और राजनैतिक गुटबाजी आपस में जुडी हैं। ससदीय लोकतन्त्र (जो गुप्त मतदान से जुडा है) में लोगों की सख्या, ससाधनों एव उन लाभों (favours) (जो चुनाव में जीतने के उपरान्त पद प्राप्त करने से प्राप्त होते हैं) के जोड-तोड (manipulation) को महत्व मिला है। लोकतात्रिक राजनीति क्योंकि हित-समूहों में पद और सत्ता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में एक प्रतिस्पर्धा है, यह स्वाभाविक है कि भारतीय समाज में स्वार्थ समूहों की रचना विखण्डन (clavage) और एकता (solidarity) (जो जातियों और नृवशीय समुदायों को विभाजित करती है) दोनों ही रेखाकित होंगी। जातिवाद राजनैतिक मुद्दों और निर्णयों को प्रभावित करता है, जाति निवेदनों (appeals) के बाद धार्मिक निवेदन किये जाते हैं। यह तथ्य भारत में हिन्दू और मुस्लिम राजनैतिक कार्यविधि से प्रभावित होता है। इसमें आश्चर्य नही कि जाति

का सभी राजनैतिक स्तरों पर शोषण किया जायेगा।

आर्थिक स्तर पर यद्यपि यह सत्य है कि श्रमिकों व पारिश्रमिक लेने वालों की आर्थिक गतिशीलता, पुरस्कार वितरण, और श्रमिकों की भर्ती, उनकी कार्य गुणवत्ता के आधार पर निर्धारित होते हैं, और विभिन्न जातियों के लोग आधुनिक पेशे अपनाते हैं, लेकिन यह भी समान रूप से सत्य है कि विशेष रूप से गाँवों मे उनकी स्थिति प्रचलित जाति सरचना और अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर ही निर्भर है। भारत में आज व्यक्तियों के लिए जो आर्थिक समस्या है वह है 'कमी' (scarcity) की—धन की, नौकरी की और अवसरों की—जिससे उस नयी आर्थिक व्यवस्था में भाग ले सकें जो कि धीरे धीरे बन रही है और स्पष्ट रूप से धन और शक्ति का प्रमुख साधन हैं। इस प्रकार जाति के वे पक्ष जो आधुनिक व्यावसायिक व्यवस्था में शक्ति और पद के सम्भावित दावेदारों के लिए अति लाभदायक होते हैं, जातिवाद और भाई-भतीजावाद (nepotism) ही है।

सामाजिक स्तर पर जीवन शैली निर्धारण में तथा उस क्रम स्थिति निर्धारण में जिसमें विवाह निश्चित होने हैं, जातियाँ अभी भी महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि जातियों के पुराने सस्कार और पेशेवर कार्य तेजी से अदृश्य हो रहे हैं, फिर भी जाति में अन्तर्विवाह अभी भी सुरक्षित हैं। जाति सरचना की शुद्धता का विचार विद्यमान रखा गया है तथा आधुनिक सामाजिक सूचीक्रम की आवश्यकताओं के अनुकूल बना लिया गया है। यह भी नोट करने योग्य है कि भारत के अभिजात्य श्रेणी के लोग (elite) बहुत ज्यादा उच्च जातियों के हैं, जब कि निम्न जाति व दास श्रेणी के लोग जातियों का सामीप्य विरोध सुक्ष्म रूप से प्रदर्शित करते हैं।

योगेंद्र सिंह (1974 324 327) ने भारत मे जाति प्रथा के भविष्य के सम्बन्ध में तीन परिकल्पनाओं की चर्चा की है (i) उत्पादन की विधि सबधी परिकल्पना, (ii) जाति लचीलापन परिकल्पना, और (iii) सरचनात्मक अनुकूलिनी परिकल्पना । उत्पादन की विधि (mode of production) सबधी परिकल्पना, जो किंगस्ले डेविस, मार्क्सवादी (ए आर देसाई) और गैर मार्क्सवादी दोनो प्रकार के समाजशास्त्रियों द्वारा समर्थित है, के अनुसार जाति का पतन हो रहा है। किंगस्ले डेविस के अनुसार जाति के पतन के साक्ष्य हैं (1) सहभोजी निषेधों मे ध्यान देने योग्य ढीलापन और भोजन के निषेधों के उल्लघन को सहन करना, (2) *अन्तर्विवाह* (inter-marriage) की बाधाओं की उपेक्षा करने की *बढती* प्रवृत्ति या अन्तर्जातीय विवाहो की बढती सख्या, (3) पेशेवर गतिशीलता में वृद्धि, (4) जाति पचायतों का बिल्कुल कमजोर होना (5) यजमानी प्रथा का कमजोर पडना, (6) निम्न जातियों पर उच्च जातियों के प्रभुत्व और प्रभाव का कम होना, (7) अस्पृश्यता का धीरे-धीरे समापन, और (8) सामाजिक गतिशीलता का विकास।

किंगस्ले डेविस (Kingsley Davis) ने औद्योगीकरण के प्रभाव में अनुकूलिनी परिवर्तनों (adaptive changes) के माध्यम से जाति के वर्ग में परिवर्तन होने की सम्भावना व्यक्त की है, यद्यपि ऐसे परिवर्तनों की विवेचना करने के लिए वह मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयोग नही करता। दूसरी ओर ए आर देसाई यद्यपि यही विचार रखते हैं (जाति का वर्ग में परिवर्तित होना) लेकिन उसने अपने तर्कों को मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आधारित किया है। उसके अनुसार जाति कृषि सामन्ती (feudal) व्यवस्था पर आधारित सम्पत्ति के स्वामित्व और उत्पादन की शक्तियों की सामाजिक अभिव्यक्ति है। वह मानता है कि (1969

-111-112) कुछ दर्जन जातिया ही आर्थिक संसाधनों, राजनैतिक शक्ति, और उपलब्ध शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सुविधाओं का एकाधिकार (monopoly) रखती हैं। आर्थिक ढाँचे में मूल परिवर्तन अपनाए बिना जाति श्रेणीक्रम और जाति व्यवस्था को समाप्त करना सम्भव नही होगा।

'जाति की लचीलेपन' सबधी परिकल्पना (मूल स्थिति को पुन प्राप्त करना) के अनुसार, औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकी का विकास, पश्चिमीकरण, और अन्य लोकतांत्रिक सस्थात्मक विस्तार, जाति कार्यों की प्रक्रिया को प्रतिबन्धित करने की अपेक्षा अधिक सक्रिय और विस्तृत करते हैं। ये सब कारक जाति के क्रमों (ranks) के विलय में और सगठनात्मक गतिशीलता तथा सुव्यवस्थीकरण (rationalisation) में योगदान देते हैं। एमएन. श्रीनिवास (1964) कहता है कि जहा मध्ययुगीन भारत में जाति गतिशीलता विखण्डन (fission) पर आधारित थी, वही आधुनिक भारत में जाति प्रखण्डों (segments) के विलय का मच सक्रिय हो गया है। इस प्रक्रिया में नि-सन्देह जाति की प्रकृति में कुछ परिवर्तन होता है किन्तु यह मानना सही नही होगा, जैसा बेली (Bailey) मानता है, कि जातिया अपने लक्षण ही बदल देती हैं। जाति व्यवस्था में परिवर्तन नही होता। आन्द्रे बेतेइ ने जाति के लचीलेपन की परिकल्पना का समर्थन किया है। उसने जाति की तरह ही नये सरचना स्वरूपों (पेशेवर तथा व्यावसायिक समूह) की चर्चा की है। बेतेइ का कहना है (1965) कि "राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन से प्रस्थिति समूहों (जातियों) के समाप्त होने की सम्भावना नही है। भविष्य के प्रस्थिति समूह निसन्देह जाति व्यवस्था के चिन्ह अपने साथ अवश्य ले जायेंगे।"

"जाति के लचीलेपन सबधी परिकल्पना' के विरुद्ध सरचनात्मक अनुकूलिनी (structured adaptation) परिकल्पना है। इस परिकल्पना (Leach · 1960, Bailey : 1963, Yogendra Singh . 1969, Rajni Kothari 1970) के अनुसार जाति सघों, जाति महासघों और जाति एकता की रचना के माध्यम से जातिया अपना मूल चरित्र समाप्त करती हैं और वर्ग-प्रकार का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इस विचार के प्रतिपादक इन परिवर्तनों को परिवर्तन के अपरिहार्य अवस्थाओं (inevitable stage) से नही जोडते। वे जाति के अदृश्य होने की बात भी नही करते और न ही वर्ग व्यवस्था से इसके स्थानापन्न होने (replacement) की बात करते हैं।

जाति व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste)

जाति व्यवस्था की पकड ढीली होने के कोई सकेत नही हैं। परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने तथा ऊपर उठने के रुख में आया है। जाति व्यवस्था में परिवर्तन यद्यपि निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं लेकिन यह (जाति व्यवस्था) अटूट बनी हुई है। विभिन्न जातियों में एक प्रकार की वर्ग चेतना प्रवेश कर रही है। अन्तःसमूह (in-group) की भावना से प्रभावित होकर जातियाँ अपनी व्यवस्था को अधिक दृढता से पकडे रहना चाहती हैं। आजकल, जातिया स्वय को राजनैतिक, सामाजिक, व आर्थिक उद्देश्यों के लिए सगठित होने का प्रयत्न कर रही हैं। चुनाव जातिगत आधार पर लडे जाते हैं।

अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा, अखिल भारतीय माथुर सघ, अखिल भारतीय भार्गव सगठन जैसे जाति सगठन विकसित हो गये हैं।

जाति व्यवस्था के भविष्य के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले तीन प्रकार के प्रगतिशील हिन्दू मिलते हैं। (i) ऐसे लोग जो जाति को अहितकारी (evil) समझते हैं और चाहते हैं कि यह समाप्त हो जानी चाहिए। (ii) ऐसे लोग जो सोचते हैं कि जाति व्यवस्था का पतन हो गया है। वे चाहते हैं कि परम्परागत चारों व्यवस्थाओं की पुनर्स्थापना के प्रयत्न होने चाहिए। इस विचार के सबसे बडे प्रतिपादक महात्मा गान्धी थे (*Young India* 1919 479-88)। (iii) ऐसे लोग जो चाहते हैं कि जाति व्यवस्था जारी रहे लेकिन इसकी पुनर्स्थापना बिल्कुल भिन्न स्थितियों में हो। ये लोग सास्कृतिक एकता वाली और आर्थिक समानता वाली विभिन्न उप जातियों को मिला देना चाहते हैं। धीरे-धीरे वे जातियाँ जो लगभग समानता के स्तर पर होंगी एक हो जायेंगी और अन्त में एक जाति विहीन समाज की स्थापना हो जायेगी। ये लोग इस प्रक्रिया को मन्द गति से चाहते हैं क्योंकि इससे लोगों को शिक्षित होने का समय मिल जायेगा और वे उन जातियों/वर्गों के वाछित अनुकूलन के साथ परिचित राय बना सकेगें जो अपने पुराने रीति रिवाजों में परिवर्तन के लिए तैयार नही हैं। (देखें, घूर्ये, एजे टयाइन्बी (A J Toynbee) टीएचमार्शल, (T H Marshall), पीकोडान्डा राव (P Kodanda Rao), आदि, जैसे विद्वानों ने इन तीनों विचार-सम्प्रदायों का मूल्याकन किया। गान्धी जी द्वारा दिए गए प्रथम विचार पर चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यह अव्यवहारिक है क्योंकि लोगों को चार श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में रखने के लिए केवल उनका व्यवसाय ही है जो वे आज करते हैं। वर्तमान समाज में व्यवसाय विशिष्ट और विविध होते है और एक ही परिवार के लोग इतने भिन्न व्यवसायों में लगे होते हैं कि उन्हें किसी एक श्रेणी की सदस्यता प्रदान करना असम्भव होगा। दूसरे, यदि यह कथन (जातियों को प्रथम तीन व्यवस्थाओं/श्रेणियों में से किसी एक में शामिल करना) सम्भव होता भी, तो अस्पृश्य जातियों का क्या होगा ? गान्धी जी ने अस्पृश्यता के विरोधी होने के कारण, स्वाभाविक रूप से इन के लिए सम्मानजनक प्रस्थिति का प्रस्ताव किया। लेकिन उन्हें कहा स्थान प्रदान किया जाये ? जिस किसी भी व्यवस्था श्रेणी में उन्हें सम्मिलित करने का प्रयास किया जायेगा, उसी व्यवस्था/श्रेणी के लोग अत्यधिक विरोध करेंगे। तृतीय, यह मान लें कि चार व्यवस्थाओं/श्रेणियो में जातियों का वर्गीकरण सम्भव हो भी जाये, क्या हम इन चार व्यवस्थाओं में विवाह की स्वीकृति दें देंगे या प्रतिबन्ध लगाएगे ? दोनों ही पद्धतिया अपनी समस्याओं को जन्म देंगी। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज के चार प्रकार के विभाजन पर वापसी अव्यवहारिक है। यदि यह कार्य कर भी लिया जाये तो इससे कोई लाभ होने वाला नही है।

दूसरे विचार पर चर्चा पर कि जातियों को उपजातियों के साथ बडी जातियों में एकीकृत करके धीरे-धीरे मिटाया जाये, विद्वानों ने कहा है कि इस बिन्दु को रखने का अर्थ है वास्तविक समस्या की उपेक्षा करना। उनका कहना है कि यह विधि मुम्बई में कई दशकों तक चलाई गई लेकिन परिणाम घातक हुए। एक बडा समूह बनाने के लिए सम्मिलित हुई उपजातिया बडे निरुत्साह से बाहरीपन के आन्तरिक भाव को धारण किए रही। नये समूह ने अन्य जातियों के विरुद्ध लडाकू रुख अपनाया, विशेष रूप से उन जातियों के विरुद्ध जिनको

उनसे थोडा ऊचा या नीचा माना जाता था। अत विद्वानों का कहना था कि इस प्रकार जाति भक्ति की भावना या जातिवाद पैदा होता है और यदि हम दूसरा दृष्टिकोण अपनाएगे तो जातिवाद का कम होना अति कठिन हो जायेगा तथा राष्ट्रीय चेतना के पूर्ण विकास के लिए अस्वस्थ वातावरण पैदा हो जायेगा।

कुछ विद्वानों ने तीसरे विचार का समर्थन किया है कि जाति प्रथा को तुरन्त समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उनका विचार है कि हमें जातिवाद के विरुद्ध लड़ना है तथा उसे समूल नष्ट करना चाहिए। घूर्ये इस विचार का पक्षधर था। लेकिन उसने यह विचार 1931 में व्यक्त किया था। तब से लगभग सात दशक व्यतीत हो गए है और भारतीय समाज में बहुत परिवर्तन हो गए हैं (देश की आजादी सहित) और जातिवाद के विरुद्ध कई कानून भी लागू किए जा चुके हैं। उदाहरणार्थ, भारत का सविधान (1950 में लागू किया गया) कहता है कि (i) जाति के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नही करेगा (सभी जातियों को समान अवसर), (ii) किसी भी नागरिक पर जाति के आधार पर किसी भी दुकान, रेस्त्रा, सार्वजनिक कुओं और तालाबों तक प्रवेश या प्रयोग का प्रतिबन्ध नही होगा (नागरिक निर्योग्यताओं की समाप्ति), और (iii) अस्पृश्यता के चलन का निषेध। इसी प्रकार किसी भी पेशे को अपनाने पर प्रतिबन्ध नही है। समानता की भावना तथा आजादी और भ्रातृत्व की भावना को प्रोत्साहित किया गया है जिसने जाति की जडों को काटा है। एक विशेष अधिकारी (आयुक्त) 1951 में पिछडी जाति एव पिछडी जनजाति की देखरेख के लिए नियुक्त किया गया था। अब जनगणना में व्यक्ति की जाति को नही लिखा जाता। इन सब परिवर्तनों के बावजूद भी गत कई दशकों में, विशेष रूप से गत दो दशकों में जातिवाद और जाति की बुराइया समाप्त नहीं हुई है। आशीर्वाथम (*A New Social Order*, 1957) का विचार था कि अतीत में जाति के कितने ही फायदे क्यों न रहे हों, आज यह प्रगति में बाधक है और हमें इसका डटकर विरोध करना है। 1950 व 1960 के दशक में डी.एन.मजूमदार ने भी कहा था कि जिस प्रकार टूटी अगुली प्रतिस्थापित की जाती है न कि सम्पूर्ण हाथ, उसी तरह एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण और इसी तरह के हानिकारक सहवर्ती बुराइयों को समाप्त किया जाना चाहिए, न कि समूची जाति व्यवस्था को।

लगभ 135 वर्ष पहले (1869 में) मैक्समूलर का विचार था कि भारत में जाति को समाप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार का प्रयत्न मात्र भी कष्टकर व दुष्कर प्रयास होगा। धार्मिक सस्था के रूप में जाति समाप्त हो जायेगी परन्तु सामाजिक सस्था के रूप में यह जीवित रहेगी और इसमें सुधार भी होगा। पालिन कोलेण्डा (1997) की राय है कि परम्परागत जाति व्यवस्था, जिससे पेशेवर विशिष्टीकृत, परस्पर निर्भर, तथा शुद्धता और अशुद्धता के आधार पर क्रमबद्ध जातियाँ पायी जाती हैं, अदृश्य होने का सकेत दे रही है। कोलेण्डा यह प्रश्न भी उठाती है कि अब पेशेवर विशिष्टीकरण और शुद्धता तथा अशुद्धता की व्यवस्था में (जिससे जातियों का एक दूसरे से क्रम व अलगाव का पता चलता था) गिरावट आयी है, क्या नयी जाति व्यवस्था के रूप में एक नया एकीकरण हो सकेगा ? उसका विचार है कि वास्तव में यह सम्भव नही है कि एक सामाजिक सरचना को जो हजारों वर्षों से लोगों के राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन को सगठित किए हुए हो, कुछ ही दशकों में बिल्कुल समाप्त कर दिया जाये। समाज वैज्ञानिक जो इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं,

सभी कहते है कि जाति व्यवस्था जीवित है।

यह सत्य है कि जाति व्यवस्था भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने में या सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में बाधक है। जब तक यह विनाशकारी व्यवस्था चलती रहेगी, हम अपने सामाजिक लक्ष्य प्राप्त नही कर सकते। अत जितनी जल्दी इसकी मृत्यु की घण्टी बजे, उतने ही ऊचे हमारी प्रगति के अवसर हो जायेंगे। फिर भी यह एक सत्य है कि इस व्यवस्था को समाप्त करना इतना सरल नही है।

नर्मदेश्वर प्रसाद द्वारा तीन क्षेत्रो के अध्ययन में—औद्योगिक, गैर-औद्योगिक, और ग्रामीण—कुछ उत्तरदाताओं (1225) से जाति व्यवस्था को कमजोर करने वाले कुछ उपाय प्राप्त हुए। यह थे शिक्षा और सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर (39 1%), अन्तर्जातीय विवाह (35 3%), अस्पृश्यता निवारण (12 2%), और समानता के आधार पर लोगों से व्यवहार (13 4%)। लेकिन क्या ये उपाय वास्तव में जाति प्रथा को समाप्त करने या कमजोर बनाने में सहायक होंगे ? शायद नही। सर्वोच्च न्यायालय ने भी नवम्बर 1992 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट के क्रियान्वयन कराने के निर्णय में यह माना था कि मात्र जाति ही आरक्षण का आधार होगी।

जाति के कौन से गुण और कार्य समकालीन समाज में जाति को जारी रखे हुए हैं? आज दो कार्य महत्वपूर्ण मालूम पडते हैं (i) यह शक्ति प्राप्ति करने के लिए अवसर प्रदान करती है और (ii) यह सामाजिक गतिशीलता को सम्भव बनाती है (यदि हम श्रीनिवास के जाति के संस्कृतिकरण के विचारों को स्वीकार कर लें)। आधुनिक समाज में गतिशीलता—व्यावसायिक, आर्थिक और सामाजिक—शिक्षा, प्रशिक्षण, भौतिक ससाधनों, उपलब्ध भाई भतीजावादी तन्त्र, व्यक्तिगत प्रभाव, सामाजिक परिष्करण (refinement), और साथ ही जाति क्रम (rank) जैसे कारणों पर निर्भर करती है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जाति व्यवस्था आगामी वर्षों और दशकों में भी यथार्थ बनी रहेगी।

जाति मे गतिशीलता (Mobility of Caste)

समाज वैज्ञानिकों ने भारतीय सामाजिक यथार्थ का वर्ग, जाति, जनजाति, धर्म, और भाषायी समूहों के सदर्भ में विश्लेषण किया है। यही श्रेणिया समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाती रही हैं। पहले जब यह माना जाता था कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज को बन्द व्यवस्था के रूप में बनाए रखती है, अब यह कहा जाता है कि अन्तर्विवाह, श्रेणीक्रम, और अशुद्धता की भावना का त्रिकोण टूट रहा है (K.S Singh 1992 23)। सामाजिक गतिशीलता की समस्या सामाजिक स्तरीकरण की समस्या से सीधे जुडी हुई है। योगेन्द्र सिंह (1974 403) का मत है कि परम्परा-आधुनिकता द्विभाजन (dichotomy) ने सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में परिप्रेक्ष्यों (perspectives) में असमजस (confusion) पैदा किया है। इस प्रकार की असमजस की स्थिति पश्चिमी विद्वानों में देखी गई थी। इससे यह माना गया कि परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में गतिशीलता थी ही नही जिसे स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था का नाम दिया गया था। यह दर्शाता है कि ये विद्वान वैचारिक पूर्वाग्रह से त्रस्त थे। एमएन श्रीनिवास (1968 : 18-35)

ने कहा है कि जब परम्परात्मक भारतीय समाज स्थिर (stationary) लक्षण वाला था फिर भी इसने स्थानीय श्रेणीक्रम में जातियों की ऊर्ध्वोन्मुखी (upward) तथा अधोन्मुखी (downward) गतिशीलता को नही रोका। सुरजीत सिन्हा (1957) ने भी संकेत किया है कि कई कबीले विजय तथा शक्ति प्राप्ति के बल पर क्षत्रियता का दावा करके शाही स्थिति तक पहुँच गए।

सिलवरबर्ग (Silverberg, 1968 : 128) ने विराग (renunciation) के माध्यम से भारत में सामाजिक गतिशीलता की चर्चा की है। आश्रमों की योजना में सन्यास व विराग द्विजों (twiceborn) के लिए निर्धारित था। व्यवहार में निम्न जाति के सदस्य भी सामाजिक श्रेणी में अपने स्थान की वचनाओं से बचने के लिए सन्यासी हो जाया करते थे।

हाल में ही एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक गतिशीलता अधिक सक्रिय हो गई है। एमएनश्रीनिवास ने संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण के माध्यम से इसकी व्याख्या की है। मैकिम मेरियट, डयूमान्ट और रजनी कोठारी ने भी सामाजिक गतिशीलता को विभिन्न स्तरों पर देखा। एक ओर तो निम्न जातियों के सदस्य जाति श्रेणीक्रम में अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उठाने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर, जाति एक समूह के रूप में राजनैतिक शक्ति द्वारा या जातियों के राजनैतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से गतिशीलता प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। अत हम विविध स्तरों पर जाति गतिशीलता का अध्ययन करेंगे (i) युद्ध के माध्यम से (ii) शासकों की सेवा द्वारा (iii) विविध स्तरों पर जनगणना द्वारा (iv) सामाजिक प्रक्रिया के क्रियान्वयन के माध्यम से, और (v) राजनीति के प्रयोग से।

युद्ध के माध्यम से गतिशीलता (Mobility through Warfare)

एम एन श्रीनिवास और पालिन कोलेण्डा ने मुग़ल काल में युद्ध के माध्यम से होने वाली जाति की गतिशीलता की चर्चा की है। कोलेण्डा ने कहा है कि उन्नीसवी शताब्दि के पूर्वार्ध में ब्रिटिश एकीकरण तक जाति में ऊंचा उठने का सबसे प्रभावी तरीका कम घनत्व वाली जनसख्या क्षेत्र में या खाली भूमि में शान्तिपूर्ण अधिकार करके विजय द्वारा सीमाओं पर अधिकार करना था। केएम पन्नीकर (इतिहासकार) ने कहा है कि "ईसा पूर्व पाचवी शताब्दि से प्रत्येक परिचित शाही परिवार गैर-क्षत्रिय परिवार से सम्बद्ध था"। कोलेण्डा (1998 97) ने कहा है कि प्राचीन भारत में शासक क्षत्रिय थे, यद्यपि कृषक जाति के भी कुछ शासक थे जिन्होंने किसी क्षेत्र पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित कर लिया। शासक बनने के बाद कृषक विजेताओं ने क्षत्रिय होने का दावा किया। इस प्रकार कृषक विजेता क्षत्रिय क्रम तक उठ गए।

एम एन श्रीनिवास ने मुगल काल में शिवाजी का उदाहरण दिया है। शिवाजी के पिता बीजापुर के मुस्लिम शासक के जागीरदार थे। शिवाजी ने मुगल शासन को उखाड फेंका और अरब सागर से बगाल की खाडी तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उनकी जाति मराठा, शूद्र वर्ण की मानी जाती थी इसलिए शिवाजी धार्मिक सस्कार द्वारा क्षत्रिय बन गए। शिवाजी के वर्ण प्रस्थिति में उठने के साथ ही उनकी मराठा जाति भी क्षत्रिय क्रम में आ गई (Srinivas, 1968 : Marriott 1968 . 112-113, Kolenda, 1968 : 97)।

शासको की सेवा के माध्यम से गतिशीलता (Mobility through Serving Rulers)

जिन जातियों के सदस्य हिन्दू या गैर हिन्दू शासकों की नौकरी करते थे, उच्च वर्णक्रम प्राप्त कर लेते थे। उदाहरणार्थ, गुजरात के पातीदार जो शूद्र वर्ण का एक कृषक समूह था, शिवाजी के मराठा वशजों गायकवाडों का समर्थन करते थे, जो मध्य गुजरात पर शासन करते थे। क्रमश, क्षत्रिय होने का दावा करते हुए उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए (Shah 1964)। एक दूसरा उदाहरण है कायस्थों का जो लेखाकार जाति के थे (जो मुद्रण के आविष्कार से पहले पेशेवर पत्र लेखक होते थे या जो लेखों की नकल करते थे या आलेखों को रखते थे)। कायस्थों ने पहले तो अपने को मुगलों के लिए और फिर ब्रिटिश शासकों के लिए लाभकारी बनाया। बारहवी शताब्दि में जब वे निम्न जाति के थे, उन्नीसवी तक उत्तर भारत में ये लोग द्विज श्रेणी तक उठ गए, यद्यपि पूर्व में बगाल में वे शूद्र ही रहे (Cohn, in Silverberg, 1968 122 123)। बर्टन स्टीन (Burton Stein, 1968), एक इतिहासकार, ने भी कहा है कि मध्ययुगीन दक्षिण भारत में परिवार मुस्लिम शासकों से सान्निध्य (association) में ऊपर उठे। गतिशीलता की इकाई जाति न होकर परिवार या परिवारों का एक समूह होता था। श्रीनिवास ने सुझाव दिया है कि इस प्रकार की पारिवारिक ऊर्ध्व गतिशीलता का परिणाम बडी जाति में से एक नयी जाति की रचना में हुआ।

ब्रिटिश शासन काल मे जनगणना आयुक्तो द्वारा (जातियो को) उच्च प्रस्थिति प्रदान किया जाना (Assigning Higher Status (to castes) by the Census Commissioners in the British Period)

1891 से 1931 तक जनगणना में जाति पहचान लिखते समय अनेक मध्यम और निम्न जातियों ने स्वय को *द्विज* वर्ण के रूप में पजीकृत कराने का प्रयास किया। 1901 के जनगणना आयुक्त ने सभी जातियों को क्रम देने का कार्य किया। सैकडों जातियों ने उच्च वर्ण शीर्षक का दावा करते हुए उच्च क्रम सुनिश्चित किया। उदाहरणार्थ, बगाल के कृषक कुर्मी क्षत्रिय होना चाहते थे, तथा तेली वैश्य बनना चाहते थे। प्रत्येक दावे के साथ इतिहास और कथाओं से साक्ष्य प्रस्तुत किए गए थे। दावों का मूल्याकन करने के लिए जिला समितियाँ स्थापित की गई थीं। कुछ दावे मान लिए गए और कुछ अस्वीकृत कर दिए गए।

सस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से जाति गतिशीलता (Caste Mobility through Social Processes of Sanskritization and Westernization)

ब्राह्मण, मुस्लिम और ब्रिटिश काल में जाति प्रथा इतनी कठोर हो गई थी कि आनुवाशिक सदस्यता, अन्तर्विवाह, व्यावसायिक गतिशीलता से इन्कार, तथा सहभोजी और सामाजिक प्रतिबन्धों के माध्यम से सदस्यों को हमेशा एक निश्चित प्रस्थिति का लाभ मिलता रहा। परन्तु उन्नीसवी शताब्दि के तीसरे दशक से आगे जाति प्रथा कठोर नही रह सकी क्योंकि

औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा का प्रसार, कुछ वैधानिक उपायों का क्रियान्वयन और अनेक समाज सुधारकों के सामाजिक आन्दोलनों की प्रक्रियाएं प्रारम्भ हो चुकी थी। एम.एन श्रीनिवास ने 1952 में संस्कृतिकरण और नगरीकरण प्रक्रिया के माध्यम से जातियों में प्रस्थिति गतिशीलता को समझाया है। उसका मानना था कि एक निम्न जाति शाकाहार बन कर और मद्यनिषेध अपना कर एक दो पीढी में श्रेणीक्रम में उच्च स्थिति तक पहुचने में समर्थ होती थी। ऐसी जातिया ब्राह्मणों के संस्कार, रीति रिवाज और विश्वास अपना लेती थी और अपने अशुद्ध समझे जाने वाले संस्कारों को त्याग देती थीं।

प्रारम्भ में श्रीनिवास ने निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मण जीवन शैली का अनुकरण करने की चेष्टा करने की बात कही लेकिन बाद में उसने किसी उच्च वर्ण की महत्त्वपूर्ण जाति से अनुकरण की बात कही। लिंच (Lynch, 1969 218) ने इसे 'अभिजात्य अनुकरण' (elite emulation) कहा है। बारनेट (Barnett) ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के जीवन शैली की बराबरी करने को 'राजसी मॉडल' (kingly model) कहा है। इस प्रकार ऊर्ध्वगामी (upward) गतिशील जाति ने संस्कृतिकरण या 'अभिजात अनुकरण' या 'राजसी अनुकरण' के माध्यम से अपनी प्रस्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया। परन्तु एम.एन श्रीनिवास (1962 58) ने कहा है कि अस्पृश्य लोग कभी भी शूद्रों की सीमा रेखा पार नहीं कर सके हैं और न ही ऊँची जाति की प्रस्थिति प्राप्त कर सके हैं।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कुछ उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार हैं (1) संस्कृतिकरण की प्रक्रिया आर्थिक और राजनैतिक आधिपत्य से जुडी है, अर्थात् सांस्कृतिक प्रभुत्व की प्रक्रिया में प्रभुत्वशाली स्थानीय जाति की भूमिका पर बल दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में निम्न जातियों ने ब्राह्मणों का अनुकरण किया लेकिन बाद में स्थानीय प्रभुत्व वाली जातियों की (गैर ब्राह्मण जाति) नकल की जाने लगी। (2) संस्कृतिकरण उन जातियों में हुआ जिन्हें राजनैतिक व आर्थिक शक्तिया प्राप्त थी लेकिन सांस्कारिक क्रम (कर्मकाडीय) (ritual ranking) में वे उच्च क्रम पर नहीं थी, अर्थात् उनकी संस्कारिक तथा राजनैतिक-आर्थिक स्थितियों में फासला था। (3) आर्थिक सुधार संस्कृतिकरण की आवश्यक पूर्व शर्त नही है। (4) संस्कृतिकरण एक दोहरी प्रक्रिया है। एक जाति ने न केवल अपने से ऊची जाति से कुछ लिया बल्कि इसने कुछ दिया भी। (5) गतिशीलता की इकाई समूह है न कि व्यक्ति या परिवार। (6) स्वतत्रता के बाद संस्कृतिकरण की प्रक्रिया कमजोर हो गई है। अब लम्बवत् (vertical) गतिशीलता पर बल है न कि समतल (horizontal) पर। (7) संस्कृतिकरण सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मुख्य रूप से सांस्कृतिक अर्थ में करता है न कि सरचनात्मक अर्थ में। (8) संस्कृतिकरण किसी समूह के लिए स्वत ही उपलब्धि नही दिलाता। समूह को तो उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होती है। (9) निम्न जातियों द्वारा अशुद्ध व मलिन पेशा बदलना, मदिरापान बन्द करना, गाय का मास खाना बन्द करना, सुसंस्कृत रीति-रिवाज अपनाना तथा विश्वासों और देवी देवताओं को मानना आवश्यक रूप से ऊपर उठना नही है। इन क्रियाकलापों का लक्ष्य गतिशीलता नहीं हो सकता।

संस्कृतिकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं . औद्योगीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, सचार के विकसित साधन, शिक्षा का प्रसार, पश्चिमी प्रौद्योगिकी, और निम्न

जातियों में मलिन पेशे त्यागने, खराब रिवाजों को तथा सामाजिक प्रथाओं को त्यागने की जागृति। स्वय श्रीनिवास के अनुसार सस्कृतिकरण के विस्तार में प्रमुख सहायक कारक है मंत्रोच्चारण (*mantas*) के साथ से कर्मकाण्डी कार्यों का अलग होना जिसने ब्राह्मण संस्कारों के प्रसार को सुविधाजनक बनाया।

सस्कृतिकरण के साथ ही, पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भी सामाजिक गतिशीलता को सम्भव बनाया है। पश्चिमीकरण गैर-पश्चिमी समाज की विचारधारा, मूल्यों, सस्थाओं और प्रौद्योगिकी में परिवर्तन की प्रक्रिया है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के साथ सास्कृतिक सम्पर्कों का परिणाम है (Srinivas 1962 55)। पश्चिमीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्रौद्योगिकी और तर्क सगतता पर जोर दिया जाता है। डेनियल लरनर, हैरोल्ड गूल्ड, मिलटन सिंगर और योगेन्द्र सिह जैसे विद्वान पश्चिमीकरण की अपेक्षा आधुनिकीकरण को वरीयता देते हैं। लेकिन श्रीनिवास इस शब्द (आधुनिकीकरण) को 'वस्तुपरक' (subjective) मानता है (Seminar, 88, 1986 2)।

सामाजिक गतिशीलता की व्याख्या करने के लिए सस्कृतिकरण की प्रक्रिया के प्रयोग के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाए की गई हैं (1) देश के कुछ भागों में (जैसे पजाब और पहले का सिन्ध) जातियों द्वारा जो कुछ भी नकल किया गया वह सस्कृति परम्परा नही थी बल्कि इस्लामी परम्परा थी। सिखवाद का उदय इस्लामी सुफीवाद और रहस्यवादी (mysticism) आन्दोलनों की हिन्दू परम्पराओं के समन्वय से हुआ। (2) सस्कृतिकरण गैर सास्कृतिक परम्पराओं के अनुकूलन (adaptation) का विवरण देने में असफल रहता है (Yogendra Singh, 1973 11)। (3) श्रीनिवास की प्रक्रिया (सस्कृतिकरण की) केवल भारतीय समाज में (जहा जाति व्यवस्था मौजूद है) सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करती है। यह अन्य समाजों के लिये लाभप्रद नही है।

राजनैतीकरण के माध्यम से जाति गतिशीलता
(Caste Mobility through Politicisation)

अनेक जातियों ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये या अपनी स्थिति को सुधारने के लिए राजनीति का सहारा लिया है। एलीनर जेलियट (Eleanor Zelliot) के अनुसार राजनीति का लाभ सरकारी लाभों को प्राप्त करने और राजनीतिक सस्थाओं और विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं · महाराष्ट्र के महार, गुजरात के क्षत्रिय, तमिलनाडू के नादर, और आन्ध्र प्रदेश के रेड्डी और कम्मा लोग।

महाराष्ट्र के महारों ने, जो राज्य की कुल जनसख्या के 10 प्रतिशत हैं (राज्य में कुल 13 प्रतिशत अनुसूचित जाति जनसख्या का) प्रारम्भ में सामाजिक पतन की दशाओं में काम किया, लेकिन आखिरकार अपनी सामाजिक दशा को सुधारने के लिए राजनीति का सहारा लिया। अम्बेडकर ने उन्हें राजनैतिक शक्ति के रूप में सगठित किया और अनुसूचित जाति का एक महासघ बनाया जो अन्त में सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक समानता के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु राजनैतिक साधन के रूप में प्रयोग किया गया। महार, जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता था, चौकीदार, सन्देशवाहक, सडकों की सफाई, दूसरे गाँवों का मृत्यु

सन्देश लाने ले जाने, आदि का काम करते थे। मन्दिर, स्कूल और कुए उनके लिए बन्द थे। बाद में (1860 से बाद) उन्होंने फैक्ट्रियों, रेलों, गोदी, आदि में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। जो गाँवों में रहते थे उन्होंने भी परम्परागत निम्न व्यवसायों को छोडना शुरु कर दिया। काफी बडी सख्या में वे सेना में भी भर्ती हो गए। सैन्य सेवाओं ने उन्हें सामाजिक श्रेणीक्रम में ऊँचा उठने में ही मदद नही की बल्कि पश्चिमी सस्कृति के द्वार भी उनके लिए खुल गए। कुछ महार ईसाई बन गए जबकि कुछ ने कबीर व रामादि पथ अपना लिया, जो समानता के पक्षधर थे। 1936 में अम्बेडकर के नेतृत्व में उनके मन्दिर प्रवेश प्रयास ने राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लिया, हिन्दुत्व को पूर्णरूपेण अस्वीकार कर दिया। 1937 में अम्बेडकर ने स्वतत्र लेबर पार्टी (Labour Party) की स्थापना की जिसमें अधिकतर टिकिट महार लोगों को ही दिए गए। तब से रिपब्लिक पार्टी (Republic Party) तथा 1946, 1951, 1956 के चुनावों के माध्यम से महारों ने महराष्ट्र की राजनीति में अपने को महत्वपूर्ण राजनैतिक बल के रूप में स्थापित कर लिया है।

रजनी कोठारी और रुशिकेश मारु (Rushikesh Maru, 1973 . 70-101) ने गुजरात के कुछ मध्यम और निम्न जातियों तथा आर्थिक दृष्टि से पतित समुदायों के उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए 1940 और 1950 के दशकों में एक सामान्य सगठन महासघ के रूप में बनाया। कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव जीतने के बाद उन्हें क्षत्रियों में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार राजनीति उनके लिए सुदृढ़ बन गई।

राबर्ट हार्डग्रेव (Robert Hardgrave Jr, 1973 102-126) ने तमिलनाडु में नादरों के बीच एकता और सामजस्य और इसकी एकीकृत राजनैतिक सस्कृति का परीक्षण किया। अन्य जातियों पर आर्थिक निर्भरता की समाप्ति तथा विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र पर जाति बन्धनों के विस्तार ने इस जाति (नादरों) को एक नयी दृढता प्रदान की जिसने उन्हें सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक दृष्टि से उठा दिया। आर्थिक रूप से अपनी प्रस्थिति मे सुधार करने के बाद उन्होंने क्षत्रिय पद का दावा किया। 1921 की जनगणना में सभी नादरों ने स्वय को नादर क्षत्रिय घोषित कर दिया। आज नादर दक्षिण में आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से सबसे सफल समुदायों में से एक है।

ये सभी उदाहरण प्रकट करते हैं कि निम्न जातियों ने किस प्रकार राजनीति का प्रयोग किया। राजनीतिक शक्ति, जाति एकता, और आखिरकार समाज में उच्च स्थिति प्राप्त कर ली।

केएलशर्मा (K.L. Sharma, *Social Stratification in India*, 1997· 158-173) ने सामाजिक गतिशीलता के तीन दृष्टिकोणों की ओर सकेत किया है सरचनात्मक ऐतिहासिक, मार्क्सवादी, और सस्कृतिवादी (Culturological) अथवा भारतशालीय (Indological)। एआर. कामत (A R Kamat) ने प्रथम दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए महाराष्ट्र में जाति गतिशीलता की व्याख्या की है जिसमें उसने कहा है कि पुराने शहरी वर्चस्व वाले राजनैतिक नेतृत्व के स्थान पर नेताओं की नयी व्यवस्था आ गई है जो उन्नत ग्रामीण तत्वों, विस्तृत राजनैतिक चेतना, और राजनैतिक लोकतंत्र में विश्वास रखते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग अरविन्द दास (Arvind Das, 1984 . 1616-19) और प्रधान एच. प्रसाद (Pradhan, H. Prasad, 1979 : 481) ने बिहार में अन्तर्जातीय

व वर्ग सघर्षों के विश्लेषण करने में किया है। सामाजिक गतिशीलता की व्याख्या यजमानी प्रथा के पतन और आधुनिक व्यवसायों के उदय (Sharma, 1974), अस्पृश्यता और अशुद्धता शुद्धता सिद्धान्त के पतन (Kolenda 1986), और शिक्षा, सरक्षणात्मक भेदभाव की राज्य की नीति और सामाजिक आन्दोलनों के सदर्भ में भी की जा सकती है।

जातिवाद (Casteism)

जातिवाद और साम्प्रदायिकतावाद तथा इनके साथ हिंसा की बढती प्रवृत्तियों ने विभिन्न जातियों मे आपसी सन्देह और असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। जाति में उच्च पदासीन व्यक्ति नियुक्तियों और प्रोन्नति में अपनी जाति या उपजाति के सदस्यों को वरीयता देते हैं। इससे जाति के प्रति निष्ठा इस सीमा तक बढ जाती है कि (i) एक जाति दूसरी जाति पर हावी होने का प्रयत्न करती है, (ii) उच्च जातिया निम्न जातियों का शोषण करती हैं, (iii) चुनाव जाति आधार पर लडे और जीते जाते हैं, (iv) समाज में अन्तर्जातीय सघर्ष बढ जाते हैं। यद्यपि जातिवाद, अन्तर्जातीय सघर्ष, और जातीय हिंसा की घटनाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक पाई जाती हैं, लेकिन शहरी क्षेत्रों में भी ये घटनाएं होती रहती हैं।

स्वतत्र भारत में विभिन्न जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा सामान्य स्थिति मालूम पडती है। लोगों के हाथों में राजनैतिक शक्ति आ जाने के कारण जातिया दबाव-समूह बन गई हैं और शक्ति के लिए स्पर्धारत हैं तथा अपने जाति बन्धुओं के लाभार्थ शक्ति का प्रयोग कर रही हैं। ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें कुछ वर्ष पहले एक राज्य में एक बडी सख्या में पुलिस में यादवों को भर्ती किया गया क्योंकि राज्य में एक यादव व्यक्ति सर्वोच्च राजनैतिक पद पर आसीन था। 1950 के दशक में एक राज्य में रेड्डी जाति के मुख्यमत्री ने बहुत से रेड्डी लोगों को मत्री बना दिया। एक राज्य में एक जैन अधिकारी ने जैनियों को और एक राजपूत अधिकारी ने राजपूतों को नियुक्तियों में वरीयता दी। यह प्रवृत्ति न केवल अन्य जातियों के लिए घृणा में वृद्धि करती है बल्कि देश में जाति सघर्षों को भी जन्म देती है। ऐसे सघर्ष उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, तमिलनाडू, कर्नाटक, गुजरात और महाराष्ट्र मे बहुत होते हैं। जब एक भौगोलिक क्षेत्र में कोई जाति दूसरी जाति से अधिक प्रभावशाली हो जाती है तब यह आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करके प्रभुत्व वाली जाति बन जाती है। जब कोई जाति एक प्रकार का प्रभुत्व रखती है तब यह कालान्तर में अन्य प्रकार के प्रभाव भी प्राप्त कर लेती है।

जातिवाद अपने सदस्यों में ऐसी निष्ठा पैदा कर देता है कि वे अपने एकता को अपनी धाक जमाने या वचित जातियों के शोषण के लिए प्रयोग करने लगते हैं। इसके सबसे अच्छे उदाहरण बिहार में भूमिहारों, यादवों, कुर्मियों, और दलितों में पाए जाते है।

राजनीति में गत कुछ दशकों से जातिवाद चुनाव लडने के लिए उम्मीदवारों के चयन में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। वोट माँगने में भी इस कारक का अच्छी तरह नकदीकरण किया जा रहा है।

जून 1962 में स्थापित राष्ट्रीय एकता समिति भी जातिवाद, क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकता की समस्याओ को सुलझाने में सक्रिय है। 1968 में राष्ट्रीय एकता समिति ने

इन समस्याओं से निपटने के लिए अलग समितिया बनाई। इन सभी समितियों ने दिशा निर्देश, कानून व प्रशासनिक कार्यवाही आदि के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। 1970 तक ये सब कार्यवाही रुक गई। 1980 में राष्ट्रीय एकता समिति की पुनर्स्थापना हुई और फिर 1984 में। इस बार भी तीन समितिया बनाई गई लेकिन वे भी कुछ ठोस कार्य न कर सकी। सितम्बर 1986 में राष्ट्रीय एकता को बढाने के लिए पांच सदस्यों की एक उपसमिति गठित की गई। फरवरी 1990 और फिर 1991 और जुलाई 1993 में एक और स्वरूप इस समिति का निकला लेकिन आज तक (नवम्बर, 2000) राष्ट्रीय सौहार्द बनाने और जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता को रोकने की दिशा में कोई हल नही निकल पाया है।

समानता और सामाजिक सरचना के प्रकरण
(Issues of Equality and Social Structure)

सामाजिक असमानता का मुद्दा भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या है। किसी समाज के सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन, भले ही वह जाति या वर्ग पर आधारित हो, अधिकतर असमानता को समझने से ही सम्बद्ध है।

ल्यूइस डयूमान्ट (Louis Dumont) एक फ्रासीसी समाजशास्त्री ने एक भिन्न आधार पर जाति व्यवस्था में असमानता की व्याख्या की है। उसकी मान्यता है कि श्रेणीक्रम, न कि असमानता, समानता का विलोम है। उसने जातिप्रथा में श्रेणीक्रम को शुद्धता और अशुद्धता के अर्थों में समझाया है, जो कि उसके अनुसार जाति व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है। उसके अनुसार 'श्रेणीक्रम' में अशुद्धता पर शुद्धता की श्रेष्ठता, अशुद्धता से शुद्धता की पृथकता, तथा श्रम विभाजन में शुद्ध व्यवसायों की अशुद्ध व्यवसायों से पृथकता निहित है। इस प्रकार वह (a) दो विरोधियों (opposites) की 'श्रेणीक्रमता' में सहअस्तित्व (co-existence) की, (b) श्रेणीक्रम के प्राकृतिक असमानताओं से या शक्ति वितरण से बिल्कुल स्वतत्र होने की, (c) जातियों के क्रम (ranking) का धार्मिक प्रकृति का होना और (d) श्रेणीक्रम घेरने वालों (encompasser) और घिरने वालों (encompassed) के बीच का सम्बन्ध होने की बात करता है। डयूमान्ट की जाति की विचारधारा और जाति व्यवस्था में श्रेणीक्रम की धारणा पश्चिमी विद्वानों (रिजले, मेयर, मेरियट, आदि) के विचारों से बिल्कुल भिन्न है जिन्होंने इसकी व्याख्या पश्चिमी अवधारणाओं के प्रकाश में की है, जैसे, व्यक्तिवाद, समतावाद, आदि। वह श्रेणीक्रम को वर्ण सिद्धान्त से जोड़ता है, जिसमें क्रमीकरण (gradation) सम्मिलित है, लेकिन शक्ति और सत्ता दोनों से भिन्न है। हिन्दू समाज में राजा का पुजारी के आधीन होना धार्मिक सस्कार से क्रम है। डयूमान्ट मानता है कि श्रेणीक्रम के घेरे में वर्ण विभाजन और जाति व्यवस्था दोनों ही हैं। इस प्रकार वह जाति के भीतर व जातियों के बीच व्यवहार और अन्तर्क्रिया में वैचारिक उन्मुखता को महत्व देता है। वह यह भी मानता है कि श्रम का परम्परागत विभाजन (यजमानी प्रथा), विवाह का नियमित होना, और सामाजिक सम्पर्क आर्थिक व सामाजिक तर्क की अपेक्षा श्रेणीक्रम या धार्मिक मूल्यों पर आधारित होते हैं।

टी.एन.मदान (T.N. Madan . "On the Nature of Caste in India" in *Contributions to Indian Sociology* No.5, 1971, देखें, उसी का लेख, Dipankar Gupta (ed), *Social Stratification*, 1997 74-83) ने डूयमान्ट के प्रस्थिति और

शक्ति के बीच असम्बद्धता (disjunction) के विचार के विपरीत प्रश्न उठाया है। वह कहता है कि प्रस्थिति (ब्राह्मण) के आगे शक्ति (राजा) की आधीनता समझदारी में कठिनाई पैदा करती है। यह दृष्टिकोण चतुराई पूर्ण है लेकिन समझ में सन्तोषप्रद नही है।

असमानता के विश्लेषण में हमारी मान्यता यह है कि उस असमानता का जो सदियों के आर्थिक ठहराव (stagnation) के कारण पैदा हुई जिससे वर्गों के बीच जीवन अवसरों में अन्तर पैदा हुआ, और उस असमानता का जो परम्परागत मूल्यों, सामाजिक प्रथाओं, और जाति प्रथा द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के कारण उत्पन्न हुई, दोनों के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय विश्लेषण की आवश्यकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से असमानता के समाजशास्त्रीय बोध (understanding) की ओर पहला कदम तब उठा जब लोगों का अस्तित्व की दशाओं में असमानताओं की ओर ध्यान जाने लगा। जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण इस असमानता को भिन्न-भिन्न जातियों में व्यक्ति के विभिन्न क्रमों में जन्म लेने से सम्बद्ध है जिसके कारण व्यक्ति की अयोग्यताओं, अभिरुचियों और आकाक्षाओं में अन्तर होता है। रुसो (Rousseau) ने राजनैतिक असमानताओं की बात कही है, जैसे धन, सम्मान और शक्ति जो कि परिपाटी पर आधारित होती है और व्यक्तियों की सहमति से अधिकृत होती है। यद्यपि लोग इन परिपाटियों (conventions) को त्यागने के लिए और नयी परिपाटिया स्थापित करने के लिए स्वतत्र होते हैं, फिर भी यह स्पष्ट नही है कि असमानताए, जिनसे मनुष्य पीडित हैं, किस प्रकार इतने लम्बे समय से चली आ रही हैं। जब हमने अपने समाज में मनुष्यों के बीच असमानताओं की तुलना अन्य समाजों से करनी शुरु की, तब से स्तरीकरण के स्वरूप और गतिशीलता की दर की तुलना करने के लिए—पहले औद्योगिक समाजों मे फिर कृषक समाजों में—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया।

परम्परागत भारतीय समाज में श्रेणीक्रम और सामाजिक असमानताओं का आधार शुद्धता और अशुद्धता का विचार ही था। आधुनिक औद्योगिक समाज में असमानताओं का आधार 'उपलब्धि' है जो "खुली और स्वच्छ प्रतिस्पर्धा" का परिणाम है। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थ बताते हैं कि हमारा समाज चार *वर्णों* और एक प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों में व्यवस्थित अनेक जातियों में विभक्त था। जब तक जातियों का सम्बन्ध धर्म से जोडा जाता रहा तब तक लोगों ने प्रस्थिति श्रेणीक्रम स्वीकार किया। यह जुडाव बीसवी शताब्दि के 1920 और 1930 की दशकों तक जारी रहा। पश्चिमी सस्कृति से सम्पर्क, शिक्षा का प्रसार और औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने लोगों के विचार बदल दिए। उन्होंने मानवरचित असमानताओं की चर्चा शुरु कर दी। देश की राजनैतिक आजादी ने उन्हें असमानताओं के प्रश्न को उठाने और सामाजिक न्याय मागने का अवसर प्रदान किया। केलकर, मण्डल, आदि जैसे आयोगों की सिफारिशों तथा जाति व समुदाय के आधार पर वोट मागने की राजनीतिक क्रियाओं ने उन्हें समानता के अवसर की माग करने तथा सामाजिक अन्याय को दूर करने की माग करने की अधिक प्रेरणा प्रदान की। इसमें आश्चर्य नहीं कि उपेक्षित जाति और वर्ग को नौकरियों, विधायिकाओं, और शैक्षिक सस्थाओं, आदि में सामाजिक न्याय के नाम पर आरक्षण मिलने लगा। स्त्रियों को भी इस न्याय के मिलने में सफलता मिली जबकि कुछ राज्यों में पचायतों में स्त्रियों के लिए 20% स्थान आरक्षित कर दिए गए और दिसम्बर, 1998 के मध्य में और फिर दिसम्बर 1999 में स्त्रियों के लिए 33% स्थान आरक्षित रखने के लिए

एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया।

लेकिन जाति, वर्ग और समुदाय के आधार पर सामाजिक असमानताओं को समाप्त करने के प्रयासों ने कुछ जातियों और समुदायों में कुण्ठा उत्पन्न कर दी है जिनका परिणाम अनेक आन्दोलनों और हिंसात्मक कार्यवाहियों के रूप में हुआ है। इस प्रकार शिक्षित व्यक्तियों और स्वार्थी राजनीतिज्ञों के विचारों की अतिवादी प्रतिक्रियाएं कुछ अधिक चिन्ताजनक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन ने विकास के मार्ग में काफी परिवर्तन कर दिए हैं। इन बुराइयों को दूर करने के लिए कई सुझाव भी दिए गए हैं। सामाजिक क्रमीकरण को कम करने पर विचारों और मूल्यों का केवल एक सामान्य स्वरूप ही सामाजिक असमानताओं को कम कर सकता है और लोगों को विभिन्न श्रेणियों का न्याय प्रदान कर सकता है।

आन्द्रे बेतेइ (Inequality Among Men, 1977 · 49) ने शक्ति (power) और असमानता के बीच सम्बन्धों की चर्चा की है। शक्ति असमानता बनाए रखती है तथा यह असमानता का रूप भी बदल देती है। जाति व्यवस्था में मनुष्यों के बीच असमानता केवल इसलिए ही स्वीकार नहीं की गई थी क्योंकि यह विश्वास था कि लोगों को विविध गुण प्रदत्त हैं, बल्कि इसलिए भी क्योंकि जातियों को शक्ति के साधन के रूप में देखा जाता था। जैसे ही ब्रिटिश लोगों द्वारा संचालित शक्ति के नवीन साधनों ने श्रेणीक्रम और जाति की शक्ति (न्यायालय द्वारा जाति पंचायतों की शक्ति छीन लेने के बाद) से अपना समर्थन वापस लिया, श्रेणीक्रम स्वयं ही टूटने लगा। वर्ग व्यवस्था में जिनके पास भूमि या सम्पत्ति होती है, वही व्यक्ति भूमिहीनों और सम्पत्तिहीनों पर हावी रहते हैं। शक्ति असमानताओं के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में दो बातों पर ध्यान दिया जाता है . एक, दूसरों पर कुछ लोगों का शक्ति वर्चस्व और दो, उनके पास नियमों की व्याख्या करने, परिवर्तन करने और बनाने की शक्ति जिनसे उनके सहित, सभी बँध जाते हैं। साथ ही, इस विश्लेषण में शक्ति का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति या समूह समाज के हर क्षेत्र में समान रूप से शक्ति नहीं रखता। हम यह भी पूछते हैं कि कहां तक वे विभिन्न व्यक्ति जो एक या अनेक क्षेत्रों में शक्ति रखते हैं और उसका प्रयोग करते हैं, एक सम्बद्ध (cohesive) समूह के रूप में रहते हैं जो शेष समाज में स्पष्ट रूप से चिन्हित होता है। बिहार में शक्ति की असमानता ने जाति सेना और जाति संहार को जन्म दिया है।

प्रस्थिति और शक्ति में असमानताओं की चर्चा के बाद सामाजिक अस्तित्व (existence) की सामान्य दशाओं (general conditions) में असमानताओं का सन्दर्भ भी आवश्यक है। बहुत बड़ी संख्या में लोग असमानता को वर्गों में समाज के विभाजन और धन के असमान वितरण के सन्दर्भ में देखते हैं। औद्योगिक समाज का दो श्रेणियों—पूंजीवादी और समाजवादी—में विभाजन का जन्म सामाजिक वर्ग से ही हुआ है। पूंजीवादी समाज सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के माध्यम से संगठित होते हैं और इन समाजों में वर्ग की उपस्थिति को मुक्त रूप से स्वीकारा जाता है, जबकि समाजवादी समाजों में इसे सशर्त स्वीकारा जाता है। क्या समाजवादी समाजों में निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से वर्ग अदृश्य हो गए हैं ? आन्द्रे बेतेइ (वही . 75) मानता है कि क्योंकि रूस और अन्य समाजवादी देशों में अभी भी असमानताएं विद्यमान हैं तो यह निश्चित है कि असमानता

से कहीं अधिक विस्तृत धारणा है।

प्रस्थिति, शक्ति और आय के सदर्भ में सामाजिक असमानताओं की बात करते हुए एक प्रश्न उठाया जा सकता है क्या समतावादी (egalitarian) समाज सम्भव है ? क्या यह अतीत में भी था ? क्या भविष्य में इसका उदय हो सकता है ? यद्यपि हमारे सभी आधुनिक समाज समानता के वायदे पर बने हैं, फिर भी समतावादी समाज की सम्भावना प्रतीत नही होती। बेतेइ ने (वही 153) यह भी कहा है कि जब तक मूल्याकन और सगठन सामाजिक जीवन के अभिन्न अग बने रहगे, असमानता की समस्या का अस्तित्व भी जारी रहेगा। हम समतावादी समाज को दो स्तरों पर सोच सकते हैं एक, जिसमें विभिन्न स्थितियों में एक ही शक्ति और प्रतिष्ठा हो, और दो, जिसमें सभी सदस्य शक्ति की ओर प्रतिष्ठा की सभी स्थितियों का लाभ लेते हों। लगभग सभी लोगों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि भविष्य में ऐसे समाजों के होने की कल्पना मात्र भी भ्रमात्मक है।

जाति ओर राजनीति (Caste and Politics)

जाति और राजनीति के बीच सम्बन्ध का दो स्तर पर विश्लेषण किया गया है · एक, जाति राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करती है, और दो, राजनीति किस प्रकार जाति को प्रभावित करती है। सर्वप्रथम हम इस सम्बन्ध को राजनीति में जाति की जागृति (चेतना) के अर्थ में लेंगे।

चेतना (The Awareness)

राजनीति में भिन्न जातियों की चेतना और रुचि को चार कारकों के प्रकाश में अध्ययन किया जा सकता है राजनीति में जाति की रुचि, जाति का राजनैतिक ज्ञान व राजनैतिक चेतना राजनैतिक दलों से जातियों की पहचान, और राजनैतिक मामलों पर जातियों का प्रभाव। इन चारों पक्षों का अध्ययन अनील भट्ट ने 1970 के दशक में चार राज्यों (उत्तर प्रदेश, गुजरात पश्चिमी बगाल, और आन्ध्र प्रदेश) में विभिन्न पृष्ठभूमियों के उच्च, मध्यम व निम्न जातियों के 1713 व्यक्तियों पर किया। सभी जातियों को एक साथ लेने पर राजनीतिक रूचि क विश्लेषण करते हुए उसने पाया कि लगभग 25 प्रतिशत जातियों की राजनीति में बहुल रूचि 45 प्रतिशत की सामान्य रुचि, और 30 प्रतिशत की कोई रूचि नही थी। देश में प्रमुख राजनीतिक समस्याओं और राजनीतिक आरोपों की चेतना के सम्बन्ध में उसने पाया वि मध्यम और निम्न जातियों की अपेक्षा उच्च जातियों में अधिक रूचि थी। जाति प्रस्थिति औ राजनीतिक दलों के साथ पहचान के बीच उसने कोई सम्बन्ध नहीं पाया। अत में उसने पाय कि कुछ जातिया ही राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशील हैं तथा केवल कुछ ही गावों में मध्यम और निम्न जातियों का प्रभुत्व है।

सम्बन्ध (The Relationship)

रजनी कोठारी (1970) ने जाति और राजनीति के बीच सम्बन्धों का इस विषय का विश्लेषण करके परीक्षण किया कि जातियों के वोटों के कारण राजनीति व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडत

है। उसने पाया कि तीन कारक—शिक्षा, सरकारी सरक्षण, और धीरे-धीरे विस्तृत मताधिकार (18-21 वर्ष के युवा भी मतदान प्रक्रिया मे शामिल है)। जाति व्यवस्था में प्रवेश कर गए हैं जिसके कारण इनसे राजनैतिक व्यवस्था प्रभावित हुई है। नये नेतृत्व तथा नयी सस्थाओं द्वारा प्रदत शक्ति के पद, प्रशासनिक सरक्षण और आर्थिक अवसरों ने जातियों को राजनीति में घसीटा। जाति के राजनीति में सलग्न होने के दो परिणाम हुए - जाति व्यवस्था ने राजनैतिक गतिशीलता के लिए नेतृत्व को सरचनात्मक और वैचारिक आधार उपलब्ध कराया और दूसरा नेतृत्व स्थानीय राय को छूट देने और आर्थिक तथा राजनैतिक उद्देश्यों के लिए जातियों को सगठित करने के लिए बाध्य हो गया।

राजनीति में जाति के प्रयोग का विश्लेषण रजनी कोठारी (*Caste in Indian Politics*, 1973) ने दो अवस्थाओं (stages) में किया। प्रथम अवस्था में बुद्धिजीवी और उच्चताबद्ध (high entrenched) जातियों (जैसे, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, गुजरात में पट्टीदार, कर्नाटक में लिंगायत, बिहार में भूमिहर, और राजस्थान मे राजपूत) और ऊची आरोही (high asendant) जातियों (जैसे, बिहार में कायस्थ, राजस्थान में जाट) के बीच बैर भाव (antagonism) तथा क्रोध या विरोध (resentment) सम्मिलित है। दूसरी अवस्था में स्पर्धारत (competing) जातियों (उच्चताबद्ध व आरोही) के भीतर ही गुटबाजी और विखण्डीकरण (fragmentation) तथा बहुजातीय और बहु-गुटीय गठजोड (alignments) का विकास सम्मिलित है। निम्न जातियों को भी उच्च जाति के नेताओं का समर्थन करने और एक गुट को मजबूत करने के लिए लाया जाता है। प्रथम अवस्था में जाति के केवल तीन अवयव (components) शामिल हैं . जाति की शक्ति सरचना, आर्थिक लाभों का वितरण, और जाति चेतना। लेकिन दूसरी अवस्था में जाति के अन्य अवयव जैसे जाति चेतना, असामी (client) निष्ठा, आदि शामिल हैं। कोठारी ने प्रथम अवस्था में तीन उप-अवस्थाए बताई हैं। पहली उप-अवस्था में पहले तो शक्ति और लाभों के लिए सघर्ष उच्चताबद्ध जातियों (entrenched castes) (अथवा उन जातियों तक जो आर्थिक और राजनैतिक रूप से तो अत्यधिक प्रभाव डालती थी लेकिन सख्या की दृष्टि से नही) तक ही सीमित रहता है। दूसरी उप-अवस्था में आरोहित (ascendant) जातिया (अर्थात् असन्तुष्ट व उच्च भूमिका आकाक्षी जातिया) भी शक्ति के लिए स्पर्धा करना शुरु कर देती हैं। तीसरी उप-अवस्था में उच्चताबद्ध व आरोहित जातियों के बीच न केवल प्रतिस्पर्धा होती है (शक्ति और लाभों के लिए) बल्कि इन जातियों के भीतर भी होती है। दूसरी अवस्था में, जिसे गुटबाजी और विखण्डनबाजी की अवस्था भी कहा जाता है, नेतृत्व में दरार पडने लगती है तथा बहु-जातीय एव बहु-गुटीय गठजोड भी हो जाते हैं। इससे राजनीति में विरोधी जाति नेताओं की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। ये नेता जनता को भी शामिल कर लेते हैं क्योंकि वे (नेता) विस्तृत क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। इस अवस्था में नेतृत्व में भी परिवर्तन होता है।

कोठारी ने जाति और राजनीति के बीच सम्बन्ध पर तीसरी अवस्था की बात भी कही है। प्रथम अवस्था में जब उच्चताबद्ध (entrenched) जातिया पहले राजनीतिकृत होती हैं और आरोहित उच्चता प्राप्त (ascendant) जातिया अपेक्षाकृत उपेक्षा के भाव से क्रोध अभिव्यक्त करती हैं (जैसे महाराष्ट्र में ब्राह्मनों की उच्चताबद्ध जातिया और मराठों की उच्चता प्राप्त जातिया), दूसरी अवस्था में स्पर्धी जातियों के भीतर गुटबाजी का उदय होने लगता है

और निम्न जातियों को भी समर्थन के लिए लाया जाता है और तीसरी अवस्था में जाति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की पहचान महत्वपूर्ण हो जाती है। यह बढती शिक्षा, शहरीकरण और आधुनिक उपलब्धि उन्मुखता को अपनाने से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार बहु-आयामी (cross-cutting) निष्ठाओं का उदय होता है।

जातियों के विलय की प्रक्रिया डी एम के पार्टी तमिलनाडु और महाराष्ट्र में रिपब्लीकन पार्टी (Republican Party) ने दर्शायी है (महार और अन्य अस्पृश्य जातियों की)। डी एम के पार्टी राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली है लेकिन दूसरी ने अभी अधिक शक्ति प्राप्त नही की है।

इन दिनों ग्राम स्तर पर पचायतों में चुनाव अक्सर एक दूसरे के वोट काटने (cross-cutting) पर आधारित होकर लडे जाते हैं। अब बहुत बडी सख्या में भूमिहीन जातिया वोट शक्ति रखती हैं, अत वे परम्परागत शक्तिशाली जाति को चुनौती देती हैं जिसके पास भूमि नियत्रण के कारण शक्ति होती है। प्रबल (dominant) जातियाँ तथा उच्चता प्राप्त (ascendant) जातिया अक्सर क्षेत्र के प्रमुख राजनैतिक दलों से बँधी होती हैं, और दलीय सगठन के माध्यम से ही उर्ध्व (upward) गतिशीलता होती रहती है। अत आज इस प्रकार एक ओर जाति केवल बाह्य राजनैतिक समर्थन आधार (exclusive political support base) खो देती है और दूसरी ओर यह राजनीति को अत्यधिक प्रभावित करती है।

जाति और राजनीति के बीच वर्तमान सम्बन्धों से कोठारी चार निष्कर्ष निकलता है

(1) राजनीति में नये अभिजात समूह का उदय हुआ है जो विभिन्न जातियों से आया है लेकिन एक सामान्य धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण में भाग लेता है और कुछ मूल्यों के सन्दर्भ में समरस (homogeneous) भी है।

(2) जातियों ने नवीन सगठनात्मक स्वरूप धारण कर लिया है। इस प्रकार (i) अब विविध स्तरों पर जाति सघ कार्य कर रहे हैं (विश्वविद्यालयों, होस्टलों, क्लबों, सरकारी कार्यालयों आदि में) (ii) जाति सम्मेलन विस्तृत आधार वाले हो गए हैं (iii) जाति महासघों का उदय हुआ है।

(3) जातियों ने गुटीय आधार पर प्रभावित करना शुरु कर दिया है। ये गुट न केवल राजनैतिक समूहों को विभाजित करते हैं बल्कि सामाजिक समूहों को भी।

(4) जाति परिचयों (identifications) ने चुनाव व्यवस्था को एक नयी सार्थकता (relevance) प्रदान की है। न केवल बडी जातिया राजनीति को प्रभावित करती हैं बल्कि छोटी जातिया भी वोट मागते समय महत्वपूर्ण हो गई हैं।

जाति और मतदान व्यवहार (Caste and Voting Behaviour)

मतदान जातियों को अपना प्रभाव दर्शाने का एक अवसर प्रदान करता है। रजनी कोठारी (1970), लिण्डजे गार्डनर, मिल्लर (1950), की (Key, 1955), कैम्पबेल (1960) और नारमन पामर (Norman Palmer, 1976) जाति को मतदान निर्धारक मानते हैं। जिस प्रकार ब्रिटेन में मतदान वर्ग-निर्धारक है, अमरीका में प्रजाति (race) निर्धारक है, भारत में

यह जाति-निर्धारक है। जो जातियां श्रेणीक्रम में सबसे नीचे हैं उनके लिए मताधिकार एक शक्तिशाली क्रियाकलाप का कार्य करता है। जाति का सामाजिक और आर्थिक स्तर जितना निम्न होगा, उनके वोट का महत्व उतना ही अधिक होगा। कोठारी, मेयर, वर्मा, भामश्री, रामाशिरे राऊ, कोहन, आदि के अनेक अध्ययनों ने दर्शाया है कि जातियां अपना प्रभाव डालती हैं और उन्होंने सौदेबाजी की शक्ति भी विकसित कर ली है क्योंकि उनके पास मतदान की शक्ति है। आन्द्रे बेतेइ (देखें, Kothari : 1973-21) ने भी कहा है कि जाति की निष्ठाओं का मतदान में शोषण किया जाता है। जाति को काटते हुए नये गठबन्धन भी बनाए जाते हैं। रुडाल्फ (Rudolph) का विचार है कि जाति संघों ने जाति को एक नयी स्फूर्ति प्रदान की है और लोकतन्त्र ने भारत में जाति को नयी महत्वपूर्ण भूमिका के योग्य बनाया है। डी.एल.सेठ (D.L. Seth, *Economic and Political Weekly*, January 1970 147) ने 1967 में एक अध्ययन किया जिसमें उसने भारत के भिन्न-भिन्न चुनाव क्षेत्रों के 2,287 व्यक्तियों का साक्षात्कार किया और पाया कि विभिन्न कारकों में से जाति नेताओं की सलाह पर मतदान व्यवहार 1.0 प्रतिशत मामलों में, परिवार के हिसाब से 46 प्रतिशत मामलों में, और मतदाताओं के अपने निर्णय से 49 प्रतिशत मामलों में निर्धारित हुआ था। 4.0 प्रतिशत मामलों में निर्धारक कारक का पता नही लग सका। उसी वर्ष (1967) पूना में 1000 मतदाताओं में संचालित अध्ययन ने दर्शाया कि जाति ने 58 प्रतिशत मामलों में प्रभावित किया। 1996, 1998 और 1999 के लोक सभा चुनावों के साथ ही दिसम्बर, 1998 में हुए चार राज्यों में और फरवरी 2000 में हुए चार राज्यों में विधान सभा चुनावों में जाति मतदान के महत्वपूर्ण कारकों में सिद्ध हुई है। परन्तु हैरोल्ड गूल्ड (*Economic and Political Weekly*, August 1977) इस विचार का है कि जाति ने भारत में राजनीति का निर्धारक कारक होना कम कर दिया है।

राजनैतिक अभिजन, राजनैतिक दल और जाति गतिशीलता
(Political Elite, Political Parties and Caste Mobilisation)

जाति 'राजनैतिक अभिजन' प्रस्थिति का एक निर्धारक कारक बन गई है। सिरसीकर, सच्चिदानन्द, राम आहूजा, एस.के लाल, आदि विद्वानों द्वारा 'राजनैतिक अभिजन' पर किए गए सभी अध्ययनों ने संकेत दिया है कि अभिजन वर्ग के उदय में उच्च जातियों को मध्यम और निम्न जातियों पर अधिक लाभ मिलता है। आजादी से पूर्व सामान्यत उच्च जाति समूह ही आजादी के संघर्ष में रत कांग्रेस पार्टी में राजनीतिक मंच के केन्द्रीय स्थान में थे, लेकिन आजादी के बाद मध्यम और निम्न जातियों के व्यक्ति भी राजनैतिक शक्ति क्षेत्र में प्रवेश कर गए। आरक्षण नीति ने निम्न जातियों के व्यक्तियों को नेता के रूप में उभरने के योग्य बनाया जबकि मध्यम जातियों के अभिजन अपनी विकसित शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति के कारण उभर कर आए। इस प्रकार जाति प्रथा ने, जिसका केवल संस्कार सम्बन्धी धार्मिक कार्य था (व्यवसाय और सामाजिक प्रस्थिति निर्धारण सहित), लोगों के राजनैतिक व्यवहार निर्धारण को संचालित करने की भूमिका भी अपना ली। गावों में भी जाति ने संरचना के रूप में उभरने में महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है। कार्यालयों, [illegible] सचिवालयों आदि में जैन लॉबी, [illegible] ब्राह्मण लाबी, यादव लॉबी,

रेड्डी लॉबी, आदि के विषय में सुनते हैं। यदि कार्यकर्ता सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में जातिवादी के रूप में कार्य करने लगें तो राजनैतिक जीवन में वे कैसे गैर-जातिवादी के रूप में कार्य कर सकते हैं ? हमारे राजनैतिक अभिजन धर्म निरपेक्षता की बात कर सकते हैं और जाति तथा जातिवादी राजनीति की निन्दा भी कर सकते हैं, किन्तु व्यवहार में वे जाति के दबाव में ही काम करते हैं, क्योंकि नेता के रूप में उनकी अपने उदय की पृष्ठभूमि जाति की ही होती है।

राजनैतिक दल भी जाति समर्थन को क्रियाशील बनाते हैं। वास्तव में आज (2000) जनता को गतिशील बनाने की समस्याए वही है जो आज से चार दशक पूर्व थीं। जिस प्रकार 1930 तथा 1940 के दशकों में समाज सुधारक विश्वास करते थे कि जन जागृति के बिना राजनैतिक क्रियाकलापों के लिए उनका सगठन सम्भव नही था, उसी प्रकार आज भी राजनीतिज्ञ जाति के नेताओं से समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और साथ ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनैतिक साधनों को अपने लाभ के लिए प्रयोग में लाते हैं। कुछ विद्वानों ने गत तीन या चार दशकों में विविध राज्यों में राजनैतिक दलों द्वारा जातियों की गतिशीलता का अध्ययन किया था। उदाहरण के लिए रिचर्ड सीसन (Richard Sission) ने (देखें, Kothari, *Caste in Indian Politics* 1973 175-227) जाति समर्थन के सन्दर्भ में 1960 के दशक में राजस्थान में एक जिले (नागौर) में काग्रेस पार्टी के विकास का विश्लेषण किया, रामाशिरे राय (Ramashray Roy, see Kothari, op cit . 228-255) ने 1960 के दशक में बिहार में जातीय आधार पर एक राजनैतिक पार्टी में प्रवेश का अध्ययन किया, आन्द्रे बेतेइ (देखें, Kothari, Op Cit . 259-297) ने 1970 के दशक मे तमिलनाडु में जाति प्रथा के माध्यम से राजनैतिक दलों की शक्तियों में परिवर्तन का अध्ययन किया, अनिल भट्ट (देखें, Kothari, Op cit 299-339) ने गुजरात मे जाति की राजनैतिक गतिशीलता का अध्ययन किया, डोनाल्ड रोजन्थाल (Doneld Rosenthal) ने दो नगरों (उत्तर प्रदेश में आगरा व महाराष्ट्र में पूना) तथा हैरोल्ड गूल्ड ने 1990 में उत्तर प्रदेश में जातियों की राजनैतिक गतिशीलता का अध्ययन किया। इन सभी अध्ययनों ने दर्शाया कि राजनैतिक दल अपनी कार्यशीलता के लिए जातियों को गतिशील बनाते हैं और चुनाव जीतने में उनका समर्थन लेते हैं।

राजनीति मे जाति के प्रयोग के विषय मे लोगो की धारणा
(People's Perception in the Use of Caste in Politics)

राजनीति में जातियों के प्रयोग के विषय में लोग क्या सोचते हैं ? विचारों के आधार पर लोगों को हम तीन समूहों में वर्गीकृत कर सकते हैं एक, वे जो इस भूमिका पर अफसोस करते हैं और सोचते हैं कि राजनीति जाति और जातिवाद से मुक्त रहनी चाहिए, दूसरे, वे जो सोचते हैं कि राजनीतिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने की स्वतत्र क्षमता नहीं रखते, और तीसरे वे जो जाति या राजनीति या दोनों की ही स्वायत्तता (autonomy) का दावा करते हैं। रजनी कोठारी (1973 -4-7) प्रथम दृष्टिकोण से सहमत नही हैं। वह कहते हैं कि राजनीति कुछ उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शक्ति अर्जित करने के लिए होती है और

शक्ति जाति के समर्थन द्वारा स्थिति मजबूत करके प्राप्त की जाती है। भारत में क्योंकि सामाजिक व्यवस्था जाति सरचना के चारों ओर सगठित है इसलिए जाति और राजनीति कभी भी पृथक नही की जा सकती। अत: राजनीति में जातिवाद वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है। दूसरे विचार के सन्दर्भ में राजनीति को स्थिति को ऊँचा उठाने या मजबूत करने के लिए एक साधन के रूप में माना जाता है। इस आधार पर राजनीति समाज की संरचना को प्रभाविव नही करती। रजनी कोठारी ने इस विचार की भी आलोचना की है। वे कहते हैं कि जाति और राजनीति का एक दूसरे पर हमेशा प्रभाव रहता है। तीसरे दृष्टिकोण में प्रगतिशील अर्थशास्त्री, भारतशास्त्री तथा राजनैतिक व मानवशास्त्री शामिल हैं। वे जाति को सुरक्षित रखना चाहते है तथा जाति को राजनीति तथा राजनीति को जाति से मुक्त रखना चाहते हैं। कोठारी ने इस दृष्टिकोण की भी आलोचना की है और कहा है कि ये सभी विद्वान यह देखने में असमर्थ रहे हैं कि राजनैतिक व्यवस्था और जाति व्यवस्था के बीच कभी भी पूर्ण ध्रुवीकरण नही रहा। ए.आर.देसाई, कापडिया, घूर्ये का भी यही विचार था। राजनीति ने जाति का प्रयोग किया है और सामाजिक-राजनैतिक उद्देश्यों के लिए यह प्रयोग होता रहेगा।

3

अनुसूचित जातियाँ, अस्पृश्यता और पिछड़ा वर्ग

(Scheduled Castes, Untouchability and Backward Classes)

अनुसूचित जातियाँ (Scheduled Castes)

जाति व्यवस्था में पायी जाने वाली असमानता अपनी चरम सीमा को उन पूर्णरूपेण पृथक (segregated) जातियों के विकास में प्रदर्शित करती है, जिन्हें 'अस्पृश्य' जातियाँ कहा जाता है। अनुसूचित जातियाँ, जो 'अस्पृश्यों' की बहुसख्या है, तकनीकी रूप से चार वर्ण योजना से बाहर है। इन जातियों को अधिकत सामाजिक व सास्कारिक अशुद्धि (impurity) से परिपूर्ण माना जाता था, तथा उनके धन्धे नियामक श्रेणीक्रम (normative hierarchy) में निम्नतम माने जाते थे। इससे शहरों और गाँवों में उनके पृथक आवास की परम्परा को बल मिला। अनुसूचित जातियों का कोई समरूप स्तृत (homogeneous stratum) बना हुआ नही था। 1935 में 'अनुसूचित' बनने से पूर्व इन जातियों को 'बाह्य' (exterior) जातिया, पतित (depressed) जातिया, भग्न व्यक्ति (broken men), और विजातीय (outcastes) कहा जाता था। गान्धी जी ने इन्हें 'हरिजन' (ईश्वर की सन्तान) की सज्ञा दी है। 1931 की जनगणना में 'बाह्य' (exterior) जातियों की पहचान के लिए कुछ सामाजिक आधार प्रयोग किया गया। इसी आधार प्रमाप पर 1935 में इन जातियों की 'अनुसूचित जातियों' के रूप मे सूचियाँ बनाई गई। इनमें से कुछ आधार प्रमाप (criteria) थे क्या ब्राह्मण इनके लिए पुरोहित का काम करते हैं, क्या नाई, दर्जी आदि की सेवाए उन्हें उपलब्ध होती है, क्या वे जातीय हिन्दुओं को पानी पिला सकते हैं, क्या वे हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश कर सकते हैं, क्या वे सार्वजनिक सुविधाओं—जैसे सडकों, कुँओं, स्कूलों आदि—का प्रयोग कर सकते हैं, क्या उनके स्पर्श या निकटता से उच्च जातियाँ अशुद्ध (pollute) होती हैं, क्या सामान्य व्यवहार में उच्च जाति के लोगों द्वारा उन्हें समान समझा जाता है, क्या वे घृणित पेशे में सलग्न हैं, आदि। 1935 में सभी अनुसूचित 227 जातियों में 5 करोड 10 लाख की जनसख्या सहित अनुसूची बनाई गई। 1991 में यह सख्या बढकर 13 करोड 82 लाख हो गई जो कि 1991 मे देश की कुल जनसख्या का 16 3 प्रतिशत था। 1999 में उनकी जनसख्या 14 करोड से कुछ अधिक अनुमानित थी।

अनुसूचित जातियों के विरुद्ध निषेध (Prohibitions Against Scheduled Castes)

प्रारम्भिक काल से ही आजकल 'दलित' कहे जाने वाली अनुसूचित जातियों पर अनेक कठोर प्रतिबन्ध लगाए जाते थे, जैसे, उन्हें कमीज व बनियान पहनना मना था, उन्हें आभूषण, चप्पलें, जूते, और छाते का प्रयोग वर्जित था, घरों में केवल मिट्टी के बर्तन प्रयोग कर सकते थे, सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद शहर में प्रवेश वर्जित था, और उन्हें उच्च जाति हिन्दुओं से कुछ कदमों की दूरी बनाए रखनी पड़ती थी। इस प्रकार उन्हें पूर्णरूपेण बाँध दिया गया था। अस्पृश्यता के वेश में जो अत्याचार उन पर किए जाते थे, वे आज भी जारी हैं। राज्य द्वारा सुधारात्मक उपायों तथा कल्याण सेवाओं के बावजूद समाज की अदृश्य शक्तिया सामाजिक तोड़-फोड़ करती ही रहती हैं। उदाहरणार्थ, ऐसे मामलों की रिपोर्ट आती है जहा यद्यपि दलित विद्यालय में तो दाखिल किए जाते हैं लेकिन एक ही कक्षा में उन्हें एक कोने में पृथक बैन्चों पर बैठा कर पृथक कर दिया जाता है। यदि कार्यालय में सामूहिक भोज उच्च जातियों व अनुसूचित जाति के कर्मचारियों के लिए आयोजित किया जाता है तब ऐसे अवसरों पर उच्च जातियों के लोग 'विशेष अवसर' के नाम पर निम्न जाति के लोगों को पहले भोजन कराते हैं और तब उन्हें आराम करने के लिए कह कर स्वय अलग से भोजन करते हैं। ऐसे मामले भी हैं जहा छात्रावासों के निम्न कर्मचारी उच्च वर्ण हिन्दू छात्रों के बर्तन साफ करते हैं, लेकिन अनुसूचित जाति के छात्रों से अपने बर्तन स्वय साफ करने को कहा जाता है। लगभग पाच वर्ष पूर्व जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में सम्मिलित भोजन गृह में अनुसूचित छात्रों द्वारा भोजन के मामले को लेकर हड़ताल हुई थी। 1998 में, (सावले नाम के) एक छात्र को महाराष्ट्र में (परवान गाँव में) वर्षा के दौरान एक मन्दिर में शरण लेने के कारण मार दिया गया। अनुसूचित जातियों के लोग कई राज्यों में कई गावों में अपनी महिलाओं का शोषण और अपमान सहन करते हैं। सिन्हा और सिन्हा (Sinha and Sinha) ने 1966 में पटना विश्वविद्यालय के 200 छात्रों के 'हरिजनों के प्रति दृष्टिकोण' पर (*Social Forces*, 1967) 69 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने हरिजनों को पिछड़ा हुआ, 56 प्रतिशत ने चालाक व मक्कार, 55 प्रतिशत ने असस्कृत, 54 प्रतिशत ने मूर्ख, 52 प्रतिशत ने गन्दा, 52 प्रतिशत ने शराबी, 49 प्रतिशत ने कुरूप (ugly) बताया। यह केवल यह इंगित करता है कि 35 वर्ष पूर्व अनुसूचित जातियों की क्या छवि समाज में प्रचलित थी।

अनुसूचित जातियों के विरुद्ध प्रताड़नाएँ (Atrocities Against Scheduled Castes)

अनुसूचित जातियों के प्रति अत्याचारों और नृशसताओं में वृद्धि हो रही है। प्रति दो घन्टे में एक दलित की पिटाई होती है, प्रतिदिन तीन दलित महिलाए बलात्कार की शिकार होती हैं, दो दलितों का कत्ल, और दो दलित घर जला दिए जाते हैं (*Crime in India, 1998* : 184) अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों में वृद्धि इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाती है कि 1955 में पुलिस द्वारा पजीकृत 180 अपराधी मामले 1991 में 18,336, 1995 में 32,990 और 1998 में 25,638 हो गए (वही. 181)। अनुसूचित जाति के लोगों की जमीन हड़प कर, उन्हें कम मजदूरी देकर और उन्हें बन्धुआ मजदूर बनाकर उनका शोषण किया जाता है।

अनुसूचित जातियों के शोषण ने जाति सघर्षों तथा बिहार में विशेष रूप से जाति सेनाओं को जन्म दिया है। कुर्मियों की भूमि सेना, यादवों की लोक सेना, भूमिहारों की रणवीर सेना, और ब्रम्हर्षि सेना, ब्राह्मणों की गगा सेना, और राजपूतों की कुँवर सेना विद्यमान है। माओवादी समुदाय भी हैं जो कई जिलों में प्रभावी हैं। एमसीसी केडर अधिकाशत यादवों, कोरियों, और पासवानों के हैं। वे क्योंकि सत्ता दल का समर्थन करते हैं अत उन्हें उनका सरक्षण प्राप्त है। बिहार में जून 1971 और जून 2000 के बीच जाति के आधार पर 27 नरसहार हुए हैं जिन में से 13 बार दलितो के विरुद्ध नरसहार हुए थे। केवल जुलाई 1996 और जून 2000 के मध्य ही आठ बार रणवीर सेना द्वारा नरसहार हुए थे जिन में दिसम्बर 1997 में सबमे अधिक 61 दलित मारे गये थे और उसके बाद जून 2000 में 35, मार्च 1999 में 34 और शेष में 6 और 22 के बीच दलित मारे गये थे (द हिन्दुस्तान टाइम्स, जून 13, 2000)। इन हत्याओं का कारण क्षेत्र के भूमिहीन दलित किसानों तथा सवर्ण भूस्वामियों के बीच लम्बी बैर भावना थी। इस सकट को हल करने में राजनैतिक इच्छा शक्ति की कमी ही बिहार के लिए अभिशाप बन गई है।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर राष्ट्रीय आयोग भी दलितों के विरुद्ध बढते अपराधों की रिपोर्ट देता रहा है। केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिए सभी राज्यों को निर्देश जारी किये हैं। इस सम्बन्ध में राज्यों द्वारा किए गए कुछ उपाय इस प्रकार है

- अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित निम्न मजदूरी आदि विवादों की जानकारी राज्य सरकारों को देने के लिए व्यवस्था को चुस्त बनाना।
- अनुसूचित जातियों को उनकी भूमि या उन्हें आवटित भूमि का स्वामित्व दिलाने में सहायता करना।
- अनुसूचित जातियों की भूमि में अपराधिक घुसपैठ के मामलों में पुलिस अधिकारियों को विशेष रूप से निर्देश देना और इन जातियों के विरुद्ध अपराधिक मामलों को विशेष मामलों का दर्जा देना तथा उनके मुकदमे और समाधान का तुरन्त प्रबन्ध करना।
- अनुसूचित जाति कृषि मजदूरों को वैधानिक न्यूनतम मजदूरी दिलवाने मे मदद करना।
- अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित मामलों को शीघ्र निपटाने के लिए विशेष अदालतें स्थापित करना।
- अनुसूचित जातियों के विरुद्ध किए गए अपराधी मामलों को ठीक से पजीकृत करने, छानबीन करने, तथा शीघ्र अभियोग चलाने को सुनिश्चित करने के लिए डी आई जी पुलिस के आधीन विशेष कक्ष स्थापित करना।
- अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए विविध पक्षों की देखभाल के लिए राज्य स्तरीय समितियाँ स्थापित करना।

श्रीनिवास ने कहा है कि दलितों को लम्बे समय तक शोषण किए जाने के कारण वे अपनी अलग पहचान बनाने के लिए जागृत हो गए, उनका आत्म सम्मान जागा, उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ किए तथा उनमें सस्कृतिकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। जागृति एव

आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि : (i) देश के विभिन्न भागों में अनुसूचित जातियों का राजनैतिक समूह के रूप में उदय हुआ, (ii) दलितों की सामाजिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने के लिए कदम उठाने के लिए राष्ट्रीय नेतृत्व पर दबाव पड़ने लगा, (iii) संवैधानिक चेतना संरक्षण की माँग होने लगी, (iv) विविध पृथक्कारी (alienative) आन्दोलन (अम्बेडकर द्वारा) तथा एकता सूचक (गान्धी द्वारा) आन्दोलन प्रारम्भ हुए, (v) दलितों द्वारा प्रस्थिति गतिशीलता के प्रयास हुए। पृथक्कारी आन्दोलनों ने कई उपजातियों का एक जाति समूह में विलय द्वारा दलितों के समस्तर-स्तरीय (horizontal level) जाति एकता को बढ़ावा दिया, उदाहरणार्थ, तमिलनाडु में वन्य कुल क्षत्रिय संघम, महाराष्ट्र में महारों की 52 उप-जातियों का एक समुदाय बनाना, उत्तर प्रदेश के चमारों और जाटवों का संघम, और उड़ीसा में पान्स का संगठन बनाना (देखें, Rudolph and Rudolph : 1965, Sunanda Patwardhan : 1968, Lynch : 1968, Bailey 1963)।

सुधारात्मक उपाय (Ameliorative Measures)

दलितों की सामाजिक प्रस्थिति से असन्तुष्ट होकर अम्बेडकर ने 1956 में बौद्धधर्म में सामूहिक परिवर्तन के लिए एक मुहिम चलाई। 1957 में उन्होंने दलितों की राजनैतिक शाखा संगठित की जो रिपब्लिकन पार्टी (Republican Party) के नाम से जानी जाती है। दलितों के ईसाई धर्म में परिवर्तन के भी अनेक मामले हैं। धर्म परिवर्तन के बाद क्योंकि अनुसूचित जातियों को सरकार द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ बन्द हो गए, रिपब्लिकन पार्टी ने 1964 में नव-बौद्धों (Neo-Buddhists) दलितों को विशेषाधिकार पुन दिलाने के लिए आन्दोलन चलाया। गान्धी जी ने हरिजन कल्याण का बीड़ा 1924 में उठाया था। 1922 में बनाये गये रचनात्मक कार्य के बारदोली कार्यक्रम में हरिजनों की सामाजिक निर्योग्यताओं को दूर करने के लिए हरिजन सेवक संघ का संगठन किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के संविधान ने अनुसूचित जातियों और जनजातियों को संरक्षण का प्रावधान किया। उठाए गए महत्वपूर्ण कदम यह हैं : (i) अस्पृश्यता निवारण (ii) सामाजिक अन्याय और विविध प्रकार के शोषणों से सुरक्षा (iii) सार्वजनिक प्रकृति के धार्मिक संस्थानों को उनके लिए खोलना (iv) कुँओं, तालाबों, दुकानों, रेस्टोरेन्ट तथा सड़कों आदि तक उनकी पहुँच पर प्रतिबन्धों को समाप्त करना (v) उन्हें मुक्त रूप से घूमने तथा सम्पत्ति रखने का अधिकार देना, (vi) उन्हें शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार देना तथा राज्य कोष से सहायता प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करना, (vii) राज्य सरकारों को सरकारी नौकरियों में उन्हें आरक्षण देने की अनुमति (viii) लोक सभा व विधान सभाओं में उन्हें विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान करना, (ix) उनके हितों की रक्षा करना तथा उनके कल्याण को प्रोत्साहन करने के लिए पृथक विभाग तथा सलाहकार समितियाँ स्थापित करना, (x) बलात् मजदूरी पर प्रतिबन्ध, और (xi) अनुसूचित क्षेत्रों के नियन्त्रण और प्रशासन के लिए विशेष प्रावधान करना।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम, 1980 में निम्नलिखित दण्डनीय अपराध वर्णित हैं :

(1) किसी एससी/एमटी (Scheduled caste/Scheduled tribe) व्यक्ति को घृणित पदार्थ खाने को बाध्य करना।
(2) एससी/एसटी व्यक्ति के घर में या पडौस में कूडा करकट, मृत पशु, आदि फेंकना जिससे उसका अपमान हो या हानि हो या वह क्रोधित हो जाये।
(3) एससी/एसटी व्यक्ति के शरीर से बलात् वस्त्र उतारना और उसे नग्न करना या उसका मुँह काला करके उसके सार्वजनिक स्थानों पर घुमाना।
(4) एससी/एसटी व्यक्ति के स्वामित्व वाली भूमि या उसे आवटित भूमि पर बलात् कब्जा करना या उस पर खेती करना।
(5) किसी एससी/एसटी व्यक्ति की भूमि/सम्पत्ति हडपना।
(6) एससी/एसटी व्यक्ति को बेगार के लिए बाध्य करना या बन्धुआ मजदूर के रूप में उसका प्रयोग करना।
(7) एससी/एसटी व्यक्ति को मताधिकार से रोकना या विशेष व्यक्ति को वोट देने के लिए बाध्य करना।
(8) एससी/एसटी व्यक्ति के विरुद्ध कोई भी ऐसा कार्य करना जो कष्टकारी या दण्डनीय हो।
(9) एससी/एसटी व्यक्ति को अपमानित करना।
(10) एससी/एसटी महिला को सताना।
(11) एससी/एसटी महिला का यौन उत्पीडन।
(12) एससी/एसटी व्यक्ति के प्रयोग वाले पीने के पानी को दूषित करना।
(13) एससी/एसटी व्यक्ति को उसका घर, पडौस, या गाँव छोडने के लिए बाध्य करना।

अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षार्थ एक व्यवस्था तंत्र का सृजन एससी/एसटी के लिए आयुक्त का पद सृजित करके तथा हाल ही में एससी और एसटी के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना द्वारा किया गया है। यह आयोग एससी और एसटी के विकास से सम्बन्धित मामलों व नीतियों पर सलाहकार समिति के रूप में कार्य करता है। अनुसूचित जातियों (और एसटी व ओबीसी) के कल्याण की देखभाल करने के लिए राज्य सरकारों के पृथक विभाग हैं। इन लोगों के कल्याण कार्यों को प्रोत्साहित करने में अनेक स्वैच्छिक सगठन भी लगे हैं। अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत कुछ सगठन इस प्रकार हैं हरिजन सेवक सघ, हिन्दू स्वच्छकार सेवक सघ, नई दिल्ली। पचवर्षीय योजनाओं में एससी (और एसटी) व्यक्तियों के कल्याण पर व्यय की जाने वाली धनराशि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। विशेष कार्यक्रमों पर निवेश का आकार प्रथम योजना से नवी योजना तक बढा है।

क्या इन सभी उपायों ने अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के उत्थान में योगदान दिया है ? ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से उनकी प्रस्थिति में थोडा ही सुधार हुआ है। सामाजिक दृष्टि से उन्होंने अपने अनेक बुरे रीति-रिवाज नहीं बदले हैं और उनकी स्थिति वही है, आर्थिक दृष्टि से 30 प्रतिशत से भी अधिक दलित गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं और उनकी व्यावसायिक गतिशीलता उन्हें सामाजिक गतिशीलता की ओर नही ले जाती, शैक्षिक दृष्टि से वे अत्यन्त पिछडे हुए हैं, राजनैतिक दृष्टि से वे संगठित नही

हैं और अपने अधिकारों को प्रकट करने के लिए स्थानीय शक्ति सरचना में वे बहुत कमजोर हैं।

उनका असन्तोष इस तथ्य से स्पष्ट है कि विश्व मानव अधिकार दिवस पर दिसम्बर 1998 में उन्होंने दलित मानव अधिकार दिवस के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में तीन तथ्यों पर बल दिया गया था : स्पर्श करने व किए जाने का अधिकार, नव-सहस्त्राब्दि में अस्पृश्यता को अलविदा और जाति व्यवस्था की समाप्ति। आन्दोलन में एससी/एसटी (अत्याचार निरोधक) अधिनियम और अन्य नियमों के क्रियान्वयन, राष्ट्रीय एससी/एसटी आयोग को अधिनियम के क्रियान्वयन के उत्तरदायित्व को सचालित करने की जिम्मेदारी सौंपना, पचायती राज तथा अन्य सस्थाओं में सभी दलितों की भागीदारी को पूर्ण सरक्षण प्रदान करना, दलितों से ली गई समस्त भूमि को उन्हें वापस करना, और उनके मत व धर्म के भेदभाव के बिना उन्हें एससी समझा जाना (नव बौद्धों और ईसाई परिवर्तितों सहित), आदि माँगें रखी गई थी।

वर्तमान प्रस्थिति (Present Status)

स्तरीकरण बद्ध जाति व्यवस्था में दलितों की दशा में कितना सुधार हुआ है ? यह कहा जाता है कि यद्यपि दलित परिवारों और व्यक्तियों में ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता की कुछ प्रवृत्तिया दिखाई देती हैं और कुछ दलित उच्च प्रशासनिक पदों पर आसीन भी हैं, फिर भी मोटे तौर पर दलितों ने प्रथम पाँच दशकों में कम प्रगति दर्शाई है। इन लोगों के लिए बनाई गई अनेक कल्याणकारी योजनाओं के विषय में सास्कारिक औपचारिकता (ritualistic formalism) है। वित्तीय प्रोत्साहनों और शैक्षिक आरक्षणों ने इन जातियों को बहुत कम वास्तविक लाभ पहुचाया है। 1991 में देश की कुल जनसख्या के 16 48 प्रतिशत शक्ति के साथ तथा 15 प्रतिशत आरक्षण के सहित, सेवाओं में उनके लिए सुरक्षित स्थानों का लाभ दलित नही उठा सके हैं। यदि हम एससी/एसटी आयुक्त की रिपोर्ट तथा हाल ही में बने एससी और एसटी के राष्ट्रीय आयोग, जो सरकारी कार्यालयों एव सार्वजनिक सस्थानों की नीतियों के क्रियान्वयन का सचालन करता है, की रिपोर्ट तथा एकत्रित आकडों पर निर्भर करें, तो हम देखेंगे कि इनके लिए केन्द्रीय सरकारी विभागों, सार्वजनिक सस्थानों और राष्ट्रीकृत बैंको में 1993 में आरक्षण समूह 'ए' के पदों के लिए 7 से 10 प्रतिशत, समूह 'बी' पदों के लिए 9 से 14 प्रतिशत, समूह 'सी' के लिए 13 से 19 प्रतिशत तथा 'डी' समूह के पदों के लिए 21 से 23 प्रतिशत था (देखें, Bhargava, B S. and Avinash Samal, "Protective Discrimination and Development of SCs" in *Indian Journal of Public Administration*, July-Sept . 1998, Vol XL IV No 3, 513) यद्यपि 1965 से आगे निसन्देह सभी श्रेणियों के पदों में एससी सदस्यों की भर्ती की स्थिति में सुधार हुआ है लेकिन 'ए' और 'बी' के पदों में सन्तोषजनक प्रगति नही हुई है, जबकि समूह 'डी' में कुल पद निर्धारित मात्रा से भी आगे निकल गये है और समूह 'सी' में वे निर्धारित मात्रा में निकट हैं (15 प्रतिशत)। 'ए' और 'बी' समूह के सभी पदों की पूर्ण निर्धारित मात्रा इसलिए नही भरी जा सकी क्योंकि योग्य (eligible) प्रत्याशी उपलब्ध नहीं होते। केन्द्र व राज्य सरकारों के आधीन विभिन्न पदों के लिए आवेदन करने की योग्यता के लिए कुछ आधारभूत शैक्षिक

योग्यता आवश्यक होती है। 1991 में एससी पुरुषों की साक्षरता दर 49 9 प्रतिशत, स्त्रियों में 23 76 प्रतिशत, और कुल 37 41 प्रतिशत थी (इसके विपरीत एसटी में क्रमश 40 65, 18 19, और 29 6 प्रतिशत तथा सामान्य जनसख्या में यह दर क्रमश 64 13, 39.29 और 52 21 प्रतिशत थी)। जब एससी प्रत्याशियों के पास आवश्यक मूल योग्यता नही होती और आरक्षण सुविधा का लाभ उठाने के लिए योग्य नही होते, तो समूह 'ए' और 'बी' के पदों में उनके प्रतिनिधित्व की ऊँची दर की अपेक्षा करना तर्क सगत नही है। विभिन्न चयन समितिया के सदस्यों के वर्ग पक्षपात की शिकायत करना भी समान रूप से हास्यास्पद है। नौकरियों में दलितों में से उच्च पदों की अपेक्षा गैर तकनीकी तथा निम्न पदों को भरना सरल प्रतीत होता है। सामाजिक विधानों का भी उनकी अयोग्यताओं को दूर करने में कम प्रभाव पडा है।

अब प्रश्न उठते हैं क्या दलितों की अभी भी उपेक्षा हो रही या उन्हें अभी भी सताया जा रहा है ? क्या उनके लिए आरक्षण जारी रहना चाहिए ? उनकी शिक्षा का ही उदाहरण लें। प्राथमिक, माध्यमिक तथा हाई स्कूल तक दलितों का नामाकन (enrolment) लगभग 15 प्रतिशत है तथा उच्च माध्यमिक, स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर लगभग 8 प्रतिशत है। शिक्षा में उनकी कृति निम्न स्तर की है। हाई स्कूल स्तर पर दलितों का पास औसत 53 प्रतिशत है। (इसके विपरीत सामान्य पास औसत 65 प्रतिशत है), स्नातक स्तर पर 35 प्रतिशत (इसके विपरीत सामान्य पास औसत 57 प्रतिशत है), और स्नातकोत्तर स्तर पर 60 प्रतिशत है (इसके विपरीत सामान्य उत्तीर्ण प्रतिशत 76 है)। व्यावसायिक (professional) पाठ्यक्रमों में उनका प्रतिशत लगभग 35 है (इसके विपरीत सामान्य प्रतिशत 60 है)। उनकी शिक्षा की निम्न गुणवत्ता व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए प्रवेश परीक्षा में उनके कार्य से स्पष्ट है। कुछ राज्यों में इतने कम दलित प्रत्याशी योग्य हो पाते हैं कि निम्नतम योग्यता अक भी नीचे रह जाते हैं। मध्य प्रदेश में 1995 में दलित छात्र 15 प्रतिशत अक होने पर भी भर्ती किए गए (निर्धारित 35 प्रतिशत अकों के बावजूद)। 1995 में अनुसूचित जाति कोटा मे (स्वतत्रता सेनानी) एक प्रत्याशी जिसने 900 अकों में से 33 अक (अर्थात् 3 66%) प्राप्त किये थे उस का नाम भी प्री-इन्जीनियरिंग छात्रों की योग्यता सूची में आ गया (*The Hindustan Times*, June, 16, 1995)। चिकित्सा क्षेत्र में जहा एससी श्रेणी मे न्यूनतम अक 48 18 प्रतिशत थे, वही सामान्य वर्ग में 73 प्रतिशत अक प्राप्त प्रत्याशी या तो प्रतीक्षा-सूची में थे या अस्वीकृत कर दिए गए थे (*The Hindustan Times*, June 29, 1995)।

अस्पृश्यता इसका उन्मूलन एव दलित चेतना
(Untouchability : Its Eradication and Dalit Consciousness)

दलित (Dalits)

भारत में अस्पृश्यता का बहुत पुराना इतिहास है, यद्यपि इसका जन्म और प्रचलन अस्पष्ट और अज्ञात है। 1930 के दशक के प्रारम्भ तक अवपीडित वर्ग (depressed classes), जैसा उस समय उन्हें जाना जाता था, की अधिकाशत (de jure) परिभाषा अशुद्धता

(pollution) की धार्मिक अवधारणा के अर्थ में थी। दलित वर्ग को इस प्रकार परिभाषित किया गया था: "वे हिन्दू जातियाँ जिनके सम्पर्क में आने पर उच्च जाति के हिन्दुओं को शुद्धीकरण करना पड़े", (Lelah Dushkin, "Scheduled Caste Politics" in Mohar J Michae, *The Untouchables In Contempory India*, 1998 171) । 1931 की जनगणना में जनगणना आयुक्त हट्टन (J H.Hutton) ने दलित वर्गों की पहचान के लिए अनेक आधार सिद्धान्तों का प्रयोग किया। इनमें से एक विशेष आधार था कि क्या दलित जाति के लोगों को सडकों, कुँओं, और स्कूलों आदि के प्रयोग पर निषेध था। व्यवहार में यह परीक्षण कम से कम कार्यात्मक सिद्ध हुआ क्योंकि इन लोगों की इस प्रकार की सुविधाओं तक सीमित पहुँच थी। अन्य परीक्षण धार्मिक व सामाजिक निर्योग्यताओं पर आधारित थे, इन सिद्धान्तों ने भली प्रकार काम नही किया। अत 1936 में अनुसूची लागू करने से पूर्व कुछ समायोजन किए गए।

आज अनुसूचित जाति के लोगों की सख्या बहुत ऊँची चली गई है। प्रति 6 भारतीयों में एक अनुसूचित जाति का है। प्रमुख पूर्व अस्पृश्य जातिया हैं · चमार, दुसध, मुसहर, भुल्या, धोबी, पासी, होम, भोगता, हललखोर और परल्यम। तमिलनाडु में पल्लन और चकिलिस, और अन्य राज्यों में महार, बल्शी, बौरी मेघवाल, राजबन्स मजबीसिक, आदि। इनकी सबसे अधिक सख्या उत्तर प्रदेश में (21 प्रतिशत) और उसके बाद पश्चिम बगाल (12%), बिहार (9%), तमिलनाडु (8%), आन्ध्र-प्रदेश (8%), मध्य प्रदेश (7%), महाराष्ट्र (6%), और राजस्थान (5.5%) में है (*Manpower Profile, India*, New Delhi 1998 35)। इस प्रकार, इन लोगों की लगभग दो तिहाई सख्या 6 राज्यों में केन्द्रित है। उनमें से लगभग 84% गावों में रहते हैं और कृषक, बटाईदार, सीमान्त किसान और कृषि मजदूर हैं। लगभग 42% श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं। कुल श्रमिकों में से केवल 4 प्रतिशत मैला ढोने का कार्य करते हैं, शेष जुलाहे (12%), मछुआरे (8%), कच्ची शराब निर्माता (7%), टोकरी और रस्से बनाने वाले (5%), धोबी (5%), कारीगर (1%), मोची (1%), आदि का कार्य करते हैं।

यद्यपि हमारे सविधान ने और अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 ने अस्पृश्यता को अवैधानिक घोषित कर दिया है, फिर भी क्योंकि हिन्दू अभी भी शुद्धता और अशुद्धता की चिन्ता में पडे रहते हैं, इसलिए अस्पृश्यता देश के सामाजिक और धार्मिक जीवन में से पूर्णरूपेण समाप्त नही हुई है। अत अस्पृश्यता को दो सदर्भ में देखा जा सकता है (i) उसे कलक (stigma) की दृष्टि से जिसके आधार पर कुछ लोगों पर आरोप होता है कि वे सस्कार सबधी अपवित्रता प्रसारित करते हैं, और (ii) उस आवरण की दृष्टि जिस के आधार पर माना जाता है कि अस्पृश्यता की अशुद्धता से समाज को बचाना है।

दलितो का पतन (Degradation of Dalits)

अस्पृश्यों को सामाजिक कलक इस सीमा तक माना जाता है कि उन्हें मन्दिरों में प्रवेश से रोका जाता है, ब्राह्मणों की सेवाओं से वचित रखा जाता है, और उच्च जातियों द्वारा उन्हें हेय माना जाता है। वे अशुद्ध जन्मते हैं और अशुद्ध ही जीवन भी जीते हैं। समाज शुद्धता के विषय में इतना चिन्तित रहता है कि ये अस्पृश्यों को स्थाई रूप से आर्थिक, सामाजिक और

राजनैतिक आधीनता में ही रखते हैं। कलक, जो जाति के अनुसार जन्मजात होता है, जीवन पर्यन्त चलता रहता है और किसी सस्कार द्वारा समाप्त नही होता। व्यवहार के सम्बन्ध में परिभाषित किए जाने पर अस्पृश्यता उन प्रचलनों का स्वरूप है जो शेष समाज के द्वारा अस्पृश्यों से होने वाली अशुद्धता से स्वय को बचाने के लिए अपनाए जाते हैं। परन्तु धार्मिक अशुद्धता का यह चिन्तन अस्पृश्यों की भूमिका तक सीमित नही है बल्कि इस विचार ने उन्हें शारीरिक पृथकता के द्वारा आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से निम्न स्थिति में रखा है। समान्यत यह विश्वास किया जाता है कि अस्पृश्य समूह यह समझने लगे हैं कि उनकी समस्या केवल प्रभावी राजनैतिक कार्यवाही से ही हल हो सकती है। हाल ही में ससद, विधान सभाओं, विभिन्न सेवाओं, शैक्षिक सस्थाओं में पदों के आरक्षण तथा सरकार द्वारा प्रदत्त अन्य विशेषाधिकारों के कारण, निम्न सास्कारिक प्रस्थिति के व्यक्ति के पास उच्च आर्थिक व राजनैतिक प्रस्थिति प्राप्त करने के अच्छे आसार हैं लेकिन उच्च सामाजिक प्रस्थिति एक व्यक्तिगत मामला बन जाता है। एलपी विद्यार्थी और सच्चीदानन्द जैसे समाजशास्त्रियों ने दलितों के सामाजिक परिवर्तन को उनकी जातिगत निर्योग्यताओं, उनके शैक्षिक प्रयत्नों, नवाचारों की स्वीकृति, राजनैतिक चेतना, आधुनिक मूल्यों के आन्तरीकरण, स्त्रियों की स्थिति, उनके नेतृत्व, दलित आन्दोलनों, आदि के सन्दर्भ में अध्ययन करने का प्रयास किया है।

यद्यपि अनेक दलितों ने जाति आधारित परम्परागत पेशों को त्याग दिया है लेकिन अभी भी काफी सख्या में वे गन्दे पेशों में लगे हुए हैं। गन्दे पेशों से परिवर्तन तथा विविधता ने न केवल अस्पृश्यता का कलक समाप्त कर दिया है बल्कि अनेक लोगों को वर्ग गतिशीलता में उठने के योग्य बनाया है। कुछ तो भूमि व मकान आदि सम्पत्ति के मालिक हैं। वे सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों को प्रदत्त अनेक आर्थिक लाभों को ले रहे हैं। प्रस्थिति सम्बन्धी निर्योग्यताए अब अधिकतर गाँवों तक ही सीमित हैं। सार्वजनिक कुँओं व मन्दिरों के प्रयोग के मामलों में भेदभाव अब इतने अधिक नही हैं जितने पहले थे। नौकरियों में उच्च पदों पर आसीन लोगों को सामाजिक अन्तर्व्यवहार में निर्योग्यता कम आडे आती है। अब व्यक्ति की राजनैतिक आर्थिक स्थिति तथा उसकी सामाजिक स्थिति के बीच एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध नजर आता है। परन्तु कुछ मामलों में उनकी प्रदत्त (ascribed) प्रस्थिति उनकी अर्जित प्रस्थिति से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती है, जैसे विवाह के मामले में। चिकित्सा, अभियात्रिकी, प्रशासन, प्रबन्धन, उच्च शिक्षा, न्याय और विधि, आदि आधुनिक पेशों में हरिजनों के प्रवेश से उनके सहयोगी गुप्त रूप से ईर्ष्या करते हैं। ऐसा कुछ तो रूढिगत घृणा के कारण है और कुछ उनके पक्ष में किए जाने वाले सरक्षात्मक भेदभाव के कारण उत्पन्न ईर्ष्या और स्पर्धा के कारण। सच्चीदानन्द द्वारा बिहार में किये गये एक अध्ययन में (The Harijan Elite) अभिजात वर्ग ने भी इस प्रकार की ईर्ष्या की ओर सकेत किया है।

एक बडी सख्या में हरिजन जन्मजात हीनता ग्रन्थि (inferiority complex) से पीडित होते हैं जो प्रत्येक ऐसे व्यवहार के प्रति सवेदनशील बना देती है जो उनके विचार में भेदभाव रजित हो। इसका अर्थ यह नही है कि ऐसा आरोपित भेदभाव सदैव किया जाता है और आरोप सही है। हरिजनों की गतिहीनता को भी स्थान दिया है। यह ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन से, शिक्षा, सार्वजनिक सेवाओं में प्रवेश, तथा राजनीति में प्रवेश से

सम्भव हुआ है। यह इस बात का सकेत है कि किस प्रकार दलितों तथा अन्य लोगों के बीच की सरचनात्मक दूरी कम हुई है।

सुधारात्मक उपाय (Ameliorative Measures)

दलितों में तीन ओर (avenues) से परिवर्तन आए हैं · (1) अस्पृश्य समूहों के सम्बन्ध में राज्य की नीति (2) समय-समय पर सुधार आन्दोलन, (3) संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया। इन अधिकार विहीन समूहों की दशा में सुधार की ओर स्वतत्रता के बाद ही सविधान निर्माताओं का ध्यान गया।

रक्षात्मक भेदभाव (protective discrimination) उन तीन तरीकों में से एक है जिनके आधार पर सरकार दलितों की समस्याओं के समाधान हेतु प्रयास करती हैं। प्रथम, अनेक ऐसे सवैधानिक और अन्य कानूनी प्रावधान हैं जो अस्पृश्यों के प्रति भेदभाव समाप्त करते हैं और उन्हें अन्य नागरिकों के समान ही अधिकार प्रदान करते हैं। द्वितीय, कुछ लाभ केवल अनुसूचित जाति के लोगों को ही उनके योग्य (eligible) बनाते हैं तथा अन्य लोगों को नही, जैसे, छात्रवृत्तियां, ऋण, एवं अनुदान, आदि। कुछ प्रमाण पत्रों को उन्हे प्रदान करना, जो उन्हें अनुसूचित श्रेणी का बताते है, उन्हें लाभों के प्राप्त करने योग्य तो बनाते है लेकिन गैर सदस्य उन लाभों के लिए योग्य नही रहते। इस सरक्षात्मक विशेषता के कारण इस व्यवस्था को 'रक्षात्मक भेदभाव' कहा जाता है।

हरिजनों के कल्याण एव उत्थान से सम्बद्ध कुछ सवैधानिक प्रावधान थे जैसे, सार्वजनिक स्थानों (दुकानों, रेस्ट्राँ, कुँओं, स्नान घाटों, सडकों आदि पर जाने से सम्बन्धित निर्योग्यताओं की समाप्ति, शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश की अस्वीकृति का निषेध, उनके लिए हिन्दू धार्मिक स्थलों में प्रवेश की अनुमति दिया जाना, उनके कल्याण के लिए सलाहकार समितियों का गठन, ससद व राज्य विधानिकाओं में विशेष प्रतिनिधित्व तथा सार्वजनिक सेवाओं में आरक्षण, आदि। 1955 के अस्पृश्यता अधिनियम में इन संवैधानिक प्रावधानों के उल्लघन पर दण्ड का प्रावधान किया गया।

दलितों के कल्याण के लिए चलाई गई केन्द्र द्वारा प्रायोजित कुछ महत्वपूर्ण योजनाए इस प्रकार हैं : विभिन्न प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं (I.A.S., I.P.S) आदि के लिए कोचिंग एव प्रशिक्षण देना, उच्च शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता, दलितों की समस्याओं पर अनुसन्धान के लिए सस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करना, पचवर्षीय योजनाओं में विकास के विशेष कार्यक्रम सम्मिलित करना, और सेवाओं तथा शैक्षिक सस्थाओं में आरक्षण प्रदान करना। अस्पृश्यता मूल्याकन के लिए 1965 में भारत सरकार द्वारा एक समिति नियुक्त की गई। अनेक समाजशास्त्रियों (Barnard Cohn (1955), Mrs Epstein (1962), Harold Issacs (1964), Andre Beteille (1966), Harper (1968), Parvathamma (1968), Saberwal (1972), Michael Mahar (1972), Lynch (1976), L.P Vidyarthi (1977), and Sachchidananda (1976)) द्वारा किए गए अध्ययन अस्पृश्यों के पक्ष में कुछ परिवर्तन दर्शाते हैं। अस्पृश्यों के शोषण की आर्थिक व सामाजिक विशेषता के कारण सामाजिक असमानता की स्थिति यद्यपि अब उस सीमा तक नही रही जितनी आजादी से पूर्व थी, फिर भी अस्पृश्यता समाप्त नहीं हो सकी है। 1971-72

में बिहार में हरिजन अभिजात वर्ग का सच्चीदानन्द द्वारा किया गया अध्ययन भी दर्शाता है कि यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में उनकी स्थिति में सुधार आया है किन्तु उनके संस्कारों, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में नही।

हरिजनों की निर्योग्यताओं को समाप्त करने की दिशा में महात्मा फूले, नरसिंह मेहता, आदि सन्तों और समाज सुधारकों द्वारा बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक में किये गऐ प्रयत्न भी इस विषय में रुचि को स्पष्ट करते हैं जिन्होंने उनकी दुर्दशा पर ध्यान दिया था। गान्धी जी ने तीसरे दशक में उनकी दशा सुधारने और अस्पृश्यता उन्मूलन में गहरी रुचि प्रकट की थी। 1932 में उन्होंने अस्पृश्यों के लिए पृथक चुनाव प्रक्रिया की माँग करते हुए बी आर अम्बेडकर का विरोध किया और यह तर्क देते हुए भूख हडताल की कि पृथक चुनाव प्रक्रिया उन्हें शूद्र जनसख्या में विलय के लिए प्रेरित करने की अपेक्षा अस्पृश्यों की श्रेणी को अनवरत बनाने में सहयोग करेगी। उन्होंने जाति हिन्दुओं और अस्पृश्यों के बीच सघर्षों की आशका व्यक्त की। अम्बेडकर गान्धी जी के प्रभाव में आ गए और उन्होंने अस्पृश्यों के लिए ससद में अत्यधिक सख्या में स्थानों के आरक्षण (कुल जनसख्या का 12.5%) की शर्त पर पृथक चुनाव की माँग को त्याग दिया। इस प्रकार उन्होंने पूना समझौते पर हस्ताक्षर करके ब्रिटिश सरकार को यह विचार त्यागने के लिए मजबूर कर दिया। तब उन्होंने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और अस्पृश्यता छोडने पर बल दिया।

सरकारी कार्यक्रमों और नीतियों से परिवर्तन लाने के प्रयत्नों के साथ ही इन लोगों के स्वय के प्रयत्नों से भी अस्पृश्यों की दशा में सुधार हुआ है। अस्पृश्यों में क्रान्तकारी विचारों को अकुरित करने में धर्म ने भी प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया है और ऐसे परिवर्तन के समर्थन तथा सगठन के लिए एक प्रतिदर्श प्रदान किया है। इस प्रकार का सबसे प्रभावी आन्दोलन अछूतों का बौद्ध धर्म में परिवर्तन है। यह एक ऐसी घटना है जिसका अनुपात भारत की जनगणना में परिलक्षित होता है जिसके अनुसार 1951 में 1,81,000 बौद्ध, 1961 में 32 लाख, तथा 1981 में 47 लाख बौद्ध आलेखों में है। अकेले महाराष्ट्र में ही यह कहा जाता है कि 1956 में बी आर अम्बेडकर के नेतृत्व में 35 लाख हरिजन बौद्ध धर्म में परिवर्तित हुए। अम्बेडकर ने स्वय 14 अक्टूबर, 1956 को नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। अम्बेडकर का विचार था कि हिन्दुत्व से अलग होकर ही हरिजन अशुद्धता और अस्पृश्यता के अभिशाप से मुक्त हो सकते हैं।

कुछ हरिजन ईसाई धर्म में भी परिवर्तित हुए, विशेष रूप से दक्षिण भारत में उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम अर्द्ध शतक में। पूतू क्रिश्चयन (Putu Christians) केरल में निम्न-जातीय ईसाई हैं। सीरियन (Syrian) ईसाई, जो स्वय उच्च जातियों से परिवर्तित हुए थे, के साथ व्यवहार में परहेज करते हैं। एक अस्पृश्य जाति पुलायास (pulayas) से परिवर्तित ईसाई, केरल की सीरियन ईसाई चर्च में एकीकृत हो गए हैं। मध्य प्रदेश में सतनामी आन्दोलन धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलन था। छत्तीसगढ क्षेत्र में अनेक हरिजन सतनामी पन्थ में शामिल हो गए जो जातिभेद बिना मनुष्यों की समानता और सभी 'सतनाम' में आस्था रखते थे। इस पन्थ में हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करना निषेध था तथा शराब और तम्बाकू के सेवन तथा माँस के उपभोग का भी निषेध था।

ग्रामीण भारत मे दलित (Dalits in Rural India)

ग्रामीण भारत में दलित आर्थिक दृष्टि तथा हिन्दू समाज के गैर-हरिजन सदस्यों की दृष्टि दोनों से ही 'सीमान्त (marginal) समूह' के रूप में है। ग्रामीण समाज में दलितों की दो प्रमुख विशेषताए हैं · (i) अधिकतर दलितों के पास न तो भूमि का स्वामित्व होता है और न ही वे आसामी (tenants) ही होते हैं (ii) अधिकतर दलित या तो दूसरों की भूमि पर काम करके या कृषकों की भूमि से स्वयं को जोडकर अपनी आय अर्जित करते हैं। दलित श्रमिकों का रोजगार कृषि उत्पादन और पारिश्रमिक भुगतान से निश्चित होता है। फसल काटने के समय उनकी माँग अधिक होती है। श्रमिकों की माग तब बढती है जब कृषि योग्य भूमि अधिक हो, सिंचाई अधिक हो, खाद अधिक हो, और पूँजी भी अधिक हो। ट्रेक्टर आदि आधुनिक यन्त्र कुशल श्रमिकों की माँग तो बढा देते है लेकिन आवश्यक व्यक्तियों की सख्या में कमी हो जाती है। नियोजकों (भूस्वामियों) को दलितों और गैर दलितों दोनों में से ही श्रमिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार मजदूर समजाति (homogeneous) समूह के रूप में नही है। गैर दलितों को सदा वरीयता दी जाती है क्योंकि उन्हें अधिक परिश्रमी माना जाता है। इस कारण ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों को 'सीमान्त' कहा जाता है।

दलित चेतना (Dalit Consciousness)

बडा प्रश्न यह है कि क्या दलित समाज की मुख्य धारा में समाहित हो सकेंगे ? युगों की दासता बेडियों को तभी समाप्त किया जा सकता है जब दलित स्वय को शिक्षित और कुशल बना लें और आधुनिक समाज में प्रभावी ढग से स्पर्धा करें। मात्र कानून बनाने से उनकी निर्योग्यताए समाप्त नहीं होंगी। ससाधनों को प्राप्त करने के लिए उनके स्वय के प्रयासों के साथ ही हिन्दुओं की अभिवृत्तियों में परिवर्तन भी अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए आवश्यक है। हम सच्चीदानन्द से सहमत हैं (1976 172) जिसकी मान्यता है कि सरकार के सुधारात्मक प्रयत्नों, दलितों की बढती चेतना, और हिन्दुओं के उदार दृष्टिकोण जैसे कारकों के सामजस्य से समय के साथ-साथ उनकी निर्योग्यताए एव भेदभाव समाप्त हो जायेंगे।

राजनैतिक दृष्टि से दलित इस तथ्य को समझने लगे हैं कि राजनैतिक सदर्भ में उन्हें अपनी अधिक सख्या का लाभ उठाना है। हो सकता है कि वे राजनैतिक दल के रूप में एक न हो सकें, लेकिन प्रभुत्व वाली राजनैतिक पार्टियों, जैसे काग्रेस, या जनता दल या भाजपा, आदि का समर्थन कर के वे अपने समर्थन का मूल्य वसूल कर सकते हैं। लेकिन समस्या यह है कि यद्यपि शिक्षित दलित तो राजनीतिकरण का सबूत दर्शाते हैं लेकिन सामान्य दलित उनकी प्रक्रिया से अभी भी अछूते हैं। अभिजात वर्ग तो अनुसरण और सहमति की राजनीति से दबाव और विरोध की राजनीति तक आ गए हैं, लेकिन अभी भी वे न तो सामान्य मच हो बना सके है और न ही परिवर्तनशील छवि विकसित कर सके हैं।

अन्य पिछड़ी जातियाँ और वर्ग
[Other Backward Castes and Classes (OBCS)]

1991 में देश की कुल जनसख्या के 51 प्रतिशत (अस्पृश्यों को छोडकर) व्यक्ति 3,742

अन्य पिछडी जातियाँ और वर्ग के सदस्य थे। अगस्त 1990 में (वी.पी. सिंह मंत्रिमण्डल) जनता दल सरकार द्वारा इन ओबीसी के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की गई थी। यह मण्डल आयोग की रिपोर्ट के आधार पर किया गया था जो दिसम्बर 1980 में सरकार को सौंपी गई थी और 1982 में ससद के दोनों सदनों में चर्चा के बाद परीक्षण के लिए सचिवों की एक समिति को दी गई थी। प्रधानमन्त्री वीपी सिंह द्वारा इसकी सिफ़ारिशों को स्वीकार करने की आकस्मिक घोषणा को अनेक लोगों ने राजनैतिक निर्णय कहा जो कि जातियों के चयन और इसके तीन निदर्शकों (सकेतकों) (indicators) —सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक—के औचित्य और सत्यता के सत्यापन के बिना ही लिया गया था। सामाजिक और आर्थिक निदर्शक में प्रत्येक के चार आधार माने गए, जबकि शैक्षिक निदर्शक में तीन आधार लिए गए। इस प्रकार कुल मिलाकर 11 निदर्शक थे। प्रत्येक निदर्शक को दिया जाने वाला महत्व एकतरफा और तर्कहीन ही था। सामाजिक निदर्शकों को तीन अकों का महत्व दिया गया, शैक्षिक निदर्शक को दो अकों का और आर्थिक निदर्शक को एक अक प्रदान किया गया। इस प्रकार कुल मूल्य के 22 अक रखे गए। जिन जातियों ने 50 प्रतिशत अक प्राप्त किए (अर्थात् 11 अक या अधिक) उन्हें 'पिछडों' की सूची में रखा गया।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के मण्डल आयोग की रिपोर्ट के क्रियान्वित करने के निर्णय ने छात्रों में विस्तृत रूप में क्रोध को भडका दिया। समूचे देश में अनवरत आन्दोलन भडक उठे। सितम्बर और अक्टूबर, 1990 के बीच 160 युवाओं ने सरकार के निर्णय के विरुद्ध आत्म हत्या के प्रयास किए। परन्तु किसी भी राजनैतिक पार्टी ने खुलकर आरक्षण का विरोध नही किया।

1991 में जब नरसिंहराव की कांग्रेस सरकार ने सत्ता सम्भाली, इसने 25 सितम्बर, 1991 को एक अधिसूचना जारी की कि केन्द्रीय सरकार की नागरिक सेवाओं में जो 27 प्रतिशत सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछडे वर्ग (SEBC) के लिए आरक्षित हैं, उनमें से इन्ही वर्गों के 'गरीब खण्ड' को वरीयता (preference) दी जायेगी। इसके साथ ही उन आर्थिक रूप से पिछडे वर्गों के लोगों के लिए, जो विद्यमान किसी भी आरक्षण योजना के अन्तर्गत नही आते, 10 प्रतिशत पद आरक्षित होंगे।

मण्डल आयोग की रिपोर्ट को क्रियान्वित करने का मामला उच्चतम न्यायालय में ले जाया गया जिसने नवम्बर 1992 के अपने निर्णय में पद आरक्षण सूत्र का समर्थन किया और पिछडे वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थानों के आरक्षण की पुष्टि की। परन्तु न्यायालय ने अन्य आर्थिक रूप से पिछडे वर्गों के लिए 10 प्रतिशत खाली स्थानों की भर्ती के आरक्षण सम्बन्धी नरसिंह राव सरकार के निर्णय को रद्द कर दिया। उच्चतम न्यायालय के निर्णय के प्रमुख बिन्दु थे (1) आरक्षण के लाभार्थियों की पहचान के लिए जाति को आधार मानना स्वीकार किया गया। (2) आरक्षणों की उच्च सीमा 50 प्रतिशत निश्चित कर दी गई। (3) सम्पन्न स्तर (creamy layer) को आरक्षण की परिधि से हटा दिया गया। (4) कुछ प्रावैधिक (technical) पदों में आरक्षण की सलाह नही दी गई। (5) प्रोन्नति में आरक्षण नही रखा गया। (6) केन्द्र सरकार पिछडे वर्गों में से सामाजिक रूप से अग्रिम लोगों को निकालने के लिए सामाजिक-आर्थिक आधार को विशेष रूप से बताएँ। (7) केन्द्र व राज्य सरकारें पिछडे वर्गों की सूची में सम्मिलित किए जाने के निवेदनों तथा अधिक सम्मिलित या

कम सम्मिलित करने की शिकायतों की जाच करने के लिए स्थाई आयोग की स्थापना करे।

मण्डल आयोग की सिफारिशों के पक्ष व विपक्ष में दोनों प्रकार के तर्क इस प्रकार हैं। **पक्ष मे तर्क है** (1) ये समाज के उन पिछडे वर्गों का उत्थान करेगी व सन्तुष्ट करेंगी जो असन्तुष्ट थे और युगों से अन्याय सहन कर रहे थे। (2) केन्द्र सरकार की सेवाओ में आरक्षण देश की कुल जनसख्या के 10 प्रतिशत होना था, इसलिए आरक्षण अधिकतर लोगों पर विपरीत प्रभाव नही डालेगा। (3) आरक्षण केवल जातियों पर आधारित नही है जैसा कि गलत रूप से समझा जाता है, जैसे बिहार में राजपूत सूची में नही है लेकिन गुजरात में राजपूत सूची में सम्मिलित हैं, उत्तर प्रदेश और बिहार के यादव सूची में शामिल हैं जबकि हरियाणा के यादव नही हैं, गुजरात के पटेल सम्मिलित नही है जबकि बिहार के पटेल सूची में शामिल हैं। इस प्रकार विविध राज्यों में विशेष जाति की स्थिति आरक्षण का आधार है। (4) 52 प्रतिशत शक्ति के साथ राष्ट्र की पिछडे वर्गों की सख्या का सार्वजनिक क्षेत्र व सरकारी प्रथम श्रेणी की नौकरियों में केवल 4 प्रतिशत प्रतिनिधित्व है। यह कमजोर वर्गों के साथ सरासर अन्याय है और इसका समाधान आवश्यक है। (5) यह तर्क कि इन लोगों को प्रशासनिक पदों को देना अकुशलता बढाएगा भ्रमात्मक है। ब्रिटिश लोगों ने भी इस तर्क के आधार पर भारतीयों को स्वतत्र करना अस्वीकार कर दिया था और उस समय हमने इस तर्क को ठुकरा दिया था, वही तर्क हम अब कैसे स्वीकार करें ? पिछडे समूहों को इस प्रकार के ठोस अवसर अनुभव प्रदान करेंगे और उन्हें योग्य बनने का मौका देंगे। दलित जातियों और वर्गों की योग्यता अर्जित करने के समान अवसरों को नकारना कुछ नही है बल्कि उन पर प्रभुत्व जारी रखना है।

मण्डल रिपोर्ट के विरुद्ध तर्क है (1) 'पिछडेपन' को केवल 'जाति' के आधार पर परिभाषित किया गया है, इससे जाति व्यवस्था में निहित भेदभाव व जाति पूर्वाग्रहों को बढावा मिलेगा। यह प्रावधान सभी गरीबों को बिना जाति भेदभाव के मिलना चाहिए और केवल आर्थिक आधार पर ही होना चाहिए। (2) यद्यपि 'जाति' की परिभाषा की गई है लेकिन 'वर्ग' की नही, जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से जाति और वर्ग दो अलग श्रेणिया हैं। मण्डल आयोग ने 'पिछडी' जातियों की तो ठीक से पहचान की किन्तु पिछडे वर्गों की नही। (3) पिछडी जातियों की पहचान का आधार त्रुटिपूर्ण, काल्पनिक और राजनीति प्रेरित था। यह वैज्ञानिक आधार पर नही था। उदाहरण के लिए, अल्पायु विवाह का सामाजिक निदर्शक किसी विशेष जाति या वर्ग से सम्बद्ध नही है। यह युगों पुरानी सामाजिक बुराई है जो कि सभी जातियों और वर्गों में सामान्य रूप से प्रचलित है। यही बात अनेक निदर्शकों के विषयों में कही जा सकती है, जैसे स्त्रियों का काम, पिता की शिक्षा, माँ बाप की आय, पीने के पानी का स्रोत, आदि। (4) पिछडी जातियों को चिन्हित करने में राज्य सरकारों का परामर्श नही लिया गया था। जब मण्डल आयोग ने 3,742 जातियों को पिछडी जातियों के रूप में चिन्हित किया, कालेकर समिति ने पहले, 2000 के लगभग जातियों को पिछडी के रूप में चिन्हित किया था। क्या कालेकर समिति की पहचान गलत थी ? इसी प्रकार केरल सरकार ने 70 जातियों को पिछडी जातियों के रूप में चिन्हित किया जबकि मण्डल आयोग ने 208 जातियों को पिछडी जातियाँ चिन्हित किया। उडीसा ने तो एक भी जाति को पिछडा नहीं बताया किन्तु मण्डल आयोग ने राज्य में ... पिछडी जातियों की पहचान की। (5) जातियों

की जनसख्या अभिव्यक्ति 1931 की जनगणना आकडों के आधार पर की गई थी। इस प्रकार 1931 और 1980 के बीच के परिवर्तनों की गणना नहीं की गई। आजादी बाद भूमि सुधारों ने तो विभिन्न जातियों के सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक प्रस्थिति को बदल ही दिया है। बिहार और उत्तर प्रदेश के यादव और कुर्मी इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं। शहरी जनसख्या का प्रतिशत, जनसख्या का व्यावसायिक वितरण और उच्च शिक्षित लोगों की सख्या तो 1931 और 1980 तथा 1980 और 1990 के बीच बहुत अधिक बदल गई थी। अत. जनसख्या आकडों का आधार अयथार्थ था। (6) मण्डल समिति की यह मान्यता गलत थी कि गैर हिन्दुओं में ओ बी सी का अनुपात उसी क्रम में था जैसा कि हिन्दुओं में। (7) सामाजिक-शैक्षिक क्षेत्र सर्वेक्षण के लिए प्रतिदर्श (sampling) प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण था क्योंकि इसमें प्रत्येक जिले में एक शहरी ब्लाक और दो ग्रामीण ब्लाकों का चयन सम्मिलित था, यह अवैज्ञानिक और अभिनत (biased) प्रतिदर्श है। (8) पिछडेपन के निर्धारण में आर्थिक आधार को दिया जाने वाला महत्त्व अपर्याप्त था क्योंकि 22 अकों में से केवल 4 अंक ही आर्थिक आधार को दिए गए थे। (9) मण्डल आयोग के अध्यक्ष स्वय पिछडी जाति के सदस्य थे और अपने राजनैतिक जीवन के दौरान पक्षपात पूर्ण तर्कों के लिए विख्यात थे। उन्होंने निदर्शकों की पहचान तथा अक प्रदान करने में पक्षपातपूर्ण भूमिका अदा की थी, यहा तक कि आयोग ने भी स्वीकार किया था कि वर्गों का सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछडेपन का सूचीकरण कुछ एक तरफा रहा। (10) सविधान में उल्लेख है कि यदि किसी वर्ग को राज्य सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो तो इसे पिछडों की श्रेणी में नही रखा जा सकता। (11) मण्डल आयोग ने पिछडी जातियों के लिए 27% कोटा अलग-अलग जातियों के लिए बाटा नही था। अत इसका लाभ कुछ जातियों को ही मिलेगा जो पिछडी जातियों में भी प्रमुख हैं। कुछ प्रमुख जातियों में भी कुछ परिवार ही ऐसे होंगे जो अपने अभाग्य भाइयों की कीमत पर फलेंगे फूलेंगे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने का तरीका बहुत जल्दबाजी का था जो कि तत्कालीन राजनैतिक सकट को टालने के लिए अपनाया गया था। कोई भी आर्थिक कटौती बिन्दु निश्चित नही किया गया था और न ही आरक्षण की निरन्तरता की घोषणा की गई। इसमें आश्चर्य नही कि धारणाओं, भ्रमों, ठोस आकडों की कमी, सूचना में खामियों, एक तरफा निर्णय, आत्मपरकता, असगतिया और उच्च कोटि के तर्कहीन सामान्यीकरण, आदि ने युवावर्ग को आरक्षण नीति व आत्म-केन्द्रित राजनैतिक अभिजात वर्ग के विरुद्ध लडने के लिए भडका दिया।

आरक्षण नीति (Reservation Policy)

हमारे सविधान ने सभी नागरिकों के लिए न्याय और समान अवसरों की घोषणा की है। इसमें समान अवसरों का अर्थ समान लोगों के बीच प्रतिस्पर्धा से लिया गया, न कि असमानों के बीच। हमारे सामाजिक ढाँचे में असमानता को मानते हुए सविधान निर्माताओं ने तर्क दिया था कि कमजोर वर्गों को राज्य द्वारा स्थाई तौर पर ध्यान दिया जाना है। इस प्रकार राज्य पर यह विशेष दायित्व सौंपा गया कि समाज के कमजोर वर्ग को सरक्षण प्रदान करे। तदनुसार, सविधान में समतावादी सामाजिक व्यवस्था बनाने की प्रक्रिया को तेज करने के लिए

विविध धाराओं के अन्तर्गत संरक्षणात्मक भेदभाव का प्रावधान किया गया। इस प्रकार आरक्षित स्थानों सहित दलित वर्गों (SCs और STs) के लिए वरीयता व्यवहार (preferential treatment) राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक अभिजात वर्ग का कोई महान कार्य नही समझा जाना चाहिए। वास्तव में, राजनीतिक सत्ता प्रशासन में उनको भागीदारी देने की सामाजिक नीति और सामाजिक तथा आर्थिक रूप से उनका उत्थान करना था। प्रारम्भ में आरक्षण का प्रतिशत (1950 के संविधान में) अनुसूचित जातियों के लिए 12.5 प्रतिशत था और अनुसूचित जनजातियों के लिए 5 प्रतिशत था, लेकिन 1970 में यह प्रतिशत बढ़ाकर इन के लिए क्रमश. 15 और 7.5 कर दिया गया था। आरक्षण नौकरियों, विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में प्रवेश में और केन्द्रीय तथा राज्य विधायिकाओं में प्रदान किया गया था। अन्ततः यह सार्वजनिक प्रतिष्ठानों और राष्ट्रीयकृत बैंकों में भी प्रदान किया गया। सभी राज्य सरकारों ने भी अपने नियंत्रण के आधीन सेवाओं में अनुसूचित जातियों (और जनजातियों) के लिए आरक्षण का प्रावधान करते हुए विधान बनाये। साथ ही, प्रोन्नतियों में आरक्षण आदि अन्य प्रकार की छूट भी राज्य सरकारों द्वारा प्रदान की गई।

जनवरी 1999 में न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्बन्धी गोपनीय फाइल में भारत के राष्ट्रपति की टिप्पणी, कि उच्च न्यायलयों एवं सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति में महिलाओं, दलितों और जनजातियों जैसे समाज के कमजोर वर्गों के लिए विशेष कोटा निश्चित करने पर विचार किया जाना चाहिए, ने कानूनी क्षेत्र में काफी हंगामा मचाया और योग्यतातन्त्र (meritocracy) बनाम संरक्षणात्मक भेदभाव पर काफी बहस को प्रेरित किया। विवाद यह नही है कि क्या राष्ट्रपति को चयन प्रक्रिया में इस प्रकार परिवर्तन के सुझाव देने का संवैधानिक अधिकार है या नही। मुद्दा यह है कि यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश का यह तर्क कि न्यायिक नियुक्तियों में केवल योग्यता ही महत्त्वपूर्ण है, तर्क संगत है तब यह अन्य क्षेत्रों—जैसे शिक्षा संस्थाओं, विज्ञान प्रयोगशालाओं आदि—में भी क्यों नहीं लागू किया जा सकता ? दूसरी ओर यदि राष्ट्रपति के दृष्टिकोण में तर्क है कि आरक्षण को सैन्य बलों तथा मंत्रिमण्डल के बनाने में भी क्यों नही लागू किया जा सकता ? राष्ट्रपति की टिप्पणिया कभी आकस्मिक नही होतीं। वे उनकी व्यक्तिगत राय नही होतीं। उनमें अधिकारिक मोहर लगी होती है। यदि न्यायाधीश और वरिष्ठ एडवोकेट न्यायतंत्र में योग्यता की प्रधानता में विश्वास रखते हैं तो क्या उच्चतम न्यायलय ओ.बी.सी. के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को स्वीकार करने सम्बन्धी नवम्बर, 1992 में दिए गए अपने पूर्व निर्णय का पुनरावलोकन करेगी ?

एक ओर तो लगभग पचास वर्षों से भी अधिक के अन्तराल में अनुसूचित जातियों *और जनजातियों के उत्थान के लिए आरक्षण नीति की असफलता, और दूसरी ओर आरक्षण* की राजनीति अथवा राजनैतिक दलों द्वारा ओ.बी.सी., दलित इसाईयों और मुस्लिमों जैसे समूहों को अपने चंगुल में फँसाने के लिए प्रयास तथा तीसरी ओर ओ.बी.सी श्रेणी में शामिल करने की कुछ जातियों की माँग (जैसे राजस्थान में जाटों द्वारा) ने समाज और अर्थव्यवस्था दोनों के लिए गम्भीर चुनौतियां प्रस्तुत कर दी हैं। 50 प्रतिशत पर आरक्षण सीमा बन्द करने सम्बन्धी उच्चतम न्यायालय के निर्णय तथा बाद में आरक्षण को 69 प्रतिशत करने सम्बन्धी तमिलनाडु आरक्षण अधिनियम (1993) के पारित होने से तथा इस अधिनियम को न्यायिक पुनरावलोकन से परे रखने के लिए संविधान में 85 वें संशोधन द्वारा शामिल करने से एक

के बाद दूसरी राज्य सरकारों के इसी प्रकार के विधान बनाने के द्वार खुल गए हैं। इसी सन्दर्भ में आरक्षण के प्रकरण का महत्व अधिक हो गया है।

अनेक लोगों द्वारा उठाया जा रहा प्रश्न अब यह है कि क्या अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए शिक्षा सस्थाओं, नौकरियों, लोकसभा और विधान सभाओं में आरक्षण जारी रहना चाहिए ? एक तर्क तो यह है कि यह तो सविधान के लागू होने के 10 वर्ष के अन्दर ही समाप्त हो जाना चाहिए था। प्रति दस वर्ष की इसकी अवधि बढाकर हम सविधान निर्माताओं की इच्छाओं के विरुद्ध जा रहे हैं। वास्तव में, यह योग्यता को अमान्य करना तथा अधिक योग्य को वचित रखना है। भारत में अनुसूचित जातिया और जनजातिया मिलकर कुल जनसख्या के 24.56 प्रतिशत हैं (16 48% और 8 08% क्रमश), ओ बी सी 51 प्रतिशत, आर्थिक रूप से कमजोर 10 प्रतिशत और मुस्लिम 12 प्रतिशत हैं। यह सब 97.56 प्रतिशत हो जाते हैं। जब लगभग समूचा देश ही पिछडा हुआ हो तब पिछडे वर्ग के किसी विशेष वर्ग के लिए विशेष उपायों को करना कितना न्याय सगत है ?

दूसरा तर्क यह है कि हमने कमजोर वर्ग की दशा सुधारने के लिए 50 वर्षों से प्रयत्न किया है। यदि आरक्षण से उनकी दशा में वास्तव में अब तक कोई सुधार नही हुआ है तो इस प्रकार के निष्प्रभावी प्रबन्ध को जारी क्यों रखा जाये ? आरक्षण के लाभ केवल 'सम्पन्न स्तर' (creamy layer) के लोगों के लिए हैं। तीसरा तर्क यह है कि यह (आरक्षण) नीति वोट के लिए भुनाई जा रही है। इसमें कोई एतराज नही होगा यदि अवसर की समानता की अवधारणा के अन्तर्गत ही आरक्षण प्रदान किया जाये।

दूसरी ओर एक विचार यह भी है कि क्योंकि आरक्षण का लक्ष्य (दलितों के लिए) प्राप्त नही किया जा सका है, इसको कुछ और दशाब्दियों तक जारी रखा जाना चाहिए। दूसरा विचार यह है कि अब आरक्षण को धीरे धीरे समाप्त करने का समय आ गया है। यह या तो सम्पन्न स्तर को समाप्त करके किया जा सकता है या आरक्षण प्रतिशत को समाप्ति के बिन्दु तक ले जाकर। वास्तव में, यह प्रक्रिया बहुत पहले शुरु कर दी जानी चाहिए थी। हमारे देश के लिए यह अच्छा होता कि हम जाति विहीन समाज के साथ 21वी शताब्दि में प्रवेश करते।

हमारी मान्यता यह है कि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में आरक्षण की नीति को समाप्त करना चाहिए परन्तु व्यावहारिक रूप में इस समय समाप्त करना कठिन होगा। हम राय बर्मन (Roy Burman) के इस विचार (*Beyond Mandal And After Backward Classes Perspective*, Mittal Publications, New Delhi, 1992) से सहमत हैं कि कुछ और वर्षों के लिए आरक्षण को अनुसूचित जातियों, जनजातियों और ओ बी सी के लिए बढा दिया जाना चाहिए। आरक्षण नीति को वैज्ञानिक एव तर्कसगत बनाया जाना चाहिए। प्रदत्त राजनैतिक और आर्थिक सरचना में जाति (या जन्म, या परिवार) किसी के जीवन अवसरों को निर्धारित नही कर सकती। यह माना जाता है कि दलित (जनजाति और ओ बी सी भी) एक समान समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन वास्तव में वे विषम समूही हैं इसलिए बी एस भार्गव और अविनाश सामल (B S Bhargava and Avinash Samal, *The Indian Journal of Public Administation*, New Delhi, July-September 1998 : 518) का अनुसरण करते हुए यह सुझाव दिये जा सकते हैं (1) पिछडेपन के निर्धारण में जाति की

अपेक्षा आय को महत्व दिया जाना चाहिए, (ii) क्रीमी सतह की अवधारणा अनुसूचित जातियों व जनजातियों पर भी लागू होनी चाहिए, (iii) आरक्षण का लाभ केवल प्रथम पीढ़ी के लाभार्थियों को मिलना चाहिए। उन प्रत्याशियों को जिनके माता पिता एक बार नौकरी में आरक्षण का लाभ ले चुके हैं, उन्हें यह सुविधा नहीं दी जानी चाहिए (iv) छात्रवृत्ति में छूट अच्छी संस्थाओं में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने के लिए हाई स्कूल और स्नातक पाठ्यक्रमों में अंकों के निर्धारित प्रतिशत (48%) से अधिक अंक प्राप्त करने वाले दलित (जनजाति और ओबीसी) छात्रों को ही दी जानी चाहिए। ये सभी उपाय उन लोगों को लाभ देंगे जो सहायता के योग्य हैं।

कृषि और औद्योगिक वर्ग संरचना (Agrarian and Indusrial Class Structure)

यद्यपि जाति और वर्ग एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं लेकिन वर्ग स्तरीकरण जैविक सबंधी (organic) रूप से जाति स्तरीकरण से सम्बद्ध है। वर्ग को सार्वभौमिक घटना माना जाता है। औद्योगिक समाजों में जब अन्तर बुर्जुआ और श्रमजीवी जनता के बीच किया जाता है, कृषि समाजों में यह भेद भू-स्वामी और भूमिहीन वर्ग के बीच किया जाता है। मार्क्स के इस दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए, यह कहा जा सकता है कि बुर्जुआ वर्ग उच्च आय का भोग करता है, उनकी शिक्षा का स्तर ऊचा होता है, और उनकी प्रतिष्ठा भी ऊँची होती है। सर्वहारा वर्ग की आय कम होती है, उनकी शिक्षा का स्तर निम्न व प्रतिष्ठा भी निम्न ही होती है। इन दो वर्गों के बीच मध्यम बुर्जुआ वर्ग की आय और प्रतिष्ठा भी मध्यम होती है और शिक्षा का स्तर श्रमिकों से कुछ ऊपर लेकिन बुर्जुआओं के स्तर से कम होता है। भारत में जाति पर अध्ययनों की तुलना में वर्ग के अध्ययन का साहित्य कम है। वर्ग स्तरीकरण का विश्लेषण मार्क्सवादी तथा गैर-मार्क्सवादी दोनों रूझानों वाले समाजशास्त्रियों ने किया है। जनगणना एजेन्सियों ने वर्ग श्रेणियों के विश्लेषण में सामान्यत. कृषि और गैर कृषि जीविकोपार्जन को सन्दर्भित किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने वर्ग सरचना के विश्लेषण में 'मालिक' और 'रैयत' (ryots), शब्दों का भी प्रयोग किया है।

कृषि वर्ग सरचना (Agrarian Class Structure)

कुछ विद्वानों के अनुसार जाति स्तरीकरण ग्रामीण तथा वर्ग स्तरीकरण शहरी स्थिति से सम्बन्धित है। योगेन्द्र सिंह (ICSSR Survey Report, Vol I, 1974 · 358) ने माना है कि यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है। यह सामाजिक-ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधारित नहीं है। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने बताया है कि प्रारम्भिक भारत एक स्थिर समाज था जहा परिवर्तन की अपेक्षा निरन्तरता प्रमुख गुण था, लेकिन स्थिर भारत की इस भ्रान्ति (fallacy) पूर्ण परिकल्पना की कुछ विद्वानों ने [P.C Joshi (1970), Yogendra Singh (1973), B Cohn (1968); और Romila Thaper (1972)] आलोचना की है। अनेक वर्ग, जैसे पुजारी, सामन्ती मुखिया, व्यापारी, शिल्पी, कृषक, मजदूर, आदि भारत में भी थे। व्यापारियों की सामाजिक श्रेणीक्रम में निम्न स्थिति नहीं थी। उनकी गतिशीलता का आधार उनका आर्थिक सम्बन्ध होता था। उनकी जाति प्रस्थिति उनकी वर्ग प्रस्थिति से टकराती नही थी। योगेन्द्र सिंह (op cit., 1974 :334) मानता है कि समय, धन और सम्पत्ति के बदलने पर

अनेक जातियों की स्थिति ने सुधरी हुई प्रस्थिति को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, विशेष रूप से व्यापारी वर्ग में।

1000 A D के बाद के समय में शहरों में व्यापारियों, शिल्पियों, आदि वर्गों का विकास हुआ। मुगल काल में भी, क्योंकि उत्पादन का एक बडा भाग बाजारों में ले जाया जाता था, इसलिए शहरों और गाँवों दोनों के वर्ग सरचना की गतिशीलता जारी रही। इसमें न केवल गाँवों में कृषि वर्ग का अस्तित्व सम्मिलित था, बल्कि शहरों और कस्बों के व्यापारी, बिचौलिए, साहूकार, आदि भी शामिल थे।

ब्रिटिश काल में वाणिज्य व्यापार की नीति ने शिल्पी (artisan) वर्ग को प्रभावित किया और बडे पैमाने पर उनको शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन के लिए प्रेरित किया। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के बन्दरगाहों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैये, बडी सख्या में बडे शहरों की उपेक्षा की शैली, कर-नीति, और कई अन्य सामाजिक-आर्थिक नीतियों ने परम्परागत भारतीय आर्थिक सरचना तथा वर्ग सरचना को भी पतन की ओर धकेल दिया। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि बन्दोबस्त नीति (settlement policy) के कारण वर्ग सरचना भी प्रभावित हुई। इसी बीच ब्रिटिश नीतियों ने सामन्ती-कृषि वर्ग सरचना के उदय के लिए नई राहें पैदा कर दी। शहरों में एक नव-औद्योगिक और व्यापारी मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। एक नौकर शाह-प्रशासक वर्ग का भी उदय हुआ।

ब्रिटिश शासन काल में जिस कृषि व्यवस्था का ग्रामीण क्षेत्रों में उदय हुआ था वह या तो जमीन्दारी या रैयतवारी प्रकार के भूमि बन्दोबस्त पर आधारित था। जमीदारी प्रथा में तीन प्रमुख कृषि वर्ग थे जमींदार, आसामी (tenants) और कृषि मजदूर। रैयतवाडी प्रथा में दो प्रमुख वर्ग थे रैयत-भू-स्वामी और रैयत कृषक। कृषि वर्ग सरचना की विशेषता भारत में सर्वत्र सामन्ती प्रकृति की थी। जमीदार (भूमि स्वय न जोतने वाले भू-स्वामी) कर सग्रहाक थे। आसामी वास्तविक कृषक थे (जिनकी बहुधा भूमि पर जोत की अवधि निश्चित नहीं होती थी) और कृषि मजदूरों की स्थिति बन्धुआ मजदूरों जैसी होती थी। शासकों की शक्ति होने के साथ यह अति शोषणवादी व्यवस्था, कृषक असन्तोष, तथा आन्दोलनों के बावजूद, देश की राजनैतिक स्वतत्रता की प्राप्ति तक जारी रही। राष्ट्रीय नेतृत्व ने भी किसानों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई और देश के कई भागों में किसान आन्दोलन चले (A R Desai, *Peasant Movements*)।

स्वतत्रता के बाद भूमि सुधार लागू किए गए और कृषि वर्ग सरचना का रूप-परिवर्तन शुरू हुआ। जमीदारी उन्मूलन व्यवस्था ने जमीदारों की शक्ति छीन ली। डेनियल थारनर (Daniel Thorner, 1973) ने आजादी के बाद कृषि वर्गों के सन्दर्भ में तीन प्रमुख वर्गों की बात कही है मालिक, किसान और मजदूर, जबकि कोटोस्की (Kotovsky, 1964) ने वर्गों को भू-स्वामी, धनी कृषक, भूमिहीन किसान, और कृषि मजदूर वर्गों में बाँटा है। गत दो दशाब्दियों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने भूस्वामियों के विभिन्न वर्गों की चर्चा की है, जैसे भू-स्वामी (10 हैक्टेयर से अधिक भूमि वाले), छोटे भू-स्वामी (2-10 हैक्टेयर भूमि वाले), सीमान्त भूस्वामी (2 हैक्टेयर से कम भू-स्वामी), और कृषि मजदूर। राम किशन मुकर्जी ने कृषि सरचना में तीन वर्गों का सन्दर्भ दिया है - भू-स्वामी और निरीक्षक (supervisors) किसान, आत्म निर्भर किसान और बटाई किसान, तथा कृषि मजदूर।

योगेन्द्र सिंह (ICSSR Survey Report, Volume I, 1974. 343-344) ने स्वतंत्रता के बाद कृषि वर्ग संरचना में अनेक प्रवृत्तियों के उभरने की बात कही है। यह है: (1) भू सुधार आदेश स्वतंत्रता समाम के बीच और उसके बाद भी प्रस्तुत किये गये थे और भू-सुधारों के लिए शुरू किए गए वास्तविक उपायों के बीच बड़ी खाई है। (2) यह खाई राजनितिज्ञों के वर्ग चरित्र और प्रशासकीय अभिजात वर्ग के वर्ग चरित्र का परिणाम है। (3) धनी किसानों की आर्थिक समृद्धि बढ़ी है लेकिन छोटे किसानों की आर्थिक दशा गिरी है। (4) सामन्ती प्रकार की आसामियत के स्थान पर पूंजीवादी प्रकार की लीज-श्रम या पारिश्रमिक मजदूर कृषि व्यवस्था के रूप में आ गई है। (5) चोटी एव सतही स्तर के वर्गों के बीच असमानताए कम होने के बजाय बढ़ी हैं।(6) कृषि मजदूरों को भूमि सुधारों के लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं। (7) ग्रामों में वर्तमान वर्ग रूपान्तरण की प्रमुख समाजशास्त्रीय प्रक्रिया में अनेक सामाजिक स्तरों का 'सर्वहारीकरण' (*proletarianizaton*) और कुछ का बुर्जुआकरण (embourgeoisiement) भी सम्मिलित है। पी.सी. जोशी (P.C. Joshi, 1971) ने कृषि वर्ग ढाँचे में आने वाली प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में संकेत किया है (1) सामन्ती प्रकार की आसामियत में कमी और इसके स्थान पर अधिक शोषणकारी लीज़ प्रबन्ध (2) व्यापारोन्मुख जमींदारों का उदय। आन्द्रे बेतेइ ने परिवर्तनशील सामाजिक स्तरीकरण के कारण 'सामूहिक असामनताओं से बिखरी हुई असमानताओं' की बात कही है।

औद्योगिक वर्ग सरचना (Industrial Class Structure)

औद्योगीकरण के मुख्य प्रभाव इस प्रकार हैं : (1) कृषि में सलग्न मजदूरों का प्रतिशत नीचे आया है जबकि व्यक्तिगत क्रियाओं में संलग्न मजदूरों का प्रतिशत बढ़ा है; (2) सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में वृद्धि हुई है, (3) मजदूर संघों ने औद्योगिक मजदूरों को अपने अधिकारों के लिए लडने के लिए सगठित किया है; (4) औद्योगिक श्रमिक क्योंकि अपने प्रकार के समूहों और जातियों से निकट का निरन्तर सम्बन्ध बनाए रखते हैं, जाति स्तरीकरण *वर्ग चरित्र को प्रभावित नही कर सका है (5) परम्परागत तथा करिश्माई अभिजात वर्ग* के स्थान पर पेशेवर अभिजात वर्ग आ गया है। मारिस डी. मारिस (Morris D Morris ("The emergence of an Industrial labour force in India" in Dipankar Gupta, *Social Stratification*,1991, 231-247) ने औद्योगिक श्रमिकों के व्यवहार प्रतिदर्श के सम्बन्ध में दो विचार रखे हैं एक विचार तो यह है कि उद्योगों के श्रमिकों की कमी के कारण नियोजकों को अपने कार्य बल के लिए कठिनाई उठानी पडती थी और हर प्रकार की छूट अपने कर्मचारियों को देनी पडती थी जिसके कारण कर्मचारियों पर उनकी पकड ढीली हो जाती है और श्रमिक अक्सर अपने गाँवों को लौट जाते थे, दूसरा विचार श्रमिकों के शहरों में रोजगार के लिए गाँवों में अधिकता से उपलब्धि का है। सरलता से श्रमिक उपलब्ध होने के कारण नियोजक श्रमिकों को निर्दयता से गाली-गलौच करते थे। क्योंकि फैक्ट्रियों में कार्य-दशाएँ असह्य होती थीं, इसलिए वे अपने गाँवों को जाने को बाध्य होते थे। इस प्रकार दोनों ही विचारों में यह माना गया कि श्रमिक अपने ग्रामीण सम्बन्ध को बनाए रखते थे जो कि औद्योगिक विकास के लिए श्रम आपूर्ति को सीमित कर देती थी। परिणामत सर्वहारा प्रकार के व्यवहार का विकास नहीं हुआ। इससे अनुपस्थिति की दर में

वृद्धि और श्रम आवक में भी वृद्धि हुई और मजदूर सघों का विकास मन्द हो गया।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त चार अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर हुईं। प्रथम, उद्योगों में स्त्रियों और बच्चों का रोजगार सीमित था। लगभग 20 से 25 प्रतिशत श्रम-बल स्त्रियों का, और 5 प्रतिशत बच्चों का था। ऐसा इसलिए था और 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कानूनन रोजगार नही दिया जा सकता था। *द्वितीय*, यद्यपि यह कहा जाता है कि उद्योग जाति के प्रति उदासीन होता है क्योंकि कोई भी एक जाति पर्याप्त श्रम पूर्ति नही कर सकती और क्योंकि कर्मचारी जाति सम्बन्धों में रुचि नहीं लेते, फिर भी श्रमिक अपने नियोजकों को अस्पृश्यों की भर्ती नही करने देते थे। *तृतीय*, उद्योगों में अधिक सख्या में श्रमिक वे होते थे जिनका भूमि पर कोई महत्त्वपूर्ण दावा नहीं होता था। *चतुर्थ*, श्रमिक उसी जिले के नही होते थे जिसमें उद्योग स्थित होता था बल्कि विभिन्न जिलों और पडौसी राज्यों से भी भर्ती किए जाते थे। अत श्रम के उद्योग में प्रवेश पर कोई भौगोलिक बाधाए नहीं थी। ग्रामीण सामाजिक सरचना (सयुक्त परिवार प्रथा) भी नगरीय आर्थिक विस्तार के लिए आवश्यक जनसख्या के आने-जाने में कोई अवरोध नही थी। किसी भी उद्योग में कुल श्रमिकों के, एक अनुमान के अनुसार, लगभग 25 प्रतिशत स्थानीय होते हैं, 10 प्रतिशत उद्योग के स्थान के 100 किलोमीटर के भीतर से ही आते हैं, 50 प्रतिशत 100 से 750 किलोमीटर से और 15 प्रतिशत 750 किलोमीटर से भी दूर से। यह दर्शाता है कि उद्योगों में श्रमिक काफी लम्बी दूरी के स्थानों से आते हैं। ये सभी विशेषताए भारत में उद्योग श्रम बल के वर्ग पक्ष की व्याख्या करती हैं।

श्रमिक वर्ग का विश्लेषण करते हुए होल्मस्ट्राम (Holmstrom, see, Dipankar Gupta, 1991, 248-260) ने कहा है कि सभी श्रमिक सभी हितों में भाग नही लेते बल्कि वे तो केवल कुछ ही हितों में भाग लेते हैं। उसने यह भी कहा है कि सगठित और असगठित क्षेत्र के औद्योगिक श्रमिकों के बीच वर्ग रेखा खीचना आवश्यक है। जोशी (1976) ने भी कहा है कि सगठित और असगठित क्षेत्र के औद्योगिक श्रमिक विरोधी हितों वाले दो अलग-अलग वर्ग हैं। यह चार कारकों में अन्तर के आधार पर बताया जा सकता है पारिश्रमिक, दशाएँ, सुरक्षा, और सामाजिक जगत्।

पारिश्रमिक (wages) इस बात पर निर्भर है कि उद्योग बडा है (1000 से अधिक श्रमिकों वाला) या छोटा (250-1000 श्रमिकों वाला) या बहुत छोटा है (50 से भी कम श्रमिकों वाला)। 1973 में पश्चिम बगाल ने उपरोक्त तीन प्रकार के उद्योगों के लिए विविध न्यूनतम पारिश्रमिक तय किए। बडे उद्योगों में छोटे उद्योगों की अपेक्षा काफी कम मजदूरी दी जाती है क्योंकि वे वेतनमान के अर्थशास्त्र, मजदूर सगठनों और श्रमिकों की मजबूत सौदेबाजी की स्थिति से प्रभावित रहते हैं। स्वाभाविक है कि श्रमिकों का हित उस उद्योग के प्रकार पर निर्भर करता है जिसमें वे काम करते हैं।

कार्य दशाए (working conditions) भी श्रमिकों के हितों को प्रभावित करती हैं। उन उद्योगों में काम करने वाले, जिनमें अच्छी दशाए (working conditions) होती हैं, सुरक्षा उपाय अधिक और दुर्घटनाए कम होती है, कम ध्वनि, और नीरसता कम होती है, थकान कम होती है, कार्य समय कम होता है, कार्य-स्थान अधिक होता है, सूक्ष्म नियत्रण और कम परेशानिया, अधिक सीखने का अवसर मिलता है, कैण्टीन, शिशुगृह व सफाई के कमरे

आदि होते हैं, वहां श्रमिकों के हित उन उद्योगों के श्रमिकों के हितों से भिन्न होते हैं जहा ये सब सुविधाए उपलब्ध नही कराई जाती हैं। इसलिए वे दो भिन्न प्रकार के श्रमिक वर्ग के रूप में काम करते हैं।

सुरक्षा और जीवन अवसर (security and career chances) भी दो प्रकार के श्रमिक वर्ग की ओर सकेत करते हैं। स्थाई श्रमिक के पास न केवल नौकरी होती है बल्कि अच्छा रोजगार भी जबकि अस्थाई श्रमिक अपनी नौकरी के लिए चिन्तित रहता है। स्थाई श्रमिक का कार्य जीवन का भविष्य होता है लेकिन अस्थाई श्रमिक तो वर्तमान में ही फँस कर रह जाता है। स्थाई श्रमिक अपने कार्य रोजगार में कुशलता सीखकर प्रोन्नति के अवसर प्राप्त करने की योजना बना सकता है जबकि अस्थाई श्रमिक डरा हुआ रहता है कि सघ (union) बनाने पर कही उसकी नौकरी न चली जाये।

अन्तिम *सामाजिक जगत्* भी श्रमिकों को दो वर्गों में विभाजित करता है। सामाजिक जगत का अर्थ है आर्थिक दशाओं में अन्तर, जीवन अवसर, परस्पर सहायता और निर्भरता, आदि। संगठित क्षेत्र में फैक्ट्री श्रमिक अधिक सगठित होते हैं और वे कम आक्रामक और कम तनाव में रहते हैं। उनके हित और विचारधाराएँ उन्हें 'बाहरी व्यक्तियों' (outsiders) से अलग रखते हैं। इस प्रकार सगठित क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिक विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्ग बनाते हैं।

4

परिवार, विवाह और नातेदारी

(Family, Marriage and Kinship)

परिवार व्यवस्था
(Family System)

परिवार · अवधारणा और प्रकार (Family : Concept and Forms)

प्रजनन तथा जैविक इकाई के रूप में परिवार में सामाजिक स्वीकृति से यौन सम्बन्ध रखने वाले एक स्त्री और एक पुरुष और उनकी सन्तान (चाहे वह प्राकृतिक हो या गोद ली हुई) होते हैं। सामाजिक इकाई के रूप में परिवार को "दोनों लिंगों के व्यक्तियों का वह समूह कहा जाता है जो विवाह या रक्त या गोद लेने के अधिकार से जुड़े हुए हों, जो आयु, लिंग और सम्बन्धों पर आधारित भूमिकाएँ अदा करते हों, और जो सामाजिक रूप से एकाकी गृह (single household) में रहते हों।" एलेन रॉस की परिवार की परिभाषा में पारिवारिक जीवन के भौगोलिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्व शामिल हैं। उसके अनुसार (1961 · 31), "परिवार किसी विशेष प्रकार के बन्धुओं (kindred) के रूप में सामान्यत सम्बन्धित लोगों का समूह है जो एक ही गृह में रहते हैं और जिनकी एकता उनके अधिकारों, कर्तव्यों तथा भावनाओं के रूप में निहित रहती है। रास ने परिवार की चार उप-सरचनाओं में भेद किया है (1) परिस्थितिक (ecological) उप-सरचना, अर्थात् परिवार में सदस्यों और उनकी गृहस्थियों का जगह के अनुसार (spatial) प्रबन्ध, या नातेदार किस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट रहते हैं। सरल शब्दों में यह गृह के आकार तथा परिवार के प्रकार को बताता है, (ii) अधिकारों और कर्तव्यों की उप सरचना, अर्थात् गृह के भीतर श्रम विभाजन, (iii) शक्ति और अधिकार की उप सरचना, अर्थात् सदस्यों के कार्यों पर नियत्रण, और (iv) भावनाओं की उप-सरचना, अर्थात् विभिन्न सदस्यों के बीच सम्बन्ध, जैसे पति-पत्नि के बीच, माता पिता और सन्तान के बीच, और भाई-भाई या भाई-बहन या सहोदरों के बीच के सम्बन्ध, आदि।

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के परिवार बताएँ हैं। के.पी चट्टोपाध्याय (1961 75) ने तीन प्रकार के परिवार बताए हैं सिम्पल या सरल (simple) परिवार (पुरुष, पत्नि, और अविवाहित बच्चे), यौगिक या कमपाउन्ड सयुक्त (compound) परिवार (दो सरल परिवार, जैसे पुरुष, उसकी पत्नि, उनके अविवाहित बच्चे, और पति के माता-पिता और अविवाहित भाई बहिनें), और समिश्र या कम्पोजिट (composite) परिवार, (समरेखीय (lineal) या भिन्न शाखाई (collateral) सयुक्त परिवार)। अधिकार के आधार पर

परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है : पति प्रभुत्व वाला, पत्नि प्रभुत्व वाला, समानवादी प्रभुत्व वाला (equalitarian) तथा स्वायत्त (autonomic) परिवार। बर्जिस और लॉक (Burgess and Lock, 1963 : 26) ने परिवारों को सदस्यों के व्यवहार के आधार पर *संस्थात्मक* (institutional) और सहचारिता (companionship) परिवारों में वर्गीकृत किया है। संस्थात्मक परिवार में सदस्यों का व्यवहार जनमत और अनेक रीतियों से नियमित किया जाता है, जबकि सहचारिता परिवार में पारस्परिक स्नेह और मतैक्य (consensus) से व्यवहार का उदय होता है। नातेदारी बन्धनों के आधार पर परिवारों का वर्गीकरण दाम्पत्य अथवा वैवाहिक परिवार (conjugal) (जिसमें वैवाहिक बन्धनों को वरीयता दी जाती है) और रक्तमूलक परिवार (consanguine) (जिसमें रक्त सम्बन्धों को वरीयता दी जाती है) में किया गया है। जिमरमैन (1947 : 20) ने इनका वर्गीकरण *न्यासी* (trustee) (जहा सदस्यों को परिवार के प्रतिमानों का अनुपालन करना होता है और उनके व्यक्तिगत अधिकार नहीं होते), *परमाणुवादी* (atomistic) (जिसमें परम्परागत लोकरीतियों का महत्व कम हो जाता हैं और प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छा का कार्य कर सकता है), और *घरेलू* (domestic) परिवार (जो कि न्यासी परिवार तथा परमाणुवादी परिवार के मध्य प्रकार का होता है) के रूप में किया है। मैने विखंडित (fissioned) परिवार की संकल्पना की है जो संरचना और कार्यों में एकल परिवार (nuclear) है और जो पैतृक (parental) परिवार से पृथक किया हुआ होता है।

संयुक्त परिवार : प्रकृति, स्वरूप और विशेषताएँ

(Joint Family : Nature, Types and Characteristics)

विभिन्न विद्वानों ने संयुक्त परिवार की विविध संकल्पनाएँ की है। जहां इरावती कर्वे संयुक्तता में 'सह-निवासिता' (co-residence) को महत्त्वपूर्ण मानती है, वही हैरोल्ड गूल्ड, रामकृष्ण मुखर्जी, एस सी दुबे, बी.एस कोहेन, तथा पाउलिन कोलेण्डा सह-निवासिता और सह-भोज को संयुक्तता के आवश्यक तत्व नही मानते। बेली (Bailey) और टी.एन. मदान निवास और सह-भोज के भेदभाव के बिना सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व को महत्व देते हैं। आई.पी देसाई दायित्वों (obligations) की पूर्ति को महत्व देता है, भले ही निवास अलग हो और सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व न हो।

इरावती कर्वे के अनुसार (1983 · 21) परम्परागत प्राचीन भारतीय परिवार (वैदिक और महाकाव्य युग) निवास, सम्पत्ति, और कार्यों (functions) में संयुक्त था। उसने संयुक्त परिवार की पाँच विशेषताएँ बताई हैं सह-निवास, सह-रसोई, सह-सम्पत्ति, सह-परिवार पूजा, और कोई नातेदारी सम्बन्ध। इस आधार पर उसने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार को है "व्यक्तियों का समूह जो सामान्यत एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही चूल्हे पर पका भोजन करते हैं, सम्पत्ति में समान हिस्सा रखते हैं, पारिवारिक पूजा अर्चना में समान रूप से भाग लेते हैं और एक दूसरे से किसी प्रकार के बन्धु (kindred) सम्बन्ध रखते हैं।"

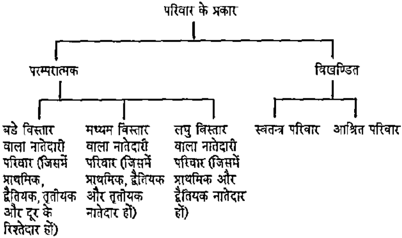
'संयुक्त सम्पत्ति' शब्द (1956 के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के अन्तर्गत) का अर्थ है कि तीन पीढियों तक सभी जीवित पुरुष और स्त्री सदस्य पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा रखते हैं। आई.पी.देसाई के अनुसार (1956 41) समान निवास और रसोई संयुक्त परिवार के

उतने महत्वपूर्ण आयाम नही हैं जितने कि अन्तरापारिवारिक सम्बन्ध हैं। वह मानता है कि जब नातेदारी (kinship) सम्बन्धी दो परिवार अलग-अलग रहते हों लेकिन एक ही व्यक्ति के आधीन कार्य करते हों, तब इसे सयुक्त परिवार कहा जायेगा। इसे वह 'प्रकार्यात्मक सयुक्त परिवार' कहता है। पारम्परिक सयुक्त परिवार वह उसे कहता है जिसमें तीन या अधिक पीढियाँ निहित हों। दो पीढी परिवार को वह 'सीमान्त (marginal) सयुक्त परिवार' कहता है। रामकृष्ण मुखर्जी (1962 352-98) पाँच प्रकार के सम्बन्ध बताते हुए सयुक्त परिवार को परिभाषित करता है। ये सबध है दाम्पत्य मूलक (conjugal) सबध, माता-पिता व सन्तान के सम्बन्ध, अन्तर-सहोदर सबध, समरेखीय (lineal) सबध और विवाह सबधी (affinal) सबध। उनके अनुसार "सयुक्त परिवार समान निवास (co-resident) और सह-भोजी (commensal) नातेदारी समूह है जिसमें प्रथम तीन प्रकार के सम्बन्धों में से एक या एक से अधिक सम्बन्ध तथा इसके अलावा समरेखीय या वैवाहिक सम्बन्ध भी होते हैं"।

आई पी देसाई ने पाच प्रकार के परिवार बताए हैं एकल, प्रकार्यात्मक रूप से सयुक्त, प्रकार्यात्मक तथा धन के आधार पर सयुक्त (सम्पत्ति के अर्थ में), सीमान्त सयुक्त, और पारम्परिक सयुक्त। के एम कापडिया (1959 74) ने भी पाँच प्रकार के परिवार बताए हैं एकल परिवार (पति, पत्नी और अविवाहित बच्चे), एकल परिवार विवाहित पुत्रों के साथ (जिसे आईपी देसाई सीमान्त सयुक्त और एलीन रॉस लघु सयुक्त परिवार कहते हैं) एकरेखीय (lineal) वशज सयुक्त, भिन्नशाखीय सयुक्त, और आश्रित व्यक्ति के साथ वाला एकल परिवार (विधवा बहिन, आदि)। एलीन रॉस (1966 34) ने चार प्रकार के परिवार बताए हैं वृहत् सयुक्त, लघु सयुक्त, एकल, और आश्रितों सहित सयुक्त।

इन सभी प्रकार के परिवारों को एक साथ देखने पर सयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है "वशावलि की विविधता से सम्बन्धित (multiplicity of geneologically related) एकल परिवार जो निवास और सह भोजी सबधों में सयुक्त हों और जो एक ही व्यक्ति के आधीन कार्य करते हों"। एम एस गोरे (1968 : 6-7) ने कहा है कि सयुक्त परिवार को "समानाशी (co-parceners) तथा उनके आश्रितों के परिवार" के रूप में देखना चाहिए, न कि एकल परिवारों के बहुत्व (multiplicity) के रूप में। वह मानता है कि एक एकल परिवार में दाम्पत्य मूलक (conjugal) सम्बन्धों पर बल दिया जाता है जबकि सयुक्त परिवार में सतानीय (filial) और भ्रातृक (fraternal) सम्बन्धों पर बल दिया जाता है। गोरे के अनुसार सयुक्त परिवार तीन प्रकार के होते हैं सतानीय (filial) सयुक्त परिवार, (माता पिता व उनके विवाहित बेटे अपनी सतति के साथ), भ्रातृक सयुक्त परिवार (दो विवाहित भाई और उनके बच्चे), और सतानीय तथा भ्रातृक (मिश्रित) सयुक्त परिवार।

मैं उस एकल परिवार को 'विखण्डित' (fissioned) परिवार मानता हूँ जो अपने पिता के या विवाहित भाइयों के परिवार से अलग हो गया हो। यह विखण्डित परिवार किसी प्रकार की नातेदारी से सम्बन्धित अन्य एकल परिवार पर निर्भर भी हो सकता है तो स्वतत्र भी। दूसरी ओर मैंने नातेदारों (kin) के प्रकार के सदर्भ में (प्राथमिक, द्वैतियक, तृतीयक, और दूर का) सयुक्त परिवार का वर्गीकरण किया है। इस प्रकार, मैं निम्निलिखित पाँच प्रकार के परिवार मानता हूँ :



संयुक्त परिवार की विशेषताएँ इस प्रकार दी जा सकती हैं

1. *इसकी सरचना सत्तावादी* (authoritarian) होती है, अर्थात् निर्णय लेने की शक्ति परिवार के मुखिया के हाथ में होती है (पितृसत्तात्मक)। सत्तावादी परिवार के विपरीत लोकतांत्रिक परिवार में दक्षता और योग्यता के आधार पर सत्ता एक या दो व्यक्तियों के हाथ में रहती है।
2. *इसका सगठन पारिवारिक* (familistic) होता है, अर्थात् व्यक्ति-हित पूर्ण परिवार के हितों के आधीन होते हैं या परिवार के लक्ष्य व्यक्तिगत लक्ष्य होते हैं।
3. *सदस्यों की प्रस्थिति उनकी आयु व सम्बन्ध (नातेदारी) से निर्धारित होती है;* पुरुष की प्रस्थिति उसकी पत्नि से ऊँची होती है, दो पीढ़ियों में उच्च पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति निचली पीढ़ी में व्यक्ति की प्रस्थिति से ऊँची होती है, समान पीढ़ी में, अधिक आयु के व्यक्ति की प्रस्थिति कम उम्र के व्यक्ति से ऊँची होती हैं, और एक स्त्री की प्रस्थिति उसके पति की प्रस्थिति से निर्धारित की जाती है।
4. *सतानीय (filial) एवं भ्रातृक सम्बन्धों को दाम्पत्य सम्बन्धों से वरीयता प्राप्त होती है,* अर्थात् पति पत्नि सम्बन्ध पिता/पुत्र सम्बन्ध से या भाई-भाई सम्बन्धों से निम्न होते हैं।
5. *परिवार सयुक्त उत्तरदायित्व के आदर्श के आधार पर कार्य करता है।* यदि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिये ऋण लेता है तब उस ऋण के चुकाने का उत्तरदायित्व पुत्रों का भी होता है।
6. *सभी सदस्यों पर समान रूप से ध्यान दिया जाता है।* एक गरीब भाई के पुत्र को भी उसी स्कूल में प्रवेश दिलाया जायेगा (भले ही महगा हो) जिसमें धनी भाई के पुत्र को।
7. *परिवार में अधिकार (पुरुषों पुरुषों के बीच, पुरुषों स्त्रियों के बीच, और स्त्रियों स्त्रियों के बीच) वरिष्ठता (seniority) के सिद्धान्त से निर्धारित होता है।* यद्यपि सबसे बड़ा

अधिकार' पर) राजस्थान में परिवारों के अध्ययन किए। दोनों ही अध्ययनों द्वारा यह स्पष्ट हुआ कि यद्यपि एकल परिवारों की सख्या अधिक है लेकिन यह, यह नही बताता कि सयुक्त परिवार व्यवस्था गायब हो रही है।

रामकृष्ण मुखर्जी ने 1960-61 में पश्चिम बगाल में परिवार का अध्ययन किया था। उसने पाया कि (1975 5-50), (1) आकार (size) परिवार की सयुक्त या एकल सरचना का सकेत नही है। 4,120 परिवारों अपने सर्वेक्षण में उसने क्रमश 4.50 और 4 83 एकल और सयुक्त परिवार का औसत आकार बताया। (2) सयुक्त परिवार का आकार बडा नहीं है क्योंकि 'मूल दम्पत्ति' (root couple) सामान्यत 75 वर्ष से अधिक जीवित नही रहता। पति पत्नी, प्रथम बार माता पिता तब बनते हैं जब पुरुष 25-29 वर्ष आयु समूह में तथा पत्नी 20-24 वर्ष आयु समूह में होती है। वे प्रथम बार दादा दादी तब बनते हैं जब पुरुष 45-49 वर्ष आयु समूह और उसकी पत्नी 40-44 वर्ष आयु समूह में होते हैं। वे पर-दादा पर दादी (great grand parents) प्रथम बार तब बनते हैं जब 'मूल दम्पत्ति' पुरुष 75-79 वर्ष आयु समूह में होता है और उसकी पत्नी 70-74 वर्ष आयु समूह में होती है। उनका प्रथम पुत्र व उसकी पत्नी प्रथम बार तब माता पिता बनते है जब वह 25-29 वर्ष आयु समूह में तथा उसकी पत्नी 20-24 वर्ष आयु समूह में होते हैं। परिवार में बहुशाखीय सम्बन्धों का विस्तार दो दूर के चचेरे भाईयों के बीच होता है। परिणामत एक सीमित पीढी विस्तार के भीतर ही सयुक्त परिवारों का विस्तार होता है। (3) 18 विद्वानों (जैसे एस सी दुबे, एम एस. ए राव, क्रोलेन्डा, आई पी देसाई, कापडिया, इरावती कर्वे, कुलकर्णी, टी एन मदान, ड्राइवर, सोवानी, मुखर्जी, बोस, श्रीवास्तव, आदि) द्वारा भारत में 15 राज्यों में 30 गाँवों और कस्बों में (44, 657) परिवारों पर किए गए अध्ययनों के विश्लेषण में मुखर्जी ने पाया कि एकल परिवारों का प्रतिशत कुल परिवारों में 35 से 63 प्रतिशत के बीच था (वही . 38)। यह भारतीय समाज में सयुक्त परिवार सगठन को मानने की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर सकेत करता है। (4) सयुक्त परिवार में धीरे-धीरे दादा पीढी के बाद के बहुशाखीय सम्बन्धों में दरार आ रही है।

परिवार में होने वाले सभी सरचनात्मक परिवर्तनों को एक साथ देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

1. विखण्डित परिवारों की सख्या बढ रही है परन्तु अलग-अलग रहते हुए भी वे अपने पैतृक परिवारों के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करते हैं।
2. परम्परागत समुदायों (गावों) में सयुक्तता अधिक है और औद्योगीकरण, शहरीकरण और पश्चमीकरण से प्रभावित समुदायों में एकलता अधिक है।
3. (परम्परागत) सयुक्त परिवार का आकार छोटा हो गया है।
4. जब तक लोगों में पुराने सास्कृतिक मूल्य बने रहेंगे, सयुक्त परिवार (प्रकार्यात्मक प्रकार) हमारे समाज में चलता रहेगा।
5. 'परम्परात्मक' से 'सक्रमण' (transitional) परिवार की ओर परिवर्तनों में स्थानीय निवास के प्रति प्रवृत्तिया, कार्यात्मक सयुक्तता, व्यक्तियों की समानता, स्त्रियों के लिए समान प्रस्थिति, अपनी आकाक्षाओं को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक सदस्य के अवसरों में वृद्धि, और परिवार मानदडों का कमजोर पडना शामिल हैं।

वे मूल्य क्या हैं जिन्होंने सयुक्त परिवार सगठन को पोषण दिया, स्थिर किया, और जीवन दिया तथा वे मूल्य क्या हैं जो अब भारत में सयुक्त परिवार को तोड़ने में लगे हैं ? वे महत्वपूर्ण मूल्य जिन्होंने सयुक्त परिवार संरचना को जीवन्त बनाए रखा वे हैं (1) पुत्रों का वंशगत लगाव, (2) कुछ भाइयों की आर्थिक रूप से जीने योग्य क्षमता की अयोग्यता, (3) वृद्धावस्था के पुरुषों और स्त्रियों का बहुत कम होना, (4) श्रम इकाई के आकार को सगठित करने के लिए भौतिक प्रोत्साहन आवश्यक है क्योंकि वस्तुएँ एव सेवाए उत्पन्न करने के लिए आवश्यक पूंजी का प्रमुख भाग इसी में होता है और लोगों को परिवार-श्रम पर निर्भर रहना पडता था।

जो कारक अब सयुक्त परिवार को तोड रहे हैं वे हैं (1) परिवार में तनाव पैदा करने वाली भाइयों की आमदनी में अन्तर। आरम्भ में तो भाई एक दूसरे के साथ समायोजित हो जाते हैं पर जब वे वैवाहिक सबधों पर अधिक बल देते है तब उनमें तनाव बढता है। (2) उस मूल दम्पत्ति (root couple) की मृत्यु जो आर्थिक शक्ति लिए रहता है, तथा उनके पुत्रों व उनकी पत्नियों की अयोग्यता, अक्षमता जिससे वे 'पैतृक दम्पति' की भूमिका निभा सकें। (3) परिवार-श्रम पर निर्भर रहने का प्रोत्साहन, नकदी के बन्धन (cash nexus) के उदय के कारण गायब हो रहा है। (4) सामाजिक सुरक्षा सबधी बचत की प्रथा तथा सेवानिवृत्ति के बाद भी लोगों की आमदनी कमाने के अवसर भी सयुक्त परिवार व्यवस्था को एकलीकरण की ओर ले जा रहे हैं।

अन्तर्क्रियात्मक परिवर्तन (Interactional Changes)

अन्तरा-पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन तीन स्तरों पर देखे जा सकते हैं पति-पत्नी के सम्बन्ध, माता-पिता व सतान के सम्बन्ध, और बहु तथा सास-श्वसुर के सम्बन्ध।

भारतीय परिवार में *पति-पत्नी के सम्बन्धों* का मूल्यांकन, गूडे (Goode 1963), कापडिया (1966), गोरे (1968) और मरे स्ट्रॉस (Murray Straus, 1969) द्वारा किया गया है। ये अध्ययन (1) निर्णय करने में शक्ति का विभाजन (2) पत्नी की मुक्ति और (3) निकटता (closeness) में परिवर्तन का सकेत करते हैं।

परम्परागत परिवार में परिवार सम्बन्धी निर्णय करने की प्रक्रिया में पत्नी की कोई आवाज नही होती थी। लेकिन समकालीन समाज में परिवार व्यय, बजट बनाने में, बच्चों के अनुशासन में, वस्तुएँ खरीदने और उपहार देने में पत्नी की भूमिका समान शक्ति वाली होती है। यद्यपि पति की 'साधक' (instrumental) भूमिका अभी भी जारी है और पत्नी भी 'अभिव्यक्ति' (expressive) की भूमिका निभा रही है, लेकिन दोनों ही मामलों पर चर्चा कर लेते हैं और किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए एक दूसरे की सलाह ले लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पति-सत्तात्मक परिवार पत्नी सत्तात्मक या समसत्तात्मक परिवार में बदलता जा रहा है। आर्थिक भूमिका ग्रहण करने और पत्नी की शिक्षा ने पत्नियों को सम्भावित रूप में समान बना दिया है। शक्ति का स्रोत 'सस्कृति' से 'ससाधन' (resource) की ओर खिसक गया है। इसमें 'ससाधन' का अर्थ है "कोई भी वस्तु, एक साथी दूसरे की सहायता करते हुए उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध करा दे।" इस तरह से शक्ति सन्तुलन उस साथी के पक्ष में होगा जो विवाह सफलता के लिए अधिक ससाधनों को

जुटा सकेगा। 'पति से पत्नी की ओर शक्ति का झुकाव' पर मेरे स्ट्रॉस का अध्ययन (1975 141) 'सांस्कृतिक मूल्य सिद्धान्त' की अपेक्षा 'ससाधन सिद्धान्त' पर आधारित सकल्पना का समर्थन करता है। उसने पाया कि मध्यम वर्गीय पति श्रमिक वर्ग पति की अपेक्षा अधिक 'प्रभावी शक्ति' रखते हैं। इससे पता चलता है कि मध्यमवर्गीय परिवारों की तुलना में कार्यकारी वर्ग के परिवार अधिक 'पृथक भूमिका वाले' (role segregated) या 'स्वायत्ततावादी' (autonomic) होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम वर्गीय परिवार में सभी प्रकार की कार्यवाहियों में पति पत्नी की सयुक्त कार्यवाही होती है। इसका यह अर्थ भी है कि मध्यमवर्गीय परिवारों में किसी भी समस्या समाधान में परिवार के व्यवहार के निर्देशन में पति पत्नी दोनों ही अधिक सक्रिय भाग लेते हैं अपेक्षाकृत श्रमजीवी वर्गीय परिवारों के। इस प्रकार स्ट्रॉस का अध्ययन स्पष्ट करता है कि 'एकाकिता' (nuclearity) और निम्न सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति दोनों ही पति की शक्ति कम करने से सम्बद्ध हैं।

'ससाधन' तत्व पर जोर देने का यह अर्थ नही है कि 'सस्कृति' (जिन्हें वेबर ने 'परम्परागत सत्ता' कहा है) का महत्व समाप्त हो गया है। वास्तव में, 'दाम्पत्य बन्धनों' (conjugal bonds) में दोनों ही तत्व महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि एक औसत भारतीय परिवार पति प्रधान (husband dominant) ही होता है लेकिन स्त्रियों की शक्ति का वैचारिक स्रोत (ideological source) व्यावहारिकता (pragmatism) का स्थान ले रहा है।

'दाम्पत्य सम्बन्धों' में परिवर्तन पत्नी की बढती 'मुक्ति' (emancipation) से भी स्पष्ट है। शहरी क्षेत्रों में पत्नी का सामाजिक मुलाकातों (visits) में पति के साथ जाना, पति के साथ या उसके पहले खाना खाना, रेस्त्रा और सिनेमा साथ-साथ जाना, आदि पत्नी को 'साहचर्य' (companion) भूमिका को दर्शाते हैं। पति अब पत्नी को हीन, अधीनस्थ (inferior), अश्रेष्ठ, तुच्छ या कम विवेकी नही मानता बल्कि गम्भीर मामलों में भी उसकी सलाह लेता है और उस पर विश्वास करता है। जहा तक व्यक्ति का अपनी पत्नी तथा माँ से निकटता (closeness) का सम्बन्ध है, विशेष रूप से शिक्षित पुरुष का, वह अब दोनों के समान रूप से निकट है (गोरे यही 180)

माता-पिता और बच्चों के बीच के सम्बन्धों का चार आधार पर—सत्ता धारण करने, समस्याओं की चर्चा की आजादी, बच्चों द्वारा माता पिता का विरोध, और दण्ड देने के तरीकों—के सदर्भ में मूल्याकन किया जा सकता है। परम्परागत परिवार में मुखिया/कुल पिता (patriarch) के हाथ में ही शक्ति और अधिकार रहते थे। वह पूर्ण शक्तिवान होता था और परिवार के बच्चों की शिक्षा, व्यवसाय, विवाह और जीवन (career) आदि के विषय में सभी निर्णय करता था (कैथलीन गफ, cf मैक्किम मैरियट, 1955 44 और रुथ एन्शन . 1949 94)। समकालीन परिवार में—न केवल एकाकी बल्कि सयुक्त परिवार में भी—दादा का अधिकार समाप्त हो गया है। अब अधिकार कुलपिता से माता पिता में निहित हो गए हैं जो बच्चों के बारे में कोई भी निर्णय लेने से पहले उनसे परामर्श अवश्य लेते हैं। रॉस (1961 : 93) ने भी माना है कि दादा दादी अब उतने प्रभावशाली नहीं रहे जितनी अपेक्षा की जाती है। एम.एस. गोरे ने भी पाया कि (1968 131) अब माता पिता ही बच्चों के स्कूल भेजने के विषय में तथा व्यवसाय, विवाह आदि के विषय में निर्णय करते हैं। बच्चों

ने भी अपने माता-पिता के साथ समस्याओं की चर्चा करना आरम्भ कर दिया है। वे अपने माता पिता का विरोध भी करते हैं। कापडिया (1966 : 323) और मार्गरेट कोर्मेक (Margaret Cormach 1969) ने भी पाया कि बच्चे अब अधिक आजाद हैं। कुछ वैधानिक उपायों ने भी बच्चों को अपने अधिकार माँगने की शक्ति दी है। शायद इसी कारण से माता-पिता बच्चों को दण्ड देने के पुराने तरीके नही अपनाते। शारीरिक विधियों (पीटना) की अपेक्षा वे आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विधियाँ अधिक अपनाते हैं। माता-पिता और बच्चों के बीच इन सम्बन्धों के बावजूद बच्चा न केवल इन अधिकारों के विषय में सोचता है बल्कि अपने माता-पिता तथा सहोदरों के कल्याण के विषय में भी सोचता है। वे अपने बड़ों से डरते हैं और उनका आदर भी करते हैं।

सास-श्वसुर तथा बहू के बीच सम्बन्ध में भी परिवर्तन हुआ है। यद्यपि यह परिवर्तन सास और बहू (DIL-MIL or daughter-in-law and mother-in-law) में इतना अधिक नही हुआ है जितना कि श्वसुर और बहू के सम्बन्धों में। शिक्षित बहू श्वसुर से पर्दा नही करती। वह न केवल पारिवारिक मामलों पर बल्कि राजनैतिक मामलों पर भी श्वसुर के साथ चर्चा करती है।

सभी तीन प्रकार के सम्बन्धों (पति-पत्नी, माता-पिता-बच्चे और सास-श्वसुर और बहू) को एक साथ देखने पर यह कहा जा सकता है कि : (1) युवा पीढ़ी अब अधिक व्यक्तिवादी होने का दावा करती है। (2) रक्त मूलक (consanguineous) सम्बन्ध विवाह मूलक सम्बन्धों के सामने महत्व नही रखते। (3) 'सस्कृति' और 'वैचारिक तत्वों' के साथ-साथ 'ससाधन तत्व' भी सम्बन्धों को प्रभावित करता है।

भारतीय परिवार का भविष्य (Future of Indian Family)

तनाव और अनुकूलन (Stresses and Adaptation)

क्या सयुक्त परिवार के विरुद्ध तर्क उपयुक्त और प्रासंगिक हैं ? क्या लोगों के मूल्य वास्तव में बदल रहे हैं ? क्या लोगों की मूल्य व्यवस्था में गुणवत्तात्मक परिवर्तन का कोई साक्ष्य है जो सयुक्त परिवार सरचना को पूर्ण रूपेण एकाकी परिवार की ओर ले जा रहा है? यदि हाँ, तो पूर्व के मूल्य समकालीन युग में अपना प्रभाव क्यों खोते जा रहे हैं? भारतीय परिवार का भविष्य क्या है ?

भारत में परिवार पर कोई भी दृष्टिकोण या तो युवाओं के मतों का सर्वेक्षण या विविध परिवार ढाचों के आम लोगों की राय का सर्वेक्षण करके या शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न वर्गों और जातियों के लोगों के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण करके 'आधुनिकता में परम्परा' के वैचारिक पैमाने पर विकसित किया जाता है। क्या अब तक भारतीय परिवार पर किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि भविष्य में कुछ परिवर्तन होने जा रहे हैं ?

भारत में परिवार के भविष्य का प्रश्न दो पक्षों से सम्बद्ध है (i) सयुक्त परिवार का क्या भविष्य है ? (ii) सस्था के रूप में परिवार का भविष्य क्या है ? जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, यह सकेत पहले ही दिया जा चुका है (पूर्व पृष्ठों में) कि हमारे समाज में सयुक्त परिवार पूर्ण रूप से कभी भी एकाकी परिवार में नहीं बदलेगा। दोनों ही सरचनाएँ

(सयुक्त व एकाकी) जारी रहेंगी। केवल सयुक्तता का स्वरूप ही आवासीय से प्रकार्यात्मक में बदलेगा और सयुक्त परिवार का आकार ही दो या तीन पीढियों के बाद कम होगा। जहा तक परिवार के सस्था के रूप में भविष्य का प्रश्न है, इसकी चर्चा परिवार को प्रभावित करने वाले चार तत्वों के आधार पर की जा सकती है (जो परस्पर अलग-थलग नहीं है) (a) *प्रौद्योगिकीय क्रान्ति* तथा ऐसी सुविधाओं (जैसे बिजली, घरों में नलों का पानी, गैस, फ्रिज, टेलीफोन, बसें और अन्य वाहन) तक पहुच जिन्हों ने आम आदमी के जीवन को बदल दिया है और जीवन शैली को ऊँचा उठा दिया है। परिवार पर औद्योगिक एव प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का भी प्रभाव पडा है, जैसे उत्पादन कार्य, परिवार अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भरता की अधिकता, व्यावसायिक और जनसख्या गतिशीलता, नातेदारी बन्धनों का कमजोर पडना, आदि। (b) *जनसख्या क्रान्ति* कृषि से निर्माण व नौकरियों की ओर झुकाव, ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन, जन्म व मृत्यु दर में कमी, जीवन के औसत में वृद्धि और परिवार में बडे बूढों की उपलब्यता, विवाह में परिवर्तन—छोटी उम्र से बडी उम्र में—आदि, ने पुनर्समायोजन की समस्याओं को पैदा कर दिया है, शक्ति सरचना में परिवर्तन कर दिए हैं, और लघु परिवार की चाह पैदा कर दी है। (c) *लोकतान्त्रिक क्रान्ति* लोकतत्र के आदर्श अपने अधिकारों की माँग, पैतृक सत्ता से बच्चों का छुटकारा, लोकतात्रिक प्रक्रिया निर्णय करने में, और परिवारवाद से व्यक्तिवाद में परिवर्तन, आदि परिवार में महत्वपूर्ण परिवर्तन कहे जा सकते हैं (d) *धर्म निरपेक्ष क्रान्ति* धार्मिक मूल्यों से तार्किक मूल्यों की ओर झुकाव हो रहा है। पति के प्रति पत्नी के दृष्टिकोण में परिवर्तन, कुसमायोजन के आधार पर तलाक की माँग, वृद्धावस्था में माता पिता की देखभाल करने में बच्चों की उदासीनता, पारिवारिक पूजा, आदि में कमी—सभी तार्किक सोच के परिणाम हैं तथा नैतिक व धार्मिक मानदण्डों से विचलन की स्थिति है।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि गत कुछ दशकों से हमें भारतीय परिवार में अनेक प्रमुख प्रवृत्तिया दिखाई दी हैं। ये इस प्रकार हैं (1) एकाकी परिवार का बढता महत्व, (2) कुछ कार्यो का कुछ अन्य सस्थाओं को स्थानान्तरित होना (जैसे, शैक्षिक, मनोरजनात्मक, सरक्षात्मक, आदि) (3) परिवार के सदस्यों की आयु सरचना में मौलिक परिवर्तन, अर्थात् देखभाल करने के लिए कम अनुपात में बच्चे और अनुपात में अधिक वृद्धों का जीवित रहना। इस तथ्य ने देखभाल तथा समर्थन के कार्य के परिवार से राज्य एव बीमा कम्पनियों को स्थानान्तरित करना आवश्यक बना दिया है। इसने परिवार की शक्ति सरचना को भी प्रभावित किया है। (4) शिक्षा व बढती आर्थिक स्वतत्रता के कारण स्त्रियों को अधिक स्वतत्रता (5) परिवार नियत्रण से बच्चों की आधीनता में कमी (6) युवाओं के मूल्यों में परिवर्तन। यद्यपि वे बडों का आदर करते हैं तथा उनका डर मानते हैं लेकिन वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए ही माता पिता का सहारा चाहते हैं। (7) यौन के प्रति धारणाओं एव व्यवहार में उदारीकरण। (8) पूर्व यौवनारम्भ (prepuberty) अवस्था से उत्तर यौवन अवस्था में विवाह (9) छोटा होता परिवार का आकार। वर्तमान में भारतीय परिवार की ये विशेषताएँ यह दर्शाती हैं कि परिवार सरचना और बन्धनों में परिवर्तन हो रहे हैं।

परिवार की ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर प्रक्रिया हैं। ये रुकी नही हैं। फिर भी, यह विचार सम्भव है कि परिवार का स्वरूप भविष्य में या अगले 25-30 वर्षों में क्या होगा। हैरोल्ड

क्रिसटेन्सन का अनुसरण (Harold Christensen, 1975 : 410) करते हुए 21 वीं शताब्दि के प्रथम एक-दो दशकों में भारतीय परिवार में निम्नलिखित सम्भावित परिवर्तनों की कल्पना की जा सकती है :

1 परिवार निरन्तर बना रहेगा। यह प्रजनन व बच्चों के लालन-पालन की राज्य-नियंत्रित व्यवस्था (state-controlled system) से कभी भी बदला नही जायेगा।
2. इसका स्थायित्व बाहर से सामाजिक दबावों या नातेदारी वफादारी की अपेक्षा अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों पर अधिक निर्भर करेगा।
3 यह सामुदायिक समर्थन एव सेवाओं पर अधिक निर्भर करेगा।
4 चिकित्सा में विकास के साथ परिवार अपनी जैविक प्रक्रियाओं पर अधिक नियंत्रण रख सकेगा। (यौन कार्यों को प्रजनन कार्यों से अलग रखने का, बीमारी और मृत्यु पर नियत्रण रखने का, और सन्तति का लिंग निर्धारण का)
5 पुनर्विवाह और तलाक दर ऊँची हो जायेगी।
6. माता-पिता और दादा-दादी अपने बच्चों और पौत्र पीढ़ी को सहारा देते रहेंगे, भले ही वे स्वय सेवा मुक्त हो जायें।
7. परिवार में स्त्रियों की शक्ति-सम्बन्धी स्थिति लाभकारी रोजगार के द्वारा और भी सुधरेगी।
8 सामान्य दृष्टि से परिवार समतावादी (equalitarian) नहीं होगा बल्कि पति-प्रधान बना रहेगा।

प्रकार्यात्मक एव मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Functionalist and Marxist Perspectives)

परिवार के भविष्य को प्रकार्यात्मक और मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। प्रकार्यवादी विचारक परिवार को समाज का एक महत्वपूर्ण अग मानते हैं। वे उन कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं जो परिवार पूरा करता है—(यौन, प्रजननात्मक, सामाजीकरण, शैक्षिक और आर्थिक)। प्रथम दो कार्य सकेत देते हैं कि जैविक दृष्टि से परिवार जरूरी है जबकि अन्य कार्य बताते हैं कि परिवार सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से भी लाभदायक है। क्या अन्य सस्थाएँ परिवार के कार्यों को छीन सकती हैं ? यह तर्क दिया जाता है कि चाहे अन्य संस्थाएँ भी परिवार के कार्यों को करें, वे परिवार को इन कार्यों में केवल सहायता ही दे सकती हैं, न कि परिवार को इन कार्यों से पूर्णत वचित या मुक्त कर सकती हैं। हाल के ही वर्षों में परिवार के कार्यों में सुधार हुआ है। परिवार अन्य उप-व्यवस्थाओं को कुछ देता भी है और उनसे कुछ लेता भी है। परिवार की भूमिका साधारण है।

परिवार पर दूसरा दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। मार्क्सवादी विद्वान परिवार को सरचनात्मक एव लिंग (gender) सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। वे परिवार में पुरुष प्रधानता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझते हैं। उनकी परिकल्पना है कि मानव के सामाजिक विकास सबधी घुमक्कड (nomadic) अवस्था में पुरुष केवल आरम्भ करने (launching) का काम करते थे और अलग से न तो कोई यौन वर्चस्व (sexual possessivenes) अथवा निजी सम्पति होती थी। धीरे-धीरे पुरुष कार्यकलापों का क्षेत्र विशिष्ट होता गया और शिकार

के साथ साथ उन्होंने मवेशी-जनन, खान खोदना और व्यापार का काम भी ले लिया। पुरुषों ने क्योंकि धन व सम्पत्ति पर अधिक नियत्रण प्राप्त कर लिया, वे उन साधनों की तलाश में लग गए ताकि ये चीजें उनके साथ बनी रहें और उनके बच्चों तक पहुचें। इसके लिए वे सुनिश्चित करना चाहते थे कि उनकी सन्तानें कौन हो ? इस प्रकार मुक्त यौन सम्बन्धों का स्थान एक विवाह प्रथा ने ले लिया। परिवार पुरुष प्रधान और पितृसत्तात्मक हो गया। श्रम विभाजन का आधार लिंग हो गया और स्त्रियां आधीन हो गईं। इस प्रकार महिला उत्पीडन जैविक न होकर ऐतिहासिक समस्या बन गई। अत मार्क्सवादी परिवार जीवन पर वर्ग के प्रभाव की बात करते हैं, विशेष रूप से सामाजीकरण पर। वे श्रम विभाजन को लिगीय मानते हैं जो कि सामाजिक रचना है और जो प्रकार्यवादियों की प्रकृतिवादी धारणा के विपरीत है। नारीवादी मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि यौन, प्रजनन, सामाजीकरण और आर्थिक क्रियाओं का होना आवश्यक है किन्तु उस प्रकार नहीं कि स्त्री-श्रम का शोषण हो और उन्हें शक्तिहीन बना दिया जाये। इस प्रकार वे (बहुवादी-नारीवादी मार्क्सवादी) विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परिवार जीवित रहेगा लेकिन परिवर्तन होंगे (व्यक्तिगत स्वतत्रता, स्त्रियों को राजनैतिक आवाज, आदि)। यह दृष्टिकोण राजनैतिक है और महिला मुक्ति इसकी आन्तरिक भावना है। दूसरे शब्दों में परिवार नही टूटेगा, यह केवल अपने को अनुकूलित कर लेगा।

अन्तर पीढीय सघर्ष और युवा असन्तोष
(Inter-Generational Conflict and Youth Unrest)

एक विशिष्ट (distinct) सामाजिक श्रेणी के रूप में युवा अधिकतर एक आधुनिक घटना है। जीवन की यह अवस्था बचपन/किशोर और कार्य के बीच लम्बे और सदा विस्तृत होते काल के कारण पैदा होती है। प्रारम्भ में तो बच्चा अपने परिवार के काम को जल्दी शुरू कर दिया करता था, किन्तु अब कार्य विशिष्टता और कौशल के साथ काम मिलने के लिए उसको वर्षों प्रतीक्षा करनी पडती है। प्रारम्भिक आधुनिक औद्योगिक अर्थ व्यवस्था में शिक्षित और अनुशासित श्रम आपूर्ति की आवश्यकता होती थी लेकिन आज कुशल श्रमिक की आवश्यकता है, अत इस मॉग को पूरा करने के लिए विशिष्ट प्रकार की शिक्षा दी जाने लगी है और आधुनिक युवा अधिकतर इसी की उपज हैं। जिस प्रकार सर्वहारा फैक्ट्री व्यवस्था की उपज हैं, उसी प्रकार आधुनिक युवा शिक्षा व्यवस्था की आशिक उपज है। सर्वप्रथम तो शिक्षा उच्च एव मध्यम वर्ग का विशेषाधिकार था, लेकिन अब निम्न वर्ग (SC, ST, OBC सहित) को भी शिक्षा प्राप्त करने का सार्वभौमिक और वैधानिक अधिकार है। इस प्रकार सभी युवकों ने एक सहभागी रुचि (shared interest) पैदा कर ली है। एसएनएजेनटाड (S N. Eisenstadt) मानता है कि अन्तरपीढीय अन्तर्क्रिया अनौपचारिक मित्र समूहों में अधिक मुक्त वातावरण में फलती है। सार्वभौमिक शिक्षा की तरह यद्यपि कम सीमा में, उद्योग में काम और आफिस में नौकरी ने भी अनेक युवकों को अपनी पहचान बनाने और सामूहिक अनुभव प्राप्त करने का आधार प्रदान किया है। कभी-कभी युवक प्रभावी मानदण्डों के विरुद्ध खडे हो जाते हैं और सास्कृतिक दृष्टि से विचलित जीवन शैली अपना लेते हैं। यह युवा समूह, जो अधिकतर शिक्षा के प्रसग में पैदा हुआ है, वर्ग, लिंग (gender) और

व्यक्तिवादिता (individuality) का प्रभाव दर्शाता है। इस प्रकार 1950 के दशक के बाद युवा संस्कृति (और उप सस्कृति) का उदय हुआ। राजनैतिक स्वतत्रता और लोकतात्रिक मूल्यों ने युवा वर्ग को अधिक अधिकारों को माँगने का अवसर प्रदान किया है। उन्होंने नये मूल्यों का विकास कर लिया है और उन लोगों का विरोध करना शुरु कर दिया है जिन्हें वे अपने उद्देश्यों और आकाक्षाओं की प्राप्ति में बाधक समझते हैं। इन सब ने अन्तर पीढ़ीय सघर्ष पैदा कर दिये हैं, जैसे परिवार में बच्चों और माता पिता के बीच संघर्ष, शिक्षा संस्थाओं में छात्रों और शिक्षकों के बीच सघर्ष, कार्यालयों में पुराने और नये कर्मचारियों के बीच संघर्ष, आदि। 1950 और 2000 के बीच मीडिया और आम जनता भी युवा वर्ग से ग्रस्त (obsessed) प्रतीत होती है।

युवा वर्ग को पुरानी पीढी के साथ सघर्ष और उनके विरुद्ध खडे होने के प्रेरक तत्वों में प्रमुख हैं पश्चिमी सस्कृति का प्रभाव, मनोरजन के वाणिज्यिक साधनों से लिए गए मूल्य, बढता खाली समय, तथा माता-पिता की अधिक समृद्धि और शक्ति। पश्चिमी सस्कृति ने व्यक्तिवाद और समानता के आधार पर आधारित उनके मूल्यों को बदल दिया है, वाणिज्यिक मनोरजन ने उन्हें यह अनुभव करा दिया है कि उनके लक्ष्यों की प्राप्ति में हिंसा और धमकी का क्या महत्व हो सकता है, अशकालिक शिक्षा ने उन्हें इतना खाली समय दिया है कि जिन कार्यों को व्यस्त जीवन में पूरा नही कर सकते थे वे अब कर सकते हैं तथा पैतृक समृद्धि और शक्ति ने उन्हें प्रभाव डालने की शक्ति प्रदान कर दी है। इन सभी बातों में एक भिन्न सस्कृति को जन्म दिया है जिससे अशान्ति और अन्तर-पीढ़ी संघर्ष पैदा हुए हैं।

लेकिन क्या हम यह कह सकते हैं कि भारत के युवा भी अन्य समाजों की तरह ही अपने माता एव बडों का विरोध करते हैं ? यह सत्य है कि सर्वेक्षणों से पता चलता है कि भारत में माता-पिता एव बच्चों के बीच सम्बन्धों में परिवर्तन आया है किन्तु ये अध्ययन यह भी दर्शाते हैं कि बच्चे अपने माता पिता का सम्मान करते हैं, अपने जीवन से काफी सन्तुष्ट हैं, और वे चाहते हैं कि उनकी शिक्षा, विवाह, आदि पर महत्वपूर्ण फैसले उनके माता-पिता ही लें। परम्परागत परिवार में पिता ही सर्वशक्तिमान होता था। बच्चों का अपने बडों की बात का जवाब देना या उनसे बहस करना खराब तरीके माने जाते थे। उन्हें बडों के कार्यों या आदेशों पर प्रश्न नही पूछना होता था। यहा तक कि वे बच्चे जो दूर शहरों में चले जाते थे, सैद्धान्तिक रूप से परिवार के सदस्य बने रहते थे। अत वे पितृ नियत्रण में ही रहते थे, यद्यपि वे उनके दैनिक मामलों पर नजर नही रख पाते थे।

1961 में एमएसगोरे ने परिवार पर अपने अध्ययन में उत्तरदाताओं से पूछा कि परिवार में बच्चों के स्कूल भेजने, व्यवसाय, जीवन-साथी के चयन में प्रमुख निर्णय कौन लेता था ? उसने पाया (1968 138) कि बहुत अधिक मामलों में बच्चे अपने निर्णय लेने के लिए स्वतत्र नहीं थे और थोडी सख्या में ही बच्चे ऐसे मामलों को अपने हाथ में लेते थे। मार्गरेट कौरमैक (1969) ने अपने 500 विद्यार्थियों के अध्ययन में पाया कि आधे से ज्यादा (55%) उत्तरदाता कभी-कभी (sometimes) अपने माता पिता का विरोध करते थे, कुछ (a few) (6%) अक्सर (often) विरोध करते थे, और एक तिहाई कभी विरोध नहीं करते थे। आईपी देसाई ने पुणे में हाई स्कूल के विद्यार्थियों के अध्ययन में पाया कि माता-पिता एव

उनके पालकों (wards) के बीच गम्भीर तनाव थे। उसके सर्वेक्षण में 168 के लगभग उत्तरदाताओं ने बताया कि कई बार उन्होंने घर छोडने की इच्छा की थी। उनमें से 117 ने इसके कारण भी बताये थे। लगभग 64 प्रतिशत अलग होना चाहते थे क्योंकि उनके माता पिता का व्यवहार निरकुश, अपमानजनक, अनुपयुक्त और अन्यायपूर्ण था, 19 प्रतिशत खराब पारिवारिक वातावरण के कारण तथा उससे उत्पन्न तनाव की वजह से चाहते थे, 10 प्रतिशत परिवार में झगडों के कारण और शेष 7 प्रतिशत अन्य कारणों से चाहते थे। पुरानी पीढी तथा नयी पीढी के बीच सघर्षों के कारण इस प्रकार थे (1) युवकों में यह भावना कि उनके बडे अपने प्रभुतापूर्ण अनुपयुक्त व अन्यायपूर्ण व्यवहार को उनके ऊपर थोपना चाहते थे (2) युवकों में बढता हुआ यह विश्वास कि वे अपने माता पिता से सास्कृतिक दृष्टि से अधिक उन्नतिशील हैं। (3) युवकों की यह भावना कि उनके बडों के सख्त मिजाज के कारण उनका व्यक्तिवाद दब जाता है। (4) युवकों की आकाक्षाए व आवश्यकताए उस रूप में पूर्ण नही होती जैसी वे उम्मीद करते हैं। (5) सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक विश्वासों के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर।

बी वी शाह (1964) का वडौदा विश्वविद्यालय के 200 छात्रों का अध्ययन दर्शाता है कि युवक अपने जीवन साथी के चुनाव में पूर्ण आजादी नहीं चाहते बल्कि चयन माता पिता से मिलकर करना चाहते हैं। लगभग तीन चौथाई छात्र (66 5%) अपना जीवन-साथी अपने माता पिता की सलाह से चुनना चाहते थे, एक तिहाई (32.5%) अपनी इच्छा को अधिक महत्व देना चाहते थे, और केवल 1 0 प्रतिशत यह चयन केवल माता पिता की इच्छा से ही चाहते थे।

मार्गरेट कोरमैक ने भी पाया कि उसके उत्तरदाताओं (भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र) में से 65% चाहते थे कि विवाह माता पिता द्वारा बच्चों की सहमति से निश्चित किये जायें, 3 प्रतिशत माता पिता द्वारा बच्चों की सहमति के बिना, और 32 प्रतिशत अपनी इच्छा से चाहते थे। विमल शाह (1975) ने गुजरात विश्वविद्यालय के विभिन्न जातियों के (लडके लडकियों) हिन्दू स्नातक छात्रों में से 281 छात्रों पर किये गये अध्ययन में पाया कि 92 प्रतिशत लडकियाँ और 66 प्रतिशत लडके सुनिश्चित किये गये (arranged) विवाह में विश्वास करते थे। यह युवकों का परम्परागत प्रतिमानों के प्रति लगाव तथा उनसे कम विचलन की स्थिति को दर्शाता है।

कुछ वैधानिक उपायों ने भी माता पिता व बच्चों के बीच सम्बन्धों में दरार पैदा की है। माता-पिता अपने बच्चों को अपनी सम्पत्ति में से हिस्से से वचित नही कर सकते। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार बिना वसीयत किये (intestate) मरने वाले हिन्दू पुरुष की सम्पत्ति का अधिकारान्तरण उसके विशिष्ट उत्तराधिकारियों (specified heirs) को ही होगा। दूसरी ओर ऐसे मामले भी हैं जहाँ बच्चे सम्पत्ति के मामलों में अपने माता पिता पर मुकदमा दर्ज करा देते हैं, उनकी उपेक्षा अवहेलना (neglect) करने के लिए उनकी आलोचना भी करते हैं जिसके कारण वे (बच्चे) मदिरापान, नशे की आदत आदि के शिकार हो जाते हैं और असुरक्षा की भावना से पीडित रहते हैं। आरोप यह है कि परिवार सामाजिक नियत्रण के अभिभावक के रूप में प्रभावी भूमिका निर्वाह में असफल हो रहा है। लेकिन यही आरोप पुलिस और स्कूलों के विरुद्ध भी लगाया जा रहा है। किशोर अपराध, युवा अपराध,

नशे की लत, आदि के कारणों का वृहत् समाज में पता लगाया जाना चाहिए, न कि एकीकरण के सघर्षों या परिवार की असफलताओं में। हम केवल यह मानते हैं कि गत कुछ दशकों के अनुमति प्रधान एवं लोकतांत्रिक आदर्श परिवार और समाज के भीतर दोनों जगह नियत्रण बनाए रखने के साधन के रूप में शारीरिक दण्ड की विश्वसनीयता में कमी आई है। समाज में कुछ तुलनात्मक विस्तृत परिवर्तनों के बिना परिवार के भीतर अनुशासन के अधिक परम्परात्मक स्वरूपों के विस्तृत पैमाने पर पूर्ववत् होने की कल्पना करना कठिन है।

विवाह व्यवस्था
(Marriage System)

हिन्दू विवाह : अवधारणा, प्रकार और जीवन-साथी चयन
(Hindu Marriage : Concept, Types and Mate Selection)

समाजशास्त्रियों द्वारा विवाह को स्त्री और पुरुष की भूमिकाओं की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जिनके सयोग को पति पत्नी के रूप में समाज द्वारा मान्यता दी गई हो। इस व्यवस्था के सन्तुलन के लिए दो सहयोगियों के बीच अनुकूलन की आवश्यकता होती है ताकि एक (सहयोगी) की भूमिका अदायगी दूसरे की भूमिका अपेक्षाओं से मेल खाती हो (रॉबर्ट ओ ब्लड, 1960 : 189)।

भारतविद्याशास्त्री हिन्दू विवाह को एक सस्कार मानते हैं जिसके *धर्म* (धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति), *रति* (यौन सन्तुष्टि), और *प्रजा* (प्रजनन), तीन उद्देश्य हैं। *धर्म* के लिए किया गया विवाह धार्मिक विवाह कहलाता है, जबकि यौन सुख के लिए किया गया विवाह *अधार्मिक विवाह* कहलाता है। विवाह को पवित्र माना जाता है जिसके अनेक कारण बताए गए हैं (i) धर्म विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य है, (ii) विवाह समारोह में कुछ सस्कार शामिल हैं (जैसे, *हवन, कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्त पदी*, आदि) जिन्हें पवित्र माना जाता है, (iii) यह सस्कार पवित्र ब्राह्मणों द्वारा पवित्र वेद ग्रन्थों से मंत्रोच्चारण के साथ पवित्र अग्नि देव के समक्ष सम्पन्न होते हैं; (iv) सयोग (बन्धन) (स्त्री पुरुष के बीच) अटूट व अटल माना जाता है, (v) स्त्री की पवित्रता और पुरुष की बफादारी पर बल दिया जाता है। आज भी विवाह की पवित्रता इस सत्य के बावजूद भी मानी जाती है कि विवाह सहचारिता (companionship) के लिए होता है, न कि कर्तव्यों के पालन के लिए, और जब यह असफल हो तो यह तलाक द्वारा विच्छेदित मानी जाये। परस्पर विश्वास और साथी के प्रति बफादारी आज भी विवाह के आवश्यक तत्व माने जाते हैं। कापडिया (भारत में विवाह और परिवार, 1966) ने भी कहा है, "हिन्दू विवाह एक पवित्र सस्कार के रूप में आज भी जारी है, यह केवल नैतिकता की सतह पर उठ गया है।"

सरल शब्दों में, हिन्दू सस्कृति में विवाह आध्यात्मिक अनुभूति (realisation) के लिए स्त्री पुरुष के बीच आत्मिक बन्धन (spiritual union) है। हिन्दू सस्कृति उपरोक्त *ब्रह्म* विवाह के अतिरिक्त अपेक्षाकृत कम और निम्न आदर्शों वाले विवाह के सात अन्य स्वरूपों को भी मानती है। इनमें से चार विवाहों को अधार्मिक विवाह की सज्ञा दी जाती गयी है।

ये हैं : *गन्धर्व* (समाज की मान्यता प्राप्त से पूर्व ही यौन व्यवहार में प्रवेश), *असुर* (स्त्री को भगा ले जाना), *राक्षस* (स्त्री को घर से जबरदस्ती ले जाना) और *पैशाच* (सोई हुई स्त्री का नशे में या असन्तुलित मस्तिष्क की अवस्था में शील भग करना)। शेष तीन जिन्हें धार्मिक माना गया है देव (स्त्री का विवाह किसी पुजारी, धनवान या बुद्धिमान व्यक्ति से जो कुलीन वर्ग का हो), *प्रजापत्य* (यौन तुष्टि और सन्तान के जैविक कार्यों के उद्देश्य से सम्पन्न विवाह), और *आर्ष* (बुद्धिमान व चरित्रवान व्यक्ति से विवाह (ऋषि) जो कि विवाह का इच्छुक न हो ताकि वह बुद्धिमान सन्तान प्राप्त कर सके और अच्छा घरेलू वातावरण प्राप्त कर सके)। चार अधार्मिक विवाहों को 'विवाह' की मान्यता देने में प्रमुख कारण 'आहत' स्त्री को 'सम्माननीय पत्नी' का दर्जा स्वीकृत करना था।

हिन्दू समाज में जीवन साथी के चयन सम्बन्धी नियम अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अनुलोम विवाह की अवधारणा में निहित हैं। *अन्तर्विवाह* सामाजिक कानून के अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति या उपजाति में से जीवन साथी का चयन करना पडता है, *बहिर्विवाह* सगोत्र और सपिण्ड समूह से चयन का निषेध करता है (अर्थात् चचेरा, ममेरा, फुफेरा या मौसेरे सहोदरज सतति का विवाह नही होता), और *अनुलोम* विवाह के अनुसार उच्च जाति का लडका निम्न जाति की लडकी से तथा लडकी इसके विपरीत, विवाह कर सकते हैं। प्रारम्भिक समाज में जाति अन्तर्विवाह क्रियात्मक था क्योंकि इससे जाति के व्यवसायिक भेद सुरक्षित रहते थे, जाति की एकता बनी रहती थी, और जाति की सदस्यता और शक्ति में कमी पर अकुश लगता था। परन्तु वर्तमान समाज में वैवाहिक अनुकूलन को सरल बनाने को छोडकर, यह (जाति अन्तर्विवाह) विकार्यात्मक हो गया है क्योंकि यह अन्तर्जातीय तनाव पैदा करता है जो देश की राजनैतिक एकता को दुष्प्रभावित करता है, जीवन साथी के चयन क्षेत्र को सीमित व परिस्थितिपरक बना देता है तथा दहेज, बाल विवाह आदि की समस्याए उत्पन्न करता है।

वाल्वल्कर (Valvalkar) के अनुसार बर्हिविवाही निषेध (taboos) माता पिता और सन्तान तथा सहोदरों के बीच मुक्त वैवाहिक सम्बन्धों को प्रतिबन्धित करने के लिए बनाए गये थे। काने (*धर्मशास्त्र का इतिहास*, 1930) ने माना है कि बहिर्विवाह प्रतिबन्ध वशानुक्रम से चलने वाले पारिवारिक दोषों को फैलने से रोकने के लिए और इस डर से कि कहीं गुप्त प्रेम प्रसगों को प्रोत्साहन न मिले, परिणामत नैतिकता का ह्रास न हो, आदि के लिए लागए गए थे। यद्यपि आज ये तर्क स्वीकार नही किए जाते हैं क्योंकि वश का नाश उन गैर हिन्दू समुदायों (मुसलमानों) में कही नही देखा जाता जो सहोदरज-सतति विवाह (cousin marriages) करते हैं। कापडिया (1966 127) ने कहा है कि सपिन्ड बहिर्विवाह का नियम एक प्रकार की पवित्र सिफारिश के रूप में था और आठवी शताब्दि के अन्त तक चलता रहा। आज, यद्यपि, यह नियम अधिकतर सभी हिन्दुओं द्वारा पालन किया जाता है फिर भी सहोदरज-सतति के बीच विवाह भी हो जाते है।

आज जीवन साथी के चयन के तीन बिन्दु देखे जाते हैं, चयन कौन करता है (party to selection), चयन का आधार क्या है, और चयन के क्षेत्र क्या हैं? पहले जब जीवन साथी का चुनाव माता पिता द्वारा किया जाता था, अब बच्चे सम्मिलित चयन में विश्वास करते हैं जिसमें माता पिता व बच्चे शामिल हों, यद्यपि व्यक्तिगत चयन के मामले भी बिरले

नहीं हैं (बच्चों के द्वारा स्वय चयन)। माता-पिता द्वारा साथी के *चयन के आधार* बच्चों के चयन के आधार से भिन्न होते हैं। माता-पिता द्वारा चयन में परिवार *प्रस्थिति*, सस्कार, जाति, दहेज, आदि को महत्व दिया जाता है, जबकि बच्चे शिक्षा, चरित्र, शारीरिक रूप रग, दक्षताए एव गुणों को महत्व देते हैं। आज कल सम्मिलित चयन में परिवार की आवश्यकताओं, तथा जीवन साथी लाने वाले व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखा जाता है। आश्चर्य नही कि बी.वी. शाह, मार्गरेट कोरमैक, विमल शाह, आदि जैसे विद्वानों के अध्ययनों ने दर्शाया कि बहुत सख्या में लडकों और लडकियों ने बताया कि वे अपना जीवन साथी अपने माता-पिता की सलाह से चयन करना चाहते हैं।

हिन्दू विवाह व्यवस्था मे परिवर्तन (Change in Hindu Marriage System)

हिन्दू विवाह व्यवस्था में हुए परिवर्तनों का विश्लेषण सात क्षेत्रों में किया जा सकता है. विवाह का उद्देश्य, जीवन साथी के चयन की प्रक्रिया, विवाह का प्रकार, विवाह की आयु, विवाह के आर्थिक पक्ष (दहेज), विवाह की स्थिरता, और विधवा पुनर्विवाह। इनमें से हमने पूर्व पृष्ठों में दो क्षेत्रों अर्थात् विवाह के उद्देश्य में परिवर्तन ('धर्म' से 'साहचर्य' तक), और साथी के चयन में परिवर्तन (पक्ष, आधार, और चयन का क्षेत्र) पर पहले ही चर्चा की है। विवाह के स्वरूप में परिवर्तन से तात्पर्य है बहुपत्नी प्रथा से एक विवाह प्रथा में परिवर्तन, और विवाह आयु में परिवर्तन दर्शाता है पूर्व-यौवनारम्भ में विवाह से उत्तर यौवन काल में विवाह में आये परिवर्तन। शेष तीन परिवर्तनों को विवाह कानूनों का विश्लेषण कर के परखा जा सकता है।

विवाह कानून (Marriage Legislation)

भारत में प्रचलित कानूनों का सम्बन्ध छह तथ्यों से है (1) विवाह के समय आयु, (2) जीवन साथी चयन का क्षेत्र, (3) विवाह में पत्नियों की सख्या, (4) विवाह विच्छेद, (5) दहेज, और (6) पुनर्विवाह। बाल विवाह निषेध अधिनियम, 1929 (1978 में सशोधित, विवाह के समय आयु से सम्बन्धित), विशेष विवाह अधिनियम, 1954 (विवाह के समय आयु, माता पिता की सहमति के बिना बच्चों को विवाह की आजादी, द्विविवाह और विवाह विच्छेद से सम्बन्धित), हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (जो 1986 में सशोधित किया गया और विवाह के समय आयु, माता पिता की सहमति से विवाह, तथा विवाह निरस्त होने की व्यवस्था से सम्बन्धित है), दहेज विरोध अधिनियम, 1961, और विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 प्रमुख हैं।

विवाह की आयु से सम्बन्धित प्रथम तीन अधिनियमों (1929, 1954 और 1955) में लडकियों के लिए विवाह आयु 18 वर्ष और लडकों की आयु 21 वर्ष होने का प्रावधान किया गया है। इन अधिनियमों में अन्तर यह है कि 1929 के (1978 में सशोधित) अधिनियम में दिए गए प्रावधानों का उल्लघन विवाह को निरस्त नही करता। इसमें केवल दूल्हे, उसके माता-पिता और पडित के लिए दण्ड का प्रावधान है (स्त्री के लिए नहीं)। केन्द्रीय सरकार अब राज्य सरकारों की अनुमति से नवम्बर 2000 में ससद में बिल लाकर 1929 के कानून में सशोधन कर चार परिवर्तन लाने का सोच रही है · (i) राज्य सरकारों द्वारा बाल-विवाह रोकथाम अधिकारियों की नियुक्ति, (ii) कानून के उल्लघन के लिए कठोर दण्ड, (iii) कानून के उल्लघन के कारण विवाह को ही अवैध मानना, और (iv) जो

बाल-विवाह में उपस्थित हो उनके लिए ऐसे विवाह को सबधित अधिकारियों को रिपोर्ट करना (*द हिन्दुस्तान टाइम्स*, सितम्बर 12, 2000)। 1955 का अधिनियम आयु प्रावधान के उल्लघन पर विवाह को निरस्त करना सम्भव बनाता है। इस अधिनियम में माता-पिता की सहमति से विवाह किया जाता है लेकिन 1954 के अधिनियम में न्यायालय के माध्यम से सम्पन्न विवाह ही आते हैं, भले ही उनमें माता-पिता की सहमति हो या नहीं। ये दोनों ही अधिनियम (1954 व 1955 का) द्विविवाह को प्रतिबन्धित करते हैं तथा विभिन्न आधारों पर तलाक की स्वीकृति देते हैं और निषिद्ध सम्बन्धों की परिधि में विवाह पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जब तक रिवाज ऐसे विवाह की स्वीकृति न दे। 1961 के दहेज विरोधी अधिनियम ने दहेज लेना और देना एक बडा अपराध माना है। विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 विधवा को पुनर्विवाह की स्वीकृति देता है लेकिन पहले पति की सम्पत्ति में से भरण पोषण के अधिकार से वचित करता है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 व्यक्ति की सम्पत्ति में से पुत्रियों को भी पुत्रों व भाइयों के बराबर हिस्सा प्रदान करता है।

लेकिन क्या सामाजिक अधिनियम दहेज व बाल विवाह जैसी विवाह और परिवार से सम्बद्ध समस्याओं को समाप्त कर सकेंगे और स्त्रियों के प्रति शोषण रोक कर उनकी प्रस्थिति को ऊँचा उठा सकेंगे ? हम स्वीकार करते हैं कि सामाजिक कानून समाज व सस्कृति को नयी दिशा देने, परिवर्तन लाने, तथा लोगों की सामाजिक आवश्यकताओं औ सामाजिक राय के बीच खाई को भरने से बुराइयों को दूर करने के लिए आवश्यक हैं। 1952 में डा राधाकृष्णन ने भी विवाह से सम्बन्धित विधेयक प्रस्तुत करने पर कहा था, "प्राचीन इतिहास आधुनिक समाज की समस्याओं का समाधान नही कर सकता।" सामाजिक कानून का कार्य उस समाज के लिए कानून व्यवस्था को लगातार समयोजित रखना है जो कि निरन्तर बदलता रहता है। लेकिन क्या सरकार इन कानूनों के क्रियान्वयन में गम्भीर है ? इन सभी अधिनियमों में कमियों को कौन नही जानता ? कानून का उल्लघन करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने में पुलिस की उदासीनता और कोताही को कौन नहीं जानता ? यद्यपि *सामाजिक कानून आवश्यक हैं लेकिन इन्हें लागू करने की इच्छा भी अधिक महत्वपूर्ण है।*

मुसलमानो मे विवाह (Marriage Among Muslims)

मुस्लिम समाज न केवल शिया और सुन्नियों में स्तरीकृत है बल्कि अशरफ़ (सैय्यद, शेख, पठान, आदि में), अजलब (मोमिन्स (जुलाहे), मन्सूरी (कपास साफ़ करने वाले), इब्राहीम (नाई), आदि) और अरजल (हलालखोर आदि) में भी। अशरफ लोग कुलीन जन्म के, अजलब निम्न-जन्म के और अरजल सबसे निम्न जन्म के होते हैं। ये सब समूह अन्तर्विवाही (endogamous) हैं और उनमें अन्तर विवाह को बुरा माना जाता है तथा हतोत्साहित किया जाता है।

मुस्लिम विवाह, जिसे निकाह कहते हैं, हिन्दुओं के विवाह पवित्र बन्धन के विपरीत एक नागरिक सविदा (civil contract) माना जाता है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं : यौन नियत्रण, बच्चों को जन्म देना और परिवार को चलाना, बच्चों का लालन पालन और घरेलू जीवन को व्यवस्थित करना। एस मी सरकार भी मानता है कि मुस्लिम विवाह धार्मिक कर्तव्य नही है। यह एक प्रकार की निष्ठा (devotion) या इबादत है। जग (1953) यह कहते हुए

अधिक सही हैं कि निकाह यद्यपि संविदा है परन्तु साथ ही इबादत का कार्य भी है। लेकिन निश्चय ही यह संस्कार (sacrament) नहीं है।

मुस्लिम विवाह की पाँच विशेषताएँ हैं (i) प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति, (ii) विवाह संविदा करने की क्षमता, (iii) समानता का सिद्धान्त, (iv) वरीयता प्रथा, और (v) मेहर। प्रस्ताव मौलवी और दो गवाहों की उपस्थिति में विवाह उत्सव से पूर्व दूल्हे द्वारा दुल्हिन के सामने किया जाता है। विवाह को 'सही' (नियमित) मानने के लिए यह आवश्यक है कि प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति, दोनों एक ही बैठक में होनी चाहिए। ऐसा न करने पर विवाह 'फासिद' (अनियमति) हो जाता है, लेकिन 'बातिल' (अवैध) नहीं होता है। 'फासिद' विवाह 'सही' में बदला जा सकता है, लेकिन 'बातिल' विवाह नहीं। 'फासिद' विवाह के निम्न उदाहरण हैं प्रस्ताव रखते समय और स्वीकृति के समय गवाहों की अनुपस्थिति, पुरुष का पाँचवा विवाह, इद्दत की अवधि (पति की मृत्यु या तलाक के बाद तीन मासिक धर्म अवधि के लिए पृथकता का समय) में स्त्री का विवाह तथा पति पत्नी के बीच धर्म में अन्तर। 'बातिल' विवाह के निम्न उदाहरण हैं ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह जो मूर्ति पूजक या अग्नि पूजक हो, बहुपति प्रथा, किसी समरक्त नातेदार (consanguineous kin) से विवाह (जैसे पिता की बहिन, माँ की बहिन, अपनी बहिन या भाई, बहिन की लड़की, बेटे की बहू, आदि)। संविदा करने की क्षमता से अर्थ है बाल विवाह की मान्यता न देना या असन्तुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति के साथ विवाह को मान्यता न देना। शिया कानून अल्प वयस्क के वली को उसके विवाह का संविदा करने को अधिकार देता है। अल्प वयस्क के सम्बन्धी 'फजूली' द्वारा संविदा किया हुआ विवाह अल्प व्यस्क को यौन अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद विवाह को अनुसमर्थन करवा लेने का अधिकार देता है। अनुसमर्थन कराने की प्रथा और अस्वीकृति का विकल्प 'खैरुल बालिग' कहलाता है। *समानता के सिद्धान्त* का अर्थ है निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति के साथ विवाह न करना। ऐसे विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसी प्रकार भाग कर किया हुआ विवाह (किफा) भी मान्य नहीं होता। *वरीयता प्रथा* का अर्थ है पहले तो समानान्तर (parallel) सहोदरज सतति (चेवेरा, मौसेरा) को वरीयता देना फिर विलिंग (cross) सहोदरज सतति (केवल ममेरा, फुफेरा नहीं) को। लेकिन इन दिनों सहोदरज सतति से विवाह को हतोत्साहित किया जाता है। *मेहर* प्रथा का अर्थ है वह धन जो पत्नी विवाह के विचार से पति से लेने की अधिकारी होती है। मेरर 'निश्चित' (specified) या 'उपयुक्त' (proper) हो सकती है। मेहर 'फौरी' (prompt) (पति की मृत्यु या तलाक के समय देय) या 'विभेदी' (deferred) हो सकती है। एक बार तो मुस्लिमों में 'मुता' (अस्थाई) विवाह की भी प्रथा थी लेकिन अब वह समाप्त कर दी गई है।

मुस्लिम समाज में तलाक न्यायालय के हस्तक्षेप से या बिना हस्तक्षेप के भी दिया जा सकता है। स्त्री अपने पति को न्यायालय के माध्यम से ही तलाक दे सकती है किन्तु पुरुष द्वारा न्यायालय जाये बिना भी पत्नी को तलाक दे सकता है और एक 'तुहर' की अवधि में (एक मासिक धर्म की अवधि अर्थात एक माह) एक ही घोषणा से तलाक दे सकता है (तलाक अहसन), या तीन 'तुहर' *अवधियों* में तीन बार तलाक उद्घोष (pronouncement) के साथ तलाक दे सकता है (तलाके हसन) या एक ही 'तुहर' में तीन बार उद्घोष के

(तलाक-ए-उल्लिखत) दे सकता है। इन तीनों प्रकार के तलाक के अलावा तीन अन्य प्रकार के तलाक भी होते हैं 'इला', 'जिहर', और 'लियन'। 'इला' में पति अल्लाह के नाम पर कसम खाता है कि वह अपनी पत्नी से चार माह तक या निश्चित समय तक यौन सम्बन्ध स्थापित नही करेगा। 'इला' के बाद यदि वह वास्तव में यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करता है तब विवाह विच्छेदित मान लिया जाता है। 'जिहर' में पति दो गवाहों की उपस्थिति में घोषणा करता है कि उसकी पत्नी उसकी माँ के समान है। जिहर से विवाह विच्छेद नही होता बल्कि यह पत्नी को अपने पति से तलाक का आधार प्रदान करता है। 'लियन' में पति अपनी पत्नी पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाता है। इससे पत्नी को न्यायालय में जाकर तलाक लेने का आधार मिलता है। पति पत्नी की परस्पर सहमति से किया तलाक 'खुला' कहलाता है (जो कि पत्नी की पहल पर होता है) या 'मुबारत' कहलाता है (पति या पत्नी की पहल पर)। तलाक के बाद पत्नी को अपने पति से भरण पोषण भत्ता प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता। लगभग 15 वर्ष पूर्व उच्चतम न्यायालय ने एक महिला शाहबानो को भरण पोषण भत्ता स्वीकृत किया था। किन्तु इस निर्णय को मुस्लिम नेताओं ने चुनौती दी थी और इसे मुस्लिम व्यक्तिगत कानून में हस्तक्षेप बताया था, अत सरकार को विधान में ही सशोधन करना पडा था। फरवरी 1993 में, उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय ने भी एक हमीदन और उसके दो बच्चों को भरण पोषण भत्ता स्वीकृत किया था। अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल लॉ परिषद् ने उच्च न्यायालय में एक पुनरीक्षण याचिका दायर की थी।

ये सभी विशेषताएँ विवाह के उद्देश्यों और आदर्शों, विवाह की प्रकृति, विवाह और विवाह विच्छेद के सन्दर्भ में हिन्दू और मुस्लिम विवाह के बीच अन्तर दर्शाती हैं।

अब यह माना जाता है कि मुसलमानों का बहुपत्नी विवाह और बडी सख्या में तलाक देना सब गलत धारणा है। अब उन मुसलमान व्यक्तियों की सख्या जिनके पास दो या अधिक पत्निया हैं, नगण्य है। कहा जाता है कि हिन्दुओं में द्विविवाह के मामले अधिक हैं। इसी प्रकार मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं और सिक्खों में तलाक अधिक होते हैं। भारतीय साख्यिकी सस्थान द्वारा सँकलित ऑकडे दर्शाते हैं कि गैर मुस्लिम 1000 लोगों में से 72 के पास एक से अधिक पत्निया हैं जबकि मुसलमान 1000 पुरुषों में 15 के पास ही एक से अधिक पत्निया हैं (*हिन्दुस्तान टाइम्स*, जनू 27, 1998)। पूर्व में स्त्रियों की प्रस्थिति पर गठित समिति की 1975 में प्रकाशित रिपोर्ट ने भी दर्शाया है कि बहु विवाह का होना जनजातियों में सर्वाधिक है (15 25%), तत्पश्चात बौद्धों में (7 97%), जैनों में (6 75%), हिन्दुओं में (5 8%) और मुसलमानों में (5 7%) (जीनत शौकत अली, *दी एम्पावरमेन्ट ऑफ विमेन इन इस्लाम विद स्पेशल रेफरेन्स टु मैरियेज एण्ड डाइवोर्स*, 1995)

समान नागरिक सहिता (Uniform Civil Code)

मुसलमानों में एक तरफा बहु विवाह तथा तलाक की इतनी आलोचना होती है कि अनेक लोग विवाह के मामले पर समान नागरिक सहिता की माँग करते हैं। मुसलमान लोग इसका विरोध करते हैं क्योंकि वे न केवल इसे मुस्लिम पर्सनल लॉ में हस्तक्षेप मानते हैं बल्कि

इसलिए भी क्योंकि समान संहिता की विषय सामग्री मुख्यत . हिन्दू अधिनियम से ही ली जायेगी। विकास अध्ययन संस्थान (*दी हिन्दुस्तान टाइम्स*, जनवरी 1, 1996) के द्वारा 1995 में अलीगढ़ में 395 व्यक्तियों (187 हिन्दू और 208 मुसलमान) पर एक सर्वेक्षण किया गया था। कुल उत्तरदाताओं में से लगभग 60 प्रतिशत ने अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि के बावजूद समान संहिता के लिए अनिच्छा व्यक्त की। दूसरी ओर धार्मिक पृष्ठभूमि के आधार पर 74 प्रतिशत हिन्दुओं और 9 प्रतिशत मुसलमानों ने समान संहिता की आवश्यकता व्यक्त की। समान संहिता के पक्ष में तर्क थे : (1) राष्ट्रीय एकता और धर्म निरपेक्षता को प्रोत्साहन मिलेगा, (2) बढ़ती साम्प्रदायिक और जातीय हिंसा पर अकुश लगेगा, (3) नागरिक न्याय की प्रक्रिया को बल मिलेगा, और (4) लिंग पूर्वाग्रह कम होंगे और स्त्रियों में समानता की भावनाएं बनी रहेंगी। 34 मुसलमान जिन्होंने समान संहिता का समर्थन किया पेशेवर और सफेदपोश व्यक्ति थे (डाक्टर, वकील, कालेज शिक्षक, कार्यालय कर्मचारी व छात्र)। समान संहिता के विरुद्ध तर्क थे . (1) मुसलमान स्वय किसी परिवर्तन की आवश्कयता महसूस नही करते, (2) राजनैतिक समूह अपने वोट बैंक बनाने के लिए लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण करते हैं, (3) मुसलमान मानते हैं कि हिन्दू अपने सास्कृतिक मूल्य उन पर थोपना चाहते हैं क्योंकि समान संहिता के प्रावधान हिन्दू कानूनों से लिए गए हैं, (4) समान संहिता विभिन्न धार्मिक समूहों में विशेष रूप से अल्पसख्यकों में नाराजगी, असन्तोष, और असहिष्णुता पैदा कर देगी, (5) अधिकतर मुसलमान मानते हैं कि समान संहिता धर्म की स्वतत्रता के मौलिक अधिकार से इन्कार के समान होगी और 'विविधता में एकता' की अवधारणा के विकास में बाधक होगी। हिन्दू इस धारणा से सहमत नही है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि समान संहिता को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में न देखा जाये बल्कि बहु विवाह और मौखिक तलाक की बुराइयों को रोकने के लिए देखा जाये, तब विभिन्न समुदायों के गैर-रुढिवादी धार्मिक नेताओं के साथ चर्चा कानून के बनाने में सहायक हो सकती है।

ईसाइयो मे विवाह (Marriage Among Christians)

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाइयों में भी स्तरीकरण पाया जाता है। ईसाई लोग दो समूहों—प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक—में विभाजित हैं। कैथोलिक पुन लेटिन और सीरियन ईसाइयों में बँटे हुए हैं। ये सभी समूह और उप समूह अन्तर्विवाही हैं। हिन्दू और मुसलमानों की तरह ही, ईसाइयों में भी विवाह का उद्देश्य है यौन सम्बन्धों के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना तथा प्रजनन। साथ ही धर्म का भी ईसाई विवाह में महत्वपूर्ण स्थान है। ईसाई विश्वास करते हैं कि विवाह ईश्वर की इच्छा के कारण होता है और विवाह के बाद स्त्री पुरुष एक दूसरे में समाहित हो जाते हैं। ईसाई विवाह के तीन उद्देश्य-प्रजनन, कुमारीगमन (fornication) से बचाव (विवाह के बिना यौन सम्बध) तथा परस्पर सहायता और आराम-माने जाते हैं।

विवाह साथी तीन तरह से चयन किए जाते हैं माता पिता द्वारा, बच्चों द्वारा स्वय, और बच्चों तथा माता पिता द्वारा सम्मिलित रूप से परन्तु 10 में से 9 मामलों में चयन तथा विवाह माता-पिता द्वारा ही ठहराया जाता है। जीवन साथी चयन करते समय रक्त सम्बन्धों

से बचना तथा परिवार के सामाजिक स्तर, चरित्र, शिक्षा, शारीरिक गठन, आदि को महत्व दिया जाता है। ईसाइयों में 'वरीयता प्राप्त व्यक्ति' जैसी मुसलमानों की तरह की कोई प्रथा नहीं है। मंगनी रस्म के बाद, विवाह से पूर्व की जाने वाली औपचारिकताएं हैं · चरित्र प्रमाण पत्र प्रस्तुति, निश्चित तिथि से तीन सप्ताह पूर्व गिरजाघर में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। तब गिरजाघर का पादरी विवाह के विरुद्ध ऐतराज आमन्त्रित करता है और जब कोई ऐतराज प्राप्त नही होता, विवाह तिथि निश्चित कर दी जाती है। विवाह गिरजाघर में सम्पन्न होता है और दम्पति घोषणा करते है कि वे प्रभु ईशु के नाम पर दो गवाहों के समक्ष एक दूसरे को विवाहित साथी मानते हैं।

ईसाई लोग बहुपत्नी तथा बहुपति प्रथा को अनुमति नही देते। भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम, 1872, जो तब से छ या सात बार सशोधित हो चुका है, विवाह के सभी पक्षों को अपनी परिधि में लिये हुए है। ईसाई लोग तलाक प्रथा भी मानते हैं, यद्यपि गिरजाघर इसे अच्छा नही मानता है। भारतीय तलाक अधिनियम, 1869 उन दशाओं को सन्दर्भित करता है जिनमें तलाक लिया जा सकता है। इस अधनियम में विवाह विच्छेद, विवाह को निरस्त करना, न्यायिक पृथकत्व का हर्जाना और दाम्पत्य अधिकारों की पुन स्थापना शामिल है। ईसाइयों में दहेज या स्त्रीधन आदि की प्रथा नही है। विधवा पुनर्विवाह न केवल स्वीकार किया जाता है बल्कि प्रोत्साहित भी किया जाता है। इस प्रकार ईसाई विवाह हिन्दू विवाह की तरह पवित्र बन्धन नही है बल्कि मुस्लिम विवाह की तरह स्त्री पुरुष में एक सविदा है जिसमें साथी होने पर अधिक जोर दिया जाता है। यह आवश्यक है कि जब तक समान नागरिक सहिता लागू नही होती, ईसाइयों का तलाक अधिनियम, जो कि सवा सौ वर्ष पुराना है, सशोधित किया जाये और कुछ नये विधान पारित किये जायें। उदाहरणार्थ, तलाक के आधार बडे सीमित और कठोर हैं। यहा तक कि पति पत्नी के बीच इतना भेदभाव है कि पति को तो केवल पत्नी को व्यभिचारिणी सिद्ध करना होता है जब कि पत्नी को छुटकारा पाने के लिए अन्य वैवाहिक अपराध और साथ में पति का व्यभिचारी होना सिद्ध करना पडता है। जब दोनों पक्ष (पति पत्नी) परस्पर सहमति के आधार पर तलाक चाहते हों और न्यायालय सन्तुष्ट है, साथ साथ रहना असम्भव है तब भी कोई छूट नही दी जा सकती अथवा तलाक नहीं दिया जाता। पत्नी पति की सम्पत्ति समझी जाती है क्योंकि तलाक अधिनियम के प्रावधान पति को अपनी पत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले व्यक्ति के कारण हुए नुकसान की भरपाई का दावा करने का अधिकार देता है। तलाक अधिनियम को 1953 में मद्रास उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी और फिर 1995 में सर्वोच्च न्यायालय में क्योंकि यह लिंग भेदभाव पूर्ण था लेकिन याचिकाए खारिज कर दी गई। ईसाई कानून, जैसा आज मौजूद है, झूठी कसम खाने, कपट नीति प्रयोग करने और टकराव को प्रोत्साहित करता है। ईसाइयों को ऐसे कानून की जरूरत है जो समय की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप हो। विधि आयोग ने 1960 में ईसाई विवाह एव वैवाहिक धाराओं से सम्बद्ध विधेयक बनाया था लेकिन विधेयक को सरकार द्वारा इसे ससद में प्रस्तुत किए जाने के वायदे के बाद कालातीत (lapse) हो जाने दिया गया। 1983 में, आयोग ने पुन 1869 अधिनियम में परिवर्तनों की सिफारिश की लेकिन व्यर्थ। 1994 में सम्मिलित महिला कार्यक्रमों ने ईसाई विवाह एव वैवाहिक ध्य

विधेयक का मसविदा तैयार किया और ईसाई भरण पोषण विधेयक की रूपरेखा भी तैयार की लेकिन उन्हें पारित कराने के लिए कोई कदम नहीं उठाए गए।

नातेदारी व्यवस्था
(Kinship System)

नातेदारी व्यवस्था मे क्षेत्रीय भिन्नताएँ इसके सामाजिक-सांस्कृतिक तत्व (Regional Variations in Kinship System and its Socio-Cultural Correlates)

विवाह अनुस्थापन परिवार और प्रजनन परिवार के बीच की कडी है। दो एकाकी परिवारों में व्यक्तिगत सदस्यता का यह सत्य ही नातेदारी प्रथा को जन्म देता है। नातेदारी को इस प्रकार परिभाषित किया गया हैं "परिवार से सम्बद्ध आधार पर सामाजिक सम्बन्ध" (थियोडोरसन 1969 221)। वह सम्बन्ध जो या तो समरक्तमूलक (consanguinal) या दम्पतिस्वजन (affinal) आधारित हों, व्यक्तियों के अधिकार व कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं। अत नातेदारी व्यवस्था का अर्थ है "प्रस्थितियों और भूमिकाओं और सम्बन्धों की एक ऐसी सचरित व्यवस्था जिसमें नातेदार (प्राथमिक, द्वैतियक, तृतीयक व दूरस्थ) जटिल श्रृखलाबद्ध बन्धनों द्वारा परस्पर बँधे रहते है।" नातेदारों के बीच सम्बन्धों को बताने वाला पारस्परिक व्यवहार ऐसे शब्दों से सज्ञिप्त होता है जिनके द्वारा प्रत्येक नातेदार एक दूसरे को सम्बोन्धित करता है, अर्थात् व्यक्तिगत नाम से या नातेदारी की शब्दावली से (पिताजी, दादाजी, बहिन जी) या व्यक्ति व नातेदारी शब्दावली के सम्मिलित नाम से (राम के पिता, रीता की माँ, आदि)। नातेदारी शब्द (सम्बोधन व सन्दर्भ के) जो या तो *प्रारम्भिक* (जिन्हें किन्हीं अन्य शब्द में कम नहीं किया जा सकता, जैसे, माता, पिता, काका, चाचा, भाई, बहन, आदि) या *यौगिक* (जो प्रारम्भिक शब्द के योग से बना हो, जैसे बहनोई, मौसा, आदि) या *वर्णनात्मक* (जो दो या अधिक प्रारम्भिक शब्दों के मेल मे बना हो, जैसे मौसेरी बहन, फुफेरा भाई, आदि) और जिन्हें *एकाकी* (isolative) कह कर विभेदित किया जाता है (एक ही नातेदार पर लागू होता है जो कि पीढी, लिंग और वश-सम्बन्धों से जाने जाते हों, जैसे भाई, बहिन, पति, पत्नी, आदि) या वर्गात्मक (classification) शब्द (दो या अधिक नातेदारी श्रेणी के लोगों पर लागू जैसे 'सम्भ्राता' (cousin) पिता के भाइयों के पुत्रों और माता की बहिन के पुत्रों, दोनों के लिए प्रयुक्त)। क्योंकि वर्गात्मक शब्द एक या अधिक मूल आधार की अवहेलना करते हैं (जैसे लिंग, आयु, पीढी, दाम्पत्य मूलक निकटता, सह सम्बद्धता, विभाजन, आदि), इसलिए नातेदारों के श्रेणियों की सख्या हजारों से कुछ गिनी चुनी सख्या तक ही सीमित कर देते हैं।

हिन्दुओं के सामाजिक समारोहों, सस्कारों और दैनिक जीवन में परिवार के बाद नातेदारी समूह ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जीवन के सकटकाल में ही लोग केवल नातेदारों की ओर नहीं देखते हैं, बल्कि अन्य नियमित अवसरों पर भी उनकी सहायता लेते हैं। परिवार के बाद महत्वपूर्ण नातेदार समूह हैं *वश* और *गोत्र*। *वश* एक रक्तमूलक एक पक्षीय वशानुक्रम समूह (consanguineous unilateral descent group) है जिसके सदस्य अपने को एक ज्ञात तथा वास्तविक सामान्य पूर्वज से सम्बद्ध मानते हैं। यह वशानुक्रम समूह पितृवशीय या मातृवशीय हो सकता है। यह एक बहिर्विवाही (exogamous) इकाई

होती है। वश के सदस्य आपस में भाई बहिन माने जाते हैं। वश बन्धन कुछ पीढियों तक ही रहते हैं। एक वश परिवारों के बीच प्रमुख कडी माम्कारिक उत्सवों (जैसे, जन्म, मत्यु, आदि) में सामान्य भागीदारी होती है। *वश, गोत्र* में चला जाता है (passes into) जो कि यद्यपि एक पक्षीय समूह है लेकिन वश से बडा होता है। यह एक बर्हिविवाही समूह होता है। मातृवशीय नातेदार व्यक्ति के जीवन उतने ही महत्व के होते हैं जितने कि पितृवशीय नातेदार।

विभिन्न परिक्षेत्रो मे नातेदारी की विशेषताएँ (Features of Kinship in Different Zones)

उत्तर परिक्षेत्र (Northern Zone)

नातेदारी की विशेषताएँ दक्षिण भारत में उत्तर तथा मध्य भारत से भिन्न होती हैं। नातेदारी व्यवस्था के सामाजिक सास्कृतिक तत्व (co-relates) हैं *भाषा, जाति* (मैदानी और पहाडी) और क्षेत्र (region)। नातेदारी सम्बन्धों पर इन तीनों तत्वों के प्रभाव के बावजूद कुछ सामूहिक आधारों पर नातेदारी सगठन पर बात करना सम्भव है, जैसे जाति एवं परिक्षेत्रीय आधार पर। यद्यपि उत्तरी परिक्षेत्र में नातेदारी व्यवहार क्षेत्र में और एक ही क्षेत्र में जाति से जाति में भिन्न है, फिर भी तुलनात्मक अध्ययन दर्शाता है कि एक 'आदर्श' उत्तरी सरूप पर बात करना सम्भव है, विशेष रूप से अधिकत्तर जातियों के बीच—अधिकत्तर सामान्य रूप से जाने वाली अभिवृत्तियों तथा प्रथाओं के सन्दर्भ में।

उत्तर परिक्षेत्र (zone) के नातेदारी सगठन के सन्दर्भ में इरावती कर्वे (1953 : 115) ने कुछ महत्वपूर्ण विशेषताए बतायी हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं (1) अह (ego) से कनिष्ट नातेदार उनके व्यक्तिगत नाम से सम्बोधित किए जाते हैं जब कि वरिष्ठ व्यक्ति नातेदारी शब्दों से। (2) ऊपरी व निचली (ascending and descending) पीढियों के सभी बच्चे अपने सहोदर समूह भाई बहिन (sibling group) बराबर माने जाते हैं और सहोदर समूह के सभी बच्चे स्वय के बच्चों के बराबर माने जाते हैं। (3) पीढियों की एकता का सिद्धान्त माना जाता है (उदाहरणार्थ, पर बाबा, और बाबा को वही सम्मान दिया जाता है जो पिता को। (4) एक ही पीढी में वृद्ध और युवा नातेदार पृथक माने जाते हैं। (5) तीन पीढ़ियों के सदस्यों के व्यवहार सरूप और कर्त्तव्य कठोरता से पालन किए जाते हैं। (6) सस्कृत मूल के कुछ प्राचीन नातेदारी शब्दों के स्थान पर नये शब्द प्रयोग किए जाने लगे हैं, उदाहरणार्थ पितामह के स्थान पर पिता, 'वक्ता' से बडे के लिए 'जी' उपसर्ग लगाया जाता है (जैसे चाचा जी, ताऊ जी)। बगाल में 'जी' के स्थान पर 'मोशाय' उपसर्ग लगाया जाता है। (7) निकट नातेदारों के बीच विवाह की अनुमति नही है। (8) विवाह के बाद लडकी को अपने सास श्वसुर से (बातचीत में) आजादी (free) नहीं रहती, बल्कि जब वह माँ बन जाती है तब वह सम्मान व शक्ति का पद प्राप्त कर लेती है और तब उस पर लगे प्रतिबन्ध कम हो जाते हैं। (9) परिवार इसी प्रकार सरचित होता है कि बच्चे, माता-पिता, दादा-दादी या तो साथ रहते हैं या उनके प्रति नातेदारी दायित्व पूरे किए जाते हैं। (10) उस सयुक्त परिवार के अतिरिक्त, जो व्यक्ति के लिए निकट सम्बन्धों की परिधि का प्रतिनिधित्व करता है, भी

नातेदारी एक वृहत परिधि होती है जो उसके जीवन में महत्वपूर्ण होती है। यह बंधुत्व, उसके पितृ-स्वजन या मातृ-स्वजनों का प्रतिनिधित्व करता है जो उसके साथ तब खडे रहते हैं और सहायता करते हैं जब तत्काल परिवार (सहायता में) कम पड जाता है।

मध्य परिक्षेत्र (Central Zone)

मध्य भारत के नातेदारी सगठन की विशेषताएँ उत्तर भारत से अधिक भिन्न नही हैं। मध्य भारत में नातेदारी की प्रमुख विशेषताए इस प्रकार हैं (1) प्रत्येक क्षेत्र में विवाह प्रथाए उत्तर के समान ही मानी जाती हैं, अर्थात् समरक्तता (consanguinity) मुख्य विचार है जो विवाह में लागू रहता है। (2) अनेक जातियाँ बहिर्विवाही कुलों (clans) में विभाजित होती हैं। कुछ जातियों में बहिर्विवाही कुल प्रतिलोम विवाही श्रेष्ठक्रम (hypergamous hierarchy) में व्यवस्थित होते हैं। (3) नातेदारी शब्दावली विभिन्न नातेदारों के बीच घनिष्ठता और निकटता दर्शाती है। नातेदारों के बीच सम्बन्ध 'न्योता उपहार' रीति से सचालित होते हैं जिसके अनुसार प्राप्त नकद भेंट के बदले में बराबर की नकद भेंट दी जाती है। न्योता पजी (register) बनाई जाती है और यह पीढियों तक सुरक्षित रखी जाती है। (4) गुजरात में, ममेरा प्रकार का सहोदरज विवाह (माँ के भाई से) और देवर विवाह (पति के भाई से विवाह) कुछ जातियों मे प्रचलित है। (5) गुजरात में नियत-कालिक (periodic) विवाह के रिवाज में बाल विवाह और असमान विवाह को प्रोत्साहन दिया है। ऐसे विवाहों का प्रचलन वहाँ आज भी है। (6) महाराष्ट्र में नातेदारी सम्बन्धों पर उत्तरी व दक्षिणी दोनों परिक्षेत्रों का प्रभाव है। उदाहरणार्थ, मराठों का कुल (clan) सगठन राजपूतों की तरह का है जो सीढी के रूप में व्यवस्थित होते हैं। कुलों को विभागों (divisions) में सगठित किया जाता है और प्रत्येक भाग को इसमें सम्मिलित कुलों की सख्या के अनुसार नाम दिया जाता है, उदाहरणार्थ पच कुली, सत कुली, आदि। कुल अनुलोम क्रम में व्यवस्थित होते हैं—सबसे ऊँचा पच कुली, फिर सतकुली, आदि। पचकुली आपस में विवाह कर सकते हैं या सतकुली कन्या ले सकते हैं, लेकिन अपनी पुत्री को पचकुली से बाहर नही देते। (7) मध्य परिक्षेत्र में कुछ जातियों में, जैसे मराठा और कुन्बीस (Kunbis) में, वधु मूल्य का प्रचलन है यद्यपि दहेज प्रथा भी उनमें पायी जाती है। (8) यद्यपि महाराष्ट्र में परिवार व्यवस्था पितृवशीय और पतिस्थानिक (patrilocal) है लेकिन उत्तर भारत में विपरीत जहा पत्नी गौने के बाद अपने पति के साथ स्थाई रूप से रहती है और यदाकदा ही अपने पिता के घर जाती है, मराठा जाति में वह अपने पिता के घर बार बार जाती है। एक बार वह अपने पिता के घर चली जाये तो उसे पति के घर लाना कठिन होता है। यह नातेदारों पर दक्षिण का प्रभाव दर्शाता है (9) यद्यपि नातेदारी के शब्द अधिकतर उत्तर के समान ही हैं लेकिन कुछ शब्द दक्षिण के द्रविड मूल के भी है, उदाहरणार्थ, भाई के लिए 'अन्ना' या 'नाना' और साथ ही 'दादा' का भी प्रयोग होता है। इसी प्रकार बहिन के लिए 'अक्का' 'ताई' और 'माई'। (10) राजस्थान और मध्य प्रदेश में आदिवासियों में नातेदारी व्यवस्था जातिवादी हिन्दुओं से कुछ भिन्न है। यह अन्तर नातेदारी शब्दावली, विवाह नियमों, उत्तराधिकार व्यवस्था, और कुल के दायित्वों में देखने को मिलता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उत्तर और मध्य परिक्षेत्रों में नातेदारी

सगठन लगभग एक सा ही है, फिर भी इसे उत्तर से दक्षिण को सक्रान्ति का क्षेत्र (region of transition) कहा जा सकता है। महाराष्ट्र जैसा राज्य सास्कृतिक उधार (borrowing) और सास्कृतिक समन्वय (synthesis) का क्षेत्र है (कर्वे, 1953 176)।

दक्षिण परिक्षेत्र (South Zone)

दक्षिण परिक्षेत्र एक जटिल नातेदारी व्यवस्था का सरूप प्रस्तुत करता है। यद्यपि अधिकतर जातियों और समुदायों में परिवार के रूप मुख्यत पितृवशीय और पतिस्थानिक हैं (जैसे नम्बूदरी), परन्तु जनसख्या के ऐसे भाग भी हैं जो मातृवशीय और पत्नीस्थानिक हैं (जैसे, नायर)। काफी सख्या में ऐसे भी हैं जिसकी व्यवस्था में पितृवंशीय व मातृवंशीय दोनों सगठनों की विशेषताएँ मौजूद हैं (जैसे टोडा)। इसी प्रकार ऐसी जातियाँ/और जनजातियाँ भी हैं जिनमें केवल बहुपत्नी प्रथा ही है (जैसे असारी, नायर), तथापि ऐसे भी हैं जिनमें बहुपत्नी प्रथा और बहुपति प्रथा दोनों प्रचलित हैं (जैसे टोडा)। फिर, बहुपति प्रधान पितृवशीय समूह भी हैं (जैसे असारी) और बहुपति प्रधान मातृवशीय समूह भी है (जैसे तियान, नायर), और बहुपत्नी प्रधान पितृवशीय समूह भी है (जैसे नम्बूदरी) लेकिन बहुपत्नी प्रधान मातृवशीय समूह नही है। इसी प्रकार पितृवशीय सयुक्त परिवार और मातृवशीय सयुक्त परिवार भी हैं। यह सब दक्षिण परिक्षेत्र में नातेदारी सगठन की विविधता को दर्शाता है। यहाँ हम कुछ सगठनों/सरूपों पर चर्चा करेंगे।

मातृवशीय परिवार में स्त्रियों में एक दूसरे से नातेदारी सम्बन्ध पुत्री, माता, बहिन, माँ, माँ की बहिन और बहिन की पुत्री के हैं। पुरुषों के साथ स्त्रियों के नातेदारी सम्बन्धों में पुरुष स्त्रियों के साथ भाई, पुत्र, पुत्री का पुत्र, और बहिन का पुत्र रूप में सम्बन्धित होते हैं। पुरुषों का एक दूसरे के साथ नातेदारी सम्बन्ध भाई, माँ का भाई और बहिन का पुत्र का होता है। ये सभी नातेदारी सम्बन्ध रक्तमूलक आधार के हैं। इनमें से विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं बने हैं। ऐसा इसलिए कि पति परिवार में कभी कभी आता है। अत हम देखते हैं कि (i) पति और पत्नी के बीच साथी की भावना का अभाव है और पिता तथा बच्चों के बीच निकटता का अभाव है, और (ii) जहाँ तक पति की आय से जीवन यापन का सम्बन्ध है, स्त्रियाँ पूर्णरूपेण स्वतत्र हैं। इस प्रकार से कुछ दक्षिणी परिवार उत्तरी परिवारों से भिन्न हैं।

'तरवड' (Tarwad) कहलाने वाला मातृवशीय सयुक्त परिवार ट्रावन्कोर के मलाबार में नायरों (Nairs) में तथा कुछ अन्य समूहों में पाए जाते हैं। 'तरवड' परिवारों की प्रमुख विशेषताएँ हैं (1) तरवड की सम्पत्ति इससे सम्बद्ध सभी पुरुषों और स्त्रियों की होती है। (2) अविवाहित पुत्र माँ के तरवड के सदस्य होते हैं लेकिन विवाहित पुत्र अपनी पत्नियों के तरवड के सदस्य होते हैं। (3) परिवार में सबसे वृद्ध सदस्य तरवड सम्पत्ति का प्रबन्धक होता है जिसे कर्णवान (Karnavan) (उसकी पत्नी अम्माई (*Ammayi*) कहलाती है) कहते हैं। (4) कर्णवान परिवार का पूर्ण शासक होता है। उसकी मृत्यु पर अगला वरिष्ठ सदस्य कर्णवान बन जाता है। वह अपने नाम से धन का नियोजन कर सकता है, सम्पत्ति को गिरवी रख सकता है, धन ऋण के रूप में दे सकता है, भूमि को उपहार स्वरूप दे सकता है, और आय और व्यय के लिए किसी सदस्य को जवाबदेय नही होता है। (5) जब तरवड बहुत बडे आकार का हो जाता है तब यह तवाझी (Tavazhi) में विभक्त कर दिया जाता है। स्त्रियों

के सम्बन्ध में तवाझी वह 'व्यक्तियों का समूह है जिसमें एक स्त्री, उसके बच्चे और स्त्री वश के उसके सभी उत्तराधिकार शामिल होते हैं'।

1912 से पूर्व और 1912 के बाद के तरवड दो अलग-अलग लक्षणों वाले समूह हैं (a) पहले की तरवड सम्पत्ति अविभाज्य (indivisible) होती थी लेकिन अब विभाज्य होती है; (b) पूर्व का कर्णवान तरवड का सम्पूर्ण शासक हो गया है, (c) पूर्व के तरवड के सदस्य तब तक भरण पोषण के अधिकारी नही थे जब तक कि वे परिवार के मकान में न रहते हों, लेकिन अब पैतृक मकान से बाहर रहने पर भी सदस्य भरण पोषण के हकदार होते हैं, (d) पहले, *कर्णवान की पूर्वज-पूजा सामान्य बात थी लेकिन अब नही है; (e)* पहले पति पत्नी के बीच के सम्बन्ध औपचारिक होते थे लेकिन अब यह सम्बन्ध अधिक अनौपचारिक, व्यक्तिगत, और अधिक घनिष्ट और निकट हो गए हैं, (f) पहले तरवड के किसी एक सदस्य के द्वारा अर्जित सम्पति उसकी मृत्यु के बाद तरवड को चली जाती थी लेकिन अब यह सम्पत्ति उसकी विधवा व बच्चों को चली जाती है और उनकी अनुपस्थिति में माँ और माँ की माँ को।

इस प्रकार नायर जाति का तरवड, 1912 के अधिनियम (ट्रावन्कोर), 1920 के अधिनियम (कोचीन) 1933 के क्रियान्वयन के बाद अब विखण्डित हो गया है। अब स्त्री की सम्पत्ति उसके पुत्र और पुत्रियों को जाती है और फिर उसके पिता और पति को। कापडिया (1947 348) ने भी लिखा है कि यह सत्य है कि 90 प्रतिशत से अधिक विदू (veedus) (घर) में एक ही तवाझी होती है जो यह दर्शाता है कि गत कुछ दशकों में तरवडों का 'आणवीकरण' (atomization) बढ रहा है।

कुल सगठन और विवाह के नियम (Clan Organization and Marriage Rules)

जाति पाँच बहिर्विवाही कुलों में विभाजित रहती है। कुल सगठन की प्रमुख विशेषताएँ हैं

1 प्रत्येक कुल (जिसमें काफी परिवार होते हैं) का अपना नाम होता है जो किसी जानवर या पौधे या अन्य किसी वस्तु के नाम पर होता है।

2. एक व्यक्ति किसी भी कुल से पत्नी का चयन कर सकता है, सिवाय अपने कुल के। परन्तु यह चयन सैद्धान्तिक है क्योंकि पुत्रियों के विनिमय (exchange) का नियम भी रहता है।

3 विवाह में कुल बहिर्विवाह (clan exogamy) का नियम ही नहीं चलता बल्कि पुत्रियों का परिवार विनिमय भी चलता है।

4 पुत्रियों के विनिमय नियम के कारण अनेक नातेदारो से सम्बन्धित शब्द एक मे होते हैं, उदाहरण के लिए ननद के लिए प्रयोग किया जाने वाला शब्द भाभी के लिए भी प्रयोग किया जाता है, साला के लिये प्रयुक्त शब्द बहनोई के लिए भी, और ससुर शब्द भाभी के पिता के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

5 मातृपक्ष के समानान्तर सहोदरजों (parallel cousins) के बीच विवाह अर्थात् दो बहनों के बच्चों के बीच विवाह स्वीकृत नही होता है।

6 साली (पत्नी की छोटी बहन) से विवाह का प्रचलन है। एक ही परिवार में दो भाइयों

से दो बहिनों का विवाह हो सकता है।

7 दक्षिण में अधिमान्य विवाह (preferential mating) की प्रथा भी है। अनेक जातियों में प्रथम वरीयता बडी बहिन की पुत्री को दी जाती है, द्वितीय वरीयता पिता की बहिन की लडकी को, और तृतीय वरीयता माता के भाई की पुत्री को। परन्तु आजकल विलिंग सहोदरज सतति (cross-cousin) विवाह, विशेषकर चाचा भतीजी विवाह को उन समूहों में जो या तो उत्तर भारतीयों के या पश्चिमी सस्कृति के सम्पर्क में आए हैं, चलन के बाहर और शर्म की बात माना जाता है।

8 विवाह के लिए प्रचलित निषेध (taboos) हैं एक व्यक्ति अपनी छोटी बहिन की पुत्री से विवाह नही कर सकता, एक विधवा अपने पति के बडे या छोटे भाई से विवाह नही कर सकती (अर्थात देवर विवाह निषिद्ध है) और कोई व्यक्ति अपनी माँ की बहिन की पुत्री से विवाह नही कर सकता।

9 जैसा कि उत्तर में होता है विवाह पीढीगत विभाजन (generational divisions) के सिद्धान्त की अपेक्षा वास्तविक आयु अन्तर पर आधारित होता है। इसका एक उदाहरण यह है कि दक्षिण में दादा और पोती का विवाह सम्भव है।

10 दक्षिण में विवाह और नातेदारी की एक और विशेषता यह है कि विवाह नातेदारी समूह को विस्तृत करने के लिए नही किया जाता, बल्कि प्रत्येक विवाह पहले से ही मौजूद बन्धनों को और मजबूत बनाने के लिए किया जाता है। ऐसा विचार जो नातेदार पहले से ही काफी निकट थे उन्हें और निकट ला देता है।

11 एक लडकी को उसी व्यक्ति से विवाह करना पडता है। जो उससे आयु में बड़े समूह से (जिसे ताम मम) (tom mum) कहा जाता है) और साथ ही माता पिता के समूह से छोटे समूह का हो, अर्थात् लडकी अपने किसी भी बडे विलिंग सहोदरज सतति (cross cousin) से विवाह कर सकती है। लडके को 'ताम-पिन' (tam-pin) समूह में ही विवाह करना होता है, जो ताम-मम (tam-mum) समूह की सन्तान हो।

12 उत्तर की शब्दावली में जैसे कन्या, बहू, पीहर, और ससुराल जैसे शब्दों में अभिव्यक्त भावनाएँ और प्रस्थिति का दोहरापन दक्षिण में नही मिलता। ऐसा इसलिए है क्योंकि दक्षिण में विवाह के बाद लडकी अजनबी घर में प्रवेश नही करती जैसा कि उत्तर में होता है। किसी लडकी का पति या तो उसकी माता के भाई का पुत्र या ऐसा ही कोई रिश्तेदार होता है। दक्षिण में विवाह लडकी के लिए अपने पिता के घर से पृथकत्व का प्रतीक नही है। लडकी अपने ससुर के घर में भी स्वच्छन्द होती है।

उत्तर और दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्था की तुलना
(Comparison of Kinship Systems of North and South)

1. दक्षिण भारत के परिवार में जन्म के परिवार (जनक परिवार) (family of orientation) और जनन परिवार (family of procreation) के बीच कोई भी स्पष्ट भेद नही है जैसा कि उत्तर के परिवार में होता है। व्यक्ति के जनक परिवार का कोई भी सदस्य (अर्थात पिता, माता और बहिन के) विवाह (जनन) परिवार का सदस्य

नही हो सकता लेकिन दक्षिण में यह सम्भव है।

2. उत्तर भारत में नातेदारी से सम्बन्धित प्रत्येक शब्द यह स्पष्ट करता है कि सन्दर्भित व्यक्ति रक्त सम्बन्धी है या विवाह से, लेकिन दक्षिण भारत में ऐसा नहीं है।
3 दक्षिण भारत में व्यक्ति के कुछ नातेदार होते हैं जो उसके केवल रक्त सम्बन्धी हैं और कुछ अन्य होते हैं जो एक साथ रक्त सम्बन्धी और विवाहोपरान्त के सम्बन्धी होते हैं।
4 दक्षिण भारत में नातेदारी का संगठन दो समूहों में आयु श्रेणियों के अनुसार होता है, अर्थात् व्यक्ति से बडा (tam-mum) और छोटा (tam-pin) के आधार पर होता है। 'ताम' का अर्थ स्वय, 'मम' का अर्थ पहले और 'पिन' का अर्थ बाद में होता है।
5. दक्षिण भारत मे नातेदारी सगठन वर्षक्रम में आयु (chronological age) के अनुसार अन्तर पर निर्भर करता है जब कि उत्तर में यह पीढ़ी विभाजन (generational divisions) के सिद्धान्त पर निर्भर करता है।
6. दक्षिण भारत में विवाहित लडकियों के लिए व्यवहार के विशेष प्रतिमान नही होते जबकि उत्तर भारत में उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं।
7. दक्षिण भारत में विवाह का अर्थ यह नही होता कि लडकी पिता के घर से अलग हो गई, लेकिन उत्तर भारत में स्त्री अपने पिता के घर कभी-कभी ही जाती है।
8. उत्तर भारत में विवाह नातेदारी समूह को विस्तृत करने के लिए होता है जबकि दक्षिण भारत में यह पहले से ही मौजूद बन्धनों को और मजबूत करने के लिए होता है।

पूर्वी परिक्षेत्र (Eastern Zone)

पूर्वी भारत (Eastern India) में नातेदारी सगठन भिन्न है। यहाँ जातिवादी हिन्दुओं की तुलना में आदिवासी अधिक हैं (बगाल, बिहार, आसाम, और उडीसा के भागों में)। प्रमुख जनजातियाँ हैं . खासी, बिरहोड, मुण्डा और औराँव। इनमें नातेदारी सगठन का कोई प्रारूप नहीं है। मुण्डारी भाषी लोगों में पितृवशीय पतिस्थानिक परिवार होते हैं, परन्तु इस परिक्षेत्र में सयुक्त परिवार बिरले ही मिलते हैं। विलिंग सहोदरज विवाह (cross cousin) यदाकदा मिलते हैं यद्यपि वधू मूल्य आम बात है। स्त्री को 'दो के रूप में' सम्बोन्धित किया जाता है, जैसे (तुम दो)। नातेदारी शब्दावली सस्कृत एव द्रविड दोनों भाषाओं से ली गई है। खासी और गारों लोगों में मातृवशीय सयुक्त परिवार मिलता है (जैसे दक्षिण में नायरों में)। विवाह के बाद पुरुष अपने माता-पिता के साथ बिरले ही रहता है, वह एक अलग घर स्थापित करता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारत में नातेदारी सगठन जाति और भाषा से प्रभावित है। प्रस्थिति तथा जीवनयापन के लिए कठिन स्पर्धा के आज के युग में, एक व्यक्ति का परिवार और उसके परिवार उसके सहायक के रूप में अवश्य होने चाहिए। जाति एव भाषाई समूह समय-समय पर व्यक्ति की सहायता कर सकते हैं, लेकिन उसके कट्टर समर्थक, विश्वसनीय एव वफादार लोग केवल उसके परिवार ही हो सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को न केवल अपने नातेदारों से सम्बन्ध मजबूत रखने चाहिए बल्कि उसे अपने

नातेदारी के दायरे में विस्तार भी करना चाहिए। सहोदरज विवाह, अधिमान्य विवाह (preferential mating), विनिमय विवाह, और विवाह प्रतिमान जो जीवन साथी के चयन क्षेत्र को सीमित करते हैं, को बदलने की आवश्यकता है ताकि विवाह के द्वारा नातेदारी सम्बन्ध विस्तृत हों और व्यक्ति शक्ति अर्जित करने और प्रस्थिति उठाने में उनकी मदद ले सके और प्राप्त कर सके।

स्त्रियों की बदलती प्रस्थिति
(Changing Status of Women)

बदलती प्रस्थिति (Changing Status)

आज भारत में स्त्रियों की प्रस्थिति—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सामान्य—प्राचीन और मध्य काल से अधिक ऊँची है। उन्हें अनेक अधिकार (सामाजिक और वैधानिक) प्राप्त हैं, उन्हें अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है, उनकी आवाज में अधिक शक्ति है, और वे सार्वजनिक मामलों में अधिक भाग लेती हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि उनके साथ अभी भी भेदभाव किया जाता है, उन्हें सताया जाता है, अपमानित किया जाता है, उन्हें आधीनता में रहना पड रहा है और उनका शोषण भी हो रहा है।

प्राचीन भारत में (वैदिक व महाकाव्य युग में) स्त्रियों को अधिकतर पुरुषों के समान माना जाता था। उन्हें सम्मानित किया जाता था और पृथ्वी पर दैवी गुणों का प्रतीक समझा जाता था। उन्हें न केवल गृहस्थ जीवन का बल्कि समूचे सामाजिक सगठन का भी आधार माना जाता था। वास्तव में, ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने धर्म ग्रन्थों से अनेक अश यह दर्शाने के लिए सन्दर्भित किए हैं कि स्त्रियों की प्रस्थिति निम्न थी। ये अश स्त्री को 'विश्वास के अयोग्य', 'पुरुष की शारीरिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली तथा उनके लिए सन्तान देने वाली', 'सभी बुराइयों की जड', 'अधिकार की वस्तु', आदि बताया है। लेकिन ये सभी सन्दर्भ प्रसगवश थे, अर्थात् किसी प्रसग में कहे गए थे। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने कभी पर्दा नहीं किया, उन्हें जीवन साथी के चुनाव की आजादी थी, शिक्षा प्राप्ति से वे वचित नहीं थीं, तथा घर में और बाहर स्वतत्र थीं। आर्थिक क्षेत्र में उन्हें माँ व पत्नी के रूप में सम्पत्ति में सीमित अधिकार प्राप्त थे। परन्तु वे नौकरी नही करती थीं और पारिश्रमिक प्राप्त नहीं करती थीं क्योंकि ऐसा करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। राजनैतिक क्षेत्र में उनकी प्रस्थिति तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था पर निर्भर करती थी। उन दिनों क्योंकि चुनी हुई सरकार नहीं होती थी, अत उन्हें न तो मताधिकार प्राप्त था और न ही उन्हें किसी राजनैतिक पद प्राप्त करने के अवसर प्राप्त थे। उन्हें सभाओं में प्रवेश की अनुमति नही थी क्योंकि इनमें जुआ, शराब व अन्य उद्देश्य भी पूरे किए जाते थे। कौटिल्य ने (अर्थशास्त्र) धनुष बाण से सुसज्जित स्त्री सैनिकों का वर्णन किया है। धार्मिक क्षेत्र में उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वे नियमित रूप से धार्मिक समारोहों में भाग लेती थीं।

पौराणिक, ब्राह्मण, व मध्य काल में स्त्रियों की प्रस्थिति अनेक प्रतिबन्धों के लगाने के कारण निम्न हो गई थी। पूर्व यौवनारम्भ काल में ही विवाह होने लगे, विधवा पुनर्विवाह निषिद्ध हो गया, पति को पत्नी के लिए देवता का दर्जा दिया गया, शिक्षा पूर्ण रूपेण

अस्वीकृत कर दी गई, सती प्रथा प्रारम्भ हो गई, पर्दा प्रथा प्रचलित हो गई, बहुपत्नी विवाह सहन किया जाने लगा, किन्तु स्त्रियो को बलि चढाने, प्रार्थना करने व धार्मिक पुस्तकें पढने की अनुमति नही दी गई। मुस्लिम काल में जाति प्रथा के कठोर प्रतिबन्धों को थोपने तथा सम्पूर्ण समाज पर ब्राह्मणी शुद्धता थोपे जाने के कारण उन पर अधिक प्रतिबन्ध लागू किए गए।

परन्तु भक्ति आन्दोलन के कारण स्थिति में कुछ परिवर्तन आया जिसके कारण स्त्रियों को कुछ सामाजिक और धार्मिक आजादी मिली। ब्रिटिश काल में स्त्रियों की प्रस्थिति में कुछ सुधार आया जिसके कुछ प्रमुख कारण थे शिक्षा का विस्तार, लडकियों की शिक्षा में ईसाई मिशनरियों की रुचि, सती जैसे सामाजिक बुराई का अन्त, कुछ कानूनी उपायों का क्रियान्वयन (जैसे विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856, विशेष विवाह अधिनियम, 1872, बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929) और राजा राममोहन राय, जस्टिस रानाडे, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महर्षि कर्वे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऐनी बेसेन्ट, व महात्मा गाधी जैसे कुछ जागरुक नेताओं द्वारा कुछ सामाजिक आन्दोलन, तथा बग महिला समाज, भारत महिला परिषद (1904), इण्डियन एसोसियेशन (1917), नेशनल काउन्सिल फॉर विमेन इन इण्डिया (1925) एव अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेन्स (1927), आदि जैसे कुछ सगठनों के प्रयास।

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन और गति आई क्योंकि कुछ नये कानून लागू किए गए (विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 और दहेज विरोधी अधिनियम, 1961)। स्त्रियों के रोजगार से सम्बन्ध कानून थे फैक्ट्री अधिनियम, 1948 में प्रावधान, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948, और प्रसूति सुविधा अधिनियम, शिक्षा का प्रभाव, शिक्षित अभिजात वर्ग की स्त्रियों द्वारा नेतृत्व प्रदान किया जाना, रोजगार के बढते अवसर, जाति प्रथा की कठोरताओं में परिवर्तन, आदि। महिलापरक कार्यक्रमों में तालमेल की आवश्यकता और कमजोर वर्ग के प्रति राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा के लिए उपाय बताने के लिए राज्य एव केन्द्र सरकार द्वारा अनेक आयोग नियुक्त किए गए हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा दो ऐसे आयोग 1971 और 1992 में नियुक्त किए गए। जनवरी 1992 में गठित महिलाओं के लिए राष्ट्रीय आयोग को स्त्रियों से सम्बन्धित मामलों को देखने के लिए, स्त्रियों के प्रस्थिति के विषय में जाँच के लिए विभिन्न कानूनों का परीक्षण करने के लिए, उनकी कमियों को इगित करने, स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा एव भेदभाव किए जाने के कारणों का मूल्याकन करने के लिए और सम्भव उपाय बताने के लिए निर्देशित किया गया था।

स्त्रियों की वर्तमान प्रस्थिति का मूल्याकन हम किस प्रकार करें ? स्त्रियों की उच्च प्रस्थिति के सूचक क्या हैं ? कुछ पर्यवेक्षक स्त्रियों की बदलती प्रस्थिति को तलाक में वृद्धि तथा स्त्री तलाक याचिकाओं की पुरुषों से अधिक सख्या, अन्तर्जातीय विवाहों में वृद्धि, स्त्रियों के प्रति अपराधों में कमी, जैसे कारकों से जोडते हैं। लेकिन स्त्रियों की वास्तविक ऊची प्रस्थिति की ओर सकेत करने वाले कारक हैं स्त्रियों का भुगतान प्राप्त वाले कार्यों में सलग्न होना और आर्थिक आजादी प्राप्त करना, स्त्रियों द्वारा सम्भाले हुए विभिन्न विभागों में उच्च

और बेहतर पदों की सख्या में वृद्धि, महिला उद्यमियों और प्रबन्धकों की संख्या में वृद्धि, आदि, विधायिकाओं में स्त्रियों की सख्या में वृद्धि, विश्वविद्यालयों में पढने वाली लडकियों की सख्या में वृद्धि, विद्यालयों और व्यावसायिक सस्थाओं में लडकियों की सख्या में वृद्धि, आदि।

स्त्रियों की प्रस्थिति का विश्लेषण दो स्तरों पर किया जा सकता है; ग्रामीण क्षेत्रों में और नगरीय क्षेत्रों में। शहरी क्षेत्रों में उनकी प्रस्थिति को तीन उप-स्तरों पर देखा जा सकता है धनी स्त्रियाँ, मध्यम वर्गीय स्त्रिया, और गरीब स्त्रियाँ। ग्रामीण क्षेत्रों में उन स्त्रियों की प्रस्थिति में थोडा ही अन्तर होता है जो श्रमिक हैं और जो काम नही करती हैं। लेकिन शहरी क्षेत्रों में मध्यम वर्गीय स्त्रियों की प्रस्थिति असमजस की है। धनी और गरीब वर्गीय स्त्रियों की अपनी ही जीवन शैली रहती है लेकिन मध्यम वर्गीय स्त्रियों के दृष्टिकोण और मूल्य अलग हैं। यह वर्ग भेद तीन सामान्तर (parallel) नदियों के समान है जिनकी सीमाएँ स्पष्ट होती हैं।

कुछ ही दशक पूर्व (1950) तक शहरी मध्यम वर्गीय स्त्रियों की बडी स्पष्ट भूमिका होती थीं। वे जानती थी कि उनसे क्या अपेक्षाएँ की जाती है और वे उनके अनुरूप कार्य करती थीं। यह पूर्वाभासित जीवन शैली थी जिसमें चुनौती तो थी लेकिन थोडे ही प्रयत्नों से समाधान भी था और काफी सरलता से वे अपनी भूमिकाओं के साथ समायोजन कर लेती थी। आज अधिकतर स्त्रियाँ, अधिक शिक्षा और आय के साधनों के साथ, समायोजन में कठिनाई अनुभव करती हैं। पहले जब अधिकतर लडकियों की वरीयता (priority) सही समय पर विवाह करना और पत्नी, माँ, बहू की विभिन्न भूमिकाओं पर आधारित जीवन व्यतीत करना होती थी, तब माता-पिता अपनी पुत्रियों का विवाह निश्चित करने के लिए अपने भावी दामाद की पारिवारिक पृष्ठभूमि के विषय में अधिक चिन्तित रहते थे। दहेज की माँग ऊँची होती थी। विवाह विच्छेद या तलाक या पृथकत्व को सामाजिक व वैधानिक मान्यता प्राप्त नही थी। स्त्रियों के समक्ष सिवाय विवाह को कामयाब बनाने के अन्य कोई विकल्प नही होता था। पति पत्नी के बीच के सम्बन्ध पारस्परिक विश्वास पर आधारित होते थे जबकि पति पत्नी पर विश्वास करता था और धैर्य, नम्रता और समझदारी से उसके साथ समायोजन के प्रयत्न में उसकी प्रशसा और उसकी सहायता करता था। परिवार का श्रेणीक्रम भली भाँति परिभाषित होता था। श्वसुर 'बास' होता था और उसके शब्द ही कानून थे जिनका पालन किया जाता था। स्त्रियाँ सामाजिक प्रतिमानों का सम्मान करती थी।

लेकिन आज गृहस्थी चलाना और बच्चों का पालन पोषण मध्यम वर्गीय स्त्रियों के लिए पूर्णकालिक कार्य नही रह गया है। वे हताशा से धनी वर्ग की होड में लगी हैं। आज जीवन साथी के रूप में लडकियों के चयन के प्रमुख आधार हैं उनकी शिक्षा और रोजगार योग्यता। यह धनोपार्जन करने वाले दम्पत्तियों का युग है। लडकियों ने यह चुनौती स्वीकार की है। उन्होंने कोई क्षेत्र ऐसा नही छोडा है जहाँ केवल लडके ही विशिष्टता का दावा कर सकते हों। कार्यरत दम्पत्ति अपने शिशुओं को शिशु गृहों (क्रेश) में छोड जाते हैं और शाम को उन्हें ले लेते हैं। विवाह स्वेच्छा से ही देरी से होने लगे हैं क्योंकि दम्पत्ति अपने जीवन ग्राफ को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। यद्यपि 'बिना विवाह साथ रहो' (live in) सम्बन्ध अभी स्वीकार नही किये गये हैं परन्तु तलाक अब सामाजिक कलक नहीं है। विवाह की परम्परागत

संस्था धीरे-धीरे अपनी पवित्रता खो रही है। पुरानी सयुक्त परिवार प्रथा भी टूट रही है। इससे बच्चों के पालन पोषण पर भी प्रभाव पड़ा है। एकाकी परिवार में बच्चा अकेला होता है और स्व केन्द्रित हो जाता है। प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नवीन समतावादी व्यक्तिवादी और तार्किक मूल्य आ गए हैं। यद्यपि पुरुषों को रोजाना की दिनचर्या में भाग लेने के लिए तैयार किया जाना है लेकिन उन्हें यह अनुभव करा दिया गया है कि परिवार में उनका स्थान प्रभुत्व का नहीं रह गया है। अत आधुनिक मध्यम वर्गीय स्त्रियाँ अधिक निजीपन, अधिक अवसर, कार्य को स्वतंत्रता और समान अधिकार प्राप्त कर रही हैं। उन्होंने बहुत सी जर्जीरें तोड दी हैं और प्रतिबन्धित प्रथाओं को नकार दिया है। स्त्रियाँ वास्तव में समाज में अपना सही स्थान बना रही हैं।

यदि हमें समकालीन स्त्रियों का वर्णन करना है तो हम इन विशेषताओं को इगित कर सकते हैं (देखें, *New Woman*, December, 1999 16-19)

(1) स्त्रियों ने आधुनिकता और परम्परात्मकता के बीच सही सन्तुलन बना दिया है। (2) उन्होंने निश्चय रूप से यह सिद्ध करने का निर्णय कर लिया है कि वे पुरुष के बराबर हैं। (3) पहले जिन स्त्रियों की पहचान पुरुष से होती थी (वह या तो किसी की पुत्री या पत्नी या माँ के नाम से पहचानी जाती थी) और उनकी दशा उस उपग्रह को सी होती थी जो एक ही ग्रह-पुरुष के इर्द-गिर्द घूमती थी—आज वे स्वतत्र रूप से अपनी पहचान करवा सकती हैं। (4) अब उनके विश्वास रूढिवादी नहीं हैं, वे अपनी क्षमताओं व गुणों का लाभ उठा रही हैं और अपने लिए एक नया रास्ता बना रही हैं जो पहले समाज द्वारा उनके लिए निषिद्ध था। (5) उन्होंने पत्नी और माता की भूमिका निर्वाह करने के साथ-साथ अपने जीवन के उत्तरदायित्व उठाने व निर्णय स्वय लेने भी शुरु कर दिये हैं। उनकी अभिरुचियाँ और कुशलताएँ उनकी पुरानी दकियानूसी बाधाओं को धीरे-धीरे तोड रही हैं (6) स्त्रियों में अब स्वरूप परिवर्तन हो रहा है। 1940 और 1950 के दशकों की 'रूढिवादी' स्त्री से अब 1960 व 1970 के दशकों की 'नारीवादी प्रतिक्रियावादी' (feminist reactionary) स्त्री, 1980 के दशक की 'उदारवादी' (liberal) महिला, माँ, पत्नी, 'कामकाजी' (Career) वाली स्त्री, और 1990 के दशक और 2000 के पूर्व वर्षों की धीरे-धीरे सशक्त स्त्री बन रही है जिनकी अपनी माँगें होती है, जो अपने अधिकारों को भोग रही हैं और जिन्हें अकेले भी किसी प्रकार का डर नहीं लगता। वे स्वीकार करती हैं "मैं यही हूँ, यह मैं नहीं हूँ, और यह मुझे होना है"। (7) वे अपने निर्णय स्वय लेती हैं तथा वे अब पैर पोंछने की चटाई समान नहीं हैं। वे किसी प्रकार का अन्याय सहन करने को तैयार नहीं है। वे स्वय सोच सकती हैं, अपना जीवन स्वय बनाती हैं, और अपने बच्चों में भी महत्वपूर्ण मूल्यों का समावेश करती हैं। (8) नयी स्त्री पुरानी स्त्री का ही एक हिस्सा है। (9) वह आक्रामक, कठोर और दृढ होने में डरती नहीं है। साथ ही वह सुलभ, सज्जन, भावुक, ममता पूर्ण और समझदारी में भी पीछे नहीं है। वह कामकाजी स्त्री (careerist woman) हो सकती है, साथ ही घर में माँ भी। वह अपने आसपास के लोगों—परिवार, मित्रों, काम के सहयोगियों आदि के साथ स्नेह भी करती है, लेकिन व्यक्ति के रूप में स्वय से भी स्नेह करती है। (10) वह आकाक्षाओं, अपेक्षाओं एवं इच्छाओं से भी परिपूर्ण है, लेकिन असफल होने पर वह कमजोर स्त्रियों की तरह दबी नहीं रहती।

हम नयी स्त्री के रूप में फातिमा बी का उदाहरण दे सकते हैं। आन्ध्र प्रदेश के कर्नल जिले में कल्वा गाँव की तीन बच्चों की माँ और अशिक्षित साधारण पत्नी ने चुनाव लडा और सरपच पद पर विजय रही। यूएनडीपी (U N D P) योजना की एक बैठक में अचानक उसकी उपस्थिति से उसे स्त्रियों के लिए काम करने और अपने गाँव के विकास के लिए काम करने की प्रेरणा मिली। उसने एक स्कूल बनवाया, सडकें बनवाई, निरक्षरता से सघर्ष किया, पानी की टकी के उत्पादन से बिक्री की जिससे उसकी पचायत को एक लाख रुपये की आय हुई। उसको अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिली और सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव से पुरस्कार प्राप्त करने के लिए वह न्यूयार्क भी गई।

समकालीन समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि (1) ससद, विधान मण्डलों, पचायतों, और नगर निगमों में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व अब अधिक है। स्त्री उद्यमियों, नौकरशाहों, व्यवसायियों, प्रबन्धकों और प्रशासनिक अधिकारियों की सख्या बढ गई है। (2) ग्रामीण स्त्रियाँ अभी भी पारम्परिक तथा अत्यधिक सस्कारिक व्यवहार में रूढिवादी हैं, लेकिन शहरी स्त्रिया जीवन की वास्तविक लडाई लड रही हैं। वास्तव में, शहरी क्षेत्रों मे निम्न मध्यमवर्गीय स्त्रियाँ हैं जो गृहिणी, शिक्षिकाओं, नर्सों, लिपिकों, आशुलिपिकों, टेलीफोन ऑपरेटरों के रूप में कार्य करती हैं और निम्न वर्गीय स्त्रिया भी हैं जो श्रमिकों, घरेलू नौकरानियों, सफाई कर्मचारियों और कचरा बीनने वालों के रूप में काम करती हैं जिनके लिए जीवन अधिक नही बदला है। वे आज भी समाज में हीन हैं। आर्थिक दृष्टि से आज भी पुरुषों से मुक्त नही हो पाई हैं। सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उनकी स्थिति पुरुषों के समरूप नही है। प्रौढावस्था में जब वे अपना जीवनक्रम शुरु करती हैं तो समाज के द्वारा उन्हें भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। क्योंकि बहुत कम स्त्रियाँ ही स्त्रियोचित दायरे से निकल पाती हैं और क्योंकि उन्हें ठोस रूप में पुरुष के बराबर होने के लिए आवश्यक मदद न तो समाज और न परिवार से ही मिल पाती है, इसलिए वे सफल भूमिका निर्वाहक के रूप में मान्यता प्राप्त नही कर पाती हैं।

नारी अधिकारवाद और स्त्रियो के अधिकार (Feminism and Rights of Women)

नारी अधिकारवाद आन्दोलन स्त्रियों के अधिकारों और आधुनिक भूमिकाओं पर केन्द्रित है। नारी अधिकारवाद पर तीन वैचारिक प्रस्थापनाए (propositions) इस प्रकार हैं . उदार (liberal) नारी अधिकारवाद, मार्क्सवादी नारी अधिकारवाद और उग्र (radical) नारी अधिकारवाद। **उदार नारी अधिकारवाद** लिंग (gender) समता में विश्वास करता है और एक लिंग के द्वारा दूसरो को आधीन बनाने की बात अस्वीकार करता है। स्त्रियों को मानव प्राणी की अपेक्षा यौन भोग की वस्तु समझने को भी अस्वीकार करता है। परन्तु यौन आधार पर श्रम विभाजन को यह चुनौती नही देता। इसका मानना है कि स्त्रिया पारिवारिक भूमिकाओं के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं और पुरुष बाहरी भूमिकाओं के लिए। **मार्क्सवादी नारी अधिकारवाद** स्त्रियों की आधीनता को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व (ownership) और निजी सम्पत्ति के उदय का परिणाम बताता है। पुरुषों की तरह ही स्त्रियों के काम का 'उपयोगी' मूल्य है लेकिन 'विनियम' (exchange) मूल्य नही है। इसलिए पुरुषों के पास स्त्रियों से अधिक शक्ति होती है और स्त्रियों का उत्पीडन भुगतान रहित गृह कार्य के कारण

होता है। उग्र नारी अधिकारवाद यद्यपि लैंगिक समानता में विश्वास करता है, लेकिन परम्परागत श्रम विभाजन को अस्वीकार करता है। इसकी मान्यता है कि लिंग आधारित भूमिकाए जैविक कारकों का ही परिणाम नही हैं बल्कि सस्कृति की देन भी है। यह मुक्त यौनाचार और सामूहिक बाल देखभाल में विश्वास करता है। इस प्रकार जब मार्क्सवादी नारी अधिकारवादियों ने स्त्रियों के उत्पीडन को निश्चयात्मक प्रारूप दिया वही उग्र नारी अधिकारवादियों ने इसे मनोवाछित स्वरूप प्रदान किया है।

ऐसे समाज में जिसमें 100 करोड की कुल जनसख्या में से लगभग आधी स्त्रियाँ अशिक्षित हों (1998 के प्रारम्भ में), राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन पर आधारित नवीनतम आँकड़ों के अनुसार (स्त्रियों की निरक्षरता आँकडे 1991 में 39% से 1997 में 49% से ऊपर चले गए) (*दी हिन्दुस्तान टाइम्स*, दिसम्बर 26, 1998) विभिन्न सामाजिक कानूनों के माध्यम से स्त्रियों के लिए क्या अधिकार सुरक्षित किए गए हैं ?

भारतीय सविधान स्त्रियों को समानता, स्वतत्रता, सम्पत्ति, शिक्षा, सवैधानिक उपायों तथा शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान करता है। राज्य भी स्त्रियों के हितों की रक्षार्थ विशेष कानून बनाते रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में ये कानून विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं जैसे, विवाह (साथी के चयन, विवाह के समय आयु, बहु विवाह, तलाक, भरण पोषण भत्ता, दहेज, वैवाहिक अधिकारों का पुनर्स्थापन, और पुनर्विवाह), बच्चों का गोद लेना और गर्भपात आदि। *आर्थिक* कानून सम्पत्ति के अधिकार या उत्तराधिकार, समान मजदूरी, कार्य दशाए, प्रसूति लाभ एव रोजगार की सुरक्षा से सम्बद्ध हैं। स्त्रियों को प्रदत्त राजनैतिक अधिकार हैं स्त्री मताधिकार और विधायिकाओं के लिए पात्रता (eligibility)।

क्या स्त्रिया इन अधिकारों के प्रति जागरूक हैं ? क्या वे वास्तव में इन अधिकारों का उपयोग कर रही हैं ? लगभग एक दशक पूर्व राजस्थान में एक जिले के आठ गाँवों में 18-50 वर्ष आयु समूह की 753 स्त्रियों में मेरे द्वारा किया गया अनुभवाश्रित अध्ययन दर्शाता है कि यद्यपि जागरुकता का स्तर चार तत्वों पर निर्भर करता है स्त्री की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, उसका सामाजिक वातावरण, उसका अपना दृष्टिकोण और उसका आर्थिक आधार, फिर भी जागरूकता का स्तर बहुत कम है (आहूजा *राइट्स ऑफ विमेन, ए फेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव*, 1992)। परन्तु हम यह नही मानते कि अधिकारों के जागरुकता से स्त्रियों की प्रस्थिति स्वयएव उठ जाती है। बल्कि एक प्रश्न उठता है कि यदि पुरुष स्त्रियों के देय अधिकार उन्हें नही देते, क्योंकि या तो स्त्रिया यह सहन कर लेती हैं और विद्रोह नही करती, या क्योंकि सामाजिक नियमों का उल्लघन करने वालों को कोई दण्ड नही दिया जाता या क्योंकि अधिकारों की अस्वीकृति के लाभ कीमतों से अधिक हैं, तो पुरुषों द्वारा चालित अन्याय में चक्र को कैसे तोडा जाये ? स्त्रियों के हितों की रक्षा कैसे करें ? कौन सी नीतिया और कार्यक्रम पुरुषों को उदार बनाएगे ? इनके उपाय सामाजिक, वैधानिक और आर्थिक प्रतीत होते हैं।

स्त्रियों के आन्दोलन और सरकार द्वारा उठाए गए कुछ कदम ऐसा आभास देते हैं कि कुछ ऐसे सास्कृतिक और सरचनात्मक परिवर्तन लाए गए हैं कि स्त्रियों को शिक्षा, रोजगार और राजनैतिक भागीदारी में पुरुषों के समान अवसर प्रदान किए गए हैं, उनके शोषण में कमी आई है और उन्हें ऐसे सगठनों के विकास के लिए उन्मुख किया गया है जो उनकी

समस्याओं में गहरी रुचि लेते हैं। लेकिन सत्य यह है कि ये परिवर्तन मात्र दिखावा है और व्यवहार में स्त्रियों को देय अधिकार नहीं मिल रहे हैं और वे आज भी पुरुष की आधीनता की शिकार बनी हुई हैं।

अधिकारों के न देने के पीछे कारणों में व्यक्तिगत, आर्थिक व जनांकिकी कारक हो सकते हैं। व्यक्तिगत कारकों का सम्बन्ध उन पुरुषों की व्यक्तित्व की विशेषताओं से है जिनकी बुद्धि लब्धि (I Q) निम्न होती है, जो अपरिपक्वता, हताशा और कुण्ठा से पीड़ित होते हैं, जो मद्यपायी (alcoholics) होते हैं और स्त्रियों से अत्यधिक काल्पनिक अपेक्षा रखते हैं और चाहते हैं कि स्त्रियाँ निष्क्रिय और नम्र बनी रहें। जहा तक आर्थिक कारकों का सम्बन्ध है, धनोपार्जन करने वाली स्त्रियों को अधिक और गैर-धनोपार्जन करने वाली स्त्रियों को कम अधिकार प्राप्त हैं, निम्न और मध्य आय वाले परिवारों की स्त्रियों के अधिकारों की उपेक्षा उच्च आय परिवारों की स्त्रियों से अधिक की जाती है, और धनोपार्जन करने वाली स्त्रियों में जो गैर व्यावसायिक कार्यों या निम्न स्तरीय कार्यों में लगी हैं कम अधिकारों का भोग करती हैं अपेक्षाकृत उनके जो व्यावसायिक कार्यों या उच्च स्तरीय कार्यों में लगी रहती हैं। अन्तिम, जहाँ तक जन सख्यात्मक कारकों का सम्बन्ध है उच्च जाति की महिलाओं को मध्यम और निम्न जातीय स्त्रियों से कम अधिकार प्राप्त होते हैं, वृद्ध पुरुष स्त्रियों को अधिकार देते हैं अपेक्षाकृत युवा पुरुषों के, और महिलाओं द्वारा महिलाओं को अधिकारों द्वारा इन्कार किए जाने के मामले कम हैं अपेक्षाकृत पुरुषों द्वारा स्त्रियों को।

हम ऐसे पुरुषों के भी उदाहरण दे सकते हैं जो स्त्रियों को उनके अधिकारों से वचित रखते हैं। ये वे पुरुष होते हैं जो हीनता भावना तथा स्व निम्न मूल्यांकन से पीड़ित होते हैं, कम ससाधनों वाले होते हैं, अर्थात् जिनके व्यक्तित्व अव्यस्थित होते हैं, जिनका स्वभाव शक और अहङ्कार वाला होता है, जो अपने बचपन में हिंसा के शिकार हो चुके हैं, और अपने परिवारों में तनावपूर्ण वातावरण का सामना करते हैं।

जिन स्त्रियों को अधिकारों से वचित रखा जाता है वे होती हैं जिनमें असहाय होने की भावना होती है, जो हीनता भावना से पीड़ित होती हैं, अपने स्व छवि (self-image) को हीन-देखती हैं, जिनमें सामाजिक परिपक्वता की कमी होती है, और जो आर्थिक रूप से पराधीन होती हैं।

हम छ प्रकार की प्रवन्चनाए (denial of rights) बता सकते हैं धनोन्मुखी (money-orientented), आनन्दोन्मुख (pleasure-oriented), शक्ति-उन्मुख (power-oriented), उत्पीडित महिलाओं के व्यवहार के कारण उत्पन्न (victim-precipitated), इन्कार करने वाले व्यक्ति की व्याधि परिणाम स्वरूप उत्पन्न (pathology resulted) और तनावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों का परिणाम।

महिला मुक्ति के तीन प्रारूप (Three Models for Women's Liberation)

समाज में स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए उन्हें अल्पसख्य समूह के रूप में मानते हुए तीन प्रतिदर्श (मॉडल) बताए गए है (Alice Rossi, quoted by Michael Haralambos, *Sociology Themes and Perspectives*, 1981 : 399)। ये इस

प्रकार हैं : *बहुवादी* (Pluralism) प्रारूप, आत्मसातकरण (Assimilation) प्रारूप, और सकर (Hybrid) प्रारूप। *बहुवादी* प्रारूप के अनुसार स्त्रियों को अपने विशिष्ट गुणों को विकसित करना एवं बनाए रखना चाहिए, साथ ही उन परिस्थितियों को भी हटाना चाहिए जो उन्हें असमानता का सामना करने को बाध्य करती हैं। यह प्रारूप ऐसे भविष्य की सम्भावना का अनुमान करता है जिसमें स्त्री व पुरुष अपने अन्तर बनाए रखेंगे। ये अन्तर उनके बीच की प्रस्थिति और समानता के प्रसगों में स्त्री पुरुष दोनों द्वारा स्वागत किए जायेंगे और वे इनका सम्मान भी करेंगे। इसका अर्थ यह है कि स्त्री पुरुष भिन्न होंगे किन्तु समान भी होंगे। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस प्रारूप को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि वे सोचते हैं कि 'पृथक व समान' के आदर्श का व्यवहार में परिणाम होगा स्त्रियों पर अत्याचार और उनका शोषण। आत्मसातकरण प्रारूप का तर्क है कि स्त्रियों को समाज की मुख्य धारा में शामिल होना चाहिए। इसका अर्थ होगा समलिंग (unisex) समाज, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के समान भूमिका निभाएंगी, अर्थात् स्त्रियाँ विशिष्ट भूमिकाएँ निर्वाह की अपनी विशिष्ट विशेषताओं को खो देंगी। विद्वान तर्क देते हैं कि 'आत्मसातकरण' असम्भव है क्योंकि पुरुष की जीवन शैली स्त्रियों की गृहिणी की भूमिका द्वारा पुरुषों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की पृष्ठभूमि पर आधारित है। यदि स्त्रियों को पुरुष भूमिकाएँ अपनानी हैं तब गृहिणी के लिए एक प्रकार्यात्मक भूमिका का पता लगाना पडेगा और आत्मसातकरण दोनों को अस्वीकार करता है। यह इस विचार को अस्वीकार करता है कि स्त्रियाँ परम्परागत पुरुष भूमिकाए अपनाएँ और यह मानता है कि स्त्री पुरुषों दोनों की परम्परागत भूमिकाओं में परिवर्तन उनकी सामाजिक असमानता दूर करेगी।

उपरोक्त प्रारूप स्त्रियों की मुक्ति पर, विशेष रूप से स्त्रियों की भूमिकाओं में परिवर्तन पर, प्रकाश डालते हैं। पुरुषों के समान स्त्रियों द्वारा भूमिकाए निभाए जाने के विचार को हम व्यावहारिक मानते हैं लेकिन यह भी मानते हैं कि स्त्रियों द्वारा गृहिणी की भूमिका समाप्त किया जाना या स्त्रियों को गृह कार्य के लिए भुगतान करना व्यावहारिक नहीं है। समाज के सभी क्षेत्रों में श्रम के लिंग आधारित विभाजन को समाप्त नहीं किया जा सकता। हमें अपनी सस्कृति में हाल ही में उभरे लिंग भूमिकाओं के विचार में क्रान्ति की आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि स्त्री पुरुषों को व्यक्ति के रूप में देखा जाये, न कि लिंग के रूप में। इसमें यह बात शामिल नहीं है कि यह परिवर्तन समलैंगिक और स्वरतिशील (lesbian) नारी सम्बन्धों को सहन किया जायेगा। हम तो केवल यह चाहते हैं कि सास्कृतिक रूप से चली आ रही 'एक स्त्री' की छवि द्वारा सीमित और दबी रहने के बजाय स्त्रियों के लिए सास्कृतिक स्वतंत्रता हो ताकि वे अपने लिए उपयुक्त व्यवहार और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

महिला मुक्ति आन्दोलनों से समाजशास्त्र में एक अलग शाखा 'स्त्रियों का समाजशास्त्र' का उदय हुआ है। समाजशास्त्र की यह शाखा मुख्यत दो प्रकरणों से सम्बन्धित है · (i) स्त्रियों का मूल्याकन जो कि उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना पुरुषों का और (ii) सामाजिक समस्या के रूप में स्त्रियों की समाज में आधीन स्थिति। स्त्री और पुरुष दोनों ही समाजशास्त्रियों ने, जो स्त्रियों के आदर्शों के लिए प्रतिबद्ध हैं, भारत में स्त्रियों के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनमें से कुछ ने महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे हैं, जैसे स्त्रियों को परम्परागत मूल्यों को त्यागने और आधुनिक मूल्यों को विकसित करने की आवश्यकता,

अपने 'असहाय' होने के दृष्टिकोण को छोडना, अपने करियर के लिए श्रमिक की भूमिका को उतनी ही गम्भीरता से धारण करना जितना कि गृहिणी की भूमिका को, तथा विभिन्न मूल्यों को वरीयता देना, आदि। जब तक स्त्री अपनी 'श्रमिक भूमिका' को श्रम बाजार में उतना ही महत्व नही देती जितना कि 'अभिव्यक्तिपूर्ण नारी भूमिका' को, तब तक स्त्रियों के प्रति भेदभाव का अन्त नही होगा।

स्त्रियो के प्रति हिंसा (Violence Against Women)

स्त्रियों के प्रति हिंसा उस शक्ति बल (force) का द्योतक है जो चाहे गुप्त रूप से या प्रकट रूप से स्त्री से कुछ प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त हो, जिसे वह अपनी इच्छा से न देना चाहे, और जो उसे शारीरिक आघात या भावात्मक आघात या दोनों पहुचाता हो। स्त्रियों के प्रति हिंसा को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है अपराधिक (criminal) हिंसा, (बलात्कार, अपहरण, हत्या), घरेलू (domestic) हिंसा (दहेज हत्या, पत्नी की पिटाई, नातेदारों द्वारा यौन शोषण, विधवाओ और वृद्ध स्त्रियों से दुर्व्यवहार, बहू को यातना), और सामाजिक हिंसा (पत्नी या बहू को कन्या भ्रूण हत्या (female foeticide) के लिए बाध्य करना, छेडछाड, युवा विधवा को 'सती' होने के लिए बाध्य करना, स्त्री को सम्पत्ति में से हिस्सा देने से इन्कार करना)।

हिंसा की शिकार महिलाएँ कौन हैं ? 1985 और 1993 में स्त्रियों के प्रति हिंसा पर किए गए एक अनुभवात्मक अध्ययन के आधार पर (देखें Ahuja Ram, Crime Against Women, 1987 and Volence Against Women, 1998) मैंने चार प्रकार की स्त्रियों को इंगित किया है जो हिंसा की अधिकतर शिकार होती हैं (1) जो असहाय, अवपीडित (depressed), धूमिल स्व-छवि वाली (poor self-image), और अपने को हीन समझने वाली हों या वे जो हिंसा कर्त्ताओं द्वारा भावात्मक रूप से शोषित हों, या जो परहित वादपरक शक्तिहीनता (altruistic powerlessness) से पीडित हों , (2) जो तनावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों में रहती हों या ऐसे परिवार में रहती हों जो सामान्य नही कहे जा सकते, अर्थात् जो सरचनात्मक दृष्टि से पूर्ण नही कहे जा सकते, आर्थिक रूप से असुरक्षित हों, नैतिक रूप से विचलित हों और कार्यात्मक रूप से अपर्याप्त हों, (3) जिनमें सामाजिक परिपक्वता कम हो या सामाजिक अन्तर्वैयक्तिक दक्षता की कमी हो और व्यावहारिकता की समस्याओं से पीडित हों, (4) जिनके पति व्याधिपूर्ण व्यक्तित्व वाले हों या शराबी हों।

हिंसा का प्रयोग करने वाले पुरुष कौन हैं ? सामान्यत स्त्रियों पर अत्याचार या आक्रमण वे लोग ही करते हैं जिन्हें वे जानती हैं।' इग्लैंड में वारविक विश्वविद्यालय द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि लगभग 60 प्रतिशत स्त्रियों को अपने ही परिवार के सदस्यों द्वारा शापित (abused) किया जाता है और 40 प्रतिशत अजनबियों द्वारा। भारत में भी विभिन्न राज्यों में पुलिस के पास रिपोर्टों से पता चलता है कि 'घर' (प्रजनन परिवार) स्त्रियों के लिए सुरक्षित नही है (इसका यह अर्थ भी नही है कि स्त्रिया अपने घर के बाहर अधिक सुरक्षित हैं)। पुरुष यह तर्क देते हैं कि आज पत्नी रूप में स्त्री से जितनी अपेक्षाएं की जाती हैं उनमें वे परम्परागत मानदण्डों को नही मानती हैं। क्या इसका अर्थ यह माना जाये कि जो इस प्रकार के मानदण्डों का अनुपालन न करें और कुछ स्वतत्रता चाहें उन्हें हिंसा की

आवश्यकता है, चाहे शारीरिक, मनोवैज्ञानिक या भावानात्मक जिससे वे उस अनुपालन को पूर्ण कर सकें ? क्या आज के युग में हम इस प्रकार के 'पितृतन्त्रात्मक मतैक्य' (patriarchal consensus) को स्वीकार कर सकते हैं ?

स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने वाले प्रहारकर्ता (victimizers) सात प्रकार के हो सकते हैं। ये हैं .

- जो अवपीडनशील/अवपात (depressions) से पीडित, हीन भावना वाला तथा निम्न स्वांकन (self-esteem) से ग्रस्त हों।
- जिनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित हो और जो मनोव्याधि (psychopathy) से पीडित हो।
- जिनके पास संसाधनों, कुशलताओं और योग्यता की कमी हो और जिनका व्यक्तित्व सामाजिक रोगी (sociopathic) का हो।
- जिनका स्वभाव प्रभुत्वशाली (possessive), शक्की और स्वामित्व भाव वाला (dominant) होता है।
- जो परिवार जीवन में तनावपूर्ण स्थितिया झेलते हैं।
- जो बचपन में हिंसा के शिकार रह चुके हैं।
- जो शराब पीने के आदी हों।

यदि हमें स्त्रियों के प्रति हिंसा के प्रकार विकसित करने हों तो हम छ प्रकार की हिंसा बता सकते हैं.

- धनोन्मुख (money-oriented) हिंसा।
- कमजोर पर ताकत प्राप्त करने के लिए (power-oriented) हिंसा।
- सुखप्राप्ति के उद्देश्य से की जाने वाली (pleasure-oriented) हिंसा।
- हिंसा प्रयोग करने वाले की व्याधि (pathology) के कारण उपजी हिंसा।
- तनावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों के परिणाम स्वरूप हिंसा।
- शिकार हुए व्यक्ति द्वारा प्रेरित (victim-oriented) हिंसा।

हिंसा के प्रेरक तत्व

स्त्रियों के प्रति हिंसा के कौन से प्रेरक कारक हैं ? इन कारकों को तीन आधार पर समझाया जा सकता है : (i) वे स्थितियाँ जो हिंसात्मक व्यवहार पैदा करती हैं ; (ii) पीडितों की विशेषताए और (iii) प्रहारकर्ताओं (victimisers) की विशेषताएँ। स्त्रियों के प्रति हिंसा के चार कारक बताये जा सकते हैं . (a) पीडित के उकसाने पर (b) नशे में (c) स्त्रियों के प्रति आक्रामकता (hostility) और (d) परिस्थिति की माँग।

पीड़िता का व्यवहार

कभी-कभी पीडिता अपने व्यवहार से अपने प्रति हिंसा करने के लिये व्यक्ति को *उकसाती* है जो कि अक्सर अचेत में होता है, अर्थात वह स्वय को शिकार होने की स्थिति पैदा करती

है। उत्पीडित स्त्री अपराधी के हिंसात्मक व्यवहार को या तो उत्पन्न करती है या भडकाती है। पीडिता के कार्य उस व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं जिससे उसके अपराधी इरादे उसकी ओर निर्दिष्ट हो जाते हैं बलात्कार, पत्नी को पीटने, अपहरण, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार और हत्याओं पर मेरे स्वय का सर्वेक्षण का केन्द्र पीडित ही थे, फिर भी कुछ अपराधियों और हमलावरों का भी साक्षात्कार लिया गया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ ही लोगों ने शर्म या चिन्ता की अभिव्यक्ति की। अधिक सख्या में इस प्रकार के लोग किसी उद्वेगात्मक परेशानी या जिसे मनोवैज्ञानिक 'परेशान पुरुषत्व' (troubled masculinity) कहते हैं का अनुभव किया। पत्नी से मारपीट करने वाले प्रहारकर्ताओं ने अपनी पत्नी को पीठ पीछे बुराई करने वाली, उन व्यक्तियों से बात करने की आदत जिन्हें वे नापसन्द करते थे, उनके माता, भाइयों व बहनों के साथ बुरा व्यवहार करने, घर की उपेक्षा करने, सम्बन्धियों से बुरी तरह बात करने, कुछ लोगों से गलत सम्बन्ध रखने, अपने ससुराल वालों का कहना मानने से इन्कार करने, उन्हें लडाई वाले स्वभाव से क्रुद्ध करना, या उनके मामलों में अत्यधिक हस्तक्षेप करने का दोषी बताया। इसी प्रकार अपराधी हमले (बलात्कारी) वाले मामलों में भी ऐसे बलात्कारी थे जिन्होंने पीडिता के ही व्यवहार को यौन सम्बन्ध के लिए प्रत्यक्ष निमत्रण बताया तथा कहा कि पीडिता ने ऐसा इशारा दिया कि यदि उसने जोर देकर कहा तो वह उसे उपलब्ध रहेगी। वास्तव में पीडिता का ऐसे व्यवहार को निमत्रित करने का इरादा था या नही, या फिर यह अपराधी की अपनी समझ/दृष्टिकोण था जिसके कारण उसने उस स्त्री का शोषण किया। इस कार्य को स्त्री द्वारा 'अभिकृत कार्य' (act of commission) नही तो 'उपेक्षाकृत कार्य' (omission) कहा जा सकता है।

इस प्रकार निष्क्रिय पीडिता हिंसा के कार्य में उतना ही योगदान करती है जितना सक्रिय पीडिता। हत्या के मामले में भी हमारे सामने ऐसे मामले आए जहा हमलावरों के अनुसार, मानव हत्या की स्थिति बन गई, जब बहस और वाकयुद्ध में पीडिता ने ऐसे हालात बना दिए जिन्होंने व्यक्ति पीडिता पर हमले के लिए प्रेरित किया। अपहरण के मामलों में भी कुछ अपर्हताओं ने सकेत दिया कि उनकी पीडिता स्वय उनके साथ भागने के लिए और विवाह करने को तैयार थी लेकिन जब वे अपने माता-पिता की शिकायत पर पकडी गई, तो दवाब में उन पर पीडिता को भगा ले जाने का अपराध लगाया। औसत में 30 प्रतिशत मामले स्वेच्छा से भागने के थे, 24 प्रतिशत दवाब में भागने के, 17 प्रतिशत सहायता से भागने के मामले थे (जिनमें पीडिताओं ने न तो दोषी व्यक्ति के साथ भागने की सहमति दी थी न ही विरोध किया बल्कि दोषी व्यक्ति के 'शक्ति' सम्बन्धों के कारण उसके साथ भाग गई), और 20 प्रतिशत तनावपूर्ण अपहरण के मामले थे जिनमें पीडिता प्रारम्भ में तो स्वेच्छा से अपना घर छोडने को तैयार हो गई लेकिन बाद में पछताई जब दोषी ने उसके साथ बलात्कार किया या उसके आभूषण बेच दिए या उसे होटल में छोडकर चला गया।

इस विश्लेषण से हम पीडिताओं को 'सक्रिय', 'निष्क्रिय', और 'आकस्मिक' में वर्गीकृत कर सकते हैं। कम से कम दो प्रकार की पीडिताएँ ऐसी स्थिति पैदा करती हैं जिनमें अपराधी हालात का और/या बाध्यता का शिकार हो जाता है और पीडिता के साथ इस प्रकार का व्यवहार करता है कि उस पर हिसाकर्ता या अपराधी का दोष लग जाता है।

हिंसा मे मद्यपान

मद्यपान या नशा भी हिंसा का कारण होता है, अर्थात् हिंसा के कुछ मामले तब होते हैं जब आक्रमणकर्ता नशे में होता है और अत्यन्त उत्तेजना तथा असन्तुलित मस्तिष्कावस्था में होता है और अपने कार्य के नतीजे के विषय में शायद ही सोचता है। उदाहरणार्थ, बलात्कार के कुछ मामलों में दोषियों ने पीडिता पर तब हमला किया जब उन्होने इतनी शराब पी ली थी कि भावात्मक उत्तेजना एव नशे की स्थिति में थे। वे सामान्य नियत्रण खो चुके थे और उनकी आक्रामक कल्पना यौन इच्छा से मिलकर उग्र हो गई जिसके कारण उनका कदम इतना अनुत्तरदायित्व पूर्ण रहा। नशे से सम्बन्धित यौन अपराध समय, स्थान और परिस्थिति की उपेक्षा करने का उदाहरण है।

हिंसा और नशे के बीच इसी प्रकार के सम्बन्ध पत्नी को पीटने और हत्या के मामलों में भी दिखाई पड़ते हैं। मेरे अपने अध्ययन में, मैंने देखा कि पत्नी को पीटे जाने के साथ-साथ 31.7 प्रतिशत मामलों में नशा भी शामिल था (आहूजा *क्राइम अगेन्स्ट विमेन,* 1987 . 130)। हिलबरमन और मन्सन (1978 .460 71) ने 93 प्रतिशत मामलों में ऐसा देखा। वोल्फगैंग (1978) ने 67 प्रतिशत और टिकलेनवर्ग (1973) ने 71 प्रतिशत मामलों में ऐसा पाया।

हमें यह मानना चाहिए कि जब हम हिसा को मद्यपान से जोडते हैं तो हम रक्त में शराब को मात्रा नापने की अपेक्षा शराब के प्रयोग पर निर्भर करते हैं। वास्तव में रक्त में शराब के केन्द्रित हो जाने को ही मद्य के प्रभाव व पत्नी को पीटने से सम्बद्ध किया जा सकता है। रक्त में अति उच्च शराब को केन्द्रित हो जाने से व्यक्ति में दूसरों को हानि पहुचाने की क्षमता कम हो जाती है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि रक्त में शराब का जमाव इतना होना चाहिए कि अपराधी एक सीमा तक ही स्वय पर नियत्रण खाये ताकि वह अपने कृत्य के परिणाम न भूले। इसी प्रकार की अवस्था में व्यक्ति हिंसात्मक हो जाता है।

यह स्पष्ट नही है कि क्या शराब हिंसात्मक व्यवहार को प्रेरित करता है या यह पहले से ही मौजूद आक्रामक प्रवृत्तियों के उत्सर्जक के रूप में मुख्यत कार्य करता है। बाद की सकल्पना शायद इस विचार से (ब्लूमर, 1973 73-87) कि हिंसा के कुछ अपराधी किसी व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा करने से पहले साहस जुटाने के लिए मद्यपान करते हैं। लेकिन मेरे अध्ययन में एक भी मामला ऐसा नही मिला जिसमें अपराधी ने अपने शिकार पर प्रहार करने से पूर्व शराब पी हो। यद्यपि हम ऐसा कोई साक्ष्य भी नही दे सकते हैं जिससे यह सिद्ध हो कि शराब का पीना ही हिंसा का व्यवहार कराता है। अनेक लोग मद्यपान करते हैं फिर भी वे शायद ही कभी हिंसक होते हों। स्त्रियों के विरुद्ध हिसा करने में शराब के प्रयोग को एक सहायक कारक तो माना जा सकता है परन्तु प्रमुख कारक नही।

स्त्रियों के प्रति घृणा

स्त्रियों के प्रति व्यक्ति की घृणा भी उसे हिंसा के लिए प्रेरित करती है। स्त्रियों के विरुद्ध रिपोर्ट किए गए कुछ मामले इस प्रकार को प्रकृति के हैं कि किसी भी प्रकार का विवेकपूर्ण

व्यवहार आक्रामक को निर्दयी हिंसात्मक कार्य करने मे नही बदल सकता। उनमें से कुछ तो स्त्रियों के प्रति इतनी गहरी घृणा से पीडित होते हैं कि उनके हिंसक कृत्य को प्रधानत स्त्रियों के अपमान करने की ओर ही निर्दिष्ट करता है। यदि केवल स्थिति ही मात्र प्रेरक कारक होती है तो यह कहना कठिन है कि हिंसक कृत्य आवश्यक क्यों होता है जबकि सत्य यह है कि अधिकतर अपराधी सामान्य व्यक्ति कहे जाते हैं। शायद पीडिता के अपमान करने की इच्छा कही बलवान है।

परिस्थितगत योजना

कभी-कभी *हालात की माँग* भी व्यक्ति को हिंसा प्रयोग के लिए प्रेरित करती है। इस श्रेणी में उन मामलों को शामिल किया जा सकता है जहा हिसा का प्रयोग न तो पीडिता के व्यवहार के कारण और न ही अपराधी के विघटित व्यक्तित्व के कारण होता है बल्कि अवसर के कारण होता है, जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है जिनके परिणाम स्वरूप हिंसा का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, पत्नी को पीटने के मामले में ऐसा हो सकता है कि धन के मामले में सघर्ष हो जाये और उस सघर्ष की परिस्थिति में पति पत्नी पर हमला कर बैठे, या पति के माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार भी पति को अपनी पत्नी को पीटने के लिए प्रेरित कर सकता है, या बलात्कार के मामले में कोई व्यक्ति अचानक अपने गाव के खेत में अपने पडौस की स्त्री से मिलता है और बातचीत करने लगता है और अन्त में परिस्थिति का लाभ उठा कर उस स्त्री से बलात्कार करता है, या पुरुष नियोजक अपनी स्त्री कर्मचारी को देर शाम तक फैक्ट्री/दफ्तर में अकेले पाकर उस से छेडछाड करता है, या एक लडकी अपने पिता के घर से भाग जाती है और एक ट्रक में लिफ्ट लेती है और ट्रक चालक मौके का फायदा उठाता है और उस पर आक्रमण कर बैठता है। इन सभी मामलों में, अपराधियों में हिंसक कृत्य की कोई पूर्व योजना नही बनाई थी, लेकिन जब उन्होंने प्रेरक/अपने पक्ष की स्थिति देखी उन्होंने हिसा का प्रयोग कर दिया। इन हिंसक कृत्यों के अलावा ये अपराधी विचलित व्यवहारपूर्ण जीवन व्यतीत नही कर रहे थे।

व्यक्तित्व सबधी गुण

अन्तिम, व्यक्तित्व के गुण भी व्यक्ति को हिंसक व्यवहार में लिप्त होने को बाध्य करते हैं। हिंसा के लिए सवेदनशील व्यक्तियों के कुछ पहचाने जाने वाले गुण हैं · अत्यधिक शकालु, कामुक, प्रभुत्व वाले, अविवेकी, अनैतिक, सरलता से भावावेश में आने वाले, ईर्ष्यालु, अधिकार जमाने वाले, और अन्यायी। बचपन में विकसित गुण प्रौढावास्था में व्यक्ति के आक्रामक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। आक्रमणकर्ता के हिंसक व्यवहार का परीक्षण करने के लिए यह देखना पडेगा कि उसका बचपन किस प्रकार के हिसक व्यवहार के बीच व्यतीत हुआ। उदाहरणार्थ, पत्नी को पीटने के कुछ मामलों में, उन व्यक्तियो के बचपन, किशोर अवस्था और पूर्व प्रौढावस्था के अनुभव दर्शाते हैं कि वे सभी भावात्मक रूप से दुखद स्थितियों में क्रोध व हिसा से निपटना सीख चुके थे। दुखद पारिवारिक जीवन जिसमें शारीरिक यातना और गम्भीर भावात्मक अस्वीकृति प्रमुख रही हो, अधिकतर मामलों में

जीवनक्रम बन जाता है। कुछ आक्रमकों ने इस प्रकार की स्थितियों का सामना अपने परिवार में बचपन/किशोरावस्था में किया है जहा उन्होंने अपने माता पिता को चीखते चिल्लाते और एक दूसरे से झगडते देखा है और पिता द्वारा बच्चों को भी थोडी गलती पर पीटे जाते देखा है। अक्सर उनके पिता शराब पीकर घर लौटते थे और पूरे घर में तोड-फोड़ और हगामा करते थे। हिंसक घर में बडे हुए व्यक्ति हिंसा को ही अपने व्यवहार में अपना लेते हैं जो प्रौढ़ जीवन में आक्रामक व्यक्ति बन जाते हैं।

अल्फ़ो (Alfaro, 1978), पोट्स, हैन्बर्गर और हालैण्ड (Potts, Henberger and Holland, 1979), तथा फैगन, स्टीवर्ट और इलान्सेन (Fagon, Stewart & Ilansen, 1981) ने भी हिंसक व्यक्तियों और उनके बच्चों पर किए गए अपने अनुभवात्मक अध्ययनों में इसी प्रकार के सह-सम्बन्ध की ओर सकेत किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काफी सख्या में आक्रामक अभिशप्त बचपन और पारिवारिक हिंसा के शिकार रह चुके हैं क्योंकि बच्चे के रूप में हिंसक होने से प्रौढ जीवन में हिंसक प्रवृत्ति को पनपने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

हिंसक व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या
(Theoretical Explanation of Violent Behaviour)

किसी व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा आवश्यक रूप से 'किसी के द्वारा' और 'किसी के विरुद्ध हिंसा' है। अत स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा को भी 'एक समूह द्वारा एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा' या 'एक समूह के द्वारा दूसरे व्यक्ति समूह के विरुद्ध हिंसा' के विपरीत 'एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के प्रति हिंसा' के रूप में समझना चाहिए। व्यक्ति द्वारा की जाने वाली हिंसा में इसकी उत्पत्ति और स्वरूप व्यक्ति के स्वय में तथा उसके चारों ओर की स्थिति में निर्धारित किये जाने चाहिए। इस विचार में न केवल व्यक्ति का जन्मजात व्यवहार बल्कि उसके अर्जित व्यवहार को भी देखना होगा। हमारा 'सामाजिक बन्धन दृष्टिकोण' (Social Bond Approach) दोनों प्रकार के व्यवहारों की तथा सामाजिक सरचनात्मक दशाओं की समीक्षा करता है।

मेरी धारणा है कि स्त्रियों के प्रति हिंसा के कारणों को पाँच कारकों से सम्बद्ध करके देखा जाना चाहिए (1) स्थिति की सरचना जिसमें हिंसा का प्रयोग किया गया है, (2) स्थिति सम्बन्धित सुविधाएँ जो हिंसा के प्रयोग को व्यावहारिक बनाती हैं, (3) वे प्रबल कारक जो हिंसा करवाते हैं, (4) हिंसा करने वाले अपराधी द्वारा अनुभूत दबाव, (5) पीड़िता का हिसक अपराधी के साथ हिंसा होने से काफी पहले व्यवहार। इन सभी कारकों का एक समष्टिवादी (holistic) दृष्टिकोण ही स्त्रियों के प्रति हिंसा के प्रयोग के सही कारण बता सकेगा।

पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति हिंसा करने के विशेष रूप से तीन कारण मालूम पड़ते हैं (1) अपराधी का अभिशप्त बचपन का इतिहास, जैसे कष्टप्रद पालन पोषण, मा बाप द्वारा शारीरिक यातनाएँ दिया जाना, तथा सवेगात्मक उपेक्षा, (2) परिवार की तनावपूर्ण स्थितियाँ, और (3) परिस्थिति जनित कुण्ठाएँ। प्रथम कारक बताता है कि अपराधी का विचलित व्यवहार अधिकतर उसने बचपन और किशोर अवस्थाओं के दवाब भरे अनुभवों से सीखा होता है। यह निश्चित रूप से 'पीढीगत सिद्धान्त' (generational theory) की ओर संकेत करता है

कि हिसा और आवेश से भरे परिवारों में पालन पोषण होने पर यौवन एव प्रौढावस्था में व्यक्ति के हिंसक होने की प्रबल सम्भावना होती है। मेरे स्वय के अध्ययन से उपलब्ध तथ्य कि एक बडी सख्या में अपराधी (78%) बचपन से ही हिंसा का शिकार रहे, यह आँकडे 'सामाजिक सीखने' (social learning) के सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं जिसके अनुसार जीवन के किसी सघर्षमयी स्थिति का सामना करने की एक विधि के रूप में विचलित व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार है। महिलाओं द्वारा हिंसा को सहन करने की क्षमता को 'अर्जित असहायता/विवशता सिद्धान्त (learned helplessness theory) तथा "परम्परागत सामाजीकरण सिद्धान्त" के अर्थों से भी स्पष्ट किया जा सकता है। बाद के सिद्धान्त (समाजीकरण)का सन्दर्भ स्त्रियों के इस परम्परागत मूल्यों के अनुसरण करने तथा सामाजीकरण की प्रक्रिया से या यौन भूमिका आदर्श (sex role ideology) को मानने से है कि पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ होता है और उसे पुरुष का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार स्त्रियों के जीवन में कुछ घटनाएँ तो नियमित रूप से ही होती हैं जिनके कारण वे निरुत्साह/अवपात ग्लानि (depression) की भावनाए, विवशता/लाचार (helplessness) का भाव, और कमजोर आत्मछवि (poor self-image) का विचार अर्जित कर लेती हैं और यह विश्वास कर लेती हैं कि वे पुरुष के दुर्व्यवहार से बच नहीं सकती।

इस प्रकार के समष्टिवादी (integrated) उपागम का प्रयोग करते हुए मैंने एक नया सैद्धान्तिक प्रारूप प्रस्तुत किया है (देखें आहूजा, *'सोशोलोजिकल क्रिमोनोलोजी'*, 1996 . 193 - 195) ताकि स्त्रियों के प्रति हिंसा या स्त्रियों के शोषण को समझा जा सके। मेरा प्रारूप शोषित स्त्री के व्यक्तित्व के गुणों तथा उन सामाजिक परिस्थितियों में जिनमें वह रहती है और काम करती है के बीच सहलग्नता (linkage) पर केन्द्रित हैं। यह प्रारूप मानता है कि महिला का शोषण (बलात्कार, छेडछाड, मारपीट, दहेज उत्पीडन, वेश्या बनाने के लिए अपहरण, आदि) स्त्री के व्यक्तित्व (उसकी सहनशीलता व भीरुता की भावना) और उसकी परिस्थितियों के बीच अन्तर्क्रिया का प्रतिफल है। प्रत्येक स्त्री विभिन्न विचारों व आकांक्षाओं से युक्त व्यक्तियों के पर्यावरण में रहती है। किसी भी स्त्री के स्वय के शोषण के सम्बन्ध में विचार इस बात पर निर्भर करेंगे कि उसकी स्वय की साहसपूर्ण इच्छा क्या है तथा चुनौतियों का सामना करने में वह कितना प्रयास करती है। दूसरे शब्दों में किसी स्त्री का शोषण पाँच बातों पर निर्भर करता है (i) सामाजिक पृष्ठभूमि (इसमें उसकी आयु, शिक्षा व प्रशिक्षण शामिल है), (ii) समर्थन का स्तर (जो उसके माता पिता, ससुराल पक्ष, सहेलियों और अन्य लोगों पर निर्भर करता है) (iii) दूसरों की अपेक्षाए (उसके पति, सास श्वसुर, बच्चे रिश्तेदार, कार्य सहयोगी, आदि सहित) (iv) आर्थिक आधार (कि वह निम्न, मध्यम, या उच्च आय वर्ग से है) और (v) उसकी स्व छवि (वह स्वय को दयालु, असहाय, कमजोर, साहसिक और बलवान समझती है)।

मेरी परिकल्पना यह है कि व्यक्ति की सरचनात्मक दशाएँ (परिवार सकट, भूमिका सम्बन्धी कुण्ठाएँ, अनुपयुक्त पालन पोषण, और जीवन में दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ) चिन्ता और तनाव उत्पन्न करती हैं जिनके कारण समायोजन में असफल रहता है तथा जो अन्य समूहों से लगाव को भी प्रभावित करती है और वह कर्तव्यों और भूमिकाओं के निर्वाह में असफल

रहता है। परिणामस्वरूप उपजी कुण्ठाएँ दूसरों के प्रति (कमजोर लिंग और स्त्रियों सहित) उसकी अभिवृत्ति निर्धारित करेंगी। उसके व्यक्तित्व के गुणों और पीड़िता की निरोधक शक्ति पर निर्भर करते हुए, व्यक्ति स्त्री के प्रति हिंसा का प्रयोग करेगा। इस प्रकार मेरा सिद्धान्त एक सयोगी दृष्टिकोण पर आधारित है जो सामाजिक कारकों को भी ध्यान में रखता है, जैसे परिवार में बाहर और भीतर से तनावपूर्ण स्थितियाँ, शोषित महिलाओं और अपराधियों के व्यक्तित्व के गुण, और सास्कृतिक वातावरण, जैसे मानदण्डीय दबाव और अनिश्चिताएँ।

मुकेश आहूजा के अनुभवाश्रित अध्ययन (*Widows*, 1990 137-138) के अनुसार हिंसा व शोषण की शिकार स्त्रियों के विषय में निम्नलिखित प्रमुख समाजशास्त्रीय तथ्य बताए जा सकते हैं :

1. *समस्याओं के स्रोत के रूप में सरचना*—स्त्रियों की समस्याएँ जो हिंसा की शिकार होती हैं, सामाजिक सरचनाओं की प्रणाली से उपजती हैं जिनमें वे स्त्रियाँ रहती हैं और काम करती हैं तथा पारिवारिक अन्तर्क्रिया के कारण उपजे तनाव और समर्थन व्यवस्था से उपजती हैं।
2. *अधिकार आग्रहिता (assertion) परम्पराएं*—हिंसा की शिकार होने के बाद शोषित स्त्रियों की सामाजिक भूमिकाएँ तथा सम्बन्ध उनके अपने आत्मविश्वास और स्व-प्रेरणा पर कम और परिवार के मुखिया की इच्छा तथा सामाजिक दबावों पर अधिक निर्भर करती है, अर्थात् पारम्परिक सस्कृति पीड़िता को घर से बाहर अधिकार आग्रहित सामाजिक कार्यों में भाग लेने को हतोत्साहित करती है।
3 *ससाधन वचना एव स्व-पीड़ा*—उच्च शिक्षा एव नौकरी जैसे ससाधन पीड़िता स्त्री की स्व-छवि को बढ़ा देते है जो दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों को काफी बदल देते हैं ताकि वह परिवार व समाज दोनों में पुनर्स्थापित वह समायोजित हो सके।
4 *लगाव (attachment)* – अधिकाश पीड़ित स्त्रियाँ अपने एकाकीपन तथा निन्दा की भावना को अपने को किसी वस्तु (जैसे व्यक्ति, समाज सेवा, धार्मिक कार्य, आदि) से लगाव द्वारा दूर कर लेती हैं।
5 *सरचनात्मक घुटन (suffocation)* – वे कारक जो पीड़ित महिला को उसके जीवन के पुनर्नवीकरण (renewing), पुनर्विचार(redeeming), पुनप्राप्ति (restoring), पुनर्जीवन (reviving), व पुनस्फूर्ति (revitalisation) देने से रोकते हैं, वे उनके व्यक्तित्व में नहीं बल्कि सामाजिक सरचना में अधिक निहित होते हैं।
6 *विद्रोह पर अकुश*—कुछ युवा व स्वच्छन्द प्रवृति की पीड़ित स्त्रियों की यह गुप्त इच्छा रहती है कि वे समायोजन के आधुनिक तरीके अपनाकर विद्रोह करें, लेकिन वे इसमें अपने पति, ससुराल वालों, माता पिता, आदि के साथ सम्बन्ध टूटने तथा उनके द्वारा निन्दित किए जाने व अकेला छोड़ दिए जाने के भय से ऐसा नहीं करतीं।
7. *स्व मूल्याकन स्थिति*—द्रवित भावनाओं वाली पीड़ित स्त्रिया दब कर जीवित रहती हैं लेकिन शक्तिशाली, सचेत, व चरित्रवान स्त्रिया अपनी कार्य व्यस्तता से जीवन में अपना रास्ता स्वय बना लेती है।

निर्वैयक्तिकरण आघात तथा मानवीय दृष्टिकोण
(The Depersonalization Trauma and Humanistic Approach)

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्त्रियों को इस प्रकार अभिशप्त होने से कैसे बचाया जाये?

प्रथम, हम उस प्रकरण को लेते हैं जो पहले से ही अनेक महिला सगठनों तथा सरकार और निजी/सार्वजनिक सस्थाओं का ध्यान आकर्षित कर रहा है। इससे सरक्षण, समर्थन तथा पीडिताओं को सलाह की आवश्यकताए पूर्ण होंगी। सबसे अधिक व प्रथम सभी स्त्रियों को शरण की आवश्यकता होती है। प्रभुत्वशील ससुराल वालों और शराबी पति के साथ रहने वाली स्त्रिया अपने घरों को स्थाई या अस्थाई रूप से छोड देंगी यदि उन्हें शरण उपलब्ध हो जाये। ऐसी स्त्रियों की शरण प्रदान करने वाले स्वैच्छिक सगठनों को अपनी योजना को सार्वजनिक करना होगा। यह भी ध्यान में रखना है कि वर्तमान में मौजूद महिला गृह भी अविवाहित/विवाहित स्त्रियों के लिए—आवश्यकतापूर्ण नही करते हैं। उनमें अक्सर अधिक भीड, वित्तीय समर्थन की कमी है और सुरक्षा नियमों के पालन में वे असफल हैं। थोडे समय के लिए स्त्रियों को आवास प्रदान करना, विशेष रूप से विवाहित स्त्रियों को, जो कष्ट में हैं या हिंसा की शिकार हो चुकी हैं, जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या के प्रयास और उन्हें महिला सगठनों द्वारा स्थाई स्थान दिलाने की सहायता, अनेक स्त्रियों द्वारा भोगे गए कष्टों से छुटकारा दिलाने में योगदान करेगा। इस बात की शीघ्र आवश्यकता है कि विभिन्न प्रकार के थोडे समय के अवसरों की तुलना की जाये और मूल्याकन किया जाये जो पीडित स्त्रियों तथा विधवाओं को प्रदान किया जाये।

द्वितीय, रोजगार ढूढने और बाल सुरक्षा सुविधाए प्रदान करने में सहायता तथा तुरन्त वित्तीय सहयोग भी पीडित स्त्रियों की आवश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय स्थानों पर सलाह केन्द्रों की स्थापना की जा सकती है जो महिला गृहों से दूर हो ताकि उन गृहों की निवासी स्त्रियों की सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावित किए बिना अच्छी प्रकार उनका प्रचार किया जा सके।

तृतीय, सस्ते और कम औपचारिक न्यायालयों की स्थापना भी उन स्त्रियों की मदद का एक कदम हो सकता है जो शोषण का शिकार हो चुकी हैं। यह सुझाव नही दिया जा रहा है कि यह न्यायालय केवल स्त्रियों के मामलों में ही सुनवाई करेंगे। वर्तमान में हमारे यहा देश के कुछ राज्यों में परिवार न्यायालयों की व्यवस्था है। लेकिन यह न्यायालय मुख्य रूप से विच्छेद रोकने से ही सम्बन्धित हैं। इन न्यायालयों के क्षेत्र को विस्तृत किया जा सकता है ताकि स्त्रियों की सभी प्रकार की घरेलू और गैर घरेलू समस्याओं का निदान करें। स्त्रियों के मामलों में रुचि रखने वाले और ज्ञान रखने के कारण चुने हुए वकीलों, मेजिस्ट्रेटों और न्यायाधीशों सहित न्यायालयो की स्थापना एक सुधार का कदम होगा और इससे कानूनी पेशे में प्रवेश करने वाली महिलाओं की सख्या में वृद्धि होगी। अनेक स्त्रियों के लिए न्यायालय तथा कानून कम डरावना और अधिक सहानुभूतिपूर्ण तथा पहुच वाला होगा, यदि पुरुषों का अधिपत्य उन पर कम है। महिला वकील और न्यायाधीश कानूनों की अपनी व्याख्या करने और अपने सहयोगियों से भले ही भिन्नता न रखती हों लेकिन स्त्री पीडिताए निश्चय ही

उनके सामने जाने में प्रसन्न होंगी, इस उम्मीद से कि उनकी समस्याओं को अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

चतुर्थ, ऐसे स्वैच्छिक संगठनों को मजबूत करना और उनकी संख्या बढ़ाना भी आवश्यक है जो स्त्रियों की समस्याओं को उनके ससुराल वालों के साथ, या न्यायालयों में, या पुलिस के साथ या सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ उठा सकें। ऐसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि अकेली महिला की आवाज में कोई दम नहीं होता। वास्तव में यदि वह अपने अधिकारों की माग करने लगे या वह क्रान्तिकारी विचार रखती है या अपने विचार व्यक्त करती है या कुण्ठा उत्सर्जन करती है तो उसे 'मुंहफट' (outspoken) कहा जाता है। लेकिन यदि स्त्रियों का समूह मिल जाये और स्त्रियों के कष्टों के खिलाफ आवाज उठाए तो वे अपने विचारों को समझा सकती हैं और प्रभाव डाल सकती हैं।

पाँचवे, उन संगठनों का प्रचार किया जाना है जो स्त्रियों को नि शुल्क कानूनी सहायता पहुचाते हैं ताकि स्त्रियां आवश्यकता पडने पर उनके पास जाकर सहायता प्राप्त कर सकें।

अन्तिम, स्त्रियों के मामलों में उनके माता-पिता के दृष्टिकोण में परिवर्तन भी आवश्यक है। माता-पिता अपनी बेटियों—विवाहित या विधवा—को, जिन्हें अक्सर पीटा जाता है या दुर्व्यवहार किया जाता है, उनके पति के घर उनकी इच्छा के विरुद्ध क्यों रहने को बाध्य करते हैं ? जब माता-पिता को अपनी बेटियों की यातनाओं का पता लगता है तब वे थोडे समय के लिए उन्हें अपने पास रहने की अनुमति क्यों नही देते जब तक कि वे स्वय इसका विरोध करने योग्य न हो जाँये ? वे सामाजिक कलक के विषय में क्यों चिन्तित रहते हैं और अपने परिवार के लिए बेटी को क्यों बलि चढा देते हैं ?

स्त्रिया अत्याचार के सामने क्यों झुकती हैं ? वे यह क्यों नही महसूस करती कि उनमें अपनी और बच्चों की देखभाल करने की क्षमता है ? वे क्यों नही समझतीं कि उन को सताए जाने से उन्हें भावनात्मक आघात लगता है जो उनके बच्चों को भी प्रभावित करता है ? स्त्रियों को दृढ होना सीखना है और अपने लिए नयी भूमिकाओं को स्वीकार करना है। उन्हें जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण विकसित करना है।

आरक्षण नीति (The Reservation Policy)

स्त्रियों को विशेष छूट एव विशेषाधिकार दिए जाने की मागें अधिकार के मामले हैं, न कि दान या मानव उपकार के। जब पचायतों में स्त्रियों के लिए आरक्षण की घोषणा की गई थी, कुछ लोगों ने इसका समर्थन किया और कुछ ने कहा था कि इससे कलक (denigration) की भावना पैदा होगी। पचायत स्तर पर सविधान में (73 वा) सशोधन कर के स्त्रियों के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित कर दिए गये थे। बाद में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कोटे में से इन स्त्रियों के लिए एक तिहाई स्थानों को सुरक्षित करने की पृथक धारा इसमें जोड दी गई थी। इसका अर्थ है कि मान लिया जाये कि एक स्थानीय निकाय में 100 स्थान हैं, उसमें से 23 स्थान दलित और जनजातियों के लिए आरक्षित कर दिए गए, तब इन 23 स्थानों में से 7 या 8 स्थान दलित और जनजातीय स्त्रियों के लिए आरक्षित रखे जायेंगे। स्त्रियों के लिए आरक्षित 33 स्थानों में से ही 7 या 8 दलित/जनजातीय स्त्रियों के स्थानों का समायोजन

भी इन्ही में होगा ताकि स्त्रियों के लिए आरक्षित सामान्य श्रेणी के स्थान 33 से 26 रह जायेंगे। उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों ने पचायत स्तर पर पिछड़ी जाति को (OBC) स्त्रियों के लिए भी स्थान आरक्षित कर दिए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 33 आरक्षित स्थानों में से 7 दलित/जनजाति के लिए, 9 पिछडी जातियों के लिए और केवल 17 सामान्य श्रेणी की स्त्रियों के लिए होंगे।

दिसम्बर, 1998 में लोक सभा में स्त्रियों के लिए 33 प्रतिशत स्थान आरक्षण से सम्बन्धित विधेयक के प्रस्तुत किए जाने से पूर्व यह तीन अन्य अवसरों पर भी प्रस्तुत किये जाने से रोका गया था , एक 1996 में प्रधान मत्री देवगौडा के समय में, दूसरा 1997 में प्रधान मत्री गुजराल के कार्यकाल में और एक 1998 में प्रधान मत्री अटल बिहारी वाजपेयी के कार्यकाल में। एक स्तर पर तो (इन्द्र कुमार गुजराल के कार्यकाल में) यह विधेयक गीता मुखर्जी समिति को सौंपा गया था जिसने नवम्बर 1996 में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में स्त्रियों के लिए एक तिहाई आरक्षण की सिफ़ारिश की थी।

महिला विधेयक जो अब नवम्बर 2000 मे ससद में विचार के लिए रखा जाने वाला है उसमें प्रावधान है कि (a) विधायिकाओं में स्त्रियों के लिए 33% स्थान होंगे, (b) जाति के आधार पर आरक्षण का सुझाव इसमें नहीं होगा (अर्थात यह दलित/जनजाति/पिछडी जाति की स्त्रियों के लिए आरक्षण की अनुमति नही देगा), (c) इसमें चक्रीय व्यवस्था का सुझाव है।

आज जिस प्रश्न पर चर्चा की जानी है वह है कि क्या स्त्रियों के लिए आरक्षण या सरक्षण नीति स्त्रियों को न्याय एव समान अवसर निश्चित करने के लिए तर्कसगत और लाभकारी है ? विधेयक के पक्ष में तर्क यह हैं कि राजनीति में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व स्त्रियों की शक्ति बढाने में एक कदम होगा। लगभग एक वर्ष पूर्व एक प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक ने एक शहरी मतदाताओं की राय प्रकाशित की थी जो दर्शाती थी कि महिला विधेयक के पक्ष में व्यापक समर्थन था। लेकिन बाद में विधेयक के विरुद्ध 10 1 अनुपात में कई लेख भी प्रकाशित हुए। ये लेख तब प्रकाशित होने शुरू हुए जब ससद के एक पिछडी जाति के सदस्य (एक राजनैतिक दल के अध्यक्ष) ने लोक सभा में बडे ही खराब तरीके से महिला सगठन की सदस्याओं के लिए 'परकटी' कहकर बयान दिया।

महिला विधेयक के विरुद्ध अनेक तर्क दिए जाते हैं। *पहला* तर्क यह है कि राजनैतिक दल केवल अपने मतदाताओं को प्रसन्न करने और उनका वोट हासिल करने के लिए महिला विधेयक का पक्ष ले रहे हैं। महिलाओं का शक्तिशाली होने में उनकी गैर-गम्भीरता इसी तथ्य से मिलती है कि उनके सगठनों के भीतर ही उन्होंने कोटा व्यवस्था लागू नही की है (केवल कांग्रेस पार्टी को छोडकर, जिसने दिसम्बर 1998 में ही स्त्रियों के लिए 33 प्रतिशत महिला आरक्षण लागू किया)। यहा तक कि भाजपा (जो अगस्त 2000 में भी ससद में विधेयक प्रस्तुत करने में असफल रही) ने भी 1995 दिसम्बर में लडे गए आम चुनाव में 477 स्थानों में से केवल 23 ही स्त्रियों को दिए, जिनमें से 13 स्त्रिया चुनी गई। भाजपा कार्यकारिणी समिति में भी 75 सदस्यों में से स्त्रिया केवल आठ ही हैं। इसकी 650 सदस्यों वाली राष्ट्रीय समिति में केवल 150 महिलाए हैं। कांग्रेस की कार्यकारी समिति में 20 में केवल 3 महिलाए हैं। कम्युनिस्ट पार्टी में 150 सदस्यों वाली राष्ट्रीय समिति में 12 महिलाए

और 21 सदस्यों वाली राष्ट्रीय कार्यकारिणी में 3 महिला सदस्य हैं।

दूसरा तर्क है कि आरक्षण से अधिक उपलब्धि नही हो सकती। वास्तव में, यह विपरीत दिशा में उत्पादक हो सकती है। अच्छा तो यह है कि आरक्षण एक 'दर्द निवारक' (palliative) है और कोई भी निर्णयात्मक परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक कि इस प्रकार के उपायों के साथ सरचनात्मक परिवर्तन राष्ट्रीय उत्पादन सम्बन्ध के साथ न जुडे हों।

तीसरा तर्क है कि हमारा देश पहले ही कई समूहों में विभाजित है। महिला आरक्षण जनसख्या को और भी विभाजित कर देगा। पिछडी जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण सामाजिक दशाओं के अन्तर्गत केवल 15 वर्षो के लिए स्वीकार किए गए थे और तब से राजनैतिक वोट प्राप्ति के लिए अपने स्वार्थों वश इसे बढ़ाया जा रहा है।

चौथा तर्क है कि यह ससद की कार्यवाही और दक्षता को प्रभावित करेगा क्योंकि आज भी संसद की सभी महिला सदस्य सक्रिय नही हैं। महिला सासदों के ऐसे उदाहरण हैं जो पाँच वर्ष के कार्यकाल में एक बार भी नही बोली या केवल एक या दो बार ही बोली हों। यदि इस प्रकार की महिलाएँ बडी सख्या में ससद में आ जायें तो चर्चाओं का स्तर और उनकी गुणवत्ता क्या होगी ? पंचायतों में भी बडी सख्या में महिला सरपच ऐसी हैं जहाँ निर्णय उनके पतियों द्वारा किए जाते हैं या उनके ही परिवार के अन्य पुरुष सदस्यों द्वारा। अत. ससद में महिलाओं से क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

पाँचवाँ तर्क है कि जिस प्रकार आरक्षण नीति के कारण दलित, जनजातीय व पिछडी जातियों के अधिकारी उच्च प्रशासनिक पदों पर जाति और धर्म के आधार पर काम कर रहे हैं, ससद में भी महिला सासद केवल महिला समस्याओं में ही रुचि लेंगी। हमें ऐसे विधायक चाहिए जो राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय भागीदारी करें जिसके लिए वृहद् ज्ञान और परिपक्वता की पूर्व पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है।

छठा तर्क है कि गत पाँच दशकों में हमारा अनुभव रहा है कि आरक्षण नीति ने अपेक्षित परिणाम नहीं दिए हैं। आरक्षित स्थानों पर चुने गए प्रत्याशी अपने चुनाव क्षेत्रों के लोगों के कष्टों और आवश्यकताओं को ठीक से प्रस्तुत भी नही कर पाए हैं।

अन्तिम तर्क है कि आरक्षण तनावों और सघर्षों को जन्म देगा।

महिला विधेयक का विरोध करने वाले कुछ नेताओं और राजनैतिक दलों की प्रमुख माँग यह है कि स्त्रियों के कोटे में ही सन्निहित पिछडी जातियों और अल्प सख्यक स्त्रियों का कोटा हो, अर्थात वे लिंग आधारित आरक्षण के साथ जाति आधारित आरक्षण भी चाहते हैं। *आश्चर्य* तो यह है कि इन नेताओं और दलों ने ससद में पुरुष ओबीसी आरक्षण नही माँगा क्योंकि वे जानते हैं कि यदि ऐसा हुआ तो ससद में ओबीसी सासदों की सख्या कम हो जायेगी, जिसका अर्थ होगा वर्तमान में 'बहुजन समाज' की तुलना में शक्ति की कमी।

• इस प्रकार वे सदस्य जो महिला विधेयक में सुधार के पक्षधर हैं, न केवल लिंग भेदभाव में बल्कि जाति भेदभाव में भी रुचि लेते हैं। मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की माँग धर्म के आधार पर भेदभाव बढाने में और योगदान करेगी। क्या ये सभी भेदभाव (लिंग, जाति और धर्म) देश के धर्म निरपेक्ष स्वरूप को सुरक्षित रख सकेंगे ?

जाति और धर्म के नाम पर स्त्रियों का वर्गीकरण समाज में उनको और पृथक करेगा

क्योंकि मुसलमान और ओ बी सी महिला प्रतिनिधियों को सामान्य समस्या से कुछ लेना देना नही होगा। वे भारत में महिलाओं की नेता होने की बजाय एक पन्थ की नेता होंगी।

प्रमुख राजनैतिक दल 'कोटे के अन्दर कोटे' को अस्पष्ट रूप से देख रहे हैं क्योंकि वे केवल चुनावी फायदे पर ही केन्द्रित रहते हैं। वे इस बात में कम से कम रुचि रखते हैं कि राजनीतिक प्रतियोगिताओं के जातीयकरण का सस्थात्मकीकरण हो जाये। वे तो केवल अपनी पुत्रियों, पत्नियों, और बहिनों को ससद में पहुँचाने का अवसर चाहते हैं। वर्तमान और अतीत के अनुभवों को भुलाया नही जा सकता है। दो राज्यों के दो पूर्व मुख्य मत्रियों ने अपनी पत्नियों को ही चुनाव लडने के लिए नामाकित करा दिया और उनमें से एक अपने पति के स्थान पर मुख्य मत्री बन भी गई और अभी भी (अक्टूबर, 2000 में) हैं। एक राज्य में एक काग्रेसी सासद को अपनी लोक सभा सीट छोडनी पडी और अपनी पत्नी को उसी चुनाव क्षेत्र से चुनाव लडने के लिए नामाकित कराना पडा। ग्वालियर के एक प्रसिद्ध परिवार में एक समय माँ, बेटा और बेटी कई वर्षों से लोकसभा सीटों पर काबिज थे। नवम्बर 1999 में तीन राज्यों में हुए विधान सभा चुनाव में अनेक सासदों ने अपनी पत्नियों और अन्य परिवार जनों को चुनाव लडाने के लिए नामाकित कराने के लिए बहुत जोड-तोड किए। तथाकथित 'वशगत राजनीति' की अवधारणा के विरोधी स्वय परिवार प्रबन्धित राजनीति चला रहे हैं।

फरवरी 2000 में भारत में चुनाव आयोग ने यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक राजनैतिक दल महिलाओं को चुनावों में एक निश्चित प्रतिशत में खडी करें। इस पर आयोग ने अप्रैल 2000 में विभिन्न दलों की एक बैठक भी बुलायी थी परन्तु इस बैठक में सभी दलों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। यह शायद इस कारण था कि उन्हें इस बात का विश्वास नही था कि उनकी अधिसख्य महिला उम्मीदवार पुरुष प्रत्याशियों के सामने चुनाव जीत जायेंगी। अत वे अधिक महिलाओं को खडा करके 'खतरा' मोल लेना नही चाहते। लोकसभा चुनाव के लिए महिला उम्मीदवारों की कुल सख्या पुरुषों की तुलना में बहुत कम रही है। 1980 से पहले लोकसभा चुनावों में सारे देश में 100 महिलाएँ भी उम्मीदवार नहीं थी। 1980 में 142 (4,478 पुरुषों की तुलना में) और 1996 में 599 (13,353 पुरुषों की तुलना में) महिलाएँ उम्मीदवार थी। लोकसभा के पिछले 13 चुनावों से पता चलता है कि 543 सदस्यों के सदन में ज्यादा से ज्यादा (49) महिलाएँ 1999 में जीत कर आयी थी। वैसे विजयी महिलाओं की कुल औसत सख्या मात्र 33 रही है जो सदन की कुल सख्या की केवल 6 प्रतिशत ही है। यह सख्या 1952 में 22, 1971 में 22, 1977 में 19, 1980 में 26, 1984 में 44, 1989 में 27 व 1999 में 49 थी। क्या इस सख्या को बढाने का तरीका आरक्षण ही है ? यदि हा तो जरूरी है कि आरक्षण विधेयक में कुछ परिवर्तन कर के उसे पास कर दिया जाये।

लोकतत्र की सस्था से एक नये भारत के निर्माण की अपेक्षा थी, लेकिन क्या वाछित परिणाम मिले ? इसकी असफलताओं के लिये सस्था स्वय को दोष नही दिया जाना चाहिए बल्कि इस के काम करने का तरीका, जो सत्ताधिकारियों ने विकृत कर दिया है, को दोषी ठहराया जाना चाहिए। मध्यम वर्गीय और उच्च जातीय लोगों के स्वार्थी हितों के कारण ही हमारे देश में दोहरे विकास का स्वरूप बन गया है जिसमें सत्ता तक पहुच रखने वाले फलफूल रहे हैं और निम्न स्तर पर जनसख्या (सामाजिक व आर्थिक रूप से) को विकास के

सभी लाभों से वंचित रखा जाता है। क्या महिलाओं के सीटों का आरक्षण और संसद में अधिक संख्या में उनके प्रवेश से इन लोगों का असन्तोष दूर होगा और देश के गरीबों, अशिक्षितों और पिछड़े समुदायों को आशा प्रदान करेगा ?

नुकसान में रहे हुए लोगों को संरक्षण और उठने के अवसर चाहिए लेकिन अवसर सामूहिक रूप से हमेशा के लिए विस्तृत नहीं किए जा सकते। प्रारम्भ में अपनायी गयी योजनाओं पर निगाह रखने के लिए एक सतर्कता दल का गठन किया जाये और जैसे ही यह पता लगे कि उन्हें आरक्षण की वैशाखी की अब आवश्यकता नहीं है, योजनाओं को वापस ले लिया जाना चाहिए।

महिला विधेयक ने भारतीय राजनीति और समाज में भावी दिशा के विषय में बहस शुरू कर दी है। कार्यकर्ताओं को विशुद्ध सीमित दृष्टिकोण से ही विधायिकाओं में स्थानों के आरक्षण के मामले को देखना चाहिए ? ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्ता के गलियारों में प्रवेश का लक्ष्य प्रमुख होता जा रहा है। महिला मुक्ति जैसे सामाजिक महत्व के प्रकरणों को प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा छोड़ा जा रहा है। महिलाओं का शक्ति पाना स्वयं नहीं होगा यदि पहले तो उन्हें लिंग के आधार पर और फिर धर्म और जाति के आधार पर पृथक कर दिया जाये। एक सुझाव यह है कि हमारा उद्देश्य महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थानों का आरक्षण नहीं होना चाहिए बल्कि राजनीति में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना होना चाहिए।

आरक्षण नीति के विरुद्ध सैद्धान्तिक तर्क कुछ भी हों, लेकिन व्यवहार में सभी राजनैतिक दल इसका समर्थन करते रहेंगे क्योंकि इस प्रकरण से वे राजनैतिक लाभ लेते रहेंगे। इसलिए लोगों को आरक्षण का मुद्दा उठाने के बजाय राजनैतिक दलों और नेताओं के निहित स्वार्थों बनाम समाज में आम लोगों के तर्क पूर्ण हितों के प्रकरण को उठाना चाहिए। दूसरे, गुणवत्ता और कुशलता के मामले में कोई समझौता नहीं होना चाहिए। योग्यता की शर्तें ऐसी हों ताकि महिलाएँ न केवल प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए राजनीति में हिस्सेदार हों बल्कि समुदाय की सेवा के लिए भी हों।

5

आर्थिक अर्थव्यवस्था

(Economic System)

भारतीय अर्थव्यवस्था, निर्धनता एवं मुद्रास्फीति
(Indian Economy, Poverty and Inflation)

अर्थव्यवस्था (Economy)

सन् 1999 में कारगिल युद्ध, उडीसा के तूफान से तबाही, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पैट्रोलियम पदार्थों के बढते मूल्य और सन् 2000-2001 के बजट में रक्षा के क्षेत्र में 13 हजार करोड रुपये की वृद्धि, ब्याज दायिता में वृद्धि, सब्सिडी पर व्यय, आदि ने हमारी अर्थव्यवस्था पर काफी प्रभाव डाला है। अर्थव्यवस्था में निर्धनता और मुद्रास्फीति के प्रश्न प्रमुख महत्व के हैं। सन् 1993-94 में कुल जनसख्या का 37 8 प्रतिशत या 32 03 करोड व्यक्ति (37 27% ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 32 36% नगरीय क्षेत्रों में) गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रहे थे (*Manpower Profile, India,* 1998 343)।

1970 और 1980 की दशाब्दियों में ग्रामीण निर्धनता में तीव्र कमी आयी थी। निर्धनता का प्रतिशत 1973-74 में कुल ग्रामीण जनसख्या का 55 प्रतिशत से कम हो कर 1987-88 में 39 09 तथा 1989-90 में 34 प्रतिशत ही रह गया था। परन्तु 1990 की दशाब्दि में यह प्रतिशत कम होने की बजाय बढ गया। एनएसएस(N S S) के आकडों के अनुसार,1998 में यह 42 प्रतिशत था (*Frontline*, March 17, 2000 . 109)। यह वृद्धि (i) खाद्य की बढती हुई कीमत के कारण, (ii) गावों में रोजगार के अवसर पैदा करने की सभावनाएँ कम होने के कारण और (iii) गावों में गैर कृषि आय का हिस्सा घटने के कारण बताई जाती है। आज देश के 5 प्रतिशत लोग बेरोजगार हैं, सरकार द्वारा अर्जित प्रत्येक रुपये में से करीब एक चौथाई भाग उधार के ब्याज उतारने में जा रहा है। 1998-99 में यह रुपये का 24 प्रतिशत और 1999-2000 में 27 प्रतिशत था (*The Hindustan Times,* March *1, 2000*)। *सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 11 प्रतिशत केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा* गैर योग्यता सब्सिडी पर (जैसे, जल आपूर्ति, उच्च शिक्षा, सिचाई, विद्युत, पैट्रोल, मिट्टी का तेल, आदि पर) खर्च किया जा रहा है। यह तथ्य देश में निर्धनता, आय, और सम्पत्ति की दुखद स्थिति दर्शाते हैं। राष्ट्रीय धन और आय का कितना भाग गरीबी तथा बेरोजगारी दूर करने के कार्यक्रमों पर खर्च किया जाये, इस विषय पर काफी चर्चा होती है। आर्थिक विकास की दर में कैसे वृद्धि की जाये ? आर्थिक विषमताएं किस प्रकार दूर की जायें ? सार्वजनिक सेवाओं और कल्याण योजनाओं पर कितना खर्च किया जाये? कल्याण कार्यक्रमों की क्या

भूमिका है ? क्या यह गरीबों को न्यूनतम सुरक्षा प्रदान करने वाला हो या फिर सभी के लिए गहन सुरक्षा व्यवस्था करने वाला ? क्या हमारे देश में सामाजिक विषमताएँ (inequalities) आर्थिक विषमताओं का परिणाम हैं या आय वितरण में विभेदीकरण का ? इस अध्याय में हम इन्ही प्रश्नों में से कुछ का विश्लेषण करेंगे।

निर्धनता (Poverty)

'निर्धनता' और 'असमानता' एक से नही हैं। वह व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय 15,000 रुपये है और उसे एक पत्नि और एक बच्चे का भरण पोषण करना है, इतना निर्धन नही जितना कि वह व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय 25,000 रुपये है और उसे पत्नी और पाच-छ बच्चों के बडे परिवार का भरण पोषण करना है। 'आय' और 'धन' (wealth) भी दो अलग शब्द हैं। आय का अर्थ आर्थिक ससाधनों (resources) के प्रवाह (flow) से है जबकि धन का अर्थ आर्थिक ससाधनों के कुल सचय (stock) से है। वेतन, मजदूरी, किराया, ब्याज, पेन्शन, स्व रोजगार से आय और शेयर कम्पनियों से प्राप्त लाभाश को 'आय' माना जाता है, जबकि अचल सम्पति, स्वर्ण और बॉण्ड 'धन' कहलाता है। असमानता और निर्धनता को समझने के लिए, निर्धनता, आय, धन और असमानता जैसी अवधारणाओं पर विचार करना आवश्यक है।

निर्धनता की अवधारणा (Concept of Poverty)

निर्धनता क्या है ? निर्धनता को या तो 'निरपेक्ष' (absolute) या 'सापेक्ष' (relative) रूप में परिभाषित किया जा सकता है। 'अस्तित्व (existence) की मूल आवश्यकताओं में 'अपर्याप्तता' (insufficiency) निरपेक्ष निर्धनता है। व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ आमतौर पर 'पर्याप्त भोजन, कपडा व मकान का अभाव' होता है। 'गरीबी की रेखा' की अवधारणा निर्धनता को निर्वाह (गुजारा) (subsistence) के सदर्भ में समझाती है, जिस का अर्थ है 'शारीरिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकता'। बर्सटीन हैनरी (Berstein Henry, 1992) ने निर्धनता के चार आयाम (dimensions) बताए हैं (1) जीवनयापन के साधनों की कमी (2) ससाधनों (धन, भूमि, ऋण) तक पहुँचने की अक्षमता (inaccessibility), (3) असुरक्षा की भावना और कुण्ठाएँ (4) ससाधनों की कमी के कारण दूसरों से सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करने एव बनाए रखने की अयोग्यता।

निर्धनता को परिभाषित करने के लिए तीन सूत्र बहुधा प्रयोग किए जाते है (1) जीवित रहने के लिए व्यक्ति को धनराशि की आवश्यकता, (2) प्रदत्त (given) समय और स्थान में प्रचलित 'न्यूनतम जीविका स्तर' (minimum subsistence level) और रहन-सहन के स्तर (living standard) से नीचे का जीवन, (3) समाज में बडी सख्या के लोगों के वचित व अभावग्रस्त (deprived) और निराश्रय (destitute) लोगों की और कुछ लोगों के समृद्ध जीवन स्थिति (state of well-being) की तुलना। अन्तिम धारणा सापेक्षता और असमानता के सदर्भ में निर्धनता को स्पष्ट करती है। जहा प्रथम दो धारणाए निरपेक्ष निर्धनता को आर्थिक अवधारणा के सन्दर्भ में हैं, वही तीसरी धारणा इसको सामाजिक अवधारणा के रूप में अर्थात् नीचे के स्तर के (bottom) लोगों द्वारा कुल राष्ट्रीय आय से

प्राप्त भाग के अर्थ में देखती है। हम तीनों धारणाओं को अलग-अलग समझने का प्रयास करेंगे।

पहले दृष्टिकोण (जीविका के लिए न्यूनतम आय की आवश्यकता के अर्थ में) के अनुसार निर्धनता "शरीरक्रियात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की असमर्थता अर्थात् अस्तित्व (survival), रक्षा (safety) और सुरक्षा की आवश्यकता की असमर्थता है।" यह शरीरक्रियात्मक आवश्यकताए सामाजिक आवश्यकताओं से (अथवा अह की तुष्टि (ego satisfaction) और स्वाभिमान), स्वायनता (autonomy) की आवश्यकता, स्वाधीनता की आवश्यकता, तथा स्व-वास्तविकीकरण (self-actualization) की आवश्यकता से) भिन्न हैं। शरीरक्रियात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भोजन और पोषक तत्व, आवास और स्वास्थ्य सुरक्षा न्यूनतम आवश्यकताए हैं। इसके लिए आवश्यकताओं के खरीदने और मौलिक सुविधाओं को उपलब्ध कराने के लिए 'कम से कम' (minimum) आय चाहिए (जो अलग-अलग समाज में भिन्न होती है।)

यहाँ निर्धनता को 'गरीबी रेखा' के सन्दर्भ में देखा गया है जिसका निर्धारण स्वास्थ्य, दक्षता, बच्चों के लालन-पालन, सामाजिक सहभागिता और आत्म सम्मान को बनाए रखने की आवश्यकताओं के प्रचलित मानदण्डों से किया जाता है (Becker, 1966 436)। परन्तु व्यवहार में 'गरीबी रेखा' का निर्धारण न्यूनतम वान्धनीय पोषण मानदण्डों से कैलोरी का उपभोग करने (nutritional standard of calories intake) के आधार पर किया जाता है। भारत में 'गरीबी रेखा' का निर्धारण ग्रामीण क्षेत्रों में 2,400 कैलोरी प्रति दिन प्रति व्यक्ति (प्रौढ) के उपभोग तथा शहरी क्षेत्रों में 2,100 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के उपभोग के आधार पर होता है। इसके आधार पर प्रति व्यक्ति का मासिक उपभोग व्यय (consumption expenditure) निकाला जा सकता है।

हमारे देश में न्यूनतम उपभोग व्यय 1962 के योजना आयोग के परिप्रेक्ष्य योजना विभाग (Perspective Planning Division) की सिफारिशों तथा 1961 के मूल्यों के आधार पर गणना द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में पाँच सदस्यों के परिवार का व्यय 100 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में 125 रुपये था। यह प्रति व्यक्ति प्रतिमाह ग्रामीण क्षेत्रों में 20 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में 25 रुपये हुआ। सन् 1978-79 में यह ग्रामीण क्षेत्रों में 62.5 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में 70 8 रुपये आँका गया था, जबकि 1984-85 में पुनरीक्षित 'गरीबी रेखा' 1981-82 कीमत के आधार पर ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति मासिक व्यय 107 रुपये तक और शहरी क्षेत्रों के लिए 122 रुपये निर्धारित की गयी। (*India*, 1990 404)। 1987-88 में यह गावों के लिए प्रति व्यक्ति प्रति माह 131 80 रुपये और शहर के लिए 152 10 रुपये रखी गयी (*The Hindustan Times*, April 13, 1998)। 1993-94 में ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति प्रतिमाह को 229 रुपये तथा शहरी क्षेत्र में 264 रुपये की आमदनी, भोजन तथा अन्य मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक होती थी। (*Outlook*, February 14, 1996 · 26) यदि एक परिवार में औसतन पाच सदस्य मान लिये जायें तब गावों में प्रति परिवार प्रतिवर्ष 13,740 रुपये और शहरों में प्रति परिवार प्रति वर्ष 15,840 रुपये 'न्यूनतम पर्याप्तता' के लिए जरूरी होंगे। 1998-99 की कीमत के आधार पर गावों में वार्षिक खपत 22,400 रुपये और शहरों में 25,620 रुपये होनी चाहिए। इसी आधार पर सरकार ने 1990 दशक के

मध्य में प्रति परिवार प्रति वर्ष 15,000 रुपये से कम आय वाले परिवार को 'गरीबी रेखा' से नीचे का परिवार माना। यहा पर 'न्यूनतम जीविका' (*minimum* subsistence) स्तर को ही केन्द्र माना गया है जो 'न्यूनतम पर्याप्तता (*minimum* adequacy) स्तर तथा 'न्यूनतम आराम' (*minimum* comfort) स्तर से भिन्न है। अमरीका में 1963 में 2,500 डालर वार्षिक आय तथा चार सदस्यों वाला परिवार 'न्यूनतम जीविका स्तर' के नीचे माना जाता था, 3500 डालर वार्षिक आय वाला 'न्यूनतम पर्याप्तता स्तर' से नीचे वाला, तथा 5,500 डालर आय वाला परिवार 'न्यूनतम आराम स्तर' से नीचे रहने वाला माना जाता था (Omati, 1964 : 440)। इस आधार पर (1963 में) अमरीका में 10% परिवार 'न्यूनतम जीविका स्तर' वाले परिवार, 25% 'न्यूनतम पर्याप्तता स्तर' वाले परिवार तथा 38% 'न्यूनतम आराम स्तर' वाले परिवार थे। अमरीका में चार सदस्यों का परिवार, जो गरीबी स्तर का था, उसकी वार्षिक आय 1982 में 8,450 डालर (Malgavkar, 1983 : 3), 1986 में 10,989 डालर और 1990 में 14,200 डालर थी। 1998 में अमरीका में प्रति व्यक्ति आय 29,080 डालर थी (*India Today*, May 10, 1999 46)। एक औसत अमरीकन व्यक्ति एक औसत भारतीय से आठ गुनी आय अर्जित करता है।

भारत में 1993-94 में योजना आयोग द्वारा गरीब लोगों की सख्या (अर्थात वे लोग जो न्यूनतम जीविका स्तर से नीचे थे) कुल जनसख्या की 18 1% आँकी गई थी। मार्च 1997 में लकडवाला समिति की रिपोर्ट स्वीकार करने के बाद योजना आयोग के अनुसार गरीबी रेखा के नीचे के लोगों का प्रतिशत 37 2 या 32 03 करोड़ माना गया है। (*The Hindustan Times*, April 16, 1997)। परन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि निर्धन लोग समजाति समूह (homogenous group) नही हैं। इन्हें चार उप-समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है, *अकिंचन अथवा निराश्रय* (destitutes) (जो 1993-94 की कीमतों पर 137 रुपये से कम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय कर रहे थे), *अत्यधिक निर्धन* (extremely poor) (जो 161 रुपये से कम प्रति व्यक्ति मासिक व्यय कर रहे थे), *बहुत निर्धन* (जो 201 रुपये से कम प्रति व्यक्ति मासिक व्यय कर रहे थे), और *निर्धन* (जो 246 रु. से कम प्रति व्यक्ति मासिक व्यय कर रहे थे)।

निर्धनता पर दूसरे विचार के अनुसार भौतिक पदार्थों और ससाधनों (material goods) की कमी के दृष्टिकोण से निर्धनता के तीन पक्ष हैं (i) वे जो शारीरिक कष्ट को दूर रखने के लिए तथा भूख और छत की आवश्यकता पूर्ति के लिए अर्थात् अस्तित्व (survival) के लिए आवश्यक हैं, (ii) वे पदार्थ जो मानव स्वास्थ्य के लिए अर्थात् पोषण (nutrition) प्राप्ति और बीमारी से बचाव के लिए आवश्यक हैं और (iii) वे जो न्यूनतम जीविका स्तर बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। सरल शब्दों में इनका आशय न्यूनतम भोजन उपभोग, पर्याप्त मकान और कपडा, और स्वास्थ्य रख रखाव से है।

ग्रॉस और मिलर (Gross and Miller, 1946 63) ने तीन कारकों की दृष्टि से निर्धनता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है आय (गुप्त और प्रत्यक्ष), सम्पत्ति या भौतिक प्राप्तियां, और सेवाओं की उपलब्धता (शैक्षिक, चिकित्सकीय, मनोरजन सम्बन्धी)। लेकिन अन्य विद्वानों ने इस परिप्रेक्ष्य में निर्धनता की अवधारणा को भ्रामक माना है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में 1960 में गरीबी स्तर से नीचे जीवन व्यतीत करने वालों में से 57 6% के पास

टेलीफोन, 79 2% के पास टीवी सेट, तथा 72 6% के पास कपडे धोने की मशीन थी। (Becker, 1966 435)। अत सम्पत्ति या भौतिक साधनों का होना निर्धनता का विशिष्ट आधार नही हो सकते। इसी तरह निर्धनता को आय के कारक से नही जोडा जा सकता। यदि मूल्य स्तर में वृद्धि होती है तो लोग अपने परिवार के सदस्यों के लिए जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने में समर्थ नही हो सकते। स्पष्टतया तब निर्धनता को समय और स्थान से जोडना पडता है।

तीसरे विचार के अनुसार निर्धनता "प्रत्येक समाज में उपयुक्त न्यूनतम जीविका स्तर से नीचे जीने की स्थिति" है, या 'जीवन की आवश्यकताओं को खरीदने के लिए धन का अभाव है', या "शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यधिक कमी—भूख, कुपोषण, बीमारी और कपडा, मकान, चिकित्सा सुविधा की कमी—है"। आखिरी स्थिति का मापन समाज के निचली सतह पर रहने वालों के जीवन की जनसख्या के अन्य व्यक्तियों से तुलना कर के किया जाता है। इस प्रकार यह निरपेक्ष दशाओं (objective conditions) की अपेक्षा सापेक्ष (subjective) परिभाषा का विषय है। निर्धनता का निर्धारण मौजूदा मानदण्डों से होता है। मिलर और रोबी (Miller and Roby, 1970 34-37) ने कहा है कि इस धारणा में निर्धनता को असानता के निकट माना जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह परिभाषा उस प्रभाव के अर्थों में अधिक महत्वपूर्ण है जो गरीबों के जीवन अवसरों और आय की असमानता का जीवन की स्थितियों पर पडता है। पूर्ण निर्धनता तो गरीबों के हाथ में धन देकर कम की जा सकती है या मिटाई जा सकती है, लेकिन 'असमानता' को सापेक्ष सीमा रेखा से ऊपर उठा कर भी नही रोका जा सकता। जब तक आय के पैमाने की सतह पर लोग रहेंगे, वे किसी न किसी प्रकार निर्धन तो रहेंगे ही। यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक हमारे समाज में सामाजिक स्तरीकरण मौजूद रहेगा।

हारविंगटन (Harvington, 1958 83) ने गरीबी की परिभाषा वञ्चनाओं (deprivation) के सन्दर्भ में की है। उसके अनुसार निर्धनता, भोजन, स्वास्थ्य, मकान, शिक्षा एव मनोरजन के उन न्यूनतम स्तरों से वन्चित रहना है जो तत्कालीन प्रौद्योगिकी (contemporary technology), विश्वासों, और मूल्यों के अनुकूल हों। रीन (Rein, 1968 116) ने निर्धनता में तीन तत्वों का पता लगाया है जीविका (subsistence), असमानता, और बाह्यता (externality)। जीविका अस्तित्व के अर्थ में स्वस्थ्य बनाए रखने और कार्य क्षमता के लिए तथा शारीरिक क्षमता बनाए रखने के लिए पर्याप्त ससाधनों की उपलब्धता पर जोर देती है। असमानता उन लोगों की आपस में तुलना करती है जो आमदनी के निम्नतम स्तर पर हैं और जो उसी समाज में विशेषाधिकार प्राप्त लोग (privileged people) हैं। निम्नतम स्तर के व्यक्तियों की वञ्चनाएँ सापेक्ष (relative) हैं। बाह्यता (externality) निर्धनों पर गरीबी के पडने वाले प्रभाव के अलावा समाज के अन्य लोगों पर पडने वाले प्रभाव पर भी बल देती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मे निर्धन लोग दुश्चक्रों (vicious circles) से घिरे रहते हैं। निर्धन होने का अर्थ है गरीब पडौस में रहना, अधिक व्यक्तियों का या तो बिना काम के रहना या कम वेतन पर कार्य करना, बच्चों को स्कूल न भेज पाना, और लम्बे समय के लिए निर्धन बने रहना। गरीब रहने का अर्थ यह भी है कि अल्प भोजन खाना, कमजोर

स्वास्थ्य, भारी शारीरिक काम करने योग्य न होना, तथा निम्न भुगतान का काम लेना, जो फिर गरीब को हमेशा के लिए गरीब ही बना रहने देगा। इस प्रकार चक्र गरीबी से प्रारम्भ होकर गरीबी तक ही समाप्त होता है। अत इसमें कोई विस्मय नही कि थामस गाल्डविन (Thomas Galdwin, 1967 77) जैसे समाजशास्त्रियों ने असमानता या गरीबी की सामाजिक अवधारणा को इतना महत्त्व दिया।

निर्धनता के परिमापन की अभिव्यक्ति
(Manifestation of Measurement of Poverty)

निर्धनता के परिमापन क्या हैं ? प्रमुख परिमाप हैं कुपोषण (2,100 से 2,400 कैलोरी प्रतिदिन से नीचे), निम्न उपभोग व्यय, न्यूनतम आय (1998-99 के मूल्य स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों में 218 75 और नगरीय क्षेत्रों में 247 80 रूपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह से कम), पुरानी बीमारी या खराब स्वास्थ्य, अशिक्षा, बेरोजगारी और/या कम रोजगार, तथा मकानों की अस्वास्थकर दशाएँ। मोटे तौर पर किसी समाज की निर्धनता की अभिव्यक्ति, न्यून ससाधनों, निम्न राष्ट्रीय आय, निम्न प्रति व्यक्ति आय, आय वितरण में बडी विषमताएँ (disparity), कमजोर रक्षा, और इसी प्रकार के कारकों में होती है।

विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित अनुसधान में राजस्थान के एक जिले में निर्धनता के अध्ययन के आधार पर इस लेखक ने उन घरों (households) के गरीबी से जुडे लक्षण बताये हैं जिनमें रहने वाले लोग निर्धन होते हैं। इन लक्षणों में से कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं उस घर में पूर्ण-कालिक मजदूरी अर्जित करने वाले का अभाव, वे घर जिनमें परिवार की मुखिया स्त्री हो, वे घर जिनमें 18 वर्ष से कम आयु के 6 बच्चों से अधिक हों, वे घर जिनके मुखिया दैनिक मजदूरी पर निर्भर रहते हों, वे घर जिनमें प्राइमरी से भी कम स्तर की शिक्षा प्राप्त सदस्य हों, वे घर जिनमें सदस्यों को कार्य का कोई अनुभव न हो, तथा वे घर जिनके सदस्य अशकालिक रोजगार में हों।

भारत में निर्धनता का अनुपात व फैलाव
(Incidence and Magnitude of Poverty in India)

भारत में विकास में द्विभाजन (dichotomy) पाया जाता है। विश्व औद्योगिक उत्पादन में भारत का 19 वाँ स्थान है, तथा कुल सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) में 12 वाँ स्थान है, फिर भी जनसख्या का एक बडा भाग अत्यन्त निर्धन है। सयुक्त राष्ट्र सघ के 'मानव विकास इन्डेक्स' ने (जिसके तीन सूचक हैं जीवन अवधि, शैक्षिक उपलब्धि, तथा क्रय शक्ति की समानता के सदर्भ में वास्तविक (जीडी पी) भारत को 174 राष्ट्रों में से (सितम्बर 2000 में यह सख्या 179 हो गयी) 134 वाँ स्थान दिया है। वास्तविक प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के अर्थ में भारत को 141 वाँ स्थान दिया गया है, जबकि पाकिस्तान का 100 वाँ तथा चीन का 123 वाँ स्थान है (*Outlook*, February 14, 1996)। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में सम्पूर्ण उत्पादन दर में महत्त्वपूर्ण वृद्धि देखी गई है। प्रति व्यक्ति आय में उत्तरोत्तर वृद्धि (overall growth) 1980-81 में 1,630 रुपये से 1987-88 में 3,289

रुपये, 1990-91 में 4,934 रुपये, 1993-94 में 6,234 रुपये और 1999-2000 में 9,739 रुपये दर्ज की गयी। राजस्थान में यह 1999-2000 में 7,141 रुपये, 1998-99 में 7,694 रुपये और 1997-98 में 7,811 रुपये थी। यदि 1999-2000 को आधार वर्ष माना जाये तब यह आय 1999-2000 में 18,900 रुपये (या 450 डालर) थी। (*The Hindustan Times*, April 6, 2000)। स्थिर मूल्यों (1980-81) पर प्रति व्यक्ति आय 1992-93 में 2,226 रु,1993-94 में 2,282 रुपये और 1994-95 में 2,362 रुपये आँकी गई थी (*The Hindustan Times*, August 22, 1995)। यदि हम राष्ट्रीय मुद्रा के क्रय शक्ति समानता (Purchasing Power Parity or PPP) के अर्थों में 1998-99 में भारत में प्रति व्यक्ति आय की गणना करें तो भारत की प्रति व्यक्ति आय (370$ की) पीपीपी (PPP) सुधार के साथ 2,000$ होगी। फिर भी अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय भारत की अपेक्षा 18 गुनी अधिक होगी। (*India Today*, May 10, 1998 46)

योजना आयोग के आकलन के अनुसार (मार्च 1997 में लकडवाला समिति की सिफारिशें स्वीकार करने के पूर्व) गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करने वाले लोगों का प्रतिशत 1972-73 में 51 5% से घटकर 1983-84 में 37 4%, 1987-88 में 29 9% और 1993-94 में 18 1% हो गया। (*The Hindustan Times*, August 22, 1995 and April 5, 1997)। परन्तु विशेषज्ञ समूह (Expert Group-National Institute of Public Finance and Policy) के अनुमान के अनुसार यह प्रतिशत इससे काफी ऊंचा था। 1977-78 में 51 8%, 1983-84 में 44 8 %, 1987-88 में 39 3% और 1993 94 में 33 4% था। (*Outlook*, February 14, 1996 26)

यूएनडीपी (UNDP) के अनुसार 1990 में भारत में गरीब लोगों की सख्या 41 करोड थी। (*The Hindustan Times*, Delhi, August 4, 1993)। विश्व बैंक और अर्थशास्त्रियों का दावा है कि गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की सख्या 40 करोड है। इसका अर्थ हुआ कि भारत में गरीबों की सख्या, बगलादेश और पाकिस्तान की कुल जनसख्या के बराबर है।

योजना आयोग ने मार्च 1977 में देश में मौजूदा गरीबी का आकलन करने के लिए लकडवाला समिति की क्रिया विधि अपनाने का निश्चय किया। लकडवाला समिति सितम्बर 1989 में नियुक्त की गई थी, जिसने जुलाई 1993 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। तीन वर्ष तक रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नही की गई। 1996 में योजना आयोग ने अचानक इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और गरीबी रेखा से नीचे के लोगों का अनुमान 1993-94 में 18 1% से बढाकर 37 2% मान लिया। इस निर्णय से न केवल नवी पचवर्षीय योजना के विकास कार्यक्रमों पर बल्कि आगे आने वाले वर्षों के कार्यक्रमों पर भी काफी प्रभाव पडा।

भारत में लगभग 32 और 35 करोड के मध्य निर्धन लोगों में से (योजना आयोग के नये अनुमान के अनुसार) बिल्कुल दरिद्र लोग—जो कि समाज मे बिल्कुल नीचे सतह के 10% में हैं—लगभग 5 6 करोड हैं। ये लोग बूढे, बीमार या अपाहिज नहीं हैं। उनके लिए रोजी रोटी ही उपलब्ध कराना नही है बल्कि उन्हें एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करानी है जिसमें कुछ नियमित आय का प्रबन्ध भी सम्मिलित हो। इसका अर्थ यह हुआ कि 26 करोड (सरकारी आकडों के अनुसार) और 30 करोड (अर्थशास्त्रियों के अनुसार) के

आसपास विविध निर्धन लोगों के लिए रोजगार के अवसर जुटाए जाने हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में ये निर्धन लोग भूमिहीन खेतिहर मजदूर, आकस्मिक गैर खेतिहर मजदूर, (जैसे लोहार, बढई और चमडे का काम करने वाले) हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में ये निर्धन लोग बिना सगठनों वाले औद्योगिक श्रमिक, शाक-सब्जी, फल-फूल बेचने वाले, चाय की दुकानों के नौकर, घरेलू नौकर और रोजाना दिहाडी के मजदूर हैं।

विगत कुछ वर्षों में सर्वेक्षणों के अनुसार आर्थिक विकास के साथ-साथ उच्च मध्यम, और मध्यम आय वर्ग के लोगों की सख्या में वृद्धि हुई है। 1997-98 के मूल्यों के आधार पर 30,000 रुपये वार्षिक से कम आय वाले घरों की सख्या लगभग 50% है, 3 लाख रुपये वार्षिक से अधिक आय वाले (उच्च वर्ग) 0.7% है और 30,000 से 3 लाख रुपये आय वर्ग (मध्यम वर्ग) के लोगों की सख्या कुल घरों की 40% है। आगामी 10 वर्षों में आशा की जाती है कि इन आय समूहों के अपेक्षाकृत आकार में काफी परिवर्तन आने वाला है। 30,000 रुपये से कम वार्षिक आय वाले घरों की सख्या 14% रह जायेगी, 3 लाख रुपये से अधिक आय वाले धनी घरों की सख्या 3 5%, और 30,000 रुपये से 3 लाख रुपये वार्षिक आय वाले मध्यम वर्गीय घरों की सख्या कुल घरों की लगभग 80% हो जायगी। (*The Hindustan Times*, August 24, 1998)। जब तक आय वितरण की असमानता कम नहीं की जाती तब तक गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की सख्या में कमी करने के अवसर भी कम ही रहेंगे।

भारत में मूल्य ऊँचे उठे हैं और आय का दायरा सकुचित हुआ है। वर्तमान में (11 सितम्बर, 2000) मुद्रास्फीति की दर 5 94% बताई गई है, जबकि 1996-97 में यह दर 7 0% थी, ब्रिटेन में 2 7% थी, कनाडा में 1 8%, आस्ट्रेलिया में 0 8%, स्पेन में 2 0%, और स्वीडन में 0.2% थी (*Economic and Political Weekly*, January 16-22/23-29, 1999 116 and *The Hindustan Times*, September 11, 2000)। मुद्रा स्फीति में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले कारक हैं (1) माँग में अत्यधिक वृद्धि, पूर्ति लगभग समान या उसमें गिरावट या ठहराव । इसे 'माँग का खिंचाव मुद्रास्फीति' (Demand Pull Inflation) नाम से जाना जाता है। (2) मूल्यों में स्वतत्र वृद्धि जो मजदूर सघों के दबाव के कारण श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि का फल हो सकती है या उद्योगपतियों की अधिक लाभ कमाने की इच्छा हो सकती है। कीमतों में इस प्रकार की वृद्धि या मुद्रास्फीति को 'मूल्य दबाव' (Cost-Push) मुद्रा स्फीति कहते हैं। (3) भारत जैसे विकासशील देशों में मुद्रास्फीति इसलिए भी हो जाती है क्योंकि विकास के प्रयत्न और सरचनात्मक कठोरताएं भी चलती रहती हैं। मूल ढाँचागत (infra-structural) सस्थागत या अन्य तगियाँ उत्पादन गतिविधियों में रूकावट पैदा करती हैं और अभाव पैदा कर देती हैं। इससे मूल्य बढते हैं और मुद्रास्फीति भी (4) घाटे की वित्त व्यवस्था (deficit financing) धन की अधिक्ता की स्थिति तो पैदा कर देती है लेकिन साथ साथ वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि नहीं करती। इससे मुद्रास्फीति की स्थिति बन जाती है। (5) कभी-कभी विकासशील देशों को विकास के लिए प्रमुख वस्तुओं (capital goods) का आयात करना पडता है। इन वस्तुओं के लिए अत्यधिक विदेशी मुद्रा खर्च करनी पडती है। प्रायोजनाओं (projects) के मूल्य बढ जाने

हैं और मुद्रास्फीति स्वय बन जाती है। लोग सम्पत्ति, स्वर्ण तथा अन्य गैर उत्पादनीय प्रयोगों में पूजी निवेश करना पसन्द करते हैं। इससे निवेश योग्य पूजी का एक बडा भाग अस्त व्यस्त हो जाता है। यह विकास को रोकने का काम करता है और मुद्रास्फीति शक्तियों को कार्य करने का आधार तैयार करता है। भारत ने उन तमाम समस्याओं का सामना किया है और अब भी कर रहा है, जिन्होंने देश में मुद्रास्फीति को बढाया है।

बाजार अर्थव्यवस्था और उदारीकरण नीति . इसके सामाजिक परिणाम
(Market Economy and Liberalisation Policy: Its Social Consequences)

स्वतत्रता के बाद भारत ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था, अर्थात् निजी उद्यमों में आशिक राज्य नियत्रण और आशिक स्वतत्र स्पर्धा निति, का अनुसरण करने का निश्चय किया परन्तु 1950 से 1990 तक के 40 वर्षों के अनुभव ने केन्द्रीय सरकार को 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में, आर्थिक मामलों में सरचनात्मक परिवर्तन लाने, अर्थात् समाजवाद से निजीकरण में परिवर्तन, और राष्ट्रीयकरण को सीमित करने को प्रेरित किया। फलस्वरूप, राज्य का प्रभुत्व कम होना शुरू हो गया और उदारीकरण केन्द्रीय बिन्दु बन गया। 1990 में पश्चिम में आक्रामक कार्यवाहियों के कारण तेल के मूल्यों में वृद्धि तथा विदेशी विनिमय कोष की घटती स्थिति ने भारत में गम्भीर आर्थिक सकट पैदा कर दिया। जब जनता दल की सरकार आई तब उनको इस सकट को अस्थाई रूप से हल करने के लिए बैंक आफ इग्लैण्ड के पास स्वर्ण गिरवी रखना पडा। इस कारण लाइसेंस नीति का उदारीकरण करना आवश्यक हो गया। 1990 91 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिए गए कर्ज से उत्पन्न स्थितियों के दबाव में भी उदारीकरण आवश्यक हो गया। इसने निजी पूजी बाजार को देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अधिक अवसर प्रदान किए हैं।

1990 के बाद उदारीकरण नीति अपनाने के बाद हमारे देश में कौन से आर्थिक सुधार प्रारम्भ किए गए हैं ? इनमें से कुछ इस प्रकार है (See "Parthasarthi Shome and Hiranya Mukhopadhyaya, Economic Liberalisation of the 1990's, *Economic and Political Weekly*, July 18-24, 1998 25-31)

1 लाइसेंस पद्धति के माध्यम से गुणात्मक आयात नियत्रण कम कर दिए गए हैं और लगभग सभी प्रमुख वस्तुएँ और कच्चा माल आयात के लिए मुक्त कर दिए गए हैं।

2 टैक्स ढाँचा बदल दिया गया है जिसमें निम्न परिवर्तन शामिल हैं . कच्चे माल (raw materials) में उत्पादन कर (excise tax) में कटौती, उत्पाद कर की दर में कमी, सीमा शुल्क तथा आय कर में कटौती, तथा सभी उत्पादनशील सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर की पूरी तरह समाप्ति।

3 वित्त क्षेत्र (सेक्टर) को अनेक उपायों से पुनर्सगठित किया गया है, जैसे आय मान्यता से सम्बन्धित नवीन प्रतिमानों को लागू करके तथा अलाभकारी सम्पत्ति पर 15% अग्रिम राशि देने का प्रावधान करके।

4 औद्योगिक नीति में सुधार किया गया है जिसमें औद्योगिक क्षेत्र में असगत नियमों को समाप्त करना शामिल है।

5. विदेश विनिमय नीति का पुनरीक्षण किया गया है जिसने अनेक क्षेत्रों में विदेशी पूंजी निवेश खोल दिया है।
6. मार्च 31, 2000 को सरकार ने नयी आयात-निर्यात नीति लागू करते हुए 714 वस्तुओं के आयात पर कोटा पाबन्दी हटा दी, विशेष आयात लाइसेंस को समाप्त किया, तथा दो विशेष आर्थिक क्षेत्र (zone) बनाने की घोषणा की जिनमें नियम-मुक्त व्यापार हो सकेगा।

उदारीकरण नीति को लागू करने के नौ-दस वर्षों में हमने क्या प्राप्त किया ? इसको हम निम्न स्तरों पर व्याख्या कर सकते हैं . (See Shome and Mukhopadhyay, op cit., 1917-29)

1. वृद्धि की दर (Rate of Growth)

सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी) की वृद्धि-दर में वृद्धि हुई है। जबकि 1970 के दशक में यह 3% थी,1980 के दशक में यह 4 से 5%, 1994-95 में 7%, 1995-96 में और 96-97 में बढ़कर 7 8% हो गई, लेकिन 97-98 में यह नीचे होकर 5% हो गई और फिर 98-99 में और 1999-2000 में बढ़कर 5 8% हो गई। (*India Today,* March-1999 · 43 and *The Hindustan Times,* February 25, 1999 and February 24, 2000)।

2. मुद्रास्फीति (Inflation)

सामान्य मूल्य स्तर पर मुद्रास्फीति नियन्त्रित हुई है। जब 1960 के दशक में यह 11 0% थी, 1972-75 में बढ़कर 18 5% हो गई और 1979-82 में 15 5%, 1990-93 में 11 36%, 1994-95 में 10.9%, सितम्बर 1998 में 8 8% और 2000 के सितम्बर माह के दूसरे सप्ताह में 5 94% ही रह गई। 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में मुद्रास्फीति और 1995-96 के पश्चात् इस पर तेजी के साथ नियत्रण को कुछ सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय पैट्रोलियम मूल्यों में वृद्धि और बाद में इसकी पूर्ति पर सख्ती में शिथिलता से स्पष्ट किया जा सकता है। उसके बाद तीन चार वर्षों तक मुद्रास्फीति में काफी रोक लगाई जा सकी है क्योंकि अर्थव्यवस्था में कुछ ठोस सरचनात्मक सुधार लाए गये।

3. राजस्व और व्यय (Revenue and Expenditure)

विभिन्न करों के ढांचों को तर्कसगत बना दिये जाने के बाद भी न तो राजस्व की आमद में कोई वृद्धि हुई और न ही वित्तीय घाटे में कमी आई है। वास्तव में, कर राजस्व में जी.डी.पी के अनुपात में 1990-91 में लगभग 11% की गिरावट आई (सुधारों से पूर्व), 1995-96 में लगभग 10% और इसी के आसपास 1999-2000 में। राजस्व घाटा पूरा नहीं किया जा सका है।

4. औद्योगिक निष्पादन (Industrial Performance)

1990 के दशक में हुए आर्थिक शक्तियों के उदारीकरण के प्रभाव से औद्योगिक उत्पादन में

कोई वृद्धि नहीं हुई है। सत्य तो यह है कि उत्पादन-वृद्धि में ऊपर की ओर खिसकाव में कमी रही है। 1996-97 में औद्योगिक क्षीणता या मदी (recession) की छाया उभरने लगी। 1994-95 में जो औद्योगिक उत्पादन बढ़कर 13% हो गया था, वही 1996-97 में गिरकर 6 7% और 1998-99 में 3.5% ही रह गया। (*India Today*, March 1, 1999. 42, and *The Hindustan Times*, February 25, 1999)।

5. निर्यात और विदेशी पूँजी का अन्तप्रवाह

(Exports and Foreign Capital Inflow)

1995-96 में आगे वाले वर्षों में निर्यात में कमी आई है। जब 1993-94 और 1995 96 की अवधि में निर्यात वृद्धि दर में 18 से 21% वृद्धि हुई, वहीं 1996-97 में यह 12.1% कम हुई और 1997-98 में 4 4% की गिरावट आई (*The Hindustan Times*, February 25, 1997, *India Today*, March 1, 1991 42)। 1996-97 से 1999-2000 में विदेशी मुद्रा भण्डार काफी बढ गया है (3200 करोड डालर) जो कि अर्थव्यवस्था की मजबूती को दर्शाता है।

यह आशा की जा रही थी कि उदारीकरण नीति बाह्य वित्त और व्यापार में खुलापन लाएगी, देश को अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा के समक्ष खडा कर देगी और तकनीकी का आदान प्रदान, प्रबन्धन का ज्ञान, निर्यात विपणन में पहुँच और विविधतापूर्ण निवेशक आधार लाने के लाभ साथ में लाएगी। आर्थिक विशेषज्ञों का विचार है कि ये आशाएँ सीमित स्तर तक ही पूरी हो रही हैं। यह सत्य है कि देश के बाह्य वित्तीय विकल्पों में वृद्धि हुई है लेकिन विदेशी बाजारों तक पहुँच वाले देश के लिए निजी पूँजी प्रवाह के नवीनीकरण को मजबूत और परिवर्तनशील बनाना होगा। लेकिन भारत को बाह्य वित्त के नवीन तरीकों तथा विश्व पूजी बाजार में बढती हुई सत्यनिष्ठा की भावना से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करना अभी सीखना है। यह कहा जा सकता है कि आज एक ओर तो राजस्व वसूली कम है, वित्तीय घाटा बढ रहा है (1999-2000 में राजस्व घाटा एक लाख करोड रुपया बताया गया था), और अन्य देशों से पूँजी की आमद अधिक नहीं बढी है, दूसरी ओर अनेक योजनाएँ, जैसे राजस्व आधार को बढाने के लिए प्रोत्साहनों की भरमार, मुद्रास्फीति दर में कमी, कर व्यय को कम करने के लिए राज्य सहायता (सब्सिडी) ढाँचे में सुव्यवस्थीकरण, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं जैसे बिजली, पानी के सीमान्त मूल्यों में सुधार, ढाँचागत रुकावटों को हटाना, घाटे में जा रहे सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण, तथा बीमा क्षेत्र के सुधार निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था को सुधारने का कार्य कर रहे हैं। फिर भी, गम्भीर अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर वास्तविक चिन्ता प्रकट की है, जैसे अत्यधिक निर्धनता, बेरोजगारी, सब्सिडी नीतियाँ, ऋणग्रस्तता, गुटीय राजनीति के प्रभाव, और राजनैतिक अस्थिरताएं। कुछ लोगों ने तो उदारीकरण के गुणों तक को चुनौती दे डाली है और इसको अमिश्रित वैश्वीकरण कहा है। अत 2000 के दशक में सम्पूर्ण आर्थिक प्रदर्शन का आलोचनात्मक मूल्याकन करना और उदारीकरण नीति के प्रभाव का परीक्षण करना आवश्यक है।

यजमानी व्यवस्था (The Jajmani System)

यजमानी प्रथा परम्परागत पेशेवर कर्तव्यों की एक व्यवस्था है। पुरातन भारत में जातियाँ एक दूसरे पर आर्थिक दृष्टि से निर्भर होती थी। ग्रामीण व्यक्ति के परम्परागत विशिष्ट धन्धे के साथ उसकी जाति का प्रदत्त विशिष्टीकरण भी होता था। पेशे के विशिष्टीकरण के कारण ग्रामीण समाज में सेवाओं का आदान-प्रदान चलता था। सेवक (servicing) और सेवित (served) जातियों के बीच के सम्बध सविदा पर आधारित व्यक्तिगत, गैर व्यक्तिगत, अस्थाई या सीमित नही होते थे बल्कि जाति उन्मुखी (caste-oriented), दीर्घकालीन व विस्तृत रूप से समर्थन प्रदान करने वाले होते थे। भूस्वामी एव भूमिहीन परिवारों के बीच, जो आपस में सेवाओं और वस्तुओं की पूर्ति करते हैं, सम्बन्ध दीर्घकालीन होते हैं, जिन्हें यजमानी प्रथा कहा जाता है।

हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1987 . 138-39) ने यजमानी प्रथा को संरक्षकों (patrons) एवं सेवादारों (suppliers of services) के बीच अन्तर्पारिवारिक (interfamilial) अन्तर्जातीय सम्बन्ध कहा है जो आधीनस्थ (superordinate) एव आधीनकर्ता (subordinate) के बीच होते हैं। सरक्षक लोग स्वच्छ (clean) जाति के होते हैं जबकि सेवादार अस्वच्छ एव निम्न जाति के। यह कहा जा सकता है कि यजमानी प्रथा वितरण (distribution) की व्यवस्था है जिसमें उच्च जाति के भूस्वामी परिवारों को विभिन्न निम्न जातियों, जैसे बढई (खाती), नाई, कुम्हार, लोहार, धोबी, भगी (चुहरा), आदि के द्वारा सेवाएँ या उत्पाद उपलब्ध कराए जाते है। सेवादार जातियों को 'कमीन' कहा जाता है जबकि सेव्यों (castes served) को 'यजमान' कहा जाता है। प्रदत सेवाओं के बदले सेवादारों को नकद या वस्तु के रूप में (अनाज, चारा, कपडे, दूध, आदि) भुगतान किया जाता है।

योगेन्द्र सिंह (1973 ·186) ने यजमानी व्यवस्था को एक ऐसी व्यवस्था कहा है जो गाँवों में आधारित अन्तर्जातीय सम्बन्धों में आपसी आदान प्रदान पर आधारित सम्बन्धों से नियन्त्रित होती है। ईश्वरन् (1966 41) ने यजमानी व्यवस्था के सन्दर्भ में (दक्षिण भारत में मैसूर में इसे 'आया' पुकारा जाता है) कहा है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक जाति को सामुदायिक जीवन में समग्र रूप से एक भूमिका निभानी होती है। यह भूमिका आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक कार्य करने की होती है।

मूल रूप में 'यजमान' शब्द उस सेव्य (client) को सन्दर्भित करता था जिसके लिए ब्राह्मण पुजारी कर्मकाण्ड (rituals) का सपादन करता था। बाद में यह शब्द उस सरक्षक के लिए प्रयोग किया जाने लगा जो विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करता हो। बीडमन (Beidman, 1959 : 7) ने सकेत दिया है कि सेवा और वस्तुएँ उपलब्ध कराने वालों को 'कमीन' के अतिरिक्त 'पुरजन', 'परधान' आदि नामों से भी विविध क्षेत्रों में जाना जाता है।

यजमानी सम्बन्ध (Jajmani Relations)

कभी-कभी दो या अधिक जातियों के बीच कुछ वस्तुओं की पूर्ति के आधार पर बने सम्बन्ध सविदात्मक (contractual) हो सकते हैं लेकिन यजमानी नहीं। उदाहरणार्थ, बुनकर जिसको उसके द्वारा निर्मित व बेचे जाने वाले कपडे के लिए नकद भुगतान किया जाता है, उसको

फसल में रस्मी हिस्से का अधिकार नही है। वह कमीन नहीं है और खरीदने वाला उसका यजमान नही है। पुनश्च यजमानी सम्बन्धों में भी कुछ ऐसे उत्पाद या सेवाएँ हो सकती हैं जो सविदित हों और जिनके लिए अलग से भुगतान किया जाता हो। उदाहरणार्थ, गाँव में रस्सी बनाने वाले यजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को सभी प्रकार की आवश्यक रस्सियाँ उपलब्ध करा सकते हैं किन्तु कुओं में प्रयोग की जाने वाली मोटी रस्सियों के लिए अलग से भुगतान करना पडता है।

यजमानी सम्बन्ध कर्मकाडी (ritual) मामलों तथा सामाजिक समर्थन के साथ साथ आर्थिक आदान-प्रदान को भी निश्चित करते हैं। सेवादार जातियाँ सस्कार तथा अन्य कर्मकाडी कर्त्तव्यों का पालन यजमान के घर पर जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे अवसरों पर करते हैं। डी एन मजूमदार (1958) ने उत्तर प्रदेश के लखनऊ ज़िले के एक गाँव के ठाकुर परिवार (राजपूत जाति के) का उदाहरण दिया है जिसकी जीवनचक्रीय सस्कारों के लिए दस से अधिक जातियों द्वारा सेवा की जाती है। उदाहरण के लिए, बच्चे के जन्म पर दावत के समय ब्राह्मण 'नामकरण सस्कार' सम्पन्न कराता है, स्वर्णकार नवजात शिशु के लिए स्वर्ण आभूषण उपलब्ध कराता है, धोबी गन्दे वस्त्र धोता है, नाई निमत्रण व सन्देश देता है, खाती वह पटला उपलब्ध कराता है जिस पर बच्चे को नामकरण के समय बिठाया जाता है, लोहार लोहे का कडा देता है, कुम्हार कुठार देता है जिसमें तैयार सब्जिया और पानी रखा जाता है, पासी भोजन के लिए पत्तलें उपलब्ध कराता है, और दावत के बाद भगी दावत स्थान की सफाई करता है। सभी को भेंट, भोजन, पैसा और कपडे प्रदान किए जाते हैं जो कि यजमान के प्रभाव और प्राप्तकर्ता की विनम्रता पर निर्भर करता है।

कमीन लोग भी (निम्न जाति के) जो अपने यजमानों के लिए विशिष्ट सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं दूसरों से सेवाएं और वस्तुएँ चाहते हैं। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1987 169-170) के अनुसार निम्न जाति के लोग या तो प्रत्यक्ष श्रम विनिमय द्वारा या नकद या वस्तु के रूप में भुगतान कर के अपने स्वय के लिए यजमानी प्रबन्ध कर लेते हैं। मध्यम जातियों के लोग भी निम्न जातियों की तरह एक दूसरे की सेवाओं का आदान-प्रदान या तो नकद भुगतान या सेवाओं द्वारा भरपाई कर लेते हैं।

कमीन लोग अपने यजमानों के लिए न केवल वस्तुएँ उपलब्ध कराते हैं बल्कि वे कार्य भी करते हैं जो उनके यजमानों को दूषित (अपवित्र) करते हैं , उदाहरणार्थ, गन्दे कपडों का धोना (धोबी द्वारा), बाल काटना (नाई द्वारा), नवजात का जन्म कराना, (नाइन द्वारा), शौच स्थान की सफाई (भगी द्वारा), और इसी प्रकार के कार्य। यद्यपि धोबी, नाई, लोहार, आदि स्वय निम्न जातियों में गिने जाते हैं तथापि वे हरिजनों के लिए 'कमीनों' की तरह सेवा नहीं करते और न ही ब्राह्मण लोग इन लोगों को अपना यजमान मानते हैं। फिर भी जब निम्न जाति के परिवार समृद्ध होते हैं तब वे अपने दूषित पेशों को छोड देते हैं और अपने सेवा के लिए सस्कार विशेषज्ञों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं (और सफल भी होते हैं)।

यजमानी सम्बन्ध जातियों की अपेक्षा परिवारों में होते हैं। इस तरह राजपूतों का परिवार गाँव के लोहार जाति के एक परिवार से धातु उपकरणों को बनवाता है, न कि सभी लोहारों से। लोहारों का यही विशेष परिवार राजपूतों के उस परिवार की फसल में से हिस्सा

पाएगा, न कि सभी लोहार परिवार। दो-परिवारों के बीच (लोहार और राजपूत) का यह सम्बन्ध टिकाऊ होता है क्योंकि लोहार उसी राजपूत परिवार की सेवा करता है जिसमें उसके पिता और बाबा सेवा करते थे। राजपूत परिवार भी अपने उपकरण व उनकी मरम्मत उसी लोहार परिवार की सन्तानों से कराता है जिसके पूर्वज उस राजपूत परिवार के पूर्वजों से कराते थे। यदि कोई सम्बद्ध परिवार समाप्त हो जाये तो उसके वंश का कोई दूसरा परिवार स्थान ले लेता है। उदाहरण के लिए उपरोक्त मामले में यदि लोहार के परिवार में एक से अधिक पुत्र हों, जिनकी देखभाल राजपूत परिवार न कर सके तो इस दशा में वे ऐसे स्थानों में सहयोग लेने चले जाते हैं जिनमें लोहारों की कमी होती है।

ओरेन्सटीन (Orenstein, 1962 · 310-14) ने माना है कि गाँव के अधिकारियों या गाँव के नौकरों के परिवार (जैसे चौकीदार) किसी विशेष परिवार की अपेक्षा सारे गाँव से यजमानी सम्बन्ध बनाए रखते हैं। इस प्रकार चौकीदार के परिवार को गाव के प्रत्येक भूस्वामी किसान परिवार से फसल में से योगदान मिलता है। गाँव के नौकर लोग (servants) भी गांव की भूमि का कर-मुक्त प्रयोग कर सकते हैं। सेवादारों के कुछ परिवार, व्यक्तिगत परिवारों की अपेक्षा गाँव के किसी हिस्से से यजमानी सम्बन्ध रखते हैं। इन परिवारों को गाँव के उस हिस्से में रहने वाले सभी परिवारों की सेवा का हक होता है।

यजमानी प्रथा के सन्दर्भ में कोलेन्डा (Kolenda, 1963 · 11-31) ने कहा है "हिन्दू यजमानी व्यवस्था भूमिकाओं और प्रतिमानों के जाल व एक व्यवस्था के रूप में जकडे हुए भारतीय ग्रामों की एक संस्था या सामाजिक व्यवस्था है जो कि सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा समर्थित व विधिमान्य होती है"। यजमानी व्यवस्था में विश्लेषण योग्य प्रश्न निम्न हैं इस व्यवस्था का कार्य क्या है ? इस व्यवस्था में क्या शक्तियाँ व अधिकार वितरित हैं ? यजमानी व्यवस्था अन्य प्रथाओं से किस प्रकार सम्बन्धित है ? यजमानी व्यवस्था को बनाए रखने के पीछे प्रेरणा क्या है ? इस व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए हैं ?

प्रकार्य एव भूमिकाएँ (Functions and Roles)

यजमानी व्यवस्था के कार्यों का विश्लेषण करते हुए लीच (Leach, 1960) ने कहा है कि यजमानी व्यवस्था जातियों में आपसी आर्थिक निर्भरता और श्रम विभाजन को नियमित बनाए रखती है। वाइजर (Wiser, 1967 35) के अनुसार यजमानी व्यवस्था भारतीय ग्रामों को आत्म निर्भर समुदाय के रूप में बनाएँ रखने में सहायक होती है। गूल्ड (1987) ने कहा है कि यह (यजमानी व्यवस्था) सेवा कार्यों और शिल्प सेवाओं के बदले में कृषि उत्पादन का वितरण करती है। बीडिलमैन (Beidelman, 1959) का मत है कि यह (यजमानी व्यवस्था) उच्च जातियों की प्रतिष्ठा बनाए रखती है।

यजमानी व्यवस्था में निहित भूमिकाएँ यजमानों और कमीनों की हैं। कमीन जातियाँ यजमान जातियों के लिए कुछ पेशेवर, आर्थिक व सामाजिक सेवाएँ करतीं हैं जिसके बदले में यजमान उन्हें विशिष्ट अवसरों या निश्चित अवधि के बाद भुगतान करते हैं, यद्यपि सभी जातियाँ इस आपसी लेनदेन में आवश्यक रूप से भाग नहीं लेतीं। उदाहरणार्थ, तेली ऐसी जाति है जो आमतौर पर विनिमय सेवाओं में नहीं होती। कमीनों के यजमान उनके अपने

गाँव और अन्य गाँवों में भी होते हैं। एक कमीन अपने सेव्य के प्रति अधिकारों को दूसरे कमीन को बेच सकता है। भूमिका सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण हैं मुफ्त भोजन, कपडे, आवास, लगान-मुक्त भूमि, आकस्मिक सहायता, मुकदमें में सहायता, तथा जीवन में संकट के समय यजमानों द्वारा कमीनों की सुरक्षा।

यजमानी व्यवस्था सभी गाँवों में पारस्परिक (अन्योन्य) (reciprocal) नहीं है। कोलेन्डा (Kolenda, 1963 11-32) ने माना है कि शक्तिशाली जातियाँ भारत के अनेक गाँवों में इन सम्बन्धों में शक्ति सन्तुलन बनाए रखते हैं। योगन्द्र सिंह (1973 : 187) भी मानते हैं कि भारत के गाँव आर्थिक सस्थाओं, शक्ति सरचना और अन्तर्जातीय सम्बन्धों की दृष्टि से बदल रहे हैं। आर्थिक परिवर्तन का प्रमुख स्रोत भूमि सुधार भी है जो बिचौलियों की समाप्ति, किराएदारी सुधार (tenancy reforms), चकबन्दी, भूमि पुनर्वितरण, सहकारी खेती का विकास, और भूदान द्वारा लागू किए गए हैं। इन सब उपायों से जातियों के बीच अन्तर्क्रिया, यजमानी व्यवस्था, तथा ग्रामीण व्यवस्था पर प्रभाव पडा है।

प्रतिमान एव मूल्य (Norms and Values)

देश के सभी क्षेत्रों में भुगतान का परम्परागत तरीका यह रहा है कि यह फसल के समय पर ही किया जाता है जब प्रत्येक भूस्वामी परिवार विविध कमीनों को नवीन उत्पादित अनाज में से कुछ हिस्सा देते हैं। परन्तु फसली भुगतान यजमान परिवार को प्राप्त होने वाले हिस्से में से ही होता है। कमीन अपने यजमान पर मकान की जमीन के लिए, पशुओं के चरागाह स्थल के लिए, लकडी और उपले के लिए, औजारों के लिए तथा ऋण आदि के लिए निर्भर रहता है। इसके साथ साथ यजमान उसको कपडे और सस्कारों (rituals) के अवसरों पर भेंट आदि देता है और आडे वक्त पर ऋण भी प्रदान कर के सहायता करता है।

वाइजर (Wiser, 1956) ने सत्रह बिन्दु बताए हैं जो कमीन अपने यजमानों से प्राप्त करता है। हैरोल्ड गूल्ड (1985 140 141) ने भी 1954-55 में फैजाबाद (उत्तरप्रदेश) जिले के गाँव शेरूपुर में यजमानी प्रथा के अध्ययन के दौरान यजमानी बन्धनों में इन्हीं बिन्दुओं को महत्त्वपूर्ण पाया। इनमें से कुछ विचारणीय बिन्दु हैं मुफ्त आवास स्थल, परिवार के लिए मुफ्त भोजन, मुफ्त उपले, बिना किराए का मकान, कर्ज सुविधाएँ, पूरक रोजगार के अवसर, उपकरणों एव पशुओं का मुफ्त प्रयोग, मुफ्त खालें, मुकदमें में मदद, अन्तिम संस्कार के समय लकडी, और कच्चे माल का मुफ्त प्रयोग, आदि। हैरोल्ड गूल्ड ने पुरजनों की सेवाओं के बदले यजमानों द्वारा किए जाने वाले भुगतान की दर का भी अध्ययन किया। उदाहरणार्थ, 1954-55 में एक ब्राह्मण को फसल काटने के समय एक परिवार से 15 किलोग्राम अनाज मिलता था, कोरी (जुलाहा) को 15 किलो अनाज और 20 रुपये प्रति माह प्रति यजमान, कुम्हार, नाई और लोहार को 8 किलो अनाज प्रति परिवार प्रति फसल, और धोबी को प्रति परिवार प्रति फसल 4 किलो अनाज मिलता था।

सेवित गाँवों में सभी यजमानों से प्राप्त एक कमीन परिवार की अनाज की आमदनी का उदाहरण देते हुए हैरोल्ड गूल्ड कहते हैं कि अपने अध्ययन वाले गाँव में उन्होंने पाया कि (1954-55 में) नाई को एक साल में लगभग 312 किलो अनाज प्राप्त हुआ। यह अनाज

उसको 25 एकांकी परिवारों वाले 15 सयुक्त परिवारों से प्राप्त हुआ। यजमानी सम्बन्धों को अन्य भिन्न जातियों के साथ सम्बन्धों को लेकर गूल्ड ने देखा कि गाँव शेरूपुर में सभी यजमानों ने 2,039 किलो अनाज एक वर्ष में सभी 'पुरजन' परिवारों को दिया। गाँव में 228 लोगों के 43 परिवार थे, इनमें से केवल 19 परिवार ही यजमान थे (जो सेवाए लेते थे और अनाज देते थे)। इससे आर्थिक अन्तर्क्रिया के विस्तार का पता चलता है।

कमजोर वर्ष में यजमान किसान अपने कमीनों को अधिक अन्न नही देता लेकिन जब उसकी फसल अच्छी होती है तब वह उन कमीनों को अधिक अनाज देने को बुरा नही समझता, जिन्होंने उसकी अच्छी सेवा की हो। फिर भी, यदि कमीन यजमान के प्रति काम में लापरवाही करता है, जैसे कि उपकरणों की मरम्मत में या धोबी अधिक कपडे फाड लाए, तब यजमान उसे अधिक नही देता। इसी प्रकार कमीन भी उसी हिसाब से अपनी सेवाएँ देता है जैसा उसको भुगतान मिलता है। एमएन श्रीनिवास (1955 11-13) के अनुसार भी जो यजमान अनाज देते हैं वे अच्छे माने जाते हैं अपेक्षाकृत नकद भुगतान करने वालों के।

यजमानों और कमीनों के बीच शक्ति आवटन के विषय में, बीडिलमैन (Beidelman, 1959) के अनुसार, सास्कारिक शुद्धि या अपवित्रता महत्वपूर्ण नही है। निम्न जाति का व्यक्ति, भले ही वह यजमान हो, उच्च स्तर वाली जाति के कमीन से नीचा ही समझा जाता है। उच्च जाति की शक्ति भू-स्वामित्व तथा सम्पत्ति पर आधारित होती है और कमीनों के पास यह शक्ति नही होती। हैरोल्ड गूल्ड (1987 173) ने स्वीकार किया है, "मूल रूप से अन्तर एक तरफ भूस्वामी कृषक जातियों (जो सामाजिक व्यवस्था के अधिपति है) और दूसरी तरफ भूमिहीन शिल्पी व सेवक जातियों (जो उनके आधीन हैं) के बीच पाया जाता है। पोकाक (Pocock, 1963 .79) ने भी इसी प्रकार कहा है, "यदि यजमानी सम्बन्धों में व्यवस्था नही है, तो उनमें सगठन है। वे (सबध) एक ही सस्था— उस क्षेत्र की प्रभुत्व वाली (dominant) जाति—के चारों ओर व्यवस्थित हैं।

यजमानों और कमीनों के लिए कर्तव्यों, अधिकारों, भुगतान तथा सुविधाओं से सम्बन्धित कुछ प्रतिमान हैं। यजमान को अपने कमीनों के प्रति सरक्षक भाव रखना पडता है तथा उनकी माँगों को पूरा करना पडता है। कमीन को भी पुत्र की तरह अपने पिता सम यजमान के प्रति व्यवहार करना पडता है। उसे अपने यजमान के गुटीय विवादों में उसका समर्थन करना पडता है।

यजमानी प्रथा में दानशीलता और उदारता, धार्मिक कर्तव्य तथा असमानता ईश्वरीय देन समझी जाती है जो कि सास्कृतिक मूल्य माने जाते हैं। पवित्र, अर्ध पवित्र और धर्म निरपेक्ष हिन्दू साहित्य तथा मौखिक परम्पराएँ यजमान-कमीन सम्बन्धों को अधिकृत व न्यायसगत मानते हैं। जाति पचायत को गलती करने वाले यजमानों और कमीनों को दण्ड देने का अधिकार होता है। साथ ही, मान्यताएँ यह अनुमति भी देती हैं कि कमीन आवश्यक सेवाएँ प्रदान न करे और यजमान कमीन को लगान पर दी गई भूमि ले सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि एक कुम्हार परिवार दूसरे के यजमानों में घुसपैठ का प्रयन्त करता है तो आहत कुम्हार अपनी जाति पचायत में उस घुसपैठिये को खदेडने का निवेदन करता है। यदि गाँव के कुम्हार विश्वास करते हैं कि यजमान किसान उनके प्रति उदासीन है तब कुम्हार

लोग यजमान किसानों से नाता तोडने का प्रयत्न कर सकते हैं, जब तक कि किसान यजमान अपने बुरे व्यवहार को ठीक न कर लें।

यजमानी व्यवस्था : एक शोषणीय व्यवस्था
(Jajmani System : An Exploitative System)

क्या यजमानी व्यवस्था एक शोषणीय प्रथा है ? क्या यजमान कमीनों को थोडा सा अनाज या नकद या अन्य कुछ देकर उनका शोषण करते हैं ? बीडिलमैन (Beidelman, 1959) यजमानों को 'शोषक' और कमीन को 'शोषित' मानते हैं तथा व्यवस्था को 'सामन्ती' गुणों वाली मानते हैं। वह यजमानी प्रथा को उच्च जातीय हिन्दुओं के द्वारा नियन्त्रण, विधिमान्यीकरण, तथा शासन करने के लिए एक प्रमुख साधन के रूप में मानते हैं। इसी प्रकार ल्यूइस और बरमौ (Lewis and Barmouw, 1956) के विचार से धनी और प्रभावशाली यजमानों और निर्धन भूमिहीन कमीनों के बीच का अन्तर ही कमीनों के शोषण का कारण है और उन्हें शक्तिशाली और उच्च स्थान वाले लोगों के शासन में या आधीन रहने को बाध्य करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यजमानी प्रथा में कोई बाध्यता या प्रभुत्व वाली बात नही है। *प्रथम*, कमीन लोग अपनी रोजी रोटी के लिये यजमानों पर निर्भर नही रहते। वे अपनी वस्तुओं को बेचने और सेवाओं को उनको देने के लिए स्वतत्र होते हैं जो उन्हें नकद भुगतान करते हैं। *दूसरे*, जब कमीन महसूस करते हैं कि उनके साथ अन्याय हुआ है तब वे अपनी जाति की पचायत करते हैं जो यजमानों को उनकी माँगों को पूरा करने के लिए बाध्य करते हैं। इसी प्रकार जब भूस्वामी यजमान ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके किसी कमीन ने काम में कोताही की है या यजमान के पद और गरिमा को ठेस पहुंचाई है या चुनौती दी है, यजमान परिवार मिलकर उनके भुगतान रोक कर या अन्य प्रकार से उन पर दबाव डाल सकते हैं। फिर भी किसी भी तरफ से सामूहिक कार्यवाही सम्पूर्ण जाति के हितों को प्रभावित नही करती। जातीय एकता यजमानी समूह के प्रति निष्ठा से कही ऊपर होती है। *तृतीय*, यजमान अपने कमीनों से पैतृक तरह से व्यवहार करते हैं और उनके सकट में सहायता करते हैं। *चौथे*, यजमानी नियम इतने लचीले होते हैं कि उनका अर्थ किसी भी प्रकार से लगाया जा सकता है और सेवा प्रबन्धों में परिवर्तन किया जा सकता है। प्रत्येक यजमानी सम्बन्ध में निश्चित समय पर न्यूनतम मापदण्ड बनाए रखे जाते हैं। *अन्तिम*, उच्च जाति के सदस्य दूषित व विशिष्ट कार्यों से बचना चाहते हैं। अत. उन्हें उन परिवारों पर निर्भर रहना पडता है जो उन्हें वाँछनीय सेवाएँ व वस्तुएँ प्रदान करें। यजमानी आदान-प्रदान को आपसी लाभकारी समझते हुए वे अपने कमीनों की अनर्गल माँगों को भी कभी-कभी सहन करते हैं, जैसे कि कमीन अपने यजमानों का दबाव सहन करते है। अत यजमानी प्रथा को शोषणात्मक समझना अतर्कसगत होगा। राव (1961), कोलेन्डा (Kolenda, 1963 : 21-29), ओरेन्सटीन (Orenstein, 1962) और हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1985) की भी यही मान्यता है कि यजमानी व्यवस्था को निर्दयी शोषणात्मक कह कर निन्दा करना चौंकाने वाला शीघ्रता में किया हुआ सामान्यीकरण है। हैरोल्ड गूल्ड (1987 : 176-177) ने कहा है कि यजमानी प्रथा का ऐसा विश्लेषण जो इसे सामन्ती व्यवस्था का हिस्सा मानता हो अविश्वसनीय है। इस प्रथा का महत्व किसी भी आर्थिक क्रिया के सामने कम है। यह प्रथा

किसी तर्कयुक्त आर्थिक प्रेरक (motivations) के कारण टिकी हुई नही है बल्कि सामाजिक स्थिति तथा उस सामाजिक अन्तर्क्रिया के स्वरूपों को बनाए रखने में इसके महत्व को देखते हुए भी जो कि ग्रामीण हिन्दूवाद के सफल अभ्यास के लिए आवश्यक है, टिकी हुई है। यजमान प्रमुख रूप से आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से समरसता वाला (homogeneous) समूह नही है, बल्कि यह तो एक धार्मिक-आर्थिक समूह है जो भारतीय सभ्यता में विशेष रूप से समाहित है। यजमानों और सेवादारों के बीच का बन्धन समान धार्मिक-आर्थिक सम्बन्धों का लाभ उठाना है, न कि समाज में धन व शक्ति के स्रोतों में समान सम्बन्धों का।

अत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि यजमानी प्रथा में यजमान की स्थिति न तो जमींदार वर्ग के साथ और न ही प्रभुत्व सम्पन्न जाति के साथ मिलती है और न ही यह किसी विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता पर निर्भर करती है, बल्कि यह तो भूमि के स्वामित्व, या किसी भी साधन से भूमि से प्राप्त उत्पादन पर निर्भर रहती है। मेयर (1960), माथुर (1958) और पोकाक (1963) ने भी माना है कि कृषि भूमि तक पहुँच भारत में हमेशा जाति-मुक्त (caste free) रही है जिसका अर्थ है कि यजमान स्थिति की कुछ समानता बनाए रखने के सामान्य साधन श्रेणीक्रम (hierarchy) में किसी भी जाति के सदस्यों के लिए सदैव उपलब्ध रहे हैं। हैरोल्ड गूल्ड (1987 177) का अनुसरण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यजमानों को (सामाजिक वर्ग के रूप में) शोषक की दृष्टि से नही देखा जा सकता। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि यजमानों द्वारा कमीनों को दी जाने वाली राशि वर्तमान में कम है जिसके कारण वे अन्य साधनों से नकद आय ढूढने के लिए बाध्य होते हैं। दूसरी ओर, यजमान की स्थिति (पुरानी सामाजिक व्यवस्था में भी) केवल भूमि के आधार पर कुलीनता तक कभी भी सीमित नही रही। दूसरी जाति के लोगों को भी यजमान बनने के अवसर प्राप्त थे। लेकिन यजमान होना और वर्तमान प्रभावशाली राजनैतिक व्यवस्था का हिस्सा होना स्वत साथ-साथ अन्तिम पड़ाव नही थे। राजनैतिक श्रेणीक्रम की सदस्यता उस शक्ति और भौतिकता को प्राप्त करने का जिसे वह यजमान होकर प्राप्त कर सकता था, केवल एक साधन मात्र था। यह कोई एकान्तिक साधन (exclusive means) नहीं था।

यजमान होने का अर्थ था एक रूढिवादी हिन्दू होना जिसका मूल्य व्यवस्था में कुछ विशेषज्ञों (सेवक जातियों) के साथ सम्पर्क बनाना आवश्यक था। जमींदार होने का मतलब होता था शासक वर्ग का होना (Harold Gould, 1987 185)। यजमान कमीन का शोषक नहीं था यद्यपि जमींदार 'शोषक' हो सकता था। 'यजमान' बनने की इच्छा होना 'सामन्ती स्थिति' या 'कमजोरों के शोषण की ओर झुकाव' का होना नही है बल्कि कुछ रिवाजों का पालन करने और अपवित्र जीवन से बचने की इच्छा है।

यजमानी प्रथा में परिवर्तन (Changes in Jajmani System)

यजमानी व्यवस्था का जाति व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, भू-स्वामी व्यवस्था, नातेदारी व्यवस्था और गाँव के राजनैतिक वर्तमान में इन सभी व्यवस्थाओं में आने वाले परिवर्तनों ने यजमानी व्यवस्था की कार्यप्रणाली को भी प्रभावित किया है। विगत पाँच या छ दशाब्दियों में यजमानी प्रथा को प्रभावित करने वाले प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं गाँव के बुजुर्गों की

पंचायत की शक्तियों में कमी, कमीनों द्वारा की जाने वाली सेवाओं की गुणवत्ता पर फैक्टरी तथा औद्योगीकरण का प्रभाव, जाति प्रथा की सख्तियों में शिथिलता, शिक्षा का प्रसार, मध्यम और निम्न जातियों के लोगों का भौतिक सुविधाओं और नौकरी की तलाश में शहरों की ओर प्रव्रजन, जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि सुधारों का लागू होना, शहरी क्षेत्रों में अच्छा रोजगार मिलना, आधुनिक यातायात की सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण बाजार के लेनेदेन में सुविधा, आदि। इन सभी कारकों के कारण अनेक गाँवों में यजमानी प्रथा या तो कमजोर हो गई है या समाप्त हो गई है। शिल्पियों को अपनी चीजों के बदले में नकद मूल्य अधिक अच्छा लगता है। जिन किसानों के पास पैसा है वे बाजार से अच्छी गुणवत्ता वाली वस्तुएँ खरीदना अच्छा समझते हैं। प्रभुत्व वाली जातिया कमीनों से समर्थन लेने की अपेक्षा राजनैतिक सहायता लेना अच्छा मानते है। यह कोई आश्चर्य नही है कि वर्तमान में यजमानी प्रथा काफी कमजोर पड गई है। इरावती कर्वे और वाई बी डामले (1963 :151-152) ने महाराष्ट्र के पाँच गाँवों में 1962 में किए गए सर्वेक्षण में दो-तिहाई उत्तरदाता (326 में से 222) और बोस और जोधा (1965 118-123) ने 80% उत्तरदाता (129 में से 111), (1963 में पश्चिम राजस्थान के बाडमेर जिले में सर्वेक्षण में) यजमानी प्रथा के पक्ष में पाए। इसके मुख्य कारण थे आर्थिक लाभ, कर्मकाड सेवाओं की उपलब्धि, अपने गुटीय सघर्षों में कुछ परिवारों या जातियों के भूस्वामियों का विश्वस्त सहयोग लेना, आपात काल में अपने सरक्षकों का सरक्षण प्राप्त करना, आदि। सत्य यह है कि हाल के वर्षों में यजमानी सम्बन्ध बहुत कमजोर हो गए हैं। अब गाँव की अर्थव्यवस्था यजमानी लेने-देन पर नहीं चलती। बीडिलमैन भी इस मत के हैं कि इसमें सन्देह है कि यजमानी प्रथा भविष्य में रहेगी भी या नही।

आर्थिक विकास इसके निर्धारक और सामाजिक परिणाम

(Economic Development : Its Determinants and Social Consequences)

आर्थिक विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययन में समाजशास्त्रीय औचित्य के कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं आर्थिक विकास क्या है ? आर्थिक वृद्धि कैसे शुरू होती है ? आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार के मूलभूत ढाँचे की आवश्यकता होती है ? आर्थिक परिवर्तन के लिए पूर्व दशाएँ क्या होनी चाहिए और इनको किस प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है ? क्या उन कारकों को जो आर्थिक विकास को गति प्रदान करते हैं पहचाना जा सकता है ? क्या आर्थिक विकास के बीच आने वाली सामाजिक तथा सास्कृतिक रुकावटों पर विजय प्राप्त की जा सकती है और इसकी गति में वृद्धि की जा सकती है ? आर्थिक विकास के सामाजिक परिणाम क्या हो सकते हैं ? आर्थिक विकास के विकार्यात्मक (dysfunctional) पक्षों को कैसे रोका जा सकता है ?

आर्थिक विकास क्या है (What is Economic Development ?)

विस्तृत अर्थों में, आर्थिक विकास को "किसी भी स्रोत से वास्तविक आय में प्रति व्यक्ति वृद्धि" के रूप में देखा जा सकता है (Robert Faris, 1964 : 889)। बैच (Bach, 1960: 167) ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है : "अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के कुल

उत्पादन में वृद्धि ही आर्थिक विकास है।" डैविड नोवाक (David Novack, 1964 · 151) ने आर्थिक विकास को एक पुरानी परिभाषा के सन्दर्भ में समझाया है "यह प्रति व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग में निरन्तर ठोस वृद्धि है।" आर्थिक वस्तुओं का ठोस उपभोग तभी सम्भव है जब आर्थिक वस्तुओं का ठोस रूप में उत्पादन हो और ठोस उत्पादन आजकल अधिक तकनीकी उपयोग पर निर्भर करता है। सकुचित अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास का अर्थ है : "आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में निर्जीव शक्ति व अन्य तकनीकियों का विस्तृत प्रयोग" (Robert Faris, वही, 889)। इस अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से आर्थिक विकास केवल औद्योगीकरण ही है सही नही होगा क्योंकि उत्पादन में शक्ति और अन्य तकनीकियों के प्रयोग के साथ-साथ इसमें श्रम गतिशीलता, विस्तृत शिक्षा पद्धति, आदि भी शामिल हैं।

जेफ और स्टिूवर्ट (Jaffe and Stewart) जिन्होंने विकास को आर्थिक उत्पादन के युक्तीकरण (rationalisation) के रूप में वर्णन किया है, उन्होंने विकसित और कम विकसित देशों में द्विभाजन (dichotomy) किया है, जिसका आधार हैं प्रति व्यक्ति आय तथा कुछ अन्य कारक, जैसे उच्च शिक्षा स्तर, लम्बी अवधि के जीवन की जन्म के समय आकाक्षा, निम्न उर्वरता (fertility), कृषि में सलग्न श्रम शक्ति का अनुपात, और प्रति व्यक्ति बिजली का उच्च उत्पादन, आदि। इसके अतिरिक्त इस वर्गीकरण में हम एक तीसरी श्रेणी भी जोड सकते हैं—वे देश जो विकसित और कम विकसित देशों के बीच हैं, अर्थात् विकासशील देश। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, और पश्चिमी यूरोप के देश (इटली, फ्रास, जर्मनी, इग्लैण्ड) विकसित देश माने जाते हैं। दूसरी ओर, दक्षिण अफ्रीका, मेक्सिको और दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकतर देश विकासशील देश है। भारत भी प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विकासशील देश है।

जेफ और स्टिूवर्ट ने कहा है कि उपरोक्त सभी विशेषताओं (विकसित देशों की) को प्राप्त करने के लिए आर्थिक विकास के हर क्षेत्र में परिवर्तन आवश्यक हैं। परन्तु राबर्ट फैरिस का विश्वास है कि यह निष्कर्ष (कि आर्थिक विकास के लिए हर चीज को तुरन्त प्राप्त करना) न्याय सगत नही है। उसका मानना है कि यद्यपि इसका (आर्थिक विकास का) निकटतम माप प्रति व्यक्ति की वास्तविकता आय में वृद्धि से लिया जा सकता है, लेकिन अन्य परिवर्तन आवश्यकता के स्तर पर निर्भर करेंगे।

आर्थिक विकास के निर्धारक तथा रुकावटे
(Determinants of and Barriers to Economic Changes)

किसी समाज की आर्थिक प्रगति में योगदान देने वाले कारक जो आमतौर पर माने जाते हैं, वे हैं · प्राकृतिक ससाधन, पूजी समह, प्रौद्योगिकी ऊर्जा (power) के साधन, मानव शक्ति, श्रम शक्ति, जनसख्या की विशेषताएँ और इसके आर्थिक सगठन, और सामाजिक वातावरण। पूर्वापेक्षाओं (prerequites) की बात करते हुए राबर्ट फैरिस (1964 · 890) ने कहा है कि आर्थिक विकास की महत्वपूर्ण पूर्वापेक्षाएँ इस प्रकार हैं (i) मूल्य या विचारधारा (ideology), (ii) सस्थाएँ अथवा नियामक ग्रन्थिया (normative complexes) यानी एकमत से व्यवहार सबधी नियमों को स्वीकारना या व्यवहार के सामान्य रूप से अनुमोदित

प्रचलन का पालन करना, (iii) सगठन (नीतियां), अर्थात् क्या सरकार निजी या सार्वजनिक क्षेत्र को या दोनों को आगे बढाना चाहती हैं, और (iv) लाभ और प्रतिष्ठा सबधी प्रेरक (प्रोत्साहन)। गुन्नार मिरडल (Gunnar Myrdal) "एशियन ड्रामा" पुस्तक के तीन भागों में, जिसमें उन्होंने दक्षिण एशिया के देशों की गरीबी और विकास का विश्लेषण किया है, विकास को प्रभावित करने वाले छ महत्त्वपूर्ण कारक बताएं हैं (1968 1942) : पैदावार (output) व आय, उत्पादन की दशाएँ, जीवन के स्तर, कार्य के प्रति दृष्टिकोण, सस्थाएँ व राजनीति। प्रथम तीन आर्थिक कारकों के सन्दर्भ में हैं, अगले दो गैर-आर्थिक, और अन्तिम मिश्रित श्रेणी के सन्दर्भ में हैं। मिरडल का मानना है कि आर्थिक कारक निर्णायक व महत्त्वपूर्ण हैं।

नोवाक (Novack, 1964 156) मानते हैं कि कम विकास के प्रमुख कारक हैं · पूजी की कमी, निम्न औद्योगिक जनसख्या, और प्राकृतिक ससाधनों की कमी। दूसरी ओर आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाओं में पूजी, तकनीकी गुणवत्ता और प्राकृतिक ससाधन, आदि प्रमुख हैं। उनका मानना यह भी है कि कम विकसित क्षेत्रों म आर्थिक विकास में रुकावट डालने वाले कारक हैं (i) नवीनता (innovation) की यथेष्ट की मात्रा में कमी, (ii) कृषि सम्बन्धी सुधारों में कमी, (iii) अनुशासन की कमी (iv) जनसख्या वृद्धि और (v) विदेशी विनिमय (foreign exchange) की कमी।

जेकब वाइनर (See, Jean Meynaud, 1963) ने आर्थिक विकास की छ रुकावटों को सन्दर्भित किया है। यह हैं प्रतिकूल भौतिक वातावरण, कार्यरत जनसख्या की निम्न गुणवत्ता (low quality), तकनीकी ज्ञान की कमी, पूजी की कमी, जनसख्या में तीव्र वृद्धि, तथा कृषि भूमि सरचना में दोष।

यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट सुधारों के कारण पूँजीवाद के उदय एव विकास का रास्ता, समाज और उसकी सस्थाओं के दृष्टिकोण में आए परिवर्तनों के कारण खुल गया। इसी आधार पर प्रोटेस्टेन्ट नैतिकता का विकास हुआ जो कि आर्थिक विकास के लिए अनुकूल था। यूरोप की इस घटना के विषय में लिखते हुए मैक्स वेबर ने पूजीवादी समाज की उन सस्थाओं पर बल दिया है जो पश्चिम में आर्थिक विकास से जुडी हुई हैं। ये हैं (1) निजी स्वामित्व और उत्पादन के साधनों का नियत्रण, (2) रुकावटें तथा सरकार द्वारा मूल्य निर्धारण, (3) गणनीय (calculable) कानूनों का शासन जो लोगों को पूर्व में ही जानकारी देते हैं कि आर्थिक जीवन में किन नियमों के अन्तर्गत वे कार्य करें। (4) मजदूरी व काम करने के लिए लोगों को आजादी, (5) पारिश्रमिक (wages) और मूल्यों (price) की बाजार व्यवस्था के माध्यम से आर्थिक जीवन का व्यापारीकरण (commercialism) ताकि उत्पादन ससाधनों (productive resources) को क्रियाशील बनाया जा सके और उन्हें ठीक से बाँटा जा सके। (6) पूर्वानुमान (speculation) और जोखिम उठाना (risk-taking) जो पहले के सामती समाजों में काफी प्रतिरोधी थे। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस विचारधारा में दोष पाए हैं।

भारत मे आर्थिक विकास मे बाधाएँ

(Obstacles to Economic Development in India)

उपरोक्त तथ्य भारत में आर्थिक विकास में आने वाली बाधाओं को समझने में सहायक हैं। थॉमस शी (Thomas Shea, see Jean Meynaud, 1963) के अनुसार, भारत में चार

प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं : जाति, भूमि पट्टेधारी (land tenure) का तरीका (pattern), जनसख्या वृद्धि, और सम्पत्ति कानून (जिससे भूमि के अधिक टुकडे होते हैं।)

एआरदेसाई (1959 : 130) द्वारा बताई गई आर्थिक विकास में मूल बाधाए हैं· (a) अतीत से हस्तान्तरित सामाजिक ढाँचा और सस्थात्मक सरचना व मूल्य (अर्थात् जाति प्रथा) और (b) निष्ठाओं का अनुलम्बन (persistence)।

यद्यपि भारत में जाति प्रथा सिद्धान्त रूप में तथा सवैधानिक रूप से समाप्त कर दी गई है, लेकिन वास्तविक जीवन में इसका महत्व, आर्थिक विकास पर इसका प्रभाव, सम्पत्ति सम्बन्धों के आदर्शों और उपभोग के तरीकों पर इसका प्रभाव, तथा सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों के शक्ति के ढाँचे की सस्थिति (configurations) पर प्रभाव आज भी अच्छी तरह नही समझा गया है, इसलिए इसको गम्भीर रूप से नजर अन्दाज किया गया है। गतिशील आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक लोगों की गतिशीलता को जाति रोकती है। यह कुछ समूहों को कुछ पेशे अपनाने से रोकती है, तथा आर्थिक व्यवहार के कुछ आदर्शों और उपभोग के कुछ स्वरूपों को भी अपनाने से रोकती है। यह देखा गया है कि अर्थतत्र, प्रशासन और सास्कृतिक कार्यों में अधिकतर नियत्रण करने वाले पदों पर सम्पूर्ण भारत में कुछ जातियों द्वारा ही एकाधिकार कर लिया गया है। वास्तव में, समूचे देश के लोगों के भाग्य का नियत्रण कुछ जाति के लोग ही करते हैं जिससे जाति सघर्ष, क्षेत्रीय तनाव, व सामाजिक आशान्ति उत्पन्न होती है। यह अशान्ति विशेषाधिकार प्राप्त समूहों के मध्य तथा विशेषाधिकार से वचित लोगों और विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के मध्य सघर्ष का कारण होती है और कटु प्रतियोगितात्मक सघर्ष को बनाए रखती है। स्वस्थ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास पर इसका विपरीत प्रभाव पडता है।

सयुक्त परिवार व्यवस्था, जाति (जो सामाजिक तथा पेशेवर गतिशीलता को रोकती है), साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद और भाषावाद भारत में आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले कारकों के रूप में पहचाने गए हैं। यह भी माना जाने लगा है कि जाति प्रथा में परिवर्तनों से ही विकास सम्भव हुआ है। क्योंकि गुन्नार मिरडल ने जाति और परिवार जैसी सस्थाओं और उनके कार्यात्मक पक्ष को विकास के अपने विश्लेषण में महत्व नही दिया, अत आर्थिक विकास के उनके विश्लेषण को नकारात्मक, बिखरा हुआ (disjointed) और पेबनदार (patchy) कहा गया है।

एक अन्य समाजशास्त्रीय अर्थ पिछडे किस्म की निष्ठाओं के दुराग्रह से है जिससे भारतीय लोग छोट-छोटे अह के साथ समूहों और टुकडों में बँट गए हैं और जिसके कारण अति उच्च विकसित राष्ट्रीय चेतना के विकास में बाधा पडी है। कुछ निष्ठाएँ जो भारत में (जाति निष्ठा के अलावा) अति दुराग्रही हैं, वे हैं नातेदारी निष्ठा, क्षेत्रीय पहचान, और धार्मिक लगाव। इस प्रकार के विभाजन समाज में एकता की भावना और इसके सदस्यों के बीच पहचान की भावना के विकास में बाधक हैं। ऐसे वातावरण में जो नियामक (normative) दबाव रहता है, वह बाह्य परिस्थितियों में और सम्बन्धों में व्यक्ति के व्यवहार को बहुत प्रभावित करता है।

एआरदेसाई (1959, 131-32) का यह भी मानना है कि पुरानी सस्थाओं के साथ साथ यह सकुचित मानसिकता (parochial mentality) निम्न कई प्रकार से उपयुक्त

आर्थिक विकास को बाधित करती है (i) इससे भाई भतीजावाद पनपता है; (ii) इससे अनुत्पादक विनियोजन के तरीकों (patterns of unproductive investment) और गलत उपभोग के तरीकों जैसे हानिकारक प्रचलनों (harmful practices) का विकास होता है; (iii) इससे कार्य (work) कुशलता, पेशे (vocations) और साधनों के जुटाने के प्रति गलत दृष्टिकोण पैदा होता है (iv) यह उन लोकरीतियों (mores) और मान्यताओं (sanctions) के विकास में बाधा उत्पन्न करती है जो आधुनिक समय में विकासशील अर्थव्यवस्था का मूल हैं, जैसे, कानून पर आधारित लोकरीतियाँ और मान्यताएँ, व्यक्तित्व के प्रति सम्मान, और समान नागरिकता की अवधारणा।

योगेन्द्र सिंह (1973) के अनुसार भारत में आर्थिक विकास में बाधक कारक निम्न हैं (i) सर्वोत्कृष्टता (transcendence) (जिसके अनुसार परम्परागत मूल्यों की वैधता को चुनौती नही दी जा सकती), (ii) पूर्णतावाद अथवा समष्टिवाद (holism) (जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज (या समूह) के बीच का सम्बन्ध ऐसा है कि व्यक्ति अपने अधिकारों और अपनी आकाक्षाओं को समाज के कल्याण के सामने गौण मानता है,। जिसका अर्थ यह भी है कि व्यक्ति के ऊपर सामूहिकता का वर्चस्व होता है), (iii) श्रेणीक्रम (hierarchy) (जाति, पेशा और सामाजिक स्थिति का वर्गीकरण) और (iv) निरन्तरता (continuity) (पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास)।

आर्थिक विकास मे अवस्थाएं (Stages in Economic Development)

रोस्टो (1960 4) ने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएं बताई हैं। ये हैं . (i) परम्परागत समाज (ii) उत्कर्ष (take off) की पूर्व दशाएँ (pre-conditions), (iii) उत्कर्ष अवस्था, (iv) तकनीकी परिपक्वता की प्रेरणा, और (v) उच्च जन उपभोग (mass consumption) का युग।

परम्परागत समाज मूल रूप से कृषि सबधी समाज होता है। इसके सदस्य भाग्यवादी, अन्ध विश्वासी और अपने समुदाय से बाहर की दुनिया से अनभिज्ञ (ignorant) होते हैं। ऐसे समाज में निष्ठा की इकाइयाँ परिवार, गाँव, जाति या धार्मिक समुदाय होती हैं। परम्परागत समुदाय (किसान) आत्म निर्भर नही होते परन्तु बाजार के लिए शहरों पर, धर्म के लिए दर्शन पर और यहाँ तक कि सरकारों पर निर्भर रहते हैं क्योंकि समुदाय के भीतर नेतृत्व का विकास कम रहता है। किसानों के लिए बाहर से निर्णय लिए जाते हैं। अक्सर वे यह भी नही जानते कि यह निर्णय कैसे और क्यों लिए गए। यद्यपि वे प्रयत्न करते हैं लेकिन इन निर्णयों के लेने में जो उनको बाहर से प्रभावित करते हैं उनकी कोई भागीदारी नहीं होती। इससे न केवल जीवन के प्रति भाग्यवादी दृष्टिकोण उत्पन्न होता है बल्कि बाहर के लोगों के प्रति सन्देह और नये विचारों के प्रति सावधानी भी। बाह्य जगत के प्रति अविश्वास उन्हें उनके पडौसियों से नही जोडता। यह विस्तृत (extended) परिवार अपने पडौसियों को बेइमानी से बचने के लिए एक जुट हो जाता है। परम्परागत समाज में एकता की यह एक इकाई बन जाती है। परम्परागत समाज में सीमित साधनों के कारण, विशेष कर सीमित भूमि के कारण, उत्पादन सीमित रहता है।

तत्पश्चात् मन्द परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू होती है। इस अवस्था में उत्कर्ष (take

off) की पूर्व शर्तें विकसित हो जाती हैं। आमतौर पर ऐसी पूर्व शर्तें किसी उन्नत समाज द्वारा बाह्य हस्तक्षेप से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार के हस्तक्षेप नये विचार और भावनाएं प्रेरित करते हैं और लोग यह विश्वास करने लग जाते हैं कि आर्थिक विकास अच्छा भी है और सम्भव भी। कुछ लोग शिक्षा की ओर अग्रसर होते हैं तो कुछ नये नेताओं का उदय होता है और व्यापार एवं व्यवसाय जैसे विनियोजन के कुछ नये क्षेत्र दिखाई देने लगते हैं। यह सब धीरे-धीरे होता है क्योंकि स्थापित मूल्यों और परम्परागत सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन कठिन होता है। संस्थाओं और मूल्यों में परिवर्तन प्रारम्भ होने से पहले सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास के लिए कुछ पूर्व दशाएँ मौजूद होना आवश्यक हैं। ये हैं : उद्देश्य के प्रति जागृति, भविष्य पर दृष्टि, आवश्यकता का ज्ञान, विविध अवसरों और भूमिकाओं की आवश्यकता, स्वय उठाए गए कार्यों और बलिदानों के लिए भावात्मक तत्परता और उनकी बौद्धिक प्रशसा और गतिशील नेतृत्व का उदय।

उत्कर्ष की अवस्था में विकास के विरुद्ध अवरोध को जीत लिया जाता है और विकास एक सामान्य स्थिति हो जाती है। पूँजी सग्रह होने लगती है, उद्योग और कृषि में तकनीकी विकास होने लगता है जो अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण को एक अह कार्य मानने लगता है। नये उद्योग तेजी से पनपते हैं और लाभ को अधिक विस्तार के लिए पुनर्विनियोजित किया जाने लगता है। श्रमिकों की सख्या और उनके पारिश्रमिक में भी वृद्धि होने लगती है।

उत्कर्ष अवस्था के बाद विकास का लम्बा समय शुरू होता है। इस अवधि में आर्थिक क्रिया के द्वारा आधुनिक तकनीकी को फैलाने की मुहिम शुरू होती है। नये उद्योग अपने विस्तार और उत्पादन की दर बढाने लगते हैं। परिपक्वता की ओर इस मुहिम का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि पहले जो वस्तुएँ आयात की जाती थी अब वे देश में ही उत्पन्न की जाती हैं। उत्कर्ष अवस्था के लगभग 40 वर्षों बाद परिपक्वता अवस्था आती है।

अत्यधिक बडे पैमाने पर उपभोग के युग में टिकाऊ (durable) उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं की ओर झुकाव शुरू हो जाता है। अमेरिका इस अवस्था से उभर गया है जब कि पश्चिमी यूरोप और जापान ने इसका लाभ लेना शुरू किया है। क्योंकि कोई भी देश इस अवस्था से ऊपर नही उठा है तो यह कहना असम्भव है कि अगली अवस्था क्या होगी (वही, 10-11)।

क्या सामाजिक परिवर्तन आर्थिक विकास का पूर्वगामी या अनुगामी होता है
(Does Social Change Precede or Follow Economic Development)

एक दृष्टिकोण यह है कि आर्थिक विकास के बिना सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सम्भव नहीं है, जब कि दूसरा दृष्टिकोण यह है कि समाज के भीतर सस्थाओं में होने वाले परिवर्तन आर्थिक विकास को सम्भव बनाते हैं। फ्रैन्किल (Frankel, see Jean Maynaud, 1963) के अनुसार आर्थिक विकास एव सामाजिक परिवर्तन एक दूसरे पर निर्भर हैं, अर्थात् प्रत्येक एक का कारण है तो दूसरा उसका परिणाम।

यदि हम तकनीकी परिवर्तनों के प्रभावों की बात करें तो हमें यह गलती करने से बचना होगा कि "किसी काम को करने के ज्ञान" में परिवर्तनों को "उस काम को वास्तव में

करने" के परिवर्तनों से अलग किया जा सकता है। यह विचार कि तकनीकी परिवर्तन एक बाहरी शक्ति है जो समाज में दिन प्रतिदिन के स्थापित क्रियाकलापों को बदलती रहती है, गलत सोचने के तरीके से उत्पन्न होता है। इसमें यह भ्रामक विश्वास भी शामिल है कि समाज के क्रियाकलाप दो विभिन्न सवर्गों (compartments) में चलते हैं : प्रथम में जानने की प्रक्रिया आती है और दूसरे में ऐसे ज्ञान को व्यवहार में लागू करना आता है। यही बात आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के विषय में भी कही जा सकती है कि प्रथम कारक दूसरे के लिए या दूसरा कारक प्रथम के लिए कारण बनता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, सामाजिक परिवर्तन न तो आर्थिक विकास से पहले न बाद में आता है। दोनों ही अन्तसर्म्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए जब कृषि से उद्योग में परिवर्तन होता है (सीमेन्ट उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग या स्टील उद्योग) तो इससे नये रुझानों (aptitudes) एव कार्य की नई आदतों का भी विकास होता है। यदि एक उद्योग के प्रारम्भ को कुछ यान्त्रिक प्रक्रिया मान लें, जिसका कुछ सामाजिक परिणाम भी होगा, तो हम यह बात नही देख पायेंगे कि जिसको हम परिणाम मान रहे हैं वह तो निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया स्वय ही है। इस प्रकार यदि उद्योग में श्रमिकों को स्वतत्र रूप से रहने के मकान हों या पोषण के स्तर में वे किसी कमी से पीडित हों, या उन्हें शिक्षा या मनोरजन की कमी हो, (जो कि नये वातावरण में आवश्यक है) तब यह उद्योग में परिवर्तन की प्रक्रिया का परिणाम नही होंगे बल्कि इनको पूरा करने में असफलता के कारण होंगे। उत्पादन में वृद्धि की सीधी प्रक्रिया में भी (जैसे, सीमेन्ट, चीनी, कागज या स्टील, आदि) अधिकतम कुशलता प्राप्त नही की जा सकती जब तक उन सभी सामाजिक व आर्थिक क्रियाकलापों, जिनसे यह कार्य सम्बन्धित हों, को भी विकसित न किया जाये। वास्तव में, उद्योग प्रारम्भ भी नही हो सकता है जब तक कि पूर्व दृष्टिकोणों, आदतों, सामाजिक सगठनों के स्वरूप आदि में परिवर्तन न हो।

एक उदाहरण और लें जिसे मात्र तकनीकी परिवर्तन माना जाये। यह मानें कि भूमि और पशुपालक समुदाय (गाँव) की उत्पादकता में वृद्धि वाच्छित है जो कि मक्खन व दुग्ध उत्पादों को या तो बेचने के लिये या स्वय उपभोग के लिए कभी भी प्रयास रत नही रहे। यह आशा की जाती है कि यह समुदाय न केवल इन उत्पादों का स्वय उपभोग करेगा बल्कि दुग्ध उत्पादों की बिक्री से अपनी आय में भी वृद्धि करेगा। पहले तो उत्पादन में नये तरीकों, यन्त्रों या उपयुक्त मशीनों को मात्र शुरू करने की ही समस्या प्रतीत होगी। लेकिन इसमें सामाजिक विश्वासों और रिवाजों में वृहत परिवर्तन भी निहित है। यहाँ यह विचार करना होगा कि कौन से दूरगामी सामाजिक परिवर्तन करने होंगे ताकि तकनीकी परिवर्तनों को लागू किया जा सके। आय के स्रोत के रूप में पशुओं का उपयोग (भूमि हाने के अलावा), समुदाय के सामाजिक और आर्थिक ढांचे ने मूल परिवर्तन का पूर्वाभास (pre-supposition) आवश्यक है। इसमें समुदाय के सदस्यों के परम्परागत मूल्यों पर पुनर्विचार करना भी आवश्यक है। इस प्रकार यह परम्परागत विश्वासों में परिवर्तन का पूर्वानुमान है कि भूमि पर कैसे और किसके द्वारा कृषि की जानी है (स्त्रियों या पुरुषों द्वारा), स्वय के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों द्वारा या दूसरों के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों के द्वारा। इस प्रकार यह नवीन अभिवृत्तियों एव व्यवहार के स्वरूपों के विकास का पूर्वानुमान भी करता है जो उनके सामाजिक और आपसी सम्बन्धों को नियमित करेगें। इसके अलावा इन लोगों के समूह के

समानान्तर उदय (parallel emergence) का भी पूर्वानुमान लगाया जा सकता है जो न केवल दुग्ध उत्पादों से सम्बद्ध होंगे बल्कि यातायात वितरण, विपणन (marketing), और वित्त और उन वस्तुओं से भी जिनको नव उत्पादकों को खरीदना पडता है या बेचना पडता है। इसके लिए एक ऐसे राजनैतिक ढाँचे की भी आवश्यकता होगी—स्थानीय, प्रान्तीय, और राष्ट्रीय भी—जो इस प्रकार की पूरक आर्थिक क्रियाकलापों की स्थापना के उपयुक्त हो। यह उस समुदाय की अनुमति पर भी निर्भर करेगा जो सभी वैधानिक, राजनैतिक और प्रशासनिक सस्थाओं के विकास के लिए तैयार होगा जो इस प्रकार की नवीन अन्तर्निर्भर अर्थव्यवस्था में लगे हुए लोगों के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सामजस्य के लिए आवश्यक होगा।

सामाजिक समायोजन की इस लम्बी सूची का उद्देश्य यह दर्शाना है कि वह चाहे कुछ भी हो जिसे हम 'तकनीकी परिवर्तन' की सज्ञा दे रहे हैं, वास्तव में यह समस्त सामाजिक ढाँचे के विभिन्न क्षेत्रों में विकास के निर्धारक (determining) और परस्पर निर्धारित पहलुओं में से एक है। यह निश्चित करने का प्रयत्न व्यर्थ है कि कौन सा परिवर्तन नवाचार (innovation) या कारण है और कौन सा प्रभाव है। फ्रैंकिल (Frankel) ने कहा है कि जब हम एक परिवर्तन को कारण और दूसरे को परिणाम मानते हैं तब हम परिवर्तन की प्रक्रिया का विभिन्न दृष्टिकोणों से मात्र परीक्षण कर रहे होते हैं।

आर्थिक विकास की सामाजिक समस्याएँ
(Sociological Problems of Economic Development)

सरचनात्मक परिवर्तन के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। एचडब्ल्यू सिंगर (H W Singer, see Jean Meynaud, op cit, 157) जैसे विद्वानों ने स्वीकारा है कि कम विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण अति आवश्यक है। निर्धन व कम विकसित देशों में 60% से 80% तक जनसख्या कृषि पर निर्भर है। उनकी राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। ऐसे में इन देशों के आर्थिक विकास के लिए दो विकल्प हैं · (i) मौजूदा प्रबल कृषि सरचना के सुधार से (अर्थात कम उत्पादकता को मौजूदा ढाँचे के अन्दर ही परिवर्तन द्वारा), (ii) समूचे ढाँचे को ही बदल कर (अर्थात् कृषि से हटकर औद्योगिक विकास के द्वारा)। उपरोक्त दो विकल्पों के बीच चुनाव इससे निश्चित होना है कि दोनों में से कौन सा रास्ता चुनौतीपूर्ण है। दोनों पर ही बल देना सही रास्ता है।

दो प्रश्न उठते हैं (i) कृषि सुधार किस प्रकार सस्ते ढँग से किए जा सकते हैं ? (ii) मौजूदा उद्योगों को कैसे सुधारा जा सकता है ? कृषि सुधार, भूमि स्वामित्व व्यवस्था में परिवर्तन द्वारा तथा सिंचाई की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराकर सम्भव है। औद्योगिक आन्दोलन विस्तृत पुन उपकरण (extensive re-equipment) और पुन अवस्थान (relocation) कर के सम्भव है। सिंगर (H W Singer, op cit, 158) ने आगे कहा है कि कृषि में औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन में औद्योगीकरण के मूल्य (cost) को तीन प्रकार से कम किया जा सकता है (i) शहरीकरण से बचकर, जिसका अर्थ होगा उद्योग को गाँव में लाना ताकि यातायात, पानी, आदि की कम माँग हो। इससे शहरों को जाने की प्रवृत्ति भी कम होगी, (ii) कम पूँजी वाले उद्योगों पर ही बल देकर, और (iii) ऐसी विधि का उपयोग करके जिसमें श्रम अधिक और पूँजी कम लगती हो। इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार मौजूदा

ढाँचे में सुधार करना और सरचनात्मक परिवर्तन का प्रयास सम्भव हो सकता है।

विलबर्ट मूर (Wilbert Moore, 1964) ने निम्नलिखित प्रकार से सामाजिक और आर्थिक ढाँचे पर उद्योग का प्रभाव बताया है (i) कृषि से निर्माण (manufacture) और सेवा (services) की ओर परिवर्तन, (ii) पेशेवार विशिष्टीकरण, (iii) श्रम का विभाजन, (iv) विशिष्ट क्रियाकलापों का समयोजन, (v) श्रम गतिशीलता, (vi) बैंकों का सृजन (creation), (vii) बाजार का विस्तार (extension) (viii) उपभोग में परिवर्तन, और (ix) सामाजिक सम्बन्धों के जाल (network) में परिवर्तन।

ए.आर.देसाई (1959 127) ने भारत में आर्थिक विकास की चार समाजशास्त्रीय समस्याए बताई हैं (1) पुराने सामाजिक सगठन का बदला जाना और सामाजिक सम्बन्धों के नये ताने बाने का उदय, (2) पुरानी सामाजिक सस्थाओं में सुधार या तिलाजलि (discarding) और नई प्रकार की सामाजिक सस्थाओं का विकास करना, (3) सामाजिक नियत्रण के पुराने स्वरूपों को बदलना या हटाना और नये प्रकार की सामाजिक शक्ति का सृजन होना, और (4) सामाजिक परिवर्तन के पुराने स्रोतों का समापन या उन पर पुनर्विचार और सामाजिक परिवर्तन के लिए नये उपायों और कारकों का निर्धारण।

अग्रेजों ने भारत को अल्प विकसित ही रखा। जो कुछ भी थोडा औद्योगिक विकास हुआ था वह उनके पूँजीवादी आवश्यकताओं के अनुरूप ही हुआ था। भारी उद्योगों को पनपने की अनुमति नही दी गई थी। जहाँ ब्रिटिश लोग भारत के आर्थिक विकास को रोक रहे थे, वही वे भारतीयों के सामाजिक सगठन, सामाजिक सस्थाओं और सामाजिक दृष्टिकोण को भी विकृत कर रहे थे। परम्परागत आत्म विश्वासी ग्रामीण समुदाय जो ग्राम पचायत, जाति और सयुक्त परिवार जैसी सस्थाओं के माध्यम से कार्यरत था, लगभग बुरी तरह दबा दिया गया। इसके स्थान पर नवीन सामाजिक रचना, नवीन सस्थात्मक आधार या नवीन दृष्टिकोणों को स्थापित नही किया गया। इनके अभाव में नयी कानूनी व्यवस्था के प्रारम्भ होने से तत्कालीन प्रचलित सामाजिक सम्बन्धों में विघटन होने लगा। सहयोग और सामजस्य का पुराना सिद्धान्त प्रतियोगिता के सिद्धान्त द्वारा प्रतिस्थापित हो गए जिससे सामाजिक ढाँचे में एक हलचल मच गई।

स्वतत्रता के पश्चात् सरकार ने पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के पुनर्निमाण का कार्य प्रारम्भ किया। आर्थिक विकास ने एक ओर तो नकारात्मक लक्षणों वाली समाजशास्त्रीय समस्याओं (जैसे सामाजिक सम्बन्धों की समस्याएँ, सामाजिक सस्थाओं की समस्याएँ, सामाजिक नियत्रण और सामाजिक परिवर्तन की एजेन्सियाँ) को जन्म दिया और दूसरी ओर सकरात्मक प्रकृति की समाजशास्त्रीय समस्याओं को भी जन्म दिया। नकारात्मक प्रकार की समाजशास्त्रीय समस्याएँ पुरानी सामाजिक सस्थाओं के बने रहने का परिणाम हैं, जैसे सत्तावादी (authoritarian) सयुक्त परिवार और परम्परागत-धार्मिक सस्थाएँ। पुराने सामाजिक नियत्रण के स्वरूपों के कारण भी समस्याओं का उदय हुआ है, जैसे अन्धविश्वासों को मान्यता, सत्तावादी मानदड, (authoritarian norms), परिवार, जाति, आदिवासी, धार्मिक तथा अन्य रीति-रिवाज सम्बन्धी मान्यताए (customary sanctious)। इसके अतिरिक्त, ये समस्याए पुराने सासारिक दृष्टिकोण के कारण भी उठीं जो कि मूल रूप से धार्मिक, भाग्यवादी और गैर जनतात्रिक था। इसके अतिरिक्त, इन समस्याओं का उदय

अशिक्षा, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, जातिवाद और गरीबी से भी हुआ। सकारात्मक प्रकार की समस्याएँ औद्योगीकरण, वाणिज्यीकरण और मुद्रीकरण (monetization) की नीतियों से उत्पन्न हुई। औद्योगीकरण ने पुराने श्रम विभाजन को उखाड दिया है और नव अनुशासन और नव जीवन शैली की आवश्यकता वाले नये व्यवसायिक स्वरूपों को जन्म दिया है। आधुनिकीकरण—भले ही कृषि में हो या उद्योग में—ने आदमी को उसकी सामाजिक इकाई की परम्परागत प्रक्रियाओं और विधियों से तथा उस कुशलता से जो वह अपने परिवार से सीखता था, अलग कर दिया है। वाणिज्यीकरण (commercialisation) ने भी असख्य समस्याएँ पैदा कर दी हैं। अब किसान और उत्पादक (producers) नही बल्कि भूस्वामी और उद्योगपति तथा प्रशासक शासक समूह बन गए हैं। गाँवों में भी राजनैतिक शक्ति का केन्द्र उच्च जातीय बुजुर्गों से हट कर साहूकारों, व्यापारियों, जमीदारों, और अधिकारियों में हो गया है। मुद्रीकरण (monetization) भी अनेक समस्याएँ लिए हुए है। इसके कारण जमीन के मूल्यों में बडे उतार चढाव होने का भय हो गया है, खाने की वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई है, अत्यधिक धन विभ्रम पैदा हो गया है, और गैर खाद्य पदार्थों पर अधिक व्यय का खतरा पैदा हो गया है। इन खतरों के अतिरिक्त धन की अर्थव्यवस्था के प्रारम्भ होने से परिवार के अन्दर व्यक्ति का परमाणुकरण (atomization) तथा पारिवारिक सम्बन्धों का विनाश प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार तीनों प्रक्रियाओं (औद्योगीकरण, वाणिज्यीकरण और मुद्रीकरण) ने अनेक समाजशास्त्रीय समस्याओं को जन्म दिया है।

भारत में आर्थिक विकास, योजना और सामाजिक परिवर्तन
(Economic Development, Planning and Social Change in India)

स्वतत्रता के पश्चात् भारत में आर्थिक विकास को वास्तविक क्रान्तिकारी परिवर्तन कहा जा सकता है। यह तब होगा जब हम अग्रेजी शासन की अवधि के आर्थिक विकास की तुलना दो दशकों के नेहरू युग, इन्दिरा गान्धी व राजीव गान्धी की अवधि के दो दशकों, लगभग साढे छ वर्ष के वी.पी.सिंह, चन्द्रशेखर और नरसिंहराव की सरकारों, सयुक्त मोर्चे की लगभग दो वर्ष की सरकार और भारतीय जनता पार्टी व उसके घटक साझेदारों की लगभग दो वर्ष की सरकार की समयावधि में हुए आर्थिक विकास से करें। 1747 और 1947 के मध्य के दो सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन काल में आर्थिक विकास 1% से भी कम हुआ। विकास की यह दर इतनी कम थी कि इसने भारत को मात्र कच्चे माल की आपूर्ति करने वाला तथा पश्चिमी निर्यातों के लिए अच्छा बाजार बनाकर रख दिया। भारतीय लोगों के स्वामित्व वाले औद्योगिक क्षेत्र का एक छोटा भाग ब्रिटिश एजेन्सियों द्वारा ही प्रबन्धित था। कृषि अर्थव्यवस्था में किसान जमीदार, साहूकार व जागीरदारों के चगुल में फँसा हुआ था। बचत और निवेश बहुत कम थे। तकनीकी निम्न स्तर की थी। पिछडे क्षेत्र के विकास के क्षेत्रीय सन्तुलन की अवधारणा ही नही थी। भारत के निर्माण के लिए विदेशी पूंजी भी उपलब्ध नहीं थी। कम आय से कम बचत होती है, जिससे निवेश भी कम होता है, जिससे कम वृद्धि और फिर वही कम आमदनी होती है। उपनिवेशवादी युग में गरीबी के कुचक्र तथा अनन्त चक्र का सिद्धान्त बिल्कुल उपयुक्त बैठता था।

स्वतत्रता के पश्चात् नयी सरकार का दोहरा कार्य हो गया उपनिवेशवादी

अर्थव्यवस्था को खत्म करना और इसके स्थान पर आधुनिक, स्वाधीन और आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था का आधार खडा करना। देश की आधुनिक अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय स्वरूप—समाज का समाजवादी स्वरूप—1955 में काग्रेस के अवाडी अधिवेशन के (नेहरू युग में) और 1969 में बगलौर अधिवेशन (इन्दिरा गाधी समय में) के घोषणा पत्र द्वारा प्रदान किया गया। इससे इन्कार नही किया जा सकता कि 1950, 1960, 1970 और 1980 के चार दशकों में नेहरू के समाजवादी आदर्शों ने हमारी अर्थव्यवस्था को सुधारा, यद्यपि एक ऐसी विचारधारा के लोग भी हैं जो नेहरू आदर्शों की ताइवान, हागकाग, सिंगापुर, दक्षिणी कोरिया के आर्थिक विकास से तुलना करते हैं और अब इसमें दोष बताते हैं। अब हमारे देश में लाखों की सख्या में आधुनिक औद्योगिक उद्यम हैं जबकि पहले मुट्ठीभर ही थे। हमारे पास तकनीकी और उद्यमी कुशलताओं का भण्डार है, हमारे पास भिलाई और राउरकेला जैसी भव्य योजनाएं और हीराकुण्ड जैसे बडे बान्ध हैं, विकासशील विश्व में हमारी बचत की दर ऊँची है, (1999-2000 में हमारी विकास की दर 5 8% वार्षिक थी), निर्यात में निरन्तर वृद्धि हो रही है, अप्रवासी भारतीयों (NRI) की जमा राशियों में बीस गुणा वृद्धि हुई है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार मे अद्वितीय विश्वसनीयता में वृद्धि हुई है, और गरीबी रेखा से नीचे जनसख्या में कमी हुई है (1972-73 की 51% से 1998-99 में 37% रह गई है, जैसा कि लकडवाला समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने के बाद सरकार ने दावा किया है)। यह भी सत्य है कि हम मुद्रास्फीति और अत्यधिक कर्ज की समस्याओं से भी जूझ रहे हैं। व्यापार घाटे का शेष बहुत अधिक है और बजट घाटा तो अरबों में हैं।

नरसिहराव की सरकार ने 1991-92 में समाजवादी स्वरूप की अवहेलना की और उदारीकरण, बाजारीकरण तथा निजीकरण के दर्शन पर आधारित पुनर्गठित नीति प्रारम्भ की (जो अब नेहरूवादी पूँजीवाद कहा जाता है) जिसके विषय में काग्रेस सरकार ने दावा किया कि इस निति ने हमारे आर्थिक विकास में वृद्धि की। उस समय की सरकार मानती थी कि इस नये प्रतिदर्श का मूल तत्त्व यह था कि यह राज्यों और निजी उद्यमियों दोनों को भरोसा दिलाता था और बहु प्रजातत्र तथा मिश्रित अर्थ व्यवस्था दोनों के प्रति अटूट विश्वास को दृढ बनाता था। सयुक्त मोर्चा सरकारों तथा भारतीय जनता पार्टी ने इस नीति को जारी रखा।

अप्रेल, 1992 में काग्रेस के तिरूपति अधिवेशन में एक नयी विचारधारा वाला प्रारूप (paradigm) अपनाया गया जो केन्द्र के बायें से केन्द्र के दायें की ओर (left of centre to right of centre) परिवर्तन से सम्बद्ध था। यह नेहरू के नाम पर नेहरू की अवहेलना की तरकीब थी। इसके मुख्य बिन्दु थे विभिन्न क्षेत्रों में राज्य सहायता में कटौती, (*कृषि तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली में भी*), *लाइसेंस व परमिट राज की समाप्ति*, प्रस्थान नीति (exit policy) का समारम्भ, बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए देश को मुक्त करना, आयात नियन्त्रणों को हटाना, और सार्वजनिक क्षेत्र को मात्र नौकरी दिलाने वाली एजेन्सी जिसमें काम न करना ही नैतिकता होती है, न मानना। इस प्रकार सुर तो समाजवादी ही रहा परन्तु नीतियों में निहित तत्व पूजीवादी बन गये।

ऐसे विद्वान भी हैं जो यह विश्वास नही करते कि नव उदारवादी आर्थिक नीति वास्तव में भारतीय अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवन प्रदान करेगी। उनकी मान्यता है कि हमारी अर्थव्यवस्था को आयात को नियन्त्रित करके, निर्यात को प्रोत्साहन देकर, कर तन्त्र को विस्तृ

कर के, सार्वजनिक क्षेत्र को नौकरशाही से मुक्त करा कर, काले धन को उजागर करके, रक्षाखर्चों में कटौती करके, प्राकृतिक ससाधनों के दोहन की ओर अधिक ध्यान देकर, वस्तुओं के लिए वृहद् बाजार सृजित करके, भूमि सुधारों में क्रान्तिकारी सुधार करके, पुनर्जीवित किया जा सकता है। ये विद्वान यह भी मानते हैं कि देश को बाह्य की बजाय आन्तरिक उपायों पर निर्भर रहना चाहिए।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह माना जा सकता है कि आर्थिक विकास—नेहरू आदर्शों एवं उदारवादी आदर्शों दोनों से—ने हमारी सामाजिक सरचना को वाच्छित दिशा में प्रभावित किया है। अपने समाज के मूल्याकन के लिए भले ही हम कोई प्रारूप अपना लें, विकासात्मक प्रारुप (विभिन्न अवस्थाओ में समाज के उद्विकास का आकलन करके) संघर्ष प्रारुप (प्रतिस्पर्धा और शक्ति के लिए निरन्तर सघर्ष पर बल देकर), कार्यात्मक प्रारुप (सामाजिक ढाँचे में प्रत्येक सस्थात्मक प्रचलन का सभी अन्य तत्वों पर परिणाम का विश्लेषण करके) आदि;—यह तो स्पष्ट रहेगा कि सामाजिक सम्बन्धो के तन्त्र में, सामाजिक सस्थाओं में, सामाजिक व्यवस्थाओं में, सामाजिक ढाँचे में और सामाजिक प्रतिमानों में परिवर्तन हुआ है। अब भारत के लोग उतने रूढिवादी नही है जितने कि अर्ध शताब्दि पूर्व हुआ करते थे। वे उन नैतिक आदर्शों और सामाजिक मूल्यों से दृढता से चिपके हुए नही है जो अतीत से उनको प्राप्त हुए हैं। लोग व्यक्तिगत रूप से वैयक्तिक स्वतत्रता और सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हैं। उनके विचारों और दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। वे नये अनुभवो को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। उनमें न केवल प्रौद्योगिकी ज्ञान का अनुकरण करने की उत्सुकता है बल्कि अन्य समाजों से सास्कृतिक तत्वों के अनुकरण की भी है। उनमें नवाचारों (innovations) के प्रति भी रचनात्मक जिज्ञासा है। वे नवाचारो को स्वीकार करने और सामाजिक परिवर्तन के परिणामों से नही डरते हैं। वे गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, मुद्रास्फीति, भाई-भतीजावाद, आतकवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद की समस्याओं के समाधान में असफल होने के लिए उत्तरदायी शक्ति सम्पन्न अभिजात वर्ग का विरोध कर सकते हैं और उनके विरुद्ध आन्दोलित भी हो सकते हैं, तथापि वे जानते हैं कि भारत में सामाजिक व्यवस्था कभी भी असन्तुलित नही होगी। भारतीय सस्कृति, जिसमें विविधता है, न केवल जीवित रहेगी बल्कि विकसित भी होगी। आर्थिक विकास के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक सरचना और सामाजिक व्यवहार को विकास के बिन्दु एव निर्देश प्रदान करता रहेगा—परम्परागत एव सक्रमणकालीन (transitional)।

आर्थिक असमानताएँ (Economic Inequalities)

यह पहले ही बताया जा चुका है कि गरीबी और असमानता एक नही है। एक धनी व्यापारी और एक आराम से रहने वाला कालेज/युनिवर्सिटी व्याख्याता भौतिक रूप से असमान है—लेकिन व्याख्याता गरीब नही है। सामाजिक असमानता का अर्थ है कि कुछ व्यक्तियों या समूहों के पास दूसरों से अधिक भौतिक ससाधन हैं। गरीबी में व्यक्ति या समूह के भौतिक ससाधनों में अपर्याप्तता निहित है। 'गरीबी' की अवधारणा के विषय में यथेष्ट असहमति है। क्या आज के युग में टीवी अथवा रेडियो न रख सकना गरीबी है? क्या बच्चे को अच्छे स्कूल में न भेज पाना गरीबी है? कुछ लोग इन स्थितियों को गरीबी में

शामिल करते हैं, लेकिन अन्य लोग यह मान सकते हैं कि ऐसी स्थितिया गरीबी की अपेक्षा असमानता में शामिल की जानी चाहिए।

धनी वर्ग द्वारा गरीबों के शोषण को अमीरों और गरीबों के बीच असमानता कम करके रोका जा सकता है जो कि पुन आर्थिक सुधारों के द्वारा गरीबी कम करने पर निर्भर करता है। यदि आर्थिक सुधारों के द्वारा अर्थव्यवस्था में स्थाई व निरन्तर विकास होता है (जो कि वास्तविक मुख्य उद्देश्य है), तब गरीबों को दो प्रकार से लाभ हो सकता है। प्रथम, अनुभव यह बताता है कि विकास (विशेष रूप से कृषि विकास) गरीबों की ओर ध्यान देता है। दूसरे, स्थाई विकास ऐसा वातावरण है जो समग्र रूप से गरीबों को शक्तिशाली बनाने के लिए अनुकूल होता है। रोजगार के अवसरों में विस्तार, शिक्षा प्रसार, व्यावसायिक गतिशीलता में वृद्धि और उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण गरीबों को अधीनस्थ रखने वालों पर गरीबों की निर्भरता कम सकटपूर्ण हो गई है। गरीब लोग राजनैतिक कार्यवाही के लिए भी गतिशील होंगे क्योंकि धृष्टतापूर्ण (pragmatic) विचार, उनका विरोध करने वाले समूहों में गरीबों के साथ समायोजन करने की प्रेरणा देता है।

यहॉं यह भी कहा जा सकता है कि अब तक के किए गए आर्थिक सुधारों से स्थाई विकास में निश्चित रूप से सहायता मिली है। फरवरी 2000 ई में ससद में प्रस्तुत किए गए आर्थिक सर्वेक्षण ने यह दर्शाया है कि यद्यपि विकास पर्याप्त नही हुआ है, लेकिन फिर भी आँकडे बताते हैं कि गत एक दशक में हमने अच्छी प्रगति की है। जीडीपी का विकास ऊपर उठ रहा है। उद्योग में भी विकास दर की वृद्धि हो रही है। 1999-2000 में कृषि उत्पादन 40 लाख टन कम हुआ। निर्यात विकास में वृद्धि हुई है। इस प्रकार यद्यपि आर्थिक सुधार हो रहे हैं तथापि कई सहायक उपायों की आवश्यकता है ताकि प्रभाव अधिक हो सके। नीति निर्माण प्रक्रिया पर आधिपत्य जमाए समूहों को सकीर्ण हितों के पीछे दौडना बन्द करना होगा और अधिक विस्तृत समाज के लिए काम करना होगा। असमानता और गरीबी के मोर्चे पर सफलता तभी मिल सकती है जब गरीब भी नीति निर्माता समूहों के साथ चलने के लिए शक्तिशाली राजनैतिक आवाज बुलन्द कर लें।

आय असमानता के कारण (Causes of Income Inequality)

हमारे देश में आर्थिक विषमता के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारण बताये जा सकते हैं

1 *सरकारी नीति (Government Policy)* – आयकर उच्च शिखर 50% से 30% कर दिया गया है। कर नीति को प्रगतिशील (progressive) (अमीरों पर थोडा अधिक कर डालकर) से प्रतिगामी (rgressive) के स्तर तक कर दिया गया है (कम सम्पन्न लोगों को अपेक्षाकृत अधिक कर सीमा में लाकर)।

2 *उदारवादी नीति (Policy of Liberatism)* – स्वतत्र बाजार असमानता में वृद्धि करता है। 1991 से नरसिह राव सरकार द्वारा और बाद में चार गैर काग्रेसी सरकारों द्वारा अपनाई गई उदारवादी नीति ने असमानता में प्रत्यक्ष योगदान किया है।

3 *बढती हुई बेरोजगारी (Increasing Unemployment)* – गत 2-3 दशकों में देश में बहुत कम औद्योगिक विकास हुआ है। नौकरी के क्षेत्र में भी नौकरियों की कमी

अनुभव की गई है। इसने बेकारी, असुरक्षा और असमानता में वृद्धि की है।

4 *उच्च वेतन प्राप्त कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि (Increasing Salary of High-Paid Employees)*– उच्च वेतन पाने वाले कर्मचारियों के वेतन (पचम वेतन आयोग की सिफारिशों के पूर्व और पश्चात्) में समग्र (absolute) अर्थ में न्यून वेतन भोगी कर्मचारियों के वेतन से कही अधिक वृद्धि हुई है। इससे भी असमानता में वृद्धि हुई है।

राज-सहायता (सब्सिडी)

सरकार सब्सिडी पर इतना अधिक व्यय क्यों करे ? फरवरी 1999-2000 में सरकार ने उर्वरकों, खाद्यान्नों और रसोई गैस पर सब्सिडी में कटौती करके 2,000 करोड रुपये से भी अधिक की बचत की थी। यदि सरकार अपने घटक साझेदारों के दवाब के सामने न झुकती और आंशिक रूप से सब्सिडी का सहारा न लेती तो लगभग 4000 करोड रुपये की बचत होती। वर्ष 2000-2001 के बजट में भी सरकार ने जो मिट्टी के तेल, रसोई गैस, रासायनिक खादों, चीनी और गेहूँ पर सब्सिडी घटाई, उसे वापस लेने पर सरकार पर बहुत दबाव रहा था। आम जनता का कहना था कि मिट्टी के तेल और उर्वरकों पर सब्सिडी वापस लेनी चाहिए। सरकार की मान्यता है कि ऋण लेकर सब्सिडी बाटना ठीक नही है। जनता का कहना है कि जम्बों मत्रीमण्डल न बना कर, भ्रष्टाचार को नियत्रित करके, मत्रियों की अनेक सुविधाएँ समाप्त करके, सरकारी कर्मचारियों को बोनस व अन्य कई भत्ते व रियायतें खत्म करके, विदेशी निवेशकों को अनेक प्रकार की छूट देने की प्रथा को खत्म करके रुपया बचाया जा सकता है। एक तरफ सरकार पूजी पर राज-सहायता देती है जिससे उद्योगपति अधिक मशीनें लगा कर श्रमिकों की सख्या कम करते हैं। उनके बेरोजगार होने पर सरकार उन्हें सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से सस्ता गेहूँ, चावल, आदि मुहैया कराती है। अत पूजी पर सहायता देकर समस्या उत्पन्न की जाती है और फिर श्रमिकों को सब्सिडी के द्वारा समस्या का निवारण किया जाता है। ऐसी स्थिति क्यों ? अत यह ही कहा जा सकता है कि हर प्रकार की सब्सिडी समाप्त करना, कुछ उपयुक्त सार्थक सब्सिडी लगाना, राजशाही पर नियत्रण, अर्थव्यवस्था को सही रास्ते पर ले जायेगा। यह अनुमान है कि उच्च शिक्षा, खेल और कला पर गैर-योग्यता सब्सिडी में कटौती करके, जल आपूर्ति व सफाई पर सब्सिडी कम करके, सिंचाई पर शुल्क में वृद्धि करके (वर्तमान में रबी और खरीफ की फसलों के लिए सिंचाई के पानी पर 75 रुपये से भी कम प्रति हेक्टेयर की दर से शुल्क लिया जा रहा है) राज्य विद्युत बोर्ड के सब्सिडी को खत्म करके, सरकार लगभग 9,000 करोड रुपये तो तत्काल और 30,000 करोड रुपये चार वर्षों में बचा सकती है (*India Today*, Feb, 15, 1999 39)। उर्वरकों पर सब्सिडी जो 1976-77 में 60 करोड रुपये थी वह 1999-2000 में बढकर 13,250 करोड रुपये हो गयी (*The Hindustan Times*, April 3, 2000)। कुछ राजनैतिक दलों का एतराज है कि गरीबी रेखा से नीचे गरीब लोग रसोई गैस का प्रयोग नहीं करते। सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा सस्ते दामों पर गरीबों को दिया जाने वाला खाद्यान्न गरीबों तक केवल अल्प परिमाण में ही पहुचता है। पाँच सबसे गरीब और बिमारू (BIMARU) राज्य (बिहार, मध्य-प्रदेश, आसाम, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश) पी.डी. एस

(PDS) आपूर्ति का मुश्किल से 10% ही प्राप्त करते हैं।

अत यह सबसे अच्छा अवसर है कि सब्सिडी में कटौती कर दी जाये और 1,40,000 करोड रुपये या 14% जीडीपी जो सब्सिडी पर खर्च की जाती है, बच जाये और वित्तीय घाटा कम कर लिया जाये। हमारे राजनैतिक नेताओं को लोगों को केवल शिक्षित करना है और उन्हें यह महसूस करा देना है कि देश के लिए यह अच्छा है और आवश्यक भी।

केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के ऋण बोझ के विषय में जानकारी घातक है। समग्र रूप से, कुल ऋण 1997 98 में 314 हजार करोड रुपया से दुगना हो गया और इसी अवधि में ब्याज भुगतान राजस्व के 40% से बढकर 48% हो गया है। सब्सिडी, ब्याज के भुगतान और रक्षा व्यय कुल राजस्व का बहुत बडा प्रतिशत उपभोग कर लेते हैं *(Outlook, February 15, 1999 40)*

सरल शब्दों में, सरकार जो कर्ज लेती है प्रत्येक रुपये में से 24 पैसे उसके लिए ऋण सेवा में लग जाता है। सरकार अनेक अर्थशास्त्रियों के सुझावों पर गम्भीरता से विचार क्यों नही करती कि सरकार को आगे से ऋण लेने पर बिल्कुल रोक लगा देनी चाहिए ? जब तक सरकार वित्तीय घाटे और बोझिल ऋण को जोरशोर से कम नही करती, तब तक हमारा देश मुद्रास्फीति को रोक नही सकता। राजनैतिक दलों को केवल लौह इच्छा शक्ति की आवश्यक्ता है।

व्यावसायिक विविधीकरण आर सामाजिक सरचना

(Occupational Diversification and Social Structure)

आर्थिक विकास में व्यावसायिक विविधीकरण, कृषि का व्यापारीकरण और प्राथमिक से द्वैतियक और त्रैतियक व्यवसायों में परिवर्तन शामिल हैं। व्यावसायिक वार, भारत में लोगों को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है प्राथमिक व्यवसाय (जैसे कृषि, खनन), द्वैतियक व्यवसाय (जैसे, व्यापार, निर्माण और यातायात), और तृतीय व्यवसाय (जैसे, सेवा)। आयु वार 15 से 59 वर्ष आयु समूह के लोग 'कार्यकारी' आयु समूह में आते हैं। भारत में लगभग 38% लोग 0-14 आयु समूह में आते हैं, 55% 15-59 वर्ष आयु समूह में और 7% 60 + वर्ष के हैं। 'कार्यकारी' आयु समूह के कुल लोगों (लगभग 46 करोड) में से 62% प्राथमिक व्यवसायों में, 14 9% द्वैतियक और 22 4% त्रैतियक व्यवसायों में लगे हैं *(Manpower Profile, India, 1998 229)*। 1991 की कुल ग्रामीण जनसख्या का (अर्थात् लगभग 62 8 करोड में से), 79% प्राथमिक, 10 3% द्वैतियक और 13 6% त्रैतियक व्यवसायों में लगे हैं (वही 236)। कुल शहरी जनसख्या (लगभग 21 7 करोड) का 14 2% प्राथमिक, 32.3% द्वैतियक और 54 5% त्रैतियक व्यवसायों में लगे हैं (वही : 231) वृहत् रूप से लगभग 44% ग्रामीण और 34% शहरी लोग 'कार्यशक्ति' (work force) में हैं। पुरुष कार्य करने वालों की भागीदारी की दर शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा कम है जबकि महिला कार्यकारी शक्ति की दर ग्रामीण क्षेत्रों में 32% है, लेकिन शहरी क्षेत्रों में केवल 15% है *(Manpower Profile,* op cit p 190)। 1951-91 की अवधि में रोजगार का क्षेत्रवार (sectoral) वितरण बताता है कि प्राथमिक क्षेत्र में 8% की गिरावट आई, और लाभ द्वैतियक और त्रैतियक क्षेत्रों को बराबर का हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों के

मामले में अधिक विनिगीकरण हुआ और महिलाओं के मामले में शहरी क्षेत्रों में।

व्यावसायिक विविधीकरण परिवार, जाति, नातेदारी, आदि संस्थाओं को प्रभावित करता है। बेली (*Bailey, 1957*) का मानना है कि सयुक्त परिवार अपने सदस्यों के विविध हितों को और आय की समानता को जीवित नही रख सकता। परन्तु एपस्टीन (Epstein) इस दृष्टिकोण से सहमत नही है। वह मानता है कि अर्थव्यवस्था के विविधीकरण की अपेक्षा स्थाई (subsistence) अर्थव्यवस्था से नकद (cash) अर्थव्यवस्था में परिवर्तन सयुक्त परिवार के विघटन के लिए अधिक उत्तरदायी है। एमएस ए राव (M.S A Rao, 1968) ने कहा कि सयुक्त परिवार सगठन में नकद आय और विविध व्यवसायों में सगतता (incompatibility) नही है। टीएसमदान (TS Madan, 1968) ने माना है कि शहरीकरण और औद्योगीकरण आवश्यक रूप में सयुक्त परिवार में विघटन पैदा नही करते हैं। लेकिन एमएसगोरे सयुक्त परिवार पर इनके प्रभाव को स्वीकार करते हैं। नर्मदेश्वर प्रसाद आदि अनेक समाजशास्त्रियों द्वारा जाति और नातेदारी पर इनका प्रभाव स्वीकारा गया है। एससी दुबे ने समाज के विकास और व्यावसायिक विविधीकरण पर शिक्षा के प्रभाव को बताया है। आस्कर लेविस (Oscar Lewis) ने भारत के विकासात्मक परिदृश्य का विश्लेषणात्मक विवरण दिया है। उन्होंने ग्राम-केन्द्रित विकास और शहर-केन्द्रित विकास के बीच चयन (choice) प्रस्तुत किया है और शहर-केन्द्रित विकास की सम्भावनाओं पर गम्भीर परीक्षण के लिए जोर दिया है। जीमिरडल (G Myrdal) का एशियन ड्रामा (Asian Drama, 1968 : 3 volumes) दक्षिणी एशिया में गरीबी का, आर्थिक विकास की समस्या के सस्थात्मक दृष्टिकोण द्वारा वर्णन करता है और व्यावासायिक विविधीकरण तथा अर्थव्यवस्था की विवेचना करता है।

6

राजनैतिक व्यवस्था

(Political System)

राजनैतिक व्यवस्था अवधारणा और स्वरूप
(Political System : Concept and Types)

'व्यवस्था' विविध भागों का समन्वित समग्र रूप (integrated whole) है। 'सामाजिक व्यवस्था' समन्वित कार्यकारी इकाइयों का एक समुच्चय (सेट) है जिसमें प्रत्येक इकाई समनुदेशित (assigned) भूमिका निभाती है। 'राजनैतिक व्यवस्था' राजनैतिक सस्थाओं (जैसे, सरकार), सघों (राजनैतिक दल), और सगठनों का एकत्रीकरण (collectivity) है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों और प्रतिमानों के आधार पर अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं (जैसे, आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखना, विदेशी सम्बन्धों को सचालित करना, और बाहरी ताकतों से सुरक्षा प्रदान करना)। इसे राजनैतिक सस्थाओं व सघों का एकत्रीकरण भी कहा गया है जो समाज को सत्ता से शासित करते हैं, विद्यमान सत्ता व्यवस्था के अनुरूप कार्य करने को बाध्य करते हैं, और जो कतिपय सिद्धान्तों और कार्यविधियों के आधार पर कार्य करते हैं। आलमण्ड और कोलमन (Almond and Coleman, *Politics of Developing Areas*, 1959 5) ने इसको "एक व्यवस्था जो समाज में राजनैतिक कार्य करती है" कह कर परिभाषित किया है। मैक्स वेबर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है "ऐसा सगठन जो प्रदत्त सीमा अर्थात् राज्य के भीतर शक्ति के वैधानिक प्रयोग के एकाधिकार पर सफलतापूर्वक दावा करता है"। (देखें, Gerth and Mills *"From Weber"* 78) आइजेन्टाड (Eisenstadt) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है "भूभागीय समाज का ऐसा सगठन जो समाज में शक्ति के अधिकारिक प्रयोग का तथा उसे नियमित करने का विधिमान्य एकाधिकार (legitimate monopoly) रखता हो।"।

राजनैतिक व्यवस्था के चार तत्त्व हैं (1) वैधानिक बल प्रयोग (2) व्यापकता (comprehensiveness) (3) परस्पर निर्भरता और (4) सीमाओं (boundaries) की विद्यमानता। डैविड ईस्टन (David Easton, *The Political System*, 1953) ने इसके तीन घटक (components) बताए हैं (1) यह नीतियों के माध्यम से मूल्यों का आवटन (allocation) करता है (2) इसका आवटन अधिकारिक (authoritative) होता है (3) इसके अधिकारिक आवटन पूरे समाज पर बाध्य होते हैं। आलमण्ड और कोलमन (op cit, 11) ने राजनैतिक व्यवस्था की चार सामान्य विशेषताएँ बताई हैं : (1) सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं में राजनैतिक सरचनाएँ होती हैं (जैसे, प्रतिरूपेण (patterned) सामाजिक

सम्बन्ध, प्रतिमान, और अधिकार व कर्त्तव्य) (2) सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं में कुछ प्रकार्य निभाये जाते हैं, यद्यपि उनकी शैली व बारम्बारता (frequencies) भिन्न होती है। (3) सभी राजनैतिक व्यवस्थाएँ बहुकार्यात्मक होती हैं (जैसे, नीतियों/भूमिकाओं (सरकार की) का मूल्याकन, लोगों में जागृति पैदा करना, जनता/समूहों/व्यवस्थाओं का नियंत्रण करना)। (4) सभी राजनैतिक व्यवस्थाएँ सास्कृतिक अर्थों में मिश्रित व्यवस्थाएँ होती है (अर्थात्, न तो कोई "पूर्ण आधुनिक" संस्कृति होती है और न कोई "पूर्व आदि संस्कृति"।

राजनैतिक व्यवस्था के प्रकार्यों के विषय में आलमण्ड और कोलमन ने तीन प्रकार्यों का वर्णन किया है · (1) प्रतिमानों का निर्धारण करके समाज को एक जुट बनाये रखना, उन्हें सर्वत्र व्यवहारिक बनाना, उनका क्रियान्वयन कराना, और उनका उल्लघन करने के लिए दण्ड देना (2) सामूहिक (राजनैतिक) उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक सामाजिक, आर्थिक, और धार्मिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाना व अनुकूल बनाना (3) बाहरी खतरों से राजनैतिक व्यवस्था को दृढता से सुरक्षा करना। आलमण्ड और कोलमन ने इन कार्यों की दूसरे तरीके से भी व्याख्या की है। उन्होंने इनको 'बाह्य कार्य' (output functions) और 'अन्त कार्य' (input functions) में वर्गीकृत किया है। 'बाह्य कार्य' है कानून बनाना, उनको लागू करना, और उनका अधिनिर्णयन करना। अन्त कार्य हैं राजनैतिक सामाजीकरण, रुचि जागरण (interest articulation), रुचि समहण (interest aggregation), और राजनैतिक संवाद। आइजेन्टाड (Eisentadt) ने राजनैतिक व्यवस्था के राजनैतिक क्रियाकलापों को *विधायी* (legislative) (अर्थात् समाज में विद्यमान व्यवस्था को बनाना), *निर्णायक* (decision-making) (अर्थात समाज के प्राथमिक उद्देश्यों का निर्धारण करना), और *प्रशासनात्मक* (administrative) (अर्थात, विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में प्रारंभिक नियमों के क्रियान्वयन की व्यवस्था करना और समाज के विविध समूहों को विविध सेवाएँ उपलब्ध कराना)। शिल्स (Shills) द्वारा राजनैतिक व्यवस्थाओं का प्रमुख रूप से वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है : (i) *लोकतान्त्रिक व्यवस्था*, अर्थात्, नागरिकों के द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासितों की इच्छानुसार शासन। यद्यपि लोकतन्त्र बहुसख्यकों के शासन पर आधारित है तथापि अल्पसख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आवश्यक पक्ष माना गया है। राजनैतिक लोकतन्त्र में कानून की दृष्टि में समानता, बोलने की, प्रेस की एव एकत्र होने की स्वतत्रता, और मानमानी गिरफ्तारी से बचाव भी महत्त्वपूर्ण है। (ii) *सर्वाधिकारी व्यवस्था* (totalitarian) अर्थात ऐसी व्यवस्था जिसमें राज्य की शक्ति को स्थिर करने और स्वच्छन्दतापूर्वक कार्यक्रमों को चलाने के लिए आवश्यक समझे जाने वाले जीवन के सभी पक्षों को राज्य सचालित व नियमित करता है। समाज के भीतर ही व्यक्ति या उप समूहों की स्वायत्तता पर केन्द्रीयकृत सत्ता पर बल दिया जाता है। व्यवहार में, राज्य का प्रतिनिधित्व राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली शासक वर्ग या अभिजात द्वारा किया जाता है जो अन्य सभी हित समूहों (interest groups) पर आधिपत्य जमाए रखता है। (iii) *अल्पतन्त्रीय व्यवस्था* (oligarchic), अर्थात् ऐसी व्यवस्था जिसमें एक छोटा समूह शासन करता है और बृहद् समाज के ऊपर सर्वोच्च शक्ति रखते हुए शासन करता है।

आइजेन्टाड ने राजनैतिक व्यवस्था को बहुवादी (pluralistic), प्रभुतावादी

(authoritarian), सर्वाधिकारी (totalitarian), और पैतृक अधिकारवादी (patrimonial) श्रेणियों में रखा है। बहुवादी व्यवस्थाओं/राज्यों की विशेषता है कि उनमें शक्तिशाली केन्द्र होता है, राजनैतिक स्वतत्रता को विस्तृत अवसर मिलता है और उसमें स्थाई विकास करने की क्षमता होती है। पैतृक अधिकारवादी राज्यों का द्वितीय महायुद्ध के बाद उदय हुआ। यह एक निजी शासन (personal rulership) होता है जिसमें शासक के अनुयायी उसके व्यक्तिगत गुणों में नही बल्कि उसके द्वारा दिए गए भौतिक पुरस्कारों और प्रोत्साहनों में विश्वास करते हैं।

परम्परागत और आधुनिक भारतीय समाज मे लोकतान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था ओर सरचना

(Democratic Political System and Structure in Traditional and Modern Indian Society)

विस्तृत अर्थ में, लोकतत्र न केवल राजनैतिक अवधारणा दर्शाता है बल्कि समाज की एक जीवन शैली भी दर्शाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समाज की सरचनाओं और सस्थाओं में उसकी स्वतत्र भागीदारी के सदर्भ में समानता का अधिकार होता है। सकीर्ण अर्थ में, लोकतन्त्र का अर्थ है जीवन के सभी क्षेत्रों में समाज के सभी सदस्यों को आजादी से वे निर्णय लेने के अवसर मिलना जो उनके जीवन को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं। सकीर्णतम (restricted) अर्थ में, लोकतन्त्र शब्द राज्य के नागरिकों को राजनैतिक निर्णयों में स्वतत्रतापूर्वक भागीदारी के अवसर मिलने से है। इस प्रकार लोकतन्त्र *समतावादी* (equalitarian) समाज की स्थापना का प्रयत्न है।

लोकतन्त्र के विविध प्रकार हैं राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, और नैतिक। *राजनैतिक* लोकतन्त्र वयस्क मताधिकार (adult franchise) तथा अपनी पसन्द के नेतृत्व के चुनाव तक ही सीमित है। *सामाजिक* लोकतंत्र का उद्देश्य वर्गहीन और जातिहीन समाज की रचना करना तथा सामाजिक स्तरीकरण और पूर्वाग्रहों को तोडना है। *आर्थिक* लोकतन्त्र कल्याणकारी राज्य पर बल देता है और धन के केन्द्रीयकरण और आर्थिक विषमताओं के विरुद्ध विद्रोह करता है। *नैतिक* लोकतन्त्र का झुकाव प्रचलित अभिवृत्तियों के अनुस्थापन तथा सही और गलत व्यवहार की अवधारणा के साथ विचार करने की ओर है। लोकतन्त्र के पीछे मित्रभावना, भ्रातृत्व, और सद्व्यवहार का दर्शन काम करता है।

प्राचीन भारत में लोकतन्त्र (Democracy in Ancient India)

ऋग्वेद लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रति इतना अधिक प्रतिबद्ध है कि इसमें लोकतन्त्र को एक देवता (deity) माना गया है और इसे 'समजन' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ है लोगों की सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय मन (mind) जिसके प्रति व्यक्ति का मस्तिष्क श्रद्धानत होता है क्योंकि इसी स्रोत से वह शक्ति प्राप्त करता है। 'समजन' को सम्बोधित स्तुति गान (ऋग्वेद) में लोगों से कहा गया है कि वे एक सभा में एकत्र हों

(सगच्छध्व) और वहाँ एक स्वर में बोलें (सम्वदध्वम्), मन एक हो (सम्मन), चित्त एक हो (समचित्तम), एक ही नीति हो (ममानमत्राह) और आशाओं व आकाक्षाओं में एक हों (आकूति)। इस प्रकार लोकतन्त्र अपने नागरिकों की आन्तरिक एकता व उनकी भावात्मक एकता पर निर्भर माना जाता था। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक—में कार्य करते थे। वैदिक युग में लोकतान्त्रिक परम्परा युगों से भारतीय राजनीति की समूची वृद्धि को सचालित करती थी। जहा राजतत्र (monarchy) था वहाँ यह सीमित (limited) सवैधानिक राजतत्र था जिससे राजतत्र का स्वरूप मूलरूप में लोकतान्त्रिक ही रहा। यह विकेन्द्रीकरण या स्थानीय स्वायत्तता (autonomy) पर निर्भर था। लोग निम्नलिखित उपयुक्त सघ और समूह आरोही क्रम (ascending order) में स्वशासन में अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए बना लेते थे *कुल* (clan), *जाति* (caste), *श्रेणी* (guild), *पुर* (pura or village community), और *जनपद* (the state)। प्रत्येक समूह के अपने नियम और कानून होते थे। प्रत्येक अपने स्तर पर स्वशासन लोकतन्त्र के लिए करता था। प्राचीन भारत में कुछ जनपद तो स्वरूप में गणतत्र जैसे होते थे और कुछ में राजतन्त्रीय सगठन होता था। लेकिन प्राय प्रत्येक में एक समिति आधुनिक ससद का पूर्व स्वरूप होती थी जिसमे ऊचे और नीचे लोग राज्य के मामलों पर निर्णय लेने के लिए उपस्थित होते थे। आर के मुकर्जी (R K Mukerjee, *Glimpses of Ancient India*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1961 42) ने उल्लेख किया है "राजतत्र के साथ-साथ नियमित गणतात्रिक प्रकार की राजनीति भी विकसित हुई जिनकी झलक विविध साहित्यिक पुस्तकों—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन—में मिलती है। महाभारत में भी कुछ गणराज्यों का उल्लेख है जो 'सघटगण' कहलाते थे। पाँच गणराज्यों (republican unions) को अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज कहा जाता था। इनको मिला कर एक सघ बना हुआ था जिसका अध्यक्ष सघ मुख्य होता था। इसी तरह महाभारत में 'गण' (republics) का उल्लेख है जिसका शासन नेताओं की समिति 'गण मुखियाओं' द्वारा होता था। इन सभी गणों में पूर्णरूपेण लोकतान्त्रिक सविधान होता था। प्रत्येक में एक परिषद् (assembly) होती थी।

जैन और बौद्ध मूलग्रन्थों में भी अनेक पूर्व गण राज्यों और कुछ गण राज्यों के परिसघों, जैसे 'वृजि' जिसमें नौ मल्लकी, नौ लिच्छिवी तथा काशी—कौशल के अठारह गणराज्य तथा अन्य राज्य शामिल थे, का उल्लेख पाया जाता है। यह उल्लेख भी किया गया है कि महावीर स्वामी की मृत्यु पर इसी वृजि परिसघ के 36 गण राज्यों द्वारा उनकी अत्येष्टि पर अग्नि प्रज्जवलित कर श्रद्धाजलि अर्पित की गई थी। उन दिनों लिच्छिवी सुपरिचित गण राज्य था जिस पर 7707 राजाओं की समिति शासन करती थी जो सवैधानिक रूप से सम्राट होते थे। सख (Sakha) गणराज्य प्रसिद्ध है। इसी ने ससार को बुद्ध जैसा महापुरुष दिया। इस गणराज्य में लगलग 80,000 घराने थे जो गणराज्य के अग थे जिसमें एक अध्यक्ष या राजा सहित 500 सदस्यों की परिषद या ससद थी। बौद्ध युगीन कुछ प्रसिद्ध गणराज्य थे वैशाली, पवा, मिथिला, आदि। परिषद् विधानसभा का काम करती थी। उनके निर्णयों का क्रियान्वयन करने के लिए विविध प्रकार की न्यायपालिकाए तथा कार्यपालिकाए भी होती

थी। केवल एक प्रमुख चुना जाता था जो परिषद/राज्य की अध्यक्षता करता था। उसे 'राजा' पदनाम दिया गया था।

यह कहा जाता है कि प्राचीन भारत में लोग लोकतान्त्रिक तरीके से रहते थे यद्यपि राजनैतिक लोकतन्त्र अपने पूर्व स्वरूप में विद्यमान नही था। राजतन्त्र भी लोकप्रिय था।

छठी शताब्दि के बाद लोकतान्त्रिक सगठनों का पतन शुरू हो गया। राजा और सम्राट लोग युद्धों में व्यस्त रहने लगे। देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए क्योंकि कोई शक्तिशाली राजा नही था, परिणामत समूचे देश में बडी संख्या में राज्यों का उदय हो गया। आठवी शताब्दि में आगे मुसलमानों ने आक्रमण शुरू कर दिए, अन्तत. बारहवी शताब्दि में उन्होंने अपना शासन स्थापित कर ही लिया। मुस्लिम शासक निरंकुश (autocratic) थे।

ब्रिटिश शासन लोकतन्त्र के विरुद्ध था। भारत सरकार के अधिनियम, 1935 ने भारत में लोकतन्त्र शासन की नींव रखी। कांग्रेस 1935 से 1937 तक दो वर्ष के लिए ही सत्ता में रही। 1940 से 1945 तक ब्रिटिश सरकार द्वितीय विश्वयुद्ध में ही फँसी रही। 1946 से भारत को स्वतत्रता प्रदान करने के प्रयास प्रारम्भ हुए और 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतत्र हुआ। स्वतत्र भारत के सविधान में लोकतन्त्र को ही देश में शासन का आधार बनाया गया।

आधुनिक भारत मे लोकतन्त्र (Democracy in Modern India)

आधुनिक भारत में लोकतन्त्र कुछ सिद्धान्तों पर आधारित है (1) कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिष्ठा होती है, (2) कि प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों के साथ अपने जीवन को चलाने और सीखने की क्षमता है, (3) कि हर व्यक्ति को बहुसख्यकों के निर्णय को मानना चाहिए, (4) कि प्रत्येक व्यक्ति का निर्णय निर्धारण में हिस्सा होना चाहिए, (5) कि लोकतान्त्रिक कार्यवाही का नियत्रण और निर्देशन स्थिति में निहित है, न कि इसके बाहर, (6) कि जीवन की प्रक्रिया अन्तर्क्रियात्मक (interactive) है और सभी व्यक्ति सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं, (7) कि प्रजातन्त्र व्यक्तिगत अवसरों और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों पर टिका होता है।

स्वतत्रता के पश्चात भारत ने लोकतत्रीय राजनैतिक व्यवस्था अपनाने का निश्चय किया। इस व्यवस्था की तीन विशेषताएं हैं प्रथम, इसमें उच्च कोटि की स्वायत्तता होती है, द्वितीय, आर्थिक कार्यकर्ता और धार्मिक सगठन राजनैतिक हस्तक्षेप से मुक्त रहते हैं, तृतीय, विभिन्न व्यवस्थाओं की प्रतिस्पर्धा अखण्डता के लिए खतरा नही होती बल्कि सहायक होती है। कुछ लोग मानते हैं कि इन्दिरा गान्धी का शासन काल जनवरी 1966 और अक्टूबर 1984—(मोरारजी देसाई और चरणसिंह के तीन साल छोडकर) लोकतान्त्रिक नही था बल्कि अधिकारिक शासन काल रहा, जिसकी तीन विशेषताएँ थी · (1) इसमें प्रमुख सत्ताधीशों के प्रति आज्ञाकारी होना आवश्यक था, (2) इसमें सार्वजनिक आलोचना और सगठित विरोध को दबाया जाता था (दो वर्ष के लिए आपातकाल की घोषणा से), (3) स्वायत्तशासी सगठनों पर इसकी अधिक पकड थी।

लोकतन्त्र और बहुदलीय सगठ्ठक सरकारें
(Democracy and Coalition Governments)

भारत में केन्द्र में सघठ्ठक सरकारों का बनना मोरारजी शासन काल (मार्च 1977) से शुरू हुआ, यद्यपि राज्य स्तर पर इनका प्रारम्भ 1967 से ही हो गया था। केन्द्र में 1977 और 1999 के बीच आठ बार सघठ्ठक मत्रिमण्डल बना। प्रथम बार मोरारजी देसाई का सयुक्त मत्रिमण्डल 857 दिन चला (मार्च 1977 और जून 1979 के बीच), चरन सिह का 171 दिन (जुलाई 1979 से जनवरी 1980 तक), वी पी सिंह का 344 दिन (दिसम्बर 1989 और नवम्बर 1990 के मध्य), चन्द्र शेखर का 224 दिन (नवम्बर 1990 और जून 1991 के मध्य), अटल बिहारी वाजपेयी का 13 दिन (मई 1996), देवे गौडा का 325 दिन (जून 1996 और अप्रैल 1997 के बीच), इन्द्र कुमार गुजराल का 333 दिन (अप्रैल 1997 और मार्च 1998 के बीच, और अटल बिहारी वाजपेयी का 394 दिन (मार्च 1998 और अप्रैल 1999 के मध्य)। अक्टूबर 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा बनाया गया सयुक्त मत्रीमडल अभी (2000 में) चल रहा है। इस प्रकार कोई भी सयुक्त मत्रिमण्डल पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा न कर सका। दो राष्ट्रीय मोर्चा मत्रिमण्डल 1996 और 1998 के मध्य, 13 दलो के समर्थन से देवे गौडा और इन्द्र कुमार गुजराल के प्रधानमत्रित्व में बने और उन्हें काग्रेस से, जो उस समय बाह्य समर्थन दे रही थी गम्भीर समस्याओं का सामना करना पडा। जब काग्रेस ने सयुक्त मोर्चा सरकार से समर्थन वापस ले लिया तब फरवरी 1998 में आम चुनाव कराए गए, और भारतीय जनता पार्टी ने 18 प्रादेशिक दलों के समर्थन से मत्रिमण्डल बनाया। यह भी 17 अप्रैल 1999 के ससद में एक मत से हरा दिया गया। अक्टूबर 1999 में लोकसभा चुनाव के उपरान्त एक बार फिर भारतीय जनता पार्टी ने अन्य दलों के साथ मिलकर अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमत्री के नेतृत्व में सरकार बनायी जो अब भी चल रही है।

सयुक्त शासन में बहुमख्यक दल के लिए मित्र घटकों को सम्हालना टेढी खीर है, भले ही उनके साथ तीन या चार सदस्य ही क्यो न हों। फरवरी 1998 में सत्ता में आने के बाद भाजपा नियंत्रित सरकार को कुछ मित्रों की धमकियों का सामना करना पडा। कम से कम चार क्षेत्रीय दलों ने (तमिलनाडु (एडीएम के), पश्चिम बगाल (ममता), पजाब (अकाली दल), और हरियाणा (चौटाला से) समर्थन वापसी की धमकी से सरकार को परेशान कर रखा। सयुक्त मत्रिमण्डल में तमिलनाडु की क्षेत्रीय दल के एक नेता के विरुद्ध चार दर्जन के लगभग मामले उनके विरुद्ध न्यायालय में लम्बित थे। क्योंकि उनके दल के ससद में सदस्यों की सख्या अच्छी खासी थी अत उन्होंने बारबार सरकार से "छुटकारा राशि' (ransom) के रूप में विभिन्न प्रकार के लाभ पाने के लिए अपने दल के समर्थन के लिए भुनाना शुरू कर दिया। अन्तत उन्होंने सरकार से समर्थन वापस ले लिया। फलत 17 अप्रैल 1999 को एक वोट से सरकार विश्वास मत में पराजित हो गई। पश्चिमी बगाल के भी एक क्षेत्रीय दल ने सरकार पर बगाल पैकेज और केन्द्रीय मत्रिमण्डल में एक मत्री पद लेने का आग्रह करके सरकार को दबाव में रख दिया था। अन्य क्षेत्रीय दलों की माँगें भी कम हास्यास्पद नही थीं और केन्द्रीय सरकार को कई बार उन लोगो की दबाव की नीति के सामने झुकना पडा।

सयुक्त मत्रिमण्डल में बहुसख्यक दल की सरकार किस प्रकार अपने सहयोगियों की धमकियों के सामने स्थाई बनी रह सकती है ? वह किस प्रकार देश के विकास की योजनाएँ

बना सक्ती है और किस प्रकार अन्य विकसित देशों के साथ वाणिज्य और व्यापार तथा अन्य सम्बन्धों पर विचार विमर्श कर सकती है ? क्या सहयोगियों के छोटे से प्रकरण पर समर्थन वापसी की धमकी सरकार को डॉवाडोल नही कर देती ? फिर, प्रत्येक राजनैतिक दल में अन्तर्कलह भी है। दल के भीतरघाती सदस्य भी सहयोगियों को ऐसे प्रकरण उठाने के लिए उकसाते रहते हैं जो सरकार को हमेशा परेशानी में डाल देते हैं।

यद्यपि भारत में राजनीति अभी भी भ्रष्ट, अविवेकी व स्वार्थी व्यक्तियों की आश्रय स्थली नही है तथापि सार्वजनिक सेवाओं से सम्बद्ध गुणवत्ता के विषय में गर्व से कुछ भी नही कहा जा सकता। आज भारत में राजनीति शक्ति प्राप्त करने और उसका प्रयोग करने के साधन के अतिरिक्त कुछ भी नही है। स्वतत्रता के समय भारत के राजनीतिज्ञों ने व्यक्तिगत तथा सम्प्रदायगत हितों से उठकर सामान्य जन की भलाई के लिए राजनीति को नैतिक आदर्शवाद के उच्च शिखर पर पहुचा दिया। वे जनता के लिए व राष्ट्र के लिए सत्ता चाहते थे, न कि व्यक्ति के लिए। आज व्यक्तिगत शक्ति और महत्वकाक्षा राजनीतिज्ञों के शब्द कोष में राजनीतिक बीज शब्द (key words) हो गये हैं। सार्वजनिक एव राष्ट्रीय हित व्यक्तिगत एव सम्प्रदायगत (sectarian) हितों के स्थान पर स्थापित हो गए हैं। वास्तविक राजनीति व्यवहार के लिए इसके घातक परिणाम हो रहे हैं। राजनैतिक दल आदर्शवाद और कार्यक्रम प्रतिवद्धता के आधार पर नही बल्कि क्षेत्रीय, साम्प्रदायिक एव जातिवाद के आधार पर कार्य करते हैं। हाल में ही कई नेताओं ने राजनैतिक वास्तववाद (pragmatism) के लिए आदर्शवाद को पीछे छोड दिया है, लेकिन वास्तव में सत्ता की भूख के कारण यह राजनैतिक अवसरवाद ही है। कुछ राजनैतिक दलों के राजनैतिक दाँवपेंच, जिन्होंने अवसरवाद को अपनी विशेषता बना लिया है, आदर्शवाद के प्रति अ-प्रतिबद्धता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। व्यक्तिगत महत्वकाक्षा या शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित अवसरवाद ने राजनैतिक आदर्शों को दृढ विश्वास (conviction) की अपेक्षा सुविधा (convenience) का विषय बना लिया है। यह हमारे राजनैतिक जीवन की गम्भीर व्याधि और आदर्शवाद की कमी दर्शाता है जो सयुक्त सरकारों के कामकाज को बुरी तरह प्रभावित करता है।

1996 से 1999 के मध्य चार वर्ष की अवधि में ही पॉच सरकारों का सत्ता से बाहर कर दिया जाना दर्शाता है कि सयुक्त सरकारें देश के लिए आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से हितकर नही हैं। आर्थिक दृष्टि से 1998 के चुनाव में देश का 900 करोड रुपया खर्च हुआ था, और अत्यन्त रूढिगत अनुमान के अनुसार अक्टूबर 1999 के मध्यावधि चुनाव में 1,000 करोड रुपया खर्च हुआ था। इसके अतिरिक्त बार-बार चुनाव आर्थिक विकास अवरुद्ध करते हैं, वित्त घाटे में वृद्धि होती है, व्यापार विश्वास को उल्टा प्रभावित करते हैं, शेयर बाजार में उछाल आता है, और लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है। राजनैतिक अस्थिरता विकास को अवरुद्ध करती है और विदेशी सम्बन्धों को प्रभावित करती है। गत पाँच वर्षों के अनुभव भी गलत सिद्ध हुए हैं कि सघीय राजनीति के लिए सयुक्त सरकारें आर्थिक तर्कसगत हैं। नजारा यह होता है कि सरकार अस्थिर, विखण्डित राष्ट्रीय राजनीति और अह मुद्दों पर नीति रुकावट भोगती है। अप्रैल 1952 और अक्टूबर 1999 के मध्य गठित 13 लोक सभाओं में से, 7 पाँच वर्ष की अवधि पूरी कर सकी (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पाचवी, सातवीं, आठवी और दसवी) चौथी लोक सभा (मार्च 1967 में गठित) 3 वर्ष

9 माह पूरे कर सकी, छठी लोकसभा (मार्च 1977 में गठित) 2 वर्ष 6 माह पूरे कर सकी, नवीं लोक सभा (दिसम्बर 1989 में गठित) 1 वर्ष तीन दिन ही पूरे कर सकी, 11वीं लोक सभा (मई 1996 में गठित) 1 वर्ष सात माह ही पूरे कर सकी, और 12 वी लोकसभा (मार्च 1998 में गठित) 1 वर्ष 1 माह ही पूरा कर सकी। अक्टूबर 1999 में गठित तेरहवी सयुक्त सरकार अभी (अक्टूबर, 2000 में) चल रही है।

सयुक्त सरकारों की सफलता के लिए कुछ विकल्प सुझाए जाते हैं जो कि अब भारत के लिए अपरिहार्य हैं (आशा है कि फरवरी 2000 में केन्द्रीय सरकार द्वारा सविधान समीक्षा के लिए बनाई गयी कमेटी भी इन तथ्यों पर विचार करेगी)।

1 ससद के लिए केवल राष्ट्रीय स्तर के दलों को ही चुनाव लडने की अनुमति दी जाये और क्षेत्रीय दलों को यह अवसर न दिया जाये। वर्तमान में हमारे देश में 6 राष्ट्रीय दल हैं तथा 48 क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त दल हैं। क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्रीय आकाक्षाओं को भली प्रकार से कह सकते हैं, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रीय आकाक्षाएँ देश की अखण्डता को हानि पहुचाते हैं। ससदीय चुनावों में केवल राष्ट्रीय दलों को ही अनुमति देना राजनैतिक अवसरवादियों को कम तो करेगा, भले ही उनका सफाया न भी हो। कुछ दल (जैसे बहुजन समाज पार्टी) खुले आम कहते हैं कि वे देश में राजनैतिक अस्थिरता चाहते हैं। इस प्रकार के दलों को जिनके पास राष्ट्रीय विकास के कोई कार्यक्रम ही नहीं हैं, कैसे केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकारों की बागडोर सौंप दी जाये ? केवल ऐसे दलों को ही राष्ट्रीय दल माना जाये जो समूचे देश के कम से कम आधे राज्यों में चुनाव लडें और कम से कम 5% वोट प्राप्त करें। वर्तमान में चुनाव आयोग उन दलों को राष्ट्रीय दल घोषित करता है जिन्होंने कम से कम चार राज्यों में प्रादेशिक दल का दर्जा हासिल किया हो। फिर भी, यदि कई क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय मोर्चा बना लें और एक सामान्य कार्यक्रम बना लें, तो ऐसे मोर्चे को ससद चुनाव लडने की अनुमति दी जा सकती है।

2 दूसरा विकल्प यह होना चाहिए कि सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाने वाले अपने प्रस्ताव में अगले प्रधानमत्री का नाम बताएँ ताकि विकल्प तैयार मिले।

3 तीसरा विकल्प हो सकता है कि भग्न जनादेश होने पर सदन को यह निर्देश हो कि वह अपना नेता या प्रधान मत्री चुन ले।

यह सुझाव अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय सरकार के लिए है। लेकिन क्या राष्ट्रीय सरकार व्यवहारिक (practical) है ? मेरी मान्यता है कि यह अयथार्थवादी (unrealistic) है। ससदीय लोकतत्र राजनैतिक दलों से चलता है। नेहरू की मृत्यु के बाद, या यों कहिये कि 1971 के आम चुनाव के बाद, विशेष रूप से काग्रेस पार्टी और हमारी राजनैतिक व्यवस्था आमतौर पर छिन्न भिन्न हो गई तथा स्थानीयवाद और गुटबाजी राष्ट्रीय महत्व के मामलों पर हावी हो गए। इसमें सन्देह है कि क्या राष्ट्रीय सरकारें इस व्याधि को ठीक कर सकती हैं ? मेरा विश्वास है कि क्षेत्रीय मसलों की अपेक्षा राष्ट्रीय मामलों को जो बात उजागर कर सकती है वह है कि राजनैतिक दलों को मजबूत किया जाये। वे अपने आप को अधिक प्रतिनिधित्ववादी, उत्तरदायी एव जवाबदेह बनाएँ। प्रधानमत्री पद के लिए एक व्यक्ति की बात करना उस महत्तपूर्ण भूमिका की उपेक्षा करना होगा जो कि राजनैतिक दल सम्पूर्ण

राजनैतिक प्रक्रिया को समृद्ध एव स्थाई बनाने के लिए करते हैं। अच्छे सगठन के अभाव में एक श्रेष्ठ व्यक्ति भी एक व्यक्ति बन कर रह जायेगा। राजनैतिक दलों के माध्यम से राजनीति में अधिक सख्या में लोगों को हिस्सेदारी सफल लोकतत्र के लिए आवश्यक सामग्री है। वास्तव में, राजनैतिक दलों के विरुद्ध अनेक आलोचनाएँ होती हैं। इनमें से कुछ हैं . वे भ्रष्टाचार और पक्षपात को प्रोत्साहित करते हैं, स्वार्थों के आधार पर कार्य करते हैं, वे गुटबाजी और विभाजन करने वाले होते हैं, और प्राय राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न करते हैं। इन आलोचनाओं को स्वीकार करने पर भी, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि राजनैतिक दल सत्ताधारी दल के कार्यक्रमों और नीतियों को नियत्रित करने सहित कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक कार्य करते हैं। राष्ट्रीय दल का नेता, चाहे कितना भी चमत्कारी क्यों न हो, वह शासकों और शासितों के बीच की खाई को नही भर सकता और जन समूह के कष्टों का निवारण नही कर सकता। केवल राष्ट्रीय हितों पर केन्द्रीय राजनैतिक दल ही राजनैतिक स्थिरता सुनिश्चित कर सकते हैं।

कुछ लोग सुझाव देते हैं कि ससदीय लोकतत्र भारत के लिए उपयुक्त नहीं है और इसके स्थान पर राष्ट्रपति शासन प्रणाली होनी चाहिए। मेरी मान्यता यह है कि थोडे समय का मूल्याकन करना गलत होगा, विशेष रूप से गत वर्षों में जो कुछ हुआ है। गौरतलब बात यह है कि किसी भी राजनैतिक दल ने किसी भी समय भारतीय सविधान में निहित आदर्शवादिता पर प्रश्न नहीं उठाया और न ही ससदीय लोकतत्र की सस्था के औचित्य पर। सभी आठ सयुक्त सरकारों ने हमारे सविधान द्वारा स्थापित शासन सस्था की पवित्रता को सर्वोपरि रखा। अत्यधिक केन्द्रीयकृत राष्ट्रपति प्रकार की सरकार बनाने या एक या दो दलों की सरकार बनाने की अपेक्षा, ससदीय लोकतत्र हमारे देश के लिये उपयुक्त है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राष्ट्रीय महत्व के तीन क्षेत्र हैं विदेशों से सम्बन्ध, रक्षा नीति, और आर्थिक नीति। गत पाँच दशकों ने यह स्पष्ट किया है कि कुछ समय की सरकारों और सयुक्त सरकारों के बावजूद भी हमारी नीतियाँ निरन्तर एव लचीलेपन की विशेषता लिए हुए रही हैं। निरन्तरता ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में भारत की विश्वसनीयता की छवि को बनाए रखा है। आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए लचीलेपन के प्रति सवादशील होना आवश्यक है। यहाँ तक कि परमाणुशस्त्रीकरण (nuclear weaponisation) और प्रक्षेपास्त्र (missile) विकास पर भी अधिकत्तर आम राय रही है। तब हम कैसे मान लें कि ससदीय लोक्तत्र को केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया जाये क्योंकि सयुक्त सरकारों में कुछ अवसरवादी राजनैतिक दलों के द्वारा कुछ राजनैतिक अस्थिरता पैदा की गई ? भारत की जनता इतनी परिपक्व हो गई है कि वह ऐसे लोगों और राजनैतिक दलों को सत्ता से बाहर फेंक सकती है जो अपने स्वार्थों के लिए चुनाव लडते हैं, उन सरकारों को ब्लैकमेल करते हैं जिनमें वे शामिल होते हैं और लोक सभा के गणित को प्रभावित करते हैं।

राजनैतिक अभिजन : भर्ती, और सामाजिक परिवर्तन मे उनकी भूमिका
(Political Elite : Recruitment and Role in Social Change)

अभिजन (अथवा सभ्रातजन अथवा एलीट) कौन हैं ? अभिजन समाज में सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रतिष्ठावान स्तर (stratum) है। 'अभिजन' में वे लोग आते हैं जो किसी

क्षेत्र में श्रेष्ठ नेता माने जाते हैं। इस प्रकार, राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यापारिक, कला आदि क्षेत्रों में अभिजन होते हैं। अनेक समाजशास्त्रियों (Pareto, Mosca, C Wright Mills, Lasswell, Mannheim, Bottomore), ने *इनकी अलग-अलग परिभाषाएं दी* हैं। पेरी गेरियन्ट (Pary Gariant, *Political Elite*, George Allen and Unwin, London, 1969) ने अभिजन की परिभाषा इस प्रकार दी है · "कुछ अल्पसख्यक जो विशिष्ट क्षेत्रों में समाज के मामलों में अद्वितीय प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं।" बैंक (Bank, *Elite in the Welfare State*, 1966) ने अभिजन को "निर्णय करने वाले व्यक्ति जिनकी शक्ति समाज की अन्य किसी भी सख्या के नियत्रण से परे है" कहा है। नैडेल (Nadel, *International Social Science Bulletin*, 1956) का मानना है कि अभिजन वे लोग हैं "जिनका उनकी श्रेष्ठता के कारण समाज के भाग्य पर प्रभाव रहता है।" अभिजन समाज के मूल्यों एव अभिवृत्तियों को बनाने में महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखते हैं। सी राइट मिलस (C Wright Mills, *Power Elite*, 1956) ने उनका वर्णन करते हुए कहा है। "वे लोग जो प्रमुख परिणामों वाले निर्णय करते हैं, जो अपनी इच्छाओं को साकार करने में समर्थ हैं, और जिनके पास वह सब कुछ है जो रखने योग्य है—धन, शक्ति और प्रतिष्ठा।"

मैं अभिजन को "एक प्रभुता सम्पन्न (dominant) समूह कहता हू जिसके पास वैशिष्टय (distinctiveness) और अनन्यता व अलगपन (exclusiveness) होती है" (Ahuja, *Political Elite Recruitment and Role in Modernisation*" in Sachidananda, *"Elite and Development"*, Concept Publishing Co, New Delhi, 1981 124)। दूसरे, यह शब्द किसी एक व्यक्ति पर लागू नहीं होता बल्कि 'अनेक व्यक्तियों के समूह' पर लागू होता है, भले ही वह कितना भी छोटा हो। तीसरे, इस पहिचान योग्य सामूहिकता के कुछ गुण और कुशलताएं होती हैं जो इनको न केवल श्रेष्ठता प्रदान करती है बल्कि निर्णय करने की शक्ति तथा दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति भी देती है। अन्तत, अभिजन एक सापेक्ष (relative) शब्द है। एक समूह को अभिजन समूह के रूप में एक विशेष क्षेत्र में चिन्हित किया जाता है जिसमें वह 'प्रभावशाली' हो या 'शक्ति दर्शाने वाला' हो या 'श्रेष्ठता' पर प्रभुत्व रखता हो। लेकिन अन्य समूहों में ये अभिजन 'सामान्य' सदस्य माने जा सकते हैं।

इस आधार पर 'राजनैतिक अभिजन' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है "राजनैतिक सस्कृति या ठोस राजनैतिक सरचना में निर्णय करने वालों के ऊपरी सतह का एक समूह जिसका राजनैतिक शक्ति पर एकाधिकार हो, जो प्रमुख राजनैतिक नीतियों को प्रभावित करता हो, और राजनैतिक सत्ता के सभी महत्वपूर्ण पदों पर अधिकार रखता हो।" यदि हम इस शब्द का विश्लेषण करें तो कहा जा सकता है कि राजनैतिक अभिजन में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित हैं (a) जो केन्द्रीय या राज्य विधान सभाओं में चुने/नामांकित किए गये हों, (b) जो राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय राजनैतिक दलों मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हों, और (c) जो न तो सरकार और न ही राजनैतिक दलों में कोई औपचारिक पद रखते हों, लेकिन फिर भी राजनीति में महान प्रतिष्ठा या शक्ति वाले व्यक्ति समझे जाते हों क्योंकि वे सत्ताधारियों (power-exercisers) पर *नियत्रण रखते हैं, जैसे गाधीजी, जयप्रकाश नारायन।*

सी राइट मिल्स (1956) ने राजनीतिक अभिजन (Power Elite) शब्द का प्रयोग

किया है, जो सत्ता पर एकाधिकार रखते हों और देश पर शासन करते हों। परेटो (Pareto, 1935) ने उन्हें 'शासक अभिजन' (Governing Elite) कहा है ; मार्क्स (देखें, Bottomore, *Elite and Society*, 1964) ने उन्हें 'शासक वर्ग' (Ruling Class) कहा है, रीजमैन (Riesman) ने उन्हें 'वीटो समूह' (Veto Group) कहा है; और हन्टर (Floyd Hunter) ने उन्हें 'शीर्षस्थ नेता' (Top Leaders) कहा है। मैंने बिहार में राजनैतिक अभिजन पर अपने अध्ययन में उन्हें "अल्पतन्त्रीय अभिजन" (Oligarchic Elite) कहा है। मैंने यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयोग किया है जो सरचना के भीतर कार्यकारी (functional) समूहों को नियत्रित करते हैं और इसमें 'आधीन अभिजन' (Subjacent Elite) की राय कम से कम लेते हैं।

स्वातन्त्रयोत्तर भारत मे अभिजन का प्रवेश और उनका बदलता स्वरूप
(Recruitment and Changing Character of Elite in Post-Independence India)

'राजनैतिक अभिजन' की उपरोक्त परिभाषाओं के साथ अब हम स्वतत्रतता के बाद भारत में राजनैतिक क्षेत्र में कार्यरत अभिजन का प्रवेश और बदलते स्वरूप (nature) का परीक्षण करेंगे। राजनैतिक अभिजन का पाँच प्रावस्थाओं (phases) में वर्गीकरण करके इस परिवर्तन का विश्लेषण किया जा सकता है

(i) स्वतत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद की प्रावस्था (अर्थात, 1947 से अप्रैल 1952 तक) —जिसमें सरकार और जनता के बीच कोई सघर्ष था ही नही और जिसमें यद्यपि जनता और सत्ताधारियो के हित एक जैसे और अविभाज्य (indivisible) थे (अर्थात, समाज का पुनर्निर्माण) परन्तु सत्ताधरी सभ्रात व्यक्ति देश विभाजन के बाद, शरणार्थी पुनर्वास, साम्प्रदायिक शान्ति को बनाए रखना, और विभिन्न राज्यों के बीच सीमा क्षेत्रों के पुनर्वितरण पर विवादों के कारण उपजे कानून व्यवस्था की समस्याओं के समाधान में अधिक लगे हुए थे।

(ii) एकीकरण प्रावस्था (consolidation phase) (अर्थात् अप्रैल 1952 से मार्च 1962 तक या अप्रैल 1952 और अप्रैल 1957 के चुनावों में सासद, विधायक और पार्टी के पदाधिकारी गणों के चुनाव तक)—जिसमें राजनैतिक अभिजन ने पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक उत्थान और सामाजिक विकास के लिए कार्य किया।

(iii) अस्तव्यस्त प्रावस्था (chaotic phase) (अर्थात अप्रैल 1962 से मार्च 1971 या अप्रैल 1962 और मार्च 1967 के विधान मण्डलों के चुनावों में चुने गये व्यक्ति)—जिसमें अनेक राज्यों में गैर काग्रेसी और सयुक्त सरकारों के सत्ता में आने से अन्तर्राज्यीय व केन्द्र-प्रदेश सम्बन्धों पर प्रभाव पडा।

(iv) प्राधिकारवादी प्रावस्था (authoritarianism phase) (अर्थात, मार्च 1971 से नवम्बर 1989 तक या मार्च 1971, मार्च 1977, जनवरी 1980, दिसम्बर 1984, नवम्बर 1989 के चुनावों में चुने हुए व्यक्ति)—जिसमें एक ही व्यक्ति को सर्वोच्च राष्ट्रीय नेतृत्व का स्थान दिया गया था—पहले इन्दिरा गाधी को 16 वर्षों तक (मार्च

1977 से जनवरी, 1980 तक की अवधि को छोड़कर) और फिर राजीव गान्धी को 5 वर्षों के लिए। सत्ताधारी नेता व्यक्तित्व पूजा में विश्वास करने लगे और व्यक्ति पूजा में ही समाज के परिवर्तन और विकास की सभी योजनाएं केन्द्रित होकर रह गईं।

(५) बहु-दलीय प्रावस्था (multiple-party phase) (अर्थात दिसम्बर 1989 से वर्तमान 2000 तक) जिसमें से 5 वर्ष के नरसिंह राव के समय को छोड़कर शेष समय में अनेक राजनैतिक दलों ने न्यूनतम सामान्य कार्यक्रम के आधार पर देश पर शासन करने के लिए हाथ मिला लिए। इस प्रावस्था में जो पार्टियाँ और मंत्रिमण्डल शासन में रहे वे इस प्रकार थे वीपी सिंह मंत्रिमण्डल 11 माह के लिए—दिसम्बर 1989 से नवम्बर 1990 तक, चन्द्रशेखर मंत्रिमण्डल साढ़े सात माह के लिए—नवम्बर 1990 से जून 1991 तक, पीवी नरसिंह राव मंत्रिमण्डल 5 वर्ष के लिए—जून 1991 से मार्च 1996 तक, अटल बिहारी वाजपेयी मंत्रिमण्डल 13 दिन के लिए—मई 1996 से मई 1996 तक, सयुक्त मोर्चा सरकारें देवगौडा की सरकार 11 माह के लिए—जून 1996 से अप्रैल 1997 तक, इन्द्र कुमार गुजराल सरकार एक वर्ष के लिए—अप्रैल 1997 से मार्च 1998 तक, अटल बिहारी वाजपेयी की भाजपा नेतृत्व वाली सरकार 13 माह के लिए—मार्च 1998 से अप्रैल 1999 तक, और वर्तमान अटल बिहारी वाजपेयी की भाजपा—नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार—अक्टूबर 1999 से वर्तमान तक।

प्रथम प्रावस्था में अभिजन कौन थे ? ये वे लोग थे जिनकी आर्थिक पृष्ठभूमि सुदृढ थी *(यद्यपि राजनीति उनकी रोजी रोटी का धन्धा नही था)*, जो उच्च शिक्षा प्राप्त थे, *अधिकतर* उच्च जाति वाले थे, और सामाजिक हितों के लिए प्रतिबद्ध थे। उनकी सामाजिक-राजनैतिक विचारधारा राष्ट्रवाद, उदारवाद एव धार्मिक-सास्कृतिक सुधारों पर आधारित थी। स्वतंत्र भारत में सत्ताधारियों की इस प्रथम पीढ़ी ने अपने साहस, दृष्टि, और काम से नाम कमाया था और राजनैतिक सत्ता के उत्तराधिकारी के रूप में पद ग्रहण करने से चमत्कार (charisma) अर्जित किया और पद पर बने रहकर इसे और अधिक चमत्कारी बनाया। दूसरी प्रावस्था में (सुदृढीकरण) विशेष रूप से जो लोग 1952 के चुनाव में चुने गए, राजनीति में केवल अंशकालिक रुचि रखते थे। वे लोग आजादी के सघर्ष में भाग लेने के कारण कुछ राजनैतिक पद के रूप में अपना पुरस्कार चाहते थे। शुरू में इस अभिजन ने अपने दलीय ढाँचे में असन्तुलन पैदा किया, लेकिन राजनीति में सक्रिय सहभागिता के लिए उनका दबाव इतना मन्द गति का था कि वे जल्दी ही अपने दल की व्यवस्था में समाहित हो गए।

तत्पश्चात 1957 का चुनाव आया जब *तथाकथित राजनैतिक पीड़ितों* (sufferers) का लम्बा प्रतिस्थापित प्रभुत्व (long-established dominance) टूट गया और राजनैतिक शक्ति अभिजन की नयी पीढ़ी के हाथों में आ गयी। ये सभ्रात व्यक्ति (एलीट) या तो थोड़ी बहुत भूमि के स्वामी थे या व्यापारी-व्यावसायिक व्यक्ति, छोटे उद्योगपति या सामाजिक कार्यकर्ता थे। ये इतने अधिक राजनीतिवृत नही हुए थे जितने कि इनके पुराने प्रतिमूर्ति थे। वे सोचते थे कि क्योंकि वे पुराने पेशेवर राजनीतिज्ञों की निष्ठा पर विश्वास कर सकते थे, इसलिए उन्हें प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नही थी। 1962 के बाद उन नये सभ्रात व्यक्तियों (एलीट) ने राजनैतिक निर्णय करने की प्रक्रिया में प्रवेश ;

जो सामाजिक पैमाने में नीचे के स्तर के थे, तथा जो मध्यम वर्गीय व्यावसायिकों, छोटे किसानों, औद्योगिक श्रमिकों, और यहाँ तक कि गुमनाम धार्मिक और सामाजिक पन्थों के प्रतिनिधि थे। यद्यपि ये नये सम्प्रात व्यक्ति नीति निर्धारण में अधिक भूमिका निर्वाह करना चाहते थे, परन्तु पुराने अभिजनों ने अपने प्रभाव को जारी रखा। इस प्रकार नव अभिजन सहिष्णु (tolerant) रहे एव पुराने अभिजन उनके साथ समायोजन करने में ही लगे रहे। नये और पुराने दोनों अभिजनों ने स्थितियों में समायोजन के लिए तथा नये सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपने अपने मूल्यों का सशोधन किया। नये और पुराने अभिजनों के इस प्रकार की अन्तर्क्रिया अभिजनों के शुद्ध प्रभाव सिद्धान्त के क्षीणत्व व मन्दन (dilution) का सकेत देती है या यों कहा जाये कि पुराने अभिजन एक प्रकार की सौदेबाजी पर निर्भर हो गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1967 तक अभिजन के ढॉचे में परिवर्तन 'शान्तपूर्ण' और मन्द गति से हुआ तथा मार्क्स के शब्दों में कोई 'सघर्ष' नहीं हुआ।

1967, 1971, 1972, 1980, 1984, 1989, 1991, 1996 1998 और अक्टूबर 1999 के चुनावों में ऐसे अभिजन का उदय हुआ जिनमें से बहुत से लोगों के लिए राजनीति रोजी रोटी का साधन था। वे सत्ता के गलियारों (corridors of power) में नातेदारी, जाति और भाषा के बन्धनों का प्रयोग करके अपना रास्ता सरल करने में विश्वास करते थे (फरवरी 2000 के बिहार विधान सभा चुनाव में आठ ऐसे अपराधी जेल में रहते हुए भी विधायक चुने गये जिन पर हत्या आदि के गम्भीर अपराधों के लिए मुकदमे चल रहे थे)। वे योजना के व्यावहारिक पक्ष से अनभिज्ञ थे और झूठे वायदे करके तथा आकर्षक नारे (slogans) गढ कर जनता का सहयोग लेना चाहते थे। वे लोकतात्रिक होने का दम्भ भरते थे, यहाँ तक कि उनके नारे भी लोकतात्रिक होते थे। किन्तु उनकी करनी और कथनी में अन्तर था। लोकतत्र जीवनशैली के रूप में उनका स्वभाव उन के लिए विदेशी था।

वैचारिक दृष्टि से 1967-1971, 1971-1989, और 1989-2000 की प्रावस्थाओं में चार प्रकार के अभिजन कार्य कर रहे थे परम्परावादी तर्कबुद्धिवादी (rationalists), अनुदारवादी और सश्लेषात्मक व समन्वयक (synthetics)। दूसरे और तीसरे प्रकार में उप श्रेणी भी थी (a) वे जो धर्म निरपेक्ष (secular) किन्तु स्वार्थी राष्ट्रीय विचारधारा प्रदर्शित करते थे और (b) वे जो नव धर्म निरपेक्ष और स्वार्थी सकीर्ण (parochial) विचारधारा प्रदर्शित करते थे। क्योंकि विभिन्न विचारधाराओं वाले ये अभिजन पार्टी में ही काम करते थे, उनकी वैचारिक भिन्नता ने पार्टी में विखण्डन पैदा किया जिसने पार्टी और अभिजन दोनों को ही विभिन्न स्तरों पर प्रभावित किया।

नये राजनैतिक अभिजन, जो दिसम्बर 1989, मई 1996, मार्च 1998 और अक्टूबर 1999 के चुनावों में सत्ता में लाए गए, को जनता के वोट इसलिए मिले क्योंकि जनता लगभग चार दशकों से शासन कर रही एक राजनैतिक दल की सरकार को उखाड फेंकना चाहती थी और उन कमजोर सयुक्त मोर्चे की सरकारों को भी जो घटकों पर आधारित थी, न कि इसलिए कि उनके विचार तर्कसगत और उदार थे, या क्योंकि उनका आमूल-परिवर्तनवाद (radicalism) काफी गहराई तक समाया हुआ लगता था। इसी कारण से भाजपा सचालित अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार भी पहले मार्च 1998 में और फिर अक्टूबर 1999 में सत्ता में आई। मार्च 1998 की सरकार अस्थिर सिद्ध हुई क्योंकि इसके

ही 3 या 4 घटक दल निरन्तर धमकी दिए चले जा रहे थे। अक्टूबर 1999 की सरकार भी जनवरी 2000 में गुजरात सरकार द्वारा सरकारी कर्मचारियों को राष्ट्रीय स्वय सेवक दल की सदस्यता स्वीकार करने की अनुमति देने तथा फरवरी 2000 की केन्द्रीय बजट में सब्सिडी कम करने, तथा सितम्बर 2000 में बगाल में धारा 356 लागूकर राज्य सरकार को गिराने सम्बन्धी मामलों को लेकर अपने कुछ घटकों के दबाव का सामना कर चुकी है।

नये अभिजनों की पुराने अभिजनों से तुलना करते हुए राजनैतिक अभिजनों की वर्तमान सरचना को चिन्हित करने के लिए हम कह सकते हैं कि प्रथम प्रावस्था के 'तर्कबुद्धिमान प्रतिबद्ध राजनीतिज्ञों' के स्थान पर आगे की प्रावस्थाओं में 'मध्यकोटिक (mediocre), प्रतिबद्धताहीन, व पक्षपाती' अभिजन आ गए। गत एक दशाब्दि के राजनैतिक अभिजनों में न केवल सरचनात्मक पृष्ठभूमि की विविधता है, बल्कि वैचारिक स्तर पर भी वे विविध रूप दर्शाते हैं। उनके राजनैतिक सम्बन्ध (affiliation) उनकी वैयक्तिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा विशिष्टापरक वफादारी (particularistic) से अधिक निर्देशित होती है। पुराने अभिजन अपनी शक्ति का प्रयोग स्वतत्रता से अथवा बुद्धिमान होने के नाते करते थे जबकि आज के अभिजन स्वतत्र राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने में असमर्थ हैं। कुछ सभ्रात व्यक्तियों (एलीट) को छोडकर वर्तमान सभ्रात व्यक्ति अधिकतर यथास्थिति (status quo) के विरुद्ध आवाज उठाने में विश्वास नही करते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक अभियत्रण (social engineering) का कार्य कतिपय क्रान्तिकारी अभिजनों के लिए अधिक कठिन हो जाता है जो वास्तव में आधुनिकीकरण के लिए प्रतिबद्ध हैं और आर्थिक परिवर्तनवाद, राजनैतिक लोकतत्रवाद, और सामाजिक विकास में विश्वास करते हैं।

भारत में बदलते अभिजन के सन्दर्भ में योगेन्द्र सिंह ने कहा है राजनैतिक अभिजनों में आजादी से पहले उच्च कोटि की सांस्कृतिक और स्थितीय समरसता (status homogeneity) विद्यमान थी। वे सभी उच्च जातियों के थे और उनकी अग्रेजी शिक्षा की, नगरीय, व मध्यम वर्गीय पृष्ठभूमि थी। शिखरस्थ (top) समूह विदेशी सस्कृति में रगे हुए थे और विदेशों में ही शिक्षित हुए थे , इसलिए उनकी आत्मछवि वाछित भूमिकाओं (expected roles) के अर्थों में विशेषता (specialist) की अपेक्षा सामान्यज्ञ (generalist) ही थी। स्वतत्रता के दो दशकों के बाद अभिजन सरचना का स्वरूप काफी बदल गया है।

वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन के स्वरूप के सन्दर्भ में योगेन्द्र सिंह (*"Modernization of Indian Tradition*, 1973 137) ने कहा है (i) ग्रामीण आधार के राजनैतिक नेताओं का प्रभाव बढ रहा है (ii) विभिन्न व्यवसायों से आये नेताओं के प्रभाव में थोडी कमी हो रही है (iii) मध्यमवर्ग से सम्बद्ध व्यक्तियों की सख्या में महत्वपूर्ण वृद्धि हो रही है (iv) राजनैतिक सामाजिक विचारधाराओं में क्षेत्रीय और स्वार्थपरक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति अधिक हो रही है (v) उच्च जातियों के अभिजन के वर्चस्व में थोड़ी कमी आई है। योगेन्द्र सिंह ने 27 वर्ष पूर्व जो कुछ कहा था वह आज भी सत्य है।

राजनैतिक अभिजन का उनकी अभिवृत्तियो के आधार पर प्ररूप
(Typology of Political Elite)

हम पुराने और नये अभिजन में उनका प्रकारीकरण करके तुलना कर सकते हैं, जिसका आधार

उनमें मूल्यों, विचारों, अभिवृत्तियों और समूचे समाज के विभेदक अभिविन्यास (differential orientations) का सन्दर्भ हो सकता है। दूसरे शब्दों में उनके प्रकार 'सार्वजनिक या सामूहिक' हित और उनके अपने व्यक्तिगत हित के आधार पर दिये जा सकते हैं। सार्वजनिक हित को आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक दशा माना जाता है। जन हित (public) को 'P' और निजी (self) हित को 'S' संकेत मानकर हमें चार प्रकार के अभिजन मिलते हैं (i)p-, s- (ii) p-,s+ (iii) p+,s- और (iv) p+s+। इन चार प्रकारों को हम क्रमश इन नामों से दर्शा सकते हैं उदासीन, (indifferent), जोड़ तोड़ करने वाले अथवा हस्तपरक (manipulative), प्रगतिशील (progressive) और विवेकशील (rationalist) अभिजात इस वर्गीकरण में प्रगतिशील और विवेकीशील दोनों ही जन हित के लिए कार्य करते हैं। इसमें प्रगतिशील अभिजन विश्वास करते हैं कि प्रगति का चक्र लोगों की रुकावटों पर ध्यान दिए बिना स्वय ही चलता रहता है और यह मानव नियत्रन से परे है, ज्बकि विवेकशील अभिजन विश्वास करते हैं कि प्रगति चेतन्य नियत्रण पर निर्भर होती है। इसी वर्गीकरण को मानकर हम कह सकते हैं कि वर्तमान अभिजन अधिक उदासीन (p-s) और हस्तपरक व जुगाड़ (p-,s+) हैं। इनकी तुलना में पुराने अभिजन प्रगतिशील (p+,s-) और विवेकशील (p+,s+) थे। हम यह भी मान सकते हैं कि वर्तमान अभिजन 'अविवेकी विशिष्टतापरक' (irrational specifics) हैं ज्बकि अतीत के अभिजन विवेकशील सर्वहितवादी (rational universal) थे।

राजनैतिक अभिजन का परिचालन (Circulation of Political Elite)

विभिन्न प्रावस्थाओं में (स्वतत्रता के बाद) भारत में अभिजन का बदलता स्वरूप और उनके प्रवेश की भी परेटो के "अभिजन परिचालन" सिद्धान्त के सन्दर्भ में चर्चा की जा सकती है। यदि "अभिजन परिचालन" का सिद्धान्त गति की उस प्रक्रिया को सन्दर्भित करता है जिसमें व्यक्ति अभिजन और अ-अभिजन (non elite)के बीच परिचारित करते रहते हैं तो मैं राजनैतिक अभिजन के अपने अध्ययन के आधार पर यह कहूँगा कि यह सिद्धान्त भारतीय समाज के सन्दर्भ में तर्कपूर्ण नहीं है। भारत में उच्च राजनैतिक स्तर (राष्ट्रीय स्तर) पर 'शासक' अभिजन 'गैर-शासक' अभिजनों में से प्रवेश नही पाते हैं, बल्कि वे निम्न राजनैतिक स्तर (राज्य, जिला, या ब्लाक स्तर) पर कार्य करने वाले 'शासक अभिजन' से प्रवेश लेते हैं। निम्न राजनैतिक स्तर पर ये अभिजन उच्च राजनैतिक धरातल पर पदाधिकारी बनने से पहले राज्य विधान सभाओं या प्रदेशीय राजनैतिक दलों आदि में महत्त्वपूर्ण पद धारण किए हुए होते हैं। एक बार ये अभिजन प्रदेशीय या जिला स्तर से ऊपर उठ जायें, फिर वे पुराने स्तर पर वापस नहीं जाते बल्कि सक्रिय राजनीति में रहने तक वे उच्च राजनैतिक स्तर पर बने रहते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उस राजनैतिक स्तर में रुचि लेना बन्द कर देते हैं जहा से श्रेणीक्रम में वे ऊपर उठे हैं। इसका अर्थ यह है कि अभिजनों में परिचालन नहीं होता बल्कि ऊर्ध्वमुखी सचलन (upward movement) होता है। फिर भी, यदि परेटो का सिद्धान्त उस प्रक्रिया को सन्दर्भित करता है जिसमें सप्राव समूह का एक सदस्य 'शासक अभिजन समूह' के भीतर ही दूसरे व्यक्ति के स्थान पर आ जाता है तो हम

यह स्वीकार कर सकते हैं कि परेटो का सिद्धान्त हमारे समाज के सन्दर्भ में भी 'अभिजन सचलन' के राजनैनिक तथ्य की व्याख्या करता है। बाटोमोर (Bottomore) का मानना है कि दोनों ही अवधारणाएँ परेटो के लेखों में पाई गई हैं, यद्यपि पहली अवधारणा अधिक प्रभावी है।

मेरे अध्ययन से राजनैतिक अभिजन का दो प्रकार का सचलन (परिचालन नहीं) स्पष्ट होता है, (i) वह सचलन जो शासक अभिजन समूह के वृहद (macro) स्तर पर कार्य कर रहे निम्न स्तर की श्रेणी से उच्च स्तर की श्रेणी में होता है (ii) वह सचलन जो सूक्ष्म-सरचनात्मक स्तर पर कार्य कर रही उप-श्रेणी से वृहद सरचनात्मक स्तर पर कार्य कर रही उप-श्रेणी में पाया जाता है। पहले प्रकार के सचलन में मैंने अल्पतत्रीय सभ्रात व्यक्तियों (oligarchic elite) और अध स्थित सभ्रात व्यक्तियों (subjacent elite) के मध्य तथा उन्मूलनवादी सक्रियतावादी (radical activists) और निष्क्रिय सक्रियतावादी(passive activists) के मध्य सलचन पाया। सूक्ष्म स्तर पर कार्य करने वाले सक्रियतावादी वृहद स्तर पर सक्रियतावादियों की श्रेणी में शामिल हो गए जिसके फलस्वरूप इस स्तर पर एकाधिकार शक्ति (monopoly of power) से सम्पन्न पहले से कार्य कर रहे सक्रियतावादी अपनी शक्ति से वचित हो गए। इस अभिजन गतिशीलता की इन शब्दों में व्याख्या की जा सकती है (i) नवीन राजनैतिक रुचियों का उदय, (ii) अधिक जोड-तोड के गुणों वाले नये सभ्रात व्यक्तियों का उदय। इसलिए हमारे लिए सामाजिक उतार या चढाव मे व्यक्तिगत तथा सरचनात्मक कारक दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। शमपीटर (Schumpeter) का भी विश्वास है कि व्यक्तिगत गुण व सामाजिक कारक दोनों ही 'अभिजन के परिचालन' में महत्त्वपूर्ण हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा, जो मूलरूप से 'गैर-अभिजातीय' (non-elitist) है, के अनुसार अभिजन (विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति जो धन और सत्ता पर अधिकार रखते है) और गैर-अभिजन (वे व्यक्ति जिनके पास ऐसा कुछ भी नही है) के बीच के सम्बन्ध सघर्ष पर ही आधारित हैं, जिसमें सत्ताधारी अभिजन व्यक्तियों को उखाड कर उनका स्थान लेने का प्रयास किया जाता है। मेरे अध्ययन ने यह बताया कि सता में अभिजन व्यक्तियों को उखाड फेंकने की प्रक्रिया और उन पर सफलता प्राप्त करना हमेशा सघर्ष पर ही आधारित नही होता बल्कि इसमें जोड-तोड, सहनशीलता, सामजस्य, समझौता, और सौदेबाजी भी शामिल हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि भारत में राजनैतिक अभिजन के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए न तो परेटो का 'अभिजन परिचालन' सिद्धान्त और न ही कार्ल मार्क्स के 'वर्ग सघर्ष' के सिद्धान्त से ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। भारत में अभिजन के बदलते ढांचे और उनके प्रवेश के विश्लेषण के लिए हमें भिन्न विचारधारा का प्रयोग करना होगा।

राजनैतिक अभिजन, सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण
(Political Elite, Social Change and Modernisation)

समाज के आधुनिकीकरण में राजनैतिक सभ्रात व्यक्तियों की भूमिका के विश्लेषण के लिए सभ्रात व्यक्तियों को हम दो समूहों में विभाजित कर सकते हैं। डेविड एप्टर (David Apter) के मॉडल के अनुरूप (i) "विकास व्यवस्था" वाले अभिजन और (ii) "अनुरक्षण

(maintenance) व्यवस्था" वाले अभिजन। पहले अभिजन उपलब्ध ससाधनों और राजनैतिक ऊर्जा (energies) को गतिवान बना कर (mobilise) और उनका दोहन करके समाज का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। भौतिक प्रगति प्राप्त करने के लिए आर्थिक पिछडेपन पर उनका आक्रमण सस्थाओं और अभिरुचियों में परिवर्तन के माध्यम से होता है। राजनैतिक दल या सरकारी उपकरण उनके लिए आधुनिकीकरण के प्रमुख यत्रों का काम करते हैं। वे या तो नई सस्थाओं की रचना करते हैं या फिर आर्थिक तथा सामाजिक विकास के मार्ग में अवरोधों को दूर करने के लिए पुरानी सस्थाओं को बदल देते हैं। हम कह सकते हैं कि "विकास व्यवस्था" वाले अभिजन आर्थिक व सामाजिक प्रगति, वैचारिक प्रतिबद्धता और नीतियों के प्रति लगाव रखते हैं। "अनुरक्षण व्यवस्था" वाले अभिजन इसके विपरीत वे लोग हैं जो आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के अनुरक्षण एव बने रहने (preservation) को उच्च प्राथमिकता देते हैं। वे प्रतिस्पर्धी राजनैतिक एव हित-समूहों के बीच समझौते में विश्वास करते हैं। इस व्यवस्था के अभिजनों की विशेषताएँ हैं : बहु-स्वामीभक्ति (multiple loyalties), युक्तियुक्त लचीलापन (tactical flexibility), समझौतों की स्वीकृति, और वैचारिक द्रविता (diffuseness)। इस प्रकार अनुरक्षण व्यवस्था में अभिजन के पास कार्य करने का क्षेत्र बहुत सीमित होता है और उनकी विकास नीतियों पर अनेक प्रकार के दबाव कार्य करते हैं। एप्टर (Apter) के सूत्र को लेकर हम कह सकते हैं कि "विकास व्यवस्था" वाले अभिजन समाज के बन्दी हैं।

भारत में वर्तमान राजनैतिक अभिजन अपने स्वार्थ के लिए अधिक कार्य करते हैं। अत वे "विकास व्यवस्था" की अपेक्षा "अनुरक्षण व्यवस्था" से अधिक सम्बद्ध हैं, जिसके फलस्वरूप वे राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का पुनर्निर्माण करने में असफल रहे हैं अथवा द्रुतगामी आर्थिक नीतियों और सामाजिक कार्यक्रमों को विकसित करने और उनके क्रियान्वयन में सफल नही रहे हैं। मार्क्सवाद के लेनिनवाद चर के रूप में वे जनता को परमाणु की तरह पृथक (atomistically separated) व्यक्तियों से उन चेतन और अनुशासित अभिकर्ता, जो पूर्ण सामाजिक परिवर्तन कर सकें, के रूप में बदलने में असफल रहे हैं।

हम इस देश में इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि आजादी के बाद आर्थिक, सामाजिक, और राजनैतिक क्षेत्रों में निर्धारित लक्ष्यों को पहले जान लेते और फिर उस सीमा को खोजते जिस तक हमारे राजनैतिक अभिजन ने इन लक्ष्यों और आदर्शों तक पहुंचने का प्रयत्न किया है। आर्थिक क्षेत्र में हमारे लक्ष्य हैं : विकसित प्रौद्योगिकी (advanced technology), प्रचुर मात्रा में (abundant) आर्थिक उत्पादन, औद्योगिक एकाधिकार की समाप्ति तथा प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करना, व्यवसाय की स्वतत्रता, वितरित (distributive) न्याय, और गरीबी और निराश्रितता (destitution) की समाप्ति। राजनैतिक क्षेत्र में हमारे लक्ष्य हैं लोकतन्त्र, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, स्वतत्र जनमत और स्वतत्र चुनाव। सामाजिक क्षेत्र में हमारे लक्ष्य हैं समानता, गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता, व्यक्तिवादिता, परम्परागत रीतिरिवाजों से मुक्ति, और जन्म के बजाय व्यक्तिगत योग्यताओं के माध्यम से सामाजिक स्थिति प्राप्त करना।

लेकिन क्या हमने इन लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया है ? यह बात स्वीकार नही की जा

सकती कि केवल राजनैतिक अभिजन ही किसी समाज में विकास के स्वरूप तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। इसमें अनेक कारक हैं, जैसे समाज में विविध सस्थाओं व सरचनाओं का स्वरूप, जनमानस का सामर्थ्य, राजनैतिक स्थिरता, सास्कृतिक विरासत, और राजनैतिक स्वरुप आदि जो कि राष्ट्र या प्रदेश के विकास और समृद्धि को प्रभावित करते हैं। तथापि राजनैतिक अभिजन योजना बनाने वाले और निर्णय करने वाले होने के नाते, देश के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। कोई इन्कार नही कर सकता कि हमने विविध क्षेत्रों में प्रगति की है। यह भी स्वीकारा जा सकता है कि हमारा बहुत सा विकास उन 'सक्रियतावादियो' (activists) के कारण हुआ जो गत कुछ दशाब्दियों में देश में थे। लेकिन यह भी सत्य है कि यदि हमारा देश अभी आधे रास्ते में ही पहुचा है तो कारण यह है कि राजनैतिक अभिजन हमारे समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अनेक प्रकार से बाधक ही सिद्ध हुए हैं। उनके पक्षपात पूर्ण रवैये, परम्पराओं के अन्धानुगमन, विकास के प्रति उदासीनता, उनके निजी स्वार्थ, राजनैतिक द्वन्द्व, गुटबाजी, और उनमें भ्रष्टाचार ने निश्चित रूप से हमारे समाज में तकनीकी-सामाजिक परिवर्तनों में बाधा उत्पन्न की है।

क्या औसत भारतीय को ऐसे कार्यक्रमों और नीतियों का लाभ मिल सकता है जो शक्तिशाली प्रभावी समूहों के एकाधिकारपूर्ण व्यवहार से प्रेरित हों ? क्या एक देश दस रुपये से भी कम प्रतिदिन प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय पर मजबूत उद्योग व कृषि बना सकता है ? क्या एक समाज का आधुनिकीकरण उन सभ्रात व्यक्तियों के द्वारा किया जा सकता है जिनके 'धमाकेदार' (crash) कार्यक्रमों में समितियों व आयोगों की नियुक्ति केवल सुझाव देने, और साधन और कार्य प्रणाली तैयार करने की है ? शब्द और वायदे कभी भी किसी गरीब समाज व देश का जीवन स्तर ऊँचा नही उठा सकते। अभिजनों को तो विशेष उद्देश्यों के लिए विशिष्ट आन्दोलनों का गठन करना है। जनमत के साथ खिलवाड नही होना चाहिए। अभियान (campaigns) विज्ञापन शैली की नुमाइश पर आधारित नही होने चाहिए। सभ्रान्त व्यक्ति किसी वस्तु का विक्रय नही कर रहे हैं, वे तो लोगों को सारे जीवन के लिए नये सपने दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके लिए एक अलग तरह की अन्तर्दृष्टि (insight) चाहिए।

बाधाएँ (Barriers)

कुछ ऐसे अल्पजन सक्रियतावादी (oligarchic activists) सभ्रात वर्ग के लोग हैं जिनमें आधुनिकीकरण की अन्तर्दृष्टि है और जो विकास के लिए समर्पित हैं, लेकिन वे भी काम करने में आई कठिनाइयों और अनेक समस्याओं के कारण हमारे देश में बहुत कुछ नही कर पाए। उनके सामने जो प्रमुख समस्याएँ आती हैं, वे हैं (i) विभाजित विचारधाराओं की समस्या जैसे, निष्क्रिय पार्टी पदाधिकारियों, पार्टी विद्रोहियों, एव अप्रतिबद्ध और उदासीन साधारण लोगों की तथा पार्टी सदस्यों, पार्टी के पहचानकर्त्ताओं और पार्टी के जन-विचारों (public ideology) की समस्याएँ, (ii) एक दूसरे को काटने की प्रवृत्ति (cross-cutting) सबधी विभ्रांति (confusion) की समस्या और वैकल्पिक अधिमान्यताएँ (alternative preferences), (iii) सत्ता में हिस्सा लेने के लिए सभ्रात व्यक्तियों में आन्तरिक कलह।

आजकल राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत राजनैतिक दल संघर्षपूर्ण प्रतिबद्धताओं वाले समूहों और उन समूहों का जमघट है। जब राजनैतिक व वैचारिक विविधताओं (divergencies) को निपटाने के लिए कोई समाधान मिलना कठिन हो जाता है तो सभी सतही सदस्य या तो अराजनैतिक हो जाते हैं या देश व राज्य में अपकेन्द्रीय शक्तियों (centrifugal forces) को प्रोत्साहित करने लगते हैं या पार्टी छोड़कर दूसरी पार्टी में शामिल हो जाते हैं, जो उन्हें कोई सार्वजनिक पद देते हैं। उदाहरण स्वरूप उन पदलोलुप (office-seeking) विधायकों को सदर्भित किया जा सकता है जिनमें से कई ने कम से कम दो बार, कुछ ने तीन बार, और कुछ ने चार बार पाले बदले हैं। पद लोलुप अभिजन और आदर्श-परक अभिजन के बीच वैचारिक खाई हमेशा पहले प्रकार के अभिजन को ऐसे क्रियाकलापों में लगने को मजबूर करती रही है जो समान्तर बाह्य विचारों से प्रेरित होते हैं। हम यह कह सकते हैं कि आदर्शपरक अभिजन राजनीति में दायें और बायें बने रहते हैं जब कि पद-लोलुप अभिजन केन्द्र को घेरे रहते हैं। यही केन्द्रवादी लोग हैं जो जनता के बीच पार्टी को न केवल बदनाम करते हैं बल्कि देश के विकास और आधुनिकीकरण में भी रुकावट डालते हैं।

विरोधाभास यह है कि उच्च और निम्न सतह के अभिजन एक दूसरे को आरोपित करते रहते हैं कि उन्होंने पार्टी को परेशानी में डाला है या समाज के विकास में बाधा उत्पन्न की है। ऊपरी स्तर के अभिजन निचले स्तर के अभिजन को जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषायी विभाजन, और साम्प्रदायिकता के लिए आरोपित करते हैं जबकि, निचले अभिजन शासक अभिजन पर प्रादेशिकता, भ्रष्टाचार और देश की धीमी प्रगति का आरोप लगाते हैं। यह केवल उन सम्बन्धों के स्वरूप को जो उच्च व निम्न अभिजन के बीच है और उनके सन्देहों को भी जो उनके बीच है, दर्शाता है। डहरेन्डार्फ (Dahrendorf) ने भी माना है कि परस्पर सन्देह और सत्ता का असमान वितरण निश्चित रूप से व्यवस्थित सामाजिक संघर्ष को निर्धारित करने वाला कारक बन जाता है।

मैंने 'अभिजन न्यूक्लिआइ' (elite nuclei) या 'उच्च स्तरीय अभिजन' शब्द उनके लिए प्रयोग किया है जो 'अल्पजातीय' (oligarchic) अभिजन के रूप में राजनैतिक सत्ता पर एकाधिकार रखते हैं और निम्नस्तरीय (lower-stratum) अभिजन उनके लिए जिनकी स्थिति (अधीन (subjacent) अभिजन की तरह) निम्न है। 'अल्पजातीय अभिजन' की अवधारणा सी.राइट मिल्स (C Wright Mills) की 'शासक वर्ग' की अवधारणा के विकल्प के रूप में विकसित की गई है ताकि उनके अनेक असन्तोषजनक स्वरूपों (unsatisfactory features) को इंगित किया जा सके और उनको स्वीकार करने में सैद्धांतिक कठिनाइयों को दर्शाया जा सके, यद्यपि दोनों अवधारणाएं उस समूह की प्रभावी राजनैतिक स्थितियों (dominant political positions) के सन्दर्भ में हैं।

अल्पजातीय (oligarchic) अभिजन और आधीन (subjacent) अभिजन के लक्ष्य समान नहीं होते। अल्पजातीय अभिजन के उद्देश्य या तो इतने व्यक्तिगत (पद हथियाना) या इतने सामान्य (यथावत स्थिति बनाए रखना) या इतने क्रान्तिकारी (27% सीटें पिछड़ी जातियें (OBC) के लिए बिना विवेकपूर्ण विश्लेषण के आरक्षित करना) होते हैं कि वे अधीन अभिजन को प्रेरित करने में असफल रहते हैं। आधीन अभिजन भी आर्थिक विकास और सामाजिक विकास की अपनी इच्छा को व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं और उन इच्छाओं

की पूर्ति के लिए स्वय को सगठित करने में भी काफी असमर्थ पाते हैं। परिणाम यह होता है कि राजनैतिक दृष्टि से अप्रभावी (ineffective) इन अभिजन को अल्पजनीय अभिजन प्राय आर्थिक विकास, समाजवाद, सामाजिक न्याय, एकाधिकार की समाप्ति, आदि लक्ष्यों के रूप में वायदों और नारों से अपने वश में कर लेते हैं, जबकि वे (अल्पजनीय अभिजन) स्वय अधिकतर अलोकतान्त्रिक और एकाधिकारिक साधनों से कार्य करते रहते हैं। दिखाने के लिए अल्पजनीय अभिजन आदर्शवाद से प्रेरित रहते हैं, लेकिन व्यवहार में उनके आदर्श शायद ही कभी काम में आते हों। जब तक आधीन अभिजन चुप रहेंगे और अल्पजनीय अभिजन को अपने दमन के लिए जिम्मेदार नही ठहरायेंगे तब तक छोटे व बडे दोनों राजनैतिक समूह अल्पजनीय अभिजन के आधीन बने रहेंगे और वे निम्न स्तरीय तथा नये प्रविष्ट नेताओं की राजनैतिक वैधानिकता (legitimacy) की अवहेलना करते रहेंगे।

भारत में स्थूल (macro) स्तर पर आधुनिकीकरण को समझने के लिए हमें सूक्ष्म (micro) स्तर पर इसकी रचना की स्थितियों में आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विकास के स्वरूपों को परखना है और दो भिन्न स्तरों—राष्ट्रीय और राज्य—पर काम कर रहे अभिजनों के मध्य सबधों का भी परीक्षण करना है।

यदि हम राज्य स्तर पर अल्पजनीय अभिजन द्वारा राजनैतिक मामलों में हिस्सा लेने की डिग्री में और *राष्ट्रीय* स्तर पर उनके एकाधिपत्य (monopoly) के स्तर (level) के बीच सबध को देखें, तथा राष्ट्रीय स्तर को विस्तृत राजनैतिक सदर्भ मानें और राज्य स्तर को लघु राजनैतिक सदर्भ मानें, हम कह सकते हैं कि विस्तृत राजनैतिक स्तर पर अभिजन के हिस्सा लेने का उच्च या निम्न स्तर लघु राजनैतिक पर उनके राजनीति में हिस्सा लेने के स्तर को निश्चित करता है। उच्च राष्ट्रीय स्तर पर एकाधिपत्य की प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही लघु राजनैतिक आधार पर अभिजन की हिस्सेदारी कम होगी। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर अभिजन में अधिक एकाधिकार प्रवृत्ति राज्य स्तर पर अल्पजातीय अभिजन को अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक और बेबाकी से अभिव्यक्त करने को हतोत्साहित करती है। जहाँ राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक शक्ति कुछ अल्पजनीय अभिजन के हाथों में केन्द्रित रहती है, वहा राज्य स्तरीय गैर-एकाधिकारवादी गैर सक्रियतावादी अभिजन में स्थानीय सामाजिक-राजनैतिक मामलों में हिस्सा लेने की इच्छा असन्तोष को बढाती है। फलत· वे अपने राज्य में सक्रियतावादी अभिजन से समर्थन वापस लेने लगते हैं। इसमें निहित मान्यता (underlying assumption) यह है कि राज्य स्तर पर सक्रियतावादी अल्पजनीय अभिजन उन लोगों के होने की सम्भावना होती है जो न केवल राज्य स्तरीय राजनीति में अह भूमिका निभाने की इच्छा रखते हैं बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में भी। ऐसा होने पर राज्य स्तरीय अल्पजनीय राजनैतिक सक्रियतावादियों में राष्ट्रीय स्तर के अल्पजनीय अभिजन की आलोचना कम हो जाती है। यह इसलिए क्योंकि उन्हें मालूम रहता है कि केन्द्र में एकाधिकारियों की आज्ञाकारिता (compliance) उन राजनैतिक भूमिकाओं के लिए अधिक सार्थक (relevant) होगी जो वे राष्ट्रीय स्तर पर निभाना चाहते हैं। सक्रियतावादियों की यह प्रवृत्ति गैर-सक्रियतावादियों में असन्तोष पैदा करती है जिसके कारण राज्य में सक्रियतावादी अभिजन से सहयोग करने को मना कर देते हैं।

उदाहरण के लिए हम एक प्रकरण उध्दृत कर सकते हैं। 1975 में आपातकालीन

अवधि के दौरान—राजनैतिक व गैर राजनैतिक अभिजन की क्या भूमिका थी जब देश के अनेक नेता जेलों में बन्द कर दिए गए थे, प्रेस पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे, जीवन के सभी क्षेत्रों में असहमति रखने वाले लोगों को परेशान किया गया था, और सारा देश भय और अनिश्चितता के कोहरे में घिर गया था। मैं तो यह कहूँगा कि अभिजन—राजनैतिज्ञ, बुद्धिजीवी, नौकरशाह और यहाँ तक कि न्यायपालिका के अभिजन भी बजाय इसके कि वे महत्वोन्मादी (megalomaniac) नेताओं को और उनकी क्रूरता को तथा भ्रष्टाचार और जनता के प्रति उनकी अनैतिक भावनाओं का पर्दाफाश करते, अपने ही पूर्वाग्रहों का शिकार हो गए और अवचेतन मन में अपने सकीर्ण हितों के सरक्षक के रूप में एक ही व्यक्ति नेता के समर्थक हो गये। आपातकाल के उन उन्नीस महीनों के दौरान अभिजन भीड की तरह चहकते रहे और राष्ट्र तथा सरकार को अपनी गम्भीर सलाह देने की जिम्मेदारी से कतराते रहते थे।

यह कैसे हुआ कि आपातकाल का निर्णय ससद में सभी प्रकार के राजनैतिक निर्णय कर्ताओं ने पारित कर दिया ? क्या यह समझा जाये कि आपातकाल में सरकार ने जितनी कार्यवाहिया की तथा धीरे-धीरे व्यवस्थित ढग से लोकतत्र और सविधान का जो गला घोंटा वह वास्तव में सत्ता में निर्णय लेने वालों की सहमति से ही हुआ होगा ? क्या यह समझा जाये कि जब इस प्रकार की दुर्भावनागत (malafide) स्थितियों में ससद में कानून पारित हुए, तब सक्रियतावादी राजनैतिक अभिजन के पास उसका कोई उपाय नहीं था ? क्या हम यह समझें कि आपातकाल तथा उसके बाद जो एकाधिकारी प्रवृत्ति के कुछ लोग सत्ता में आए उनका उद्दण्ड (highanded) व्यवहार सभी समर्पित राजनैतिक अभिजन की दृष्टि में न्याय सगत था ? मुद्दे की बात तो यह है कि जो राजनैतिक अभिजन सत्ता में थे वे विशाल पैमाने पर आए सकट में और समाज के हित में अपनी भूमिका के निर्वाह में असफल रहे थे।

यह कहना भी अविवेकी न होगा कि नवम्बर 1989, और फिर मई 1996, फरवरी 1998 और अक्टूबर 1999 के राष्ट्रीय और राज्य स्तर के ऐतिहासिक चुनावों के बाद भी यद्यपि नव राजनैतिक अभिजन के देश के विकास का और भ्रष्टाचार को मिटाने का अवसर मिला, फिर भी उन्होंने इस अवसर को बर्बाद कर दिया। जनता की अपेक्षाएँ तो यह थीं कि सत्ताधारी राजनैतिक अभिजन औद्योगिक एकाधिकार को रोकेंगे, विशेष समयावधि में निर्धनता को समाप्त करेंगे, जनसाधारण की भुगतान करने की शक्ति से अधिक मूल्य वृद्धि नहीं होने देंगे, जीने योग्य वितरण प्रणाली बनाएँगे, और भ्रष्टाचारी नेताओं से छुटकारा पाने के लिए सस्थात्मक सरचना की स्थापना करेंगे, लेकिन जनता ने तो अब तक सामाजिक पतन और आर्थिक रूकावटों की अवधि की समाप्ति को शुरु होते भी नहीं देखा है।

जो कुछ भी हमने पहले कहा है उसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है :

1. विस्तृत राजनैतिक आधार पर एकाधिकारी प्रवृत्तियों के उच्च स्तर पर होने के फलस्वरूप राजनीति में निचले स्तर के अभिजन की हिस्सेदारी कम हो गई है और समाज के आधुनिकीकरण में उनकी रुचि में रुकावट पैदा हो गई है।
2. कुछ उच्च स्तरीय राजनैतिक अभिजन जो राजनैतिक ढाचे में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और राजनैतिक शक्ति पर एकाधिकार रखते हैं (जिनकी अवधारणा अल्पजनीय अभिजन के रूप में की गई है) सन्निकट (close-knit) नहीं है और उनमें राजनैतिक

शक्ति के रूप में कोई ससक्तता (coherence) नही है।

3 वर्तमान अभिजन की प्रमुख चिन्ता यह है—उन सहित जो मार्च 1998 में और फिर अक्टूबर 1999 में सत्ता में आये—कि सत्ता हासिल की जाये और सुरक्षित की जाये क्योंकि इसके अभाव में वे जनता के साथ निकट का सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहेंगे।

4 वर्तमान राजनैतिक सक्रियतावादी और समर्पित राजनैतिक अभिजन न तो आधुनिकीकरण को अस्वीकार करने में विश्वास करते हैं और न ही परम्परागत व्यवस्था में बल्कि आधुनिकीकरण के विषय, दिशा और गति के नियमन और साथ ही परम्परावाद के कुछ तत्वों में भी विश्वास करते हैं।

सक्षेप में, हम यह मानते हैं कि जब तक वर्तमान राजनैतिक अभिजन का व्यवहार—धृष्ट स्वार्थी लाभ की अपेक्षा देश के विकास सम्बन्धी मूल्यों से प्रेरित नहीं होगा, आधुनिकीकरण के लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकेंगे और सामाजिक परिवर्तन के लिए सघर्ष के रास्ते में रूकावट पैदा होती रहेगी।

भारत मे राजनैतिक दल (Political Parties in India)

लोकतान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था राजनैतिक दलों के बिना नही चल सकती। प्रत्येक राजनैतिक दल का अपना सरचनात्मक स्वरूप, सिद्धान्तपरकता (orientation), नेतृत्व का स्वरूप, और कार्यशैली होती है। राजनैतिक दल लोगों के वे सघ माने जाते हैं जिनके एक से विचार होते हैं और सरकार के कार्यों और नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रति एक से आदर्श होते हैं। ये आदर्श और कार्यक्रम चुनाव घोषणा पत्र में दर्शाए रहते हैं जिसके आधार पर माना जाता है कि निर्वाचक समूह वोट का प्रयोग करता है।

राजनैतिक दलों से चार प्रमुख कार्यों के किए जाने की अपेक्षा की जाती है (1) देश के सामने आई समस्याओं का अनुमान लगाना और वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत करना जिसके आधार पर दल अपनी नीति बना सके। (2) इन समस्याओं के सम्बन्ध में निर्वाचक मण्डल को जानकारी देना तथा दल के द्वारा बताए गए समाधानों की उपयुक्तता के विषय में उन्हें आश्वस्त करना (3) अन्य दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्याकन करना, विशेषरूप से सत्ताधारी दल का, और उनमें कमियों तथा खामियों को इंगित करना (4) शासन की निर्णय प्रणाली में लोगों को हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करना।

सिरसीकर (Sirsikar, 1964 31-36) के अनुसार दलीय व्यवस्था का उदय समाज के प्रकार पर निर्भर करेगा। उन्होंने समाज को चार समूहों में विभाजित किया है (1) समजातीय (homogeneous) अविकसित समाज (2) समजातीय विकसित समाज (3) विषमजातीय अविकसित समाज (4) विषमजातीय विकसित समाज। समजातीय समाज वह समाज है जिसका एक धर्म, एक भाषा और एक प्रबल प्रजाति हो, जबकि विषमजातीय समाज वह समाज है जिसमें धर्म, भाषा, प्रजाति तथा जातियों आदि की विविधता हो। अविकसित समाज वह समाज है जिसमें आर्थिक विकास का स्तर निम्न हो, उद्देश्य में एकलता (singularity) और लक्ष्य-प्राप्ति में अविलबता (urgency) न हो। प्रथम प्रकार के समाज

का उदाहरण इटली है, दूसरे प्रकार का जर्मनी, चीन और रूस, तीसरे प्रकार का अमेरिका, और चाथे प्रकार का भारत और पाकिस्तान। अन्तिम प्रकार के समाजों में विभिन्न विचारों वाले अनेक दल होते हैं।

राजनैतिक दलों के प्रकार छ विविध आधारों पर पहचाने जा सकते हैं : (1) रुचि (interest) के आधार पर इनका वर्गीकरण धार्मिक (जैसे अकाली दल) तथा सास्कृतिक (जैसे दलित, भाजपा) आदि आधार पर किया जा सकता है, जबकि सिद्धान्तों के आधार पर इनको इस प्रकार कहा जा सकता है, जैसे साम्यवादी, समाजवादी, आदि। (2) सदस्यता के प्रकार के आधार पर इनको जन आधारित (mass-based) (प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला) और सवर्ग आधारित (cadre-based) (जो विशिष्ट विचार धारा में विश्वास रखते हों उनके लिए खुला) में वर्गीकृत किया जा सकता है। (3) कार्यशैली (style of operation) के आधार पर उन्हें मुक्त (open) (चर्चा का मुक्त मच) और अव्यक्त (latent) (जहाँ निर्णय करना अभिजन तक ही सीमति है) माना जा सकता है (4) कार्यकर्ताओं की भर्ती के आधार पर इनको निर्वाचक (elective) और सहयोज्रित (cooptative) में बाटा जा सकता है। (5) क्षेत्रीय (territorial) और कार्यात्मक ढाचे (functional structuring) के आधार पर दो प्रकार के दल—एकात्मक (unitary) (जहा शक्ति एक मात्र स्रोत में निहित हो) और सघीय (federal) (जहाँ शक्ति विभाजित हो) हो सकते हैं (6) कार्यकलापों (activities) के विस्तार के आधार पर दल सीमित या असीमित विस्तार वाले हो सकते हैं।

कार्यस्तर के आधार पर भारत में तीन प्रकार के राजनैतिक दल पाये जाते हैं (a) जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं (जैसे, काग्रेस, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, (b) वे जो कुछ ही राज्यों में कार्य करते हैं (जैसे समता पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी (c) वे जो एक ही राज्य में कार्य करते हैं (जैसे शिरोमणी अकाली दल, तेलगू देशम पार्टी, द्रविड मुनेत्र कषगम (DMK), ए.आई.एडी.एम.के, तमिल मनिला काग्रेस, नेशनल कान्फ्रेन्स, असम गण परिषद, मणिपुर पीपुल्स पार्टी, शिव सेना, भारतीय राष्ट्रीय लोक दल, राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चा, सिक्किम संग्राम परिषद, हरियाणा विकास पार्टी, सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रन्ट, केरल काग्रेस, आदि। कुछ ऐसे दल भी हैं जिन्हें चुनाव आयोग की मान्यता तो प्राप्त है किन्तु किसी भी राज्य में सत्ता में नही हैं (जैसे मुस्लिम लीग, जनता पार्टी, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, तृणमूल काग्रेस, आदि)। हम यहाँ कुछ राजनैतिक दलों की रूप रेखा, कार्यक्रमों और नीतियों का वर्णन कर सकते हैं।

काग्रेस पार्टी जो राष्ट्रीय कामेस पार्टी के नाम से जानी जाती है, 1885 में गठित हुई थी। लगभग 35 वर्ष तक (1885 से 1920 तक) इसने प्रभावी रूप से कार्य किया, 27 वर्ष तक (1920 से 1947) राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में और लगभग 40 वर्ष तक (1947 से 1996 तक) शासक पार्टी के रूप में—बीच में 4 साल दो माह छोडकर—(जैसे मार्च 1977 से जून 1979 तक के 2 वर्ष 3 माह मोरारजी देसाई का शासन काल, जुलाई 1979 से जनवरी 1980 तक चरणसिंह का 6 माह का शासन काल, दिसम्बर 1989 से नवम्बर 1990 तक वी.पी.सिंह का 11 माह का शासन काल, और नवम्बर 1990 से जून 1991 तक चन्द्रशेखर का साढे छ. माह का शासन काल)

इस पार्टी में मध्यमार्गीय (centrist), वाममार्गीय (leftist) और दायामार्गीय

(rightist) विचारधाराओं के नेताओं की सयुक्त भूमिका रही है। लोक गगाधर तिलक, जिनका प्रभुत्व 1920 तक इस पार्टी पर रहा, ने इसको राष्ट्रीय सैन्य स्वभाव प्रदान किया जबकि गोखले ने सैनिक देशभक्त की अपेक्षा सुधारक का कार्य किया। बिपिन चन्द्र पाल क्रान्तिकारी विचारों के थे, मदन मोहन मालवीय, दादाभाई नौरोजी, और फीरोजशाह मेहता नरम विचारों वाले थे। 1920 के बाद गान्धी युग प्रारम्भ हुआ जिसमें सत्याग्रह, अहिसा, सिविल अवज्ञा (civil disobedience) और असहयोग पर बल दिया गया। सुभाष चन्द्र बोस, जो सशस्त्र सघर्ष में विश्वास करते थे, ने 1934 में कांग्रेस पार्टी छोड दी, जबकि जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और आचार्य नरेन्द्र देव ने 30 और 40 के दशकों के बीच कांग्रेस पार्टी छोडी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनाई। 1937 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी 11 में से 8 राज्यों में विजयी हुई थी और 70% मत प्राप्त किए थे और दो वर्ष तक मत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व सम्भाला था, किन्तु 1942 में त्यागपत्र दे कर इस पार्टी ने भारत छोडो आन्दोलन छेड दिया और 1947 में प्रथम शासक दल बना। नेहरू और इन्दिरा गान्धी के 33 वर्ष के शासन काल में इस पार्टी का ससदीय प्रभाग सगठनात्मक प्रभाग से अधिक शक्तिशाली रहा। इसको 60 के दशक के प्रारम्भ और मध्य में सकट का सामना करना पडा, अनेक राज्यों में सत्ता से हाथ धोना पडा और 1964 में कांग्रेस (आई) और कांग्रेस (ओ) दो फाड हो गए। मार्च 1971 में केन्द्र के चुनाव और 1972 में राज्यों के चुनावों में कांग्रेस ने बडी सख्या में वोट प्राप्त किए, लेकिन मार्च 1977 में इन्दिरा गान्धी द्वारा 1975 में आपात काल की और परिवार नियोजन के विरुद्ध सजय गान्धी द्वारा उत्पीडन के तरीकों के कारण पराजय का सामना करना पडा। लेकिन यह पार्टी फिर बहुमत प्राप्त कर जनवरी 1980 से नवम्बर 1989 तक और फिर जून 1991 से मई 1996 तक सत्ता में बनी रही।

इस पार्टी की धार्मिक नीति धर्म निरपेक्षता की रही है, राजनैतिक नीति सघीय (federal) और आर्थिक नीति मिश्रित रही। इतने लम्बे समय तक इसके सत्ता में बने रहने का प्रमुख कारण विरोधी दलों में एकता की कमी था जबकि इसके सत्ता खोने के प्रमुख कारणों में से आन्तरिक कलह, गुटबाजी, भ्रष्ट छवि, नेताओं का जनता से विमुख रहना, केन्द्रीयकृति सत्ता, सत्ताधारियों की आलीशान जीवन शैली, सामाजिक समस्याओं जैसे गरीबी, बेकारी मुद्रास्फीति, साम्प्रदायिक दगे, कश्मीर व पजाब की समस्याए को समाप्त करने में अरुचि, केन्द्र-राज्यों के सम्बन्ध पर असगति (inconsistency), प्रशासन में अकुशलता, लाइसेंस राज्य में विश्वास, पद प्राप्ति के लिए नेताओं की चापलूसी, तथा और भी कई कारण थे।

भारतीय जनता पार्टी (BJP) मूल रूप से हिन्दू महासभा के नाम से जानी जाती थी जो हिन्दू राष्ट्र की वकालत करती थी। वीर सावरकर 1937 में इसके अध्यक्ष बने। स्वतत्रता के बाद एक वैकल्पिक पार्टी की आवश्यकता को अनुभव किया गया क्योंकि कांग्रेस पार्टी में कुछ हाथों में सत्ता के केन्द्रित होने की प्रवृत्ति बढने लगी थी। 1950 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने नेहरू—लियाकत समझौते के मामले पर नेहरू मत्रिमण्डल छोड दिया (जिसके अनुसार, भारत सरकार को पाकिस्तान में रहने वाले अल्प सख्यकों के विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नही था) और हिन्दू महासभा में शामिल हो गए। 1951 में हिन्दू महासभा को अखिल भारतीय जन सघ के नाम से और 1952 में भारतीय जनसघ के नाम से जाना जाने

लगा। इस पार्टी ने 1952 में सभी लोकसभा सीटों पर चुनाव लडा और 3 सीटें जीतीं, 1957 में चार, 1962 में 14, 1967 में 35 और 1971 में 22 सीटें जीती। यह कहा जा सकता है कि जनसघ अपने चरम शिखर पर 1967 के आम चुनाव में पहुंची जो कि बलराज मधोक के नेतृत्व में लडा गया था, जिसमें उन्होंने अकाली दल और समतापार्टी से समन्वय किया था और इस गठबन्धन ने लोकसभा में 100 सीटें जीतीं। जनसघ भी हरियाणा, उत्तरप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार में प्रमुख विपक्षी दल के रूप में उभर कर आई। पजाब में जनसघ-अकाली दल गठबन्धन ने कांग्रेस को उखाड फेंका जबकि राजस्थान में जनसघ और स्वतत्र पार्टी ने मिलकर एक सीट की बहुसख्या प्राप्त की। इस प्रकार जनसघ कांग्रेस की शक्तिशाली राष्ट्रीय लोकतात्रिक विकल्प के रूप में उदित हुई। दिसम्बर 1967 में दीन दयाल उपाध्याय बलराज मधोक के उत्तराधिकारी के रूप में जनसघ के अध्यक्ष बने, लेकिन मई 1968 में उनकी हत्या हो गई। उनके बाद अटल बिहारी वाजपेयी पार्टी अध्यक्ष हुए। पार्टी (BJP) तब और भी अधिक लोकप्रिय हो गई जब लालकृष्ण आडवानी इसके अध्यक्ष बने, विशेषरूप से जब से उन्होंने मार्च-अप्रैल 1990 में 35 दिन की रथयात्रा की। 1951 में जबकि इस पार्टी में कुछ हजार ही सदस्य थे, 1999 में इसके 20 लाख से भी अधिक सदस्य हो गये। इसकी सभी राज्यों में इकाइया हैं, नागालैण्ड, अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, और पाण्डिचेरी को छोडकर, यद्यपि कुछ राज्यों में सगठन अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। 1996 में भाजपा ने लोकसभा में 119 सीटें जीती जिससे मई 1996 में वह केन्द्र में सरकार बना सकी और 13 दिन सत्ता में रही। फरवरी 1998 में इसने लोकसभा में 181 सीटें जीती और मार्च 1998 में केन्द्र में सरकार बनाई जिसको 18 छोटी क्षेत्रीय पार्टियों का समर्थन प्राप्त था जो अप्रैल 1999 तक सत्ता में रही। अक्टूबर 1999 में लोकसभा चुनाव में 182 सीटें जीत कर यह (कुछ अन्य पार्टियों से मिलकर राष्ट्रीय जनतात्रिक गठबधन के रूप में) सत्ता में आयी। पहले तो राजस्थान, उत्तर प्रदेश और गुजरात में भी इसके मत्रिमण्डल थे परन्तु अक्टूबर 1999 के चुनावों में राजस्थान और उत्तर-प्रदेश में यह सरकार न बना पायी। हिन्दूवाद की विचारधारा के कारण इसकी छवि काफी प्रभावित हुई है। सघ परिवार की अतिवादी—विश्व हिन्दू परिषद, बजरग दल, और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ—जो मुस्लिम-विरोधी, ईसाई मिशनरी विरोधी और कठोर हिन्दू विचारधारा वाले आक्रामक हिन्दूवादी धर्मान्ध हैं तथा राम मन्दिर, गोवध और समान नागरिक सहिता जैसे मामलों के प्रति प्रतिबद्ध हैं, का दबाव इस पार्टी के सरकार पर बना रहा है।

कम्युनिस्ट पार्टी काफी पुरानी पार्टी है और वामपन्थी रुझान वाली पार्टी है। पार्टी में ही अनेक वैचारिक, राजनैतिक और सगठनात्मक सघर्ष थे जिसके कारण 1961 में पार्टी दो भागों में विभाजित हो गई—मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी। सी पी आई (भकप) ने 1962 के चीनी आक्रमण की आलोचना की और सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी को समर्थन किया जबकि सी पी आई (एम) तथा मार्क्सवादी पार्टी ने चीन का पक्ष लिया। 1964 में यह विभाजन विधिवत हो गया। मार्क्सवाद कम्युनिस्ट पार्टी [CPI (M)] ने पश्चिम बगाल में सरकार बनाई जो गत 23 वर्षों से ज्योति बसु के मुख्य मत्रित्व में सत्ता में बनी हुई है।

प्रारम्भ में तो सोवियत सरकार भारत-चीन सघर्ष पर तटस्थ रही, लेकिन बाद में यह

पूरे जोर-शोर से चीन के विरोध में हो गई और भारत को अनारक्षित समर्थन दिया। इससे सी.पी.एसयू (CPSU) के भीतर ही उस इकाई को विश्वास प्रदान किया जो कांग्रेस की पक्षधर थी और सीपीएसयू के विरुद्ध अन्य समूहों में नाराजगी पैदा कर दी। इस प्रकार पार्टी के दो भाग हो गए—सत्ताधारी दल के पक्षपाती और विरोधी वाली या राइट (Right) कम्युनिस्ट और मार्क्सवादी। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी जो अब प्रमुख पार्टी हो गई है (फरवरी 1998 चुनाव में 32 सांसदों और अक्टूबर 1999 में 33 सांसदों सहित) जो कि पुरानी कम्युनिस्ट पार्टी होने का दावा करती है। 'राइट' (Right) कम्युनिस्टों को चुनाव आयोग द्वारा भारतीय कम्युनिस्ट (CPI) नाम दिया गया। इस पार्टी को फरवरी 1998 के चुनावों में संसद में 9 स्थान और अक्टूबर 1999 में 5 स्थान प्राप्त हुए। दोनों ही कम्युनिस्ट पार्टियों के मूल कार्यक्रम साम्राज्यवाद सामान्तवाद तथा पूंजी एकाधिकार के विरुद्ध श्रमिक वर्ग के संघर्षों से जुड़े हैं। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और दो बाद के समूह—फारवर्ड ब्लाक और मार्क्सवादी लेनिनवादी (माकपा-माले) के अलग चुनाव घोषणा पत्र हैं।

कुछ अन्य पार्टियाँ भी अस्तित्व में आईं, लेकिन वे अब नहीं हैं। ये पार्टियां थी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन की) जो गान्धी जी की अहिंसा की विरोधी थी (इसने 1946 में 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया), आचार्य कृपलानी की किसान मजदूर प्रजा पार्टी में विलीन हो गई और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नाम से जानी लगी (PSP) और फिर 1964 में एसएसपी (SSP) और 1971 में सोशलिस्ट पार्टी (SP) के नाम से। उसके बाद इसका अस्तित्व समाप्त हो गया। यही हाल (सी.राजगोपालाचारी द्वारा स्थापित) स्वतंत्र पार्टी का 1959 में हुआ। जनता पार्टी, जनमोर्चा और लोकदल गठबन्धन के बाद भारतीय क्रान्ति दल आया। संयुक्त मोर्चा में जनता दल, कांग्रेस (S), डीएमके, टी.डी पी, और एजीपी पार्टियां शामिल थीं।

दलों की अनेकता (Multiplicity of Parties)

भारत के साथ प्रमुख परेशानी यह है कि यहाँ 1980 से बहुत अधिक पार्टियाँ हो गई हैं। लोकतंत्र केवल दो ही पार्टियों से कुशलता से चल सकता है जो एक दूसरे के लिए सरकार का विकल्प की सम्भावना प्रस्तुत करती हों। संयुक्त मोर्चा का 13 पार्टियों का गठबन्धन (देवगौड़ा द्वारा जून1996 में, इन्द्रकुमार गुजराल द्वारा अप्रैल 1997 में) और मार्च 1998 में भाजपा नेतृत्व वाली 18 पार्टियों की संयुक्त सरकार तथा अक्टूबर 1999 में भाजपा नेतृत्व वाली 24 पार्टियों का राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन। 1998 के वाजपेयी शासन काल में वाजपेयी को अपने संयुक्त सहयोगियों के दबाव का सामना करना पड़ा जिसने अस्थिरता तथा प्रगति के रास्ते में रूकावट पैदा की। 13 महीनों में वाजपेयी सरकार पर जरा सी बात पर समर्थन वापसी की धमकी एआईएडीएमके (AIADMK) पार्टी, तृणमूल कांग्रेस पार्टी, अकाली दल, भारतीय राष्ट्रीय लोकदल (हरियाणा के ओमप्रकाश चौटाला का) और समता दल (बिहार) द्वारा, सर्वविदित है। वर्तमान राजग में भी घटकों में अनबन शुरू हो गयी है। अमेरिका जैसे देश में केवल दो पार्टी व्यवस्था है क्योंकि वहां पार्टी व्हिप जैसी कोई चीज

नही है जो कि विधायकों के वोट डालने के स्वरूप को नियंत्रित करता है। क्रियान्वयन कार्यवाही पर विधान के लिए अध्यक्ष के प्रस्ताव का उसी की पार्टी के अच्छी सख्या में सदस्य विरोध करते हैं जबकि दूसरी पार्टी के काफी सख्या में सदस्य उसका समर्थन करते हैं। दो राजनैतिक पार्टियों के बीच केन्द्रीय नियत्रण जैसी कोई स्थिति नहीं होती। यद्यपि यूरोप के कई देशों में राजनैतिक पार्टियों की अनेकता है और सयुक्त सरकारें भी हैं लेकिन ये भारत की तरह सत्ताधारी सरकार को अप्रभावी तथा अस्थिर नहीं बनाती। ऐसा इसलिए है क्योंकि अधिकतर पार्टियाँ जो केन्द्रीय सयुक्त मत्रिमण्डल में शामिल होतीं हैं मूलरूप से स्वार्थी और सकीर्ण विचारों वाली हैं। उनके नेता मत्रिपद और अपने इच्छा के मत्रालय को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते हैं जो राष्ट्रीय हितों के लिए सेवा करने की अपेक्षा उन्हें अधिक धन शक्ति दिलाते हैं। अनेक सयुक्त सहयोगियों वाला मंत्रिमण्डल आन्तरिक व बाह्य दोनों नीतियों की खोज को जारी रखने के प्रयत्न के विषय में नहीं सोच सकता। इस प्रकार यद्यपि हम अपने देश में अनेक पार्टियों के होने के विरोधी नही हैं या एक राज्य तक सीमित क्षेत्रीय पार्टी के विरोध में भी नहीं है किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सयुक्त मत्रिमण्डल में शामिल होने के बाद क्षेत्रीय पार्टियों को राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय हितों को अलग-अलग कर देना चाहिए और राष्ट्रीय हित को गम्भीरता से लेना चाहिए। क्षेत्रीय पार्टियों को राष्ट्रीय एकता के लिए घातक मानना तर्क सगत नहीं है। क्षेत्रीय पार्टियां आवश्यक रूप से अलगाववाद में विश्वास नही करती, वे तो केवल अपने क्षेत्रीय हितों की रक्षा करना चाहती हैं। एक अवस्था में तो तमिलनाडु में डी एम के. भारत से अलग होना चाहती थी, लेकिन जल्दी ही इसने अनुभव किया कि यह राज्य के हित में नही होगा और इसलिए अलग होने का विचार छोड दिया। क्षेत्रीय पार्टी तभी बनती है जब यह महसूस करती है कि केन्द्र में सत्ताधारी पार्टी द्वारा उनके क्षेत्र की अनदेखी और उपेक्षा की जा रही है। क्षेत्रीय पार्टियों द्वारा क्षेत्रीय हितों पर बल देने को राष्ट्र विरोधी न कहना चाहिए और न कहा जा सकता है।

भारत में अनेक राजनैतिक दलों की एक अनोखी विशेषता है कि वे अपना मूल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस में ही मानते हैं। इन विभाजित दलों के नेता जब काग्रेस पार्टी में अच्छा स्थान प्राप्त न कर सके, वे अलग हो गए और एक अलग पार्टी का गठन कर लिया। कुछ नेता अपने सिद्धान्तों व आदर्शों के कारण अलग हुए (जैसे आचार्य नरेन्द्र देव, लोहिया और जय प्रकाश नारायण)। कुछ दल बचे रह गए और कुछ नही। राजनीतिज्ञों में एक बडी प्रवृत्ति यह है कि वे आदर्शों व विचारों के प्रति राजनैतिक प्रतिबद्धता नही दर्शाते बल्कि विशेष व्यक्तियों या नेताओं के प्रति अधिक दर्शाते हैं। ऐसी पार्टिया जो आदर्शों की अपेक्षा सरक्षण पर आधारित हैं, जीवित नही रहती। पार्टी तभी तक रहती है जब तक नेता और सक्रिय सदस्य सदस्यों पर कुछ कृपा करते रहें। यदि राजनैतिक कार्यकर्ताओं को अनुग्रह न मिले, वे नेता को समर्थन नही देते और दूसरी पार्टी में शामिल हो जाते हैं। राजनैतिक दलों की इस व्यवस्था ने भारत में राजनीति को देश सेवा का पथ होने की अपेक्षा अयोग्य और अशिक्षित लोगों के लिए अच्छे लाभ का धन्धा बना दिया है।

हमारी राजनैतिक पार्टियों की एक और विशेषता यह है कि उनके सगठन में अत्यधिक केन्द्रीयकरण है। उनमें से अधिकतर पार्टियों के सगठनात्मक चुनाव बहुत समय से नहीं हुए

है और सभी पदाधिकारी पार्टी नेता द्वारा नामांकित कर दिए जाते हैं। इस प्रकार के अत्यधिक केन्द्रीयकृत नियत्रण का घातक प्रभाव यह होता है कि कई राज्यों में मुख्यमत्री का चुनाव विधायकों द्वारा न होकर, केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा थोप दिया जाता है। जिन लोगों को विभिन्न विधान सभा क्षेत्रों से चुनाव लडने के लिए टिकट दिया जाता है वे उस क्षेत्र के लोगों के द्वारा न चुने जाकर बाहरी अधिकारियो के एकतरफा निर्णय द्वारा थोपे गए लोग होते हैं। यद्यपि सिद्धान्त में पार्टी टिकट दिये जाने वाले लोगों के नाम स्थानीय समुदायों में से ही निकलते हैं लेकिन वे नाम जिला, राज्य व राष्ट्रीय स्तर पर उच्च अधिकारियों द्वारा बदल दिए जाते हैं। हाल में ही चुनाव की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार विकसित हुआ है। यदि किसी भारतीय राजनैतिक पार्टी का मुख्य उद्देश्य सरक्षत्व का लाभ रखना है और अपने अनुयायी सदस्यों को लाभ पहुँचाना है तो इसका अर्थ यह है कि शक्ति का प्रत्येक केन्द्र इसके नियत्रण में होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप राजनैतिक सत्ता के सभी केन्द्रों पर अपना अधिकार चाहती हैं, जैसे पंचायत, पुलिस, विश्वविद्यालय, छात्र सगठन, स्थानीय निकाय, आदि। शक्ति के नियत्रण की इस इच्छा से जुडा, तस्करों और अपराधियों को भी टिकट देने का विचार भी है। बिहार में फरवरी 2000 के चुनाव में आठ ऐसे अपराधी विधायक चुने गये हैं। इस प्रकार राजनीति के अपराधीकरण ने राजनैतिक पार्टियों की कार्य प्रणाली पर भी प्रभाव डाला है। सम्भावित शक्ति पर नियत्रण बनाए रखने की राजनैतिक पार्टियों की इच्छा ने राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति और कार्यप्रणाली को भी प्रभावित किया है जो अपनी पार्टियों से सम्बन्ध खत्म नहीं करते बल्कि पार्टी विवादों में सक्रिय रूप से रुचि लेते हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात के पूर्व राज्यपालों तथा मार्च 2000 में बिहार के राज्यपाल का उदाहरण सरलता से दिया जा सकता है।

भारतीय राजनैतिक पार्टियों की एक और विशेषता यह है कि जिस तरह से वे अपने कोष धन को एकत्र और व्यय करते हैं उसकी सार्वजनिक जवाबदेही उन पर नहीं है। उनके हिसाब का कभी भी लेखा परीक्षण नहीं होता। यह सर्वविदित तथ्य है कि धनी व्यक्तियों द्वारा राजनैतिक पार्टियों को दिया जाने वाला अशदान काले धन कोष में से ही दिया जाता है। अशदाता सरकार पर उसकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से दबाव डालते हैं। चुनाव की अवधि में वस्तुओं के मूल्यों, जैसे चीनी, सीमेन्ट, तेल, आदि में वृद्धि कुछ परिचित उदाहरण हैं।

आज जो तथ्य राजनैतिक पार्टियों को सबसे अधिक प्रभावित किए हुए हैं, वे हैं चुने हुए सदस्यों का सरकार गठन के समय में एक राजनैतिक दल छोडकर दूसरे में चले जाना। यह न केवल केन्द्र में हुआ है बल्कि उत्तर प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, बिहार, राजस्थान आदि राज्यों में भी हुआ है। 1985 का दल बदल विरोधी अधिनियम (Anti-Defection Act) अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। वास्तव में, इसने बडी पार्टियों को छोटी पार्टियों को तोड़ने में मदद की है। दल बदल का जोड-तोड करने के बाद 'सयुक्त' (coalition) मत्रिमण्डल गठन करना कभी-कभी बडे आकार के केबिनेट (jumbo cabinet) का गठन करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है। उत्तर प्रदेश में 1997 में यही हुआ जब मायावती के 6 माह (भाजपा के साथ) के शासन काल के बाद भाजपा मत्रिमण्डल का गठन हुआ था।

दल बदलाव की यही रणनीति मई 1996 में केन्द्र में भाजपा सरकार द्वारा अपनाई गई थी लेकिन उसे सफलता नही मिली और 13 दिन बाद उसे जाना पडा। बिहार में भी 1999 में ऐसे ही जम्बो मन्त्रीमण्डल का गठन किया गया था।

दलीय व्यवस्था का यह विश्लेषण दर्शाता है कि किस प्रकार भारत में दलीय व्यवस्था का राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर अच्छी और ईमानदार सरकार देने में लोकतांत्रिक व्यवस्था का ह्रास हुआ है। हम बहु-दलीय व्यवस्था के उन्मूलन का सुझाव नही दे रहे हैं बल्कि हम केवल जवाबदेही व्यवस्था लागू करने पर जोर दे रहे हैं। यदि चुनाव व्यवस्था का पुनर्गठन किया जाये, तब राजनैतिक दलों के कार्य में सुधार हो सकता है जो अच्छी सरकार प्रदान करने में सहायक होगा। दलीय आधार पर पचायतों और स्थानीय निकायों चुनावों का निषेध, राजनैतिक दलों के वित्त कोष का लेखा परीक्षण प्रारम्भ कराना, सस्थाओं को स्वायत्तता सुनिश्चित कराना तथा उन्हें राजनैतिक हस्तक्षेप से मुक्त रखना कुछ उपाय हो सकते हैं जो राजनैतिक दलों की कार्यप्रणाली को नियत्रित रख सकते हैं और हमारे राजनैतिक जीवन के स्तर में गिरावट को रोक सकते हैं।

शक्ति का विकेन्द्रीकरण और राजनैतिक भागीदारी
(Decentralisation of Power and Political Participation)

वर्तमान लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था में हमारे यहाँ किस प्रकार की शक्ति सरचना है? क्या यह अनेकतावादी (pluralistic) या अभिजन (elitist) शक्ति सरचना है? *अनेकतावादी* शक्ति सरचना की विशेषताएँ निम्न हैं :

(i) विकेन्द्रीकृत सरचना, अर्थात् शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभाजित होती है, और निर्णय लेने की प्रकिया में बहुत बडी सख्या में लोग हिस्सा लेते हैं (ii) परस्पर अन्तर्निर्भर व्यक्ति (iii) सममित सम्बन्ध (symmetrical) (अर्थात विभिन्न घटकों (Components) के बीच परस्पर अन्तक्रिया और पारस्परिक आदान-प्रदान (reciprocity) होती है, अर्थात ए, बी, सी (A, B, C) व्यक्ति एक्स, वाई, जेड (X, Y, Z) व्यक्तियों के ऊपर शक्ति दर्शाते हैं और इसके विपरीत भी। (iv) अनेक घटकों का व्यवस्था पर सकारण (causal) प्रभाव होता है। इसके विपरीत, अभिजन वर्गीय शक्ति सरचना इस प्रकार है . (i) केन्द्रीकृत सरचना (अर्थात निर्णय लेने की शक्ति पर शिखर के कुछ लोगों का ही एकाधिकार होता है (ii) तुलनात्मक रूप से स्वतत्र व्यक्ति (iii) असीमित सम्बन्ध (अर्थात अधिपत्य और एकतरफा कार्यवाही) और (iv) इसके अनेक घटकों का व्यवस्था पर सकारण प्रभाव पडता है।

इससे हम भारत में शक्ति सरचना के प्रकार को पहचान सकते हैं। यह निश्चित ही अभिजन शक्ति सरचना है।

वर्तमान में राजनैतिक नेताओं को राजनैतिक समर्पित नेता नही कहा जा सकता। यदि हम दो शब्दों—'भूमिका विशिष्टता' (role specificity) और 'भूमिका विसरणता' (role diffuseness) (अर्थात भूमिकाकर्ता आशिक रूप से राजनीति में और आशिक रूप से व्यापार, कृषि आदि में रुचि रखते हैं)—का प्रयोग करें तो हम कह सकते है कि वर्तमान राजनैतिक नेताओं की राजनैतिक विचारधारा 'विशिष्ट' (specific) न होकर 'विसरित' है।

व्यक्ति की राजनैतिक भूमिका सकीर्ण अर्थों में देखा जाये तो राजनैतिक प्रतिबद्धता को बढा देती है जबकि अस्पष्ट योग्यता की आत्म छवि व्यक्ति की राजनीति के प्रति प्रतिबद्धता को सकुचित कर देती है।

राजनैतिक अभिजन पर मेरे अपने अध्ययन में, मैने उत्तरदाताओं के राजनैतिक प्रतिबद्धता के स्तर को 'भूमिका विशिष्टता' और 'भूमिका विसरणता' से सहसम्बद्ध करके विश्लेषण किया। यह पाया गया कि जो लोग अपने को केवल राजनीतज्ञ की विशेष भूमिका में देखते हैं उनमें प्रतिबद्धता का स्तर उन लोगों की अपेक्षा ऊचा था जो स्वय को विसरित भूमिका में देखते थे।

यदि हमें वर्तमान राजनैतिक नेताओं की राजनैतिक हिस्सेदारी का वर्णन करना हो तो हम कह सकते हैं कि उनमें से अधिकतर राष्ट्रीय मामलों की अपेक्षा क्षेत्रीय मामलों से सम्बद्ध अपनी पहचान कराते हैं, राजनैतिक पदों के इच्छुक रहते हैं, शक्ति और आर्थिक लाभ अर्जित करने को लालायित रहते हैं। राजनीति में बहुत से महत्वपूर्ण व्यक्ति अब देश के अत्यन्त भ्रष्ट व्यक्तियों के पर्याय बन गए हैं। राजनीति परिवार का व्यापार बन गई है। यदि पिता सत्ता खो दे तो उसका पुत्र, पुत्री, पत्नि, बहिन, भाई, आदि पार्टी टिकट लेने के लिए व चुनाव लडने के लिए जोड-तोड करते हैं। हमारे स्वयसेवी राजनीतिज्ञों के बच्चे उस धन से विदेशों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं जो उनके माता-पिता यहा 'जन सेवा' से बटोर रहे हैं। पूर्व प्रधान मन्त्रियों के बेटों, मुख्य मन्त्रियों के बेटों, राज्य मन्त्रियों के बेटों, राजनैतिक पार्टियों के अध्यक्षों के बेटों और यहा तक कि सासदों के बेटों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमारे राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट व्यवहार निन्दनीय और चौंकाने वाले हैं। आज का भारतीय राजनैतिक परिदृश्य बिल्कुल भिन्न होता यदि 1971 के बाद हमारे राजनैतिक नेतागण सार्वजनिक जीवन के प्रति ही समर्पित भाव से लगे रहते। शक्ति के केन्द्रीयकरण ने इन अप्रतिबद्ध राजनीतिज्ञों को और अधिक शक्ति लोलुप बना दिया है। राष्ट्रीय व राज्य स्तर के राजनैतिक नेताओं के विरुद्ध दर्जनों घोटाले, जिनमें हजारों करोड रुपयों का गोलमाल होता है, आज के न्यायिक सक्रियतावादी युग में अदण्डित ही समाप्त हो जाते हैं।

7

शैक्षिक व्यवस्था

(Educational System)

शिक्षा और समाज (Education and Society)

समाज और शिक्षा के बीच सम्बन्ध उदारवाद और सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा के क्षेत्र में अल्प उपलब्धियाँ, शिक्षा का कार्यात्मक दृष्टिकोण, और उच्च शिक्षा में सकट, आदि विषयों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। शिक्षा आवश्यक ज्ञान और दक्षता प्रदान करती है जो व्यक्ति को समाज में आदर्श रूप में कार्य करने योग्य बनाती है। शिक्षा वैचारिक मान्यताओं से प्रेरित होती है जो समाज से ही ली जाती हैं किन्तु इसका कार्य सास्कृतिक विरासत हस्तातरण में और समाज के द्वारा धारित मूल्यों और आदर्शों को प्रोत्साहित करने तक ही समाप्त नहीं होता। सोद्देश्य अनुस्थापन (purposive orientation) किए जाने पर शिक्षा आधुनिक समाज के आधुनिकीकरण और पुनर्गठन के लिए शक्तिशाली साधन हो सकती है। शैक्षिक सस्थाएँ शून्य में स्थित नही होती। वे समाज के अभिन्न और सवेदनशील अग है। कोई भी शैक्षिक व्यवस्था समाज के मूल्यों और प्रतिमानों से प्रभावित हुए बग़ैर नही चल सकती।

भारत में स्वतत्रता से पूर्व शिक्षा से सम्बन्धित तीन विचार सम्प्रदाय प्रचलित थे (S C. Dube, *Tradition and Development*, 1967 282-83) : (i) प्रथम विचार सम्प्रदाय, स्व सस्कृति (nativistic) और पुनरुज्जीवनवादी (revivalistic) दृष्टिकोण वाला था जो प्रत्येक उस वस्तु का निषेध करता था जो विदेशी हो और समाज की प्राचीन विरासत में मान्य न हो। हिन्दू पुनरूज्जीवनवादियों ने प्राचीन भारत के गुरुकुल व्यवस्था के प्रतिरूप में अनेक विद्यालय और उच्च शिक्षा की सस्थाएँ स्थापित की। इन सस्थाओं ने जीवन की पवित्रता पर बल दिया और वैदिक साहित्य के अध्यापन पर ध्यान केन्द्रित किया। (ii) दूसरे विचार सम्प्रदाय का उद्देश्य शिक्षा का स्वदेशीकरण रहा। इस विशेषता वाली सस्थाएँ जानबूझकर विदेशी मूल के आधुनिक ज्ञान का निषेध करने को उद्यत नहीं थीं। उनका प्रमुख उद्देश्य शिक्षा को भारतीय दशाओं में अधिक सार्थक बनाना और इसे एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने का था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, जामिया मिलिया इस्लामिया इस प्रकार की कुछ सस्थाएँ थी। (iii) तीसरे विचार सम्प्रदाय ने लन्दन और ऑक्सफोर्ड-ब्रिटिश नमूने के शैक्षिक सस्थाओं की स्थापना पर ध्यान दिया। यह उद्देश्य मैकाले ने 1835 में अपने वक्तव्य में अभिव्यक्त किया है : "हमें एक ऐसा वर्ग पैदा करना चाहिए जो हमारे और करोडों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं दुभाषिये (interpreter) का काम कर सके—ऐसे व्यक्तियों का वर्ग जो रग और रक्त से भारतीय हो, लेकिन रुचियों, विचारों, नैतिकता और बुद्धि में इग्लिश हो।"

स्वतंत्र भारत ने सभी स्तरों पर शिक्षा में अद्भुत विकास अनुभव किया—प्राथमिक, हायर सेकेन्डरी तथा कालेज व विश्वविद्यालय स्तरों पर। लेकिन परिमाणात्मक (quantitative) विकास ने गुणात्मक विकास को प्रभावित किया। शिक्षा का स्वरूप आमतौर पर उपनिवेशवादी ही रहा। शिक्षा व्यवस्था में गुणात्मक सुधार करने के उपाय सुझाने के लिए बहुत समितियाँ नियुक्त की गईं, लेकिन पुराना स्वरूप बना रहा। यथास्थिति बनाए रखने की प्रवृत्ति काम करती रही।

हाल में, शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी दृष्टि और नीति का उद्देश्य है प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण, सेकेन्डरी शिक्षा का व्यवसायीकरण और उच्च शिक्षा का तर्कसंगतीकरण। एक ओर अशिक्षा को उखाड़ फेंकने तथा सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था (education for all) की नीतियाँ यह सुनिश्चित करने के लिए बनाई जा रही हैं कि 6 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के सभी बच्चों (अर्थात देश की कुल जनसंख्या का 24%) को स्कूल जाने का अवसर मिले और सभी प्रौढ़ (1998 में कुल जनसंख्या के 40% अनुमानित) लिखना और पढ़ना सीख सकें। दूसरी ओर शिक्षा की गुणवत्ता में भी सुधार के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Education)

शिक्षा के तीन शाश्वत् उद्देश्य इस प्रकार कहे गए हैं (1) मनुष्य का स्वयं को और जगत को जानने का प्रयास करते रहना और स्वयं को शिक्षा जगत से प्रभावशाली ढंग से जोड़ना, (2) अतीत और भविष्य के बीच पुल का निर्माण, अर्थात अतीत के एकत्रित परिणामों का विकासमान पीढ़ी (growing generation) को संप्रेषण (transmit) करना ताकि वह सांस्कृतिक विरासत को आगे ले जा सके और भविष्य का निर्माण कर सके, (3) जहां तक सम्भव हो, मानव प्रगति की प्रक्रिया को तेज करना। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त शिक्षा के तीन और उद्देश्य भी माने जाते हैं। यह हैं (a) व्यक्तिगत गुणों का समग्र विकास, जैसे बुद्धि, दक्षता, इच्छाशक्ति, चरित्र, अभिरुचियां, आदि, (b) मनुष्य की जीवन दशाओं के अर्थ में विकास, अर्थात, समाज और व्यक्ति दोनों का विकास। समाज के विकास का अर्थ केवल आर्थिक विकास से ही नहीं है बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विकास से भी है। व्यक्ति के विकास में शिक्षा एक विवेकशील और आदर्श मस्तिष्क बनाने में सहायक होती है, और (c) शान्ति और समन्वय (harmony) पैदा करना तथा उसे सुदृढ़ करना। यहाँ 'शान्ति' को 'युद्ध' के विलोम के रूप में नहीं देखा गया है बल्कि इसे सकारात्मक दृष्टि से देखा गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय समझ और सहयोग के प्रयत्न के उद्देश्य से समन्वित कार्य करे। इसमें सभी लोगों के प्रति आदर भाव, उनकी संस्कृति, सभ्यता, मूल्यों और जीवन शैली के प्रति सम्मान निहित है।

सन् 1971 से यूनेस्को द्वारा स्थापित शिक्षा के विकास पर गठित अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा की प्रमुख आवश्यकता है "जानना (to know), हासिल करना (to possess), बनना (to be)"। यहां 'होना' का अर्थ "व्यक्तित्व और इसके विकास" से है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का उद्देश्य पढ़ना, लिखना, (3 R's) सीखना है, माध्यमिक स्तर पर चरित्र निर्माण है, उच्च माध्यमिक स्तर पर समाज को समझना है, और कालेज/विश्वविद्यालय स्तर पर दक्षता ज्ञान प्राप्त करना है।

शिक्षा के परम्परागत एवं आधुनिक सन्दर्भ
(The Traditional and the Modern Contexts of Education)

अतीत मे शिक्षा (Education in the Past)

प्रारम्भिक, और ब्रिटिश काल में शिक्षा को इन दो दृष्टिकोणों से देखना है : (a) ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य से और (b) दार्शनिक महत्त्व से। दूसरे दृष्टिकोण से, वैदिक काल में विद्यालय आवासीय होते थे जहा लगभग 8 वर्ष की आयु के बालक को गुरु को सौंप दिया जाता था, जहा उसको उपयोगितात्मक ज्ञान नही परन्तु आदर्श व्यवहार का ज्ञान दिया जाता था। ऐसा माना जाता था कि ज्ञान जीवन को अर्थ, (meaning), यश (glory) और चमक (lustre) से भर देता है। गुरु अपने शिष्य के जीवन में व्यक्तिगत रुचि लेता था। शिक्षा पूर्ण और विस्तृत थी। उदाहरण के लिए, शारीरिक शिक्षा आवश्यक थी तथा छात्रों को हृष्ट पुष्ट शरीर के बनाने की शिक्षा दी जाती थी। युद्ध कला की ट्रेनिंग दी जाती थी जिसमें धनुर्विद्या, घुडसवारी, रथ हाँकना, और दक्षता के अन्य क्षेत्र शामिल थे। विद्यालयी शिक्षा स्वर विज्ञान (Phonology) से शुरू होती थी, तथा व्याकरण भी पढाया जाता था। इसके बाद तर्कशास्त्र (logic) का अध्ययन कराया जाता था जिसमें तर्क के नियम व सोचने की कला का ज्ञान होता था। तत्पश्चात् कला और हस्त कौशल आदि सिखाया जाता था। अन्तिम, जीवन में अनुशासन सिखाया जाता था जिसका सम्बन्ध यौन शुद्धि, विचारों और कर्म की पवित्रता से होता था। इसमें भोजन, परिधान की सादगी, समानता, भ्रातृभाव और स्वतंत्रता पर बल, और गुरु का सम्मान सिखाया जाता था। इस प्रकार भाषा, तर्कशास्त्र, शिल्प, अनुशासन और चरित्र निर्माण शिक्षा के मूल आधार होते थे (Kanal, S P, *Dialogues on Indian Culture*, 1955, 81-83)।

ब्राह्मण युग में शिक्षा का प्रमुख विषय वैदिक साहित्य था। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वेदों का ज्ञान था। लेकिन शूद्रों को शिक्षा के अधिकार से वञ्चित रखा गया था। शिक्षा योग्यता एव रुझान की अपेक्षा जाति के आधार पर दी जाती थी। स्त्रियों को भी शिक्षा से बहिष्कृत रखा गया था। (Ibid, 82)।

मुस्लिम युग में शिक्षा के उद्देश्य बदल गए। इसमें लिखने पढने (3 Rs) की शिक्षा और धार्मिक प्रतिमानों में दीक्षा प्रमुख थे। उच्च शिक्षा विद्यालयों के माध्यम से तथा व्यावसायिक एव शिल्प सम्बन्धी दीक्षा जाति सरचना के भीतर ही दी जाती थी। सस्कृत, अरबी या फारसी शिक्षा का माध्यम थी। अध्यापकों के पारिश्रमिक का भुगतान शासकों द्वारा भूमि आवटन करके, शिष्यों के ऐच्छिक भेंटों के द्वारा, धनी नागरिकों द्वारा दिये जाने वाले भत्तों से, और भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के रूप में किया जाता था। स्कूलों के पास अपने भवन नहीं होते थे। अनेक स्थानों पर तो स्कूल मन्दिरों, मस्जिदों या अध्यापकों के घरों पर ही चलाए जाते थे। मुस्लिम छात्रों के लिए अलग से ये मदरसे मौलवियों द्वारा और हिन्दू छात्रों के लिए ब्राह्मणों द्वारा चलाए जाते थे। व्यावसायिक दीक्षा बालकों को पिता, भाई आदि के द्वारा दी जाती थी, दक्षता को इस प्रकार पीढी दर पीढी सम्प्रेषित किया जाता था और लाभप्रद रोजगार भी प्रदान किया जाता था। शारीरिक शिक्षा, विचार शक्ति के विकास या किसी शिल्प की शिक्षा पर बल नहीं दिया जाता था। पवित्रता, सरलता, समानता छात्र जीवन

के आदर्श नही थे। पेशेवर भूमिका की विशेषज्ञता ऐसी अवस्था में नही पहुची थी कि अलग से कोई वर्ग या जाति शिक्षा को विशेष कार्य के रूप में करते। शिक्षा अधिक व्यवहारिक थी।

ब्रिटिश काल में शिक्षा का उद्देश्य अधिक सख्या में लिपिक पैदा करना था। शिक्षा शिक्षक केन्द्रित होने की अपेक्षा छात्र केन्द्रित अधिक थी। आज की तरह उन दिनों में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की स्वतत्रता, व्यक्ति की श्रेष्ठता, सभी लोगों के बीच समानता, व्यक्ति और समूह की आत्म निर्भरता और राष्ट्रीय एकता नही था। शिक्षा देने के कार्य में लगे ईसाई मिशनरी धर्म परिवर्तन के काम को अधिक महत्व देते थे। स्कूलों और कालेजों में शिक्षा उत्पादक नही थी जो सामाजिक, क्षेत्रीय, और भाषायी अवरोधों को तोड सके। इसका उद्देश्य यह भी कभी नही रहा कि यह लोगों को तकनीकी ज्ञान मे दक्ष बनाए। अन्याय, असहिष्णुता और अन्धविश्वास के विरुद्ध सघर्ष पर भी ध्यान नही था।

वर्तमान काल मे शिक्षा (Education in the Present Period)

आज की शिक्षा शहरी, प्रतिस्पर्धात्मक उपभोक्ता समाज को प्रोत्साहित करने की ओर उन्मुख है। गत पाँच दशकों में यदि हम उन वैज्ञानिकों, पेशेवर और तकनीकी विशेषज्ञों का मूल्याकन करें (जिनको शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से तैयार किया गया है और जिन्होंने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रेष्ठता अर्जित की है, तो पता चलता है कि शिक्षा व्यवस्था ने ही उन्हें एक अच्छी सख्या में उपलब्ध कराया है। शिखरस्थ (top) वैज्ञानिक, डाक्टर, इन्जीनियर अनुसधानकर्त्ता, प्रोफेसर आदि वे लोग नही है जो विदेशों में शिक्षित हुए बल्कि उनकी तो सम्पूर्ण शिक्षा भारत में ही सम्पन्न हुई। यदि वे सभी विशेषज्ञ तथा वे सब लोग जो उच्चतम स्तर पर पहुचे हैं, हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से ही आए हैं, तो हम आज की शिक्षा व्यवस्था के सकारात्मक पक्षों को किस प्रकार अस्वीकार कर सकते हैं? यद्यपि हम वर्तमान शिक्षा की पूर्णरूपेण आलोचना नही कर सकते, तथापि कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता है, यदि हम वास्तव में अच्छे भविष्य की कामना करते हैं। प्रश्न अतीत का या वर्तमान का नही परन्तु भविष्य का है। हम किस प्रकार 21 वी सदी की सबसे आधुनिक तकनीकी ज्ञान की चुनौतियों का सामना करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञों को तैयार करने जा रहे हैं ? प्रश्न यह नही है कि शिक्षा किस सीमा तक लोगों को रोजगार प्रदान करने में सफल या असफल हुई है, बल्कि प्रश्न शिक्षा से गरीबों और वचित लोगों को आधुनिक तकनीकी ज्ञान दिये जाने का है। प्रश्न शिक्षा की गुणवत्ता का है। बढती हुई जनसख्या को एक दायित्व (liability) मानने की अपेक्षा इसको नियत्रण करने के प्रयास के साथ-साथ इसे परिसपत्ति (asset) और ताकत (strength) समझा जाना चाहिए। यह केवल शिक्षा और मानव विकास से हो सकता है। युवकों को केवल डिग्री या प्रमाण पत्र देकर यह कह देना कि वह नियुक्ति के योग्य हो गया है, काफी नही है। हमें अपनी युवा पीढी को विचारवान बनाना है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था व्यक्ति को सोचने के लिये प्रोत्साहित नही करती। उसे एक निश्चित पाठ्यक्रम पढाया जाता है और अपेक्षा की जाती है कि वह परीक्षा में उसकी पुनरावृत्ति कर दे। यह व्यवस्था दोषपूर्ण है। युवाओं को अधिक से अधिक प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए जो उन्हें न केवल सोचने में मदद करेगा बल्कि

अध्यापकों को भी अधिक अध्ययन करने और सीखने के लिए बाध्य करेगा। इस प्रकार हमें परीक्षा प्रणाली बदलनी है। हमें छात्रों को पढाई को गम्भीरता से लेने को बाध्य करना है। हमें उन्हें कक्षा छोडने, हडतालों में भाग लेने, छात्र राजनीति में भाग लेने, केवल चुनाव लडने के लिए ही प्रवेश लेने और केवल अशकालिक रूप से किसी पाठ्यक्रम को लेने से दूर रखना है।

यद्यपि यह सत्य है कि सभी स्तरों पर शैक्षिक सस्थाओं और छात्रों की सख्या में वृद्धि हुई है लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि शिक्षा की गुणवत्ता, छात्रों की रुचि, और अध्यापकों में समर्पण भाव में भी साथ साथ वृद्धि हुई है। 1921 से 1998 तक पूर्व प्राथमिक विद्यालयों की सख्या में 21 गुना (1909 से 40,553) वृद्धि हुई है, प्राथमिक विद्यालयों में दुगनी (3 3 लाख से 6 107 लाख), मिडिल और सीनियर स्कूलों की सख्या में साढे तीन गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है (40,663 से 1 85 लाख), हायर सेकेण्डरी स्कूलों की सख्या में लगभग 6 गुनी (17,257 से 107,100), और विश्वविद्यालयों की सख्या में (डीम्ड विश्वविद्यालयों सहित) पाच गुनी (45 से 228) वृद्धि हुई है (*Man Power Profile India*, 1998 70 और *दि हिन्दुस्तान टाइम्स*, 2 मई 1999)। 1991 से 1997 के बीच प्राथमिक शिक्षकों की सख्या में ढाई गुनी वृद्धि हुई है (7 4 लाख से 17 89 लाख) और हायर सेकेण्डरी स्कूल शिक्षकों की सख्या में 5 गुनी (2 96 लाख से 15 42 लाख) वृद्धि हुई है। आखिरी, 1961 और 1997 के बीच प्राथमिक विद्यालयों में छात्रों की सख्या में तीन गुनी (336.31 लाख से 1103 94 लाख), हायर सेकेण्डरी स्कूलों में लगभग पाच गुनी (34 63 लाख से 178 62 लाख), और स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में लगभग साढे बारह गुनी (4 28 लाख से 53 73 लाख) वृद्धि हुई है (*Man Power Profile, India*, 1998, 80 81)। परन्तु सभी आयोगों और समितियों ने शिक्षा में कमियों और दोषों को इगित किया है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के तीन दोषों को इस प्रकार बताया जा सकता है : (1) वर्तमान शिक्षा व्यवस्था उस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नही करती जो हमारे बदले हुए समाज के लिए सार्थक हो, (2) वर्तमान शिक्षा ज्ञान की विशेष शाखा से सम्बद्ध प्रौद्योगिकी, रोजगार सम्भावनाओं या निवेश माग के अर्थों में हमारे विकास की अवस्था में अनुपयुक्त है, (3) मूल्य रूपरेखा प्रदान करने में भी शिक्षा असफल रही है जो समर्पित राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ, तथा अन्य पेशेवर लोग तैयार कर सके ताकि हमारा राष्ट्र ऊचाइयों तक पहुचने के लिए इन लोगों की लाभकारी समर्थक सेवाओं की सद्व्यवस्था पर निर्भर कर सके।

भविष्य के लिए शिक्षा (Education for the Future)

हमारा समाज एक अज्ञात भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। जो सकट आज हमारे समाज के सामने हैं उनकी आवृति (frequency) और प्रबलता (intensity) में वृद्धि सम्भव है। बढती जनसख्या और समाप्तप्राय ससाधनों (dwindling resources) के साथ हमारे देश को नयी समस्याओं का सामना करना है। भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए हमें ऐसे ज्ञान और दक्षता की आवश्यकता होगी जो हमारी समस्या समाधान की क्षमता में योगदान कर सके, न केवल विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बल्कि मानव सम्बन्धों और

प्रबन्ध के क्षेत्र में भी। आज की शिक्षा व्यवस्था आज की सकटपूर्ण स्थिति की चुनौतियों का रचनात्मक ढग से उत्तर देने के बजाय अधिक से अधिक पतन की ओर जा रही है। हमें निम्न आधार पर वरीयताओं को फिर से तय करने की जरुरत है।

प्रथम, हम 'आत्म निर्भरता के लिए शिक्षा' सिद्धान्त को स्वीकार करें। माध्यमिक और उच्च शिक्षा से अधिक बल प्राथमिक और प्रौढ शिक्षा को देना चाहिए।

द्वितीय, माध्यमिक और कालेज/विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

तृतीय, शिक्षा के प्रबन्धन की समस्या प्रमुख है। वर्तमान में तो नौकरशाही शैली ही विद्यमान है। नौकरशाही शिक्षा के वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के प्रति सवेदनशील और प्रत्युत्तर देने वाले नही हैं। अल्प बजट, उच्च अनुशासनहीनता, प्रशासकीय खामियाँ और हस्तक्षेप, और राजनैतिक दबाव शिक्षा के क्षेत्र में निर्णय लेने को कष्टप्रद बना देते हैं। इस प्रकार शिक्षा का प्रबन्धन नौकरशाही हस्तक्षेप और राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप से मुक्त होना चाहिए।

चतुर्थ, शिक्षकों की जवाबदेही (accountability) की समस्या गम्भीर है, विशेष रूप से उच्च शिक्षा में। ऐसे अनेक मामले प्रकाश में आए हैं जहा शिक्षक महीनों और यहा तक वर्षो कक्षाए नही लेते। वे नियमित रूप से पुस्तकालय जाकर पत्र पत्रिकाए और आधुनिकतम पुस्तकें पढने में शायद ही रुचि रखते हैं। हमें शिक्षा के उद्देश्य को पुनर्स्थापित करना है और उपयुक्त शिक्षण विधियों का निश्चय करना है। फिर उन कारकों को नियमित करना है जो शिक्षा को बिगाड़े हुए हैं। शैक्षिक व्यवस्था में शिक्षकों पर नियत्रण महत्वपूर्ण एव आवश्यक है।

पचम, हमें छात्रों में अध्ययन के प्रति गम्भीरता पैदा करनी है। 'ज्ञान किसके लिए' सबसे कठिन प्रश्न है। ऐसा माना जाता है कि शिक्षा गतिशीलता में गुणात्मक वृद्धि करती है। यह स्थिति और विशेषाधिकार को शाश्वत बनाने का काम करती है। लेकिन क्या उच्च शिक्षा सभी छात्रों के लिए खुली होनी चाहिए ? अनेक छात्र कानून, कला, कॉमर्स पाठ्यक्रमों में केवल इसलिए प्रवेश लेते हैं क्योंकि उन्हें जीवन में व्यवस्थित होने तक समय काटना होता है। क्या उन्हें प्राविधिक और पेशेवर पाठ्यक्रमों के लिए मार्ग निर्देशन नही किया जाना चाहिए ? क्या शिक्षा को उनके हित साधन के इर्दगिर्द नही घूमना चाहिए?

छठी, हमें व्यावसायिक और पेशेवर शिक्षा को प्रोत्साहन देना है जिसकी खुले बाजार में माग है। यह मानना है कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति एक विशेषज्ञ नही बन सकता लेकिन उसे अपने में ऐसी कुशलता विकसित करनी है जिससे वह जीवनयापन कर सके। हमें आगामी दो या तीन दशकों के विषय में सोचना है और कृषि के प्रकार, विकासशील उद्योगों के प्रकार, व्यापार और वाणिज्य तथा नौकरी और सेवा के नये क्षेत्रों पर ध्यान देना है। यह हमें ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना में सहायक होगा जो हमें अच्छे किसान, अच्छे कुशल श्रमिक, अच्छे मेकेनिक या जिस किसी की भी बाजार में माग हो, देगी।

सातवा प्रकरण विविध विभागों में तालमेल का है, जैसे कृषि, उद्योग, श्रम, इलैक्ट्रोनिक्स, कानून, विज्ञान तथा अन्य, ताकि विश्वविद्यालय, आई आई टी और कालेज यह

जान सकें कि किस प्रकार के कुशल लोगों की आवश्यकता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण शिक्षा होनी चाहिए जिससे व्यक्ति अपनी इच्छा के रोजगार के लिए तैयार किये जा सकें और नियोक्ता को भी अपने से जुडने वाले अभ्यर्थी मिल सकें।

आठवी समस्या सभी निरक्षर लोगों को साक्षर बनाने की है। 1998 में उपलब्ध अनुमानित आकडों के अनुसार यह मानते हुए कि भारत में साक्षरता दर 1991 को 52.21% से बढकर 1998 में 60% हुई है, 40 करोड लोगों को अभी भी शिक्षित किया जाना है। यह एक महान कार्य है। यह सर्वविदित है कि सभी राज्यों में साक्षरता स्तर को ऊचा उठाने की योजनाए चल रही हैं, फिर भी कहा जाता है कि निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अभी 25 वर्ष का समय चाहिए। छात्रों को 2 महीने की छुट्टियों की अवधि में निरक्षरों को पढाने के लिए बाध्य करने जैसी नीतियों से शायद लक्ष्य अवधि को कम करने में मदद मिले।

नवीं समस्या प्राथमिक स्तर पर ही स्कूल छोड देने वाले छात्रों की सख्या में कमी करने की है। उपलब्ध आकडे दर्शाते हैं कि 1996 में स्कूल शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर पढाई छोडने वाले लडके और लडकियों का प्रतिशत 38 से 41% था। 1997-98 में, मानव ससाधन विकास मत्रालय के अनुसार यह सख्या लडकों की 38 23% और लडकियों की 41 34% थी जिन्होंने 5वी कक्षा तक पहुचने से पहले ही स्कूल छोड दिया। शेष में से आठवी कक्षा तक आधे से अधिक (54 14%) स्कूल छोड देते हैं। उनमें से 50 72% लड़के और 58 61% लडकिया हैं। एक तिहाई से भी कम सेकेन्डरी स्कूल स्तर पास कर सके (*The Hindustan Times*, May 2, 1999)। इस समस्या को रोकने के उपाय किए जा सकने हैं। उसी लीक पर चलते रहना अच्छी बात नही है। यदि हम यह जान लें कि हम प्रगति नही कर रहे हैं तो हमें अपनी नीतिया, कार्यक्रम और प्रतिदर्श बदलने होंगे और नये परीक्षण करने होंगे।

दसवा विषय वर्तमान परीक्षा प्रणाली का है। एक तरह से तो परीक्षाए मजाक बन कर रह गई हैं। वर्तमान व्यवस्था में छात्र गाइडें व सस्ती पुस्तकें पढ कर परीक्षा उत्तीर्ण करना सरल समझते हैं। कक्षा में बैठना उनकी दृष्टि में समय की बर्बादी है। शिक्षक भी लेक्चर तैयार करने, पुस्तकें व पत्र पत्रिका पढने और अधुनातम अनुसन्धान परिणामों की जानकारी हासिल करने मे कम से कम कष्ट उठाना चाहते है। परीक्षा की उत्तरपुस्तिकाओं के प्रत्येक पृष्ठ को पढने का उनके पास समय ही नही है। उनकी चिन्ता केवल यही रहती है कि उन्हें भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों से अधिक से अधिक उत्तर पुस्तिकाए जाँचने को मिलें और उन्हें अधिक से अधिक पारिश्रमिक प्राप्त हो। क्या हम वर्तमान व्यवस्था के साथ चलते रहें ? इसे अधिक लचीला और मुक्त बनाना होगा जिसमें रचनात्मक सोच पर बल दिया जाये।

अन्त में, उच्च शिक्षा को ठीक करने का प्रश्न है। क्या प्रत्येक छात्र को जो प्रवेश चाहता है प्रवेश दिया जाये ? उच्च शिक्षा, सस्ती क्यों हो ? एक कक्षा में 100 से 150 छात्रों को प्रवेश क्यों दिया जाये ? किस सीमा तक शिक्षा में अनुदान (subsidy) प्रदान की जाये ? क्या हमें व्यावसायिक शिक्षा के लिए ही अनुदान देने चाहिये या कला व वाणिज्य में भी ? यह वे प्रश्न हैं जिन्हें स्नातक और स्नातकोत्तर कार्यक्रमों के पुनर्गठन से, छात्रों की बेहतर कार्य परिणामों से, शिक्षकों की अधिक जवाबदेही से और गर्मी की छुट्टियों के क्रियात्मक उपयोग से जोडा जाना चाहिए। यदि हम भविष्य के लिए तर्कसगत तरीके से

शिक्षा की योजना बनाना चाहते हैं तो हमें शिक्षण और परीक्षा प्रणाली के दोषों को दूर करना होगा।

शैक्षिक असमानता और सामाजिक गतिशीलता
(Educational Inequality and Social Mobility)

यद्यपि यह एक तथ्य है कि सभी मनुष्य योग्यता और दक्षता में समान नहीं हैं और ऐसे समाज की कल्पना करना भी अविवेकपूर्ण और आदर्शहीन होगा जो अपने सभी सदस्यों को एक समान स्थिति और लाभ प्रदान कर सके, फिर भी उनके उद्देश्यों और आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए सभी लोगों को समान अवसर प्रदान करना आवश्यक है। यहा हम लोगों के बीच आर्थिक असमानता की बात नहीं कर रहे हैं बल्कि उस असमानता की चर्चा कर रहे जिसे आन्द्रे बेतेइ ने (Inequality Among Men 1977 3) "अस्तित्व की दशाओं" (conditions of existence) में असमानता कहा है। इस प्रकार हम न तो *प्रकृति* आधारित असमानताओं की (अर्थात, आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति या मस्तिष्क के गुणों की) बात कर रहे है और न 'किस्म' (type) पर आधारित समाजों की जैसे, आदिवासी, कृषि और औद्योगिक समाज बल्कि गुणों और कार्यों या उन कारकों के अर्थ में असमानता की जो मनुष्य को स्थिति और शक्ति प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

अत, उस समाज का प्रयत्न, जो अवसरों की समानता के लिए कटिबद्ध है, अधिकतर सेवाएं प्रदान करने का रूप ले लेता है जो समाजीकृत सामुदायिक सेवाओं और शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करके आर्थिक पृष्ठभूमि में असमानता की क्षतिपूर्ति करता है। वास्तव में, इस प्रकार की सुविधाए पर्याप्त रूप से व सबको प्रदान करने के मार्ग में कठिनाइया हैं। भारत जैसे समाज के लिये यह लगभग असम्भव है कि उन सभी को मुफ्त शिक्षा प्रदान की जाये जो इससे लाभान्वित होना चाहते हैं, सिवाय चयनित अवस्थाओं के, या यों कहिए प्राथमिक स्तर तक या जरुरतमन्द और योग्य बच्चों को। इससे पुन अवसरों की असमानता का उदय होता है। जहा केवल जरुरतमद लोगों के बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे योग्य हों, वही सम्पन्न लोगों के बच्चे तभी तक स्कूल जा सकते हैं जब तक वे शुल्क देते रहें।

सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए अवसर की समानता अधुनातम (recent) विचार है जो कि व्यक्ति के जीवन में प्रदत्त स्थिति के महत्व को अस्वीकार करने के बाद अर्जित स्थिति के महत्व को मान्यता देकर स्वीकार किया गया है। एमएसगोरे ने भी कहा है कि सामाजिक गतिशीलता तभी सम्भव हो पाई है जब से व्यक्ति की स्थिति आनुवांशिक बन्धनों से मुक्त हुई है (Gore, *Indian Education* 1990 29)। उनका कहना है कि प्रौद्योगिकी विशेषज्ञता अर्जित करना, उच्च प्रशासनिक पद ग्रहण करना, और नये धन्धे सीखना, धन की सफलता और समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए कुछ कार्य क्षेत्र हैं। योग्यता और श्रेष्ठता प्राप्त करना केवल शिक्षा से ही सम्भव है। यद्यपि शिक्षा सभी लोगों के उच्च स्थिति और उच्च पद पर पहुँचने की गारन्टी नहीं देती, फिर भी शिक्षा के बिना सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। एमएसगोरे (वही 30) का मानना है कि शिक्षा तीन प्रकार से अवसरों को समान करने की भूमिका अदा करती है (1) उन सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव बनाकर जिनकी इच्छा शिक्षित होने की है और उस सुविधा का

लाभ उठाने की है, (2) शिक्षा की ऐसी विषय-वस्तु का विकास करके जो वैज्ञानिक तथा वस्तुपरक दृष्टिकोण विकसित करेगी और (3) धर्म, भाषा, जाति, वर्ग आदि पर आधारित परस्पर सहिष्णुता का वातावरण पैदा कर के। समाज में सभी व्यक्तियों को सामाजिक गतिशीलता के लिए समान अवसर प्रदान करने में सबसे अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान करना महत्वपूर्ण बात है। वास्तव में, केवल शिक्षा ही सामाजिक गतिशीलता का मार्ग नही है, तथा वर्ग, सास्कृतिक पृष्ठभूमि और माता-पिता का सहारा, आदि भी महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो अवसरों को प्रभावित करते हैं। लेकिन शिक्षा का अभाव निश्चित रूप से गतिशीलता के लिए अवरोध सिद्ध होता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि अवसर की समानता प्रदान करने में प्रयासरत समाज केवल चुनीदा लोगों को ही शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करता है।

शिक्षा किस प्रकार अवसर की समानता से सम्बद्ध है, इस तथ्य को 1967 में आठ राज्यों में किए गए एक अनुभवात्मक अध्ययन के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों से देखा जा सकता है, जो कि विभिन्न स्तरों पर हाइ स्कूलों, कालेजों और व्यावसायिक सस्थाओं में—अध्ययनरत छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि (आयु, लिंग, जाति, पिता के व्यवसाय, पिता की शिक्षा आदि) पर आधारित था। इस अध्ययन ने दो सम्भावित विचारणीय तथ्य उजागर किए (1) शिक्षा श्वेतवसन समूह में प्राथमिकता प्राप्त (priority) होती है और इस समूह के बालक शिक्षा सुविधाओं का उपयोग अन्य समूहों के बालकों से अधिक करते हैं (2) उन लोगों को जो श्वेतवसन समूह के नही है, शिक्षा विभेदों से (differentially) उपलब्ध है (देखें, M S Gore, *Indian Education Structure and Process*, 1990 · 33)। यदि प्रथम तथ्य सत्य है तो सम्भवत यह हमारे समाज में गैर श्वेतवसन समूहों के लिए शिक्षा की निरर्थकता को रेखांकित करता है। माध्यमिक शिक्षा में उनकी रुचि का अभाव इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि जिन आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्होंने माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त की, वे उनके व्यवसाय में कोई सार्थक योगदान नही करती। क्या यह शिक्षा में हमारे दोषपूर्ण नियोजन पर प्रकाश डालता है या उन गैर विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के पिछड़ापन पर जो सामाजिक गतिशीलता की इच्छा ही नही रखते ? हमारे समाज के वे लोग जो लाभों से वचित रहते हैं (जैसे, S Cs, STs, OBCs, स्त्रिया और धार्मिक अल्पसख्यक) शोषण के कारण बडे कष्ट सहते रहे हैं क्योंकि वे अशिक्षित हैं। शिक्षा में असमानताओं के वर्णनों पर कुछ अध्ययन किए गए हैं, जैसा कि क्षेत्रीय, ग्रामीण-नगरीय, लिंग और जातिगत असमानताओं, स्कूल और कालेजों में प्रवेश में असन्तुलनों, और असमानताओं के परिणामों से सिद्ध होता है। इन सभी अध्ययनों ने लाभों से वचित लोगों के स्तर और पहचान पर शिक्षा के प्रभाव को इगित किया है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर किए गए अध्ययनों से सकेत मिलता है कि जब तक ये लोग शैक्षिक रूप से पिछडे रहेंगे तब तक उन्हें आर्थिक मदद या उच्च शिक्षण सस्थानों में आरक्षित प्रवेश के रूप में सरक्षणात्मक भेदभाव प्रदान करना है। इस प्रकार का एक अध्ययन आई पी देसाई के निर्देशन में 1974 में भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसधान परिषद (ICSSR) द्वारा प्रायोजित किया गया था। इस अध्ययन में 14 राज्य शामिल थे और इस का उद्देश्य था देश में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के स्कूल और कालेज के छात्रों की स्थिति और उनकी समस्याओं का अध्ययन। इस अध्ययन

में यह सकेत मिला कि दलित छात्र अध्ययन के प्रति उदासीन होते हैं, और अशिक्षा असमानता में वृद्धि करती है तथा व्यवसायिक व सामाजिक गतिशीलता को रोकती है। सुमा चिटिनिस (Suma Chitnis, 1972) ने भी बम्बई नगर में उच्च शिक्षा कालेज छात्रों के प्रवेश में असमानताओं तथा उनके द्वारा भोगी गई समस्याओं की जाँच की थी। विक्टर डिसूजा (Victor D'souza, 1977) ने भी पंजाब में दलितों और अन्य के बीच शिक्षा में भेदभाव के स्वरूप और जातिप्रथा, जाति व्यवहार, आर्थिक कारक और कल्याण कार्यक्रमों का स्वरूप और कार्यविधि किस प्रकार इन स्वरूपों को प्रभावित करते हैं, का पता लगाया। एमएल. झा (M L Jha, 1973) ने भी आदिवासियों की शिक्षा और उसमें भेदभाव का अध्ययन किया। वीपीशाह (V.P Shah, 1973) ने गुजरात में शिक्षा और अस्पृश्यता के बीच सम्बन्ध को इगित किया है। सच्चीदानन्द सिन्हा (Sachidanand Sinha, 1975) ने उत्तर प्रदेश में कालेजों के दलित छात्रों की स्थिति का वर्णन किया है। इस प्रकार, यह सब अध्ययन शिक्षा को अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए एक साधन के रूप में मानते हैं।

इसी प्रकार स्त्रियों की शिक्षा पर भी (उन लोगों की महत्वपूर्ण श्रेणी जो शैक्षिक रूप से पिछडे हैं) अध्ययन हुए हैं। यह अध्ययन के अहमद (K Ahmed, 1974) तथा अन्य लोगों द्वारा किया गया जिसमें उन्होंने विकासशील समाज में स्त्रियों की भूमिका में शिक्षा के महत्व को दर्शाया है। बेकर (Baker, 1973) ने महिला छात्राओं की आकाक्षाओं का, शैक्षिक सुविधाओं के उपयोग में उनके सामने आने वाली समस्याओं के समझने की दृष्टि से अध्ययन किया। सुमा चिटिनिस (Suma Chitnis, 1977) ने बम्बई में मुस्लिम छात्राओं पर सह-शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन किया। ये सब अध्ययन असमानताओं के प्रभाव और परिवर्तन की आवश्यकताओं को दर्शाते हैं।

शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण
(Education, Social Change and Modernisation)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के बीच सम्बन्धों के विश्लेषण में प्रश्न यह उठता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार करती है। शिक्षा और आधुनिकीकरण के बीच सम्बन्धों के विश्लेषण में मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शिक्षा और किन दशाओं में यह समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को पैदा करेगी और उसे दृढ करेगी ? शिक्षा को सामाजीकरण के एक प्रमुख एजेंसी के रूप में और शिक्षकों तथा शैक्षिक सस्थाओं को एजेंट के रूप में स्वीकार किया गया है। शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप में बताने में तीन कारक महत्वपूर्ण हैं परिवर्तन का एजेंट, परिवर्तन की विषय वस्तु, और उन लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमि जिनका परिवर्तन किया जाना है, अर्थात, छात्र। विभिन्न समूहों के नियत्रण वाली शिक्षण सस्थाए उन समूहों के मूल्यों को प्रदर्शित करती हैं जो उन सस्थाओं का प्रबन्ध एव समर्थन करते हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षक भी बच्चों में विशेष मूल्य, आकाक्षाएं और अभिरुचियां पैदा करते हैं। इस प्रकार परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षकों की भूमिका का विश्लेषण करने के लिए हमें उन तीन प्रकार की शिक्षण सस्थाओं को याद रखना होगा जो स्वतत्रता से पूर्व भारत में विद्यमान थी एक, जो वैदिक दर्शन सिखाना चाहती थी

(गुरुकुल), दो, जो शिक्षा के भारतीयकरण पर ध्यान देती थी, तीन, वे जो पश्चिमी प्रकार की शिक्षा प्रदान करना चाहती थी। दूसरे और तीसरे प्रकार की सस्थाओं का विश्वास था कि अंग्रेजी की शिक्षा, विशेष रूप से हाईस्कूल स्तर पर, सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन कर सकेगी। वे समाज सुधारक जो अंग्रेजी पढे लिखे थे, जाति प्रतिबन्धों की समाप्ति, स्त्रियों की समानता, बुरे सामाजिक प्रथाओं और रिवाजों से छुटकारा, देश के शासन में भागीदारी, लोकतांत्रिक सस्थाओं की स्थापना आदि पर बल देते थे। वे समाज को बदलने के लिए शिक्षा के माध्यम से उदार दर्शन सिखाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे शिक्षा को ऐसी ज्ञान की ज्योति मानते थे जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करती है। परन्तु यह सन्देहास्पद है कि शिक्षकों ने स्कूलों और कालेजों, दोनों में—मूल्यों के उदारवाद को स्वीकार किया और तदनुसार शिक्षा दी। अत शिक्षण सस्थाओं ने सामाजिक एकता, राजनैतिक लोकतत्र और तर्कसगतता का सन्देश छात्रों तक नहीं पहुँचाया। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात ही लोकप्रिय लोकतत्र की अवधारणा स्वीकार की गई जब यह माना गया कि समतावाद, धर्म निरपेक्षवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, मानववाद, जाति सस्था का अवमूल्यन और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में ह्रास, आदि उद्देश्यों को शिक्षा के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है और यह कार्य स्कूलों और कालेजों में शिक्षा की विषय सामग्री बदल कर ही किया जा सकता है।

आधुनिकीकरण के मूल्यों को फैलाने के लिए शिक्षा के उपयोग पर बल देने की बात 1960 और 1970 के दशकों के बाद समझी जाने लगी। अत्यधिक उत्पादक अर्थ व्यवस्था, वितरणशील न्याय, निर्णय करने वाली सस्थाओं में लोगों की भागीदारी, उद्योगों, कृषि तथा अन्य व्यवसायों और पेशों में वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का वरण, आदि भारतीय समाज को आधुनिक बनाने के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। और उन लक्ष्यों के उदार शिक्षा के माध्यम से प्राप्त किया जाना था। इस प्रकार आधुनिकीकरण तर्कसगत मूल्य व्यवस्था पर आधारित आन्दोलन या दर्शन के रूप में नही वरन् एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया जो कि हमारे समाज की विशेषता मानी जाये। इस प्रकार आधुनिकीकरण केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नही रहना था, बल्कि सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में भी प्राप्त किया जाना था। शिक्षा को आधुनिकता के विस्तार के लिए एक मार्ग के रूप में उपयोग किये जाने का प्रयत्न था।

समस्या यह है कि सामाजिक राजनैतिक रूपरेखा व आधुनिकीकरण के मूल्यों के विषय में, हमारे समाज के अभिजात वर्ग में स्पष्ट असहमति है। अत. प्रश्न यह है कि आधुनिकीकरण के मूल्यों को कौन समझायेगा ? शिक्षा कौन देगा ? यदि परिवर्तन करने वाले स्वय परम्परावादी हैं और स्वय अपने जीवन में आधुनिक मूल्यों को नहीं अपनाते, तो छात्रों को किस प्रकार वे इन मूल्यों को प्रदान करेंगे ? इतने पर भी अनेक शिक्षा आयोग और 1986 की नयी शिक्षा नीति ने असाधारण स्पष्टता से आधुनिक समाज की विशेषताओं और मूल्यों को उजागर किया है, तथापि शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण का मार्ग इतना सरल नही है। केन्द्र तथा कुछ राज्यों में सत्ता में कुछ हिन्दू सगठनों के राजनैतिक नेता अभी भी विश्वास करते हैं कि शिक्षा के माध्यम से कुछ परम्परागत सास्कृतिक तथ्य सिखाए जाने चाहिए। इस प्रकार की विचार शैली और आधुनिकीकरण के विशिष्ट मूल्यों (जैसे, धर्म निरपेक्षता, व्यक्तिवाद, समाजवाद और समतावाद, आदि) की स्थिरता पर सहमति के अभाव

में हम आधुनिकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने की उम्मीद कैसे करें ? अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक प्रभावों को प्रसारित करने के लिए एक साधन के रूप में शिक्षा का उपयोग एक ऐसा प्रकरण है जो गम्भीर चिन्तन चाहता है।

अनेक समाजशास्त्रियों ने (A R Desai (1974), S C Dube (1971), M S Gore (1971), N Jayaram (1977) K Ahmed (1979), और A B Shah (1973), आदि) सामाजिक पुनर्गठन और आधुनिकीकरण के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में मानने के विषय पर ध्यान दिया है। के अहमद ने कहा है कि यद्यपि औपचारिक शिक्षा लोगों की अभिरुचियों और मूल्यों में ज्ञान के परिवर्तन के माध्यम से वैचारिक परिवर्तन करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है, फिर भी समाज में सरचनात्मक परिवर्तन लाने में इसका प्रभाव सीमित हो है। ऐसा शिक्षा में विद्यमान प्रचलनों और कार्यविधियों तथा यथास्थिति में रुचि रखने वाले स्वार्थी लोगों के बीच सम्बन्धों के कारण है। सुमा चिटनिस (Suma Chitnis, 1978) ने भी विकास के साधन के रूप में शिक्षा की अनयिमित कार्यप्रणाली की ओर सकेत किया है। एआर देसाई (1974) ने सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षा की मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। उनका मानना है कि स्वतत्रता के बाद शिक्षा को वाछित परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से तैयार नही किया गया है। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता और समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने में शिक्षा की नीतियों तथा वित्त और कोष आवटन की नीतियों की आलोचना की है। एआर देसाई के समर्थन में हम अनुसूचित जातियों, जनजातियों, स्त्रियों और अल्पसख्यकों की शिक्षा के उदाहरण दे सकते हैं जो उनकी स्थिति को ऊपर उठाने में असफल रही हैं। अशिक्षित युवकों की बेरोजगारी और अल्प रोजगारी युवाओं की आकाक्षाओं की पूर्ति में शिक्षा की असफलता का एक और उदाहरण है। ग्रामीण क्षेत्रों में विकास और गरीबी मिटाने में असफलता एक और उदाहरण है। जब तक शक्ति के मौजूदा वितरण की रूपरेखा को तोडा नही जाता और गरीबों के प्रति नीतियों में परिवर्तन नही किया जाता तब तक परिवर्तन के लिए ससाधन जुटाना कठिन ही बना रहेगा। सामाजिक परिवर्तन के लिए उच्च शिक्षा में भी परिवर्तन आवश्यक है। एमएसगोरे (1971) ने शिक्षा की विधियों और विषयवस्तु में, उस वातावरण और प्रसग में जिनमें इसका सचालन हो रहा है, और शिक्षकों तथा प्रशासकों की उन आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं में, जो वाछित विकास को प्राप्त करने में शिक्षा की प्रभाविता के लिए शिक्षा के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी हैं, परिवर्तन लाने की आवश्यकता की ओर सकेत किया है।

शिक्षा और आधुनिकीकरण के बीच सम्बन्धों पर भारत में कुछ अनुभवात्मक अध्ययन किए गए हैं। ऐसा एक अध्ययन दिल्ली में एनसीईआरटी (NCERT) द्वारा (1960 के दशक के परिणाम) आठ राज्यों में किया गया था। इन अध्ययनों में वर्णन किया गया है कि किस सीमा तक देश में स्कूलों और कालेजों के छात्रों और शिक्षकों की अभिरुचियों, आकाक्षाओं और दृष्टिकोणों में आधुनिकता आई है। इन अध्ययनों में अलेक्स इकलिस (Alex Inkles) द्वारा विकसित पैमाने का अनुकरण करके आधुनिकीकरण को मापा गया है। परिणामों से आधुनिकीकरण पर शिक्षा के कम प्रभाव के सकेत मिलते हैं। पारिवारिक जीवन के विषय पर छात्र परम्परात्मक बने हुए हैं। योगेन्द्र सिंह (1979) ने राजस्थान विश्वविद्यालय के कालेज शिक्षकों के आधुनिकीकरण के प्रति अभिरुचियों और मूल्यों के

संदर्भ में उनके दृष्टिकोण का अध्ययन किया। इस अध्ययन में विश्वविद्यालय के शिक्षकों की आकांक्षाओं, प्रतिबद्धताओं, प्रभुत्व और मनोबल के स्तर इस आशय से नापे गए कि शिक्षकों की भूमिका और मूल्य उन्हें आधुनिकीकरण के एजेंट के रूप में उनकी भूमिका को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। उन्होंने इन दोनों के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध पाया और इस प्रकार यह माना कि अध्यापकों के मूल्य छात्रों के आधुनिकीकरण को प्रभावित करते हैं।

1975 में ईहक (E Haq) ने एक अध्ययन यह जानने के लिए किया कि स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों की विषय सामग्री (content) और माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा की प्रक्रिया किस प्रकार राजनैतिक आधुनिकीकरण को प्रभावित करते हैं। उन्होंने शिक्षा और जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तनों के बीच सम्बन्धों की ओर भी संकेत किया।

शिक्षा की समस्याएँ
(Problems of Education)

छात्र असन्तोष (Student Unrest)

छात्रों पर किए गए अध्ययनों में से एक छात्र अध्ययन असन्तोष पर भी है। यहाँ हम इस समस्या का विस्तार से विश्लेषण करेंगे। छात्र अनुशासनहीनता को इस प्रकार समझाया गया है "सत्ता के प्रति अवज्ञा, शिक्षकों का अनादर, प्रतिमानों से विचलन, नियंत्रण स्वीकार करने से इन्कार, और सामाजिक मान्यता प्राप्त लक्ष्यों (goals) और साधनों (means) को अस्वीकार करना।" छात्रों में तीन स्थितियां अनुशासनहीनता पैदा करती हैं · (i) छात्र शिक्षा और शैक्षिक संस्थाओं में रुचि खो देते हैं और इसके प्रतिमानों को मानने से इन्कार कर देते हैं, (ii) छात्र लक्ष्यों को स्वीकार तो कर लेते हैं किन्तु सन्देह करते हैं कि शिक्षण संस्था उनको प्राप्त कर सकेगी या नहीं। इसलिए वे शिक्षण संस्था को उसके प्रतिमानों से विचलित होकर सुधारना चाहते हैं, और (iii) संस्था के प्रतिमान लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल रहते हैं, इसलिए छात्र प्रतिमानों में ही परिवर्तन चाहते हैं। 'छात्र असन्तोष' की विशेषताएं हैं : सामूहिक असन्तोष, शैक्षिक संस्थाओं में विकार्यात्मक स्थितियां और जनता और छात्रों की मौजूदा प्रतिमानों में परिवर्तन की चिन्ता। दूसरी ओर 'छात्र आन्दोलनों' की विशेषताएं हैं अन्याय की भावना पर आधारित कार्यवाही, असन्तोष, कुण्ठा और वंचनाओं के स्रोत की पहचान, नेतृत्व का उदय, कार्यवाही के लिए गतिमानता (mobilisation), और उद्दीपन (stimuli) के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया।

छात्र असन्तोष विरोध को जन्म देता है। विरोध के प्रमुख तत्व हैं : (i) कार्यवाही परेशानियों को अभिव्यक्त करती है (ii) यह अन्याय के प्रति दृढ विश्वास का संकेत करता है (iii) विरोध करने वाले अपने प्रयत्नों से सीधे तरीके से दशा को ठीक करने में असमर्थ हैं, (iv) कार्यवाही लक्ष्य-समूह (target group) द्वारा सुधारात्मक कदम उठाने के लिए प्रेरणा स्वरूप की जाती है (v) विरोधकर्त्ता दवाव (coercion), समझाने बुझाने (persuasion), तथा बातचीत (discussion) से (अथवा तीनों तरीकों से) लक्ष्य समूह को विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। विरोधकर्त्ता यदि लूट करने लगें तो वे सम्मति प्राप्ति के लिए ऐसा नहीं करते, यदि वे खिडकी शीशे तोड़ने लग जायें, तो यह बदला लेने के लिए

नहीं करते, यदि वे एक व्यक्ति के विरूद्ध नारेबाजी करने लगें तो यह उसकी बेइज्जती करने के लिए नही करते। ये सब उपाय केवल अपनी अनापूर्त मांगों के विरुद्ध क्रोध का प्रदर्शन तथा उन शक्ति सम्पन्न लोगों के अडियल रवैये के प्रति प्रदर्शन है जो उनकी परेशानियों से सम्बद्ध हैं।

छात्रों का विरोध कभी-कभी आक्रमण, आन्दोलन और उथल-पुथल को जन्म देता है। *आक्रमण (aggression)* एक शारीरिक या मौखिक व्यवहार है या आक्रमक कार्य जो कि चोट पहुँचाने, नुकसान पहुँचाने या नाश करने के इरादे से किया जाता है। क्षोभ/विलोडन (agitation) परेशानियों और अन्याय को सत्ताधारी लोगों के ध्यान में लाने के लिए होता है। यह झटका लगाने (to shake up), हिलाने (to stir up) चिन्ता पैदा करने (to create anxiety) और सत्ताधारियों में घबडाहट पैदा करने के लिए होता है। *आन्दोलन* (movement) सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिए विस्तृत समूह की क्रिया होती है। छात्रों का आन्दोलन उन छात्रों का व्यवहार है जिनका लक्ष्य न तो किसी को चोट पहुँचाना है और न ही सार्वजनिक सम्पति को नष्ट करना है, बल्कि केवल विरोध है। यह न तो विनाश करने की प्रवृत्ति का परिणाम है और न ही कुण्ठा के प्रति जन्मजात प्रतिक्रिया। छात्र आन्दोलन के विभिन्न प्रकार हैं प्रदर्शन, चीखना चिल्लाना, हडतालें, भूख हडताल, सडक-अवरोध, घेराव, और परीक्षा बहिष्कार। छात्र आन्दोलन की पूर्व दशाए (pre-conditions) इस प्रकार हैं (a) सरचनात्मक खिंचाव (strain), (b) खिंचाव के स्रोत की पहचान (c) प्रारम्भिक (initiative) कार्यवाही में अवक्षेपक (precipitating) कारक (d) नेता द्वारा कार्यवाही के लिए शक्ति को गति प्रदान करना। छात्र आन्दोलनों के महत्वपूर्ण कार्य हैं सामूहिक चेतना एव सामूहिक निष्ठा जागृत करना, छात्रों को नवीन कार्यक्रमों और नवीन योजनाओं के लिए काम करने के लिए सगठित करना, और छात्रों के लिए अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए और परिवर्तन के मार्ग में प्रभाव पैदा करने के लिए अवसर प्रदान करना।

आन्दोलन हिंसात्मक एव अहिंसात्मक दोनों हो सकते हैं। उदाहरणार्थ लगभग एक दशक पूर्व भारत में लगभग 5,000 छात्र आन्दोलन हुए जिनमें से लगभग 20% हिंसात्मक थे। पुन कुछ आधे से अधिक आन्दोलन गैर-शैक्षिक मामलों मे सम्बन्द्ध कैम्पस के भीतर थे (जैसे मूर्ति लगाने पर, विश्वविद्यालय का नाम बदलने पर, बस किराया कम करने पर, आदि), लगभग 20% शैक्षिक मामलों और लगभग 25% कुछ सामाजिक मामलों (आरक्षण का मामला, आदि) से सम्बद्ध थे।

छात्र आन्दोलनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है छात्र परक आन्दोलन और समाज-परक आन्दोलन। छात्र परक आन्दोलनों में विद्यालय/विश्वविद्यालय स्तर की समस्याए तथा समाज-परक आन्दोलनों में राज्य/राष्ट्र व्यापी राजनीति, नीतियों और कार्यक्रमों से सम्बन्धित समस्याए आती हैं। छात्र परक आन्दोलन आमतौर पर मूल्य परक होने की अपेक्षा समस्या-परक होते हैं और ये लगातार नही होते। उदाहरणार्थ, छात्र एक विश्वविद्यालय के विशेष उप-कुलपति को हटाने के लिये आन्दोलित होंगे किन्तु वे भारत में विश्वविद्यालयों में उप कुलपतियों के चुने जाने की व्यवस्था में परिवर्तन के लिए नही लडेंगे।

छात्र आन्दोलन चरणबद्ध तरीके से विकसित होते हैं। इनमें चार अवस्थाएं निम्न हैं (i) असन्तोष (discontent) की अवस्था, जो मौजूदा दशाओं के साथ बढते असमजस और असन्तोष की अवस्था होती है, (ii) *प्रारम्भ* करने (initiation) की अवस्था, जिसमें एक नेता का उदय होता है, असन्तोष के कारणों का पता लगाया जाता है, उत्तेजना में वृद्धि होती है और कार्यवाही के प्रस्तावों पर चर्चा की जाती है, (iii) *औपचारिकता* (formalization) की अवस्था, जिसमें कार्यक्रम विकसित किए जाते हैं, गठबन्धन किए जाते हैं, किसी आका से समर्थन प्राप्त करने के प्रयास होते हैं, (iv) *जनसमर्थन* (public support) की अवस्था, जिसमें छात्र समस्या को सार्वजनिक समस्या के रूप में देखा जाता है।

1985 से 1999 के बीच भारत में महत्वपूर्ण छात्र आन्दोलन इस प्रकार थे : आरक्षण के विषय पर 1985 में गुजरात आन्दोलन, 1985 में मध्यप्रदेश के छात्रों द्वारा आरक्षण विरोधी आन्दोलन, 1983-84 में असम आन्दोलन जो पूर्वी बगाल से आए शरणार्थियों के मामले में था, और 1990 में भारत के विभिन्न राज्यों में चलाया गया मण्डल विरोधी आन्दोलन।

छात्र आन्दोलनों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है : (1) प्रवर्तक (समझाने बुझाने) (Persuasive) आन्दोलन, जिसमें छात्र सत्ताधारी लोगों के दृष्टिकोण बदलने का प्रयास करते हैं (भले ही वे कोई हों); वे अपनी समस्याओं पर उनसे बातचीत करते हैं, और उन्हें अपना दृष्टिकोण मानने को बाध्य कर देते हैं। (2)*प्रतिरोध* (Resistance) आन्दोलन जिसमें 'सत्ताधारियों को उनकी जगह पर रखना' लक्ष्य होता है। (3) क्रान्तिकारी (Revolutionary) आन्दोलन जिसका लक्ष्य *सामाजिक* व्यवस्थाओं या शैक्षिक व्यवस्थाओं में व्यापक (sweeping) परिवर्तन लाना होता है।

कौन से छात्र आन्दोलनों के प्रति ग्रहणशील (receptive) होते हैं ? (1) *सामाजिक रूप से एकाकी किए* हुए, अर्थात जो वृहद् समाज से अपने को कटा हुआ अनुभव करते हैं, (2) *व्यक्तिगत रूप* से कुसमायोजित (maladjusted), अर्थात् जो सन्तोषजनक जीवन भूमिका पाने में असफल रहे हैं, या उन्हें अध्ययन में पर्याप्त रुचि नहीं है, (3) *परिवार से अनासक्त* (unattached), अर्थात वे जिनमें परिवार के साथ अन्तरग सम्बन्धों का अभाव है, (4) *सीमान्त* (marginals), अर्थात वे जो अपनी जाति, धार्मिक/भाषायी समूहों से जुडे हुए नही है, (5) *गतिशील/प्रव्राजक* (migrants), अर्थात् वे जिनके पास वृहद् समुदाय में समाहित होने के बिल्कुल कम अवसर हैं।

बी वी शाह (B V Shah, 1968) ने गुजरात में विश्वविद्यालय के छात्रों का अध्ययन किया। उन्होंने अनुशासनहीन छात्रों की पहचान करने के उद्देश्य से उन्हें सामाजिक प्रस्थिति और व्यक्तिगत योग्यताओं के आधार पर चार समूहों में वर्गीकृत किया (1) उच्च प्रस्थिति, उच्च योग्यता, (2) निम्न प्रस्थिति, निम्न योग्यता, (3) निम्न प्रस्थिति, उच्च योग्यता, और (4) उच्च प्रस्थिति, निम्न योग्यता। उन्होंने कहा कि दूसरे और चौथे वर्गों के छात्रों में अधिक असन्तोष पाया जाता है।

1960 में यू जी सी (UGC) कमेटी द्वारा बताए गए छात्र असन्तोष के मुख्य कारण निम्न थे (1) आर्थिक कारण, जैसे शुल्क कम करने की मागें, छात्र वृद्धि बढाने की मागें, (2)

प्रवेश, परीक्षाएं और शिक्षण सम्बन्धी मौजूदा प्रतिमानों में परिवर्तन की माग, (3) कालेजों और विश्वविद्यालयों की दोषपूर्ण कार्य प्रणाली, (4) छात्रों और शिक्षकों के बीच सघर्षपूर्ण सम्बन्ध, जैसे, छात्राओं या छात्र नेताओं के साथ शिक्षकों का व्यवहार, कक्षा छोडना आदि, (5) कैम्पस में सुविधाओं की अपर्याप्तता, जैसे, अपर्याप्त होस्टल, होस्टलों में खराब भोजन, कैन्टीन का अभाव, आदि, और (6) छात्र नेताओं का राजनीतिज्ञों द्वारा बहकाया जाना।

सैद्धान्तिक दृष्टि से छात्रों के आन्दोलनों की व्याख्या इन सिद्धान्तों के आधार पर की गई है · असन्तोष सिद्धान्त (आन्दोलन की जड़ें असन्तोष और अन्याय की भावनाओं में होती हैं), व्यक्तिगत कुसमायोजन सिद्धान्त (आन्दोलन जीवन की असफलताओं के बीच शरण देते हैं), सापेक्ष वचना (relative deprivation) सिद्धान्त, और ससाधन गतिशीलता (resource mobilisation) सिद्धान्त।

छात्र आन्दोलनों को नियत्रित करने के प्रस्तावित उपाय इस प्रकार हैं (1) उचित निर्देशन के द्वारा छात्रों के अति उत्साह को प्रवाहित करना (2) समस्याओं का उनके *साथ* समाधान, न कि उनके *लिए* समाधान अर्थात् छात्रों को निर्णयकारी सस्थाओं के साथ जोडना (3) छोटी-मोटी उत्तेजनाओं को अनावश्यक देर किए बिना दूर करना (4) राजनैतिक दलों के लिए आचार सहिता बनाना जिससे वे छात्रों को छोटी-छोटी बातों पर आन्दोलन के लिए न भडकावें। (5) शिक्षण सस्थाओं में पुलिस हस्तक्षेप के विषय में नियम बनाना।

प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम (Adult Education Programme)

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात से साक्षरता विस्तार सरकार का सजग प्रयास रहा है। 1951 और 1991 के बीच साक्षरता प्रतिशत में तीन गुनी (16 67 से 52 21) वृद्धि हुई है। 1991 में अशिक्षित लोगों की सख्या 328 90 लाख थी जिसमें 220 50 लाख स्त्रियाँ शामिल थी (*Manpower Profile, India*, 1998 46)। अधुनातम निरक्षरता सम्बन्धी प्रकाशित तथ्यों के अनुसार 2000 तक विश्व में भारत का हिस्सा एक तिहाई हो जाना था जो 15 से ऊपर आयु वर्ग में निरक्षरों की कुल सख्या के अनुपात के आधार पर है। 1964 में शिक्षा आयोग ने प्रौढ़ शिक्षा की भूमिका को उजागर करते हुए 15-25 आयु वर्ग समूह में साक्षरता विस्तार के लिए गम्भीर प्रयत्नों की सिफारिश की और इसको विकास कार्यक्रम से जोडा। परन्तु इस ओर 1975-76 तक कुछ नही किया गया। 1978 मे सरकार ने 15-25 आयु वर्ग समूह के लगभग 10 करोड निरक्षर लोगों के लिए राष्ट्रीय प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम (NAEP) की घोषणा की। कोठारी आयोग (1981-82) ने इस कार्यक्रम में कई दोष और अपर्याप्ताओ की ओर सकेत किया। (1) यह कार्यक्रम अधिकतर निरक्षरता तक ही सीमित रहा। (2) निरक्षरता को विकास के साथ जोडना सरल नहीं था। (3) जागृति का उद्देश्य प्राप्त नही किया जा सका। (4) विज्ञान में कार्यक्रमों के प्रति कम ध्यान दिया गया। (5) काफी सख्या में राज्य (आसाम, हिमाचल प्रदेश, और उडीसा) राष्ट्रीय प्रौढ शिक्षा प्रोग्राम से अछूते रहे। (6) कार्यक्रम लचीला और विकेन्द्रित नही था। (7) स्त्रियों और पुरुषों की अलग अलग आवश्यकताओं पर कोई ध्यान नही दिया गया। (8) कार्यक्रम प्रमुख रूप से राज्य सरकारों का ही उत्तरदायित्व रहा।

मीडिया और स्वय सेवी एजेंसियों को इसमें सम्मिलित नही किया गया।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम में भी साक्षरता को महत्व प्रदान किया गया। 1986 में शिक्षा से सबधित नवीन योजना (NPE) ने भी साक्षरता कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए नये दिशा निर्देश सुझाये। कार्यक्रम के ढाचे में लचीलापन शुरु करके, कार्यकर्त्ताओं की ट्रेनिंग पर बल देकर, सीखने वालों की बोलचाल की भाषा को महत्व देकर, निरीक्षण व्यवस्था को विकेन्द्रीकृत करके, महिला-शिक्षकों की सख्या बढाकर, कार्यक्रम को अवधि में निरन्तरता प्रदान करके, प्राविधिक ससाधन व्यवस्था को सुदृढ बनाकर, प्रबन्धन व्यवस्था प्रदान करके, और प्रबन्धन व्यवस्था का मूल्याकन करके साक्षरता कार्यक्रम को मान्यता प्रदान की गई। इन परिवर्तनों के बावजूद साक्षरता कार्यक्रम की गति को तेज किया जाना है। शैक्षिक नीति में नये सिरे से धक्का लगाने की आवश्यकता है।

शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति (National Policy on Education)

भारत सरकार ने 1985 में देश के लिए एक नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NPE) बनाने की घोषणा की। विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त सुझावों और दृष्टिकोण पर विचार के बाद एनपीई की घोषणा 1986 में की गई। इसका बल इन बातों पर था . (1) शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन, (2) सभी स्तरों पर शिक्षण की गुणवत्ता में सुधार। (3) विज्ञान और प्रौद्योगिकी को अधिक महत्व देना। (4) नैतिक मूल्यों का परिवर्द्धन। (5) अखण्डता को सुदृढ करना। (6) समान सस्कृति और नागरिकता का भाव विकसित करना।

इस नीति में प्रमुख प्रस्तावित उपाय इस प्रकार थे . (1) सरकार द्वारा वित्त पोषित कार्यक्रम प्रारम्भ करके लिंग, जाति, विश्वास के भेदभाव के बिना सभी छात्रों को शिक्षा का लाभ पहुचाना, (2) देश के प्रत्येक भाग में 10+2+3 की समान शिक्षा सरचना धारण करना। प्रथम 10 वर्ष में 5 वर्ष प्राथमिक शिक्षा, तीन वर्ष मिडिल स्कूल, तथा शेष 2 वर्ष हाई स्कूल के लिए होंगे, (3) स्त्रियों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, और अन्य पिछडा वर्ग, अल्पसख्यकों तथा विकलागों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करना, (4) राष्ट्र के द्वारा ससाधनों के समर्थन प्रदान करने का उत्तरदायित्व सभालना, भेदभाव कम करना, प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण, प्रौढ साक्षरता और प्रौद्योगिकी अनुसन्धान, (5) प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (6)व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (7) उच्च शिक्षा को अवनति से बचाने के लिए कदम उठाना। विशिष्टीकरण की माग को पूरा करने के लिए पाठ्यक्रमों का पुनरीक्षण। विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान कार्यों के लिए अधिक सहयोग दिया जाना, (8) मुक्त (open) विश्वविद्यालय व्यवस्था प्रारम्भ करना, (9) डिग्रियों को नौकरियों से न जोडना, (10) ग्राम्य विश्वविद्यालय का नया प्रतिरूप विकसित करना, (11) प्राविधिक और प्रबन्धन शिक्षा का सुदृढीकरण तथा साथ ही ग्राम्य प्राविधिक विद्यालयों को सुदृढ बनाना, (12)शिक्षकों के साथ अच्छा व्यवहार और उनमें अधिक जवाबदेही का विकास करना, (13)मूल्य शिक्षा देने पर ध्यान देना, (14) शारीरिक शिक्षा व खेलकूद के लिए बुनियादी सुविधाए प्रदान करना, (15) परीक्षा प्रणाली में सुधार लागू करना।

महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की शिक्षा
(Education of Women, Scheduled Castes, Scheduled Tribes and Other Backward Classes)

महिलाओं की शिक्षा (Education of Women)

स्त्रियों के लिए शिक्षा आवश्यक है ताकि वे समानता प्राप्त कर सकें। मूल्य परिवर्तन के लिए यह पूर्व आवश्यकता है क्योंकि मूल्य परिवर्तन के बिना सामाजिक उद्देश्य प्राप्त नही किए जा सकते। सामाजिक विधानों ने उन्हें राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक अधिकार दिए हैं लेकिन मात्र अधिकार प्राप्त होना उन्हें इन अधिकारों के लाभ प्राप्त करने के लिए प्रेरित नही कर सकता। कानून उन्हें चुनाव में वोट देने का अधिकार, चुनाव लडने और राजनैतिक पद ग्रहण करने का अधिकार भले हो दे दे लेकिन यह उन्हे ऐसा करने को बाध्य नही कर सकता। कानून उन्हें पिता की सम्पत्ति में हिस्सा लेने का अधिकार दे सकता है पर वह महिलाओं के अपने भाइयों से उनको देय हिस्सा लेने के लिये बाध्य नही कर सकता। कानून उन्हें उनका जीवन साथी चुनने का अधिकार दे सकता है और उन्हें पति को तलाक देने का अधिकार भी दे सकता है जो उन्हें सताता हो, पीडा देता हो, शोषण करता हो लेकिन कितनी स्त्रिया इन अधिकारों का प्रयोग करने के लिए जोर डालती हैं ? इसका कारण यह है कि अशिक्षा ने उन्हें परम्परागत मूल्यों से चिपकाया हुआ है। साहस की कमी उन्हें साहसी कदम उठाने से रोकती है। शिक्षा उन्हें उदार और विस्तृत दृष्टिकोण का बनाएगी और उनकी अभिरुचियों, मूल्यों और भूमिका-विषयक विचार बदलेगी।

स्त्रियों की साक्षरता दर 1951 में 10% से बढकर 1981 में 29 75%, 1991 में 39 70% हो गई और अनुमान है कि 1999 के प्रारम्भ में यह दर 39% हो गई है। 1990-91 में कुल प्रवेशों के अनुपात में लडकियों के, प्राथमिक स्तर में 41 4% प्रवेश हुए, मिडिल स्तर पर 37 4%, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर पर 33% और उच्च शिक्षा स्तर पर 33 3% (*India* 1992 107)। राज्यों में सर्वोच्च स्त्री साक्षरता दर 1991 में (75 65%) केरल में थी, फिर मिजोरम (68 60%) और दिल्ली मे (62 57%), जबकि सबसे कम दर राजस्थान में (20 44%) और फिर बिहार (22 89%), उत्तर प्रदेश (25 31%), मध्य प्रदेश में (28 85%) थी (*Manpower Profile, India* 1998 42)। आयु-वार, 68 4% से भी कम तीन वर्ष की आयु की लडकिया हैं और उन्हें कोई शिक्षा नही मिलती। 3 से 6 वर्ष आयु समूह में, 19 3% लडकियों को शिक्षा प्राप्त है, 7 से 11 वर्ष आयु समूह में 7.1% को, 12 से 14 वर्ष आयु समूह में 4 2% को और 15 + वर्ष आयु समूह में केवल 10% शिक्षा प्राप्त है (वही 48)। भारत में अनुसूचित जाति की लडकियों की साक्षरता दर 23 76% और अनुसूचित जनजाति समूह में 18 19% है।

1967 मे आठ राज्यों में स्वानुभव आधारित अध्ययन, जो कि विविध स्तर पर अध्ययनरत 11,500 छात्रों पर किया गया था, यह बताता है कि शैक्षिक अवसरों में भेदभाव 'लिंग' के आधार पर सर्वाधिक था। मोटे तौर पर (जैसा की उपरोक्त आकडे दर्शाते है) लडकियों की शिक्षा ने बडे लम्बे डग भरे हैं और आज विश्वविद्यालयों के कई विभागों और

सम्भागों (faculties) में लडकियां लडकों की अपेक्षा अधिक दिखाई देतीं हैं। उपरोक्त आकडे दर्शाते हैं कि जो लडकियां शिक्षा व्यवस्था में प्रवेश लेती हैं वे अधिकतर शहरी स्वेच्छमन परिवारों की हैं। ग्रामीण आवास, निम्न जाति और निम्न आर्थिक स्तर निश्चित रूप से लडकियों को शिक्षा अवसरों से वंचित कर देते हैं। (M.S. Gore, *Indian Education*, 1990 36)

लडकियों/स्त्रियों की शिक्षा में भागीदारी सुनिश्चित करने और उसमें सुधार करने के लिए निम्नलिखित विशिष्ट कदम उठाए गए हैं . (1) श्याम पट्ट अभियान (Operation *Black Board*) अन्तर्गत, सरकार ने 1987-88 से एक लाख प्राथमिक स्कूल अध्यापकों के पद सृजन के लिए सहायता प्रदान की है जो स्त्रियों द्वारा ही भरे जाने थे। पाँच वर्षों में, (अर्थात् 1992 तक) लगभग 75% पद भरे गए जिनमें से 60% महिला शिक्षिकाएं थीं। (2) लडकियों के लिए एनएफई (NFE) केन्द्रों की सख्या 1991 तक 81,000 हो गई थी जिनको 90% सरकारी सहायता मिलती थी। (3) 'महिला समाख्या' (स्त्रियों की समानता के लिए शिक्षा) परियोजना अप्रैल 1989 में प्रारम्भ की गई जिसका उद्देश्य था प्रत्येक सम्बन्धित गाँव में महिला सघ के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए महिलाओं को तैयार करना। यह केन्द्र सरकार की योजना है जिसमें उत्तर प्रदेश, कर्नाटक और गुजरात में महिला समाख्या समितियों को पूर्णरूपेण वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इण्डो डच (Indo Dutch) योजना होने के कारण इसको नीदरलैण्ड सरकार से शत प्रतिशत सहायता प्राप्त होती है। इस योजना का उद्देश्य शिक्षा की माग पैदा करना और पूर्व-स्कूली, अनौपचारिक, प्रौढ तथा अविराम (continuing) शिक्षा के लिए नवीन शैक्षिणिक प्रविष्टियाँ प्रारम्भ करना है। (4) सजग कार्यवाही द्वारा नवोदय विद्यालयों में लडकियों का प्रवेश 28% तक सुनिश्चित किया गया है। (5) प्रौढ शिक्षा केन्द्रों में स्त्रियों के प्रवेश पर विशेष ध्यान दिया गया है। (6) ग्रामीण प्रकार्यात्मक साक्षरता कार्यक्रम के अन्तर्गत 1995 तक प्रौढ शिक्षा में कुछ नामांकित लोगों में से लगभग 55% तो स्त्रियाँ ही थीं।

कानून किसी स्त्री को स्वय को शिक्षित करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। न ही माता-पिता को अपनी पुत्रियों को स्कूल भेजने के लिए बाध्य किया जा सकता है। शिक्षा के बिना स्त्री समानता प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिए पुरुषों का लडकियों की शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय नीति 1986 ने भी स्त्रियों की समानता के लिए शिक्षा पर बल दिया जो कि नवीन मूल्यों के विकास को बढ़ाएगी। प्रस्तावित नीति है . स्त्रियों के विकास के लिए सक्रिय कार्यक्रम बनाने के लिए शैक्षिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना, स्त्रियों की निरक्षरता समाप्त करना, प्रारम्भिक शिक्षा तक स्त्रियों की पहुँच के बीच बाधाओं को हटाना तथा व्यावसायिक, प्रावैधिक और पेशेवार शिक्षा पाठ्यक्रमों में 'लिंग रूढियों के स्थिर रूपों' को समाप्त करने के लिए गैर भेदभाव नीति अपनाना।

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछडे वर्गों की शिक्षा (Education of SCs, STs, and OBCs)

शिक्षा व्यक्ति और समुदाय के विकास से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। यह सामाजिक मुक्ति

तथा आर्थिक विकास के लिए एक मात्र कारक है। समाज के कमजोर तपके के लिए शिक्षा का विशेष महत्व है क्योंकि कई शताब्दियों तक उनकी निरक्षरता और सामाजिक पिछड़ेपन को उनके आर्थिक शोषण, पीड़ा, और अवमानना के लिए प्रयोग किया जाता रहा है। कम विशेषाधिकार प्राप्त समूहों और आम जनता की समस्याए परिमाणात्मक एव गुणात्मक दोनों रूपों में भिन्न हैं। आमजन की भारत में साक्षरता दर 1991 की जनगणना के अनुसार (52 21%) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की अपेक्षा 15% से 23% तक ऊँची थी (अजाति की 37.41% और अ जनजाति की साक्षरता दर 29 60% के सहित) (*Manpower Profile* op. cit, 42-43), साक्षरता दर में इस प्रकार का अन्तर पुरुषों मे (64 13%, 49.91% और 40 65% क्रमश) तथा महिलाओं में (39 29%, 23 76% और 18 19% क्रमश)। राज्यों में भी अनुसूचित जातियों व जनजातियों की साक्षरता दर समान नही है। भारत में 37 41% की तुलना में अनुसूचित जातियों में यह दर राज्यों में सबसे अधिक केरल में (79.66%), गुजरात में (61 07%) और गोआ, देहली, अरुणाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर में (58 73% और 56 46% के बीच विविध) और निम्नतम बिहार में (19 49%), तत्पश्चात आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, कर्नाटक में (31 59% और 38 06% के बीच) थी। अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता दर सम्पूर्ण भारत में 29 60% की तुलना में राज्यों में केरल में उच्चतम (57.22%) है और न्यूनतम आन्ध्र प्रदेश में (17 16%) है (op cit 44)। राज्य के भीतर भी कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनमें साक्षरता सबसे ऊची है और कुछ में निम्नतम। उदाहरण के लिए राजस्थान में मीणा जनजाति की साक्षरता दर भीलों, सहारिया, रावत आदि की तुलना में ऊची है। केरल में भी ऐसा ही है। राज्य में सभी अनुसूचित जातियों की साक्षरता दर (57 22%) की तुलना में, कथूनायकन, ऐरावलान, इरुला, मथुवन, पनियम, आदि जनजातियों में बहुत कम साक्षरता है (10% से भी कम)। अन्य पिछडे वर्ग के लिए ऐसे आँकडे उपलब्ध नही हैं।

परिमाणात्मक और गुणवत्ता के भेद के इसी सन्दर्भ में शिक्षा के केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने लगभग 24 वर्ष पूर्व (जुलाई 1976 में) सिफारिश की कि (1) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण आवश्यक है, विशेषरूप से चयनित क्षेत्रों में, (2) क्योंकि अनुसूचित जातिया और जनजातिया समजातीय समूह नही हैं (साक्षरता स्तर पर उच्च विभेदों सहित-जनजाति वार और जातिवार विभिन्न राज्यों में) इसलिए उनके लिए विभिन्न कार्यक्रम आवश्यक हैं, (3) जनजातीय क्षेत्रों में क्योंकि कई मामलों में शैक्षिक मूलभूत ढाँचा है ही नही इसलिए एकल-शिक्षक स्कूल वाले शैक्षिक सस्थाओं के विस्तार, स्कूल के विस्तार के घनत्व के अनुसार छात्रावास सुविधाओं को प्रत्येक सूक्ष्म इकाई के लिए नियोजित करने की आवश्यकता है।

अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के शैक्षिक विकास के लिए किए गए उपाय

(Measures Adopted for Educational Development of SCs and STs)

(1) हमारे सविधान में राज्यों के लिए निर्देश है कि कमजोर तपके के लोगों के शैक्षिक हितों को प्रोत्साहित किया जाये, विशेष रूप से अनुसूचित जाति और अनुसूचित

जनजाति के लोगों के लिए। उनके लिए शैक्षिक सस्थाओं को स्थापित किया जाये और उनमें प्रवेश सुनिश्चित किया जाये तथा छात्रवृत्तियों आदि के लिए राज्य कोष से अनुदान दिया जाये। इस प्रकार सविधान में उनके लिए अस्थाई भेदभाव की नीति का प्रावधान किया गया है।

(2) इन निर्देशों को दृष्टिगत करते हुए अनुसूचित जातियों और जनजातियों में शिक्षा स्तर को ऊचा करने के लिए, स्कूल खोलकर, पूर्व मैट्रिक एवं मैट्रिकोत्तर स्तर पर छात्रवृत्तिया प्रदान करके, लडकियों के लिए विशेष रूप से छात्रावास बनवा कर, पुस्तक बैंक बनाकर, दोपहर के भोजन की व्यवस्था कराकर, छात्रों को ऋण उपलब्ध करवा कर, कोचिंग केन्द्र खोलकर, शिक्षकों के लिए मकान उपलब्ध कराकर और अन्य सुविधाए देने के लिए सभी पचवर्षीय योजनाओं में करोडों रुपये का प्रावधान किया गया है।

(3) शिक्षण सस्थाओं में उनके लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं, विशेष रूप से इन्जीनियरिंग और मेडिकल कालेजों में।

(4) प्रवेश के लिए आयु सीमा व अकों में छूट दी गयी है।

(5) पेशेवार पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए या केन्द्रीय व राज्य स्तरीय प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने के लिए तैयारी हेतु आकाक्षी छात्रों के लिए विशेष नि शुल्क कोचिंग दी जाती है।

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने अनुसूचित जातियों की शिक्षा के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये थे (1) दलित परिवारों को प्रोत्साहन ताकि वे अपने बच्चों को 14 वर्ष की आयु तक नियमित रूप से स्कूल भेजें। (2) कक्षा एक से आगे निम्न पेशों में लगे परिवारों के बच्चों के लिए (सफाई, चमडे आदि का) पूर्व-मैट्रिक छात्रवृत्ति योजना (3) पाठ्यक्रमों के सफल समापन, प्रवेश और नियमित उपस्थिति आदि को सुनिश्चित करने के लिए लगातार निगरानी (4) दलितों में से ही शिक्षकों की भर्ती (5) छात्रावासों में सुविधा, (6) स्कूलों, बालवाडियों तथा शिक्षा केन्द्रों की ऐसी जगहों पर स्थापना जिनमें दलितों की पूर्ण भागीदारी हो सके, (7) उनकी भागीदारी में वृद्धि करने के लिए नयी विधियों का निरन्तर नवाचरण (innovation)।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त जनजातियों के लिये कुछ अन्य प्रस्तावित उपाय इस प्रकार थे (1) जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय खोलने में वरीयता, (2) प्रारम्भिक अवस्थाओं में जनजातीय भाषा में शिक्षण सामग्री तैयार करना, (3) शिक्षित जनजाति के लोगों को अपने क्षेत्रो मे शिक्षण का काम करने के लिए प्रोत्साहित करना, (4) बडे पैमाने पर आवासीय विद्यालय स्थापित करना।

1986 की राष्ट्रीय नीति में अन्य पिछडे वर्ग के लिए सिफारिशें इस प्रकार थीं . (1) समाज के सभी शिक्षा की दृष्टि से पिछडे वर्ग के लिए प्रोत्साहन, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में (2) पहाडी, रेगिस्तानी जिलों में और दूरस्थ दुर्गम स्थानों में सस्थात्मक मूलभूत ढाँचा प्रदान करना।

अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के लिये शैक्षिक योजनाओ की सफलता और असफलता
(Success and Failure of Educational Schemes for SCs and STs)

यद्यपि योजनाओं के शैक्षिक विकास में कुछ प्रगति हुई है, जैसे अनुसूचित जातियों में शैक्षिक स्तर में 1971 में 14 67% से 1991 में 37 41% और अनुसूचित जनजातियों में 11 30% से 29 60%, और स्नातक, स्नातकोत्तर तथा पेशेवर पाठ्यक्रमों में भी छात्रों की सख्या में वृद्धि हुई है, फिर भी अवसरों की समानता अभी भी दूर का आदर्श मात्र है। वर्ग I और वर्ग II की सेवाओं में प्रवेश के अवसर अभी भी पूर्णरूपेण नही खुले हैं। क्या यह सरकार द्वारा चलाई गई शिक्षा नीतियों के क्रियान्वयन में दोषों के कारण है या निरक्षर दलितों व जनजातियों ने अभी भी अपने बच्चों के लिए शिक्षा के महत्व को नही समझा है या वे अपने बच्चों की शिक्षा पर इतनी कम धनराशि व्यय करने में गरीब और अक्षम हैं ?

यहा अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों में कमियों व दोषों का निम्नलिखित विवेचन दिया जा रहा है·

(1) *अध्ययन छोडने वालों का उच्च प्रतिशत*—यद्यपि गत पाँच दशकों में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के बच्चों की सख्या प्राथमिक कक्षाओं में धीरे-धीरे बढी है, फिर भी बडी सख्या में बच्चे अध्ययन छोड देते हैं, जब वे कक्षा पाँच उत्तीर्ण हो जाते हैं। अनुमान है कि विभिन्न राज्यों में दलित और जनजाति समुदायों में इस प्रकार की बर्बादी का प्रतिशत 30% (हिमाचल प्रदेश) से 88% (मणिपुर) है, यद्यपि यह प्रतिशत अनुसूचित जातियों की अपेक्षा अनुसूचित जनजातियों में कही अधिक है।

(2) *अप्रभावी आरक्षण*—वांछित योग्य उम्मीदवारों की अनुपलब्धता के कारण सभी आरक्षित स्थान नही भरे जाते।

(3) *अल्प (meagre) छात्रवृत्तियाँ*—छात्रवृत्ति के रूप में प्राप्त धनराशि की अपेक्षा शिक्षा पर व्यय धन कहीं अधिक है।

(4) *अपर्याप्त सुविधाएँ*—कुछ जनजातीय क्षेत्रों में स्कूल दूर स्थानों पर स्थित हैं और स्कूल पहुंचने में बच्चों को कठिनाई होती है। इसी प्रकार हॉस्टल सुविधाए भी अपर्याप्त रूप से उपलब्ध हैं।

(5) *दूरस्थ क्षेत्रों में शिक्षकों की बार-बार अनुपस्थिति*—जनजातीय तथा गैर-जनजातीय क्षेत्रों में अधिकतर स्कूल एकल-अध्यापक स्कूल हैं। शिक्षक या तो इन एकाकी क्षेत्रों में नियुक्ति के इच्छुक नही होते या वे इतने अधिक अनुपस्थित रहते हैं कि छात्रों का अध्ययन प्रभावित होता है।

(6) *शिक्षण माध्यम*—जनजातीय बच्चे अपनी बोली बोलते हैं जबकि प्राथमिक विद्यालयों में राज्य की भाषा में पढाया जाता है। यह भाषा समस्या छात्रों की अध्ययन में रुचि कम कर देती है क्योंकि वे अनजानी भाषा में पाठ्य पुस्तकें नही पढ सकते।

(7) *सांस्कृतिक एव सामाजिक अवरोध*—कई जनजातियों में पुत्रियों का छोटी आयु में विवाह और बहुओं को अध्ययन के लिए जाने की अनुमति न मिलना शिक्षा प्राप्त

करने में अवरोध बन जाता है। उनमें यह भावना भी है कि शिक्षित जनजातीय युवा जीवन के पारम्परिक मूल्यों और प्रतिमानों का सम्मान नही करेंगे।

अत निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जब तक जनजातियों को उनकी अपनी भाषा और राज्य भाषा, दोनों, नही सिखाई जाती, शिक्षकों को अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने के लिए प्रोत्साहन नही दिए जाते, एकाकी शिक्षक व्यवस्था को दो या अधिक शिक्षक व्यवस्था में नही बदला जाता, विद्यालय का समय स्थानीय लोगों की सुविधा से निश्चित नहीं किया जाता, तब तक शिक्षा के द्वार अधिकतर दलित और जनजाति छात्रों के लिए बन्द ही रहेंगे। केवल सार्थक शिक्षा नीति ही दलितों और जनजातियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी। (देखें, Prasad, L M "Educational Policy for SCs and STs and its Implementation", *The Indian Journal of Public Administration*, Oct-Nov, 1986 908-32)।

शैक्षिक पुनर्गठन (Educational Reconstruction)

शिक्षा के उद्देश्यों के पुनर्गठन के पाँच लक्ष्य हैं । (1) शिक्षा को समाज की अपेक्षाओं और देश के विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप सार्थक बनाना। इसके लिए सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था को रोजगारपरक व व्यवसायोन्मुख बनाने की आवश्यकता है। (2) विषयवस्तु, शिक्षण विधि, तथा परीक्षण प्रणाली को पुनर्संगठित करके छात्रों की विचार शक्ति का विकास करना। (3) शैक्षिक अवसरों में असमानता कम करना और शिक्षा तक पहुंच को विस्तृत बनाना। इसके लिए पहले से ही बच्चों, युवाओं और प्रौढों के लिए अनौपचारिक शिक्षा का सगठन आवश्यक है। (4) शिक्षा के मूलभूत ढाचे में तथा शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार। यद्यपि मूलभूत ढाचे को बनाने में अत्यधिक ससाधनों का व्यय हुआ है, फिर भी ससाधनों की कमी बनी हुई है। स्थानीय समुदाय द्वारा ध्यान न दिए जाने तथा उपकरणों के अनुपयोगी हो जाने के कारण उपलब्ध मूलभूत ढाँचा पूरी तरह कारगर नही है। शिक्षकों को प्रोत्साहन देने में भी कमी है। (5) शिक्षा में प्रौद्योगिकी एव विज्ञान की विषय सामग्री को सुदृढ करना। (6) राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का निर्माण करना जिसमें सामान्य भारतीय पहचान पुनर्स्थापित हो सके।

1986 की राष्ट्रीय नीति के बावजूद शैक्षिक सुधार कार्य रूप नहीं ले सके हैं। लगभग तीन दशक पूर्व यह विचार किया गया था कि शिक्षा में निवेश जीएनपी (GNP) का 3% से 6% बढ़ेगा लेकिन हम अब भी 3% के आसपास ही हैं। पचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के हिस्से में कोई वृद्धि नही हुई है। जब तक मूलभूत ढाँचों को सुदृढ़ नहीं बनाया जाता (प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च और समानता के लिए शिक्षा सहित), जब तक शिक्षा का पुनर्गठन न हो (व्यवसायीकरण तथा मूल्य परक शिक्षा सहित), और जब तक पुरानी शिक्षा से पूर्णरूपेण विदा न ली जाये, अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रमों में परिवर्तन न हो, नौकरी से डिग्री का सम्बन्ध विच्छेदन न हो शिक्षा का प्रबन्धन उच्च शिक्षा में नियत्रण, और परीक्षा सुधार न हो, तब तक शिक्षा में सुधार नही हो सकता।

8

धर्म

(Religion)

धर्म : अवधारणा और इसकी समाजशास्त्रीय सार्थकता

(Religion : Concept and its Sociological Relevance)

धर्म एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विश्वास, प्रथाएँ एव पवित्र (sacred) से सम्बद्ध मूल्य होते हैं। यह अतिप्राकृतिक/अलौकिक (supernatural) इकाइयों एव शक्तियों से सम्बन्धित होता है जिन्हें मानव समूहों में सासारिक अस्तित्व (mundane existence) का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है (Surajeet Sinha, "Sociology of Religion," *ICSSR, Survey of Research*, Vol 2, 1974 · 508)। समाजशास्त्री विभिन्न धर्मों के प्रतिस्पर्धात्मक दावों (claims) से सम्बन्ध नही रखते। वे तो धार्मिक विश्वासो और प्रथाओं के सामाजिक प्रभावों का अध्ययन करते हैं। दूसरे शब्दों में, धर्म के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के द्वारा यह देखा जाता है कि धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की अभिव्यक्ति समाज में किस प्रकार होती है, विभिन्न धार्मिक मतों के मानने वाले लोगों की सामाजिक अन्तर्क्रिया को वे किस प्रकार उत्पन्न करते हैं और धर्म निरपेक्षता किस प्रकार अन्तर्धार्मिक पूर्वाग्रहों को रोक सकती है। धर्म के समाजशास्त्रियों द्वारा पूछे गए प्रश्न इस प्रकार के हैं धार्मिक पूजा-पाठ तथा सस्कारों (rituals) के माध्यम से एक समूह की सामाजिक एकता या सामूहिक एकात्मता को धर्म किस प्रकार पुनर्गठित (reinforce) करता है (दुर्खीम)? धर्म किस प्रकार लोगों के भावात्मक तथा बौद्धिक विकास को रोकता है (मार्क्स)? किस प्रकार एक विशेष अर्थ व्यवस्था (पूँजीवाद) विशिष्ट प्रकार की धार्मिक विचारधारा (protestanism) की उपज है (मैक्स वैबर)? क्या एक धर्म (जैसे हिन्दुत्व) दूसरे धर्म (जैसे इस्लाम) से अधिक सहिष्णु हैं ? धार्मिक दृष्टि से एक व्यक्ति को अस्पृश्य कहे जाने से उस की जीवन शैली पर किस प्रकार का प्रभाव पडता है? क्या एक ही धर्म के दो सम्प्रदायों के विश्वास व्यवस्था में कुछ ऐसा है (जैसे इस्लाम में शिया सुन्नी में) जो उनके बीच सघर्ष को अपरिहार्य बनाता है ? क्या धर्म (जैसे इस्लाम) परिवार नियोजन उपायों का विरोध करता है ? इनमें से कुछ पश्नों का विश्लेषण करने से पूर्व भारत में विभिन्न धर्मों के भौगोलिक वितरण व जनसख्यात्मक आयाम को समझना आवश्यक है।

धर्म : जीवन प्रारूप
(Religion : Living Patterns)

भारत मे विभिन्न धर्मों के जनसख्यात्मक आयाम व भौगोलिक वितरण
(Demographic Dimensions and Geographical Distribution of Different Religions in India)

भारत की जनसख्या को धर्म के आधार पर यदि वर्गीकृत किया जाये तो 1991 की जनगणना के अनुसार 82 41 प्रतिशत हिन्दू हैं (अनुसूचित जातियों और जनजातियों सहित), 12 12 प्रतिशत मुस्लिम, 2 30 प्रतिशत ईसाई, 1 84 प्रतिशत सिख, 0 60 प्रतिशत बौद्ध, 0 44 प्रतिशत जैन, और 0 29 प्रतिशत अन्य हैं। भारत में पाच ऐसे प्रान्त/केन्द्रीय क्षेत्र हैं जहा हिन्दू अल्पसख्या में हैं। इनमें जम्मू कश्मीर, मिजोरम, मणिपुर, नागालैण्ड, और लक्षद्वीप शामिल हैं। जम्मू कश्मीर, असम और पश्चिम बगाल मुस्लिम बहुल हैं। मुस्लिम बहुलता 8 से 29 प्रतिशत के बीच पायी जाती है , जैसे असम में 28 4%, पश्चिम बगाल में 23.5%, केरल में 23 3%, उत्तर प्रदेश में 17 3%, बिहार में 14 8, कर्नाटक में 11 6%, महाराष्ट्र में 9 7%, और आन्ध्र प्रदेश में 8 9%, (*The Hindustan Times*, July 8, 1995)। यद्यपि भारतीय मुसलमान 12 12 प्रतिशत हैं, परन्तु केवल 5% लोग ही उर्दू बोलते हैं और सभी उर्दू बोलने वाले मुसलमान नही हैं।

पडोस के जीवन प्रारूप (Neighbourhood Living Patterns)

मुसलमान लोग मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में रहना पसन्द करते हैं क्योंकि : एक, हिन्दू लोग मुसलमानों को किरायेदार नही रखते, दो, मुसलमान लोग उन क्षेत्रों में सुरक्षित अनुभव करते हैं, तीन, वे अपनी सस्कृति को सुरक्षित रख पाते हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ हिन्दू और मुसलमान रहते हैं वहाँ दोनों के बीच धार्मिक झुण्ड (clusters), दरारें (cleavages) और ध्रुवताएं (polarities) होती हैं। ध्रुवताओं का अर्थ है निकटता, लगाव, सम्बन्ध, चिन्ता और पहचान का एहसास जो किसी विशेष मुद्दे पर होता है और जो धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक या विचारात्मक प्रकृति का हो सकता है। ध्रुवीकरण का अर्थ है 'एकता कायम करने के लिए समूहो या व्यक्तियों के शारीरिक, मानसिक या भावात्मक गतिशीलता के द्वारा पहचान व अपनत्व का उच्चतम भाव पैदा करना'। 'दरार पडना' (cleavage) ऐसी स्थिति है जिसके द्वारा एक विशेष स्थान की जनसख्या दो ध्रुवों में बँट जाती है जिनकी प्रवृत्तियाँ भिन्न सघर्षशील तथा विरोधी होती हैं। 'धार्मिक झुण्ड'(clusters) का अर्थ है एक विशेष समय में एक क्षेत्र में ध्रुवीय समानता में सहभागी लोगों के आवासीय प्रारूप।' मुसलमानों का जीवन प्रारूप ध्रुवत्व, ध्रुवीकरण, दरारों और झुण्डों पर आधारित है जो उन्हें अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों और सुरक्षा प्रदान करने में सहायता देते हैं।

हिन्दू और मुसलमानों के आवासीय क्षेत्रों में भी वस्तु विनिमय या परस्पर निमत्रण होता है। एक ही क्षेत्र में रहने वाले हिन्दू और सिख वस्तु विनिमय भी करते है तथा विवाह आदि में भी भाग लेते हैं। इसके लिए लचीलापन व उदारता वाच्छित है ताकि व्यक्ति दूसरों

के साथ निकटता सम्बन्ध अबाध रूप से बना सके। प्रेम और भ्रातृत्व भाव दृढ़ीकरण के तत्व (cementing forces) हैं। सामाजिक सम्बन्ध सहभागिता तथा पारस्परिकता की उत्तरदायित्व वाली भावना है जिससे व्यक्ति की वैयक्तिकता और स्वतंत्रता को दबाए बिना स्व की पहचान को प्राप्त किया जाता है।

अन्तर्धार्मिक अन्तर्क्रिया और परिवर्तन
(Inter-Religious Interaction and Conversions)

उपरोक्त वर्णन के अनुसार आज के भारतीय समाज में धर्मों की बहुलता (plurality) है। वास्तव में, हमारे समाज के सामने दो प्रकार की धार्मिक परम्पराएँ हैं। प्रथम, वे धर्म जिनका उदय भारत में ही हुआ—बौद्ध, जैन और सिख, द्वितीय जिनका जन्म तो अन्य देशों में हुआ लेकिन धीरे-धीरे वे भारतीय समाज में फैल गए, जैसे इस्लाम, ईसाई और जोराष्ट्र धर्म। भारतीय समाज में धार्मिक विश्वासों और मतों की बहुलता जीवन शैलियों की विविधता को प्रदर्शित करती है। धार्मिक परम्पराओं की विविधता ने अनन्यता (exclusiveness) का नकारात्मक रुझान बना दिया है। जब धर्म के अनन्य सास्कारिक पक्षों पर अधिक ध्यान दिया जाता है तब अनन्यतावाद (exclusivism) की प्रधानता हो जाती है (Nerbhai Singh, "Contemporary Indian Society and the Plurality of Religions" in Murty Sacchidanand K *The Divine Peacock*", New age International Publishers, New Delhi, 1994 102-106)

आज के भारतीय समाज का ससार के प्रति भिन्न दृष्टिकोण है जो कि प्राचीन और मध्ययुगीन दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग है। आधुनिकता का अर्थ परम्पराओं से पूर्ण अलगाव नही है। यह तो सततता (continuum) है। जहाँ परम्परागत भारतीय समाज में धार्मिक मूल्यों का प्राबल्य (predominance), आध्यात्मिकता (spirituality), अन्य सासारिकता (other worldliness) में विश्वास, तथा पदसत्ताधारी के प्रति अधीनता (submission to authority) प्रमुख गुण थे, वही आधुनिक धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं . विचारों की स्वतंत्रता, भौतिक सस्कृति की प्रधानता, सासारिकता भावना का त्याग, तथा पदसत्ताधारी के सामने नम्रता के स्थान पर विद्रोह। इस प्रकार आधुनिक भारतीय समाज ने एक ऐसे व्यक्ति के विचारों को स्वीकार कर लिया है जो ईसाई, इस्लाम व सिख धर्मों के माने जाते हैं। समकालीन भारत में एकता की भावना विविधता से ऊपर है। पहले जब अन्य सांस्कृतिक समूह स्वदेशी धार्मिक विश्वासों के सम्पर्क में आते थे, वे अपनी पहचान बनाए रखते थे, लेकिन साथ ही क्षेत्रीय सास्कृतिक दशाओं को भी अपना लेते थे। ऐसे सामाजिक सास्कृतिक परिवेश में विविधता में एकता की अवधारणा का उदय हुआ। लेकिन आज ऐसा प्रतीत होता है कि विविध धर्म एक दूसरे से समायोजन करना नही चाहते। प्रारम्भ में कुछ ईसाई धर्म प्रचारकों ने कुछ लोगों को, विशेष रूप से जनजातियों और निम्न जातीय हिन्दुओं को, ईसाई धर्म में परिवर्तित कर लिया था। आज कुछ हिन्दू कट्टरपंथियों ने, विशेष रूप से विश्व हिन्दू परिषद तथा बजरग दल के सदस्यों ने, ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दुत्व में पुनर्परिवर्तित करना चाहा है। हाल में ही ईसाइयों पर हमले, दिसम्बर 1998 में गुजरात व जनवरी 1999 में उडीसा में, परिवर्तित हिन्दुओं को हिन्दुत्व पुनर्परिवर्तित करने

के प्रयास के साक्ष्य हैं।

आज जिस समस्या को हमें समझना है वह यह है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं और विश्वासों को मानने वाले विभिन्न लोग एक बहुविध समाज में किस प्रकार साथ साथ रहते हैं। अलगाववादी, साम्प्रदायिक व सकीर्ण हठधर्मितापूर्ण दृष्टिकोण की शक्तियाँ विध्वकारी तत्व (disturbing elements) हैं। यह कहना गलत न होगा कि धर्मान्धता का पुनर्उदय (resurgenee of religious fanaticism) 1970 वे दशक से हुआ है। कतिपय हिन्दू व मुसलमान धर्मान्ध लोग (fanatics) जिनको अधर्मी कर्मों (nefarious deeds) के लियें धर्म धुए का पर्दा (smoke-screen) प्रदान करता है, समाज को दाँव पर लगाए हुए हैं। यह भी एक रोचक स्थिति है कि भिन्न धर्मों के लोग साम्प्रदायिक दगों और तनावों के लिए एक दूसरे को दोष देते हैं। हिन्दू मुसलमान भारत पाकिस्तान विभाजन के समय विभिन्न धर्मों के हजारों लोगों की हत्या के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते हैं। 1960, 1970 व 1980 के दशकों में हिन्दू और मुसलमानों ने साम्प्रदायिक दगों के लिए एक दूसरे को उत्तरदायी ठहराया था। 1993 में मुसलमानों ने अयोध्या में एक 'विवादास्पद निर्माण' को गिराने व महाराष्ट्र दगों में मुसलमानों की हत्या के लिए हिन्दुओं को दोषी ठहराया। 1984 में इन्दिरा गान्धी की हत्या के बाद सिखों ने देहली, उत्तरप्रदेश व कई अन्य राज्यों में सिखों की हत्या के लिए हिन्दुओं को दोषी माना। 1998-99 में ईसाइयों ने गुजरात व उडीसा में ईसाइयों पर हमले के लिए हिन्दुओं को दोषी ठहराया। स्थिति का फायदा उठाने के लिए धर्म एक हथियार के रूप में प्रयोग किया गया। पजाब में भिण्डरावाला आन्दोलन और कश्मीर में कुछ मुसलमानों का पाकिस्तान के पक्ष का रुझान, धार्मिक अल्पसख्यकों की अतिवादिता (alienation) के दो उदाहरण हैं। भारतीय जनता पार्टी के एक अनुभाग (VHP) द्वारा 'हिन्दुत्व' के नारे ने मुस्लिमों और ईसाइयों में हिन्दू विरोधी भावनाएँ भडका दी।

फिर भी विविधता में एकता और सहिष्णुता है। अग्रेजों ने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों को उनकी धार्मिक भावनाओं का शोषण कर उन्हें विभक्त करने का प्रयत्न किया लेकिन स्वतत्रता सग्राम में वे एक रहे। आज भी अन्तर्धार्मिक विवाह हो रहे हैं तथा त्योंहार मिलकर मनाए जाते हैं। ईद, दिवाली व अन्य अवसरों पर निमत्रण एक दूसरे को दिए जाते हैं। जिस प्रकार कुछ मध्यकालीन भक्तों (सन्तों) जैसे कबीर, नामदेव, रविदास, नानक, चैतन्य, आदि ने धार्मिक बन्धनों से ऊपर उठने का प्रयत्न किया, एक सूत्र में पिरोने वाली बोली प्रचारित की, कर्मकाण्डवाद (ritualism) की निन्दा की, उसी प्रकार ही स्वतत्रता के बाद भी गान्धी, नेहरू, आदि कुछ नेता हुए हैं (राजनीतिक दल भी) जिन्होंने मानव एकता पर बल दिया। आज भारत में कोई अधिकृत (official) धर्म नही है। सविधान सभी धर्मों को स्वतत्रता प्रदान करता है। यह सत्य है कि कुछ राज्यों में राजनैतिज्ञ राजनैतिक सत्ता हथियाने के लिए धर्म का सहारा लेते हैं, परन्तु लोग धार्मिक विश्वासों का यह पतित जोड तोड भली भाति समझ गए हैं। कुछ लोग मानते हैं कि हमारे देश में ऐसी स्थिति नही है जिसमें भिन्न धर्म एक दूसरे को सहन करें। वे चाहते हैं कि हमारे देश में कुछ ऐसे धर्म हैं जो सत्य (reality) के गतिवान (dynamic) स्वरूप को बल देते हैं जब कि अन्य उसके स्थिर (static) स्वरूप पर। ऐसे धर्म हैं जो व्यक्तिवाद (personalism) को प्राथमिकता प्रदान करते हैं (जैसे इस्लाम, ईसाई) और दूसरे ऐसे भी धर्म हैं जो दैवी अस्तित्व (divine being)

के अवैयक्तिक स्वरूप को मान्यता देते हैं। ऐसे भी धर्म हैं जिनके पास देवत्व (divinity) का आधारभूत सिद्धान्त नही है (जैन, बौद्ध) जबकि अन्य ऐसे धर्म हैं जो देवत्व को मानते हैं। लेकिन यह केवल (धर्मों की) विविधता दर्शाता है न कि असहिष्णुता। परन्तु अब धार्मिक विचार राजनीति से जुडने लगे हैं। प्रगतिशील विचारों के कुछ व्यक्ति हैं जो सहिष्णुता व सामजस्य के आधार पर नयी सामाजिक सरचना बनाना चाहते हैं और अन्य लोग भी हैं जो रूढिवादी व प्रतिक्रियावादी विचारधारा के हैं, जो वर्तमान सामाजिक ढाँचे में कोई परिवर्तन नही चाहते हैं। दो द्वन्द्वात्मक विचारधाराए दगों और विरोधों को जन्म देती हैं। अत ऐसी स्थिति में सघर्षरत धार्मिक विचारधाराओं से समझौता करना सरल नही है। इसलिए आगामी वर्षों में समुदायों के बीच स्वतत्र अन्तर्क्रिया आसान नही प्रतीत होती।

साम्प्रदायिकता (Communalism)

हिंसा के साथ साम्प्रदायिकता की उदय होती प्रवृत्ति ने धार्मिक अल्पसख्यकों में असुरक्षा का भाव पैदा कर दिया है। विशेषरूप से मुसलमान, सिख और ईसाई भविष्य में भेदभाव तथा सघर्ष का खतरा महसूस करते हैं। हो सकता है यह मात्र उनका भय हो, लेकिन राष्ट्र अपनी जनसख्या के पाँचवें भाग के लोगों में सन्देह, असुरक्षा, और भय बर्दाश्त नही कर सकता। कश्मीर, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, आसाम, उडीसा, आन्ध्रप्रदेश और दिल्ली में 1984 से 2000 के बीच घटी घटनायें इस बात का उदाहरण हैं कि साम्प्रदायिकता का रोगाणु वायरस (virus) विविध रूपों में विनाशकारी प्रभाव पैदा करने लगा है। भारत में धार्मिक अल्पसख्यकों को सविधान में सुरक्षा प्रदान की गई है जो फिर न्याय, सहिष्णुता, समानता और स्वतत्रता प्रदान करता है। लेकिन ऐसे युग में जिसमें धार्मिक कट्टरवाद धार्मिक उन्माद असहिष्णुता और सकीर्णता में बदलती रहती जा रही है, 'राम राज्य' की कल्पना यदाकदा अल्पसख्यकों द्वारा गलत समझी जाती है, विशेषकर मुसलमानों द्वारा, जिसका अर्थ है भगवान राम का शासन, अर्थात् हिन्दू शासन। आतकवादियों के छिपने को रोकने तथा उनकी क्रियाओं पर नजर रखने के लिए धार्मिक स्थलों के आसपास पुलिस की उपस्थिति को (जैसा कि 1985 में अमृतसर में और नवम्बर 1993 तथा मई 1995 में कश्मीर में हुआ था) धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप समझा जाता है। अत देश की शान्ति व अखण्डता को बचाए रखने के लिए साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक हिंसा विषयों के विश्लेषण एव उन पर चर्चा करने की आवश्यकता है। 'साम्प्रदायिकता' की परिभाषा करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यह खोजना भी युक्तिसगत होगा कि साम्प्रदायिक कौन है।

साम्प्रदायिकता की अवधारणा (Concept of Communalism)

साम्प्रदायिकता एक विचारधारा है जिसमें कहा गया है कि समाज धार्मिक समुदायों में विभक्त है जिनके हित भिन्न भिन्न हैं और कभी-कभी एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध होते हैं। एक समुदाय या धर्म के लोगों द्वारा दूसरे समुदाय या धर्म के विरुद्ध किया गया शत्रुभाव ही 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है। यह शत्रुभाव विशेष समुदाय को गलत दोषारोपण, हानि पहुँचाने और जानबूझ कर अपमानित करने की हद तक चला जाता है तथा लूटपाट, मकानों और दुकानों में आगजनी तथा कमजोरों और असहायों को सताना, स्त्रियों को अपमानित करने

तथा लोगों की हत्या तक चला जाता है। साम्प्रदायिक व्यक्ति वे होते हैं जो धर्म के माध्यम से राजनीति करते हैं। नेताओं में वे धार्मिक नेता साम्प्रदायिक हैं जो अपने धार्मिक समुदायों को व्यापारी उद्यमों और संस्थाओं की तरह चलाते है और चिल्लाते हैं कि हिन्दुत्व, इस्लाम, सिख या ईसाइयत खतरे में हैं, जैसे ही वे देखते हैं कि उनके पवित्र संस्थानों में दान की आमद कम हो चली है या फिर उनके नेतृत्व को चुनौती मिलने लगी है या फिर उनकी विचारधारा विवादग्रस्त हो चली है। इस प्रकार साम्प्रदायिक वह नही है जो 'धार्मिक व्यक्ति है' बल्कि वह है जो धर्म से जुडी राजनीति करता है। यह शक्तिलोलुप राजनीतिज्ञ (power politicians) न तो अच्छे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख हैं और न ही अच्छे पारसी, और बौद्ध। उन्हें खतरनाक राजनैतिक काई या झाग (scum) कहा जा सकता है। उनके लिए ईश्वर और धर्म मात्र यन्त्र हैं जिनका प्रयोग वे विलासी जीवन तथा समाज में परजीवी राजा की तरह व्यतीत करने में तथा राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। (*Day After*, June 1990 35-36)।

टी के ऊम्मन (TK. Oomen, 1989), ने साम्प्रदायिकता के छ आयाम बताये हैं · आत्मसातकारी (assimilationist), कल्याणत्मकारी (welfarist), पलायनवादी (retreatist), प्रतिकारात्मक (retaliatory), अलगाववादी (separatist) तथा पृथकतावादी (secessionist)। *आत्मसातकारी* साम्प्रदायिकता वह है जिसमें छोटे-छोटे धार्मिक समूह एक बडे धार्मिक समुह में एकीकृत हो जाते हैं। ऐसे साम्प्रदायिक लोग दावा करते हैं कि अनुसूचित जनजाति के लोग हिन्दू होते हैं या जैन, सिख और बौद्ध हिन्दू होते हैं और उन्हें भी हिन्दू विवाह अधिनियम की परिधि में लिया जाना चाहिए। *कल्याणकारी* साम्प्रदायिकता का उद्देश्य किसी विशेष समुदाय का कल्याण करना होता है, जैसे ईसाई संघों द्वारा केवल ईसाइयों के रहन-सहन के दर्जे, शिक्षा व स्वास्थ्य में सुधार करना या पारसी सघ पारसियों के उत्थान के लिए कार्यरत है। इस प्रकार की साम्प्रदायिक गतिशीलता का उद्देश्य केवल अपने ही समुदाय के लोगों के लिए काम करना होता है। *पलायनवादी* साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय अपने को राजनीति से अलग रखता है; उदाहरणार्थ, बहाई समुदाय, जो अपने सदस्यों को राजनीति में भाग लेने से रोकता है। *प्रतिकारात्मक* साम्प्रदायिकता का प्रयास अन्य धार्मिक समुदायों के सदस्यों को हानि पहुँचाना, चोट पहुँचाना, आघात पहुँचाना रहता है। *पृथकतावादी* साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक या सास्कृतिक समूह अपनी सास्कृतिक विशेषता (specificity) बनाए रखना चाहता है और देश में अपनी सीमाओं के राज निर्माण (territorial state) की माग करता है, उदाहरणार्थ, उत्तर-पूर्व भारत में मिजो और नागाओं की माग, असम में बोडो, बिहार में झारखण्ड जनजातियों की माँग (जिसको स्वीकार कर नवम्बर 2000 में पृथक राज्य स्थापित किया गया है), पश्चिम बगाल में गोरखा लोगों की गोरखालैण्ड की माग, या उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड की माँग (नवम्बर 2000 में उत्तराखण्ड राज्य भी बना दिया गया है), या महाराष्ट्र में विदर्भ की माँग। अन्त में, *अलगाववादी* साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय राजनैतिक पहचान की माँग करता है और स्वतत्र राज्य की माँग करता है। सिखों का छोटा सा समुदाय खालिस्तान की माँग या कुछ मुस्लिमों का आजाद काश्मीर की माँग करना इस प्रकार की साम्प्रदायिकता के उदाहरण हैं। उपरोक्त छ प्रकार की साम्प्रदायिकताओं में से अन्तिम तीन

आन्दोलनों, साम्प्रदायिक दंगों, आतकवाद, सशस्त्र विद्रोहों को जन्म देने वाली समस्याएँ पैदा करते हैं।

भारत मे सम्प्रदायवाद (Communalism in India)

भारत का बहुलवादी (pluralist) समाज अनेक धार्मिक समूहों से मिलकर बना है, यद्यपि यह समूह उप धार्मिक समूहों में भी विभक्त है। हिन्दू धर्म पन्थों में विभाजित है, जैसे आर्य समाजी, शैव, सनातनी, वैष्णव, जबकि मुसलमान एक ओर शिया और सुन्नियों में विभक्त हैं और दूसरी ओर अशरफ (कुलीन), अजलम (जुलाहे, कसाई, बढई, तेली) और अरजलों में। हिन्दू और मुसलमानों के बीच लम्बे समय से तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे है जबकि हिन्दू और सिखों ने एक दूसरे को 1984 के बाद लगभग दस वर्षों तक ही सन्देह की दृष्टि से देखा था। यद्यपि कुछ राज्यों में हिन्दुओं-ईसाइयों तथा मुसलमानों और ईसाइयों के बीच सघर्षों की चर्चा सुनी जा रही है, फिर भी अधिकतर ईसाई भारत में अन्य समुदायों द्वारा शोषित या वचित अनुभव नही करते। मुसलमानों में शिया और सुन्नी एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह रखते हैं। यहाँ हम संक्षेप में हिन्दू-मुस्लिम और हिन्दू-सिख सम्बन्धों का प्रमुख रूप से विश्लेषण करेंगे।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता (Hindu-Muslim Communalism)

भारत में मुस्लिम आक्रमण दसवी शताब्दि में प्रारम्भ हुए लेकिन प्रारम्भिक आक्रान्ता धार्मिक प्रभुत्व स्थापना की अपेक्षा लूटपाट में ही अधिक रुचि रखते थे। कुतुबुद्दीन जब दिल्ली का प्रथम सुल्तान बना तब भारत में इस्लाम के पैर जमे। बाद में मुगलों ने (1707 तक) अपने साम्राज्य को मजबूत किया और इस प्रकिया में इस्लाम को भी बल मिला। मुगल शासकों की कुछ नीतिया धर्मान्तरण (proselytisation) के प्रयासों, हिन्दू मन्दिरों के विनाश तथा इन पर मस्जिदों के निर्माण ने हिन्दू मुस्लिम समुदायों के बीच खाई बना दी। जब अग्रेजो ने भारत में अपनी सत्ता जमाई, उन्होंने प्रारम्भ में तो हिन्दुओं की सरक्षण की नीति अपनाई, लेकिन 1857 में प्रथम स्वतत्रता सग्राम के बाद, जिसमें हिन्दू और मुसलमान कन्धे से कन्धा मिलाकर लडे थे, अग्रेजों ने 'विभाजित करो और राज्य करो' की नीति अपनाई, जिसका परिणाम हुआ साम्प्रदायिक सघर्षों का उदय और उनका वर्चस्व बना रहा। जब स्वतत्रता सग्राम के दौरान शक्ति की राजनीति खेली जाने लगी तब हिन्दू मुसलमानों के बीच सम्बन्धों में और अधिक तनाव आए। इस प्रकार हिन्दू मुसलमानो के बीच बैर भाव काफी पुराना प्रकरण है, फिर भी भारत में हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता को स्वतत्रता सग्राम के दौरान की ब्रिटिश शासन की धरोहर ही कहा जा सकता है। यह साम्प्रदायिकतावाद 1947 को आजादी के बाद आज बदले हुए सामाजिक और राजनैतिक परिवेश में काम कर रहा है। यह भारत के उन धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के लिए खतरा है जो (आदर्श) हमारे सविधान तक में समाविष्ट हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति तथा ऐतिहासिक जडों का परीक्षण किया जा सकता है ताकि इस घटना को समकालीन सन्दर्भ में समझा जा

सके। 1920 और 1940 के बीच स्वतन्त्रता संग्राम में जिन राजनीतिक दलों ने हिस्सा लिया था उनकी धार्मिक तथा राजनैतिक विचारधाराएँ एवं आकांक्षाएँ क्या थीं ? राष्ट्रीयता की अपील से विभिन्न समुदायों को जोड़ने में दो महत्त्वपूर्ण कारक थे : प्रथम, औपनिवेशिक शासकों के शोषण से मुक्ति और द्वितीय, सभी नागरिकों के लिए लोकतान्त्रिक अधिकार। लेकिन प्रमुख राजनैतिक दल जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी, हिन्दू महासभा ने बीसवीं सदी के तीस व चालीस के दशकों में इन भावनाओं में हिस्सा नहीं लिया। कांग्रेस ने तो आरम्भ से ही 'शिखर से एकता' (unity from the top) की नीति अपनाई जिन्हें मध्यम वर्गीय तथा उच्च वर्गीय मुसलमानों को, जो मुस्लिम समुदाय के नेता थे, जीतने का प्रदान किया था तथा मुस्लिम जन समुदाय को आन्दोलन में आकर्षित करने का काम उन पर छोड़ दिया गया। यह 'शिखर से एकता' दृष्टिकोण साम्राज्यवाद से लड़ाई में हिन्दू-मुस्लिम सहयोग को प्रोत्साहित न कर सका। 1918 व 1922 के बीच हिन्दू-मुस्लिम एकता के सभी प्रयत्न केवल हिन्दू, मुस्लिम, सिखों तथा कांग्रेस के शिखरस्थ नेताओं के बीच बातचीत की प्रकृति के थे। प्राय कांग्रेस ने निरपेक्ष राष्ट्रवादी ताकतों के सक्रिय संगठनकर्ता का कार्य विविध समुदायों को संगठित करने के बजाय विविध समुदायों के नेताओं के बीच मध्यस्थ का काम किया। इस प्रकार प्रारम्भिक राष्ट्रवादी नेताओं के बीच सन्निहित स्वीकृति थी कि हिन्दू, मुस्लिम, सिख अलग-अलग समुदाय थे जो केवल राजनैतिक व आर्थिक मामलों में भागीदार थे, न कि सांस्कृतिक, धार्मिक व सामाजिक प्रथाओं में। इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रथम व द्वितीय चौथाई वर्षों में साम्प्रदायिकता के बीज बोए गए। 1936 तक मुस्लिम लीग व हिन्दू महासभा संगठनात्मक रूप से काफी कमजोर रहे। 1937 के चुनाव में प्रान्तीय विधायिकाओं में मुस्लिमों के लिए आरक्षित कुल (482) स्थानों में से मुस्लिम लीग ने 22 प्रतिशत स्थानों पर विजय प्राप्त की। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में भी मुस्लिम लीग की उपलब्धि अच्छी नहीं रही। केवल 1942 के बाद ही मुस्लिम लीग मजबूत राजनैतिक दल के रूप में उभरी और सभी मुस्लिमों के अधिकारों के लिए बोलने का दावा किया। जिन्ना कांग्रेस पार्टी को 'हिन्दू' संगठन कहते थे जिसका समर्थन अंग्रेज भी करते थे। कांग्रेस के भीतर भी कुछ नेता लोग, जैसे मदन मोहन मालवीय, के एम मुन्शी, और सरदार पटेल ने 'हिन्दू' पक्ष को लिया। इस प्रकार कांग्रेस अपने नेताओं की साम्प्रदायिक तत्वों वाली छवि को समाप्त न कर सकी।

जहाँ 1940 में मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान का नारा सर्वप्रथम चलाया गया, वहीं कांग्रेस नेताओं ने 1946 में देश का विभाजन स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप, लाखों की संख्या में हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों को बेघर होना पड़ा। विभाजन के बाद भी, कांग्रेस साम्प्रदायिकता पर काबू न पा सकी। अत यह कहा जा सकता है कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति मुख्यत राजनैतिक-सामाजिक थी तथा हिन्दू मुसलमानों के बीच केवल धर्म ही संघर्ष का कारण नहीं था। आर्थिक हित तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक लोकरीतियों (mores) (जैसे त्योहार, सामाजिक प्रथाएँ) ने दोनों सम्प्रदायों को विभाजित किया।

भारत में 16 नगरों की पहचान हिन्दू मुस्लिम दंगों की दृष्टि से अति संवेदनशील रूप में की गई है। इनमें से पाँच (मुरादाबाद, मेरठ, अलीगढ़, आगरा व वाराणसी) उत्तरप्रदेश में

है, एक (औरंगाबाद) महाराष्ट्र में, एक (अहमदाबाद) गुजरात में, एक (हैदराबाद) आन्ध्र प्रदेश में, दो (जमशेदपुर व पटना) बिहार में, दो (सिलचर व गौहाटी) असम में, एक (कलकत्ता) पश्चिम बगाल में, एक (भोपाल) मध्य प्रदेश में, एक (श्रीनगर) जम्मू व कश्मीर में और एक (कटक) उडीसा में। क्योंकि 11 नगर उत्तरी क्षेत्र में हैं, तीन पश्चिमी और दो दक्षिण क्षेत्र में हैं, तो क्या यह माना जा सकता है कि दक्षिण भारत में मुस्लिम लोग सास्कृतिक दृष्टि से अधिक समन्वित हैं क्योंकि वे वाणिज्य व्यापार में सलग्न है जिसमें सभी से सद्भाव की अपेक्षा की जाती है ? आश्चर्य की बात तो यह है कि यह बात उत्तर प्रदेश के पांच नगरों में भी लागू होती है। इसलिए इस घटना के लिए कोई अन्य व्याख्या हमें ढूँढनी होगी।

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य (antagonism) के पीछे कुछ जटिल तथ्य बताये जा सकते हैं। ये इस प्रकार हैं (1) मुस्लिम आक्रमण जिसने आक्रान्ताओं ने सम्पत्ति को लूटा और मन्दिरों के आस-पास मस्जिदें बनवाई, (2) साम्राज्यवादी शासन के दौरान ब्रिटिश लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए मुस्लिम पृथकतावाद को प्रोत्साहित किया, (3) विभाजन के बाद भारत में कुछ मुसलमानों का व्यवहार, जो पाकिस्तान के पक्ष में झुके हुए थे। इस प्रकार का व्यवहार बहु-सख्यक समुदाय में यह भाव पैदा करता है कि मुसलमान देश भक्त नहीं हैं। भारतीय मुसलमान की यह रूढ छवि जो कि कट्टर हिन्दुओं के मस्तिष्क में घर कर गई है वह है आभ्यान्तरिक (inward looking) विदेशी की। इसी प्रकार एक मुसलमान के मस्तिष्क में भी हिन्दुओं के प्रति भाव सर्वशक्तिशाली, अवसरवादी तथा उपेक्षा करने वालों का है और वह स्वय को उनके द्वारा प्रताडित एव देश को तथा समाज की मुख्य धारा से अलग किया हुआ मानता है (4) मुसलमानों द्वारा देश में स्थान प्राप्त करने के प्रयत्न में मुस्लिम राजनैतिक दलों की नव आक्रामकता (aggressiveness) रिपोर्ट तो यहा तक है कि कुछ कट्टरपथी मुसलमान 'विदेशी धन' प्राप्त करते हैं, 'विदेशी एजेन्ट बनते हैं' और देश के धर्मनिरपेक्ष आदर्श को बर्बाद करने पर तुले हैं और भारतीय मुसलमानों को भडकाने में लगे हैं। (5) मुस्लिम नेताओं की मुसलमानों को एक करने में और उनकी समस्याओं के समाधान करने में असफलता शायद उनकी कुण्ठा के कारण है क्योंकि वे पश्चिमी एशिया व पाकिस्तान में बहने वाली इस्लामी कट्टरवाद की हवा से प्रभावित हैं। नेताओं ने तो केवल मुसलमानों की सख्या बल का शोषण किया (विशेष रूप से केरल, कश्मीर व उत्तर प्रदेश में) और सौदेबाजी की, ससद और विधान सभाओं में कुछ स्थान प्राप्ति के लिए और अपने तथा अपने मित्रों के लिए शक्ति और सम्पन्नता की खोज करते रहे। (6) सरकार भी मुसलमानों की उपेक्षा के लिए कुछ सीमा तक उत्तरदायी है। बडी सख्या में मुसलमान स्वय को बाहरी समझते हैं और परिणाम यह होता है कि वे स्वार्थी नेताओं के शोषण के शिकार हो जाते हैं। शासक अभिजात वर्ग शायद ही धार्मिक सद्भावना की बात करते हों। वे मुसलमानों की वास्तविक समस्याओं को बहुत कम समझ रखते हैं। हिन्दू नेतृत्व केवल उन्हीं मुस्लिम नेतृत्व से सम्बन्ध रखता है जो उनकी बात मानते हैं।

भारतीय मुसलमान अधिकाशत अपने भविष्य को 'हम' (us) और 'वे' (they) के प्रश्न पर निर्भर मानते हैं जब वे अपनी माँगों को सर्वविदित करते हैं, जैसा कि समाज के कुंठित समूह अपनी परेशानियों को स्वर देने के लिए करते हैं। तब यह भावना अक्सर हिन्दू-मुस्लिम हिंसा के रूप में फूट पडती है जिसके लिए विदेशी हाथ होने का आरोप लगाया

जाता है। तब क्या मुस्लिम समस्या को साम्प्रदायिक समस्या माना जाये? क्या यह सत्य नही है कि हिन्दू मुस्लिम से भिन्न नही हैं या असम के बगाली-आसामी सघर्ष या महाराष्ट्र के महाराष्ट्रीय और गैर-महाराष्ट्रीय से भिन्न नहीं है? वास्तव में समस्या है सामाजिक-आर्थिक हितों की तथा कट्टरता एव मूल्यों में परिवर्तन की।

उग्रवादी प्रवृत्ति के हिन्दू मानते हैं कि देश में मुसलमानों को अनुचित रुप में प्रश्रय (pamper) किया जा रहा है। 1992-1993 के रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद के प्रकरण ने तो साम्प्रदायिक सद्भाव के नाजुक सन्तुलन को और भी प्रभावित किया है। कांग्रेस से मोह भग होने के बाद मुसलमानों ने 1990 में जनता दल में, 1995 में समाजवादी पार्टी में, और 1996 में सयुक्त मोर्चे (United Front) में विश्वास बनाया। जनता दल के विभाजन (नवम्बर, 1990) तथा राजीव गान्धी की हत्या (मई, 1991) के साथ भारतीय जनता पार्टी के नवम्बर 1993 में सत्ता में आने के साथ चार राज्यों के चुनावों का होना (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश) और 1998 में केन्द्र में तथा कर्नाटक में जनता दल और आन्ध्र प्रदेश में तेलुगु देशम का 1994 चुनावों में सत्तासीन होना, मार्च 1995 के चुनाव में शिव सेना और भाजपा का महाराष्ट्र में और भाजपा का गुजरात में सत्ता में आना, उत्तर प्रदेश में सपा बसपा और भाजपा-बसपा सयुक्त सरकारों का गिरना, अक्टूबर 1996 के चुनाव में उत्तर प्रदेश में सपा और बसपा का बहुसख्या में न आना और अप्रैल 1999 में केन्द्र में ससद में वाजपेयी के बाद मन्त्री मण्डल बनाने में समाजवादी पार्टी की सोनिया गान्धी को समर्थन देने में असफलता और फिर अक्टूबर 1999 में बी.जे.पी द्वारा गठबन्धन सरकार बनाना है, इन सभी बातों ने भ्रान्ति पैदा की है। आज मुसलमान पहले की अपेक्षा अपनी सुरक्षा को लेकर अधिक चिन्तित हैं।

हिन्दू-सिख साम्प्रदायिकता

सिख लोग भारत की कुल जनसख्या का मात्र 2 प्रतिशत (1.3 करोड) हैं। यद्यपि समूचे देश में तथा विदेशों में भी फैले हुए हैं। पजाब में वे अधिक केन्द्रित हैं जहाँ वे राज्य में बहुसख्यक हैं।

पजाब में सिख आन्दोलन अस्सी के दशक के प्रारम्भ में शुरू हुआ। हत्याओं की सख्या बढती गई और सिखों का विरोध सगठित होता गया तथा आक्रामकता एव हिंसा में वृद्धि हुई। 1984 में जब अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में उग्रवादी प्रकृति वाले सिखों को पकडने तथा हथियारों को जब्त करने के लिए सेना ने आपरेशन ब्लू स्टार प्रारम्भ किया, तब सिखों ने हिंसात्मक प्रतिक्रिया प्रकट की। अक्टूबर 1984 में जब इन्दिरा गान्धी की हत्या की गई और देहली तथा अन्य राज्यों में हजारों सिखों की हत्या की गई, और उनकी सम्पत्ति लूटी गई, जलाई व नष्ट की गई, तब कुछ सिख हिंसावादी इतने उग्र हो गए कि उन्होंने बसों और रेलों में सैकडों हिन्दुओं की हत्या कर दी, उनकी सम्पत्ति नष्ट कर दी तथा अनेक हिन्दुओं को पजाब छोडने के लिए मजबूर कर दिया। मई 1988 में अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर से उग्रवादियों को साफ करने के लिए आपरेशन ब्लैक थण्डर शुरू किया गया जो उनके नियत्रण में लगभग 10 दिन तक रहा। तब सिखों ने बदले की कार्यवाही में बम विस्फोट किए हिन्दुओं की हत्या की तथा बैंकों को लूटा। इस प्रकार लगभग दस वर्षों तक सिखों और

हिन्दुओं के बीच सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। अब पंजाब में कट्टरवादी सिख आक्रामकता दबा दी गई है तथा 1993 से आगे दोनों सम्प्रदायों के बीच के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ है। अब उनके बीच एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों तथा पूजा स्थलों को लेकर सौहार्द और सम्मान विकसित हुआ है।

नृजातीय हिंसा (Ethnic Violence)

हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों एवं हिन्दू-सिख झड़पों के अतिरिक्त हम विभिन्न नृजातीय समूहों के बीच सम्बन्धों को कैसे देखते हैं ? जैसे असामी और गैर असामी असम में लगभग 150 वर्षों से राज्य का आर्थिक विकास बाहरी राज्यों से आयातित श्रम और उद्यम द्वारा चलाया जा रहा था। इस अवधि में, जिसका विस्तार लगभग डेढ़ दशाब्दि तक रहा, असम तथाकथित 'बाहरी' लोगों का घर रहा है जिनका कोई अन्य घर नहीं रहा सिवाय असम के। कुछ लोग वास्तव में अमीर हो गए हैं लेकिन अधिकतर लोग निराश और निर्धन हैं। अब असमियों ने राष्ट्रीयता का प्रश्न उठा दिया है। अखिल असम छात्र संघ (AASU) तथा अखिल असम गण परिषद (AAGP) आन्दोलन (जिससे AGP राजनैतिक पार्टी के रूप में उभरी) ने 'बाहरी' को 'विदेशी' के रूप में गलत समझा (बाँगला देश से आए शरणार्थियों सहित)। राज्य में 50 लाख से 70 लाख 'बहिरागतों' की आश्चर्य चकित करने वाली संख्या का आकलन किया गया। असम को विदेशियों से छुटकारा दिलाने के इस प्रकरण ने राज्य को 6 वर्ष तक उद्वेलित रखा—1979 से 15 अगस्त, 1985 के असम समझौते तक। बोडो, बंगालियों, मारवाड़ियों और गैर-असामी मुसलमानों के विरुद्ध घृणा को बढ़ावा दिया गया। यह अलगाववादी (secessionist) आन्दोलन हजारों अबोध लोगों की मृत्यु के लिए जिम्मेदार बना। नौगाँव जिले के नेली (Nellie) में और उसके चारों ओर के 10 गाँवों में 1,383 स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों का नरसंहार नृजातीय हिंसा का ही भाग था। एएसजीपी भी, जो 1985 से 1990 के बीच सत्ता में रही, नृजातीय तनाव को कम न कर सकी।

उल्फा उग्रवादियों ने एक आन्दोलन चलाया जो इतना शक्तिशाली रहा कि जनवरी 1991 में होने वाले चुनावों की बजाय नवम्बर 1990 में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, सेना और सुरक्षा बलों ने विद्रोहियों को पकड़ने तथा हथियार बरामद करने के लिए एक मुहिम छेड़ी। जून, 1991 में राष्ट्रपति शासन वापस ले लिया गया जब राज्य में नयी कांग्रेस सरकार ने सत्ता सम्भाली। लेकिन उल्फा उग्रवादियों ने नयी सरकार के गठन के प्रथम दिवस ही राज्य के विभिन्न भागों से ओएनजीसी के कुछ पदाधिकारियों सहित सरकारी अधिकारियों का अपहरण करके नयी सरकार को झटका दे दिया। मई 1996 के चुनावों ने भी बोडो लोगों को बदले की कार्यवाही से नहीं रोका। उग्रवादियों को अभी भी यह महसूस करना है कि असम भी देश के अन्य राज्यों की तरह है और यह भारत के सभी वैधानिक नागरिकों का है चाहे वे कोई भी भाषा बोलें, कोई भी धर्म अपनाएँ और कोई भी रीति रिवाज व प्रथाओं का पालन करें। बोडो—एक जनजाति जो कि 1947 में असम की कुल जनसंख्या का 49 प्रतिशत तथा 1991 में 29 प्रतिशत थे और 1825 तक जिनका शासन समस्त असम में था—अब स्वायत्तता की माँग कर रहे हैं। यद्यपि असम सरकार और अखिल बोडो छात्र संघ (ABSU) तथा बोडो पीपुल्स एक्शन कमेटी (BPAC) द्वारा प्रतिनिधित बोडो नेतृत्व

के बीच फरवरी 1993 में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, फिर भी यह समस्या अभी भी अनिर्णीत ही है। बोडो नेता और असम सरकार सीमा प्रकरण तथा लगभग 3,000 गाँवों को बोडोलैण्ड आटोनोमस काउन्सिल को सौंपने के विषय पर सहमत नही हो सके हैं। बोडो लोग यह भी नही चाहते कि स्वदेशी जनजाति के लोगों पर असमियाँ भाषा थोपी जाये। 1960, 1970, 1980 तथा 1990 के दशकों में बोडो आन्दोलन रुक रुक कर चला, यद्यपि अब इसमें बल आया है। अब बोडो लोग 'उदयाचल' नाम की केन्द्र शासित प्रदेश की माँग कर रहे हैं। बम विस्फोट, सडकों और रेल पुलों को ध्वस्त करना, आदि बोडो उग्रवादियों द्वारा चलाई जा रही हिंसक कार्यवाहियाँ बताती हैं कि उग्रवादियों को देश के भीतर तथा विदेशों मे मदद मिल रही है। इन विद्रोही कार्यवाहियों के दमन के लिए सरकार द्वारा कठोर कदम उठाए जाने की आवश्यकता पर बल देना आवश्यक है।

साम्प्रदायिक हिंसा
(Communal Violence)

अवधारणा (The Concept)

साम्प्रदायिक हिंसा मे दो विभिन्न धर्मों मे सम्बद्ध लोग सम्मिलित होते हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध गतिवान हो जाते हैं तथा एक दूसरे के प्रति दुश्मनी, भावनात्मक क्रोध, शोषण, सामाजिक भेदभाव, तथा सामाजिक उपेक्षा से पीडित होते हैं। एक सम्प्रदाय की दूसरे के प्रति उच्च कोटि की एकता तनावों और ध्रुवीकरण के बीच बनी हुई है। आक्रमण का लक्ष्य 'शत्रु' समुदाय के सदस्य होते है। सामान्यतया, साम्प्रदायिक दगों के दौरान कोई नेतृत्व नही होता जो कि दगे की स्थिति को रोक सके या नियत्रित कर सके। अत यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिसा मुख्य रूप से घृणा, शत्रुता और बदले की भावना पर आधारित होती है।

साम्प्रदायिक हिसा परिमाण तथा गुणवत्ता दोनों में राजनैतिक साम्प्रदायिकता के साथ साथ वृद्धि हुई है। गान्धी जी इसका प्रथम शिकार हुए और बाद में 1970 व 1980 के दशकों में अनेक व्यक्तियों की हत्या हुई। दिसम्बर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद के गिराए जाने के बाद, 1993 के प्रारम्भ में बम्बई में बम विस्फोट तथा महाराष्ट्र, तमिलनाडु बिहार, उत्तर प्रदेश व केरल में साम्प्रदायिक दगों में काफी वृद्धि हुई है। जहाँ कुछ राजनैतिक पार्टिया नृजातीय-धार्मिक साम्प्रदायिकता को सहन करती हैं, कुछ इन्हें प्रोत्साहन भी देती हैं। इस प्रकार की सहिष्णुता के हाल ही के उदाहरण, कुछ राजनैतिक नेताओं और कुछ राजनैतिक पार्टियों द्वारा धार्मिक सगठनों की क्रियाकलापों द्वारा प्रकट होते हैं जो कि ईसाई मिशनरियों पर हमलों तथा गुजरात, मध्यप्रदेश तथा इलाहाबाद में ईसाई मिशनरियों पर हमलों से स्पष्ट है। मध्य 1970 के दशक के आपातकाल से राजनीतिक मुख्य धारा में अपराधी तत्वों का प्रवेश प्रारम्भ हुआ। यह घटना भारतीय राजनीति में इस सीमा तक घुलमिल गई है कि धर्मान्धता जातिवाद तथा धर्म और राजनीति का मेल विविध आयामों में बढ गया है। राजनैतिक पार्टिया एव राजनेता हमारे समाज को नकारात्मक प्रेरणाओं के प्रभाव से बचाने के लिए सामूहिक लडाई की अपेक्षा आपसी सम्बन्धों में 'तुमसे अधिक पवित्र' (holier than thou) का दृष्टिकोण अपनाते हैं।

हिन्दू सगठन मुसलमानों और ईसाइयों को दोष देते हैं कि वे हिन्दुओं को जबरन अपने धर्मों में बदलते हैं। यह धर्मान्तरण बलात् था या ऐच्छिक, इस विवाद में उलझे बिना केवल यह कहा जा सकता है कि आज यह मामला उठाना निश्चित रूप से धर्मान्धता (fanaticism) है। हिन्दुत्व सदा सहिष्णु रहा है और मानव परिवार की बात करता है। अत यह स्वीकार किया जाना है कि 'हिन्दुत्व' का सिद्धान्त जो भारतीय राजनीति को दूषित कर रहा है उसका हिन्दू विचार से कोई लेना देना नही है। अब समय है कि धर्मनिरपेक्ष राजनेता और पार्टियाँ राजनैतिक व चुनावी विचारों की उपेक्षा करें और उन धार्मिक सगठनों की निन्दा करें और उनके विरुद्ध कदम उठाएं जो अपने बयानो से शान्ति और स्थिरता को बिगाडते हैं और भारत की एकता और बहुलवादी पहचान (pluralistic identity)के लिए खतरा पैदा करते हैं।

साम्प्रदायिक दगो की विशेषताएँ (Features of Communal Riots)

गत पाँच दशकों की अवधि में देश में हुए प्रमुख साम्प्रदायिक दगों की जाँच पडताल से स्पष्ट है कि . (1) साम्प्रदायिक दगे धार्मिक जुनून की अपेक्षा राजनीति-प्रेरित अधिक होते हैं। मदान आयोग ने भी, जिसने मई 1970 के महाराष्ट्र के दगों की जाँच की थी, बल देकर कहा है कि साम्प्रदायिक तनावों के निर्माता (architects) साम्प्रदायिक लोग और राजनीतिज्ञों के कुछ वर्ग होते हैं। ये अखिल भारतीय और स्थानीय स्तर के वे नेता होते हैं जो अपनी राजनैतिक स्थिति मजबूत करने के लिए प्रत्येक अवसर का लाभ उठाते हैं, अपनी प्रतिष्ठा बढाते हैं, तथा प्रत्येक घटना को साम्प्रदायिक रग देकर अपनी छवि को जनता के बीच अच्छी बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे जनता की दृष्टि में अपने आप को दर्शाते हैं कि वे ही अपने समुदाय के अधिकारों के रक्षक व धर्म के ठेकेदार हैं।" (2) राजनैतिक हितों के अलावा आर्थिक हित भी साम्प्रदायिक सघर्षों को तूल देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। (3) साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण तथा पूर्वी भारत की अपेक्षा उत्तरी भारत में अधिक सामान्य हैं। (4) किसी नगर में साम्प्रदायिक दगों की पुनरावृत्ति की सम्भावना वहाँ अधिक होती है जहाँ एक या दो बार दगे हो चुके हैं, अपेक्षाकृत उन नगरों के जहाँ पहले कभी दगे नही हुए। (5) अधिकतर साम्प्रदायिक दगे धार्मिक त्योहारों के अवसरो पर होते हैं (6) दगों में घातक अस्त्रों का प्रयोग वृद्धि की ओर है।

साम्प्रदायिक दगो का अनुपात (Incidence of Communal Riots)

भारत में 1946-48 की अवधि में साम्प्रदायिक उन्माद (frenzy) शिखर पर था जबकि 1950 और 1963 के बीच की अवधि को साम्प्रदायिक सद्भाव और शान्ति का समय कहा जा सकता है। देश में राजनैतिक स्थिरता और आर्थिक विकास ने साम्प्रदायिक स्थिति के सुधार में योगदान किया। 1963 के बाद से दगों का होना बढता गया। पूर्वी भारत के विभिन्न भागों में, जैसे कलकत्ता, जमशेदपुर, राउरकेला, और राँची में 1964 में गम्भीर दगे हुए। 1968 और 1971 के बीच दगों की एक लहर और चली जब राज्यों और केन्द्र में राजनैतिक नेतृत्व कमजोर था।

दिसम्बर 1990 में उत्तर प्रदेश गुजरात और आन्ध्रप्रदेश में साम्प्रदायिक दगे नवम्बर 1991 में बेलगॉव (कर्नाटक) में दगे फरवरी 1992 में वाराणसी और हापुर (उत्तर प्रदेश) में, मई 1992 में सीलमपुर में (जुलाई 1992 में देहली में समाईपुर में, नासिक (महाराष्ट्र) में, मुन्धा त्रिवेन्द्रम के निकट केरल में, और अक्टूबर 1992 में सीतामढी में—सभी यह दर्शाते हैं कि देश में साम्प्रदायिक सद्‌भाव कमजोर था।

दिसम्बर 1992 में अयोध्या में विवादास्पद धर्म स्थल के तोडे जाने के बाद जब विभिन्न राज्यों में साम्प्रदायिक उन्माद उमडा, पॉच दिनों में ही 1000 लोगों के मरने की बात कही गयी जिसमें उत्तरप्रदेश में 236, कर्नाटक में 64, आसाम में 74, राजस्थान में 30, और पश्चिम बगाल में 20 व्यक्ति थे। इस हिंसा के बाद सरकार ने राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ (RSS) विश्व हिन्दू परिषद (VHP), बजरग दल, इस्लामिक सेवक सघ (ISS) तथा जमायते इस्लामी हिन्द पर दिसम्बर 1992 में पाबन्दी लगा दी। जनवरी 1993 में मुम्बई बम विस्फोट काण्ड तथा बाद में अप्रैल 1993 में कलकत्ता में, महाराष्ट्र के साम्प्रदायिक दगों तथा अन्य राज्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों की 200 से अधिक जाने गयीं। मुम्बई विस्फोटों के तुरन्त बाद देहली के सुपरिचित इमाम ने कहा, "अब यह मूलरूप से अस्तित्व का प्रश्न है। जीवित रहने के लिए अस्त्र उठाने से अब इन्कार नही किया जा सकता"। संघ परिवार के नेताओं ने दावा किया कि भारत एक हिन्दू राष्ट्र है, और हिन्दू सस्कृति ही यहा की अधिकारिक सस्कृति है। मुसलमान वास्तव में मोहम्मदी हिन्दू हैं, और सभी हिन्दुस्तानी परिभाषा से हिन्दू हैं। हिन्दू-मुस्लिम धर्मान्धता का यह ऐसा आक्रामक दृष्टिकोण है जो साम्प्रदायिक दगों का कारण है। 1961 में जब भारत के 350 जिलों में से 61 जिलों को सवेदनशील पाया गया तो 1979 में 216, 1986 में 186, और 1987 में 254। 1989 में यह सख्या 186 थी। जन हानि के अलावा साम्प्रदायिक दगों से सम्पत्ति का नाश तथा आर्थिक क्रियाकलापों को भी आघात लगता है। उदाहरणार्थ, 1983-1986 के बीच 14 करोड रुपये मूल्य की सम्पत्ति नष्ट हुई (*Times of India*, July 25, 1986)। 1986 और 1988 के तीन वर्षों मे 2086 दगों की घटनाओं में, 1024 व्यक्तियों की जान गयी और 12,352 व्यक्ति घायल हुए।

1993 में महाराष्ट्र, बगाल और अन्य राज्यों में साम्प्रदायिक दगों के बाद तीन वर्ष तक कोई गम्भीर दगे नही हुए, लेकिन मई 1996 में कलकत्ता में पुन पुलिस आज्ञा के तोडने के प्रकरण में दगे हुए जो मुहर्रम जलूस को एक विशेष रास्ते पर ले जाने पर हुए थे। यह पता लगा कि दगे अचानक नही हुए बल्कि नियोजित थे और राजनैतिक दुश्मनी की पृष्ठभूमि में हुए। साम्प्रदायिक हिसा फैलाने में भूमि निर्माण माफियाओं और तस्करों की प्रमुख भूमिका रही। इस प्रकार समय समय पर विभिन्न राज्यों में साम्प्रदायिक दगों की पुनरावृत्ति आज भी इगित करती है कि जब तक राजनैतिक नेता व धर्मान्ध लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु साम्प्रदायिकता को एक शक्तिशाली साधन के रूप में प्रयोग करते रहेंगे या जब तक धर्म का राजनीतिकरण होता रहेगा, तब तक हमारा देश साम्प्रदायिक तनाव की ज्वाला में दहकता रहेगा।

साम्प्रदायिक हिंसा के कारण (Causes of Communal Violence)

विभिन्न विद्वानों ने साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में, विभिन्न कारण बताते हुए और इसका मुकाबला करने के लिए विभिन्न उपाय सुझाते हुए, विचार किया है। मार्क्सवादी सम्प्रदाय, सम्प्रदायवाद को आर्थिक वचना से सम्बद्ध करते हुए बाजार की शक्तियों पर नियत्रण एव एकाधिकार प्राप्त करने के लिए सम्पन्न (haves) और विपन्न (have nots) के बीच वर्ग सघर्ष कहता है। राजनीति वैज्ञानिक इसको शक्ति सघर्ष (power struggle) कहकर पुकारते हैं। समाजशास्त्री इसे सामाजिक तनाव तथा तत्सम्बन्धित वचनाओं की घटना मानते हैं। धार्मिक विशेषज्ञ हिंसक कट्टरवादियों एव अन्यानुगामियों (conformists) का मुकुट मानते हैं।

साम्प्रदायिकता के वर्ग विश्लेषण के लिए ध्यान आवश्यक है। व्याख्या यह है कि आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक स्थितियाँ समाज में कभी-कभी लोगों के लिए ऐसे सकट एव समस्याएँ पैदा कर देते हैं कि यद्यपि वे इन्हें अपनी गिरफ्त में लेने का प्रयत्न करते हैं लेकिन वे असफल रहते हैं। इस असफलता के सही कारणों को समझने के प्रयत्न के बिना वे अन्य समुदाय को (वाणिज्य रूप से उनसे अधिक शक्तिशाली) अपनी परेशानियों का कारण समझते हैं जो कि विकृत रूप से उत्पन्न होता है और दर्शाया जाता है।

स्वाधीनता के बाद यद्यपि हमारी सरकार ने 'समाजवादी' अर्थव्यवस्था को अपनाने का दावा किया फिर भी व्यवहार में, आर्थिक विकास पूँजीवादी स्वरूप पर आधारित था। इस स्वरूप में एक ओर तो विकास उस दर से नहीं हुआ जिससे बेरोजगारी, गरीबी, और असुरक्षा का समाधान होता जिससे कुण्ठा, छोटी-छोटी नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा तथा अन्य आर्थिक अवसरों से बचाव होता और दूसरी ओर पूजीवादी विकास ने समाज के कुछ स्तरों के लिए ही समृद्धि पैदा की है जिसने तीव्र असमानता, नव सामाजिक तनावों और सामाजिक चिन्ताओं को जन्म दिया है। वे जिनको लाभ मिला है, उनकी आकाक्षाए और ऊँची उडान पर हैं। वे अपने नव प्राप्त समृद्धि से भयभीत भी हैं। उनकी यह सापेक्ष समृद्धि उन लोगों में सामाजिक ईर्ष्या उत्पन्न करती है जो विकास करने में असफल हैं या शक्ति और सम्मान में कम हैं। धार्मिक अल्पसख्यकों की समस्याओं के समाधान के सरकारी प्रयत्न समुदाय के उन सम्पन्न लोगों की भावनाओं को भडकाते हैं जो सख्या बल से बहुसख्यक हैं और जिन्होंने साँठगाँठ से आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर ली है। वे महसूस करते हैं कि अल्पसख्यक समुदाय के सामाजिक पैमाने में कोई भी वृद्धि उनके सामाजिक प्रभुत्व को खतरा पैदा कर देगी। इस प्रकार दोनों समुदाय शत्रुता एव सदेह भाव से पीडित रहते हैं और साम्प्रदायिकता का पोषण होता रहता है। विशेष रूप से यह (साम्प्रदायिकता) शहरी निर्धनों और ग्रामीण बेरोजगारों को तुरन्त प्रभावित करती है जिनकी सख्या में असन्तुलित (lop sided) आर्थिक एव सामाजिक विकास तथा बडी सख्या में नगरों की ओर प्रव्रजन के फलस्वरूप तेजी से वृद्धि हुई है। इन आधार विहीन एव कुण्ठित लोगों का क्रोध अक्सर अचानक हिंसा में बदल जाता है जब कभी इन्हें अवसर मिलता है। साम्प्रदायिक दगे इसके लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं। लेकिन इस आर्थिक विश्लेषण को कई विद्वानों ने निष्पक्ष नहीं माना है।

क्या धर्म साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी है ? ऐसे विद्वान हैं जो यह विश्वास नहीं

करते कि धर्म की इसमें कोई भूमिका नही है। बिपन चन्द्र, (1984) उदाहरण के लिए, मानते हैं कि साम्प्रदायिकता न तो धर्म से प्रेरित होती है और न ही धर्म साम्प्रदायिक राजनीति की वस्तु है, फिर भी साम्प्रदायिक व्यक्ति अपनी राजनीति धर्म भेद पर आधारित करता है, धार्मिक पहचान को सगठन सिद्धान्त के रूप में प्रयोग करता है और साम्प्रदायिकता के सामूहिक दौर में लोगों को गतिशील बनाने में धर्म का प्रयोग करता है। धर्म-भेद, गैर धार्मिक सामाजिक आवश्यकताओं, आकाक्षाओं और सघर्षों को ढंकने के काम में लाया जाता है। धार्मिकता, अर्थात् "व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक धर्म का प्रभाव" या व्यक्तिगत विश्वासों के परे अन्य क्षेत्रों में धर्म का अधिक हस्तक्षेप धार्मिक विचारधारा और राजनीति की ग्राह्यता (receptivity) को पैदा करती है। साथ ही, धार्मिक सुधार-विरोध (obscurantism), सकीर्णता, और हठधर्मिता उन लोगों को विभाजित करने का काम करती है जिन्हें जीवन और इतिहास ने साथ साथ लाकर खडा कर दिया है। इस अर्थ में विभिन्न धर्मों की सरचना, सस्कार विधि और वैचारिक प्रथाओं में विभिन्न तत्व होते हैं जो विभिन्न तरीकों से साम्प्रदायिकता से सम्बद्ध होते हैं। उनका विश्लेषण और लोप का विभिन्न धर्मों में वर्णन किया जाना है।

कुछ विद्वानों ने बहु-कारकीय दृष्टिकोण रखा है जिसमें वे कई कारकों को एक साथ महत्व देते हैं। साम्प्रदायिकता की विचारधारा में दस कारकों को पहचाना गया है (सरोलिया, 1987 82)। ये हैं सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, वैधानिक, मनोवैज्ञानिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक, स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय। *सामाजिक* कारकों में सामाजिक परम्पराए, धार्मिक समुदायों की रूढ छवि, वर्ग और जातीय अह या असमानता और धर्म आधारित सामाजिक स्तरीकरण शामिल हैं, *धार्मिक* कारणों में सहिष्णुता के धार्मिक प्रतिमानों और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में गिरावट, सकीर्ण और मताग्रही (dogmatic) धार्मिक विश्वास, राजनैतिक उपलब्धियो के लिए धर्म का प्रयोग और धार्मिक नेताओं की साम्प्रदायिक विचारधारा शामिल है, *राजनैतिक* कारकों में धर्म आधारित राजनीति, धर्म के प्रभुत्व वाले राजनैतिक सगठन, धार्मिक विचारों के साथ चुनाव प्रचार, धार्मिक मामलों में राजनैतिक हस्तक्षेप, अपने स्वार्थ के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा आन्दोलनों को प्रेरणा एव समर्थन, साम्प्रदायिक हिंसा का राजनैतिक औचित्य तथा धार्मिक भावनाओं को रोकने में राजनैतिक नेतृत्व की असफलता शामिल है, *आर्थिक* कारकों में धार्मिक अल्पसख्यक समुदायों का आर्थिक शोषण एव भेदभाव, उनका असन्तुलित विकास, प्रतिस्पर्धी बाजार में अपर्याप्त अवसर, गैर विस्तारीय अर्थव्यवस्था, अल्पसख्यक धार्मिक समूहों के मजदूरों का विस्थापन और रोजगार की व्यवस्था करना तथा धार्मिक सघर्षों को भडकाने में खाडी के देशों की आर्थिक मदद शामिल है, *वैधानिक* कारकों में समान नागरिक सहिता का अभाव, सविधान में कुछ समुदायों के लिए कुछ रियायतें और विशेष प्रावधान, कुछ राज्यों को विशेष दर्जा, आरक्षण नीति तथा विभिन्न समुदायों के लिए विशेष कानून शामिल हैं, *मनोवैज्ञानिक* कारकों में सामाजिक पूर्वाग्रह, रूढ दृष्टिकोण, अविश्वास, अन्य समुदायों के लिए शत्रुता तथा उदासीनता, अफवाह, भय की भावना, तथा जन सचार द्वारा प्रदत्त गलत सूचनाए/गलत अर्थ व्यवस्था/ गलत प्रतिनिधित्व शामिल हैं, *प्रशासनिक* कारकों में पुलिस तथा अन्य प्रशासनिक इकाइयों के बीच समन्वय की कमी, खराब उपकरण तथा खराब प्रशिक्षित पुलिस कर्मी, पुलिस

ज्यादतियाँ और निष्क्रियता शामिल हैं, *ऐतिहासिक* कारणों में विदेशी आक्रमण, धार्मिक संस्थाओं को हानि, धर्मान्तरण के प्रयत्न, औपनिवेशिक शासकों की "बाँटों और राज्य करो" की नीति, विभाजन की पीडा, विगत साम्प्रदायिक दगे, जमीनों, मन्दिरों और मस्जिदों के पुराने विवाद शामिल हैं, *स्थानीय* कारकों में धार्मिक जुलूस, नारेबाजी, अफवाहें, भूमि विवाद, स्थानीय अ-सामाजिक तत्व और समूह विद्वेष शामिल हैं , *अन्तर्राष्ट्रीय* कारकों में अन्य देशों से प्रशिक्षण और आर्थिक मदद, भारत को कमजोर करने और तोडने के अन्य देशों के कार्य तथा साम्प्रदायिक सगठनों को समर्थन शामिल हैं।

इन दृष्टिकोणों के अलावा, साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या को समझने के लिए हमें समष्टिवादी (holistic) दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यह दृष्टिकोण विविध कारकों पर बल देता है तथा प्रमुख (major) कारकों को गौण (minor) कारकों से अलग करता है। इन कारकों को हम चार उप-समूहों में विभाजित कर सकते हैं अत्यधिक स्पष्ट (conspicuous), प्रमुख सहयोग करने वाले, थोडे भडकाऊ (minor aggravating), और स्पष्ट रूप से सहयोग न करने वाले। विशिष्ट रूप से ये कारक हैं साम्प्रदायिक राजनीति तथा राजनीतिज्ञों का कट्टरपंथियों (fanatics) को समर्थन, पूर्वाग्रह (जो भेदभाव, उपेक्षा, शारीरिक आक्रमण और बहिष्कार पैदा करते हैं), साम्प्रदायिक सगठनों का विकास, एवं धर्मान्तरण (conversion and proselytisation)। मोटे तोर पर धर्मान्धता, अ-सामाजिक तत्वों तथा आर्थिक हितों पर ध्यान दिया जा सकता है जिनका विरोधी समुदायों में हिंसा फैलाने में बडा हाथ रहता है।

मेरी अपनी शोध धारणा यह है कि साम्प्रदायिक हिंसा धर्मान्धों द्वारा भडकाई (instigate) जाती है, असामाजिक तत्वों द्वारा प्रेरित (initiate) की जाती है, राजनैतिक सक्रियतावादियों (activists) द्वारा समर्थित होती है, निहित स्वार्थ हितों वाले व्यक्तियों द्वारा वित्तीय सहायता दी जाती है, और पुलिस तथा प्रशासकों की निष्क्रियता से फैलती है। ये कारक तो साम्प्रदायिक हिंसा के सीधे कारण हैं, परन्तु वह कारक जो हिंसा फैलाने में सहायक होता है वह है किसी विशेष नगर का पर्यावरणीय नियोजन (ecological layout) जो दगाइयों को बिना दण्ड के बच निकलने में सहायक होता है। मध्य भारत में, गुजरात में बडौदा और अहमदाबाद के दगे, उत्तर प्रदेश में मेरठ, अलीगढ और मुरादाबाद के दगे, बिहार में जमशेदपुर और उत्तर भारत में कश्मीर में श्रीनगर के दगे, दक्षिण भारत में हैदराबाद और केरल के दगे, पूर्वी भारत में असम के दगे मेरे शोध की पुष्टि करते हैं।

साम्प्रदायिक हिंसा पर समष्टिपरक (holistic) दृष्टिकोण के लिए कुछ कारकों की व्याख्या करना आवश्यक है। इनमें से एक है मुसलमानों में भेदभाव की तर्क विहीन भावना। 1998 तक आईएएस (IAS) में मुसलमानों का प्रतिशत 2.9, आईपीएस (IPS) में 2.8, बैंकों में 2.2, और न्यायिक सेवाओं में 6.2 था। अत मुसलमान ऐसा अनुभव करते हैं कि इन सभी क्षेत्रों में उनके साथ भेदभाव किया जाता है तथा उन्हें उचित अवसर प्रदान नहीं किए जाते। सत्य यह है कि मुसलमानों की सख्या, जो इन सेवाओं के लिए प्रतियोगी होते हैं, बहुत कम है। मुसलमानों में व्याप्त भेदभाव की भावना हास्यास्पद और तर्क विहीन है।

दूसरा कारक है खाडी तथा अन्य देशों से भारत में धन का प्रवाह। काफी मुसलमान खाडी देशों में अच्छी आमदनी तथा सम्पन्नता प्राप्त करने के लिये जाते हैं। ये मुसलमान

और स्थानीय शेख लोग मस्जिदें बनवाने, मदरसे खुलवाने तथा दान से चलने वाले मुस्लिम सस्थाओं को चलाने के लिए धन भेजते हैं। इस प्रकार यह माना जाता है कि यह धन मुस्लिम कट्टरवाद को सहायता के लिये होता है। पाकिस्तान एक ऐसा देश है जहां के शासकों में सदैव से भारत के प्रति शत्रुता भाव रहा है। नवाब शरीफ के बाद मुशरफ सरकार की अवधि में तो यह और बढ गया है। इस देश का शक्तिशाली अभिजात वर्ग भारत में सदैव अस्थिरता पैदा करने में लगा रहता है। कारगिल युद्ध के बाद अब यह स्थापित हो चुका है कि पाकिस्तान प्रशिक्षण एव सैन्य शस्त्र देकर मुसलमान आतंकवादियों को सक्रिय रूप से समर्थन देता रहा है (जम्मू कश्मीर और पजाब के)। पाकिस्तान तथा अन्य सरकारों के इस प्रकार के अस्थिरता पैदा करने वाले प्रयत्नों ने हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति दुर्भावना और सन्देह पैदा कर दिया है। यही बात हिन्दू उग्रवादियों तथा हिन्दू सगठनों के विषय में भी कही जा सकती है जो मुसलमानों और मुस्लिम सगठनों के विरुद्ध शत्रुता भाव भडकाते हैं। इस प्रकार के प्रकरण, जैसे अयोध्या में राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद, मथुरा में कृष्ण जन्म भूमि तथा पास में स्थित मस्जिद परिवर्तन का झगडा, वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर तथा निकट की मस्जिद का विवाद, सम्भल (Sambhal) में मस्जिद विवाद जिसमें भगवान शिव का मन्दिर होने के दावा किया जाता है जो कि पृथ्वीराज चौहान के शासन काल से था, और इस प्रकार की घटनाएँ जिसमें एक मुस्लिम नेता द्वारा गणतंत्र दिवस पर मुस्लिमों से शामिल न होने की अपील की गई थी और 26 जनवरी (1987) को 'काला दिवस' के रूप में मनाने को कहा गया था, इन सभी ने दोनों समुदायों के बीच दुर्भावना में वृद्धि की है।

जनसचार (mass media) भी कभी-कभी अपने तरीके से साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने में योगदान करते हैं। कई बार समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार सुने हुए, अफवाहों या गलत अर्थों पर आधारित होते हैं। ऐसे सामाचार आग में घी का काम करते हैं और साम्प्रदायिक तनाव को हवा देते हैं। 1969 में अहमदाबाद में यही हुआ जब कि 'सेवक' पत्र में कहा गया कि मुसलमानों द्वारा अनेक हिन्दु स्त्रियों के वस्त्र उतारे गए और उनका बलात्कार किया गया। यद्यपि इस समाचार का खण्डन अगले दिन ही कर दिया गया था लेकिन तोड-फोड तो हो चुकी थी। इससे हिन्दुओं की भावनाए भडक उठीं और साम्प्रदायिक दगे शुरु हो गए।

एक और प्रकरण जो हाल में ही वर्षों से हिन्दू और मुसलमानों को आन्दोलित किए हुए है वह है 'मुस्लिम व्यक्तिगत कानून' (Muslim Personal Law)। शाहबानो के पक्ष में उच्चतम न्यायालय के निर्णय के साथ तथा 1995 अप्रैल में न्यायालय द्वारा सरकार को समान नागरिक सहिता कानून को लागू करने की सलाह के साथ ही, मुसलमान लोग डरने लगे हैं कि उनके व्यक्तिगत कानून में हस्तक्षेप किया जा रहा है। राजनीतिज्ञ भी अपने को सत्ता में बनाए रखने के लिए ऐसी स्थितियों का फायदा उठाते हैं। भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दू परिषद, शिवा सेना व राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ऐसे सगठन हैं जो हिन्दुत्व के अग्रणी होने का दावा करते हैं। इसी प्रकार, मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी, जमायत-उले-मा हिन्द, मजलिस ए इत्तेहादुल मुसलमीन, मजलिस ए-मुशाव्विरात, आदि मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को भडकाते हुए मुसलमानों को अपना वोट बैंक मानकर

प्रयोग करते हैं। जम्मू कश्मीर, आन्ध्र प्रदेश, केरल, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र और बिहार में साम्प्रदायिक राजनीति इसी व्यवहार के उदाहरण हैं। राजनीतिज्ञ अपने भडकाऊ भाषणों, लेखों तथा प्रचार द्वारा सामाजिक वातावरण को साम्प्रदायिक भावनाओं से भर देते हैं। वे मुसलमानों के मस्तिष्क में अविश्वास के बीज बो देते हैं, जबकि हिन्दुओं को विश्वास है कि उन्हें आर्थिक, सामाजिक व सास्कृतिक क्षेत्रों में मुसलमानों को असाधारण रियायतें देने के लिए बाध्य किया जाता है। वे दोनों समुदायों के गहरे धार्मिक परम्पराओं का भी फायदा उठाते हैं और दोनों की प्रथाओं तथा सस्कारों को प्रकाशित करते हैं। नेता लोग लोगों के मन में भय और सन्देह भरने के लिए आर्थिक तर्क भी देते हैं और अपने अनुयायियों को थोडे से भी भडकावे पर दगे करने के लिए तैयार करते हैं। भिवण्डी, मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद, अलीगढ और हैदराबाद में यही हुआ था। सामाजिक कारक, जैसे अधिकतर मुसलमानों का परिवार नियोजन विधियों को अपनाने से मना करना भी हिन्दुओं में सन्देह और बुरी भावनाए पैदा कर देते हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक हिन्दू सगठन द्वारा महाराष्ट्र के शोलापुर और पूना में इस आशय के पर्चे बॉटे गए जिनमें मुसलमानों की आलोचना करते हुए कहा गया के वे परिवार नियोजन नही अपनाते और बहु पत्नी प्रथा अपनाते हैं ताकि अपनी जनसख्या में वृद्धि कर सकें और भारत में मुस्लिम सरकार बना सकें। यह दर्शाता है कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व प्रशासनिक कारकों का समन्वय किस प्रकार स्थिति को बिगाडते हैं जिससे साम्प्रदायिक दगे होते हैं।

साम्प्रदायिक हिंसा के सिद्धान्त (Theories of Communal Violence)

साम्प्रदायिक हिंसा सामूहिक हिंसा होती है। जब एक सम्प्रदाय में अधिकतर सख्या में लोग अपने सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल रहते हैं या ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें समान अवसरों से वचित रखा जा रहा है और उनके साथ भेदभाव किया जा रहा है, तब वे कुण्ठा और भ्रमग्रस्त हो जाते हैं और यह सामूहिक कुण्ठा (फेराबेण्डस और नेसवोल्ड ने जिसे 'व्यवस्थित कुण्ठा' (systematic frustration) कहा है) सामूहिक हिसा पैदा करती है। परन्तु समूचा समुदाय हिंसात्मक विरोध नही चलाता। वास्तव में, सत्ता समूह के विरोध में असन्तुष्ट लोगों द्वारा उठाया जाने वाला कदम या शक्तिशाली अभिजात वर्ग (जिनके तरीकों के खिलाफ वे विरोध करते हैं) बहुधा अहिसक होता है। विरोधियों का छोटा सा समूह ही ऐसा होता है जो अपने सघर्ष की सफलता के लिए अहिंसा को व्यर्थ और हिंसा को आवश्यक समझता है और जो अपनी विचारधारा की शक्ति को सही मनवाने के लिए प्रत्येक अवसर का लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। यह उप-समूह हिंसात्मक व्यवहार में लिप्त होकर समूचे समुदाय का प्रतिनिधित्व नही करता और न असतुष्ट लोगों के कुल समूह के विचारों को प्रस्तुत करता है। इस उप समूह का व्यवहार का अधिकतर, शेष समुदाय द्वारा समर्थन नही किया जाता। इस प्रकार, मेरी मान्यता पुराने मैल सिद्धान्त (Riff-Raff Theory) से मिलती है जिसके अनुसार अधिकतर लोग उप समूह द्वारा हिंसात्मक व्यवहार को 'गैर जिम्मेदार' व्यवहार कह कर उसका विरोध करते हैं।

प्रश्न यह है कि कौन सा कारण 'व्यक्तियों के समूह' को हिंसात्मक बना देता है ? सामूहिक हिंसा पर दो महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक पक्ष हैं · (i) यह उकसाये जाने के बाद सामान्य

प्रतिक्रिया होती है (ii) यह ऐसी प्रतिक्रिया है जो इसके प्रयोग का समर्थन करने वाले प्रतिमानों से युक्त होती है। इससे कुछ महत्वपूर्ण विद्यमान सिद्धान्तों का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों (psycho-pathological) को छोड कर (क्योंकि वे आक्रान्ता (aggressor) की मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व की विशेषताओं तथा वैकारिक व्यवस्थाओं को हिंसा के मुख्य निर्धारक मानते हैं (और मैं इन्हें वैयक्तिक हिंसा की व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण मानता हूँ, न कि सामूहिक हिंसा के लिए), अन्य सिद्धान्तों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है (a) सामाजिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के स्तर पर और (b) सामाजिक सांस्कृतिक या समाजशास्त्रीय विश्लेषण के स्तर पर। प्रथम समूह में कुण्ठा-आक्रमण सिद्धान्त (frustration-aggression), निरोधक सिद्धान्त (prevention), प्रेरणा प्रदत्त सिद्धान्त (motive-attribution), और स्व-अभिवृत्ति (self-attitude) आदि जैसे सिद्धान्त सम्मिलित हैं, जब कि दूसरे समूह में, सामाजिक तनाव (social tension) सिद्धान्त व्याधिकी सिद्धान्त (anomie), हिंसा की उप संस्कृति का सिद्धान्त (theory of sub-culture of violence) तथा सामाजिक सीखने का सिद्धान्त (social learning theory) आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। मेरी मान्यता है कि ये सभी सिद्धान्त साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान सामूहिक हिंसा की घटना की व्याख्या करने में असफल हैं। मेरा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण (जिसे सामाजिक बाधाओं का सिद्धान्त कहा जाता है) सामाजिक संरचनात्मक स्थितियों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर केन्द्रित है।

सामाजिक बाधाओं का सिद्धान्त (Social Barriers Theory)

साम्प्रदायिक हिंसा को पैदा करने वाली दशाएँ हैं खिंचाव (stress), प्रस्थिति संबंधी कुण्ठा (status frustration), और अनेक प्रकार के संकट (crises)। मेरा विचार है कि आक्रान्ता (aggressors) हिंसा का प्रयोग इस कारण करते हैं क्योंकि वे असुरक्षा और चिन्ता से पीडित रहते हैं। किसी व्यक्ति में इन (असुरक्षा सम्बन्धी) भावनाओं का जन्म व चिन्ता का भाव उन सामाजिक बाधाओं में देखा जा सकता है जो अत्याचारी (oppressive) सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा, सत्ता अभिजात द्वारा, तथा व्यक्ति की उस पृष्ठभूमि व पालन पोषण के, तीनों के कारण पैदा होती हैं और जो सामाजिक प्रतिमानों और सामाजिक संस्थाओं के प्रति अयथार्थ एवं अविवेकी अभिवृत्तियों को भडकाने में मदद करती हैं। मेरा सिद्धान्त भी 'आक्रान्ता' के व्यवहार में तीन कारकों को बताता है समायोजन (प्रस्थिति में), लगाव (attachment) (समुदाय के प्रति) और प्रतिबद्धता (मूल्यों के प्रति) और साथ ही सामाजिक पर्यावरण (जिसमें व्यक्ति/आक्रान्ता रहते हैं) एवं व्यक्तियों (आक्रान्ताओं) के सामाजीकृत (socialised) व्यक्तित्व। इस प्रकार मेरा सैद्धान्तिक प्रतिरूप (मॉडल) सामाजिक व्यवस्था, आक्रान्ता की व्यक्तित्व संरचना, तथा उस समाज की उप-संस्कृतीय प्रतिमान (sub-cultural patterns) जिसमें व्यक्ति हिंसा का प्रयोग करते हैं। सामाजिक व्यवस्था में मैं खिंचाव (strains) व कुण्ठाओं को सम्मिलित करता हूँ जो समाज में सामाजिक ढाँचों की कार्य प्रणाली का फल होते हैं, व्यक्तित्व ढाँचे में मैं समायोजन, लगाव तथा आक्रान्ताओं की प्रतिबद्धता शामिल करता हूँ, और उप संस्कृतीय प्रतिमानों में मैं उन मूल्यों को सम्मिलित

करता हूँ जो सामाजिक नियंत्रण के रूप में कार्य करते हैं।

मेरी धारणा है कि व्यक्तियों का कुसमायोजन, अलगाव तथा अप्रतिबद्धता उनमें सापेक्ष वचना (relative deprivation) की भावना को, पैदा करता है। सापेक्ष वचना समूह के सदस्यों अपेक्षाओं (expectations) और उनकी क्षमताओं (capabilities) के बीच विदित विसंगति (perceived discrepancy) है (अथवा जीवन की वे दशाएँ हैं जो व्यक्ति/समूह प्राप्त करने के योग्य समझते हैं, यदि उन्हें विधि सम्मत साधन और अवसर प्रदान किए जायें)। यहा 'विदित' शब्द (समूह के सदस्यों द्वारा) महत्त्वपूर्ण है, इसलिए व्यवहार में भिन्नता या सापेक्ष वचनाएँ सदैव हिंसात्मक व्यवहार को जन्म नही देती।

समूह में सापेक्ष वचन तब पैदा होती है जब (i) अपेक्षाएँ तो बढ जाती हैं परन्तु क्षमताएँ वैसी ही रहती हैं या कम हो जाती हैं, या (ii) जब अपेक्षाएँ उतनी ही रहती हैं परन्तु क्षमताएँ कम हो जाती हैं। अपेक्षाएँ और क्षमताएँ दोनों ही क्योंकि अनुभूति (perception) पर निर्भर होती हैं, समूह के मूल्यों का प्रभाव निम्न तत्वों पर पडता है (a) समूह किस प्रकार वचनाओं को समझेगा, (b) लक्ष्य (target) जिस पर सापेक्ष वचना केंद्रित होगी, और (c) वह रूप जिसमें वचना अभिव्यक्त की जायेगी। क्योंकि प्रत्येक समूह/व्यक्ति विभिन्न बलों (forces) से प्रभावित होता है, प्रत्येक समूह/व्यक्ति हिंसा के मामले में भिन्न प्रतिक्रिया करेगा या भिन्न प्रकार से सामूहिक साम्प्रदायिक हिंसा में भागीदारी करेगा।

सामाजिक बाधाओं का सिद्धान्त आवश्यक रूप से हिसा का अभिजातीय सिद्धान्त (elitist theory of violence) नही है जिसके अनुसार एक छोटा समूह, (वैचारिक रूप से श्रेष्ठ), हिंसा फैलाने की पहल करता है तथा उस सम्पूर्ण कुण्ठित समूह के हित के लिए हिसा का प्रयोग करने का निश्चय करता है जिसके लिए यह अपना विरोध प्रकट करता है। साथ ही छोटा समूह कुण्ठित जन के विस्तृत सामूहिक कृत्य पर निर्भर नही करता। इस सन्दर्भ में मेरी व्याख्या रूढिगत मार्क्सवादी सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि मार्क्स इस प्रकार के आन्दोलन एव जन क्रान्ति को मान्यता नही देता।

ध्रुवीकरण सिद्धान्त और क्लस्टर का प्रभाव
(Theory of Polarisation and Cluster Effect)

हाल ही में भारत में अन्तरसामुदायिक (inter-community) और अन्तर्सामुदायिक (intra-community) हिंसा की व्याख्या करने के लिए अवधारणात्मक प्रतिरूप (मॉडल) विकसित किया गया है (वी वी सिंह, 1990)। यह प्रतिरूप तीन अवधारणाओं पर आधारित है—ध्रुवीयता (polarity), अनुभेदन (दरार) (cleavage) और क्लस्टर (जमघट) (cluster)। यह प्रतिरूप दगा पूर्व (pre-riot), दगों के दौरान, और दगों के बाद की स्थिति में तथ्यों के आधार पर तैयार किया गया है तथा भिन्न भिन्न सामाजिक समूहों, जो एक दूसरे से शत्रु भाव रखते हैं (polarity), के व्यवहार का विश्लेषण भी करता है। क्योंकि साम्प्रदायिक अव्यवस्थाओं (दगों) में दो शत्रु भाव वाले सामाजिक समूह लिप्त होते हैं, इसलिए इस शत्रुता भाव (मन और मस्तिष्क की स्थिति) सरचनात्मक समानता व पूर्वाग्रहों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण आवश्यक है।

अकेला व्यक्ति कमजोर व असुरक्षित होता है। परन्तु समूहों और सभाओं में शक्ति होती है। व्यक्ति अपने लाभ एव सुरक्षा के लिए समूहों से जुडता है। समाज में सदैव ही विविध ध्रुवताए होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ध्रुवताए दो प्रकार की होती हैं स्थाई और अस्थाई। प्रथम श्रेणी में विचारधारा, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र और लिंग आते हैं। इन ध्रुवीय भिन्नताओं में व्यक्ति की मूल पहचान होती है जो व्यक्ति के साथ अन्त तक रहती है। दूसरी श्रेणी में व्यवसाय, पेशा, एव स्वार्थों पर आधारित कार्य आते हैं। यद्यपि ध्रुवीय भिन्नताएँ सामान्यतया परस्पर एकान्तिक (mutually exclusive) नही होतीं, परन्तु वे तब एकान्तिक हो जाती हैं जब समाज अनुभेदन (cleavages) की प्रक्रिया से गुजरता है जो कि विदित अन्तर (perceived differnence) और ध्रुवीयन के फलस्वरूप जनसख्या विभाजन के कारण होता है। जब आमजन (masses) सामान्य रूप से एक ध्रुवीयन (polarity) के प्रति निकटता दर्शाते हैं, तो यह ध्रुवीयन विशेष स्थान, समय व जनसख्या के लिए प्रभावी ध्रुवीयन हो जाता है। यह प्रभावी (dominating) ध्रुवीयन जनसख्या के अतर्बाधा उत्पन्न करने वाले स्वरूप को स्थापित कर देता है (जमावडा निर्माण), अर्थात् ध्रुवीयन आधारित क्लस्टर जनसख्या के जीवन स्वरूप को निर्धारित करते हैं। पुराने शहरों व कस्बों में इस प्रकार के क्लस्टर (जमघट) धर्म, जाति, पन्थ पर आधारित होते हैं, लेकिन आधुनिक शहरों में ये अधिकतर वर्ग आधारित होते हैं, जब इस प्रकार का जमावडा दो ध्रुवों के कारण शुरु हो जाता है (धर्म या धार्मिक पन्थ का) तभी सघर्ष होता है। क्लस्टर में रहने की सामाजिक गतिशीलता यह है कि यह दगे वाली स्थिति पैदा करने में सहायक सिद्ध होते हैं क्योंकि अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध कम होने लगते हैं और ऐसे आवेशात्मक तथ्य पैदा कर देते हैं जिन्हें जानबूझ कर एक दूसरे के प्रति किया जाने वाला अपमान, प्रवचना, या चोट समझा जाता है। ये घटनाए भौतिक निकटता के कारण समूह में रहने वाले लोगों को अधिक प्रभावित करती हैं। इससे लोगों को अपनी ही जनसख्या वाले क्षेत्रों में सम्पर्क बढाने की प्रेरणा मिलती है और यह जन द्रोह (mass insurrection) के लिए उपयुक्त होता है।

नेताओं द्वारा किया जाने वाला साम्प्रदायिक आह्वान भी ध्रुवीयन की प्रक्रिया में वृद्धि करता है। उदाहरणार्थ, 1982 में मेरठ शहर मे मुसलमानों के लिए शाही इमाम बुखारी के भडकाऊ भाषण ने हिन्दुओं को मुसलमानों के विरोध में अपने हितों की रक्षार्थ बडी प्रतिक्रिया प्रज्वलित कर दी जिसका फल हुआ शहर मे साम्प्रदायिक दगे। उन्होंने अप्रैल 1988 में कश्मीर में अनन्तनाग में इसी प्रकार का एक भडकाऊ भाषण दिया था और कश्मीरी मुसलमानों को यह कह कर उकसाया था कि विभाजन के बाद से ही उन्हें गुलाम बना दिया गया है। उन्होने यह भी कहा कि केन्द्र सरकार ने उनके लिए अच्छी आर्थिक स्थितिया नहीं बनाई हैं, उन्हें उनके अधिकारों से वचित रखा गया है और उनकी समस्याओं की ओर ध्यान नही दिया गया है। ऐसे ही भाषण धर्म के नाम पर लोगों को भडकाते हैं जो फिर साम्प्रदायिक हिसा पैदा करते हैं।

ध्रुवीयन प्रभुत्व (polarity dominance) की प्रकृति पाँच कारकों पर निर्भर है : (1) समय और स्थान (अर्थात् अवधि, क्षेत्र, स्थिति और भौगोलिक सीमाएँ), (2) सामाजिक ढाँचा, (अर्थात् जाति, समुदाय और सामाजिक समूह), (3) शिक्षा (अर्थात् हितों के प्रति जागृति), (4) आर्थिक स्वार्थ, और (5) नेतृत्व (अर्थात् भावनात्मक भाषण, वायदे, तथा नेताओं की नीतियाँ)

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर वीवीसिंह ने दगोन्मुख (not prone) (साम्प्रदायिक) सरचना इस प्रकार बताई है (1) द्वि-ध्रुवित (bi-polarity) जनसख्या चिन्हित क्लस्टरों में; (2) निकटता; (3) समान हित तथा परिणामत शत्रुता, (4) ध्रुवीकृत जनसख्या की शक्ति (potency)। यह शक्ति सख्याबल (numerical strength), आर्थिक समृद्धि, अस्त्र-शस्त्र रखने की स्थिति, समन्वय नेतृत्व के प्रकार और क्रियाकलापों (activity) की शक्ति पर आधारित होती है, और (5) जिला पुलिस तथा जन प्रशासन की अक्षमता और प्रशासनिक योग्यता।

साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के उपाय
(Measures to Contain Communal Violence)

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा की चुनौती का सामना करने के उपाय दो प्रकार के हो सकते हैं - लम्बी अवधि और कम अवधि के। लम्बी अवधि के उपाय हैं **प्रथम**, लोगों को साम्प्रदायिकता-विहीन करने की प्रक्रिया विभिन्न स्तरों पर प्रारम्भ करना। ये स्तर निम्न हो सकते हैं उनको यह समझा कर कि साम्प्रदायिक मान्यताएँ झूठी होती हैं, उन्हें साम्प्रदायिकता की राजनैतिक जडों और सामाजिक-आर्थिक जडों के विषय में समझा कर, और उन्हें यह बताकर कि साम्प्रदायिक तत्व जिन तथ्यों को समस्या बताते हैं वे वास्तविक समस्याएँ नही हैं तथा जो उपाय वे बताते हैं वे सही उपाय नही है। (उदाहरण के लिए लोगो को यह बताना कि कश्मीर की समस्या हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की समस्या नही है परन्तु कश्मीरियों के 'पहचान' (identity) की है। आम कश्मीरी पाकिस्तान के साथ जुडना नही चाहते, ये केवल 'स्वाधीनता' चाहते हैं जिससे अपनी एकरुपता को स्थापित रख सके। अत मुख्य मुद्दा *'स्वाधीनता' की प्रकृति का ही है)। दूसरे, राज्य तथा सत्ताधारी राजनैतिक अभिजात वर्ग के* साम्प्रदायिकीकरण (communalisation) को रोकना, क्योंकि इससे साम्प्रदायिक हिंसा के विरुद्ध साम्प्रदायिकता को स्पष्ट या गुप्त समर्थन को बढावा मिलता है। इसमें राज्य नियमित मीडिया भी शामिल है। तीसरे, नागरिक (civil) समाज की साम्प्रदायिकता को रोकना, क्योंकि इससे अधिक साम्प्रदायिक दगों को मदद मिलती है। साम्प्रदायिक विचारों एव विचारधाराओं वाले व्यक्ति सरकार को इस प्रकार से कार्य करने के लिए दबाते हैं कि जो सदैव धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के विरुद्ध होते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य, सत्ता में धर्मनिरपेक्ष पार्टी और धर्मनिरपेक्ष शक्तिशाली अभिजात वर्ग कई बार इन साम्प्रदायिक लोगों के दबाव के सामने झुक जाते हैं। इन जगहों पर बुद्धिजीवी, राजनैतिक पार्टिया और स्वैच्छिक सगठन अत्यधिक प्रभावी हो सकते हैं। चौथे, स्कूलों, कालेजों/विश्वविद्यालयों में मूल्यपरकता पर बल देने वाली शिक्षा पर जोर देना, जो साम्प्रदायिक भावनाओं को रोकने में महत्वपूर्ण है। नव विचारधाराओं पर आधारित शिक्षा युवकों को घृणा की विचारधारा से बचा सकती है। इतिहास की शिक्षा की भूमिका भारतीय सन्दर्भ में विशेष रूप से हानिकारक रही है। इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या विशेष रूप से मध्य युग की, भारत में साम्प्रदायिक विचारधारा का आधार बनी है। शिक्षा सस्थाओं में वैज्ञानिक पद्धति से इतिहास की शिक्षा साम्प्रदायिक के विरुद्ध किसी भी वैचारिक सघर्ष में मूल तत्व होना चाहिए। पॉचवे, मीडिया भी साम्प्रदायिक भावनाओं को रोकने में महत्वपूर्ण व लाभकारी सिद्ध हो सकता है। साम्प्रदायिक प्रेस को बद

किया जा सकता है और साम्प्रदायिक लेखकों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जानी चाहिए। छठे, यह विचारधारा कि आर्थिक विकास, औद्योगीकरण, पूंजीवाद के विकास तथा कामगर वर्ग के विकास से साम्प्रदायिकता स्वत कमजोर हो जायेगी और लोप हो जायेगी अतर्कसगत है। इस प्रकार का वामपन्थी दलों और नक्सलवादियों का आर्थिक अपचयवाद (reductionism) का दृष्टिकोण केवल साम्प्रदायिक जहर में वृद्धि ही करता है। यह सुझाव नही दिया जा रहा है कि हमारे समाज को आधुनिक आर्थिक विकास की आवश्यकता नहीं है। सकेत इस बात की ओर किया जा रहा है कि केवल आर्थिक विकास ही साम्प्रदायिकता को नही रोक सकता। वर्ग सघर्ष साम्प्रदायिकता में वृद्धि नहीं करता बल्कि साम्प्रदायिकता वर्ग एकता को अवश्य रोक्ती है। साम्प्रदायिक हिंसा महाराष्ट्र, पजाब, गुजरात जैसे राज्यों और मुम्बई, अहमदाबाद, जमशेदपुर और कानपुर जैसे शहरों में अधिक है।

साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक दगों को रोकने के लिए कुछ तुरन्त उपाय आवश्यक है। *प्रथम*, शान्ति समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं जिनमें विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लोग सद्भावना और भ्रातृभाव फैलाने के लिए साथ-साथ काम कर सकते हैं और दगा पीडित क्षेत्रों में भय और घृणा का भाव दूर कर सकते हैं। यह न केवल साम्प्रदायिक तनाव समाप्त करने में प्रभावी हो सकता है बल्कि दगों को शुरु होने से भी रोक सकता है। दूसरे, राज्य को साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने के लिए योजना एव नई रणनीति बनानी चाहिए। हाल के ही वर्षों में भारत का अनुभव इस उपयोगिता को सिद्ध करता है। जब कभी मजबूत और धर्मनिरपेक्ष प्रशासन ने कठोर कदम उठाने की धमकी दी है या कठोर कदम उठाए हैं, तब या तो दगे हुए ही नही या कम अवधि तक ही चले। उदाहरणार्थ, कठोर, पुलिस और सेना के हस्तक्षेप से नवम्बर 1984 में कलकत्ता में तथा जनवरी 1994 में मुम्बई में दगों की पुनरावृत्ति पर रोक लग गई। जब अ-सामाजिक तत्व और धर्मान्ध तथा स्वार्थी लोग महसूस करते हैं कि सरकार निष्पक्ष है और पुलिस अपने समस्त ससाधनों के साथ दगों को समाप्त करने हेतु गम्भीर है, तब वे साम्प्रदायिक उन्माद को तुरन्त कम करने लगते हैं। इससे गैर साम्प्रदायिक कानून का क्रियान्वयन करने वाली एजेन्सियों को प्रोत्साहन मिलता है। मुम्बई, अहमदाबाद, भिवन्डी और मेरठ के दगों तथा पजाब में अमृतसर, जलन्धर और लुधियाना की हिंसा के अनुभव दर्शाते हैं कि साम्प्रदायिक रग में रगे अधिकारी साम्प्रदायिक स्थिति को बदतर बना देते हैं। *तीसरे*, मीडिया की भूमिका साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। समाचार पत्र आग में घी डालने का या आग को बुझाने का काम कर सकते हैं। भय और घृणा का वातावरण सुधर सकता है यदि प्रेस, रेडियो, टी वी घटनाओं की जानकारी लोगों की दुखती रगों को दुखाने की बजाय सान्त्वना और शान्ति का वातावरण देने में मदद करे। मीडिया सजीदा ढग से घटनाओं की रिपोर्ट दे सकता है और अफवाहों का खण्डन कर सकता है। विभिन्न धर्मों के मारे गए या घायल हुए व्यक्तियों की सही सख्या की रिपोर्ट देने में मीडिया धैर्य व सावधानी से काम ले सकता है। *अन्त में*, सत्ताधारी सरकार को कट्टर साम्प्रदायिक अयोग्य लोगों के साथ तुरन्त लक्ष्य मानकर कदम उठाना चाहिए और शान्ति व्यवस्था खराब करने के उनके प्रयासों को तोड देना चाहिए। कश्मीर में अलगाववादी, पजाब में उग्रवादी, केरल में आई एम एस (ISS) (अब निषिद्ध) तथा हिन्दू, मुसलमान, सिख साम्प्रदायिकता से सम्बद्ध अन्य कट्टरवादी सगठनों के साथ राज्य को कानून तथा अन्य

ससाधनों द्वारा सख्ती के साथ निपटना है। छोटे असुरक्षित समुदाय सदैव सुरक्षा के लिए या तो सरकार या साम्प्रदायिक पार्टियों की ओर देखते हैं। कश्मीर के पण्डित, मुम्बई, उत्तर प्रदेश, गुजरात व अन्य राज्यों के बेकसूर दगा पीडित लोग तथा बिहार और असम के कट्टरवादियों की हिंसा से पीडित लोग जान माल की सुरक्षा के लिए धर्मनिरपेक्ष भारत की ओर आख लगाए रखते हैं। 1980 तथा 1990 के दो दशक के साम्प्रदायिकवाद ने धर्मनिरपेक्ष राज्य पर यह जिम्मेदारी स्पष्ट रूप से डाल दी है कि वह साम्प्रदायिक तत्वों का सामना करे जिनका मृत्यु के सौदागर के रूप में उदय हुआ है। आज साम्प्रदायिकता आगे की ओर अग्रसरित हो रही है और धर्मनिरपेक्षता पीछे की ओर जा रही है और राज्य अपने बचाव की ओर। ब्लू स्टार ऑपरेशन पश्चात अवधि में राज्य बचाव की ओर था, शाहबानों प्रकरण में पीछे की ओर, तथा 1992 में अयोध्या में मन्दिर मस्जिद प्रकरण पर नवम्बर 1993 में हजरत बल तथा कश्मीर में मई 1995 में चरारे शरीफ प्रकरण में घेरे में आ गई थी। इन सभी स्थितियों में सिख, मुसलमान व हिन्दू साम्प्रदायिक अपने-अपने बचाव में लगे थे। भारत सरकार को हिन्दू, मुस्लिम, सिख साम्प्रदायिकता से राजनैतिक व वैचारिक दोनों स्तरो पर लघु अवधि व लम्बी अवधि के उपायों के साथ सामना करना है। चुनावों और सार्वजनिक मामलों में भी सरकार धर्म आधारित राजनीति के उदय का सामना एक मुख्य कारण के रूप में कर रही है, यद्यपि गत पाँच या छ वर्षों में अनेक राज्यों में चुनाव परिणामो ने सिद्ध कर दिया है कि लोगों ने ऐसी राजनीति को ठुकरा दिया है।

यदि साम्प्रदायिकता के उठते हुए ज्वार को पीछे न धकेला गया तो यह पूरे देश को बहा ले जायेगा। स्वतत्रता से पूर्व, यह कहना सरल था कि साम्प्रदायिक हिंसा अंग्रेजों के 'बाँटो और राज्य करो' का फल था लेकिन अब सत्य जटिल हो गया है। धर्म का राजनीतिकरण और राजनीति का अपराधीकरण हो रहा है। जब तक सभी धार्मिक समुदाय अपने को एक राष्ट्र का अग नही मानते, साम्प्रदायिक दुर्भावना को रोकना कठिन होगा। वह देश जिसे अपनी धर्मनिरपेक्ष नीतियों पर गर्व है उसे उन राजनीतिज्ञों से सतर्क रहना है जो अपने ही धार्मिक समुदाय के लोगों की बात करते हैं। राज्य को उन नौकरशाहों को उद्घाटित करना तथा उन्हें अलग थलग कर देना है जो धर्मनिरपेक्षता को सैद्धान्तिक सम्भावना मानते हैं। पुलिस भी साम्प्रदायिकता के प्रकरण को इस प्रकार से पनपने नही दे सकती जिस प्रकार से यह प्रकरण अब तक पनपता रहा है। साम्प्रदायिक मानसिकता के राजनतिज्ञों को रोकना और उन्हें चुनाव लडने से रोकना, धर्मान्धों धर्म विरोधी भावनाओं को भडकाने के लिए प्रतिरोधिक दण्ड देना, पुलिस विभाग को राजनीतिज्ञों के नियत्रण से बाहर रखना, पुलिस खुफिया तत्र को बलवान बनाना, पुलिस प्रशासन को अधिक सवदेनशील बनाना, पुलिस अधिकारियों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों पर पुन काम करना, उन्हें धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने के योग्य बनाना, और उन्हें अपनी असफलताओं के लिये उत्तरदायी ठहराना, आदि कुछ उपाय साम्प्रदायिक दगों की समस्या को सुलझाने में प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। कुशल पुलिस सगठन, जागरुक पुलिसकर्मी, सुसज्जित एव विशेष प्रशिक्षण प्राप्त पुलिस निश्चय ही सकारात्मक परिणाम देंगे।

सरकार को भी भेदभाव और वचना भाव को समाप्त करने के लिए कदम उठाने चाहिए जो कि वास्तव में हैं ही नही। 1978 की मोरारजी देसाई के प्रधानमत्रित्व काल में

गठित अल्पसख्यक आयोग को मई 1992 में विधि सम्मत सस्था की मान्यता दी गई ताकि इसकी प्रभाविता को बढाया जा सके। इससे पूर्व, यह सस्था दन्त विहीन चीते की तरह काम करती थी क्योंकि कानूनी मान्यता के बिना उपाय सुझाने के अतिरिक्त या सरकार तथा प्रशासन को सलाह देने के अतिरिक्त यह कुछ नही कर सकती थी। आयोग अल्पसख्यकों के हितों की रक्षा के लिए बना, भले ही वे धर्म या भाषा पर आधारित हों। इसके छ सूत्रीय उद्देश्य इस प्रकार हैं

- केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा तथा सविधान में उल्लिखित अल्पसख्यकों के हितों के लिए सरचनाओं की कार्यप्रणाली का मूल्याकन करना।
- अल्प सख्यकों से सम्बन्धित कानूनों के पालन करने के अत्यधिक प्रभावी तरीकों की सिफारिश करना।
- विशेष शिकायतों को देखना।
- अल्प सख्यकों के विरुद्ध भेदभाव से बचने के प्रश्न पर अध्ययन एव शोध करना।
- अल्प सख्यकों के प्रति केन्द्र व राज्य सरकारों की नीतियों का पुनर्मूल्याकन। केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाले कानूनी व कल्याण उपाय सुझाना ।
- अल्प सख्यकों की दशाओं के सम्बन्ध में सूचनाओं के लिए राष्ट्रीय सूचना केन्द्र के रूप मे काम करना।

आयोग की दशा ऐसी थी कि कोई भी इसे गम्भीरता पूर्वक नही लेता था क्योंकि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें दोनों ही इसके सुझावों को मानने के लिए बाध्य नही थे। वर्षों तक अल्प सख्यको की दशा से सम्बन्धित रिपोर्ट पर धूल जमती रही। लेकिन इसकी विधि द्वारा मान्यता इसकी दशा में परिवर्तन करेगी। अब इसकी भूमिका मात्र छान-बीन करने की ही नही रहेगी बल्कि न्यायिक भी होगी। यह अपेक्षा की जाती है कि अधिक शक्ति के साथ आयोग देश में गिरती हुई साम्प्रदायिक स्थिति से निपटने में प्रभावी भूमिका अदा करेगा और धार्मिक अल्प सख्यकों के कल्याण को सुनिश्चित करेगा जो देश की कुल जनसख्या के 17 प्रतिशत हैं।

प्रतीकात्मक भाव दर्शाना काफी नही होगा। यह आवश्यक है कि रोजगार, साक्षरता, तथा प्रत्येक क्षेत्र में उनके लिए यथेष्ट प्रतिनिधित्व दिलाने सम्बन्धित मामलों में धार्मिक अल्प सख्यकों की वास्तविक समस्याओं को देखा जाए। अल्प सख्यक समुदायों के विकास तथा उनकी जन निरक्षरता तथा बेरोजगारी दूर करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है। धर्मनिरपेक्ष सरचनाओं को प्रोत्साहन एव सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उन धार्मिक सस्थाओं पर भारी हमले किए जाने चाहिए जो साम्प्रदायिकता को बढावा देती हैं। सम्प्रदायों के बीच सन्देह को मिटाया जाना चाहिए। आज देश को समान नागरिक सहिता की आवश्यकता है। किसी विशेष समुदाय के लिए विशेष कानून नही होने चाहिए और न ही किसी राज्य के लिए विशेष दर्जा। आरक्षण नीति पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। राजनैतिक जुगाडबाजी (manipulation) से निपटना है। पुलिस कार्यप्रणाली में राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप और गडबडी करने वालों को पकडने से रोकने वालों के साथ सख्ती से निपटा

जाना है। जनमत एव जन जागृति लाने की आवश्यकता है ताकि धर्मनिरपेक्ष मूल्य सही प्रकार चलें।

इन उपायों के साथ ही अन्य उपाय जो सरकार द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा पर नियत्रण के लिए करने चाहिए वे हैं (1) दगा सवेदी क्षेत्रों में धर्मनिरपेक्ष विचारों के पुलिस अधिकारियों की तैनाती, (2) साम्प्रदायिक अपराधों से सम्बन्धित मुकदमें चलाने के लिए विशेष अदालतों का गठन, (3) साम्प्रदायिक दगों से पीडितों के पुनर्वास के लिए सहायता एव आर्थिक मदद तुरन्त उपलब्ध कराई जानी चाहिए। (4) उन लोगों के विरुद्ध कठोर कदम उठाए जायें जो साम्प्रदायिक तनाव उकसाते हैं या उसमें भाग लेते हैं।

इस प्रकार साम्प्रदायिक तनाव कम करने तथा साम्प्रदायिक सद्‌भाव बनाये रखने के लिए बहु आयामी उपायों की आवश्यकता है। हमें न केवल धार्मिक साम्प्रदायिकता से लडना है बल्कि राजनैतिक साम्प्रदायिकता को भी रोकना है जो अधिक गम्भीर और खतरनाक है। भारत में बडी सख्या में मुसलमानों और सिखों को साम्प्रदायिकता से कोई लगाव नही है और यह बात अधिकतर हिन्दू लोगों की भावनाओं के विषय में भी सही है। मुस्लिम और सिख समुदायों के सदस्य इस बात से आश्वस्त हैं कि बढता सम्प्रदायवाद रुक सकता है, यदि राजनीतिज्ञों को अपने स्वार्थों के लिए लोगों की भावनाओ के साथ खिलवाड करने से रोका जा सके। आम मुसलमान धीरे-धीरे राजनीतिज्ञों के शोषक इरादों से परिचित होता जा रहा है। धार्मिक नारेबाजी अब उन्हें अधिक प्रभावित नही करती। अब उसे आर्थिक राहत के लिए सीमाओं के पार से सहायता की इच्छा नही है। वह यहाँ कही अधिक सुरक्षित महसूस करता है।

यदि मुस्लिम व अन्य अल्पसख्यकों को स्वतत्र भारत के समान नागरिक होने की अपेक्षा चुनाव के समय में मूल्यवान खरीदफरोक्त की वस्तु के रूप में समझे जाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है तो उन्हें राष्ट्र के लिए महान प्रयत्नों में भाग लेने के लिए कभी भी प्रोत्साहित नही किया जा सकता। समाज वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को साम्प्रदायिकता की राष्ट्रीय बुराई तथा ऐसे ही अन्य मामलों, जैसे धार्मिक हिंसा, अलगाववाद, पृथकतावाद और आतकवाद को रोकने, में गम्भीर रुचि दिखानी होगी।

धर्म निरपेक्षतावाद और धर्म निरपेक्षीकरण (Secularism and Secularisation)

धर्म निरपेक्षवाद ऐसी विचारधारा/विश्वास है जिसके आधार पर धर्म और धर्म सम्बन्धी विचारों को इह लोक सम्बन्धी मामलों से जानबूझकर दूर रखा जाना चाहिए। यह तटस्थता की बात है। पीटर बर्गर के अनुसार धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज व सस्कृति के विभागों को धार्मिक एव प्रतीकों पर प्रभाव से दूर रखा जाता है।

आधुनिक जीवन की एक विशेषता यह है कि यह गैर धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की विशेषता दर्शाता है, जैसे घटनाओं और व्यवहार की व्याख्या करने के लिये अब अन्धविश्वासों का सहारा कम लिया जाता है। जिस प्रकार आज ससार को देखा जाता है वह मध्ययुगीन व प्राचीन जगत से भिन्न है जिसमें यह समझा जाता था कि "ईश्वर सर्व शक्तिमान है", या कि "प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आत्माओं का हस्तक्षेप होता है," या कि

"व्यक्ति के जीवन में जो कुछ होता है वह पूर्व निर्धारित होता है।" आज, रहस्य और अचम्भों में विश्वास कम हो गया है यद्यपि पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है। तर्क की विजय मिथक और कहानियों की कीमत पर हुई है। यही धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया है।

वेबर धर्मनिरपेक्षीकरण को तर्क सगतीकरण की एक प्रक्रिया मानते हैं। प्रदत्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त सिद्धान्त हैं जो वैज्ञानिक विचारों पर आधारित है, अर्थात् जो तर्क सगत है। इस विचार ने धर्म का महत्व कम कर दिया है। डार्विन, फ्रायड और मार्क्स भी मानव व्यवहार की धार्मिक व्याख्या के स्थान पर वैज्ञानिक व्याख्या में प्रमुख योगदाता रहे हैं।

धर्म पर आधुनिकता का क्या प्रभाव पडा है ? बर्गर इस विचार के हैं कि बढती हुई सामाजिक एव भौगोलिक गतिशीलता तथा आधुनिक सचार व्यवस्था के विकास ने व्यक्ति को धार्मिक प्रभावों की विविधता के समक्ष असहाय बना दिया है। इसलिए उन्होंने एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों को सहन करना सीख लिया है। इसलिए लोग अब नये विचारों और नये परिप्रेक्ष्यों की सस्कृति की खोज के लिए स्वतत्रता का अनुभव करते हैं। भारत में भी हम देखते हैं कि शिक्षित एव आधुनिक्ता की ओर उन्मुख मुसलमान धर्मोन्मुख प्रतिमानों ने परिवर्तन के लिए खोज करना शुरु कर दिया है, जैसे तलाकशुदा पत्नियों के लिए गुजारा भत्ते की माँग (जो कि धर्म द्वारा मान्य नही है), बच्चों का गोद लेना, स्त्रियों को अपने पतियों को तलाक देने के लिए अधिक उदार नियमों की माँग, बहुपत्नी विवाह पर प्रतिबन्ध, आदि। हिन्दू भी स्त्रियों पर धार्मिक प्रतिबन्धों, अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, तलाक व विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध तथा सती प्रथा आदि को स्वीकार नही करते। लोग अपने अनुभवों का अर्थ ढूढते हैं। वास्तव में, गैर धार्मिक दर्शन भी अस्तित्व की सार्थक व्याख्या देते हैं।

यदि भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण का विश्लेषण किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज अधिक धर्मनिरपेक्ष हो गया है लेकिन दर्शाने में जटिल है। मोटेतौर पर धर्मनिरपेक्षीकरण की धारणा बताती है कि अनेक धार्मिक मूल्य बदल गए हैं, कई प्रथाए समाप्त हो गई हैं, और विज्ञान तथा तर्क सगतता की महत्ता बढ गई है (माइक ओ डोनेल, 1997 532-33)। यह सही है कि समाज के सास्कृतिक और सस्थात्मक नीव में परिवर्तन मौलिक और तीव्र होना चाहिए। विवाह, परिवार, जाति और कई सस्थाओं पर धर्म का प्रभाव कम होता दिखाई दे रहा है, लेकिन यह भी सत्य है कि धर्म की ताकत जारी है। धर्म स्थलों पर जाने में, तीर्थयात्रा पर जाने में, धार्मिक उपवास करने में और धार्मिक त्योंहार मनाने में लोगों की अभिरुचि में परिवर्तन हो सकता है, सिविल विवाह में वृद्धि हो सकती है, यहा तक कि सक्रिय धार्मिक लोगों की सख्या में कमी हो सकती है, लेकिन धार्मिक प्रथाओं में कमी हिन्दुओं में धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया की ओर आवश्यक रूप से सकेत नहीं करती। सिख अभी भी धार्मिक प्रतिबन्धों को जारी रखे हुए हैं। सस्थात्मक धर्म की अपेक्षा व्यक्तिगत अर्थ और पूर्ति के माध्यम के रूप में धर्म पूरे उत्साह और शक्ति के साथ जीवित है। अत धर्मनिरपेक्षीकरण की धारणा औपचारिक धर्म को अपेक्षा व्यक्तिगत धर्म पर कम लागू होती है। इसमें आश्चर्य नही कि डेविड मार्टिन जैसे विद्वान यह मानते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द इतना बोझिल है कि यह शब्द प्रयोग में नही लाया जाये (माइक ओ डोनेल, 1997 · 538)। यहा उदारवाद और कट्टरवाद के बीच सम्भावित सघर्ष को सन्दर्भित किया जाना

चाहिए। उदारवाद समूहों (धार्मिक) के बीच अन्तर की परस्पर सहिष्णुता पर आधारित है, अर्थात् यह बहुवादी है। कट्टरवाद (fundamentalism) उदारवाद के विरोध से सम्बद्ध है और कभी-कभी बहुलवाद (pluralism) की हिंसात्मक अभिवृत्ति की ओर संकेत करता है। पाकिस्तान, सऊदी अरब, ईरान आदि देश कट्टरवादी अधिक माने जाते है। भूमण्डलीय सन्दर्भ में लागू करने पर धर्मनिरपेक्षीकरण की धारणा के सम्बन्ध में उदारवाद और कट्टरवाद के बीच अन्तर सार्थक है। जब पश्चिमी समाज धर्मनिरपेक्ष हो गया है (चर्च के अधिकारों में कमी आने के अर्थ में), कई मुस्लिम देशों में इस्लामिक कानून ही नागरिक व धार्मिक जीवन को सचालित करते हैं। एक दो वर्ष पूर्व (नवाब शरीफ के कार्यकाल में) पाकिस्तान ने भी इसी विचारधारा को स्वीकार किया था जिसके कारण इसे धार्मिक राज्य कहा गया था। परन्तु भारत ऐसा देश है जहा धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव यहा तक कि राजनैतिक बहुलवाद भी मौजूद है। भारत के मुसलमान जो इस्लामी परम्पराओं का निर्वाह जारी रखे हुए हैं कट्टरवादी ही बने हुए हैं जो उन्हें आधुनिकता स्वीकार करने से रोकती है। हिन्दुओं की अधिकतर सख्या के लिए उदारवाद आधुनिक हिन्दू समाज के विकास के साथ चलने वाला है।

भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षवाद ने धार्मिक समुदायों के रक्षक के रुप में व उनके सघर्षों में मध्यस्थ की भूमिका निभाने के सदर्भ में राज्य शक्ति को बढा दिया है। यह राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को सरक्षण प्रदान करने को रोकता है।

वास्तव में, 'धर्मनिरपेक्ष' धारणा का प्रयोग सर्वप्रथम यूरोप में प्रयोग किया गया था जहा हर प्रकार की सम्पत्ति पर चर्च का ही नियत्रण था और चर्च की सहमति के बिना कोई भी प्रयोग नही कर सकता था। कुछ बुद्धिजीवियों ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। इन व्यक्तियों को धर्मनिरपेक्ष कहा जाने लगा जिसका अर्थ था 'चर्च से पृथक' या 'चर्च के विरुद्ध'। भारत में यह शब्द आजादी के बाद अनेक सन्दर्भों में प्रयोग किया जाने लगा। देश के विभाजन के बाद राजनीतिज्ञ अल्पसख्यक समुदायों को, विशेष रूप से मुसलमानों को आश्वासन दिलाना चाहते थे कि उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जायेगा। अत नये सविधान में प्रावधान किया गया कि भारत धर्मनिरपेक्ष बना रहेगा, जिसका अर्थ था (a) प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म का उपदेश देने और पालन करने की पूर्ण स्वतत्रता होगी, (b) राज्य का कोई धर्म नही होगा, और (c) सभी नागरिक अपने धार्मिक विश्वास के भेदभाव के बिना समान होंगे। इस प्रकार विरोधियों को भी वही अधिकार दिये गये जो अनुयायियों को थे। यह दर्शाता है कि एक धर्मनिरपेक्ष समाज या राज्य अधार्मिक समाज नही है। धर्म मौजूद रहते हैं, उनके अनुयायी अपनी धर्म पुस्तकों में प्रतिष्ठित सिद्धान्तों और प्रथाओं को मानते हैं और कोई भी बाह्य एजेन्सी, राज्य सहित, वैधानिक धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप नही करती। दूसरे शब्दों में, धर्मनिरपेक्ष समाज के दो अभिन्न तत्व हैं (a) धर्म और राज्य की सम्पूर्ण रूप से पृथकता, और (b) सभी धर्मों के अनुयायियों को पूर्ण स्वतत्रता और साथ ही नास्तिक और अनीश्वरवादियों को भी अपने-अपने विश्वास को मानने की स्वतत्रता।

धर्मनिरपेक्ष समाज में विभिन्न धार्मिक समुदायों के नेताओं और अनुयायियों से अपेक्षा की जाती है कि वे राजनैतिक लाभ के लिए धर्म का प्रयोग न करें। परन्तु व्यवहार में

हिन्दू, मुस्लिम, सिख और ईसाई और अन्य धर्मावलम्बी, राजनैतिक उद्देश्यों के लिए राजनीति का प्रयोग करते हैं। कई राजनैतिक पार्टियों को गैर-धर्मनिरपेक्ष कहा जाता है। दिसम्बर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद सरचना के ढाहे जाने के बाद (एस आर बोम्मई केस के नाम से ज्ञात) एक मामला भाजपा नीत सरकार को अपदस्थ करने के लिए अदालत में दर्ज कराया गया था। नौ न्यायाधीशों की खण्डपीठ ने 'सेक्यूलरिज्म' शब्द पर विचार किया और निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि यह शब्द सविधान में वर्णित है, लेकिन इसे बडी चतुराई से अपरिभाषित छोड दिया गया था क्योंकि इसमें सूक्ष्म परिभाषा करने की क्षमता नही थी। सविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द सभी धर्मों को समानता की गारन्टी देता है और राज्य द्वारा इस कानून का क्रियान्वयन किया जाना था। इस प्रकार कानूनी विचार से भाजपा को अपदस्थ करने का तर्क स्वीकार नही किया गया। इसमें आश्चर्य नही कि कुछ लोग कहते हैं कि एस आर बोम्मई मामले में उच्चतम न्यायालय की मान्यता थी कि जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अन्तर्गत 'हिन्दुत्व' की अपील स्वीकृत हो गई। अन्य दलों के धर्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक दलों के लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ मुस्लिम, पिछडी जातियों, तथा अनुसूचित जातियों व जनजातियों के वोट बैंक का बनाना था। मई 1996 में लोकसभा चुनावों तथा अक्टूबर 1996 में उत्तर प्रदेश की विधान सभा चुनावों में और फिर फरवरी 1998 तथा सितम्बर 1999 में ससदीय चुनावों में जब केन्द्र में भाजपा सबसे बडी पार्टी के रूप में उभर कर आयी, स्वार्थी राजनैतिक दलों ने भाजपा को मिलकर साम्प्रदायिक पार्टी कहा। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध यह शोर केवल वोट तथा राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए था। अप्रैल 1999 मे 13 पार्टियों का केन्द्र में गठबन्धन तथा भाजपा नीत सरकार को पराजित करने के लिए अनेक राजनैतिक दलों का एक साथ मिलना किसी आम सहमति वाले न्यूनतम साझा कार्यक्रम पर आधारित नही था बल्कि केवल एक ही तथाकथित 'हिन्दू पार्टी' को सरकार बनाने से रोकना मात्र था और यह पार्टी अक्टूबर 1999 में फिर शक्ति में आ गयी।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता न तो राजनैतिक दर्शन ही है न विचारधारा और न ही सिद्धान्त। यह तो भारतीय समाज पर राजनैतिक उद्देश्यों के लिए थोप दिया गया है। साम्प्रदायिकता के पत्ते अब केवल राजनीति प्रेरित होकर खेले जा रहे हैं। साम्प्रदायिकता को न केवल राष्ट्रीय विखण्डन रोकने के लिए जीवित रखा जा रहा है बल्कि इसलिए कि अल्पसख्यक वोट बडे भारतीय परिदृश्य में समाहित न हो जायें। यहा तक कि वे राजनेता जो ईमानदार माने जाते हैं, विषद रूप मे जातिवाद फैलाते हैं और विरोधी राजनेताओं को साम्प्रदायिक बताते हैं। इस प्रकार शक्ति प्राप्त करने वाले अपने पापों को छिपाने के लिए साम्प्रदायिकता का सहारा लेते हैं और सुनिश्चित करते हैं कि लोग धर्म के आधार पर ध्रुवीकृत बने रहें और भारत साम्प्रदायिक बना रहे।

निर्भय सिंह (1994 111) ने माना है कि भारत में दबाव का सकट कट्टरपथियों और राजनीतिज्ञों द्वारा धर्म के राजनीतिकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण है। इस प्रवृत्ति ने अल्पसख्यकों को भारतीय समाज की मुख्य धारा से अलग कर दिया है। इस अर्थ में धर्मनिरपेक्षवाद की प्रक्रिया ही भारत के बहुधर्मी चरित्र के लिए चुनौती है। इसने धार्मिक मूल्यों के अवमूल्यन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है। आज आवश्यकता इस बात की है कि

अन्य धर्मों और विश्वासों के प्रति अन्तर्दृष्टि और खुलेपन की आवश्यकता है। अन्य विश्वासों की प्रशसा का अर्थ है उनको स्वतत्रता की गारण्टी देना। इस अर्थ में धार्मिक विश्वास की आजादी धर्म के बहुरूप को मानना है।

धर्मनिरपेक्ष समाज मे धर्म (Religion in Secular Society)

धर्मनिरपेक्ष समाज में धर्म कैसे सार्थक है ? धर्म मनुष्य और समाज के मामलों में महत्वपूर्ण था और महत्वपूर्ण भूमिका निभाए जा रहा है। एससी दुबे (1994 79-80) ने धर्म के नौ कार्य बताये हैं (i) व्याख्यात्मक (explanatory) कार्य रहस्यों के प्रति क्यों, क्या आदि की व्याख्या से सम्बन्धित (ii) एकीकृत (integrative) कार्य (अनिश्चितता में समर्थन तथा असफलता और कुण्ठा में सान्तवना प्रदान करते हैं), (iii) पहचान सम्बन्धी (identity) कार्य (सुरक्षा और पहचान के लिए श्रेष्ठ सम्बन्ध बनाए रखने के लिए आधार प्रदान करना) (iv) प्रमाणित करने (validating) का कार्य (सभी मूलभूत सस्थाओं को शक्तिशाली मान्यता तथा नैतिक औचित्य प्रदान करना), (v) नियत्रण कार्य (विचलन के विविध स्वरूपों पर अकुश लगाना), (vi) अभिव्यक्ति (expressive) का कार्य (दुखदायी कारकों के सन्तुष्टि के कार्य करना), (vii) भविष्यवाणी का कार्य (स्थापित स्थितियों के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन में), (viii) परिपक्वता का कार्य (अधिकारों की रक्षा करके व्यक्ति के जीवन इतिहास में सकटपूर्ण स्थिति में मान्यता प्रदान करना), और (ix) इच्छा पूर्ति (wish fulfilment) का कार्य (आन्तरिक एव बाह्य दोनों ही प्रकार की इच्छाओं की)।

जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान और प्रविधि का क्षेत्र विस्तृत होता है, धर्म का क्षेत्र सकुचित होता जाता है। इसके कुछ कार्य अन्य एजेन्सियों द्वारा ले लिए जाते हैं। दुबे (1994 80) का मानना है कि सरल समाजों में, जिन्हें व्यवहारिक व अनुभवात्मक ज्ञान कम होता है, इसके प्रभाव का क्षेत्र अधिक होता है। प्रौद्योगिकी अर्थ में कम विकसित समाज में सासारिक उपलब्धियों के लिए अति प्राकृतिक शक्तियों का बडे पैमाने पर प्रसन्न करने के लिए सस्कार एव प्रतीकात्मक कार्य किए जाते है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में धार्मिक विश्वासों की पकड ढीली पड जाती है, यद्यपि धर्म में रुचि बनी रहती है। यह सामूहिक तथा साम्प्रदायिक मामला न होकर व्यक्तिगत रहता है। धर्म निरपेक्षीकरण/तर्क सगतीकरण की प्रक्रिया शुरु होती है जिसके कारण धर्म विविध सामाजिक क्रियाकलापों पर नियत्रण खो देता है, जैसे आर्थिक, व्यापार, शिक्षा, चिकित्सा, आदि। धर्म के कई पारम्परिक कार्यों की देखभाल धर्मनिरपेक्ष सस्थाए करने लगती हैं। एक समग्र धार्मिक सासारिक दृष्टिकोण जिसमें क्रियाकलापों का समस्त ढाँचा धर्म उन्मुख होता है, उसमें पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाता है।

लेकिन धर्मनिरपेक्षता हर समाज में भिन्न होती है। शायद भारत विविध सस्थाओं को विकसित करने में असफल रहा है जो धर्म के परम्परागत कार्यों को अपना सकें। इस कारण यह साम्प्रदायिक ही रहा है और धार्मिक विश्वास जारी हैं। समस्याओं को बडे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा सकीर्ण और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखा जाता है। धर्मोन्मुखता, कार्य और धन के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करती है और ऐसी नैतिकता के उदय में बाधक है जो प्रगति में सहायक है। वास्तव में, कोई भी समाज पूर्ण रूपेण धर्मनिरपेक्ष नही है और न ही सभी मूल धार्मिक मूल्य व सास्कृतिकपरकता को सुरक्षित रखा गया है तथापि धर्म परिवर्तनशील

आचार तत्वों के साथ समायोजन करने का प्रयत्न कर रहा है। यह बात न केवल हिन्दू धर्म के लिए सत्य है बल्कि मुस्लिम, सिख और जैन धर्मों के लिए भी। दुबे (1941 : 81) का भी विचार है कि भारत में सभी धर्मों ने परिस्थितिपरक समझौते किए हैं। कोई भी धर्म अपने मूल स्वरूप को कायम नहीं रख पाया है लेकिन सभी ने आवश्यक समायोजन किए हैं। धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक समाज धर्म के विरुद्ध नही है। इस आधार पर भारत में धर्म आधुनिकीकरण के विरुद्ध नहीं है। अनेक लोग सकट में भी धर्म का सहारा लेते रहेंगे और धर्म सकटापन्न आघातों के समय समर्थन और विश्वास प्रदान करता है। इस प्रकार हमारे देश में अलग अलग धार्मिक पहचान मान्य रहेगी जब तक वे बडे राष्ट्रीय हितों की वैधता को चुनौती नहीं देते हैं। लेकिन उन पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता यदि वे राष्ट्रीय एकता में योगदान करते हैं।

9

जनजातीय समाज

(Tribal Society)

भारत में जनजातीय समुदाय : संख्या एव वितरण
(Tribal Communities in India : Strength and Distribution)

1991 की जनगणना के अनुसार भारत में आदिवासियों की सख्या 6 758 करोड थी। यह इगलैंड की जनसंख्या के लगभग बराबर ही थी। (*Manpower Profile, India*, 1998: 34)। जनजाति जनसख्या देश की कुल आबादी की 8 08 प्रतिशत थी। जनजाति जनसख्या अफ्रीका के बाद भारत में द्वितीय स्थान पर है। भारत में जनजातियाँ समूचे देश में फैली हैं। अलग-अलग राज्यों में उनकी सख्या कुछ सौ से लेकर लाखों में है। 1991 की जनगणना के अनुसार सबसे अधिक आदिवासी मध्य प्रदेश में (1 54 करोड) हैं। और उसके बाद महाराष्ट्र (0 73 करोड), उडीसा (0.70 करोड), बिहार (0 66 करोड), और गुजरात में (0 61 करोड) हैं (*Manpower Profile, India*, 1998 35)। देश की कुल जनसख्या के तीन पाँचवे भाग से कुछ अधिक (62 75%) आदिवासी पाँच राज्यों में पाए जाते हैं। मिजोरम में राज्य की कुल जनसख्या के 95 प्रतिशत जनजाति के लोग हैं, नागालैण्ड में 89 प्रतिशत, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश में प्रत्येक में 80 प्रतिशत, त्रिपुरा में 70 प्रतिशत, मध्यप्रदेश और उडीसा में प्रत्येक में 23 प्रतिशत, राजस्थान में 12 प्रतिशत, और असम और बिहार प्रत्येक में 10 प्रतिशत। इस प्रकार 4 राज्यों में जनजाति जनसख्या राज्यों की कुल जनसख्या का 80 प्रतिशत है।

सख्या में सर्वाधिक गोंड (मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में) लगभग 40 लाख और भील (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश) लगभग 40 लाख हैं। सबसे कम सख्या वाली जनजाति अण्डमानी केवल 19 हैं। जनजातियों का अधिकतर हिस्सा स्वय को हिन्दू मानता है। धर्म से 89 प्रतिशत हिन्दू, 5 5 प्रतिशत ईसाई, 0 3 प्रतिशत बौद्ध, 0 2 प्रतिशत मुसलमान, और 5 प्रतिशत अन्य हैं। वे सभी जो स्वय को हिन्दू मानते हैं पूर्णरूपेण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नही करते हैं। इस सन्दर्भ में जनजाति जनों को चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है (1) जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में ढल गए हैं, अर्थात् जिन्होंने जाति सरचना को मान लिया है, जैसे भील, भूमिज, आदि (2) जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की ओर स्वीकारात्मक भाव से झुके हुए हैं, अर्थात यद्यपि उन्होंने हिन्दुओं के आचार तत्व (ethos), प्रतीकों (symbols), और सासारिक दृष्टिकोण (world-view) को धारण कर लिया है लेकिन उन्होंने स्वय को जाति ढाचे में शामिल नहीं किया है, जैसे सन्थाल, ओराव, गोंड। (3) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की ओर नकारात्मक झुकाव वाले, जैसे मिजो,

नागा। (4) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन, जैसे उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र (NEFA) की जनजातियाँ।

भौगोलिक वितरण की दृष्टि से एल पी विद्यार्थी (L P Vidyarthi, ICSSR *Survey of Research In Sociology and Anthropology*, Vol III, 1972 . 32) ने जनजातीय लोगों को चार क्षेत्रों में बाँटा है (a) हिमालियन क्षेत्र, जिसमें जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश (भोंट, गुजर, गादी), उत्तर प्रदेश का तराई क्षेत्र (थारु), असम (मिजो, गारो, खासी), मेघालय, नागालैण्ड (नागा), मणिपुर (माओ), और त्रिपुरा (त्रिपुरी) शामिल है और देश की कुल जनजाति सख्या का 11 प्रतिशत है। (b) *मध्य भारत क्षेत्र*, जिसमें पश्चिम बगाल, बिहार (सन्थाल, मुण्डा, ओरॉव, और हो) उडीसा (खोण्ड, गोंड) शामिल है और देश की कुल जनजातीय जनसख्या का 57 प्रतिशत हैं, (c) *पश्चिमी भारत क्षेत्र*, जिसमें राजस्थान, (भील, मीणा, गरासिया), गुजरात, (भील, दुबला, घोदिया) और महाराष्ट्र (भील, कोली, महादेव कोकना) शामिल हैं और भारत की कुल जनजातीय सख्या का 25 प्रतिशत है, और (d) *दक्षिण भारत क्षेत्र*, जिसमे आन्ध्र प्रदेश (गोण्ड, कोया, कोण्डा, दोवा), कर्नाटक (नैकदा, मराती) तमिलनाडु (इरुला, टोडा), केरल (पुलयन, पनलयन) और अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह (अण्डमानी, निकोबारी) शामिल हैं और देश की जनजातीय जनसख्या का लगभग 7 प्रतिशत हैं।

विभिन्न राज्यों में रहने वाले जनजाति लोग विभिन्न प्रजातीय (racial) समूहों से सम्बद्ध हैं, जैसे प्रोटोआस्ट्रोलाइड (Protoaustroloid) जिसमें सथाल, मुण्डा, औरांव, और भूमिज शामिल हैं। *मगोलियन* (Mangoloid) जिसमें गोरा, आदि शामिल हैं और नीग्रिटो। भाषाई आधार पर उन्हें तीन समूहों मे विभाजित किया जाता है; ये हैं आस्ट्रिक (Austric) (जिसमें सन्थाल, मुण्डा, भूमिज शामिल हैं, *द्रविड* जिसमें ओराव, टोडा, चैंचू शामिल हैं, और *तिब्बती चीनी* जिसमें गारो, भूटिया, आदि शामिल हैं। इसके अलावा उन्हें आर्थिक (भोजन एकत्र करने, शिकार करने वाले, हलवाहे, कृषि करने वाले, पशु-पालक, श्रमिक), सामाजिक और धार्मिक श्रेणियों में भी विभाजित किया जाता है। उनके विकास के स्तर और सामाजिक सास्कृतिक एकता में यद्यपि बडी विविधताए मौजूद हैं लेकिन कुछ समानताए भी हैं। जनजाति के लोग समग्र रूप में प्राविधिक (technologically) व शैक्षिक रूप से पिछडे हुए हैं। यद्यपि अधिकतर जनजातिया सामाजिक सगठन की पितृवशीय व्यवस्था का अनुसरण करते हैं, फिर भी कुछ ऐसे भी हैं जिनमें मातृवशीय व्यवस्था चलती है (जैसे, गारो, आदि)। नागाओं, मिजो, सन्थालों, मुण्डा, ओराँओं के अच्छे अनुपात ने ईसाई धर्म अपना लिया है। कुछ लोगों को बौद्ध परिचय से भी चिन्हित किया जाता है, जैसे, भोटिया, लप्चा, आदि।

जनजातीय समुदायो की विशेषताएँ
(Distinctive Features of Tribal Communities)

जनजातीय लोग वृहत् सास्कृतिक प्रभावों से अपेक्षाकृत बचे रहते हैं। उनमें सापेक्ष रूप से समानता होती है तथा उनके पास सरल प्रविधि (technology) भी होती है। वे आत्माओं, जादू व भूत विद्या में विश्वास करते हैं। उनके अपने निषेध (taboos) होते हैं जो उनके कुछ कार्यों को वर्जित करते हैं जो समुदाय, अलौकिकताया (supernatural), व जादू के परिणामों से दण्डित होते हैं। अधिकतर जनजातिया जीववाद (animism) में विश्वास करती

है जिसके अनुसार सभी वस्तुओं—चेतन और जड (animate and inanimate)—में स्थाई या अस्थाई रूप से आत्माए रहती हैं। अक्सर कोई कार्य इन आत्माओं के कारण होता है। कुछ आत्माओं की पूजा की जाती है और कुछ का आदर किया जाता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि जीववाद जनजातियों में धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप था। अनेक जनजातिया पूर्वजों की पूजा में भी विश्वास करती हैं।

भारत में जनजातियों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है

- *सामन्य नाम* प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट नाम होता है जिसके द्वारा उसको दूसरों से अलग पहचाना जाता है।
- *सामान्य सीमा* (territory) जनजातियों की आमतौर पर सामान्य भौगोलिक सीमा होती है।
- *सामान्य भाषा* एक जनजाति के सदस्य एक ही भाषा बोलते हैं। प्रत्येक जनजाति की अपनी बोली होती है, भले ही लिपि न भी हो।
- *सामान्य सस्कृति* प्रत्येक जनजाति में व्यवहार के स्वरूप, त्यौहार और पूजा की मूर्तिया निर्धारित हैं।
- *अन्तर्विवाह.* प्रत्येक जनजाति में अपने ही सदस्यों के बीच विवाह करने का प्रचलन है।
- *राजनैतिक संगठन* प्रत्येक जनजाति का अपना राजनैतिक सगठन होता है। उनके बुजुर्गों की परिषद (council) होती है जो सदस्यों को नियत्रित रखती है।
- *आर्थिक सक्रियता* राष्ट्रीय औसत 43 प्रतिशत के विपरीत, 57 प्रतिशत जनजातियाँ आर्थिक रूप से स्वयमेव सक्रिय होती हैं।

काम की प्रकृति

जहाँ तक काम की प्रकृति का सम्बन्ध है, 73 प्रतिशत के राष्ट्रीय औसत के विपरीत 91 प्रतिशत जनजाति के लोग कृषि में, लगभग 3 प्रतिशत निर्माण कार्य में (सामान्य जनसख्या के 11 प्रतिशत के विपरीत), और 5 प्रतिशत नौकरी में (सामान्य जनसख्या के 16 प्रतिशत के विपरीत) और, लगभग एक प्रतिशत वानिकी और भोजन सग्रह के कार्यों में लगे हैं।

जनजातीय लोगों की कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं उनमें से अधिकतर लोग एकाकी भूखण्डों (isolate terrains) में रहते हैं, उनकी जीविका के मुख्य स्रोत कृषि और वन के उत्पाद हैं, वे लाभ प्राप्ति के लिए खेती नही करते, वे अभी भी वस्तु विनिमय (exchange) पर निर्भर रहते हैं, वे अपनी आय का अधिकतर भाग सामाजिक और धार्मिक समारोहों पर खर्च करते हैं, और अधिकतर सख्या में अनपढ और साहूकारों तथा असन्दिग्ध ठेकेदारों द्वारा शोषण का शिकार होते हैं।

जनजाति और जाति (Tribe and Caste)

जाति और जनजाति के बीच भेद करने के लिए कोई ठोस आधार नही हैं। विस्तृत अर्थ में, जनजाति ऐसा समुदाय है जिसका एक सामान्य क्षेत्र, भाषा, सस्कृति और कुछ विश्वास तथा

प्रथाए हों (Theodorson 1969 443)। नैडेल (Nadel) ने जनजाति को "एक समा जिसकी भाषायी, सास्कृतिक व राजनैतिक सीमाए हो" कहा है। लेकिन ऐसे अनेक जनजाती समाज हैं जिनमें साधारण शब्दों में सरकार और कोई केन्द्रीय सत्ता नही होती। इसी तर जनजाति में सास्कृतिक समानता भी भ्रामक है।

घूर्ये, टी बी नाइक, बेली और वेरियर एलविन जैसे विद्वानों ने जाति और जनजाति मे भेद के लिए धर्म, भौगोलिक पृथकता, भाषा, आर्थिक पिछडापन, तथा राजनैतिक सगठन को आधार माना है।

धर्म के आधार पर यह कहा जाता है कि जनजाति के लोगों का धर्म जीववाद (animism) है और जाति व्यवस्था वाले लोगों का धर्म हिन्दू है। हट्टन (1963) और बेली (1960 263) का मत है कि जनजातियों के लोग हिन्दू नही हैं बल्कि जीववादी हैं। जीववाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं सभी जड एव चेतन वस्तुओं में स्थाई या अस्थाई रूप से आत्मा होती है, सभी क्रियाकलाप इन्ही आत्माओं द्वारा कराए जाते हैं, आत्माओं का मनुष्य के जीवन पर अधिकार होता है मनुष्य आत्माओं द्वारा कब्जे में रखे जा सकते हैं, उन पर जादू का प्रभाव पड सकता है। दूसरी ओर हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषताए हैं धर्म, भक्ति, कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास। कहना गलत होगा कि हिन्दू, विशेष तौर पर निम्न जाति हिन्दू, आत्माओं, भूतों और जादू में विश्वास नही करते। इसी प्रकार ऐसे बहुत से जनजाति लोग हैं जो हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करते हैं, हिन्दू त्योंहार और मेलों का आयोजन करते हैं, और हिन्दू रीति रिवाजों और सस्कारों को मानते हैं। इसलिए जीववाद और हिन्दूवाद में अन्तर करना सरल नही है। राम अहूजा (1965), वेरियर एलविन (1943) और रिजले (1908) ने भी माना है कि जीववाद और हिन्दूवाद में अन्तर करना कृत्रिम और निरर्थक है। इस प्रकार केवल धर्म इस (जनजाति और जाति के मध्य) अन्तर का आधार नहीं हो सकता। घूर्ये, नाइक और बेली ने भी इस आधार को स्वीकार नही किया है।

भौगोलिक एकाकीपन (geographical isolation) के आधार के विषय में यह कहा जाता है कि जनजाति के लोग भौगोलिक दृष्टि से अलग अलग भूभागों, जैसे पहाड, जगल आदि, मे रहते है लेकिन जातिवादी हिन्दू मैदानों में रहते हैं। सभ्य पडौसियों से अलग तथा उनसे कम सम्पर्क के कारण वे हिन्दुओं की तुलना में कम सभ्य हैं। यद्यपि यह सत्य है कि एक समय वे सचार साधनों की पहुच से दूर रहते थे लेकिन तब बहुत से हिन्दू भी अलग-अलग क्षेत्रों में रहते थे, जबकि कई जनजातिया मैदानों में रहती थी। आज के युग में कोई भी समूह एकाकी नही रहता। अत जनजाति को जाति से अन्तर करने के लिए भौगोलिक अलगाव के आधार के भी स्वीकार नही किया जा सकता।

भाषा को जाति और जनजाति में भेद करने के लिए आधार मानने के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि प्रत्येक जनजाति की अपनी भाषा होती है, लेकिन जाति की नही। लेकिन ऐसी जनजातिया हैं जो अपनी भाषा नही बोलती बल्कि प्रमुख भारतीय भाषाओं में से किसी एक की बोली (dialect) बोलती हैं, जैसा कि दक्षिण भारत में पाया जाता है। अत भाषा को भी भेद का आधार स्वीकार नही किया जा सकता।

आर्थिक पिछडापन भी अन्तर का सही आधार नही है। यदि जनजातीय लोग पिछडे और आदिकालीन हैं तो हिन्दुओं में भी पिछडे लोग हैं। दूसरी ओर आर्थिक रूप से विकसित

जनजातियां भी हैं। बेली (1960 : 9) ने भी इसको अस्वीकार करते हुए कहा है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मानना गलत है कि आर्थिक पिछड़ापन 'आर्थिक सम्बन्धों के प्रकार' की अपेक्षा 'रहन-सहन के स्तर' को बताता है। उसने स्वयं उड़ीसा के कोल्ड (जनजाति) और उड़ीया (जाति) में अन्तर करने के लिए 'आर्थिक सरचना' और राजनैतिक-आर्थिक सगठन' शब्दों का प्रयोग किया है।

बेली (Bailey, 1960) ने रेखाकार निरन्तरता (linear continnum) में दो आदर्श बिन्दुओं के रूप में जाति और जनजाति के आमने-सामने की स्थिति पर विचार करने के लिए एक व्यवस्थित अन्तर्क्रियावादी मॉडल (inter-actional model) प्रस्तुत किया। उसने दो कारकों पर ध्यान केन्द्रित किया : (a) भूमि पर नियत्रण और (b) भूमि ससाधनों (resources) पर अधिकार। उसकी मान्यता थी कि जातिगत तथा जनजातीय दोनों ही समाजों में हमें भू-स्वामी (landowners) और भूमिहीन लोग मिलते हैं जो भूमि ससाधनों में से अपने हिस्से के लिए भूस्वामियों पर निर्भर करते हैं। लेकिन 'गाँव की सीमा' (village territory) (जिसमें जाति के लोग रहते हैं) तथा वश सीमा (clan territory) (जिसमें जनजाति के लोग रहते हैं) के आर्थिक सगठन का विश्लेषण करने में उसने देखा कि गाँव श्रेणीक्रम में व्यवस्थित आर्थिक रूप से अन्तर्निभर जातियों में विभक्त रहता है जबकि वश सीमा यद्यपि आर्थिक रूप से विशिष्ट समूहों की बनी होती है, लेकिन वह श्रेणीक्रम में व्यवस्थित नहीं होती है, न ही वे आर्थिक रूप से परस्पर निर्भर होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक जनजातीय समाज में अधिक अनुपात में लोगों की पहुँच भूमि तक होती है जबकि जाति आधारित समाज में भूस्वामी बहुत कम होते हैं और अधिक सख्या में लोग भूमि पर अधिकार निर्भर सम्बन्धों द्वारा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार बेली के अनुसार जनजाति अलगाव की एकता में व्यवस्थित है जबकि जाति सुव्यवस्थित एकता में। लेकिन बेली प्रतिकूल धारणा रखते हुए कहता है कि निरन्तरता के किस बिन्दु पर जनजाति समाप्त होकर जाति प्रारम्भ होती है यह कहना कठिन है। भारत में स्थिति ऐसी है कि शायद ही ऐसी कोई जनजाति हो जो पृथक समाज के रूप में हो तथा जिसकी अलग राजनैतिक सीमा हो। आर्थिक दृष्टि से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था क्षेत्रीय या राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से भिन्न नहीं है। लेकिन हम कुछ जनजातियों को समुदाय में शामिल करते हैं और उन्हें मान्य अनुसूचित जनजाति सूची में भी रखते हैं।

एच.एन.बैनरजी ने भी 1969 में बारभुम (Barabhum) के कोरा (Kora) जनजाति में जनजाति जाति सम्बन्धों के स्वरूप पर विस्तार से काम किया। एन.के. बोस (1949) ने माना है कि जनजातियाँ जातिगत समाज में विद्यमान प्रमुखत कृषि व शिल्प आधारित अर्थव्यवस्था की ओर खीची जा रही हैं। एम.ओरान्स (M Orans, 1965) ने कहा है कि जहाँ हिन्दुओं की उच्च अर्थव्यवस्था ने जनजातियों को जाति व्यवस्था की बराबरी करने के लिए खींचा है, वहीं राजनैतिक एकता की शक्तियों ने उन्हें हिन्दू जाति व्यवस्था से दूर किया है। एल.पी. विद्यार्थी (ICSSR Report, 1972 33) ने कहा है कि जनजाति समूह जाति व्यवस्था में जोड़ (affix) का कार्य करता है और कुछ मामलों में पर प्रत्यय (suffix) का भी। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारत में जनजातिया जाति व्यवस्था में धीरे-धीरे विलीन होती प्रतीत हो रही हैं। घूर्ये का मत है कि कुछ जनजातिया मैदानों के हिन्दू जातियों से भाषा,

अर्थव्यवस्था, या धर्म में अलग नही हैं। वह उन्हें पिछडे-हिन्दू मानता है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि जाति व जनजाति एक सिक्के के दो पहलू हैं।

जनजातीय अध्ययन (Tribal Studies)

भारत में प्रमुख जनजातियों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन और विनिबंध (monograph) 1950 के बाद अनेक विद्वानों (S C Roy (मुण्डा, ओरांव, बिरहोर, खरिया), Surjeet Sinha (भूमिज), D N Majumdar (खासा), S C Dube (कमार), L.P.Vidyarthi (मॉडी), G S Ghurye (कोली), The Anthropological Survey of India (गद्दी), B L Roy Burman (भोट), B S Guha (अबोर), Verrier Elwin (बैगा, मारिया), T.B Naik और Thurston (दक्षिण भारत में जनजातियां) द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। इन अध्ययनों में जनजातीय समाज के पाँच पक्षों का अध्ययन किया गया है . (1) *सामाजिक सरचना* जिसमें जनजातीय विभाजन के सन्दर्भ में वंश, उपवंश, परिवार वंशावलि, परिवार, नातेदारी, विवाह, स्त्रियों की प्रस्थिति, और पचायत व्यवस्था, (2) *जनजातीय अर्थव्यवस्था*, जिसमें व्यावसायिक सरचना पर विशेष रूप से बल देते हुए और जीविका के साधनों में परिवर्तन के सन्दर्भ में शिकार करने से भोजन सग्रह, वन (forest) से कृषि, भूस्वामित्व, जनजातीय व गैर-जनजातीय समुदायों में आर्थिक सम्बन्ध, जनजातीय व गैर-जनजातीय समुदायों में आर्थिक सम्बन्ध, जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगीकरण के स्वरूप, बाजार की भूमिका, औद्योगीकरण का सामाजिक मूल्य, स्त्रियों की आर्थिक भूमिका, जनजातीय जीवन में महाजन की भूमिका, और आर्थिक परिवर्तन, (3) *धार्मिक विश्वास* और संस्कार, जादू, भूत विद्या, धार्मिक आन्दोलन (जैसे भगत आन्दोलन आदि), और ईसाई मिशनरियों का प्रभाव, (4) *राजनैतिक सगठन* कानून और न्याय, पचायत नेतृत्व, राजनैतिक दलों का प्रभाव, मतदान व्यवहार और राजनैतिक भागीदारी, (5) *सांस्कृतिक जीवन* जो लोक सगीत, लोक नृत्य, मेलों और त्योंहारों आदि का वर्णन करता है।

जनजातीय शोषण एव असतोष (Tribal Exploitation and Unrest)

युगों से जनजातीय लोग भारतीय समाज की आदिकालीन इकाई के रूप में समझे जाते रहे हैं। वे जगलों और पर्वतों पर तथाकथित सभ्य और विकसित पडौसियों के साथ केवल आकस्मिक सम्पर्क के साथ रहते थे। जनसख्या दबाब न होने के कारण, उनके क्षेत्रों में घुसपैठ के प्रयत्न नहीं हुए और न ही उन पर बाहरी मूल्यों और विश्वासों को थोपा गया। लेकिन जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति मजबूत कर ली, उनकी औपनिवेशिक (colonial) आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं ने एक प्रभावी सचार व्यवस्था के माध्यम से समूचे देश को 'खोलना' (opening up) आवश्यक हो गया। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व व राजस्व व्यवस्था शुरू कर दी। वार्षिक-कर तिगुना कर दिया गया जो जनजाति के किसानों की भुगतान सामर्थ्य से बाहर था। जनसख्या के बढते दवाब के अन्तर्गत अनेक बाहरी लोग भी जनजातीय क्षेत्रों में बसने लगे। अपनी धन शक्ति से उन्होंने घर घर जाकर ऋण सुविधा उपलब्ध करा दी। प्रारम्भ में तो जनजातीय लोगों को बडा चैन मिला लेकिन धीरे धीरे यह व्यवस्था शोषणवादी हो गई। नवगठित न्यायालयों ने शोषकों की ही सहायता

को। इन आर्थिक तथा बाद में सामाजिक और सास्कृतिक शोषण ने जनजातीय नेताओं को आदिवासियों को उकसाने और आन्दोलन के लिए जागृत करने के लिए बाध्य किया। वचना की भावनाओं के साथ जन आन्दोलन भी बढने लगे। प्रारम्भ में वे केवल उनके अधिकारों को हडपने वालों के विरुद्ध थे, पर अन्त में वे सरकारी शासकों के भी विरुद्ध हो गए।

अत जनजातीय अशान्ति और असन्तोष अनेक कारकों का योग कहा जा सकता है। इनमें से प्रमुख कारक थे ·

- जनजातीय शिकायतों से निपटने में नौकरशाहों और प्रशासकों की सहानुभूति में कमी, सुस्ती और उदासी।
- वन कानूनों व नियमों की जटिलता।
- ग़ैर-जनजातीय लोगों के हाथों जनजातीय लोगों को भूमि जाने से बचाने के कानूनों की कमी।
- जनजातीय लोगों के पुनर्वास के सरकारी प्रयासों का प्रभावहीन होना।
- जनजातीय समस्याओं को सुलझाने में राजनैतिक अभिजात वर्ग में रुचि व गति की कमी।
- उच्च स्तरीय समितियों की सिफारिशें लागू करने में विलम्ब।
- सुधारात्मक उपायों को लागू करने में भेदभाव।

संक्षेप में जनजातीय असतोष के कारण आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक कहे जा सकते हैं।

जनजातीय समस्याएँ (Tribal Problems)

जनजातीय लोग निम्न प्रमुख समस्याओं का सामना करते हैं

- उनके पास छोटे व अनार्थिक जमीन के टुकडे होते है जिसके कारण क्योंकि उनकी उपज कम होती है, वे बुरी तरह ऋणग्रस्त रहते हैं।
- जनसख्या का एक बहुत कम अनुपात व्यावसायिक क्रियाकलापों में द्वितीय व तृतीय क्षेत्रों में भाग लेता है।
- जनजातियों में साक्षरता की दर बहुत कम है। 1961 में यह जब 18 53 प्रतिशत थी, 1991 में यह 29 60 प्रतिशत तक बढ गई जो देश की साक्षरता दर 52 21 प्रतिशत की तुलना में बहुत कम है। गत तीन दशकों में जब साक्षरता विकास दर 28 21 प्रतिशत थी तब जनजातियों में यह केवल 11 7 प्रतिशत थी (*Manpower Profile, India*, 1998 44]। यद्यपि जनजातीय साक्षरता दर मिजोरम में 82 73 प्रतिशत और नागालैण्ड, सिक्किम, व केरल में 57 और 61 प्रतिशत के बीच है, परन्तु शेष जनजातीय लोगों में साक्षरता दर में कमी एक प्रमुख विकास समस्या के रूप में चिन्हित की गई है। सब से कम आन्ध्र प्रदेश में 17 16 प्रतिशत, राजस्थान में 19 44 प्रतिशत और मध्य प्रदेश में 21 54 प्रतिशत है (वही 44)।
- जनजातीय क्षेत्रों में भूमि का एक अच्छा अनुपात कानूनी रूप से ग़ैर जनजाति लोगों

को स्थानान्तरित कर दिया गया है। जनजातीय लोग इस भूमि को उन्हें लौटाने की माँग करते हैं। वास्तव में, पूर्व में जनजातियों ने वनों के उपयोग की आजादी तथा जानवरों के शिकार करने का लाभ उठाया था। जगल उन्हें न केवल घर बनाने के लिए सामग्री प्रदान करते हैं बल्कि ईधन, बीमारियों, का इलाज करने के लिए जडी बूटिया, फल एव शिकार आदि भी प्रदान करते हैं। उनके धर्म के अनुसार पेडों और जगलों में अनेक आत्माएँ बसती हैं। उनकी लोक गाथाएँ मानव और आत्माओं के सम्बन्धों के विषय में उन्हें बताती हैं। जगलों से ऐसे भौतिक एव भावनात्मक मोह के कारण जनजातीय लोगों ने सरकार द्वारा उनके परम्परात्मक अधिकारों के हनन के विरोध में तीव्र प्रतिक्रिया का प्रदर्शन किया है।

- सरकारी जनजातीय कार्यक्रमों ने जनजातीय लोगों की आर्थिक प्रस्थिति को उठाने में अधिक मदद नही की है। ब्रिटिश नीतियों ने जनजातियों के अनेक प्रकार के शोषण के रास्ते खोल दिए क्योंकि ये नीतियाँ जमीदारों, भू-स्वामियों, महाजनों, जगल के ठेकेदारों, तथा उत्पाद कर, राजस्व व पुलिस अधिकारियों का पक्ष लेती थी।
- जनजातीय क्षेत्रों में बैंकिग सुविधाए इतनी कम हैं कि जनजातीय लोगों को महाजनों पर निर्भर रहना पडता है। बुरी तरह ऋण जाल में फँस जाने के कारण जनजातीय लोग कृषि ऋणग्रस्तता मुक्ति अधिनियम को लागू करने की माग करते हैं ताकि वे अपनी गिरवी रखी जमीनें वापस ले सकें।
- लगभग 90 प्रतिशत जनजातीय लोग कृषि में लगे हैं, और उनमें अधिकतर भूमिहीन हैं तथा वे स्थानान्तरणशील (shifting) खेती करते हैं। उन्हें नये खेती के तरीके सिखाने में मदद की आवश्यकता है।
- बेरोजगार और अल्प बेरोजगार लोग पशुपालन, मुर्गी पालन, हाथकरघा बुनाई, तथा हस्त शिल्प क्षेत्र में विकास के द्वारा आय के द्वैतीयक स्रोत ढूढने में मदद चाहते हैं।
- अधिकतर जनजाति के लोग दूर-दूर पहाडियों पर रहते हैं जिनमें जनसख्या कम होती है और इन क्षेत्रों में दूर सचार कठिन हो जाता है। इसलिए जनजातीय लोगों को एकाकी जीवन व्यतीत करने से सरक्षण की आवश्यकता है। वहा सडकों के जाल बिछाने की भी आवश्यकता है।
- जनजातीय लोगों का ईसाई मिशनरियों द्वारा भी शोषण किया जाता है। कई जनजातीय क्षेत्रों में ब्रिटिश काल के दौरान उनका ईसाई धर्म में परिवर्तन हुआ है। मिशनरी जब शिक्षा के अग्रदूत रहे हैं और उन्होंने इन क्षेत्रों में अस्पताल भी खोले, परन्तु वे जनजातीय लोगों को उनकी सस्कृति से विमुख करने के लिए भी उत्तरदायी हैं। कहा जाता है कि ईसाई मिशनरियों ने कई बार जनजातीय लोगों को भारत सरकार के विरुद्ध विद्रोह के लिए भी भडकाया है।

इस प्रकार जनजातीय व गैर-जनजातीय लोगों के बीच के सम्बन्ध खराब होने शुरू हो गए और गैर जनजातीय निवासियों को अर्ध सैन्य बलों के सरक्षण पर अधिक से अधिक निर्भर रहना पड रहा था। जनजातियों की अलग राज्य की माँग ने मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, बिहार, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपुरा में सशस्त्र विद्रोह का रूप ले लिया।

भारत के प्रति मैत्रीभाव न रखने वाले पडौसी देशों ने इन भारत विरोधी भावनाओं को भडकाने में सक्रियता शुरू कर दी। जनजातीय पट्टियों से घिरे इन राज्यों में विदेशी नागरिकों की घुसपैठ, गोलीबारी, मादक पदार्थों की तस्करी आज भी गम्भीर समस्याएँ हैं।

सक्षेप में, जनजातीय लोगों की प्रमुख समस्याए गरीबी, ऋणग्रस्तता, अशिक्षा, बन्धुआपन, शोषण, बीमारी और बेरोजगारी हैं।

स्वतंत्रता के बाद जनजातीय असन्तोष व समस्याएँ राजनीतिक हो गई हैं। अनेक जनजातीय क्षेत्रों में स्पष्ट वक्ता तथा प्रभावी राजनीतिक अभिजात वर्ग का उदय हुआ है। यह अभिजात वर्ग जनजाति के लोगों के अधिकारों के प्रति जागरुक है और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए नपे तुले कदम उठाने में सक्षम है। बिहार के झारखण्ड क्षेत्र और मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र के जनजातीय लोग इसके उदाहरण हैं। बिहार में तो फरवरी 2000 के चुनाव के बाद और इसी प्रकार मध्य प्रदेश में जनजातीय राजनैतिक नेता अलग राज्य बनाने के लिए राजी करने में सरकार को बाध्य करने में सफल हो गये। बिहार में अलग राज्य वनान्चल (झारखण्ड) में 18 जिले दक्षिण बिहार के सम्मिलित हैं जिनमें 25 प्रतिशत जनजातीय जनसख्या है। वृहत् झारखण्ड की माँग में बिहार, पश्चिम बगाल, उडीसा व मध्य प्रदेश के जनजातीय बहुल क्षेत्रों के 26 जिले हैं। मध्य प्रदेश में 61 जिलों में से 16 जिले छतीसगढ राज्य में शामिल किये गये हैं। जिन क्षेत्रों में जनजातीय नेतृत्व नही है, राजनैतिक दल, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय या स्थानीय लोग खाली स्थान भरने के लिए आगे आ रहे हैं। एस सी दुबे (*Tribal Situation in India*, 1972 30) ने भी कहा है कि जनजातीय लोगों की राजनीतिक अभिवृत्तियों और इन नीतियों में बदलाव दृष्टिगत हो रहा है। अब वे अनुपालन व स्वीकृति की राजनीति से दबाव और विरोध की राजनीति अपना रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि जनजातियों की राजनीतिक सस्कृति में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। यह ग्राम्य राजनीतिक सस्कृति तथा भागीदारी की राजनीतिक सस्कृति विस्तृत राष्ट्रीय पहचान की बजाय उप-राष्ट्रीय सस्कृति पहचान की ओर अधिक उन्मुख है। जब छोटी इकाई (tribe) के हित बडी इकाई (राष्ट्र) के हितों से टकराते हैं तब राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा या त्याग करने की प्रवृत्ति बढती है। इस परिदृश्य का फल यह होता है कि यह विशुद्ध जनजातीय हितों पर केन्द्रित तथा राष्ट्रीय हितों से अलग होकर उदीयमान राजनैतिक सस्कृति को ग्राम्य स्वरूप प्रदान करता है। दूसरी ओर भागीदारी को राजनीतिक सस्कृति में जनजातीय लोग नीतिनिर्माण सरकार के राजनीतिक निर्णयों पर प्रश्न पूछने तथा सुधारात्मक सुझाव देकर सक्रिय रुचि ले रहे हैं (S C. Dube, Ibid 31)। इस प्रकार प्रमुख प्रकरण जनजातीय तथा राजनैतिक हितों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में जनजातीय समस्याओं को अलग से नही देखा जाना चाहिए बल्कि राष्ट्रीय जीवन में परिचालित रणनीतियों के रूप में देखना चाहिए।

जनजातीय आन्दोलन (Tribal Movements)

जनजातीय लोगों के अनेक आन्दोलन बिहार में 1972 से शुरू होकर आन्ध्र प्रदेश, अण्डमान निकोबार, अरुणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम, और नागालैण्ड तक हो चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दि में विद्रोहों में सलग्न महत्वपूर्ण जनजातियाँ थी, मिज़ो (1910), कोल (1795 1831), मुण्डा (1889), डफ्ला (1875), खासी और गारो (1829 (1870),

गोण्ड (1886), नागा (1844 और 1879), भुइया (1868) और कोन्ध (1817)।

जनजातीय आन्दोलनों का वर्णन करने से पूर्व आन्दोलनों के प्रकारों की जानकारी आवश्यक है। कैमेरान (Cameron) ने इन्हें चार समूहों मे बाँटा है (1) *प्रतिक्रियावादी* (Reactionary), जो अतीत के अच्छे दिनों की वापसी चाहते हैं। लिन्टन (Linton) इन्हें पुनरूत्थानी (Revivalistic) आन्दोलन कहता है। (2) *रुढ़िवादी* (Conservative), जो समकालीन परिवर्तनों में बाधा डालने और यथास्थिति बनाए रखने के लिए आयोजित किए जाते हैं। लिन्टन इन्हें स्थिरतावादी (Perpetuative) आन्दोलन मानता है। (3) *सशोधनकारी* (Revisionary), जो विद्यमान रिवाजों में विशेष परिवर्तन एव सस्कृति या सामाजिक व्यवस्था में सुधार या शुद्धीकरण चाहते हैं। ये कुछ सस्थाओं को कम करना भी चाहते हैं, यद्यपि यह आन्दोलन मौजूदा समूची सरचना को बदलना नही चाहते हैं। ये आन्दोलन 'सामाजिक गतिशीलता' आन्दोलन भी कहे जाते हैं। ये आन्दोलन अधिकतर निम्न जातियों में होते हैं लेकिन जनजातियों में नही। (4) *क्रातिकारी* (Revolutionary), जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था या सस्कृति को किसी प्रगतिवादी व्यवस्था से समूल प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। इस आन्दोलन को पुनरूद्धार आन्दोलन का नाम भी दिया गया है।

पूर्वकालीन भारत में अधिकतर जनजातीय आन्दोलन धार्मिक उथल-पुथल के फलस्वरूप हुए, जैसे बौद्धत्व, वैष्णववाद। कुछ वैष्णव आन्दोलन मणिपुर में मैथेई (Meithei), पश्चिम बगाल में भूमिज, असम में नोक्ते नागा, उडीसा में बाथुडी, बिहार में झारखण्ड की जनजातियों, तथा दक्षिण भारत में हुए। (L K Mahapatra, 1972 . 402)। इन आन्दोलनों को धार्मिक आन्दोलन भी कहा गया है। ये मध्य भारत के गोण्ड जनजातियों में तथा उडीसा में कोण्ड और राजस्थान में भीलो में भी हुए। अग्रेजों को भी 19वी तथा 20वी शताब्दि में कुछ आन्दोलनों का सामना करना पडा था जब उन्होंने सिर का शिकार, मानव बलि, या उत्तर-पूर्वी भारत में गुलामी को रोकने का प्रयास किया। बिहार, पश्चिम बगाल, उडीसा और मध्य भारत के राज्यों में जमीदारों के अत्याचारों, महाजनों, पुलिस और वन अधिकारियों के द्वारा उत्पीडन के विरुद्ध भी आन्दोलन हुए। भगत आन्दोलन छोटा नागपुर के औराँवों और राजस्थान के भीलों में हुए थे। ये आन्दोलन जानवरों के भोजन, मद्य और रक्त बलि को रोकने के लिए पुनरूत्थानी आन्दोलन थे।

स्वतत्रता के बाद जनजातीय आन्दोलनों को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है

(1) बाहरी लोगों के शोषण के कारण आन्दोलन (जैसे सन्याल और मुण्डा लोगों का)
(2) आर्थिक वचनाओं के कारण (जैसे मध्य प्रदेश में गोण्ड तथा आन्ध्र प्रदेश में मेहर)
(3) पृथकतावादी प्रवृत्तियों के कारण आन्दोलन (जैसे नागा और मिजो लोगों का)।

जनजातीय आन्दोलनों को चार प्रकार के अन्य आधारों पर भी बाँटा जा सकता है (1) राजनैतिक स्वायत्तता तथा राज्यों का निर्माण चाहने वाले आन्दोलन (नागा, मिजो, झारखण्ड), (2) कृषि आन्दोलन, (3) वन आधारित आन्दोलन, और (4) सामाजिक-धार्मिक या सामाजिक-सास्कृतिक आन्दोलन (भगत आन्दोलन, राजस्थान व मध्य प्रदेश में भीलों का, दक्षिण गुजरात में जनजातियों में, या सन्यालों में रघुनाथ मुरमू (Raghunath Murmu) का आन्दोलन।

ऐसा सुधारात्मक आन्दोलन मुण्डा लोगों का धर्ती अबा (Dharti Aba) के करिश्माई नेतृत्व में रिपोर्ट किया गया जो संस्कारों की शुद्धता, नैतिकता, और सन्यासवाद (asceticism) के हिन्दू आदर्शों का उपदेश देता था और पुजारियों की पूजा की आलोचना करता था। मध्य प्रदेश में गोण्ड लोगों में करिश्माई लोगों द्वारा चलाए गए धार्मिक व सामाजिक गतिशीलता से सम्बद्ध आन्दोलन चलाए गए थे जो क्षत्रिय प्रस्थिति का दावा कर रहे थे और धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं का शुद्धिकरण चाहते थे।

सुरजीत सिन्हा ने पाँच प्रकार के जनजातीय आन्दोलन बताएँ हैं

(1) 18वीं तथा 19वीं शताब्दि के दौरान ब्रिटिश शासन काल में नृजातीय (ethnic) विद्रोही आन्दोलन, जैसे मुंडा लोगों का बीरसा आन्दोलन, 1832 में कोल विद्रोह, 1857-58 में सन्थाल विद्रोह, और 1880 के दशक में नागा विद्रोह।

(2) उच्च हिन्दू जातियों से प्रतिस्पर्धा करते हुए सुधारात्मक आन्दोलन, आराँवों में भगत आन्दोलन, भूमिजों का वैष्णव आन्दोलन, सन्थालों में खेरवार आन्दोलन।

(3) स्वतंत्रयोत्तर काल में भारतीय संघ के भीतर ही जनजातीय राज्यों के लिए राजनैतिक आन्दोलन, जैसे छोटा नागपुर तथा उडीसा में झारखण्ड आन्दोलन, तथा असम व मध्य प्रदेश में पहाडी राज्य आन्दोलन, आदि।

(4) पृथक्कतावादी (Secessionist) आन्दोलन, जैसे नागा व मिजो आन्दोलन।

(5) कृषि अशान्ति से सम्बन्धित आन्दोलन, जैसे नक्सलवादी आन्दोलन (1967) और बिरसादल आन्दोलन (1968-69)।

यदि हम सभी आन्दोलनों पर विचार करें जिनमें नागा आन्दोलन (जो 1946 में शुरु होकर 1972 तक चला जब नयी सरकार सत्ता में आई और नागा विद्रोह पर नियत्रण प्राप्त कर लिया गया), मिजो आन्दोलन (गुरिल्ला युद्ध जो अप्रैल 1970 में मेघालय राज्य के गठन के बाद समाप्त हुआ और 1972 में असम और मिजोरम से उत्पन्न हुआ था), गोण्ड राज्य आन्दोलन (जो 1941 में अलग राज्य के लिए मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के गोण्ड लोगों द्वारा चलाया गया और जो 1962-63 में अपनी चरम सीमा पर पहुचा), नक्सलवादी आन्दोलन (जो बिहार, पश्चिमी बगाल, आन्ध्र प्रदेश और असम में चला), कृषि आन्दोलन (मध्य प्रदेश में गोण्ड और भीलों द्वारा चलाया गया) और वनों पर आधारित (परम्परागत वन अधिकारों के लिए गोण्ड लोगों द्वारा चलाया आन्दोलन) आदि सम्मिलित हैं तो यह कहा जा सकता है कि जनजातीय अशान्ति के फलस्वरूप आन्दोलन ऐसे आन्दोलन थे जो (i) अत्याचारों और भेदभाव, (ii) उपेक्षा व पिछडेपन और (iii) ऐसी सरकार के विरुद्ध थे जो जनजातीय गरीबी, भूख, बेरोजगारी और शोषण के प्रति उदासीन थी और जो सरकार से मुक्ति के लिए छेडे गए थे।

हाल ही में (विशेष कर बिहार और मध्य प्रदेश में) जनजातीय आन्दोलन में राजनीतिज्ञों और विद्वानों द्वारा अधिक रुचि दिखाई गई थी। बिहार के आन्दोलन को 'झारखण्ड आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है। छोटा नागपुर में ओराँव, मुण्डा और हो प्रमुख जातिया हैं। उनकी कुल जनसख्या 50 लाख है जो राज्य की कुल जनजातीय संख्या का 10 प्रतिशत है। यह आन्दोलन छोटा नागपुर में छोटा नागपुर उन्नति समाज द्वारा चलाया

गया था जिसका नेतृत्व कुछ शिक्षित जनजातीय ईसाइयों ने किया था। बाद में समाज का नाम आदिवासी सभा कर दिया गया। 1938 में इसने अपने आपको एक राजनैतिक दल का रूप दे दिया जो आदिवासियों के हितों के लिए संघर्ष करने लगी जिसका नाम झारखण्ड पार्टी रखा गया। भाजपा-नीत केन्द्र सरकार ने 1998 के अन्तिम भाग में तथा 1999 के प्रारम्भ में पृथक झारखण्ड राज्य बनाने का प्रस्ताव रखा (जिसका नाम वनाचल दिया गया जिसमें 6 जिले तथा दो सम्भाग (division) – बिहार के छोटा नागपुर और सन्थाल शामिल थे)। अगस्त 2000 में सदन में बिल पास कर नवम्बर 2000 में बिहार के 55 जिलों में से 18 जिलों का झारखण्ड राज्य बनाया गया।

जनजातीय आन्दोलनों के कारणों की व्याख्या के लिए उनके शोषण के दो उदाहरण दिए जा सकते हैं। स्वतंत्रता के समय आन्ध्र-प्रदेश में एक सरकारी आदेश मौजूद था जिसके अनुसार सभी भूमि सम्बन्धी सौदे आदिवासियों के पक्ष में ही होते थे। 1974 में तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने एक आदेश पारित किया जिसके द्वारा गैर आदिवासियों को 15 एकड भूमि (5 एकड पानीवाली तथा 10 एकड शुष्क) रखने की अनुमति दी गई। इस आदेश के बाद गैर-आदिवासियों ने बडी मात्रा में भूमि हथिया ली। आदिवासियों ने दावा किया कि गैर आदिवासियों ने 1974-1984 के बीच 30,000 एकड भूमि पर कब्जा कर लिया है। इस अवधि में लगभग 2000 भूमि विवाद न्यायालय में थे और लगभग 400 आदिवासी अभियुक्त ठहराए गए। 1994 में तेलुगुदेशम सरकार ने पूर्व आदेशों को निरस्त कर दिया जिसके कारण गैर आदिवासियों ने रक्षात्मक स्थिति अपना ली। क्रान्तिकारियों ने आदिवासियों को सामन्तवादियों तथा गैर-आदिवासियों के विरुद्ध संगठित किया। गोण्ड आदिवासियों और गैर-आदिवासियों के बीच हिंसा की घटनाएं घटीं। गैर आदिवासियों ने संघर्ष किया। उन्होंने आदिवासियों के झोंपडे जलाए, महिलाओं पर अपराधिक हमले किए, आदिवासियों की हत्या की और उन्हें बन्धुआ मजदूरी के लिए बाध्य किया। एक अन्य घटना में 21 गैर आदिवासी, जिन पर जंगल से जलाने की लकडी चुराने का आरोप था, आदिवासियों द्वारा पकड कर बन्द कर दिए गए जब तक कि पुलिस ने उन्हें मुक्त नही कराया।

दूसरा मामला एक आदिवासी सम्मेलन के सन्दर्भ में है जो फरवरी 1984 में महाराष्ट्र के नागपुर के पास विदर्भ क्षेत्र में हुआ था। सम्मेलन का स्थान था ग्राम कमालपुर जिसकी आबादी 1000 थी। सम्मेलन में 20,000 लोगों के आने की आशा थी। इसका उद्‌घाटन नागपुर उच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ के अध्यक्ष द्वारा किया जाना था और इसकी अध्यक्षता एक नाटक लेखक, फिल्म निर्देशक तथा सिने-कलाकार द्वारा की जानी थी। सम्मेलन से दो दिन पूर्व सम्मेलन स्थल तक के सभी रास्ते सील कर दिए गए, 1000 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए और 5 से अधिक व्यक्तियों के एक साथ इकट्ठा होने पर निषेध आज्ञा लागू कर दी गई। मजे की बात यह कि गिरफ्तार लोगों पर निषिद्ध साहित्य ले जाने का आरोप लगाया गया और कहा गया कि वे लोग जंगल में पेड गिरा रहे थे, वन सम्पदा की चोरी कर रहे थे। (*Outlook*, 7 April, 1984 29)। स्वागत समिति के अध्यक्ष को वन सम्पत्ति की चोरी के आरोप में गिरफ्तार किया गया। अन्य पकडे गये लोगों में संगीतकार

थे जिन्हें सम्मेलन में कार्यक्रम प्रस्तुत करना था तथा अन्य लोगों में बम्बई, हैदराबाद, मद्रास से आये छात्र प्रतिनिधि थे। इस प्रकार के सम्मेलन में जहाँ केवल कुछ प्रस्ताव पारित किये जाते और कुछ गर्म भाषण होते, वहाँ सम्मेलन-स्थल एक लडाई का मैदान ही बन गया था।

यह सब कुछ यह दर्शाता है कि जब कानून आदिवासियों की सहायता न करे, सरकार कठोर हो जाये, और पुलिस उन्हें बचाने में असमर्थ हो और परेशान करे, तो वे शोषकों के विरुद्ध हथियार तो उठाएगे ही। उपरोक्त आन्दोलन दर्शाते हैं कि आदिवासियों ने अपनी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दो रास्ते अपनाए (a) हिंसा और विद्रोह के बिना सरकार से बातचीत और सौदेबाजी का रास्ता, और (b) आदिवासियों की सघर्ष शक्ति का विकास कर विद्रोह और सैन्य सघर्ष का रास्ता अपनाकर। इन दोनों ही रास्तों के परिणाम भिन्न है। एक रास्ता सघर्षपरक सुधार के लिए है जबकि दूसरा रास्ता समुदाय के सरचनात्मक परिवर्तन की ओर सकेत करता है। यह तथ्य कि आदिवासी समस्याओं से जूझते जा रहे हैं और असन्तोष तथा वचना भाव से भी पीडित है, इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दोनों ही रास्तों से वे अपने लक्ष्यों तक नही पहुँच सके हैं।

जनजातीय नेतृत्व (Tribal Leadership)

आदिवासी आन्दोलनों को प्रारम्भ करने और प्रोत्साहित करने में आदिवासी नेतृत्व के विषय में एल पी विद्यार्थी द्वारा दी गई जानकारी को मानते हुए हम आदिवासी नेतृत्व का कई विशेषताएँ बता सकते हैं

1 आदिवासी नेतागणों में उप राष्ट्रवादी (sub-nationalism) पाये जाते हैं।

2 नेता आमतौर पर वे हैं जो आधुनिक शक्तियों के प्रभाव में है।

3 ईसाइयत और पश्चिमी शिक्षा वाला नेतृत्व का बाहरी मॉडल जो कई आदिवासी क्षेत्रों में कई दशाब्दियों तक एक मात्र मॉडल रहा है, अब उसके बाहरीपन में परिवर्तन आ रहा है। उदाहरण के लिए झारखण्ड पार्टी जिस पर ईसाई आदिवासियों का प्रभुत्व रहा था और जो आवश्यक रूप से ईसाई धर्मान्तरित व्यक्तियों (converts) के एकीकरण (consolidation) के लिए प्रारम्भ की गई थी, ने अपना क्षेत्र तेजी से बढा लिया और हिन्दू आदिवासी और गैर-आदिवासी इससे जुडने लगे और इस पार्टी ने क्षेत्र की आवश्यक्ताओं एव समस्याओं पर जोर देना शुरू किया। धर्मनिरपेक्ष उद्देश्यों, राजनैतिक दबावों और बहकावों, और राजनैतिक सुविधा के साथ अब इन नेताओं की कार्यप्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

4 जहाँ एक ओर क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय नेतृत्व आधुनिक लोकतात्रिक हितों के साथ मिलकर चल रहा है, वही दूसरी ओर गाँवों के भीतरी भागों में नेतृत्व अभी भी सस्थात्मक, औपचारिक, तथा वशानुगत है।

5. कभी कभी आदिवासी नेता अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य राजनैतिक दलों के नेताओं के साथ हाथ मिला लेते हैं।

6 नेताओं द्वारा उठाए गए प्रकरण आमतौर पर वे होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति जनजातीयवाद, क्षेत्रवाद, स्थानीयवाद और कभी-कभी धार्मिक अतिवाद में होती है।

7 नेता ग्राम्य आधारित एव शहरीकृत दोनों होते हैं। साथ ही वे परम्परापरक एव आधुनिक दृष्टिकोण वाले भी होते हैं। वे हिन्दू व ईसाई भी होते हैं।
8 नेतागण अधिक शिक्षित नही होते बल्कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सभी विचारधाराओं के होते हैं।

आदिवासी महिलाएँ (The Tribal Women)

स्त्रियों की 'प्रस्थिति' का अर्थ है (i) गृहणी, श्रमिक, और नागरिक के रूप में स्त्रियों की स्थिति (ii) इन स्थितियों से जुडी हुई शक्ति व प्रतिष्ठा, और (iii) वे अधिकार और कर्त्तव्य जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है। मेसन (Mason, 1984) ने सकेत किया है कि स्त्रियों की प्रस्थिति के तीन पक्ष हैं प्रतिष्ठा, शक्ति, एव स्वायत्तता, (शिक्षा, विवाह, रोजगार, और स्वास्थ्य रक्षा आदि मामलों में निर्णय लेने की आजादी)।

सभी जनजातियों में स्त्रियों की प्रस्थिति एक समान नहीं है। यह एक जनजाति से दूसरी में भिन्न है। आदिवासियों में स्त्रियों की प्रस्थिति इतनी निम्न है कि उन्हें ज्ञान, (आर्थिक ससाधनों, और सत्ता का ज्ञान) नही है। उनकी व्यक्तिगत स्वायत्तता तो निम्नतम स्तर की है। यद्यपि श्रम शक्ति में स्त्रियों की भागीदारी बहुत कम है, फिर भी अधिकतर आदिवासी महिलाएँ आर्थिक स्थिति के विचार के बिना ही काम करती हैं। वे आर्थिक क्रियाकलापों में पुरुषों के लगभग समान जिम्मेदारी का पालन करती हैं। जब पुरुष लोग अन्य नगरों या कस्बों में काम करते हैं, तब स्त्रियाँ खेती का काम करती हैं। यदि हम शिक्षा को प्रस्थिति का सामाजिक आर्थिक सूचक मानें, तब देखेंगे कि इन स्त्रियों की साक्षरता दर कम है। जब हमारे देश में महिलाओं की सामान्य साक्षरता दर 1991 मे 39 3 प्रतिशत थी तब आदिवासी महिलाओं की यह दर मात्र 18 19 प्रतिशत थी। सबसे अधिक साक्षरता प्रतिशत जनजातीय महिलाओं मे प्राथमिक स्तर तक है। इस असमानता के कारण गाँवों में स्कूलों की अनुपलब्धता, स्त्री शिक्षकों की अनुपलब्धता, प्रचलित परम्परागत मूल्यों के कारण लडकियों को स्कूल भेजने मे शर्म महसूस करना, माँ के काम पर चले जाने के बाद लडकियों को छोटे शिशुओं की देखभाल के काम में प्रयोग करना, तथा घरेलू कामकाज में लडकियों की सहायता की आवश्यकता। आदिवासी महिलाओं को भूमि को रखने का अधिकार नही है। स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति के अधिकार का ज्ञान नही है। उनकी राजनैतिक चेतना भी बहुत कम है क्योंकि वे न तो अखबार पढती हैं, और न ही रेडियो या टीवी पर समाचार सुनती है। सूक्ष्मतम ग्रामीण सत्ता सरचना में भी उनका कोई स्थान नही होता है। आदिवासी समितियों और ग्राम पचायतों में भी उनका प्रतिनिधित्व बिल्कुल कम है। यद्यपि कुछ आदिवासी समुदाय हैं, जैसे मीणा, सेमा नागा और थारु, आदि जिनमें स्त्रियों की स्थिति किसी प्रकार से भी कम नही कही जा सकती।

आदिवासी समाजों में विधवाओं की गम्भीर समस्या नही है। वे विधवा पुनर्विवाह के लिए स्वतत्र हैं। कुछ जनजातिया ऐसी हैं जिनमें विधवा अपने मृत पति के छोटे भाई से विवाह कर सकती है (देवर विवाह)। वधु मूल्य (bride-price) परिपाटी ने स्त्रियों की प्रस्थिति को नही उठाया है बल्कि इससे स्त्रियों को क्रय विक्रय की वस्तु समझा जाता है जिससे उनका अपमान ही होता है। कई जनजातीय समाजों में तलाक की अनुमति है। तलाक

की प्रक्रिया भी सरल है क्योंकि इसमे परस्पर सहमति आवश्यक होती है। एक अनौपचारिक संस्कार तथा वधु मूल्य की वापसी से ही तलाक हो जाता है।

आदिवासी परिवर्तन संरक्षात्मक भेदभाव और आदिवासी कल्याण और विकास (Tribal Transition : Protective Discrimination and Tribal Welfare and Development)

आदिवासी परिवर्तन का अर्थ आदिवासी कल्याण या आदिवादी विकास है। आदिवासियों के पुनर्वास और विकास के लिए भारत में लागू किए गए सरकारी कार्यक्रम अपने लक्ष्य प्राप्त नही कर सके हैं तथा स्वतत्रता के बाद से ही आदिवासी सर्वहारावाद कायम रहा है। इसमें आश्चर्य नही कि न केवल 1970 के व 1980 के दशकों में विभिन्न विद्वानों का ध्यान (1971 में (एल पी विद्यार्थी बिहार में, 1974 में महाराष्ट्र में ए के डान्डा और एम जी कुलकरनी, तथा 1971 मे आन्ध्र प्रदेश में रजीत गुप्ता और एम बी.टी राजू) आदिवासी समस्याओं की ओर गया बल्कि 1990 के दशक में भी विद्वानों का ध्यान इस विषय पर गया।

जनजातीय कल्याण (Tribal Welfare)

आदिवासियों की समस्याओं के समाधान के लिए ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनाए गए कुछ उपायों में आदिवासियों की जमीन व वन अधिग्रहण करना, और कुछ आदिवासी क्षेत्रों को पूर्णरूपेण पृथक या आशिक रूप से पृथक घोषित करना शामिल थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने भी ईसाई मिशनरियों के सहयोग से काफी सख्या में अस्पताल और स्कूल आदिवासी क्षेत्रों में खोले थे जिन्होंने अनेक आदिवासियों को ईसाई बना लिया। इस प्रकार आदिवासी ब्रिटिश युग में औपनिवेशिक-सामन्ती अधीनता, नृजातीय पूर्वाग्रहों, अशिक्षा, गरीबी, और एकाकीपन के शिकार बने रहे।

स्वतत्रता के बाद आदिवासी हितों की सुरक्षा तथा उनके कल्याण व विकास के क्रियाकलापों को प्रोत्साहित करने के लिए सविधान में प्रावधान किए गए। गान्धीजी और ठक्कर बप्पा ने भी आदिवासियों के बीच कुछ अग्रगणीय कार्य किए। नेहरू ने भी आदिवासी परिवर्तन के लिए पचशील की नीति प्रारम्भ की जो पाँच सिद्धान्तों पर आधारित थी :

1 उन पर बहुसख्यक सस्कृति को थोपने से उन्हें दूर रखना और हर प्रकार से उनकी परम्परागत कला व सस्कृति को प्रोत्साहन देना।
2. भूमि व वनों पर आदिवासी अधिकारों का समादर।
3 बाहर से कुछ प्राविधिक कर्मियों की सहायता से आदिवासी नेताओं को प्रशासनिक व विकास कार्यक्रमों का प्रशिक्षण देना।
4 आदिवासी क्षेत्रों को अधिक प्रशासन से दूर रखना।
5 परिणामों का आक्लन व्यय किए गए धन के आधार पर नही बल्कि किस प्रकार का मानव चरित्र विकसित हुआ इस आधार पर किया जायेगा।

1960 में अनुसूचित जनजाति आयोग यू एन ढेबर की अध्यक्षता में आदिवासियों की उन्नति के लिए गठित किया गया। पाँचवी पचवर्षीय योजना के बाद 1980 में जनजातीय उप-नीति (Tribal Sub Plan-TSP) बनाई गई जिसमें दो बातें थी (i) जनजातियों का आर्थिक-सामाजिक विकास (ii) शोषण से आदिवासियों का बचाव। टीएमपी के लिए धनराशि राज्य सरकारों और केन्द्रीय मान्यताओं से प्रदान की गई।

परन्तु टी एस पी परिणाम अब तक किए गए अत्यधिक निवेश और आकाक्षाओं के अनुरूप नहीं रहे हैं क्योंकि अधिकतर राज्यों में आधारभूत सरचना के विकास पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है तथा उसको जनजातियों के विकास के अनुरूप बनाने की उपेक्षा की जा रही है। टी एस पी योजनाए कृषि, पशु पालन, सहकारिता, जनजातीय शिक्षा, आदि क्षेत्रों में परिवारोन्मुख आय पैदा करने वाली योजनाओं पर बल देती हैं यद्यपि इनमें शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आवास पर भी बल दिया जा रहा है।

सातवी, आठवी व नौवीं पचवर्षीय योजनाओं में (1985-1990) जनजातियों के कल्याणकारी कार्यक्रमों का उद्देश्य था (1) आर्थिक दशा सुधारने के लिए कृषि, पशुपालन, वानिकी, घरेलू एव लघु उद्योगों में उत्पादन स्तर को बढाना, (2) बन्धुआ मजदूरों का पुनर्वास, (3) शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रम, (4) स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष विकास कार्यक्रम। लेकिन आदिवासियों के लिए एकीकृत कार्यक्रमों ने इन कार्यक्रमों की अपर्याप्तताओं को उजागर कर दिया है।

परसस्कृतिग्रहण और जनजातीय सस्कृति मे परिवर्तन
(Acculturation and Changes in Tribal Culture)

'समाज या समुदाय के व्यक्तियों के नैतिक सिद्धान्तों, धार्मिक विश्वासों, व्यवहार, विचारों, अभिवृत्तियों एव ज्ञान में परिवर्तन" ही सास्कृतिक परिवर्तन है। सांस्कृतिक परिवर्तन एक प्रकार की बहु कारकीय प्रक्रिया है। राहा और दुबाश राय (Raha and Dubash Roy, 1997 149 159) ने अनेक कारक चिन्हित किए हैं जिनसे आदिवासी सस्कृति में परिवर्तन आए हैं। ये हैं सरकार द्वारा किए गए उपाय, सचार सुविधाएं, शिक्षा का प्रसार, नगरीकरण की प्रक्रिया, सामुदायिक विकास योजनाएँ, शहरी क्षेत्रों में पडौसी हिन्दुओं के साथ बार-बार सम्पर्क, आदिवासी, क्षेत्रों में बाँधों का निर्माण, ईसाइयत का प्रभाव, बैंक ऋणों की सुविधाएं, आधुनिक स्वास्थ्य सुरक्षा, सहकारी समितियाँ, आधुनिक कानून, नकद धन और बाजार अर्थव्यवस्था, और सुधारवादी आन्दोलन, आदि।

जनजाति-जाति अन्तर्क्रिया तथा परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया विभिन्न जनजातियों में विभिन्न राज्यों में पाई जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण बिनय कुमार पटनायक के उडीसा के गाँव घोराबार में सबरस जनजाति के अध्ययन में बताया गया है जो 280 लोगों के 235 घरों की कुल सख्या के 5 प्रतिशत हैं (see, George Pfeffer, *Contemporary Society Tribal Studies*, 1997, 317-329)। इस जनजाति द्वारा परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया में से गुजरना निम्न-लिखित परिवर्तनों में देखा जाता सकता है

1. इस जनजाति में संरचनात्मक परिवर्तन समतावाद (egalitarianism) के त्याग (कम से कम कार्यात्मक निर्भरता के साथ) और जाति प्रथा के स्वीकार करने में देखा जा सकता है जिससे उस समुदाय में स्तरीकरण का प्रारम्भ हो रहा है।
2 यह समुदाय सस्तरणात्मक रूप में (hierarchically) संस्कारों की श्रेष्ठता के आधार पर चार खण्डों में विभाजित है जो हिन्दू वर्ण व्यवस्था से मिलता-जुलता है। चारों विभागों में कार्यात्मक (occupational) विभाजन भी है, जैसे चारों वर्णों में क्रमश. शिकार और युद्ध, पूजा पाठ, कृषि, तथा नृत्य व गायन। अन्तर यह है कि जहां वर्ण व्यवस्था में पूजा पाठ का सर्वोच्च संस्कारिक स्थान है, इस जनजाति में इसका दूसरा स्थान है। दूसरे, इस सबरस जनजाति में शुद्धता और अशुद्धता नही हैं जैसा कि जाति प्रथा में पाया जाता है। इस प्रकार, सबरस अलग जाति के रूप में स्वीकृत हैं और गाँव में जनजाति नही माने जाते।
3 जाति प्रथा की तरह सबरस जनजाति में भी प्रत्येक उप-जाति की अपनी पचायत है जो समुदाय के रीति-रिवाजों और निषेधों पर निगाह रखते हैं।
4 सबरस जाति का प्रत्येक उप विभाजन स्वयं को तीन सबरसों का उत्तराधिकारी मानता है जो कि हिन्दू पौराणिक कथाओं—महाभारत और रामायण में आते हैं।
5 हिन्दू सस्कृति के चिन्ह सबरस विवाह रीतिरिवाजों में पाए जाते हैं यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह नही होते। बहु-विवाह प्रथा निषिद्ध है। वधू मूल्य का स्थान दहेज ने ले लिया है।

सबरस लोगों के द्वारा हिन्दू मूल्यों का अनुपालन सस्कृतिकरण न कहकर परसस्कृतिग्रहण इस कारण कहा जाता है क्योंकि (a) परसस्कृतिग्रहण का लाभ उच्च सस्कारी प्रस्थिति प्राप्त न करना होकर आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। जाति के रूप में हिन्दू पक्ष में शामिल होने से उन्हें लकडी काटने और टोकरी बनाने का कार्य स्थाई रूप से दे दिया गया है। वनों के कट जाने के बाद वे कृषि मजदूर हो गए हैं (b) गतिशीलता के लिए अपनाया गया मॉडल ब्राह्मण वाला न होकर वैश्य मॉडल है जो सस्कारी श्रेष्ठता की अपेक्षा आर्थिक श्रेष्ठता को ही श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि सबरस अपने व्यवसायों के तेलियों पर निर्भर रहते हैं इसलिए उन्होंने तेलियों को सन्दर्भ-समूह के रूप में स्वीकार कर लिया।

यदि हम भारत में जनजाति सस्कृति में परिवर्तन का परीक्षण करें तो हमें छ मुख्य परिवर्तन मिलेंगे। वे इस प्रकार हैं

1. आदिवासियों की जीवन शैली, विशेष रूप से जो शहरी क्षेत्रों के निकट या गैर-आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में रहते हैं, उन्नत (advanced) हिन्दुओं की सस्कृति के अनेक लक्षण धारण करने के कारण अपरिवर्तनीय रही है।
2 परिवर्तन की प्रकृति ऐसी है कि जनजातियाँ न तो अपनी पहचान खो रही हैं और न ही अपनी सास्कृतिक विरासत हो। वे हिन्दू नही हो रहे हैं। अनेक विद्वानों ने इसे वह प्रक्रिया बतायी है जिसमें आदिवासी हिन्दूवाद (की प्रक्रिया) से गुजर रहे हैं। ये विद्वान हैं बोस (1953), दत्ता मजमूदार (1937), देवगावकर (1990), रारा और देबाश राय (1997 .153)। इन्होंने पाती राभा (असम), हो और लुआग (उडीसा), सन्थाल

(बिहार), भूमिज, ओराँव, मुण्डा और कोरकू (महाराष्ट्र) आदि को सन्दर्भित किया है। हमारी मान्यता है कि हिन्दुओं के कुछ सास्कृतिक तत्व अपनाने का अर्थ हिन्दू होना नही है। हमारे तर्क में यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण हैं कि ये आदिवासी अभी भी अपने आपको जनजाति ही कहते हैं, न कि हिन्दू।

3 भारत के कुछ भागों में कुछ आदिवासियों ने ईसाइयत के कुछ गुणों को भी धारण कर लिया है जैसे नागा, मिजो, सन्थाल, ओराँव, मुण्डा, खरिया, आदि। इन पर ईसाइयत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसका साक्ष्य हमें दत्ता मजमूदार (1950) सहाय (1976), सच्चीदानन्द (1964) और एनके बोस (1967) के द्वारा आदिवासियों के सूक्ष्मस्तरीय अध्ययन से लगता है।

4 छोटा नागपुर के आदिवासी, जो असम व उत्तर बगाल चाय बगानों में श्रमिकों की तरह कार्य करते हैं, उनमें परिवर्तन धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की अपेक्षा भौतिक जीवन में अधिक देखा जा सकता है। जो उद्योगों में काम करते हैं उनमें प्रदत्त आर्थिक सुरक्षा के कारण वैयक्तिक दृष्टिकोण विकसित हुआ है जिसने उनमें परम्परागत जीवन के प्रति उपेक्षा भाव विकसित किया है।

5 आदिवासी क्षेत्रों में कृषि उद्योगीकरण ने आदिवासियों के जीवन को इस हद तक प्रभावित किया है कि परिवार की सरचना, विवाह सस्था, सत्ता सरचना अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, वश पचायत सत्ता का कमजोर होना, आदि परिवर्तन तक देखे जा सकते हैं। (R K Kar, 1981) मजदूर सघों का भी आदिवासी श्रमिकों पर काफी प्रभाव पडा है। आदिवासी मजदूरों ने स्वय को 'वर्ग' के रूप में सगठित कर लिया है जिससे उनके सक्रिय राजनीति में भाग लेने के अवसर बढ गए हैं। वे आदिवासी जो लम्बे समय से खदानों (mines) और कोयले की खानों में काम कर रहे हैं अपने समुदाय के लोगों से सम्बन्ध नही रख पाते हैं जिसके कारण उन्हें खानों के कार्य में ही लिप्त रहने के लिए बाध्य होना पडता है। इससे उन्हें कई सामाजिक प्रथाओं को छोडना पडता है और नई अभिवृत्तिया और व्यवहार प्रतिमानों को अपनाना पडता है। सच्चीदानन्द (1964) ने बिहार के मुण्डा और ओराँव जनजातियों में ऐसे परिवर्तनों के विषय में बताया है। आरचन्द्रा (1989) ने भी उडीसा की अरुला और जुआग जनजातियों के सामाजिक-सास्कृतिक जीवन में परिवर्तनों की बात कही है, जो परम्परागत रूप से शिकार, भोजन एकत्र करने और स्थानान्तरण खेती (shifting cultivation) के आदी थे लेकिन वे अब बागानों, कृषि व मजदूरी में स्थापित हो गए हैं। उन्होंने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपना लिया है तथा स्कूल, बैंक, सहकारी समितियों तथा चिकित्सा, आदि की सुविधाओं का लाभ उठाने लगे हैं।

6 आधुनिक शक्तियों के प्रभाव के कारण आधुनिक मूल्यो को अपनाना तथा परम्परागत प्रथाओं का त्याग आदिवासियों को लाभदायक सिद्ध नही हुआ। अनेक जनजातिया कुसमायोजन की समस्या का सामना कर रही हैं। आर जोशी (1984) के अनुसार बैगा जनजाति ऐसी ही एक जनजाति है जिसके सदस्य पूर्व में हँसी-खुशी से तथा सन्तुष्ट रहने वाले लोग थे, जो नृत्य तथा महुआ पीने में शाम व्यतीत किया करते थे, जिनके पास जमीने तो थी किन्तु चिन्हित पट्टे नही थे, जिनकी स्त्रिया निर्भय होकर

सोने-चाँदी के आभूषण पहनती थी, लेकिन वे अब भयभीत रहती हैं और स्वार्थी लोगों द्वारा ठगी जा रही हैं। खुशी की जगह दुखों ने ले ली है।

अत यह स्पष्ट है कि आदिवासी विभिन्न ताकतों के सम्पर्क में आने से सामाजिक, आर्थिक व सास्कृतिक दृष्टि से काफी बदल गए हैं जिनसे उन्हें कई प्रकार के लाभ हुए हैं लेकिन उनके समुदायों में कई बुराइयों ने भी प्रवेश कर लिया है। अनेक आदिवासी भूमि व वनों पर अपना वर्चस्व खो चुके हैं। उन्हें बडे महाजनों, जमींदारों व्यापरियों द्वारा कई मामलों में शोषण किया जाता है। इसके बावजूद भी हम वेरियर एलविन जैसे विद्वानों के विचारो का समर्थन नही कर सकते जो आदिवासियों को आशिक रूप से या पूर्ण रूप से अलग रखने के पक्षधर हैं और जिन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इन लोगों को जहा तक सम्भव हो अपने आदिवासी जीवन को मूल रूप में तथा परम्परागत ढग से रहने की अनुमति दी जानी चाहिए। यद्यपि हम यह नही चाहते कि आदिवासी संस्कृति नष्ट हो जाये लेकिन साथ ही हम यह भी नही चाहते कि वे पिछडे हुए रहें और विकास की विभिन्न योजनाओं, जैसे औद्योगिक विकास, व्यावसायिक गतिशीलता, शिक्षा, और कल्याण योजनाओं का लाभ न उठाएं। आदिवासियों के अलग तथा एकाकी जगत की दशा जिससे उनमें गरीबी, अशिक्षा, शोषण आदि पैदा होते हैं, इस युग में सहन नही किए जा सकते। न्याय, जागृति, सहायता, और सहयोग आदि उनके लिए आवश्यक हैं।

आदिवासियो का विस्थापन और पुनर्स्थापना
(Displacement and Resettlement of Tribals)

हाल के ही वर्षों में आदिवासियों के विस्थापन ने अनेक विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। अनुमान है कि विकास योजनाए, जैसे बाँध, खानें, उद्योग और अन्य विविध योजनाओं ने 1951 और 1991 के बीच लगभग 40 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित किया है (Fernandes, 1994 24)। अशिक्षित और शक्तिहीन आदिवासियों को अपने ससाधन सम्पन्न क्षेत्रों को छोडने के लिए बाध्य किया गया है तथा अन्य स्थानों को जाने के लिए मजबूर किया गया है। इससे अनेक पुनर्वास की समस्या उत्पन्न हुई। एक अनुमान है कि लगभग 20 प्रतिशत आदिवासियों का पुनर्वास हो गया है। महाराष्ट्र और गुजरात में 'भूमि के लिए भूमि' योजना के अन्तर्गत 10,000 योग्य (eligible) आदिवासी परिवारों में से केवल 15 प्रतिशत को ही भूमि स्वीकृत की गई (Fernandes, वही 36)। इससे आदिवासियों में गरीबी और उनका सीमान्तीकरण (marginalisation) बढा है। कई क्षेत्रों में आदिवासियों ने अपने समर्थन की व्यवस्था को छीने जाने का विरोध किया और आन्दोलन शुरु कर दिया। ऐसे आदिवासी आन्दोलनकारी आन्ध्र प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, अरुणाचल प्रदेश, उडीसा, मध्य प्रदेश, आदि में भी थे। आश्चर्य तो यह है कि आदिवासी उच्च जाति के गैर-आदिवासी किसानों से अधिक उत्तेजित आन्दोलनकारी सिद्ध हुए यद्यपि वे अशिक्षित और कम सगठित हैं। इस तथ्य को प्राकृतिक ससाधनों पर निर्भरता की सीमा, बाहरी समाज के साथ सम्पर्क, उनमें नेतृत्व की सीमा, तथा योजना से मिलने वाले लाभ की आकाक्षा में अन्तर के अर्थों में समझाया जा सकता है। (Walter Fernandes, "Displacement of Tribals", in George Pfeffer, "*Contemporary Society Tribal Studies*",

1997 82)। आदिवासी इन योजनाओं का विरोध करते हैं क्योंकि उनका अधिकतर भोजन और प्रतिदिन की आवश्यकता की वस्तुए जगलों और उन्हें स्थानान्तरण कृषि से प्राप्त होती है। जगलों पर यह निर्भरता आदिवासियों के प्रतीकात्मक सम्बन्धों और उनकी आजीविका के ससाधनों से विकसित होती है। दूसरा कारण है लाभों की अपर्याप्तता। जगलों के लिए उन्हें कोई क्षतिपूर्ति प्रदान नही की जाती क्योंकि आदिवासी जिसे अपनी निजी सम्पत्ति समझते हैं वह वास्तव में सरकारी है। छोटी से छोटी भूमि का टुकडा जो उनके पास होता है उसकी क्षतिपूर्ति भी कम होती है (लगभग 3000 रुपये प्रति एकड)। जो कुछ भी थोडी बहुत राशि क्षतिपूर्ति के रूप में उन्हें मिलती है उसमें से भी मध्यस्य व्यक्ति तथा महाजन ले लेते हैं। इस प्रकार वे गरीब ही रह जाते हैं। तीसरा कारण यह है कि उनकी शिक्षा इतनी कम होती है कि योजनाओं में काम मिलने की उन्हें कोई उम्मीद नही होती। अधिक से अधिक उन्हें अकुशल मजदूर के रूप में अस्थाई काम मिल जाता है। यह सभी कारण उन्हें नयी योजनाओं के विरुद्ध विद्रोह के लिए बाध्य करते हैं और उन्हें अपनी स्थाई भूमि से विस्थापित होना पडता है।

लेकिन गोविन्द बाबू (1997 92-94) का मानना है कि बाधों के निर्माण से सम्बद्ध चार विभाग हैं (a) सरकार व नौकरशाह (b) वैज्ञानिक व पर्यावरणविद् (c) सरक्षित क्षेत्र के लोग (d) कमाण्ड क्षेत्र के लोग। सरकार राजनैतिक व आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बाँध बनाने का समर्थन करती है। नौकरशाह उनका समर्थन करते हैं क्योंकि वे सरकार के प्रवक्ता होते हैं और उन्हें अपनी प्रोन्नति के अवसर अच्छे बनाने हैं। वैज्ञानिक, तकनीकी विशेषज्ञ और पर्यावरणविद् अधिक वस्तुपरक होते हैं। तकनीकी विशेषज्ञ जहा प्रोजेक्ट की साध्यता (feasibility) के विषय में चिन्तित रहते हैं, वही पर्यावरणविद् पर्यावरणीय पक्ष से। कमाण्ड क्षेत्र के लोग विस्थापित होना नही चाहते, भले ही वे गरीब हों क्योंकि उन्हें डर होता है कि उन्हें अनिश्चितता में पुन नवीन जीवन शुरू करना पडेगा। वे अपने नातेदारों और गाव वालों के सबधों से भी अलग नही होना चाहते हैं। कमाण्ड क्षेत्र के लोग इस विचार को अच्छा मानते हैं क्योंकि इससे कृषि सम्पन्नता तथा वर्ष भर रोजगार के अवसरों की आशा होती है।

बाँधों की उपयोगिता को नकारा नही जा सकता। प्रश्न केवल गरीब आदिवासी क्षेत्रों के आदिवासियों के पुनर्वास की व्यवस्था करने का उठता है। इन विस्थापितों की सामाजिक और सास्कृतिक उथल पुथल महत्वपूर्ण है। ध्यान देने योग्य प्रश्न हैं कि (1) क्या विस्थापित आदिवासी पुनर्स्थापित बस्तियों (RCS) में रहना पसन्द करते हैं ? (2) क्या सरकार विस्थापित लोगों को आरसीएस (RCS) में रखने के लिए किसी नियम का पालन करती है ? (3) क्या क्षतिपूर्ति योजना वस्तुपरक (foolproof) है और क्या क्षतिपूर्ति राशि ठीक से प्रयोग की जाती है (4) विस्थापित लोग, जो पुनर्स्थापित बस्तियों में व्यवस्थित नहीं हो पाते, किस प्रकार जीविका चलाते हैं ? (5) पुनर्स्थापित बस्तियों में पुनर्स्थापित लोग अपने परम्परागत व्यवसाय अपनाए रहते है या वे नये व्यवसायों के साथ सामजस्य बना लेते हैं ? (6) क्या विस्थापित लोग हटने के बाद या दौरान में किसी प्रकार की यातना का अनुभव करते हैं ?

आदिवासी क्षेत्रों में बाधों की सफलता और उपयोगिता उपरोक्त प्रश्नों को गम्भीरता से विचार करने और उनके तर्कसगत हल निकलने पर निर्भर करेगी क्योंकि आदिवासियों के

सास्कृतिक लक्षण तथा सरचनात्मक विशेषताए जाति समूहों की तुलना में बिल्कुल भिन्न हैं। वे अपनी सास्कृतिक प्रथाओं में कठोर हैं तथा परिवर्तन के बाह्य कारकों के प्रति कम उत्साह रखते हैं।

एकीकरण और आत्मसातकरण (Integration and Assimilation)

डालटन, रिजले तथा अन्य ब्रिटिश शासकों ने 'हिन्दू हुए आदिवासी' और 'आदिवासियों के हिन्दू बने भाग' की बात की है। उन्होंने कई सास्कृतिक विशेषताओं को बताया जिन्हें आदिवासियों ने हिन्दू पडोसियों से धारण किया है। क्या कल्याण और विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों को राष्ट्रीय मच पर लाकर खडा कर दिया है ? क्या उन्होंने आदिवासियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाया है? विद्वानों ने स्वीकारा है कि आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच की दूरी आंशिक रूप से साम्राज्यवादी उप-निवेशी शक्तियों की राजनैतिक नीतियों के कारण बनी और कुछ अश तक इस कारण क्योंकि गैर-आदिवासी आदिवासियों को शेष जनसख्या से नैतिक व सास्कृतिक रूप से अलग मानते थे। अत स्वतत्रता के बाद आदिवासियों की विशिष्ट व्यवहार और यहाँ तक स्वायत्तता की माग ठीक थी। उन्होंने आदिवासियों को जीववादी (animist) की सज्ञा दी। नृजाति वैज्ञानिकों ने उनकी नृजातीय विशेषताओं और प्रजातीय पृष्ठभूमि की ओर सकेत किया। लेकिन घूर्ये के अनुसार सास्कृतिक और भाषायी स्तर पर आदिवासी पडौसी हिन्दू ग्रामीण समुदायों तथा गैर-आदिवासियों से उल्लेखनीय रूप में भिन्न नही हैं। इस दृष्टिकोण का समर्थन डी.एन मजूमदार और अय्यापन ने भी किया है। अनेक आदिवासी समूहों ने अपने अर्ध-एकाकी निवासों से हटकर तथा मैदानों में प्रवेश करके हिन्दू जाति व्यवस्था के कई प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया है। आदिवासियों में बडी सख्या में सामाजिक सुधारों और धार्मिक आन्दोलनों से यह साक्ष्य मिलता है कि उनमें हिन्दू जाति व्यवस्था में मिल जाने की इच्छा है। कुछ जनजातिया जैसे मिजो, खासी, नागा, मुण्डा, भील, आदि पिछडी रह गई हैं। उनका प्रौद्योगिकी-आर्थिक पिछडापन और परम्परागत मूल्यों से उनका चिपका रहना हिन्दू समाज में उनके सलग्नता के मार्ग में अवरोधक रहे हैं।

प्रश्न यह है क्या सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का लक्ष्य आदिवासियों के राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में पूर्ण आत्मसातकरण करना है या उनके हितों, रीतिरिवाजों तथा सस्थाओं की सुरक्षा की चिन्ता बताकर, उनके जीवन के तरीकों की रक्षा करके तथा विकास सुनिश्चित करके उनका सामाजिक एकीकरण करना है ? ऐसा मालूम पडता है कि विभिन्न योजनाएँ और कार्यक्रम उन्हें सामाजिक अन्याय व शोषण से बचाने तथा उनके जीवन के सामान्य तरीकों को उठाने के उद्देश्य से बनाए जा रहे हैं। आदिवासी क्षेत्रों का गठन, शैक्षिक सस्थाओं तथा जन सेवाओं में उनके लिए स्थानों का आरक्षण टी.एम.एस योजनाओं का प्रारम्भ, सभी का उद्देश्य आदिवासियों का उत्थान तथा हिन्दू समाज में उनका सामाजिक व सास्कृतिक एकीकरण है। लेकिन एकीकरण और समरूपता में आत्मसातकरण की प्रक्रिया द्वारा गलत नहीं समझा जाना चाहिए। हमें परिवर्तन की तीन प्रक्रियाओं के विषय में, अर्थात् परसस्कृतिग्रहण, एकीकरण (सामाजिक और सास्कृतिक), और आत्मसातकरण के विषय में स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

परसस्कृतिकरण (acculturation) एक या अनेक अन्य सस्कृतियों के साथ सम्पर्क द्वारा एक समूह की सस्कृति का अर्जन व परिवर्तन है। आदिवासियों के मामलों में इसका अर्थ है कि आदिवासी हिन्दू समाज की ऐसी सास्कृतिक विशेषताओं को अपना लेते हैं जो वे अपने उत्थान व विकास के लिये कार्यात्मक समझते हैं। *सामाजिक एकीकरण* (integration) अनेक समूहों (tribes) का एक समूह (हिन्दू समाज) में पूर्व के सामाजिक व सास्कृतिक समूह (tribal) का अन्तर समाप्त करना है। सास्कृतिक एकीकरण नये सास्कृतिक विशेषताओं को अपनाने से परम्परागत सास्कृतिक विशेषताओं का समायोजन है। हिन्दू समाज में आदिवासियों का एकीकरण पुरानी आदिवासी विशेषताओं का त्याग नहीं है। इसमें एक व्यवस्था के भीतर ही एकता शामिल है जो कि हिन्दुओं से नयी विशेषताओं को ग्रहण करने का परिणाम है। *आत्मसातकरण* (assimilation) (एक तरफा वाली) प्रक्रिया है जो एक समूह (जनजाति) की सस्कृति लेती है और दूसरी की पहचान (हिन्दू समाज), और उस समूह का हिस्सा बन जाती है। समूह का विलय (जनजाति का) इस प्रकार, आदिवासी और गैर-आदिवासियों के बीच सास्कृतिक अन्तर को पूर्ण रूप से समाप्त कर देता है।

जनजातियों को अपनी सास्कृतिक पहचान और अपने सामाजिक अस्तित्व की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्रत्येक जनजाति के सामने तीन विकल्प होते हैं : (i) बहुसख्यकों के साथ अस्तित्व बनाए रखना, (ii) अपने आपको प्रभुत्वशाली समूह के साथ मिला लेना, (iii) समानता के आधार पर राजनैतिक स्वतत्रता प्राप्त करना। विभिन्न जनजातियों ने उपरोक्त वर्णित तीन प्रक्रियाओं में से भिन्न-भिन्न प्रक्रियाए अपनायी हैं। उदाहरण के लिए भीलों और मीणाओं ने सह-अस्तित्व की प्रथम प्रक्रिया अपनायी, औरॉव और रोण्ड (Rhond) जनजातियों ने हिन्दू समाज में विलय की दूसरी प्रक्रिया को अपनाया, जबकि नागा और मिजो जनजातियों ने धर्म त्याग की तीसरी प्रक्रिया को अपनाया। हमारी सरकार ने सभी जनजातियों के सास्कृतिक एकीकरण की समान नीति नही अपनाई क्योंकि भिन्न भिन्न आदिवासी विकास की अलग-अलग अवस्थाओं में से गुजर रहे हैं और उनके लक्ष्य व आकाक्षाए भी अलग अलग हैं। स्वाभाविक रूप से विभिन्न जनजातियों के एकीकरण का स्तर भी अलग अलग है। हम केवल यही कह सकते हैं कि आदिवासी देश के वृहत् अर्थतन्त्र की ओर आकर्षित हो रहे हैं और स्वय को बाजार अर्थव्यवस्था में शामिल कर रहे हैं। कृषि अनेक जनजातियों के लिए आर्थिक क्रिया का प्रमुख केन्द्र बनती जा रही है। 1991 की जनगणना के आकडों के अनुसार देश के लगभग तीन चौथाई आदिवासी कृषक के रूप में कार्यरत हैं जबकि पाचवॉ भाग कृषि मजदूर और शेष खानों, जगलों या अन्य सेवाओं मे लगे हैं। यह तथ्य कि आदिवासी कृषक कृषि के आधुनिक तरीकों को अपना रहे हैं, भारतीय समाज के आदिवासियों की अर्थव्यवस्था की ओर सकारात्मक प्रगति की ओर इगित करता है। परन्तु आदिवासियों के आर्थिक एकीकरण का अर्थ यह नही है कि सभी जनजातियों ने आय के उच्चतम स्तर को प्राप्त कर लिया है। अनेक आदिवासी अभी भी गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं।

आदिवासी देश की राजनैतिक व्यवस्था में भी समायोजित होते जा रहे हैं। पचायती राज के प्रारम्भ होने से उन्हें राजनैतिक क्रियाकलापों में भाग लेने का अवसर मिला है। चुनाव लडकर उन्होंने पचायत समितियों और राज्य स्तर पर सता हथियाना शुरू कर दिया

है। इससे उनका शैक्षिक व सामाजिक विकास भी सम्भव हुआ है। सामाजिक जीवन में भी आरक्षण नीति के कारण अब वे लोग अच्छे सामाजिक पदों पर आ रहे हैं। यद्यपि वश पचायतें उनके लिए निरर्थक नहीं हुई हैं लेकिन उनकी भूमिका विवाह और भूमि आदि सघर्षों में अधिक महत्वपूर्ण है। अत अब जनजातीय पचायतें कमजोर हो गई हैं। यह कहा जा सकता है कि एक ओर तो जनजातियों ने अपनी सास्कृतिक पहचान बनाए रखी और दूसरी ओर उन्होंने अपने आप को देश की वृहत् आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक व्यवस्थाओं में सकलित कर लिया है। इस सकलन ने जनजातियों और गैर जनजातियों के बीच की दूरी को समाप्त करने का रास्ता बना दिया है यद्यपि सामाजिक समानता प्राप्त करने में उन्हें अभी भी सफलता नही मिली है।

वृहत् समाज में जनजातीय सकलन का विश्लेषण करने में घूर्ये (1943) का जनजातियों को पिछडे हिन्दू कहने का प्रतिरूप, या मजमूदार (1944) का जातिवादी हिन्दुओं के साथ सम्पर्क के द्वारा आदिवासियों का हिन्दू विचारों को अपनाये जाने का प्रतिरूप, या एम.एन श्रीनिवास (1952) का सस्कृतिकरण का मॉडल अर्थात् जनजातियों का उच्च जातीय प्रथाओं का पालन करना, या बेली (1960) का दो किनारों पर खडे रहने का मॉडल जिसमें एक छोर पर जनजातिया और दूसरे पर जाति हो, को लेना उपयुक्त होगा। लुज और मुन्डा (Lutz and Munda, 1980) ने घूर्ये और श्रीनिवास के मॉडल की आलोचना करते हुए कहा है कि आदिवासियों में परिवर्तन को समझने के लिए आधुनिकीकरण का मॉडल ठीक रहेगा। आदिवासी समाज किस प्रकार जातिवादी हिन्दू या ईसाई समाज होते जा रहे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लुज और मुण्डा ने जनजातियों में परिवर्तन की प्रेरणा देने के लिए सरकार और मानवशास्त्रियों को मिलकर काम करने के लिए कहा है। मानवशास्त्री सरकारी कार्यक्रमों के प्रभाव का मूल्याकन करते रहे हैं और उनकी असफलताओं की ओर इशारा करते रहे हैं। 1966 में राय बर्मन ने भारतीय समाज, भारत सरकार और समाज वैज्ञानिकों का जनजातियों के विरुद्ध मजबूत नृजातीय पुर्वाग्रह देखा। उनका मानना था कि इन समूहों को जनजातियों की सज्ञा इसलिए दी गई क्योंकि मुख्य धारा का हिन्दू समाज इन आदिवासियों को भूतकाल में भी और वर्तमान में भी अलग समझता है। एल.पी विद्यार्थी (1968) ने जनजातीय विचारों को स्वीकार किया जो कि उनमें परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है। हमारी मान्यता है कि जब तक आदिवासी स्वय ही अपने भीतर से आदिवासी होने की भावना और सीमाओं का त्याग नही करते, जब तक वे अह और आत्म विश्वास विकसित नही करते, जब तक वे उधार की कृपा व सरकारी आरक्षण नीति पर पलना नही रोकते, केवल सरकारी नीतियाँ प्रसन्न करने की धारणा से उनके लिए कुछ नही कर सकते। आदिवासी स्वय को भारतीय समाज में अपनी सस्कृति से बँधे रह कर नही बल्कि नये अवसरों को खोजकर ऊपर उठ सकते हैं।

10

ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था

(Rural Social System)

ग्रामीण समुदाय के सामाजिक-सास्कृतिक आयाम
(Socio-Cultural Dimensions of Rural Community)

ग्रामीण लोग जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है प्रकृति के अधिक निकट हैं, नातेदारी और भिन्नता के घनिष्ट बन्धन मानते हैं, और परम्परा, समान राय (मतैक्य) और अनौपचारिकता पर बल देते हैं। गाँवों में जनसख्या घनत्व इतना कम होता है कि यह न केवल उत्पादन और वितरण को प्रभावित करता है बल्कि समूचे समुदाय के लोगों के जीवन स्तर को भी प्रभावित करता है। शहरों की तुलना में जन्म और मृत्यु दर दोनों ही अधिक होती हैं जो कि ग्रामीण लोगों के गुणात्मक एव गुणवत्तापरक विकास को विपरीत प्रभावित करते हैं। ग्रामीण लोगों के जीवन का एक और पक्ष जिस पर अध्ययन की आवश्यकता है, वह है आयु और लिंग समूहों में उनका वितरण। लगभग 45 प्रतिशत ग्रामीण लोग उत्पादक आयु (15 से 59) के हैं और लगभग 55 प्रतिशत काम करने वाले (*Manpower Profile*, India, 1998 135)। बच्चों की (14 से कम) और बूढ़ों (60+) की अधिक सख्या लोगों के काम करने वाले समूह के आर्थिक और सामाजिक जीवन को काफी प्रभावित करती है। इसी प्रकार यह तथ्य कि प्रति 1000 पुरुषो पर स्त्रियों की सख्या शहरों की अपेक्षा गाँवों में अधिक है और यह तथ्य कि 33 0 प्रतिशत ग्रामीण स्त्रियाँ कार्य शक्ति से सम्बद्ध होती हैं (56 1 प्रतिशत ग्रामीण पुरुषों के विपरीत) लिंग लोकरीतियाँ (sex mores), सामाजिक नियमों, सामाजिक कर्मकाण्ड, और सामाजिक सस्थाओं को प्रभावित करता है। गाँवों में परिवार सरचना, जाति रचना, धार्मिक विभेद, आर्थिक जीवन, भूमि सम्बन्ध, गरीबी, और जीवन स्तर भी ग्रामीण लोगों के जीवन को प्रभावित करते हैं। इन सभी पक्षों का अलग-अलग वर्णन करना जरूरी है।

परिवार (The Family)

परिवार और परिवारवाद (familism) गाँवों के भौतिक और सास्कृतिक जीवन में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं और ग्रामीण सामूहिकता (collectivity) की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को परिवर्तित करते हैं। एक ओर जहाँ सयुक्त परिवार प्रमुख रूप में अभी भी मिलते हैं, दूसरी ओर एकल परिवार भी विद्यमान हैं। एकल परिवार ग्रामीण क्षेत्रों में बाजार अर्थव्यवस्था के विकास के परिणाम स्वरूप, युवा वर्ग के शहरों में चले जाने के कारण, और ग्रामीण समाज पर शहरी सामाजिक आर्थिक शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप पाये जाते हैं। इस परिवर्तन के बावजूद, शहरी परिवार की तुलना में ग्रामीण परिवार कही अधिक समजातीय

(homogeneous), एकीकृत (integrated) और सावयविक रूप में कार्य करने वाला (organically functioning) है। माता-पिता के बीच, पति-पत्नि के बीच, सहोदर (भाई-बहन) के बीच, तथा निकट नातेदारों के बीच के सम्बन्ध ग्रामीण परिवारों में शहरी परिवारों की अपेक्षा अधिक मजबूत होते हैं और अधिक समय तक चलते हैं। ग्रामीण परिवारों की अन्य विशेषता यह भी है कि ये कृषि उन्मुख होते हैं, अर्थात इनके सदस्यों की बडी सख्या कृषि व्यवसाय में लगी होती है। ग्रामीण परिवारों के सदस्य क्योंकि एकल आर्थिक इकाई बनाते हैं, कृषि कार्यों में एक दूसरे की सहायता करते हैं, सबसे बूढे सदस्य द्वारा सचालित सम्पत्ति में समान अधिकार रखते हैं, और क्योंकि वे अपना अधिक समय एक साथ व्यतीत करते हैं, उनके विश्वास, अभिवृत्तिया, आकाक्षाएँ, और मूल्य समान होते हैं। सदस्यों की परस्पर निर्भरता उनमें सामूहिक पारिवारिक चेतना अधिक विकसित करती है और वैयक्तिक भावनात्मक चेतना कम। यद्यपि शहरीकरण, औद्योगीकरण, शिक्षा, आदि के प्रभाव ने परम्परागत सत्तात्मक सरचना को कमजोर किया है, केन्द्रीकृत प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, और एकल क्रियाशीलता पर आधारित आर्थिक समानता को कम किया है, फिर भी परिवार अणुकृत (atomistic) नही हुआ है। यह कहना तर्कसंगत न होगा कि यद्यपि ग्रामीण परिवार में गुणवत्तात्मक परिवर्तन हो रहे हैं, परिवारवाद का प्रभाव कम हो रहा है, पारिवारिक अह कम हो रहा है और प्रथाओं के शासन के स्थान पर कानून का शासन आ गया है, फिर भी परिवार का विघटन नही हो रहा है।

जाति व्यवस्था (Caste System)

एक समय था (1940 तक) जब ग्रामीण क्षेत्रों में जाति प्रथा बडी कठोर थी, जाति समितियाँ बडी शक्तिशाली थी और जाति ही व्यक्तियों की गतिशीलता के लिए अवसरों और प्रस्थिति का निर्धारण करती थीं, यहाँ तक कि भू-स्वामित्व और शक्ति सरचना भी जाति आधार पर चलती थी। लेकिन 1950 के बाद सचार साधनों के प्रसार से, शिक्षा के विकास से, प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था के विकास आदि से स्व-केन्द्रित जाति गतिशील (mobile) वर्गों में बदल गई है। कुछ जातियाँ अपनी पूर्व प्रस्थिति और कार्यों को समाप्त करती जा रही हैं और आधुनिक समाज के निम्नतम वर्गों में विलीन होती जा रही हैं, जबकि दूसरी ओर कई निम्न जातिया आर्थिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करती जा रही हैं और प्रभावशाली जातियों के रूप में उभर रही हैं। एआर देसाई, आन्द्रे बेतेइ, योगेन्द्र सिंह, बी आर चौहान, आदि विद्वानों ने जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों, लोगों पर इसके घटते प्रभावों, और वर्ग व्यवस्था के बढते प्रभावों की ओर सकेत किया है।

जाति व्यवस्था पर आधारित ग्रामीण ऋणग्रस्तता सहित आर्थिक जीवन में भी परिवर्तन आ रहा है। आरके नेहरु ने कुछ गाँवों के अपने अन्वेषणात्मक अध्ययन में सकेत दिया है कि जाति, ऋणग्रस्तता और ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण देने के सम्बन्ध में, पूर्व में कितने घनिष्ट सम्बन्ध होते थे जो आज भी विद्यमान हैं। ऐसी जातियाँ भी होती थीं जिनमें ऐसे सदस्य होते थे जो अनुवाशिक ऋणी होते थे, जबकि कुछ अन्य वे होते थे जो मुख्य रूप से ऋणदाता होते थे। हाल के कुछ अध्ययनों से इनमें आए परिवर्तनों का पता चला है। जाति के आधार पर आवासीय स्वरूपों में भी परिवर्तन आया है। जब पूर्व में कुछ क्षेत्र और उनमें बने मकान

जाति सदस्यता पर निर्भर होते थे, आज जाति और आवास में कोई सम्बन्ध नही है। ग्रामीण क्षेत्रों में जाति व्यवस्था से सम्बन्धित और महत्त्वपूर्ण तथ्य थे—व्यवसायिक, आर्थिक और सामाजिक गतिशीलता। अब जाति के सदस्य आवश्यक रूप से जाति निर्धारित पेशों को नही करते। फलस्वरूप, कुछ जातियाँ आर्थिक सीढी में नीचे उतरती हैं और कुछ ऊपर चढ रही हैं। पूर्व में शिक्षा के प्रति लोगों के दृष्टिकोण को जाति निर्धारित करती थी लेकिन आज सबसे पिछडी जातियों ने अपने बच्चों को (लडकियों सहित) शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजना शुरू कर दिया है। ग्रामीण लोगों का धार्मिक जीवन जो कठोरता से जाति द्वारा निर्धारित होता था अब इसमे बिल्कुल प्रभावित नही है। गाँवों में धार्मिक प्रथाएँ भी धीरे-धीरे बदलती जा रही हैं। आज गावों के राजनीतिक जीवन को जाति भी प्रभावित कर रही है। राजनैतिक चुनावों में उम्मीदवारों का चयन या अस्वीकृति और साथ ही प्रचार का तरीका भी पूर्व रूपेण जाति-विचारों से निर्धारित नही होते। आज जाति सबधों के बाहर के अतिरिक्त विचार राजनैतिक पूर्वाग्रहों और वरीयताओं को काफी प्रभावित करते हैं। नेतृत्व भी, आज के ग्रामीण समाज में, पूर्ण रूपेण जाति सदस्या पर निर्भर नही है। जाति के नेता ग्रामीण लोगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और वैचारिक जीवन में अब नेता नही है। जजमानी तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। नये विधानों ने भी ग्रामीणों के अन्तर्जातीय सम्बन्धों को प्रभावित किया है। सक्षेप में, ग्रामीण जीवन में विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

धर्म (Religion)

ग्रामीण धर्म को तीन पक्षों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है (i) विशेष दृष्टिकोण देने वाला, जैसे आत्माओं के कब्जे में होने की बात, जादू-टोने, भूतविद्या, पूर्वजों की पूजा, आदि में विश्वास करना, (ii) धार्मिक प्रथाओं की सस्था के रूप में प्रार्थना, बलि व कर्मकाण्ड आदि सहित (iii) सस्थात्मक समूह के रूप में अर्थात् अनेक उप-धार्मिक और धार्मिक पन्थों के समूह, जैसे वैष्णव, शैव आदि।

स्वतत्रतता से पूर्व ग्रामीण सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के निर्धारण में धर्म महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। ऐसा इसलिए था क्योंकि ग्रामीण लोगों के धर्म के पति पूर्वानुकूलता शहरी लोगो की अपेक्षा अधिक थी। वर्षा, दैवी प्रकोप, आदि प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर कृषि में उच्च या निम्न उत्पादन, देवताओं का प्रसन्न या अपसन्न होना, ग्रामीण जन में धार्मिकता की ओर सकेन करता है। आत्माओं, जादू, भूतविद्या और अन्य प्रकार के आदि धर्मों में विश्वास ग्रामीण लोगो में अत्यधिक प्रचलित थे।

ग्रामीण लोगों का धार्मिक दृष्टिकोण उनके बौद्धिक, भावात्मक और व्यावहारिक जीवन को भी प्रभावित किये हुए था। उनके जीवन के किसी भी ऐसे पक्ष को ढूढना कठिन था जिस धर्म का रग न चढा हो। उनके धार्मिक विश्वासों, लोक गीतों, कलाकृतियों, वैवाहिक रीति रिवाजों और सामाजिक उत्सवों को भी प्रभावित करते थे। रीति सस्कार वे धार्मिक साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति की शुद्धता और उसका सामाजिक जीवन विश्वस्त हो जाता है। खान-पान सम्बन्धी सस्कार, जन्म सम्बन्धी सस्कार, विवाह सम्बन्धी सस्कार, मृत्यु सम्बन्धी सस्कार, पेशे सम्बन्धी सस्कार, बीज बोने और फमल काटने सम्बन्धी सस्कार, अनेक सस्कार

है। ये संस्कार ग्रामीण जीवन में प्रभावी हैं। ये सस्कार व्यक्ति और सामाजिक समूहों के जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनके व्यवहार के स्वरूप को निश्चित करते थे। एक विशेष जाति के लिए संस्कारों का विशिष्ट विधान था। उनके सदस्यों में इन सस्कारों का कठोर क्रियान्वयन सामाजिक निन्दा या जाति निष्कासन का भय स्वीकृति प्रदान करता था।

ग्रामीण क्षेत्रों में मन्दिरों का भी बडा महत्व था और आज भी है। मन्दिर न केवल प्रार्थना के लिए वरन् शिक्षा, सास्कृतिक कार्यक्रमों के प्रबन्ध, सामाजिक उत्सवों और सामाजिक कल्याण कार्यों के करने में, सार्वजनिक सभाओं के जुटाने में, नैतिक मूल्यों के प्रचार प्रसार में तथा न्याय प्रदान करने में भी प्रयोग किये जाते हैं। देवी, देवताओं की मूर्तियों के साथ-साथ स्थानीय देवताओं के भी चित्र मन्दिरों में मिलते हैं। गाँवों में कुछ मन्दिर सार्वजनिक और कुछ निजी स्वामित्व वाले हैं।

स्वतत्रता के पश्चात नये आर्थिक व राजनैतिक वातावरण में, नये प्रतिमान, मूलरूप से गैर-धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष तथा उदारवादी लोकतांत्रिक विचारों से उत्पन्न प्रतिमानों का उदय हुआ है और धार्मिक प्रभुत्व वाले प्रतिमानों पर उनका वर्चस्व बढने लगा है। गाँव के लोगों ने लोकतान्त्रिक तथा समतावादी विचारों को अपनाना शुरू कर दिया है। नये धर्मनिरपेक्ष सघ व सस्थाएँ तथा नये धर्मनिरपेक्ष नेतृत्व और सामाजिक नियत्रणों का ग्रामीण समाज के अन्दर ही उदय होना शुरू हो गया है। इसका भी यह अर्थ नही है कि आज के ग्रामीण लोगों के मस्तिष्क पर धर्म का शक्तिशाली नियत्रण नही रहा। वास्तव में, समकालीन ग्रामीण समाज एक ओर तो धार्मिक कट्टरवाद और प्रभुत्व सम्पन्न सामाजिक अवधारणाओं के बीच सघर्षों का युद्ध-स्थल बन गया है और दूसरी ओर धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक प्रगति का।

कृषक वर्ग सरचना (Agrarian Class Structure)

यदि हम स्वतत्रता पश्चात् के भारतीय ग्रामीण वर्ग की सरचना का विश्लेषण करें तो हमें चार वर्ग मिलते हैं कृषि क्षेत्र में तीन वर्ग हैं, भू-स्वामी, आसामी (tenants) और मजदूर, जबकि चौथा वर्ग है गैर-कृषि वालों का। ए.आर देसाई के अनुसार भू-स्वामी लगभग 22 प्रतिशत, आसामी लगभग 27 प्रतिशत तथा श्रमिक वर्ग के 31 प्रतिशत लोग, और 20 प्रतिशत गैर-कृषक हैं। कृषकों का एक बडा भाग (60%) सीमान्त किसान होते हैं जिनके पास 2 हैक्टेयर से भी कम भूमि होती है। उनके बाद छोटे किसान (16%) 2 से 5 हैक्टेयर भूमि के स्वामी, मध्यम किसान (6%) 5 से 10 हैक्टेयर भूमि वाले, और बडे किसान (18%) 10 हैक्टेयर से अधिक भूमि वाले (Desai A.R op cit, 125)। गाँवों में प्रति परिवार उपलब्ध भूमि एक एकड से भी कम (या 0 4 हैक्टेयर) है। कुल बपित (sown) क्षेत्र का लगभग 75 प्रतिशत खाद्यान्न फसलों से घिरा है। कुल उत्पादन का लगभग 35 प्रतिशत किसानों द्वारा बेचा जाता है। विक्रय के इन सौदों में से लगभग 65 प्रतिशत वस्तुए गाव के ही व्यापारी को बेच दी जाती हैं। *मण्डियों* (markets) में कृषि उत्पादों का विपणन अधिकतर बिचौलियों के हाथों में होता है जो कि व्यक्तिश हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे ही ऋण प्रदान करने के साथ साथ उत्पाद की बिक्री यानी दोनों को सुविधा का नियत्रण करते हैं। इस प्रकार बडी सख्या में श्रमजीवी जन, भूमि की गैर आर्थिक उपयोगिता वाली भूमि के बडी सख्या में स्वामी, तथा कम सख्या में शिल्पी, और स्व-रोजगार में लगे

लोग, ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीणों द्वारा दुखद आर्थिक जीवन को दर्शाते हैं।

कृषि सरचना की पृष्ठभूमि में अब हम कृषि सम्बन्धों (agrarian relations) का विश्लेषण करेंगे। इन सम्बन्धों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है (a) वे जो कानून द्वारा परिभाषित और क्रियान्वित हैं, (b) वे जो रूढिबद्ध (customary) हैं, और (c) वे जो अस्थिर (fluctuating) हैं।

डेनियल थारनर (Daniel Thorner, *Agrarian Structure*, Allied, Delhi 1956 और 1973) तथा दीपान्कर गुप्ता (Deepankar Gupta (ed), *Social Structure*, Oxford University Press, New Delhi, 1991 261-270) ने ग्रामीण क्षेत्रों में तीन वर्गों में वर्णित—भू स्वामी, आसामी और मजदूर कृषकों—वर्गीकरण को अस्वीकार किया है। उनके तर्क का आधार था कि तीनों वर्गों में एक समय में एक ही व्यक्ति हो सकता है। एक व्यक्ति अपने स्वामित्व की कुछ एकड भूमि पर स्वय खेती कर सकता है, कुछ भूमि आसामी को किराए पर दे सकता है और सकट में दूसरों के खेतों में मजदूर की तरह काम भी कर सकता है। उसने कृषि सम्बन्धों का विश्लेषण तीन शब्दों में प्रयोग द्वारा किया है कृषि जमीदारों के लिए *मालिक*, कृषि काम करने वालों के लिए *किसान* (आसामी सहित), और खेती श्रमिकों के लिए *मजदूर*। *मालिक* अपनी कृषि आय मुख्यत (यद्यपि आवश्यक रूप से पूर्णरूपेण नही) भूमि में अपने सम्पत्ति अधिकार से अर्थात् अपनी भूमि के उत्पादन के हिस्से में से प्राप्त करता हैं। यह हिस्सा नकद और वस्तु (foodgrains) के रूप में भी वसूल किया जाता है (उत्पादन का प्रतिशत)। वह अपनी भूमि या तो आसामी को दे सकता है या स्वय मजदूर रखकर इस पर खेती कर सकता है। वह भाडे के मजदूरों का स्वय प्रबन्ध कर सकता है या प्रबन्धक द्वारा भी करा सकता है। मालिक को अन्य स्रोतों से (जैसे, व्यापार या पेशे मे) भी आय प्राप्त हो सकती है। मालिक दो प्रकार के होते हैं : वे जो अनुपस्थित जमीदार हैं और वे जो उसी गाँव में रहते हैं जिसमें उनकी जमीन है। *किसान* काम करने वाले लोग होते हैं जो छोटे भू-स्वामी या आसामी हो सकते हैं। मालिक और किसान में अन्तर उनकी स्वामित्व वाली भूमि के आकार पर होता है। किसान स्वय या उसके परिवार के एक, दो या तीन सदस्य स्वय भूमि पर श्रम करते हैं। कभी कभी किसान की आय इतनी कम होती है कि वह स्वय या उसके परिवार के सदस्य कृषि मजदूर के रूप में काम करते हैं। *मजदूर* भूमि पर काम करके अपनी आजीविका चलाते हैं। वे अपना पारिश्रमिक नकद और कभी कभी वस्तु के रूप में प्राप्त करत हैं। जब उन्हें ग्रामों में काम नही मिलता, वे अन्य राज्यों में चले जाते हैं या तो कृषि मजदूरी करने (जैसे बिहारी लोग पजाब चले जाते है) या निर्माण या औद्योगिक मजदूर के रूप में काम करने।

डेनियल थारनर (Daniel Thorner) ने तीन आधारों पर कृषि सामाजिक सरचना के तीन वर्गों का विश्लेषण किया है—(a) भूमि से प्राप्त आय (अर्थात् किराया, स्वय की खेती से आय या पारिश्रमिक से), (b) अधिकारों की प्रकृति (जैसे स्वामित्व, आसामी, बटाई और बिना किसी अधिकार के), और (c) किए गए वास्तविक कार्य की सीमा (अर्थात् कार्य न करना, थोडा कार्य पूर्ण करना और दूसरे के लिये काम करना)। डी एन धनागे (D N Danagre) ने बिल्कुल भिन्न प्रकार के कृषक वर्ग का प्रारूप दिया है। उन्होंने पाँच प्रकार बताए हैं · (1) *जमीदार*, अर्थात् वे लोग जो मुख्य रूप से भू-स्वामियों के आधार पर

आसामियों से वसूली करके, उप-आसामियों तथा बटाइदारों से आमदनी प्राप्त करते हैं; (ii) *धनी कृषक*, अर्थात छोटे भू-स्वामी जिनके पास अपने परिवार के निर्वाह के लिये काफी भूमि होती है और जो स्वय अपनी भूमि जोतते है, और अपने जमीदारों को थोडा सा किराया देना पडता है, (iii) *मध्यम कृषक*, अर्थात मध्यम आकार की भूमि के स्वामी और अच्छी खासी भूमि पर काम करने वाले उच्च (किराया) लगान देने वाले, (iv) *गरीब कृषक*, अर्थात (अ) वे भू-स्वामी जिनके पास अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त भूमि नही होती और इसलिए वे दूसरों की भूमि किराये पर लेने को बाध्य होते हैं, (ब) छोटी भूमि के आसामी, (स) बटाई वाले, और (v) *भूमिहीन मजदूर*। (Dhanagre, D N, "The Model of Agrarian Classes in India" in Desai A R, *Peasant Movements in India*, Oxford University Press, Delhi, 1983 1920-1950 और भी देखें, Dipankar Gupta, *Social Stratification* 271-275)। धनी कृषक और व्यापारी ऋणदाता आसामियों और भूमिहीन मजदूरों का इतना शोषण करते हैं कि उनके बीच के सम्बन्ध सदैव कटु रहते हैं। उनके पास काफी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्ति होती है। गावों में सहकारी और ऋण समितियों के उदय ने निस्सन्देह *मालिकों* की शक्ति पर प्रभाव डाला है फिर भी वे मजबूत बने हुए हैं।

यहाँ दो बातें ध्यान मे रखने योग्य हैं एक, गाँवों में सहकारी समितियाँ अधिक सफल नही हो पाई है, और, दो, निजी व्यापारी सफलता से कार्य किए जा रहे हैं। स्वार्थी लोग यथा स्थिति बनाए रखना चाहते हैं, यहाँ तक कि भूमि सुधारों से भी मालिकों और महाजनों की शक्ति कम नही की है। जब तक ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति नही होती, जब तक उत्पादन के अधिक समान वितरण के लिए कोई आन्दोलन नही चलाया जाता, जब तक छोटी इकाइयों को आर्थिक बल नही मिलता जिससे कि वे बडे कृषकों और महाजनों तथा व्यापारियों के दबाव का मुकाबला कर पायें, तब तक वर्ग सम्बन्धों के सुधार करने में कोई सफलता प्राप्त नही हो सकती।

भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की समस्याएं आर्थिक अधिक हैं अपेक्षाकृत सामाजिक के। *इस बात से इन्कार नही है कि सामाजिक सरचना में उनकी स्थिति समस्या नही है लेकिन हम* मानते हैं कि रोजगार के अवसरों की समस्या और उनकी मजदूरी की समस्या महत्त्वपूर्ण है। रोजगार के अवसरों की समस्या कृषि अर्थव्यवस्था के विकास और गाँव के शिल्पियों को प्रोत्साहन से सम्बद्ध है। कृषि श्रमिक जांच में कृषि श्रमिक का वर्णन इस प्रकार किया गया है : वह व्यक्ति जो वर्ष में काम किए गए कुल में से आधे दिनों से अधिक की अवधि में कृषि मजदूरी कर चुका हो। इस परिभाषा के आधार पर 30 प्रतिशत से अधिक मजदूरों को कृषि मजदूरों के रूप में पहचाना जा सका, उनमें से भी आधे भूमिहीन और शेष थोडी जमीन के मालिक थे (एक बीघा या कुछ अधिक)। लगभग 85 प्रतिशत मजदूरों को बीज बोने, फसल काटने, निराई गुडाई के समय या हल चलाने की अवधि में ही काम मिलता है। आज कृषि श्रमिक की दैनिक औसत मजदूरी 50-60 रुपये है। रोजगार की सीमा भी देश के विभिन्न भागों में विभिन स्थितियों में भिन्न होती है, औसत लगभग 200 दिन का आता है। इस प्रकार मजदूरी सहित काम के समय की अवधि वर्ष में 6 माह आती है। इसमें पूर्व रोजगार 3 माह तथा स्व रोजगार 3 माह होता है। इस प्रकार कृषि मजदूर की वार्षिक आय

मुश्किल से 10,000 रुपये ही हो पाती है। इस प्रकार वे गरीबी रेखा से नीचे जीवन-निर्वाह करते हैं।

कृषि श्रमिक जाँच (Agricultural Labour Enquiry) मुख्यत कुछ आर्थिक पक्षों से सम्बद्ध थी लेकिन सामाजिक निर्योग्यताएँ तथा अधिकतर कृषि मजदूरों की निम्न सामाजिक स्थिति भी समस्या के कम महत्वपूर्ण भाग नही है। अधिकाश मजदूर एससी, एसटी तथा ओबीसी समूहों से होते हैं। हो सकता है उनकी कुछ कमियाँ सरकारी आरक्षण नीतियों के कारण समाप्त हो गई हों, फिर भी उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ है। गाँव में उन्हें सामाजिक जीवन का हिस्सा नही माना जाता।

शक्ति सरचना परम्परा और परिवर्तन

(Power Structure : Tradition and Change)

गाँवों में शक्ति किसके पास है ? परम्परागत शक्ति सरचना क्या थी और नव-शक्ति सरचना क्या है जिसका उदय अब हो रहा है ? शक्तिधारियों को चार समूहों में बाँटा जा सकता है (a) वे जो भूमि स्वामित्व और इसके नियत्रण के आधार पर शक्ति रखते हैं, (b) वे जो जाति के आधार पर शक्ति रखते हैं, (c) वे जिनके पास सख्या के आधार पर शक्ति है, और (d) वे जिनके पास अपने पद (position) के कारण शक्ति है, जैसे, पचायतों में।

परम्परागत शक्ति व्यवस्था में शक्ति व्यवस्था के प्रमुख आयाम इस प्रकार थे : जमीदारी प्रथा, जाति प्रथा, और ग्राम पचायत। ग्रामीण अपनी सामाजिक, आर्थिक और अन्य समस्याएं या तो जमीदार या अपनी जाति के मुखिया को या गाँव की पचायत को बताते थे। राजस्थान जैसे राज्य में परम्परागत शक्ति सरचना सामन्तवादी थी। अन्य राज्यों में भी जमीदारी वशानुगत थी। जागीरदारी व जमीदारी व्यवस्थाए वास्तव में भू राजस्व प्रथाएँ थी। राजा लोग अपने चुने हुए प्रिय लोगों को भूमि आवटित कर देते थे, जैसे मत्री, दरबारी, सेनापतियों, आदि को। जागीरें जमीदारियों की अपेक्षा बडी रियासतें होती थी। जागीरदार भूमि जोतक तथा राज्य के बीच मध्यस्थ होता था, लेकिन किसान के सम्बन्ध में वह वास्तव में भू-स्वामी के रूप में व्यवहार करता था। वह किसानों से अपने निर्वाह तथा सैन्य शक्ति, जो वह रखता था, के लिए राजस्व एकत्र करता था। जमीदार बडे भू-स्वामी होते थे और उत्पादन का एक बडा हिस्सा भू राजस्व के रूप में वसूल कर लिया करते थे। वे समाज सुधार तथा सामाजिक जागृति को हतोत्साहित करते थे। जमीदार वे लोग होते थे जिन्हें सामान्ती मुखियाओं द्वारा भूमि दी जाती थी तथा उन्हें शासकों के प्रति श्रद्धा दिखानी पडती थी। वे अपनी भूमि आसामियों को दे दिया करते थे जिनका वे हर प्रकार से शोषण करते थे। इस प्रकार भूस्वामित्व तथा उनकी आर्थिक प्रस्थिति गाँव में जागीरदारों और जमीदारो की शक्ति के मूलस्रोत होते थे। जाति मुखियाओं की गाव में सामाजिक प्रस्थिति होती थी। क्योंकि कठोर अनुशास्तियों (sanctions) के कारण जाति समितिया बहुत शक्तिशाली होती थी इसलिये वे भुगतान न करने वालों को जाति से बहिष्कृत कर देते थे। मुखियाओं के पास सदस्यों से अधिक शक्ति होती थी।

ग्राम पचायतों में गाँव की सभी प्रमुख जातियों में से बुजुर्ग लोग होते थे। ये अनौपचारिक संगठन होते थे। जब काफी गाँव के हित के मामले प्रकाश में आते थे, सभी

सदस्य एकत्र हो जाते थे।

स्वतत्रता के पश्चात जागीदारी व जमीदारी प्रथाएँ समाप्त कर दी गई और अनेक भूमि सुधार लागू कर दिये गए जिसने परम्परागत शक्ति सरचना को कमजोर कर दिया और नवीन शक्ति सरचना को जन्म दिया। आनुवाशिक और जाति मुखियाओं के स्थान पर राजनैतिक पृष्ठभूमि के चुने हुए लोग नेता बन गए। नेतृत्व में व्यक्तिगत गुण, न कि जाति, मुख्य कारक बन गए।

योगन्द्र सिंह (1961) ने उत्तर प्रदेश में बदलती शक्ति सरचना के अपने अध्ययन में निष्कर्ष निकाला कि शक्ति व्यवस्था में उन समूहों के प्रति झुकाव की प्रवृत्ति होती है जो गाँव में लोगों की आर्थिक आकाक्षाओं की पूर्ति करते हैं। हरियाणा और राजस्थान के कुछ गाँवों पर 1970 और 1980 में किए गए अध्ययनों में भी यही दर्शाया गया है कि ग्रामीण स्तरीकरण में पहले से ही विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्ग के राजनीतिज्ञों व अधिकारियों के बीच सम्बन्ध और भी सुदृढ हुए हैं। आन्द्रे बेतेइ (1966 180) ने अपने अध्ययन में यह देखा कि शक्ति काफी हद तक वर्ग से अतीत की अपेक्षा मुक्त हो गई है। शक्ति अर्जन में भू-स्वामित्व अब निर्णायक कारक नही है। ए आर हीरामन (1977) ने कहा है कि गाँवों में शक्ति और सत्ता भूमि स्वामित्व या जाति के बीच कोई सम्बन्ध नही दर्शाती। राजस्थान में इकबाल नारायन तथा माथुर (1969) ने अपने अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला कि उच्च वर्ग आज भी नेतृत्व पर एकाधिकार जारी रखे हुए है लेकिन छोटी आयु समूह का नया नेतृत्व भी गाँव के स्तर पर उदित हुआ है। सिरसीकर (1970), कैरास (1972), इनामदार (1971), राम रेड्डी (1970), ईशवरन (1970), योगेश अटल (1971) ने भी गाँवों में राजनैतिक दलों द्वारा आधार बनाए जाने और पचायत राज सस्थाओं के प्रारम्भ होने के गाँवों में नेतृत्व अवस्था में परिवर्तन के स्वभाव पर प्रभाव का अध्ययन किया। उम्मन (Oommen, 1969) ने भी ग्रामीण नेतृत्व तथा ग्रामीण समुदाय की शक्ति सरचना के प्रकृति पर विकेन्द्रीकृत निर्णय करने की प्रक्रिया के प्रभाव को दर्शाया है।

ग्रामीण निर्धनता एव ऋणग्रस्तता (Rural Poverty and Indebtedness)

भारत की लगभग 74 प्रतिशत जनसख्या गाँवों में रहती है। गाँवों में निर्धनता अत्यधिक है, मोटे तौर पर ग्रामीण जनसख्या का 39 प्रतिशत। 70 प्रतिशत जनसख्या के लिए कृषि ही जीविका का मुख्य साधन है, लेकिन कृषि राष्ट्रीय आय में 40 प्रतिशत से भी कम का योगदान करती है। इसका एक कारण यह है कि भूमि का वितरण असमान है। 10 से 20 प्रतिशत भूस्वामी सम्पूर्ण भूमि के 70 प्रतिशत भाग के मालिक हैं और 50 प्रतिशत भूस्वामी सीमान्त किसान हैं जिनके पास एक हैक्टेयर (2 47 एकड) से भी कम भूमि है। अत गरीबी उन्मूलन के लिए तैयार किया गया कोई भी प्रारूप ग्रामीण क्षेत्रोन्मुख होना चाहिए। इसमें सन्देह नही कि 1952 में योजना प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही हमारे नीति निर्माता कृषि एव ग्रामीण विकास पर बल देते रहे हैं। लेकिन गावों में हम कितना गरीबी उन्मूलन कर सके हैं? एकीकृत ग्रामीण विकास प्रोग्राम (IRDP) परिभाषा के अनुसार जो कि ग्रामीण विकास मत्रालय द्वारा स्वीकृत है तथा मई 1991 में सशोधित हुई थी, पहले 11,000 रुपये और अब 15,000 रुपये वार्षिक आय से कम आय वाला ग्रामीण परिवार गरीब माना गया है। ये

गरीब परिवार आगे और चार समूहों में विभाजित किए गए हैं अकिञ्चन (destitute) (8,220 रुपये वार्षिक आय से कम 1993-94 मूल्य स्तर पर), अति निर्धन (extremely poor) (8,220 से 9660 रुपये वार्षिक आय वाले), बहुत गरीब (very Poor) (9,660 से 12,060 रुपये वार्षिक आय वाले), और गरीब (poor) 12,060 से 14,760 रुपये वार्षिक आय वाले)।

राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसधान परिषद (The National Council of Applied Economic Research, NCAER) ने 16 राज्यों में 33,000 ग्रामीण परिवारों के 300 बिन्दुओं पर चार वर्ष तक अध्ययन करने के बाद ग्रामीण भारत के मानव विकास चित्र (profile) तैयार किया जिसको विकास अधिकारियों को गम्भीरता पूर्वक लेना चाहिए। 1994 की रिपोर्ट जो दिसम्बर 1996 में भोपाल में यूएनडीपी (UNDP) में प्रस्तुत की गई और राज्य सरकार को कार्यशाला ने दर्शाया कि ग्रामीण जनसख्या के 39 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते है या 2,444 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष से भी कम वार्षिक आय वाले लोग हैं (1993-94 में योजना आयोग ने दावा किया था कि गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोग 18 1% हे)। एनसीएईआर (NCAER) के सर्वेक्षण के अनुसार 1994 में भारत के गॉव की प्रति परिवार वार्षिक आय 4,485 रुपये थी, उडीसा में 3,028 रुपये, पबगाल में 3,157 रुपये, बिहार में 3,167 रुपये, उत्तर प्रदेश में 4,185 रुपये, मध्य प्रदेश में 4,166 रुपये, राजस्थान में 4,229 रुपये, पजाब में 6,380 रुपये, और हरियाणा में 6,368 रुपये थी (*The Hindustan Times*, December 4, 1996)। सर्वेक्षण ने यह भी दर्शाया कि उडीसा की 55 प्रतिशत और पश्चिम बगाल की 51 प्रतिशत जनमख्या गरीबी रेखा से नीचे रहती थी। ये गरीब लोग असुरक्षित हैं और यह भी नही जानते कि अगला भोजन कहा से आयेगा। यहा तक कि पजाब और हरियाणा जैसे सम्पन्न राज्यो में भी ग्रामीण निर्धनता के क्षेत्र मौजूद हैं। पजाब के 32 प्रतिशत और हरियाणा के 27 प्रतिशत ग्रामीण गरीबी-रेखा से नीचे रहते थे।

निर्धनता का ऑक्लन गरीबों के पास नल के पानी, बिजली, कच्चा या पक्का मकान तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की उपलब्धता से किया जाता है। देश की 55 प्रतिशत डगमगाती ग्रामीण जनसख्या अभी भी कच्चे मकानों में रहती है। साथ ही, सर्वाधिक पिछडे राज्यों में (जैसे पश्चिम बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश) 15 से 19 प्रतिशत ग्रामीण घरों में बिजली है, 9 से 11 प्रतिशत घरो में नल का पानी, और 11 से 16 प्रतिशत घरो में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सुविधा प्राप्त है।

ग्रामीण निर्धनता के कारण (Causes of Rural Poverty)

विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित 1996 मे राजस्थान के सात जिलों मे किए गए एक अनुभवाश्रित अध्ययन के आधार पर मैंने ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी के निम्नलिखित कारण पाए : (1) निर्धनता विरोधी कार्यक्रमो का अपर्याप्त व अप्रभावी क्रियान्वयन, (2) गैर-कृषि कार्यों में लगी जनसख्या का कम प्रतिशत, (3) सिंचाई सुविधाओं की अनुपलब्धता और अनेक राज्यों में असमान वर्षा, (4) परम्परागत कृषि विधियों पर निर्भरता और अपर्याप्त आधुनिक कुशलताओं के परिणाम स्वरूप निम्न कृषि उत्पादन, (5) अधिकतर गॉवो में कृषि और औद्योगिक उपयोग

के लिए विद्युत की अनुपलब्धता, (6) पशुधन की निम्न गुणवत्ता, (7) अपूर्ण और शोषित साख बाजार (credit market); (8) संयोजक (link) सडकों की कमी तथा सचार सुविधाओं और बाजारों का अभाव (आधारभूत सरचना (infrastructure); (9) शिक्षा का निम्न स्तर । देश में ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्य साक्षरता स्तर निम्न है (42.85%)। स्त्रियों का साक्षरता स्तर तो इससे भी निम्न है (24.85%); (10) सक्रिय सामुदायिक नेतृत्व का अभाव, (11) विकास कार्यों में स्त्रियों का सहयोग लेने में असफलता और नियोजित कार्यक्रमों में उन्हें भागीदार न बनाना, (12) अन्तर्जातीय सघर्ष और वैमनस्य (rivalries), (13) सामाजिक सस्कारों, जैसे विवाह, मृत्यु-भोज, आदि अवसरों पर वार्षिक आमदनी में से अधिक खर्च करना और लोगों की खर्चीले रीतिरिवाजों से छुटकारा पाने से अनिच्छा।

इन कारणों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है और निम्न मॉडल के माध्यम से समझाया जा सकता है:

ग्रामीण निर्धनता के कारणों को दर्शाता प्रतिरूप (मॉडल)

ससाधन बाधाएँ	समर्थक बाधाएँ	सामाजिक व्यवस्था बाधाएँ	बाजार बाधाएँ
• मिट्टी की प्रकृति	• कम और असमान वर्षा	• ऋण सुविधाओं तक पहुँचने में कठिनाई	• कृषि उत्पादों के मूल्य में वृद्धि करने में कठिनाई
• खनिज पदार्थों की घटिया गुणवत्ता या/ उत्खनन न होना	• अपर्याप्त सिंचाई	• लोगों की अशिक्षा और खर्चीले सामाजिक प्रचलनों से विचलित होने की अनिच्छा	• कृषि श्रमिकों के पारिश्रमिक में समयबद्ध वृद्धि से इन्कार
• औद्योगिक विनियोजन के लिए अपर्याप्त पूजी	• निम्न स्तर का पशुधन	• लघु उद्यमियों को वाच्छित ससाधनों का निश्चित न होना (बिजली, कच्चामाल आदि)	• बाजार तक पहुँचने के लिए सडकों का अभाव या उत्पादों को बेचने के लिए बाजार की सुविधाओं की अनुपलब्धता
• सम्मिलित सम्पति का अभाव	• उद्योगों का अभाव	• गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का सचालन करने में असफलता के परिणाम स्वरूप लाभ उनको होता है जो वास्तव में गरीब नहीं है	• उत्पादों पर अलाभप्रद लाभ सीमा
			• अपर्याप्त ऋण व्यवस्था।

ग्रामीण निर्धनता उन्मूलन के लिए कुछ प्रभावी उपाय
(Some Effective Strategies for Alleviating Rural Poverty)

ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं : (1) ऋण देने वाली एजेन्सियों को सुदृढ़ करना, (2) कृषि और औद्योगिक उपयोग के लिए सस्ती बिजली उपलब्ध कराना, (3) घरेलू उद्योगों के उत्पादों को बेचने के लिए सहकारी समितियों को सक्रिय बनाना, (4) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों (PAPs) में अनुदान आवटन को लचीला बनाना और अच्छे परिणाम देने वाले जिलों, ब्लकों/गावों को विशेष अनुदान आवटन स्वीकृत करना, (5) विविध पीएपी (PAP) कार्यक्रमों को एक या दो योजनाओं में मिला देना तथा लाभ उपलब्धता को सरल बनाना, (6) शिक्षा, स्वास्थ्य और दक्षता कार्यक्रमों को केन्द्रित करके मानव ससाधनों को विकसित करना, (7) असहायों तथा अत्यन्त गरीबों के लिये द्वि-वितरण प्रणाली लागू करना, (8) गरीबों के बीच ऋण विकास वृद्धि को सामाजिक चेतना जागृत करके रोकना, (9) पशु पालन को सुधारना और दुग्ध तथा मुर्गी पालन को विकसित करना, (10) पचायतों को प्रौढ शिक्षा कार्यक्रमों, सडक निर्माण तथा वृक्षारोपण की व्यवस्था पर ध्यान देने के लिए सक्रिय करना, (11) गैर सरकारी सगठनों को टैंक खोदने, वृक्षारोपण, युवा वर्ग को दीक्षित करने, स्त्रियों को दक्ष बनाने, लोगों में सामाजिक चेतना जागृत करने आदि जैसे भूमिका निर्वाह के लिए सक्रिय बनाना।

बन्धुआ मजदूर (Bonded Lobour)

अपने निजी स्वार्थों के लिए व्यक्ति को बन्धुआ के रूप में रखना, मानव की मानव के प्रति ऐसी क्रूरता है जो किसी विशेष देश या क्षेत्र तक सीमित नहीं है, बल्कि यह तो सार्वभौमिक घटना है जो सैकडों वर्षों से आ रही है। नाम समय-समय पर व स्थान स्थान पर बदलते रहे हैं, गुलाम सेवक, अनुचर तथ बन्धुआ मजदूर। भारत में मनुष्य का इस प्रकार का शोषण वर्षों से वेगार और रयोत् के नाम से प्रचलित रहा है। बन्धुआ मजदूर शब्द हाल ही की उत्पत्ति है। जमींदारी प्रथा, भूमि सुधार, भूदान आन्दोलन (बन्धुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम, 1976) के क्रियान्वयन, पचायत राज की स्थापना, सामाजिक समूहों द्वारा दर्शायी गई रुचि, और समाज के प्रबुद्ध वर्ग के प्रयत्नों के बावजूद बन्धुआ मजदूरों का शोषण जारी है और वे नितान्त शान्त भाव से कष्ट और कुण्ठा का बोझ उठाए चले जा रहे हैं। वास्तव में, बन्धुआ मजदूर प्रथा जैसी कि भारतीय समाज में प्रचलित है, सामन्ती श्रेणीबद्ध समाज का ही अवशेष मात्र है। सामाजिक कार्यकर्ताओं, सामाजिक वैज्ञानिकों तथा सरकार द्वारा गत दो दशाब्दियों में इसमें काफी रुचि दर्शायी गई है क्योंकि समतावाद हमारे सामाजिक आदर्श और मानवाधिकारों के विरुद्ध माना जाता है। बन्धुआ मजदूरी का विस्तार चकराने वाला (baffling) है क्योंकि लाखों स्त्री पुरुष और बच्चे इसके बोझ तले कष्ट उठा रहे हैं।

अवधारणाएँ (The Concepts)

हमें 'बन्धुआ मजदूरी प्रथा' और 'बन्धुआ मजदूर' को समझना है। 'बन्धुआ मजदूरी प्रथा' महाजन और ऋण लेने वाले उन व्यक्तियों के बीच के सम्बन्धों को सन्दर्भित करती है जो

दैनिक जीवन की कठिनाइयों के कारण आर्थिक बाध्यता से ऋण लेते हैं और ऋणदाता की शर्तों का पालन करना स्वीकार करते हैं। स्वीकृति का महत्त्वपूर्ण शब्द दर्शाता है कि ऋण लेने वाला अपनी सेवाएँ, परिवार के किसी सदस्य की सेवाएँ, या सभी सदस्यों की सेवाए निश्चित या अनिश्चित अवधि के लिए गिरवी रखने के लिए सहमत है। सहमति पर बने सम्बन्ध ऐसी समान शर्तों पर होते हैं कि इस प्रथा के अन्तर्गत सेवा ऋण चुकाने के लिए दी जाती है या कर्ज पर ब्याज चुकाने के लिए जबकि बाजार में श्रम के मूल्य के बराबर अच्छा पारिश्रमिक होना चाहिए। कर्जदार या तो किसी भी प्रकार का पारिश्रमिक लिये बिना काम करता है या किसी भी प्रकार का पारिश्रमिक होता भी है तो यह न्यूनतम मजदूरी से (न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अन्तर्गत घोषित) या बाजार में मौजूद मजदूरी दर से भी कम होता है।

1976 का बन्धुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम कहता है "बन्धुआ मजदूरी प्रथा ऐसी बाध्य मजदूर प्रथा है जिसके अन्तर्गत एक कर्जदार अपने कर्जदाता से एक करार (agreement) करता है कि या तो वह स्वय या अपने परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा या अपने ऊपर निर्भर किसी भी सदस्य द्वारा उसको सेवा प्रदान करेगा या कराएगा। यह सेवा किसी निश्चित या अनिश्चित अवधि के लिए होगी तथा यह या तो ऋण के अन्तर्गत या अन्य किसी प्रकार की आर्थिक सहायता के अन्तर्गत उसके द्वारा या उसके किसी पूर्वज के द्वारा प्राप्त, या सामाजिक कर्तव्य का निर्वाह करते हुए या अपने ऊपर पीढ़ी दर पीढ़ी से सौंपे गए कर्तव्य की दृष्टि से होगी। इस करार के अन्य परिणाम भी हैं, जैसे कर्जदार को रोजगार के अवसर से वंचित रहना पड़ता है, देश के किसी भी भाग में आने जाने की आज्ञा देने से इन्कार, तथा अपनी सम्पत्ति या श्रम के उत्पादन को बाजार दर पर बेचे जाने के अधिकार से वंचित।

श्रम पर राष्ट्रीय आयोग ने 'बन्धुआ मजदूर' की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह वह श्रम है जो लिए हुए ऋण के बदले में निश्चित अवधि के लिए बन्धन में रहता है। अनुसूचित जाति व जनजाति आयुक्त ने अपनी 24 वीं रिपोर्ट में बन्धुआ मजदूरी की व्याख्या करते हुए कहा, "वे लोग जिन्हें लिए हुए कर्ज की एवज में या तो मजदूरी सहित या थोडी मजदूरी पर अपने कर्जदार के लिए काम करने को बाध्य होना पडता है" (Sharma 1990-52)।

बन्धुआ श्रमिक उद्योगों, खदानों, प्लान्टेशनों तथा गोदी आदि में कार्यरत 'सविदा श्रम' (contract labour) से भिन्न होते हैं। 'सविदा' मजदूर में वे मजदूर भी शामिल होते हैं जो उस संस्था द्वारा सीधे भर्ती नहीं किए जाते हैं, जिनके नाम वेतन पटल पर अंकित नहीं होते हैं और जिन्हें नियोजक द्वारा सीधे भुगतान नही किया जाता। सिद्धान्त में, भारत में सविदा मजदूर फैक्ट्री अधिनियम, 1948, खान अधिनियम 1952, प्लान्टेशन श्रमिक अधिनियम, 1951, और गोदी कर्मचारी अधिनियम, 1948 की परिधि में आते हैं। परन्तु बन्धुआ तथा सविदा मजदूरों को भर्ती करने के लाभ एक से हैं . (i) श्रमिक निम्न मूल्य पर रखे जाते हैं, (ii) नियोजकों को श्रमिकों को छोटे मोटे लाभ नहीं देने पडते, (iii) नियोजक श्रमिकों को विविध अधिनियमों में उल्लिखित सुरक्षा उपायों और कल्याण उपायों को प्रदान कराने के लिए बाध्य नहीं हैं। हमारे देश में सविदा श्रम की व्यवस्था सितम्बर, 1970 में 'सविदा श्रम' नामक अधिनियम के माध्यम से समाप्त कर दी गई।

'बन्धुआ श्रम' की दो मूल विशेषताएँ हैं ऋणग्रस्तता और बाध्य श्रम। बाध्य श्रम आनुवाशिकता से पिता से पुत्र तक आ सकता है या पीढी दर पीढी चलता रहता है। बन्धुआ अवधि में ऋणी अन्य किसी व्यक्ति के पास नौकरी नही कर सकता। आर्थिक दृष्टि से इसका अर्थ हुआ कि *वह बाजार में बाजार मूल्य पर अपना श्रम नही बेच सकता। बन्धुआ मजदूर* प्रथा कृषि मजदूरों में गाँवों में ही पाई जाती है, यद्यपि आज इसका विस्तार पत्थर की खदानों, ईंट के भट्टों, बीडी फैक्ट्रियों, कॉच फैक्ट्रियों, डिटरजेन्ट, दरी गलीचे, कीमती पत्थरों, आदि की फैक्ट्रियों में काम करने वाले मजदूरों में भी यह प्रचलित है।

भारत में बन्धुआ मजदूर विविध भागों में भिन्न नामों से जाने जाते हैं। उदाहरणार्थ, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक में उन्हें 'जीथम', गुजरात और मध्य प्रदेश में 'हली', बस्तर मध्य प्रदेश में 'कबाडी', हैदराबाद में 'भगेला', राजस्थान में 'सगरी', बिहार में 'कामिया', उडीसा में 'गोठी', तमिलनाडु में 'पण्डिपाल', केरल में 'अदिया' 'पणिया', और उत्तर प्रदेश में 'कोल्टा' कहा जाता है।

बन्धुआ मजदूरी के कारण (Causes of Bonded Labour)

यद्यपि बन्धुआ मजदूरी प्रथा के उद्भव, विकास और प्रचलन के प्रमुख कारण आर्थिक हैं, लेकिन सामाजिक और धार्मिक कारक भी इस प्रथा का समर्थन करते हैं। *आर्थिक* कारणों में लोगों की अत्यन्त निर्धनता, जीवनयापन के लिए काम की अयोग्यता, परिवार के निर्वाह करने के लिए अपर्याप्त आकार की भूमि, शहरी और ग्रामीण गरीबों के लिए लघु-पैमाने पर ऋण के विकल्प की कमी, सूखा, बाढ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ, मनुष्यों और पशुओं का विनाश, वर्षा का अभाव, कुओं का सूखना, वन उत्पादों से कम आय, तथा लगातार मूल्य वृद्धि और मुद्रा-स्फीति सम्मिलित है। *सामाजिक* कारकों में, विवाह, मृत्यु भोज, बच्चे के जन्म, आदि अवसरों पर बडे खर्चे जिनका परिणाम भारी ऋण, जाति आधारित भेदभाव, भूख और बीमारी के विरुद्ध ठोस कल्याण योजनाओं की कमी, अबाध्यकारी तथा असमान शैक्षिक व्यवस्था तथा सरकारी अधिकारियों में उदासीनता और भ्रष्टाचार। कभी-कभी गाव में कुछ लोगों द्वारा भ्रष्टाचार लोगों को *अन्य स्थानों पर जाने को बाध्य कर देता है जिससे वे न केवल नियोजक* की शर्तों पर काम करने को बाध्य होते हैं बल्कि प्रभावशाली व्यक्तियों का सरक्षण भी प्राप्त करते हैं। *धार्मिक* तर्क निम्न जाति के लोगों को आश्वस्त करने के लिए दिए जाते हैं कि धर्म उन्हें आदेश देता है कि वे उच्च वर्ण के लोगों की सेवा करें। अशिक्षा, अज्ञानता, अपरिपक्वता, कुशलता और पेशेवर दीक्षा ऐसे विश्वासों को बढावा देते हैं। मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि 'बन्धुआ' प्रथा मुख्यत सामाजिक और आर्थिक दबावों के कारण पैदा होती है।

विधान (The Legislation)

'बन्धुआ मजदूरी' की घातक और कठोर प्रथा भारत के कई प्रान्तों में विद्यमान थी। स्वतंत्रता के बाद *इसे देश के जीवन को अधकारमय बनाने के लिए अधिक चलने नहीं दिया जा* सकता था। इस प्रकार जब भारत का सविधान बनाया गया, इसमें धारा 23 भी बनाई गई जिसमें 'मानव श्रम का व्यापार 'बेगार' तथा इसी प्रकार के जबरदस्ती वाली मजदूरी कराना

निषिद्ध है। फिर भी इस धारा पर कोई भी प्रभावी कदम नहीं उठाया गया और इस घातक प्रथा को समाप्त करने के लिए कुछ नहीं किया गया। 1919 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) द्वारा अपनाए गए बाध्य श्रम (उन्मूलन) परम्परा की केवल भारत द्वारा नवम्बर 1954 में पुष्टि की गई। भारत में कुछ राज्यों ने भी बन्धुआ मजदूरी को समाप्त करने के लिए कानून बनाए। उदाहरणार्थ, 1920 में बिहार कमियान्ती अधिनियम पारित किया गया, 1940 में मद्रास अभिकारक ऋण बन्धन नियमितीकरण कानून, 1943 में हैदराबाद भगेला सहमति नियम, 1948 में उडीसा ऋण बन्धुआ उन्मूलन नियम, 1961 में राजस्थान सागरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम (जो 1975 में संशोधित किया गया) और 1975 में केरल में बन्धुआ मजदूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम पारित किए गए। इनमें से अधिकतर अधिनियमों में यह उल्लेख विशेषरूप से किया गया (जैसे मद्रास, उडीसा, बिहार और हैदराबाद में) कि अधिनियम लागू होने के बाद कर्जदार और महाजन के बीच हुआ समझौता पूर्ण रूप से निरस्त समझा जायेगा यदि (a) समझौते की पूर्ण शर्तें लिखित में व्यक्त न की हों और उसकी एक प्रतिलिपि निश्चित अधिकारी को न सौंपी गई हो, (b) श्रम की लिखित व निहित अवधि एक वर्ष से अधिक हो, (c) प्राविधित ब्याज का साधारण ब्याज एक वर्ष से अधिक का न हो, और (d) ब्याज की दर 6.25 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक हो। लेकिन 1 जुलाई, 1975 को 20 सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा के बाद ही राष्ट्रीय स्तर पर वैधानिक कार्यवाही तेजी से तथा गम्भीरता से प्रारम्भ हुई। अक्टूबर 1975 में अध्यादेश लागू हुआ जिसके स्थान पर बाद में फरवरी, 1976 में अधिनियम पारित किया गया जिसको बन्धुआ मजदूर प्रथा (समाप्ति) अधिनियम कहा गया। 1976 में केन्द्रीय सरकार द्वारा इस अधिनियम को लागू किए जाने के बाद सभी राज्यों के नियम अक्रियान्वित हो गए।

इस अधिनियम में निम्न तत्व निहित हैं (i) बन्धुआ मजदूरों की पहचान, (ii) बन्धुआ मजदूरों की मुक्ति (iii) अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही, अर्थात् वे ऋणदाता जिन्होंने ऋण लेने वालों को समझौते के लिए बाध्य किया, (iv) जिला एव तहसील स्तर पर सतर्कता समितियों की नियमित बैठकें करना (v) निर्धारित पंजिकाओं का रख रखाव, और (vi) कार्यकारी मजिस्ट्रेटों को न्यायिक शक्तियां प्रदान करना। अधिनियम में उन बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास का भी प्रावधान है जो अपने कर्जदारों से मुक्त हो जाते हैं। 1976 का अधिनियम 1996 में संशोधित किया गया जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि संविदा मजदूर और अन्तर्राज्यीय श्रमिक, यदि वे बन्धुआ मजदूर व्यवस्था (उन्मूलन) अधिनियम में दी गई शर्तों को पूरा करते हों, बन्धुआ मजदूर माने जायेंगे।

1976 के अधिनियम के क्रियान्वयन में मुख्य समस्या यह है कि 'बन्धुआ मजदूरों' की पहिचान किस प्रकार की जाये ? न तो जिला और तहसील स्तर के प्रशासक अपने क्षेत्रों में इनका अस्तित्व मानते हैं और न ही ऋणदाता स्वीकारते हैं कि उनकी सेवा में कोई ऐसे मजदूर कार्यरत हैं, और न ही श्रमिक यह बयान देने को तैयार होते हैं कि लम्बे समय से उन्हें बन्धुआ मजदूर के रूप के कार्य करने के लिये बाध्य किया गया है। स्वैच्छिक संगठनों और गैर राजनैतिक सामाजिक कार्यकर्ता समूहों से सम्बद्ध सामाजिक कार्यकर्ता ही बन्धुआ मजदूरों की पहचान करते हैं। इस समस्या को और गम्भीर बनाने वाली एक और बाधा है बन्धुआ मजदूरों का आर्थिक पुनर्वास। आर्थिक पुनर्वास में उनके लिए नौकरी की तलाश, उनके लिए

न्यूनतम मजदूरी दिलाना, कला और शिल्प में उन्हें दीक्षा दिलाना, कृषि भूमि का उनके लिए आवटन कराना, आवटित भूमि को विकसित करने में उनकी मदद करना, वन उत्पादों के प्रबन्ध में उनकी मदद करना, उन्हें और उनके बच्चों को शिक्षित करना, उनके लिए स्वास्थ्य चिकित्सा का प्रबन्ध करना, आदि शामिल है। ये सभी कार्य कठिन हैं। आर्थिक पुनर्वास उपलब्ध कराने के अतिरिक्त राज्य सरकारों से यह अपेक्षा भी की जाती है कि उनके मनोवैज्ञानिक पुनर्वास और राज्य तथा केन्द्र सरकार की विभिन्न योजनाओं का समन्वय भी किया जाये। पुनर्वास के लिए योजनाओं और उपायों की योजना बनाने में मुक्त श्रमिकों के विभिन्न विकल्पों के बीच उनकी इच्छा का भी ध्यान रखना होगा (Sharma, op. cit., 54)।

बन्धुआ स्थिति मे पीड़ा और वेदना (Misery and Suffering in Bondage)

सर्वोच्च न्यायालय के एक मुख्य न्यायाधीश (न्यायमूर्ति पी.एन भगवती) ने बन्धुआ मजदूरों का वर्णन करते हुए किहा कि वे "गैर जीवित (non-being) सभ्यता से निष्कासित तथा पशुओं से भी खराब जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति है क्योंकि पशु इधर-उधर घूमने के लिए, भोजन पर अधिकार या छीनने के लिए तो कम से कम स्वतत्र हैं, किन्तु ये बेचारे समाज से बहिष्कृत बन्धन में रखे जाते हैं और अपनी स्वतत्रता से भी हाथ धोए रहते हैं"। उनको ऐसा भयावह अस्तित्व प्रदान किया जाता है जहा या तो उन्हें एक छप्पर या खुले आसमान के नीचे रहना पडता है और जो कुछ भी अपर्याप्त भोजन जुटा पाते हैं उसी में सन्तुष्ट रहना पडता है, वह भी उनके भूखे पेटों के लिये अपर्याप्त होता है। विकल्प के अभाव में भूख और गरीबी के कारण उन्हें ऐसे घोर अन्धेरे में व ऐसे शोषक समाज में, जिसमें से बचने की वे आशा भी नही कर सकते, बन्धुआ जीवन जीना पडता है। (Yojana, May 1-5, 1987 32-33)।

अनुमानत भारत में लगभग 32 लाख बन्धुआ मजदूर हैं। इनमें से 98 प्रतिशत ऋणग्रस्तता के कारण बन्धुआ मजदूर कहे जाते हैं और 2 प्रतिशत परम्परागत सामाजिक मान्यताओं के कारण। सबसे अधिक सख्या आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु में और उसके पश्चात उडीसा, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश में मानी जाती है। (उच्चतम न्यायालय के निर्देशों पर किए गए) राज्य सरकारों द्वारा प्रायोजित सर्वेक्षण के आधार पर मई 1997 में अधुनातम आँकडों के अनुसार, तमिलनाडु में 24,000 अधिकतम बन्धुआ मजदूर हैं जो कि 30 विभिन्न पेशों में लगे हैं। The *Hindustan Times*, May 13, 1997)। यह बताया गया है कि अधिकतर बन्धुआ मजदूर गाँवों में कृषि मजदूर के रूप में काम करते हैं और बहिष्कृत या जनजातीय समुदायों से सम्बन्धित है। ग्रामीण क्षेत्रों में कुल मजदूर शक्ति के 42 प्रतिशत खेतिहर हैं और 25 प्रतिशत कृषि मजदूर की तरह काम करते हैं। कृषि मजदूरों के रूप में कार्य करने वालों में से 48 प्रतिशत अनुसूचित जाति के हैं और 33 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों के अकुशल और असगठित होने के कारण कृषि मजदूरों के पास आजीविका चलाने के लिए व्यक्तिगत श्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नही होता। बन्धुआ कृषि मजदूर ग्रामीण स्तर पर निम्नतम स्थिति रखते हैं। एक गाँव में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण भूमि और जाति से जुडा रहता है जो कि लोगों की आर्थिक और सामाजिक

प्रस्थिति को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार बन्धुआ मजदूर दयनीय और कष्टप्रद दशाओं में रहते हैं। सामाजिक दृष्टि से उनका शोषण होता है क्योंकि यद्यपि सिद्धान्त में उन्हें भोजन, कपड़े और तम्बाकू का आश्वासन मिलता है, लेकिन व्यवहार में उन्हें बचा खुचा भोजन, और परिवार के सदस्यों के उतरे हुए कपडे ही मिलते हैं। उन्हें 12 से 14 घन्टे प्रतिदिन कार्य करना पडता है और गाय और भैंसों के साथ तबेलों में रहने के लिए बाध्य होना पडता है। यदि वे बीमार पडते हैं तो उनका नियोजक दया करके स्थानीय हकीम से उनके लिए दवा का प्रबंध करता है।

1989 मार्च तक भारत में पहचाने गए और मुक्त हुए बन्धुआ मजदूरों की कुल संख्या 2 42 लाख थी जिनमें से 2.18 लाख (90 प्रतिशत) का पुनर्वास कर दिया जाना बताया जाता है (*Yojana*, May, 1989 · 23)। इस प्रकार भारत में कुल बन्धुआ मजदूरों में से मुश्किल से 8 प्रतिशत मजदूर अब तक पहचाने गए हैं जो राज्य सरकारों के बन्धुआ मजदूरों की समस्या के समाधान में रुचि की कमी का द्योतक है। 112880

1979 और 1983 के बीच भारत सरकार को प्रस्तुत की गई कम से कम चार रिपोर्टों में संकेत है कि भारत में बन्धुआ मजदूरी की शर्मनाक प्रथा किस प्रकार प्रचलन में रही और देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को विकृत करती रही। यह रिपोर्टें थी (a) श्रम मंत्रालय, भारत सरकार को प्रस्तुत की गई ग्रामीण विकास केन्द्रों की रिपोर्ट जो 'बिहार के मुंगेर जिले के बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास' पर थी। (b) उत्तर प्रदेश के 'टिहरी गढवाल में बन्धुआ मजदूरों की पुनर्वास योजना के मूल्यांकन अध्ययन' पर भारत सरकार के श्रम मंत्रालय को भारतीय लोक प्रशासन संस्थान (Indian Institute of Public Administration) के सार्वजनिक नीति और योजना विभाग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट, (c) उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उडीसा, बिहार, राजस्थान, तमिलनाडु और केरल में मुक्त बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास और मुक्ति तथा पहचान के सम्बन्ध में तत्काल व स्थान पर ही अध्ययन के आधार पर भारत सरकार को (श्रम कल्याण) महानिदेशक, लक्ष्मीधर मिश्रा की रिपोर्ट, और (d) 7-9 फरवरी 1983 से प्रारम्भ हुई राष्ट्रीय सेमीनार (Identification and Rehabilitation of Bonded Labour) की रिपोर्ट।

मार्च 1989 तक पहचाने गए और मुक्त हुए 2 42 लाख बन्धुआ मजदूरों में से 26 प्रतिशत कर्नाटक में, 20 प्रतिशत उडीसा में, 16 प्रतिशत तमिलनाडु में, 14 प्रतिशत आन्ध्र प्रदेश में, 11 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में, 5 प्रतिशत बिहार में, 4 प्रतिशत मध्य प्रदेश में, 0 3 प्रतिशत केरल में और 0 2 प्रतिशत हरियाणा में मुक्त हुए (*Yojana*, ibid 23)।

पुनर्वास (Rehabilitation)

बन्धुआ मजदूरों को मुक्त करवाना और उनका पुनर्वास कराना केवल राज्य सरकारों का ही दायित्व था किन्तु नवम्बर, 1987 से आगे स्वैच्छिक संगठन भी पहचान और पुनर्वास के लिए अधिकृत कर दिए गए। मार्च 1989 तक पुनर्वासित 2.18 लाख बन्धुआ मजदूरों में से तीन चौथाई उडीसा (23 8%), कर्नाटक (23.3%), तमिलनाडु (17 1%) और उत्तर प्रदेश (12.1%) में थे, पाँचवा भाग तीन राज्यों आन्ध्र प्रदेश (11 1%), बिहार (5.2%) और मध्य प्रदेश (3 6%) में थे और शेष 4 प्रतिशत तीन राज्यों—राजस्थान (3.2%), महाराष्ट्र (0 4%)

और केरल (0 4%) में थे (*Indian Labour Journal*, August 1989 1277)। बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास और पहचान के सम्बन्ध में 1986 के 20 सूत्रीय कार्यक्रम में भी प्रावधान है। इस कार्यक्रम का छठा बिन्दु बन्धुआ मजदूरों के विषय में ही है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार ने अगस्त 1986 में सभी राज्यों के (श्रम कल्याण) उप महा निदेशकों को कार्यवाही करने के निर्देश जारी किए थे। तब से केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय समय-समय पर बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास, मुक्ति और पहचान के कार्यक्रमों का मूल्यांकन और संचालन करता रहा है।

पुनर्वास मनोवैज्ञानिक और शारीरिक दोनों तरह का होता है। शारीरिक पुनर्वास आर्थिक होता है जबकि मनोवैज्ञानिक पुनर्वास आश्वासनों और पुनर्आश्वासनों की प्रक्रिया के द्वारा बनाना पडता है। दोनों ही साथ साथ चलने चाहिए। मनोवैज्ञानिक पुनर्वास की प्रथम आवश्यकता यह है कि मुक्त बन्धुआ मजदूरों को पुराने आवासों से हटा दिया जाना चाहिए और उन्हें ऐसे स्थान पर पुनर्वासित किया जाना चाहिए जहाँ उन्हें उनके पूर्व नियोजकों का कोई प्रभाव ही न हो। जब तक मनोवैज्ञानिक रूप से उन्हें आश्वस्त न किया जाये कि बन्धन से मुक्त होने के बाद ऋण उनके भाग्य का निर्णय नही करेगा तब तक इस बात की सम्भावना बनी रहेगी कि वे फिर से ऋण बन्धन में फँस जाँये।

मूलरूप से पुनर्वास के तीन चरण हैं (i) मुक्ति के बाद तुरन्त भौतिक मदद, (ii) नया जीवन प्रारम्भ करने के लिए मुक्त श्रमिकों को कम अवधि के सहायता उपाय (उदाहरण के लिए मकान के लिए जगह का आवटन, मकान बनाने के लिए सहायता, कृषि भूमि के लिए भूमि के टुकडे का आवटन, बैलों की जोडी या कृषि उपकरणों की आपूर्ति, या लाभकारी रोजगार उपलब्ध कराने के प्रावधान आदि), और (iii) लम्बी अवधि के उपाय (जैसे ऋण का प्रबन्ध, नई कुशलताओं में दीक्षा, मोजूदा कुशलताओं का विकास, मानदेयक मूल्य समर्थन प्रदान करना प्रौढ सदस्यों के लिए अनौपचारिक शिक्षा तथा बच्चों के लिए औपचारिक शिक्षा सुनिश्चित करना, चिकित्सा सुविधा प्राप्त करना, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा.)। इस प्रकार पुनर्वास मुक्त बन्धुआ मजदूरो को आदमी की स्थिति प्रदान करेगा ताकि वे स्वय की सभ्य समाज को मुख्यधारा में शामिल कर सकें और मानव अस्तित्व की प्रतिष्ठा को अनुभव कर सकें।

प्रभावी पुनर्वास मे कमियाँ (Lacunae in Effective Rehabilitation)

विभिन्न राज्यों में बन्धुआ मजदूरों के लिए पुनर्वास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के गुणपरक पुनरीक्षण पर पता लगता है कि कुछ राज्य जैसे, उडीसा, उत्तर प्रदेश, केरल और आन्ध्र प्रदेश, पहचान और पुनर्वास के अच्छे नतीजे प्रस्तुत करते हैं, लेकिन कुछ राज्यों में अभी भी नवीन परिवर्तनों की आवश्यकता है। निम्नलिखित स्पष्ट कमियों पर तुरन्त कार्यवाही की आवश्यकता है

प्रथम, कार्यक्रम को किसी विशेष मत्रालय/विभाग का मानकर अकेले चलाने की अपेक्षा विभिन्न मत्रालयों विभागों के सहयोग की आवश्यकता है, जैसे कृषि, पशुपालन, सिंचाई, वन मत्स्य पालन, आदि, ताकि कार्यक्रम को राष्ट्रीय एकीकृत कार्यक्रम के रूप में

चलाया जा सके। *द्वितीय*, क्योंकि सामाजिक वातावरण और सामाजिक सरचना जिनके कारण अतीत में बन्धुआ मजदूरी प्रथा चलती रही और आज भी ग्रामीण जीवन और अर्थ व्यवस्था पर घिरी हुई है, उनकी जाँच की जानी चाहिए और प्रतिबद्धता से परिवर्तन किया जाना चाहिए। *तृतीय*, विकास विभाग ऐसी योजनाओं से दबे रहते हैं जैसे आई आर डी पी (एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम), जे आर वाई (जवाहर रोजगार योजना), टी आर वाई एसई एम (ग्रामीण युवकों के स्व रोजगार के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम), आदि, कि उनके कार्यक्रम अधिकतर समयबद्ध और उद्देश्यपरक ही रहते हैं और उनमें लाभार्थियों की वरीयता, अभिरुचि, आवश्यकताओं, आदि का ध्यान नही रखा जाता। इसलिए इन कार्यक्रमों को इस प्रकार बनाए जाने की आवश्यकता है ताकि वे उद्देश्य-समूहपरक (target-group oriented) हों, न कि उद्देश्य परक। *चतुर्थ*, कमजोर आधारभूत सरचना और ससाधनों की कमी के कारण लाभार्थियों को लम्बी अवधि के आधार पर सरक्षण प्रदान नही किया जाता, परिणाम स्वरूप बहुधा उत्पादक सम्पत्ति देनदारी बन जाती है। *पचम*, मध्यस्थ व्यक्ति परोपजीवी की तरह काम करते हैं और अपने लाभ के लिए सीमित प्रतिफलों का पुनर्वास के लाभों का आनन्द लेते है। अत आवश्यकता इस बात की है कि सावधानीपूर्वक योजनाए बनाई जायें जो कि पहले ही से उपलब्ध आधारभूत सरचना पर आधारित हों और विविध प्रकार से सम्बद्ध हों। *छठा*, मुक्त बन्धुआ मजदूर जो समाज के निम्नतम स्तर के होते हैं और नितान्त गरीबी और अभाव का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें किसी विशेष योजना का चुनाव करने की योग्यता नही होती जो उनके लिए लाभकारी हो। अपने लिए सही योजना को चुनने के लिए अधिकारियों पर उनकी निर्भरता उन्हें पुनर्वास के वास्तविक लाभों से वचित रखती है। इस निर्भरता को कम करने की आवश्यकता है। *अन्त में*, पूर्व बन्धुआ मजदूर नियोजकों, मुक्त लोगों और विभिन्न विभागों के अधिकारियों का दृष्टिकोण इन गरीब बन्धुआ मजदूरों के प्रति बिल्कुल नही बदला है। यहा तक कि जब पूर्व नियोजकों द्वारा या जमीदारों द्वारा इन मजदूरों को पीटा जाता है, तब उनकी भूमि जबरन छीन ली जाती है, उनके बच्चों को स्कूल जाते समय जमीदारों के धान के खेतों के बीच से नही गुजरने दिया जाता, उनके शोषकों द्वारा उनके पशुओं को भगा दिया जाता है, और जब वे पुलिस में शिकायत करते हैं या सहायता के लिए डाक्टर के पास जाते हैं या सम्बन्धित विभाग के अधिकारियों से शिकायत करते हैं, वे (अधिकारी, पुलिस, डाक्टर, आदि) उनकी शिकायत से जरा भी प्रभावित नही होते और निष्प्रभावी सवेदनाहीन, चुप हो जाते हैं और उनकी सहायता नही करते। लोगों और अधिकारियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के बिना मुक्त बन्धुआ मजदूर समाज के अति शक्तिशाली वर्ग के सगठित आघातों से बच नही सकते। उनकी अज्ञानता, अशिक्षा और अपने अधिकारों के लिए लडने की अयोग्यता उन्हें हमेशा मुक्ति और विकास के लाभों से वचित रखेगी।

सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक सरचना को उन गरीबों के लिए जो बन्धुआ मजदूर बन जाते हैं, लाभ के लिए बदलना सरल कार्य नही है। दो उदाहरण दिये जा सकते हैं - एक जनजाति का व्यक्ति या तो अपने या अपने बेटे के विवाह के लिए कुछ धन प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार बन्धुआ मजदूर बन जाता है। इसी प्रकार, माना एक व्यक्ति को

अवैध शराब बनाने के जुर्म में न्यायालय से अभियुक्त माना गया है और उस पर कुछ जुर्माना किया गया है। क्योंकि उसके पास जुर्माना भरने के लिए धन नही है, वह एक प्रभावशाली व्यक्ति के पास अपना श्रम गिरवी रखकर ऋण ले लेता है और एक बन्धुआ मजदूर बन जाता है। अब, क्या वधू मूल्य प्रथा समाप्त करना सम्भव है ? क्या न्यायालय द्वारा आर्थिक दण्ड दिया जाना गलत है ? गरीबों की अनेक आर्थिक आवश्कताए बिना ऋण लिए पूर्ण नही हो सकती। ऐसे मामलों में, आवश्यकता इस बात की है कि ऋण लेने में समझौते का सावधानी से परीक्षण किया जाये ताकि श्रम को गिरवी रखने से रोका जा सके और बन्धुआ मजदूर प्रथा को नियत्रित किया जा सके।

विकास के लिए सामूहिक प्रयत्न मुक्त बन्धुआ मजदूरों को सगठित कर सकते हैं, ससाधनों को इकट्ठा करने योग्य बना सकते हैं विविध एजेन्सियों से सहायता ले सकते हैं तथा स्थाई पुनर्वास और गुणवत्तापूर्वक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वय को गठित कर सकते हैं। इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्न सफलता प्राप्ति के लिए भूमि आधारित शिल्प-आधारित या सम्पत्ति आधारित हो सकते हैं। इसके लिए लाभार्थियों का उचित चयन होना चाहिए। उस स्थान का चयन आवश्यक है जहा उन्हें स्थापित होना है तथा उन्हें सिखाई जाने वाली दक्षता का भी चयन होना है। लाभार्थियों में जागृति पैदा की जाने की भी आवश्यकता है। उनके पुनर्वास प्रगति और उन्नति, विकास के लिए सह उद्यम में स्वैच्छिक हिस्सेदारों के रूप में बदले जाने की भी आवश्यकता है।

प्रमुख समस्या यह है कि यदि मुक्त बन्धुआ मजदूर पुनर्वासित नही किए जाते हैं, तो वे और अधिक कष्ट भोगेंगे। उनके सामने प्रश्न होगा भूख और गुलामी में से वे किसे चुने ? मुक्ति और सुरक्षा में से गुलामी में कठिन काम या परिवार के पालन के लिए अपराध व परिणामस्वरूप कारावास का दण्ड में से किसे चुनें ? पुनर्वास का काम एक दशक पूर्व पूर्णरूप से राज्य सरकारों को सौंपा गया था। 1983 में केन्द्र सरकार ने श्रम मत्रालय के माध्यम से एक योजना प्रयोजित की। केन्द्र सरकार समान अनुदान आधार पर प्रतिवर्ष 4 से 5 करोड रुपया राज्य सरकारों को विशेष योजनाए बनाने के लिए प्रदान करती है। योजना आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार पुनर्वास कार्य की प्रगति अत्यन्त मन्द है। राज्य सरकारों के अधिकारी वर्ग में अग्रणी होने के गुण नही हैं या वे पहिचान और पुनर्वास के कार्यक्रमों के प्रति उदासीन रहते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता भी अपने काम में अनेक बाधाओं का सामना करते हैं। आशा की जाती है कि केन्द्रीय सहायता तथा स्वैच्छिक सगठनों की हिस्सेदारी बन्धुआ मजदूरों की पहचान और पुनर्वास के कार्यक्रमो को अधिक प्रभावी बना सकेंगे।

1982 में सर्वोच्च न्यायालय ने भी ऐसे श्रमिकों के 'जबरन मजदूरी' को उनके मौलिक अधिकारों का हनन बताया और 1983 में न्यूनतम मजदूरी से कम पाने वाले श्रमिकों को 'जबरन मजदूर' (forced labour) कहा। 1984 में फिर, सर्वोच्च न्यायायल ने बन्धुआ मजदूरी (उन्मूलन) अधिनियम को क्रियान्वित करने में सरकार की विफलता का वर्णन किया और 1976 के सविधान का इसे उल्लघन बताया। सर्वोच्च न्यायालय ने बन्धुआ मजदूरों की मुक्ति के बाद उनके पुनर्वास को सरकार का दायित्व बताया ताकि मजदूर फिर से गरीबी और असहायता के कारण गुलामी न करने लगें (Sharma, 1990 56)। आशा की जाती है कि

इस प्रकार के न्यायिक निर्णयों से राज्य सरकार और स्वैच्छिक संगठनों के प्रयत्नों को मजदूरों को उनके नियोजकों के चगुल से छुडाने मे मदद मिलेगी।

प्रभावी चिन्ता (Effective Concern)

बन्धुआ मजदूरों की दुर्दशा अभी भी एक गम्भीर सामाजिक समस्या बनी हुई है और यह जनता, सरकार, न्यायपालिका, सामाजिक वैज्ञानिक, और सामाजिक कार्यकर्ता सभी के लिए चिन्ता का विषय है। लगभग 17 लाख सालाना अपराध जिनके लिए आई पी सी (IPC) के तहत लगभग 25 लाख व्यक्ति पकडे जाते हैं, यदि यह सब भारतीय समाज के लिए चिन्ता का विषय है तब तो बन्धुआ मजदूरों को मुक्त किया जाना समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय पर विविध अनुसन्धान विविध ऐजेन्सियों द्वारा प्रायोजित किए जाने चाहिए ताकि समस्या के विस्तार और प्रकृति को सुनिश्चित किया जा सके, पहचान के कार्य में पडने वाली बाधाओं का परीक्षण किया जा सके, विविध पुनर्वास योजनाओं का परीक्षण हो सके, केन्द्रीय सरकार और विविध स्वैच्छिक सगठनों के बीच तालमेल हो सके, 1976 के अधिनियम को सुधारा जा सके, सम्बन्धित अधिकारियों की जवाबदेही व जिम्मेदारी सुनिश्चित की जाये तथा मुक्त बन्धुआ मजदूरों के लिए बाद में देखरेख के कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया जाये। जब तक स्वार्थी लोगों के घिनौने शोषण से बन्धुआ मजदूरों को बचाने के गम्भीर प्रयत्न नही किए जाते, यह समस्या सामाजिक सकट बनी रहेगी। कानून के द्वारा बन्धुआ मजदूरी प्रथा का पूर्ण उन्मूलन आगामी भविष्य में तो सम्भव न भी हो, फिर भी कानून न बनाने से पीडित मजदूरों की दशा और अधिक बिगड सकती है। गरीबी, बेरोजगारी तथा अशिक्षा को समाप्त करना, जो कि बन्धुआ मजदूरी प्रथा के मूल कारण माने जाते हैं, सरल कार्य नही हैं। बन्धुआ मजदूरों के लिए भविष्य के कार्यक्रमों, योजनाओं आदि का बनाने के लिए विविध स्तरों पर विस्तृत कार्य एव दृष्टिकोण की आवश्यकता होगी।

बन्धुआ मजदूरों की समस्या को सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और वैधानिक, विभिन्न स्तरों पर लडा जाना है। हमें पीडितों को शिक्षित करना है कि वे दबाव की नीति में न फसे। शोषकों को भी हमें यह बताना है कि कानूनों को उनके हित में नही मोडा जा सकता और जनतात्रिक भारत में कानून अपनी ही राह चलता है। जनता में भी प्रतिबद्ध राय बनानी है। हमें न केवल बुद्धिजीवियों को इसमें सम्मिलित करना है बल्कि प्रबुद्ध नागरिकों को भी ताकि वे इस सन्देश को सभी तक पहुचा सकें। हमें कानूनों को कठोरता से लागू करना है। हमें राजनीतिज्ञों पर भी दबाव डालना है कि वे इस विषय पर मिशनरी भावना से तथा लगन व रुचि से काम करें। सामाजिक व आर्थिक रूप में कुछ शक्तिशाली लोगों के द्वारा शोषण पर आधारित व्यवस्था, अधिक सख्या में लोगों के कष्टों के मूल्य पर अपने हित साधन करना और उन्हें बन्धन में रखना हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए शर्म की बात है। थोडे से ऋण के लिए समाज के आर्थिक दृष्टि से पीडित वर्ग को बन्धन में रखना, भारतीयों को प्रदत्त समान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत है। इस प्रथा को समाप्त करना मानव सम्मान और सवैधानिक मूल्यों के अनुरूप आधारभूत महत्व का विषय है।

भूमि सुधार प्रकृति एवं सामाजिक परिणाम
(Land Reforms . Nature and Consequences)

भूमि सुधार (Land Reform)

हमारे देश में निम्नलिखित भूमि सुधार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात प्रारम्भ किए गए : (1) जमींदारी उन्मूलन, (2) 'भूमि उसकी जो जोते' मूल सिद्धान्त की स्वीकृति (3) चकबन्दी अधिनियम का क्रियान्वयन (4) भूदान और सर्वोदय आन्दोलनों को प्रोत्साहन देना, और (5) भू राजस्व प्राप्त करने के लिये उचित तर्कसंगत आधार तय करना। 'भूमि जोतने वाले को' प्रस्ताव ग्रामीण आय को उन लोगों के लिए तो लाभ के लिए पुर्नवितरित करने के लिए था जो खेतों में काम करते हैं परन्तु जो खेत नहीं जोतते उनके लिए हानिकारक था। इस प्रस्ताव का एक दूसरा प्रभाव यह था कि कार्षी भूमि का नियन्त्रण जमींदार से काश्तकार, किराएदार व मजदूरों के हाथों में चला जाये। कानून के द्वारा इस प्रस्ताव को प्रभावी बनाने के लिए क्या सम्भावित उपाय थे ? (i) यह प्रावधान करना कि गैर काश्तकार भू-स्वामियों की मृत्यु के पश्चात भूमि का अधिकार उन लोगों को दिया जाये जो वास्तविक काश्तकार हैं, या (ii) कानून में प्रावधान हो कि वर्तमान काश्तकार या भविष्य में भूमि को अपने हाथ से काश्तकारी करने का इरादा रखते हों, ऐसे लोगों के अतिरिक्त कृषि भूमि के हस्तान्तरण न किए जायें, या (iii) गैर काश्तकारों से भूमि के अधिकार छीन लिए जायें और पूर्व मालिकों को मुआवजा दिया जाये या उन्हें दूसरे पेशे अपनाने के उद्देश्य से पुनर्वास अनुदान प्रदान किया जाये। लेकिन सम्पत्ति अधिकार उन्मूलन का कार्यक्रम क्रियान्वयन सरल नहीं था।

भूदान आन्दोलन (Bhoodan Movement)

वैधानिक भूमि सुधार की निराशाजनक प्रगति से निराश होकर आचार्य विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन ने आगे का मार्ग प्रशस्त किया। भूमिहीनों की स्थिति को सुधारना ही इसका उद्देश्य था। यह मानते हुए कि भारत में पाँच करोड भूमिहीन किसान हैं, विनोबा जी ने पाँच करोड एकड भूमि दान में एकत्र करने का मन बनाया, ताकि प्रत्येक भूमिहीन को एक एकड भूमि दी जा सके। उन्होंने भू स्वामियों से कहा कि प्रत्येक अपनी भूमि का छठा भाग भूदान आन्दोलन में दान दें। क्योंकि भारत में 1951 में लगभग 30 करोड एकड भूमि कृषि योग्य थी, इसलिए पाँच करोड एकड वांछित भूमि का लक्ष्य पूरा हो जाता। इसके पश्चात दान में प्राप्त इस भूमि को भूदान कार्यकर्ताओं की देख रेख में भूमिहीन कृषकों में वितरित किया जाना था। यह आन्दोलन प्रारम्भ में अच्छा चला क्योंकि (1952 से 1954) तीन वर्षों में ही 0.3 करोड एकड भूमि भूदान में प्राप्त हो गई। फिर यह आन्दोलन धीमा पड गया। यह देखा गया कि दान की गई भूमि का अधिकतर भाग चट्टानी, बंजर, कृषि की दृष्टि से कम उपजाऊ या मुकदमे बाजी या विवादग्रस्त था। फिर, भूमि के वितरण में अनेक समस्याएं उठ खडी हुई। मई 1955 तक प्राप्त कुल 3 75 मिलियन एकड भूमि में से लगभग 0.2 मिलियन एकड भूमि का ही पुर्नवितरण हो सका। जिला और तालुका स्तर के नेता लोग हतोत्साहित थे। वे भूदान से सम्बद्ध इसलिए हुए थे ताकि उनके अनुयायियों की सख्या बढ सके या मजबूत हो सके। विनोबा जी ने इन प्रयत्नों का विरोध किया। उनका निवेदन उन सभी धनी

और बडे भूस्वामियों से था जो अपने स्वार्थों के लिए सभी प्रकार के भूमि सुधारों का विरोध करते थे। अत· चकबंदी की तरह भूदान भी असफल हो गया।

हरित क्रान्ति (Green Revolution)

हरित क्रान्ति, जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादन में वृद्धि करना था, लगभग 1966 में लाई गई। उच्च कोटि का उत्पादन देने वाले गेहू, धान, मक्का, ज्वार और बाजरा की उन्नत किस्मों का प्रारम्भ बडे भू-स्वामियों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ जबकि छोटे भू-स्वामियों के लिए कम। ऐसा इसलिए था क्योंकि इसके लिए पानी की अच्छी आपूर्ति, कीमती खाद, उन्नत किस्म के बीज, कीटनाशक और मशीनों के प्रयोग की आवश्यकता थी। यह सब केवल धनी किसान ही वहन कर सकते थे। पी सी जोशी (1974 33) के अनुसार पजाब, हरियाणा और कुछ अन्य क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति बनी कि छोटे भूस्वामियों ने बडे भू स्वामियों को भूमि किराए पर देना शुरू कर दिया जिनको अपनी मशीनों से अधिक लाभ लेने के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता थी। एक ओर इससे धनी भूस्वामी अधिक धनी हो गए और दूसरी ओर इससे भूमिहीन मजदूरों की सख्या में वृद्धि हुई जिनमें से अधिकतर निम्न जाति के या अस्पृश्य हैं।

आजादी से पूर्व यद्यपि लगभग 70 प्रतिशत ग्रामीण जनसख्या कृषि में लगी थी फिर भी कृषि उत्पादन इतना कम था कि हम अपनी खाद्य आपूर्ति के लिए विदेशों पर निर्भर थे। निम्न खाद्य उत्पादन, भूराजस्व एकत्र करने की ब्रिटिश नीति, कृषि में आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग की कमी, छोटे भूस्वामियों को ऋण सुविधा की कमी, जमींदारों और जागीरदारों द्वारा छोटे कृषकों के शोषण तथा कृषकों में फसलों के नये नमूनों से उगाने की विधि को न अपनाने के कारण था। भू-राजस्व की ब्रिटिश नीति का परिणाम यह हुआ कि अनेक कृषक जो कर चुकाने में असमर्थ थे या तो उन्हें अपनी भूमि को गिरवी रखना पडा या बेचना पडा या फिर सहायता के लिए महाजन के पास ही जाना पडा। इस कारण से भूमिहीन किसानों और मजदूरों का अनुपात 1891 में ग्रामीण जनसख्या के 13 प्रतिशत से बढकर 1961 में 38 प्रतिशत हो गया (Patel 1952)। 1950 के दशक में जब देश की जनसख्या 0 67 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ रही थी, तब कृषि उत्पादन की दर 0 5 प्रतिशत हो थी। आजादी के बाद प्रारम्भ किए गए भूमि सुधारों से भूमि बडे भूस्वामियों के हाथों में और अधिक मात्रा में सिमट गई। भूमि सुधारों का सिद्धान्त था "जमीन काश्तकार के लिए"। बडे भूस्वामियों ने, जिन्हें ऐसे कानूनों का पूर्वानुमान था, इस कानून के क्रियान्वयन से पूर्व ही अपनी भूमि आसामियों से खाली करा ली थी। अनेक आसामियों ने डर के मारे भूमि के अधिकार उनके स्वामियों को सौंप दिए थे। उसके बाद बडे भू स्वामियों ने थोडे समय के लिए या मौसमी आसामियों को भूमि किराए पर दे दी या आकस्मिक श्रमिकों की सहायता से स्वय काश्त प्रारम्भ कर दी। 1953-54 तक ऊपर के 10 प्रतिशत भूस्वामी आधी से अधिक भूमि के मालिक बन बैठे, 47 प्रतिशत से कम के पास प्रति परिवार एक एकड से कम भूमि रह गई, और 23 प्रतिशत भूमिहीन रह गए। कृषि उत्पादन जो 1951-52 में तीन प्रतिशत की दर से बढ रहा था 1994-95 में छ प्रतिशत बढा, 1996-97 में दस प्रतिशत बढा, लेकिन 1998-99 में छ प्रतिशत से घट गया (*India Today*, March 8, 1999 : 18-19)। यह अनुमान है कि उन्नत प्रौद्योगिकी से उन्नत उत्पादन के प्रयोग से ऊपर के 10

प्रतिशत भू-स्वामी भारत की शहरी व अन्य गैर-कृषि आधारित जनसंख्या के लिए काफी अन्न उत्पन्न करते रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग 48 करोड काश्तकार परिवार भूमि से बेदखल हो गए। यह गलत धारणा है। कृषि का वाणिज्यीकरण और गत तीन दशकों की हरित क्रान्ति से न तो कृषकों पर कुप्रभाव पड सका और न ही गावों को सरक्षन (patronage) प्रथा के प्रहारों से मुक्ति मिल सकी।

नियोजित ग्रामीण विकास (Planned Rural Development)

ग्रामीण जीवन को दो प्रकार की नीतियाँ प्रभावित करती हैं (i) उत्पादन-परक क्रियाएं जिनका उद्देश्य उत्पादन और सेवाएँ प्रदान करना हो, उदाहरणार्थ, सब्सिडी प्राप्त खादें, सिंचाई व ऋण उपलब्ध कराना, ग्रामीण उद्योगों का पता लगाना, आदि। (ii) गैर-उत्पादन क्रियाएँ जिनका उद्देश्य जीवन स्तर उठाना हो। प्रथम प्रकार की क्रियाएं ग्रामीण विकास उपाय कहलाते हैं। ये क्रियाएं या तो समस्त समुदाय को प्रभावित करती हैं या समुदाय के किसी विशेष वर्ग को। प्रथम प्रकार की क्रियाओं के उदाहरण हैं सामुदायिक विकास योजनाएँ (1952), पचायती राज (1962), भूमि सुधार (1950), गरीबी हटाओ कार्यक्रम जैसे एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1978) आदि, जबकि दूसरे प्रकार की क्रियाएँ हैं, जनजातीय विकास कार्यक्रम (1959), सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम (1979), रेगिस्तान विकास कार्यक्रम (1977), काम के लिए भोजन कार्यक्रम (1977), राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (1980), ट्राइसेम (TRYCEM), आदि (Deep Sagar, "Rural Development Policies of India" *Indian Journal of Public Administration*, April-June, 1990 251-261)। कुछ कार्यक्रम सम्पत्ति (उत्पादन बढाने सहित) बढाने के उद्देश्य से और लोगों को आर्थिक सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से थे, जैसे आईआरडीपी न्यूनतम कृषि मजदूरी, ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, आदि जबकि अन्य कार्यक्रमों का उद्देश्य लोगों का सामाजिक उत्थान था, जैसे, जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार, पचायती राज, ट्राइसेम, आदि। कुछ कार्यक्रम वास्तव में गरीबी उन्मूलन के लिए थे (जैसे एनआरईपी का स्वय रोजगार कार्यक्रम, डीपीएपी (DPAP), ट्राइसेम का प्रशिक्षण कार्यक्रम, आदि), जबकि कुछ कार्यक्रम राजनीति से अधिक प्रेरित थे, जैसे गरीबी हटाओ और बीस सूत्रीय कार्यक्रम। लेकिन सामुदायिक भागीदारी, सामाजिक बुराइयों को दूर करना, तथा जीवन की गुणवत्ता को सुधारने जैसे मूल उद्देश्यों को अभी भी प्राप्त करना शेष है।

उपाय (The Strategies)

ग्रामीण विकास के लिए तीन उपाय अभी तक किए गए हैं (i) प्रारम्भ में 1950 के दशक में नीति निर्माताओं ने पूजी निवेश बढाकर आर्थिक विकास की अधिकता पर बल दिया, यह मानते हुए कि इसके लाभ नीचे तक पहुँचेंगे और ग्रामीण समाज के सभी वर्गों तक प्राप्त होंगे। लेकिन 1970 के दशक में यह अनुभव किया गया कि कृषि विकास के लाभ गरीब ग्रामीणों तक नहीं पहुचे। (ii) इससे सरचनात्मक सम्प्रदाय (structural school) द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसने यह सुझाव दिया कि सम्पत्ति (assets) का वितरण भूमि सुधारों, सामुदायिक विकास योजनाओं, और सहकारी खेती द्वारा किया जा सकता है।

लेकिन यह भी व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुआ। (iii) 1980 के दशक में एक नया विचार आया कि ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के द्वारा गरीबी पर प्रहार किया जाये (जैसे IRDP, TRYSEM, NREP, और RLEG जो बाद में JRY कार्यक्रम में विलय हो गया)। गरीबी विरोधी इन कार्यक्रमों के विश्लेषण से पूर्व हम गरीबी उन्मूलन में बीस सूत्रीय कार्यक्रम व पचवर्षीय योजना की भूमिका का मूल्याकन करेंगे।

पचवर्षीय योजनाएँ (Five Year Plans)

1950 में गठित योजना आयोग देश की आवश्यकताओं और ससाधनों को ध्यान में रखते हुए भारत के विकास के लिए पचवर्षीय योजनाएँ बनाता रहा है। प्रथम योजना 1951 अप्रैल में प्रारम्भ की गई और तृतीय योजना मार्च 1966 में सम्पन्न हुई। इसके बाद तीन एक वर्षीय योजना अप्रैल, 1966 से मार्च, 1969 तक चली। चतुर्थ योजना अप्रैल 1969 में प्रारम्भ हुई और नौवी योजना अप्रैल 1997 में प्रारम्भ हुई (यद्यपि इसको मत्रिमण्डल की स्वीकृति जनवरी 1999 में प्राप्त हुई)।

प्रथम पचवर्षीय योजना (1951-56) का उद्देश्य चहु-तरफा सन्तुलित विकास करना था और इसमें कृषि तथा सिंचाई को उच्चतम वरीयता दी गई जिसमें इस उपक्रम में कुल योजना राशि का 44 6 प्रतिशत धन निवेश किया जाना था। यह योजना कृषि आयातों पर देश की निर्भरता कम करने के लिए बनाई गई थी और विदेशी विनिमय को बचाने के उद्देश्य से थी। परन्तु इस योजना में सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों के विकास को भी महत्व प्रदान किया गया था। योजना के अन्त में देश की राष्ट्रीय आय में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई और प्रति व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत की वृद्धि।

द्वितीय पचवर्षीय योजना (1956-61) में इस बात पर बल दिया गया कि विकास के लाभ अपेक्षाकृत समाज के कमजोर वर्ग के लोगों को पहुचने चाहिएँ और आय के केन्द्रीयकरण में क्रमिक कमी आनी चाहिए। लेकिन योजना की कार्यविधि से अपेक्षित आशाए पूरी नही हुई। लगभग सभी क्षेत्रों में उपलब्धि लक्ष्यों की अपेक्षा कम रही। परिणामत द्वितीय योजना के मूल्य स्तर में 12.5 प्रतिशत की वृद्धि देखी गई जब कि प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त में मूल्य सूचकाक 13 प्रतिशत कम देखा गया था।

तृतीय पचवर्षीय योजना (1961-66) का उद्देश्य आत्म निर्भर विकास की ओर अग्रसर होना था। इसमें पाँच उद्देश्यों की सूची थी राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत तक वृद्धि करना, मूल उद्योगों का विकास (जैसे, इस्पात, शक्ति, रसायन), कृषि में आत्म-निर्भरता, मानव शक्ति का विकेन्द्रीयकरण। कृषि को एक बार फिर उच्च प्राथमिकता दी गई और लगभग 35 प्रतिशत धन राशि इसी क्षेत्र को आवटित की गयी। तृतीय योजना का काम भी द्वितीय योजना की भाँति हतोत्साहित करने वाला था। पांच वर्षों की अवधि में, राष्ट्रीय आय में 2.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि लक्ष्य 5 प्रतिशत का था। कृषि क्षेत्र में भी उत्पादन को धक्का लगा।

तृतीय योजना के अन्त में अर्थव्यवस्था की इतनी दुर्दशा थी कि चतुर्थ योजना, जो मार्च 1966 में प्रारम्भ होनी थी, छोडनी पडी और इसके स्थान पर तीन वार्षिक योजनाए बनानी पडी। 1966 और 1969 के बीच तीन वर्ष का समय, जिसको 'योजना अवकाश' कहा

गया, तृतीय योजना में आए दोषों को सुधारने में लगाया गया। तीन पचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य तृतीय योजना के अपूर्ण कार्यों को पूरा करना था।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1969-74) का उद्देश्य था राष्ट्रीय आय को 5.5 प्रतिशत तक बढाना, आर्थिक स्थिरता उत्पन्न करना, आय वितरण में असमानता को कम करना और समानता के साथ सामाजिक न्याय का उद्देश्य प्राप्त करना। कृषि व उद्योग दोनों क्षेत्रों में साथ-साथ विकास को चतुर्थ योजना में पूर्ण मान्यता प्रदान की गई। लेकिन इस योजना में भी आर्थिक विकास सुनिश्चित न हो सका। न तो इस योजना के अनाज के उत्पादन में आत्म निर्भरता आ सकी और न ही विस्तृत बेरोजगार समस्या के समाधान में रोजगार के अवसर पैदा किए जा सके। मुद्रा स्फीति की स्थिति भी गम्भीर हो गई।

पंचम पचवर्षीय योजना (1974-79) का मुख्य उद्देश्य गरीबी समाप्त करना और आत्म निर्भरता प्राप्त करना था। योजना का उद्देश्य रोजगार के अवसर बढाना, आत्म निर्भरता, न्यूनतम मजदूरी की नीति बनाना, क्षेत्रीय असन्तुलन समाप्त करना तथा निर्यात को प्रोत्साहन देना था। यह योजना 1979 के बजाय 1978 में जनता दल शासन काल में समाप्त हुई और छठी योजना (Rolling Plan) के रूप में प्रारम्भ हुई। लेकिन 1978 में काग्रेस पुन सत्ता मे आई तो पाचवीं योजना की अवधि 1974 से 1979 तक कही गई। पाँचवीं योजना किसी भी क्षेत्र में अपने लक्ष्यों को प्राप्त न कर सकी, सिवाय अन्न उत्पादन में वृद्धि के।

छठी पचवर्षीय योजना (1980-85) गत तीन दशकों की योजना की कमियों और उपलब्धियों को ध्यान में रख कर बनाई गई थी। इसमें आर्थिक विकास, बेरोजगारी कम करने, आय के वितरण में असमानता दूर करने, प्रौद्योगिकी में आत्म निर्भरता, समाज के कमजोर वर्ग के स्तर को उठाने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार तथा जनसख्या वृद्धि में नियत्रण पर बल दिया गया था। इस योजना ने काफी सफलता प्राप्त की। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के अनुसार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का अनुपात 1977-78 में 48.3 प्रतिशत से घटकर 1984-85 में 36.9 प्रतिशत रह गया।

सातवीं पचवर्षीय योजना (1985-90) में कार्य और उत्पादकता में वृद्धि सबधी तीन प्राथमिकताए थीं। ठोस उत्पादक रोजगार उत्पन्न करने पर बल देने के साथ ही योजना का उद्देश्य गरीबी कम करना और गरीबों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार करना भी था। फिर भी यह योजना भी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रही। कृषि क्षेत्र में, निर्माण क्षेत्र में, रोजगार बढाने के क्षेत्र में तथा देश को भुगतान स्थिति के सन्तुलन में गम्भीर नुकसान हुआ।

आठवी पचवर्षीय योजन 92-97) जो 1990 में प्रारम्भ होनी थी, वास्तव में अप्रैल 1992 में क्रियान्वित हुई। वर्ष 1990-91 और 1991-192 वार्षिक योजनाए मानी गई। यह योजना रोजगार उन्मुख समझी जा रही थी। योजना का आकार पूर्व योजना से दो गुना था लेकिन उसके बाद की सभी योजनाए आकार में दो गुनी थीं। विकास दर पूर्व की अपेक्षा दोगुनी थी। सत्य यह था कि प्रथम और छठी योजना के अतिरिक्त कोई भी योजना शायद ही लक्ष्य प्राप्त कर सकी। आठवीं योजना अन्य पूर्व योजनाओं से बिल्कुल भिन्न नहीं थी और न ही इसके परिणाम भिन्न थे।

नवी पचवर्षीय योजना जनवरी 1999 में ही मत्रीमण्डल से स्वीकृत हुई। इसको विकासोन्मुख और महत्वाकाक्षी कहा गया। इस योजना के प्राथमिकता के क्षेत्र हैं · कृषि,

रोजगार, गरीबी, और कृषि के मूलढाचे थे, लेकिन सर्वोच्च प्राथमिकता सिंचाई को दी गई थी। पाच मूल ढाँचागत क्षेत्रों की कार्य कुशलता और उत्पादकता—सिंचाई, शक्ति, खनिज, रेलवे तथा संचार—में भी सुधार की आशा है। इस योजना को निकासी-अभिमुख (delivery oriented) कहा गया है।

पचवर्षीय योजनाओ का मूल्याकन (Assessment of Five Year Plans)

यदि हम सभी नौ पंचवर्षीय योजनाओं की जानकारी लें तो पता लगेगा कि योजना के पाँच दशकों में हमारी सभी योजनाएँ किसी न किसी विषय की ओर उन्मुख थी, कभी कृषि उत्पादन में आत्म निर्भरता, कभी औद्योगिक विकास, आदि। लेकिन गरीबी और बेरोजगारी हमेशा वृद्धि की ओर रहे हैं।

1951 से 50 वर्षों की अवधि में आर्थिक विकास की औसत दर 3 प्रतिशत रही है। यद्यपि यह विश्व के 4 प्रतिशत की तुलना में बुरा नही है, तथापि विकासशील देशों के 7 से 10 प्रतिशत की तुलना में कम है। 1951-2000 के बीच हमारी वार्षिक राष्ट्रीय आय 3 5 प्रतिशत की दर से बढी है, कृषि उत्पादन 2 7 प्रतिशत, औद्योगिक उत्पादन 6 1 प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय में 1 1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यद्यपि सरकार ने दावा किया है कि गरीबी की सीमा रेखा से नीचे के लोगों की सख्या 1999 में 36 प्रतिशत ही थी, लेकिन क्योंकि बेरोजगार लोगों की सख्या में वृद्धि हुई है, अत हम यह नही कर सकते कि गरीबी कम हो गई है। इसमें आश्चर्य नही कि आज अधिक लोग कुण्ठा का अनुभव करते हैं और प्रतिवर्ष आन्दोलन बढ रहे हैं।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम (20 Point Programme)

इस कार्यक्रम को इन्दिरा गान्धी ने गरीबी और आर्थिक शोषण कम करने तथा समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के उत्थान के उद्देश्य से जुलाई 1975 में प्रारम्भ किया। इस कार्यक्रम के पाँच महत्त्वपूर्ण उद्देश्य थे (a) मुद्रा स्फीति नियत्रण, (b) उत्पादन को प्रोत्साहन देना, (c) ग्रामीण जन कल्याण, (d) शहरी मध्यम वर्ग को सहायता देना, और (e) सामाजिक अपराध नियत्रण। 20 सूत्रीय कार्यक्रम में सम्मिलित कार्यक्रम थे सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि, अतिरिक्त भूमि का वितरण, भूमिहीन मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी, बन्धुआ मजदूरों का पुनर्वास, परिगणित और परिगणित जनजाति का उत्थान, आवास सुविधाओं का विकास, शक्ति उत्पाद में वृद्धि, परिवार नियोजन कार्यक्रम बनाना, वृक्षारोपण, प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार, स्त्रियों और बच्चों के कल्याण के लिए कार्यक्रम, प्राथमिक शिक्षा में वृद्धि, वितरण प्रणाली को मजबूत करना, औद्योगिक नीतियों का सरलीकरण, काले धन का नियत्रण, पीने के पानी की सुविधाओं को बेहतर बनाना, और आन्तरिक ससाधनों का विकास करना।

20 सूत्रीय कार्यक्रम सत्ता परिवर्तन से कम होता गया जब जनता दल सरकार सत्ता में आई, यद्यपि जनवरी 1982 में यह कार्यक्रम नये स्वरूप में फिर से लागू किया गया। अन्य वस्तुओं में इस पुनरीक्षित कार्यक्रम में ग्रामीण विकास की तीव्र गति और ग्रामीण गरीबी पर

सीधा प्रहार सम्मिलित था, इसके साथ-साथ परिगणित जाति और परिगणित जनजाति का उत्थान भी सम्मिलित था।

छठी योजना अवधि (1980-85) से प्राप्त अनुभवों के प्रकाश में 20 सूत्रीय कार्यक्रम अगस्त 1986 में पुनरीक्षित एव सीमित किया गया। इस पुनर्निमित कार्यक्रम का उद्देश्य था गरीबी हटाना, उत्पादकता में वृद्धि करना, आय असमानता, सामाजिक और आर्थिक असमानताए कम करना, और जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि करना। 1986 के पुनर्निर्मित 20 सूत्रीय कार्यक्रम में निम्नलिखित वायदे सम्मिलित हैं ग्रामीण गरीबी पर प्रहार, वर्षा सिंचित कृषि के लिए कार्य योजना, सिंचाई के पानी का बेहतर प्रयोग, बड़ी फसलें, भूमि सुधारों का क्रियान्वयन, ग्रामीण श्रम के लिए विशेष कार्यक्रम, स्वच्छ पीने का पानी, सभी के लिए स्वास्थ्य, दो बच्चों का सिद्धान्त, शिक्षा का विस्तार, परिगणित जाति व परिगणित जनजाति के लिए न्याय, स्त्रियों के लिए समानता, युवाओं के लिए नवीन अवसर, लोगों के लिए घर, झुग्गी बस्तियों में सुधार, वानिकी (forestry) के लिए नयी कार्ययोजना, वातावरण सरक्षण, उपभोक्ता के लिए चिन्ता, गाँवों के लिए ऊर्जा, और उत्तरदायी प्रशासन।

यह तथ्य कि शहरी और ग्रामीण लोग अधिक असन्तुष्ट हैं और आज वे अधिक कुण्ठा का अनुभव कर रहे हैं, इस ओर सकेत करता है कि 20 सूत्रीय कार्यक्रम अपनी वचनबद्धता में असफल रहा है।

राज्य के निर्धनता कम करने के लिए कार्यक्रम
(State Poverty Alleviation Programmes)

निर्धनता उन्मूलन के लिए अनेक कार्यक्रम ग्रामीण निर्धनों तथा छोटे और सीमान्त किसानों, भूमिहीन मजदूरों, तथा ग्रामीण शिल्पियों के लिए सरकार द्वारा प्रारम्भ किए गये हैं। सम्प्रति महत्वपूर्ण कार्यों में से चल रहे कार्यक्रम हैं आईआरडीपी (IRDP) (सहायता राशि/ऋण स्व रोजगार तथा सिंचाई के लिए, पशु पालन आदि समर्थक भूमि आधारित कार्य) ट्राइसेम (स्व-रोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं को कुशलताओं में प्रशिक्षित करना), जवाहर रोजगार योजना (ग्रामीण बेरोजगारों तथा कम बेरोजगारों के लिए लाभप्रद अतिरिक्त रोजगार पैदा करना तथा एक गरीब परिवार में कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में 50 से 100 दिन रोजगार प्रदान करना, एनआरईपी (NREP) (ढीले मौसम में दिहाडी रोजगार), आरएलईजीपी (RLEGP) (प्रत्येक भूमिहीन परिवार को 80 से 100 दिन का दिहाडी रोजगार), और डीडीपी (DDP) (ठण्डे और गर्म रेगिस्तानों के क्षेत्र विकास)।

एकीकृत ग्रामीण कार्यक्रम (IRDP)

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबी उन्मूलन के लिए सरकार का एक प्रमुख साधन है। इसका उद्देश्य प्राथमिक क्षेत्र में परिवारों को कृषि, फलोद्यान और पशु पालन जैसे स्वरोजगार उपक्रमों में लगाकर गरीबी रेखा से ऊपर उठाना, द्वितीय क्षेत्र में कपडा बुनना तथा हस्तकला का विकास, और तृतीय क्षेत्र में नौकरी व व्यापार प्राप्त करने योग्य बनाना था। आईआरडीपी का उद्देश्य है निश्चित समय सीमा और निवेश में न्यूनतम तय किए गए

परिवारों को गरीबी की रेखा पार कराना। इस प्रकार इसमें सम्मिलित तीन चर (variables) इस प्रकार हैं : (a) गरीब घरों की सख्या, (b) निवेश के लिए उपलब्ध ससाधन, और (c) समय अवधि जिसमें निवेशित पूजी आय देने लगेगी जो परिवार को गरीबी रेखा पार करने योग्य बना देगी।

आई.आरडी.पी कार्यक्रम केन्द्र सरकार के द्वारा 20 चयनित जिलों में मार्च 1976 में प्रारम्भ किया गया लेकिन अक्टूबर 1982 से यह कार्यक्रम देश के सभी जिलों में विस्तृत कर दिया गया। यह कार्यक्रम परिवार को विकास की एक इकाई मानता है। इस कार्यक्रम के कार्यात्मक पक्ष का इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि 80 लाख से ऊपर परिवार 1993-94 और 1997-98 के बीच पाच वर्षों में आर्थिक दशा सुधारने हेतु सहायता प्राप्त कर चुके थे।

आई.आरडी.पी की कार्यप्रणाली के क्रियान्वयन के लिए अनेक सस्थाओं ने अध्ययन किया है। उन्होंने कार्यक्रम के क्रियान्वयन में अनेक दोषों की ओर सकेत किया है। किसी भी संस्था में कार्यक्रम की उपयोगिकता पर प्रश्न चिन्ह नही लगाया है।

इस योजना के विरुद्ध मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं

(1) कार्यक्रम में कई दोष हैं और आई.आरडी.पी के अन्तर्गत गठित सभी लाभ गरीबों के लिए नही हैं। इसके तीन प्रमुख कारण हैं (a) गरीब लोग रिश्वत नही दे सकते, जटिल कागजात नही भर सकते, गाँव के मुखिया को प्रभावित नही कर सकते और अपने लिए जमानत का प्रबन्ध नहीं कर सकते, (b) बैंक अधिकारी गरीब ऋण लेने वालों के प्रति उदासीनता का व्यवहार करते हैं। उनका विश्वास है—सही या गलत—कि गरीबों को ऋण देना जोखिम भरा है क्योंकि ऋण वसूली ग्रामीण बैंक की किसी खास शाखा के कार्य का द्योतक माना जाता है, और (c) गरीब स्वय भी ऐसे कार्यक्रमों में कम रुचि लेते हैं क्योंकि उन्हें डर रहता है कि कही उन्हें ठगा तो नही जा रहा या फिर ऋण न चुका पाएँ। (2) ऋण कार्यक्रम के क्रियान्वयन में अत्यधिक भ्रष्टाचार, दुरूपयोग और अव्यवस्थाएँ हैं। ऋण योजना के दिशा निर्देशों में थोडा हेर फेर करके ऋण गलत आवटित कर दिया जाता है क्योंकि (a) दिशा निर्देशों में स्पष्ट है कि ऋणों के स्वच्छ आवटन के लिए लाभार्थियों के लाभ के लिए ग्राम सभा की बैठकें (गाँव की सभा) आयोजित की जानी चाहिए लेकिन व्यवहार में ऐसा होता नहीं क्योंकि गाँव के मुखिया और ग्राम सेवक गाँववासियों और प्रशासन के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं, (b) ऋण प्राप्त करने में रिश्वत ही आधार होती है, और (c) घर घर का सर्वेक्षण, जिस पर योग्य (eligible) परिवारों की सूची आधारित मानी जाती है, पाँच वर्षों में केवल एक ही बार किया जाता है। (3) कार्यक्रम परिवार-आधारित है और क्षेत्र के ससाधनों पर आधारित या विकास आवश्कयताओं के साथ सम्बद्ध नही है। इस प्रकार आई.आरडी.पी ऋण न तो लाभार्थियों के जीवन स्तर को उठाता है और न ही गरीबों को गरीबी के रेखा से ऊपर उठाकर ग्रामीण निर्धनता पर कोई प्रभाव डालता है। कर्नाटक, उत्तर-प्रदेश, पश्चिम बगाल, गुजरात, राजस्थान में अनेक जिलों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है। गरीबी पर विश्व बैंक योजना के अन्तर्गत राजस्थान में सात जिलों में 1996 में एक अध्ययन किया गया था। अप्रैल 1997 में प्रत्येक जिले के द्वारा अलग-अलग रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी। अन्य तीन राज्यों—पश्चिम बगाल, आन्ध्रप्रदेश और मध्यप्रदेश—में भी

इसी प्रकार के अध्ययन किए गए थे।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार के गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम समाप्त कर दिए जायें। सरकार अपने उत्तरदायित्व से मुह नही फेर सकती। इसे तो केवल रोजगार पैदा करने के कार्यक्रमों को लागू करना और मौजूदा योजनाओं का वास्तविक लाभ, वचित समूहों तक पहुचाने के उद्देश्य से भ्रष्टाचार मिटाना है।

ग्रामीण युवको को स्व रोजगार के लिए प्रशिक्षण सबधी कार्यक्रम (TRYSEM)

स्व-रोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षित करने की योजना 15 अगस्त 1979 में कृषि, उद्योग और व्यापार क्रियाकलापों के क्षेत्रों में प्रारम्भ की गयी थी। केवल 18-35 आयु वर्ग के गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों से सम्बद्ध युवा इस प्रशिक्षण के लिए योग्य हैं। इसमें अनुसूचित जाति एव अनुसूचित जनजाति के लोगों, भूत पूर्व सैनिकों और नवीं कक्षा पास लोगों को चयन में प्राथमिकता दी जाती है। एक तिहाई स्थान स्त्रियों के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं। प्रशिक्षुओं के लिए वजीफा राशि 75 रुपये से 200 रुपये प्रतिमाह के बीच होती है। प्रशिक्षण सम्पन्न होने पर ट्राइसेम लाभार्थियों को आई.आरडी.पी के अन्तर्गत सहायता दी जाती है। 1992-93 और 1995-96 के मध्य चार वर्षों में दो लाख युवा प्रतिवर्ष प्रशिक्षित किए गए जिनमें से 45 प्रतिशत स्व रोजगार में लग गए और 30 प्रतिशत दिहाडी पर रोजगार में लगे रहे (Economic and Political Weekly, 1995)। 1996-97 से 1999-2000 तक चार वर्षों में भी दो लाख से कुछ कम युवाओं को प्रशिक्षित किया गया है। इस कार्यक्रम के प्रमुख आलोचना बिन्दु इस प्रकार हैं (i) आवश्यकता के अनुसार इसका प्रसार कम है, (ii) प्रदत्त कुशलता ग्रामीण औद्योगिकरण प्रक्रिया से जुडी हुई नही है। प्रशिक्षण अस्थाई तौर पर दिया जाता है और प्रदत्त कुशलता निम्न स्तर की होती है, और (iii) वजीफे की राशि प्रशिक्षण पर जाने वाले युवाओं को प्रेरित करने के लिए अपर्याप्त है।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP)

यह कार्यक्रम अतिरिक्त खाद्यान्न की सहायता से ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार अवसर पैदा करने के लिये नियोजित किया गया था। प्रारम्भ में इस कार्यक्रम को भोजन के लिए कार्य योजना (FWP) कहा गया था। यह योजना 1976-77 के अन्त में बनाई गई थी, लेकिन वास्तव में अप्रैल 1, 1977 को यह प्रभावी हुई। इस योजना के अन्तर्गत लाखों टन खाद्यान्न के उपभोग के द्वारा प्रतिवर्ष लाखों रोजगार के मानव दिवस (mandays) बनाए गए थे। खाद्यान्न सरक्षण, विद्यमान सडकों का रख रखाव, नयी लिंक सडकों का निर्माण, सिंचाई सुविधाओं का सुधार, पचायत घरों, स्कूल भवनों, स्वास्थ्य केन्द्रों का निर्माण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सफाई दशाओं में सुधार, आदि इसके अन्तर्गत शुरू किए गए। इस कार्यक्रम में कुछ कमियों के कारण इसका (FWP) अक्टूबर 1980 में पुनर्निर्माण किया गया था और छठी योजना (1980-85) का हिस्सा मानते हुए इसका नाम एन.आर.ई.पी. दिया गया। इसका उद्देश्य उन ग्रामीण गरीबों की चिन्ता करना था जो अधिकतर मजदूरी पर निर्भर होते हैं और जिनके पास कृषि की कमजोर अवधि में जीविका का कोई साधन नही होता। इस कार्यक्रम के

अक्टूबर 1977 में चलाया गया था। विचार यह था कि प्रतिवर्ष प्रति गाँव से पाँच सबसे गरीब परिवार चयन किए जायें (27,000 आवासी गावों से) और उनकी आर्थिक भलाई में मदद की जाये। प्रारम्भ में राज्य के विभिन्न पर्यावरण क्षेत्रों (ecological regions) में स्थित 25 गावों में दैव सर्वेक्षण (random survey) से किया गया और ऋणग्रस्तता के, निर्भरता अनुपात, भूमि की भौतिक परिसम्पत्ति, पशुधन, व्यवसाय, शैक्षिकस्तर, आय और परिवार के आकार के सन्दर्भ में एक एक परिवार के विषय में सूचना एकत्र की गई। उसके बाद अन्त्योदय की विस्तृत योजना बनाई गई। प्राथमिकता के क्रम में गरीब परिवारों के चयन के लिए आर्थिक आधार इस प्रकार निश्चित किए गए (1) वे परिवार जो नितान्त अभाव में बिना उत्पादक सम्पत्ति के रहते हों और जिनमें 15 से 59 आयु समूह के कोई भी सदस्य आर्थिक क्रिया कलाप करने के योग्य न हो, (2) वे परिवार जिनके पास कोई भी भूमि या पशु जैसी सम्पत्ति न हो लेकिन जिसका कम से कम एक सदस्य काम करने योग्य हो और उस परिवार की प्रति व्यक्ति आय 20 रुपये प्रति माह तक हो, (3) वे परिवार जिनके पास कुछ उत्पादक परिसम्पत्ति हो और प्रति व्यक्ति आय 30 रुपये प्रति माह हो, और (4) वे परिवार जिनकी प्रति व्यक्ति आय 40 रुपये प्रति माह हो।

ऐसे परिवारों की पहचान करने का काम ग्राम सभा को सौंपा गया। इस योजना के अन्तर्गत खेती करने के लिए भूमि आवटन, मासिक पेंशन, बैंक से ऋण तथा नौकरी ढूढने में सहायता के द्वारा किया गया। प्रत्येक चयनित परिवार को 30-40 रुपये प्रतिमाह पेंशन दी गई। बैल गाडी, पशुधन (भैंसे, गाय, बकरी और सुअर आदि खरीदने के लिए) टोकरी निर्माण, बढई के औजार खरीदने के लिए, दर्जी की दुकान खोलने के लिए, चाय, नाई या पंसारी तथा साबुन व निवाड बनाने के कार्यों के लिए बैंक से ऋण उपलब्ध कराया गया।

जिला स्तर पर अन्त्योदय योजना का प्रशासन कलेक्टर तथा राज्य स्तर पर कृषि विभाग को सौंपा गया। इस योजना के अन्तर्गत राजस्थान सरकार की योजना पाँच वर्षों में (1978 से 1982 तक) लगभग छ लाख परिवारों की सहायता करने की थी। स्वीकृत धनराशि की लगभग एक तिहाई पेंशन के रूप में दिया जाना था, लगभग दो तिहाई ऋण के रूप में और 4 प्रतिशत खादी बोर्ड के माध्यम से (ऋण और सहयोग राशि) के रूप में दी जानी थी। इस योजना के अन्तर्गत तीन वर्षों की अवधि में (1978 से 1980 तक लगभग ढाई लाख चिन्हित परिवारों में से 83 प्रतिशत को सहायता दी गई। चयनित परिवारों में से 22 प्रतिशत को भूमि आवटित की गई, 40 प्रतिशत को ऋण, 22 प्रतिशत को सामाजिक संरक्षण लाभ, और 8 प्रतिशत को रोजगार और अन्य लाभ उपलब्ध कराए गए (Mehta, 1953 347)। राजस्थान सरकार ने 1981 में इस कार्यक्रम को पुनर्जीवित किया। इसने तीन वर्षों की अवधि में प्रत्येक ब्लाक से गरीबी रेखा से नीचे के लगभग 1800 परिवारों को लाभ पहुँचाया गया। भूमि आवटन और सामाजिक सुरक्षा लाभ सहायता राशि से अलग रखे गए।

राजस्थान सरकार के कदमों पर चलते हुए उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश ने भी इसी प्रकार के कार्यक्रम 1980 में चलाए। लेकिन राज्य में राजनीतिक परिवर्तनों ने इस कार्यक्रम को प्रभावित किया। अब कहा जा सकता है कि यह कार्यक्रम कम या ज्यादा असफल ही रहा है। परिवारों के चयन में पक्षपात, अधिकारियों में सहयोग की कमी, ऋण अदायगी में देर, तथा कार्य-पश्चात देख रेख में उपेक्षा इसकी असफलता के कारण रहे। राजस्थान सरकार

ने सितम्बर 1990 से राज्य में फिर से इस योजना को लागू किया है परन्तु वर्तमान में यह अधिक प्रचलित नही है। (2000 में)

गरीबी हटाओ और बेकारी हटाओ कार्यक्रम
(Garibi Hatao and Bekari Hatao Programmes)

'गरीबी हटाओ' का नारा इन्दिरा गान्धी द्वारा मार्च 1971 में राष्ट्रीय चुनावों के दौरान दिया गया था जबकि 'बेकारी हटाओ' का नारा अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा अपने राष्ट्रीय अधिवेशन में अप्रैल 1988 में। वास्तव में कांग्रेस तो 1950 के दशक से ही 'समाजवाद' की बात करती रही है। कांग्रेस ने आवडी अधिवेशन 1955, भुवनेश्वर अधिवेशन 1964, और कामराजनगर अधिवेशन अप्रैल 1988 में 'समाजवाद' को अपना प्रमुख लक्ष्य घोषित किया था। लेकिन इस लक्ष्य को प्राप्त करने में कांग्रेस कहा तक सफल रही यह इस तथ्य से संकेत मिलता है कि हमारे देश में दस लाख लोग भीख माग कर जीवित हैं, लगभग 50 हजार लोग दान किए हुए रक्त से जीवत हैं और करोडों लोगों की आय 500 रुपये प्रति माह से भी कम है।

गरीबी-विरोधी कार्यक्रम का आलोचनात्मक मूल्याकन
(Critical Evaluation of the Anti-Poverty Programmes)

विशेषज्ञों और शिक्षाविदों द्वारा किए गए विविध अध्ययनों ने दर्शाया है कि कोई भी कार्यक्रम ग्रामीण गरीबी के स्तर को गिराने में सफल नही हुआ है। ग्रामीणों का एक बडा भाग मूल आवश्यकताओं के अभाव में जीवित है। कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में निहित दोष असम्बोधित पडे हैं। सबसे पहले नीतिया राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों की सुविधा के विचार से दिग्दर्शित हैं, बजाय ग्रामीणों की आवश्यकताओं और सतही यथार्थ से। परिणामत ग्रामीण अर्थतन्त्र की दिशाए उपेक्षित ही रह जाती हैं। दूसरे, क्योंकि प्रत्येक कार्यक्रम आगामी चुनाव को ध्यान में रख कर प्रारम्भ किए जाते हैं, अत कार्यक्रम टुकडों में चलता है और कई कार्यक्रम तो कुछ समय बाद समाप्त ही हो जाते हैं। तीसरे, कार्यक्रम इस प्रकार बनाए जाते हैं कि बिना उनके विशिष्ट व्यवसायिक प्रतिरूप (unique vocational patterns) और स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखे वे ग्रामीण अर्थव्यस्था पर थोप दिए जाते हैं। परिणामस्वरूप, सृजित सम्पत्ति (assets created) टिकाऊ नही होते हैं। चौथे, कार्यक्रम कृषि क्षेत्र पर अधिक केन्द्रित हैं। ग्रामीण औद्योगीकरण पर वाछित ध्यान नही दिया जा रहा है। पाँचवें, इसके बावजूद भी कि सरकार ने कृषि उत्पादन और उत्पादकता, सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करने और, आय असमानताओं को कम करने को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की है, इन योजनाओं के लाभ देश के सबसे गरीब वर्ग तक नही पहुँचे हैं। जल ससाधन, ऋण सुविधा, राज्य सहायक राशि (subsidy) और अन्य सुविधाएँ कतिपय बडे किसानों द्वारा हडप ली जाती हैं तथा मध्यम व गरीब किसानों को वस्तुएँ ऊचे मूल्य पर खरीदने पडते हैं। छठे, विविध कार्यक्रमों के बीच कोई सामजस्य नहीं है। विविध रोजगार कार्यक्रमों के जवाहर योजना में विलय के बाद भी सरकार अभी तक पचायतों को समय पर कोष उपलब्ध नहीं करा पाती। सातवें, इन कार्यक्रमों से सम्बद्ध अधिकारी सरकार द्वारा रखे

गए लक्ष्यों में अधिक विश्वास करते नही दिखाई देते, फलस्वरूप वे अपनी भूमिका निर्वाह के प्रति प्रतिबद्ध नही हैं। अत वे या तो लोगों में इन कार्यक्रमों के प्रति जागृति पैदा करने में कम कष्ट उठाते हैं या उनका विश्वास जीतने तथा सहयोग लेने में असफल रहते हैं। इसमें आश्चर्य नही कि सरकार भी उपलब्ध ससाधनों का उपयोग करने में असमर्थ रही है। अन्तिम, जवाहर रोजगार जैसी योजना में केन्द्रीय धन कुछ राज्यों द्वारा पार्टी कार्यों में भी लगा दिया जाता है। उदाहरणार्थ, एक अध्ययन से पता चला है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा आन्ध्र प्रदेश के नलगोण्डा जिले में नये सिंचाई के लिए कुओं के लिए स्वीकृत 30,000 रुपये की जालसाजी हो गई और एक भी कुआ नही बना। मात्र योजना बनाना काफी नही है। महत्व का विषय यह है कि गरीबी विरोधी मुहिम को सफल बनाने वाले अभिकारकों के क्रियान्वयन प्रयत्नों (implementing agencies) में ईमानदारी व निष्ठा हो।

सामुदायिक विकास योजनाएँ (Community Development Projects)

राज्य द्वारा सचालित ग्रामीणों के आर्थिक व साभाजिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिए बनाए गए सामुदायिक योजनाओं की एकीकृत योजना में प्रस्ताव किया गया कि देश भर में दस वर्ष के लिए विस्तार कार्यकर्ताओं (extension workers) का एक जाल स्थापित किया जाये। सामुदायिक योजना क्षेत्र तीन विकास ब्लाकों में बाँटा गया जिसमें 100 गाँव और लगभग 60,000 से 70,000 तक की जनसख्या निर्धारित की गई। विकास ब्लाक को फिर 5 गावों के समूह में विभक्त किया गया और प्रत्येक समूह एक ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता (VLW) की देखरेख में दिया गया। प्रारम्भिक कार्यक्रम लगभग 55 योजनाओं के साथ 18,500 गाँवों में लगभग 15 2 मिलियन जनसख्या से शुरू हुआ। प्रारम्भिक योजनाओं के चयन में कृषि उत्पादन सबसे आवश्यक लक्ष्य था। योजना क्षेत्रों के चयन में सिंचाई सुविधाओं तथा वर्षा को भी महत्व दिया गया। सामुदायिक योजनाओं के क्रियाकलापों को कृषि, सिंचाई, सचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आवास, प्रशिक्षण और समाज कल्याण में बाँटा गया। सगठानात्मक सरचना में योजना आयोग में एक केन्द्रीय समिति बनाई गई अथवा केन्द्रीय स्तर पर सभी सामुदायिक योजनाओं का एक प्रशासक (administrator) था, राज्य स्तर पर विकास समिति, जिला स्तर पर कमेटी जिसका सचिव आयुक्त था, ब्लाक स्तर पर 125 निरीक्षकों के साथ एक अधिशाषी अधिकारी (executive officer), तथा ग्राम स्तर पर ग्राम स्तरीय अधिकारी (VLOs) थे। कार्यक्रम का मूल तत्व प्रारम्भ से ही जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना था। भारत सेवक समाज, जो कि सगठन का गैर अधिकारिक प्रतिभाग था, ग्रामीणों द्वारा स्वैच्छिक प्रयत्न करने के लिए तथा उन्हें प्रेरित करने के लिए गठित किया गया। गाँव वालों को श्रम या नकदी द्वारा योगदान करना था।

लेकिन यह कार्यक्रम ग्रामीणों में सामाजिक या आर्थिक परिवर्तन लाने में सफल न हो सका। जिन लोगों को लाभ मिला वे पहले से ही बेहतर स्थिति में थे। सामुदायिक विकास योजनाओं का मूल्याकन एआर देसाई, एससी दुबे, आस्कर लेविस, मैन्डलबाम, ओपलर, कार्ल टेलरस, विलसन, और कई अन्य विद्वानों द्वारा किया गया। इन सभी मूल्याकन कर्त्ताओं ने यह मान लिया था कि सामुदायिक विकास योजनाएँ ग्रामीण समाज और कृषि अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए उपयुक्त और वाच्छनीय प्रविधि थी। ग्रामीण जीवन पर सामुदायिक

विकास योजनाओं के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए लगभग उपरोक्त सभी विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि ग्रामीण लोगों को इन योजनाओं से प्रेरित नहीं किया जा सकता और वे इनके क्रियान्वयन की सभी अवस्थाओं में भाग नहीं लेते। टेलर (Carl Taylor) का विचार था कि सम्पूर्ण कार्यक्रम मे निहित भावना को आत्मसात करने में सरकारी तन्त्र विफल रहा। एआर. देसाई का मानना था कि समाजशास्त्रीय धारणाएं जिन पर सामुदायिक विकास योजनाएँ आधारित थी, जैसे, सभी व्यक्ति, समूह, और श्रेणिया जो ग्राम समुदाय में शामिल होते हैं, सामान्य हितों से बँधे रहते है, और सामान्य हित यह उत्साह पैदा करेंगे कि समुदाय के विभिन्न श्रेणियों के हित समझौते से दूर टकराव वाले नही होते हैं, सही नही थी। एस.सी दुबे ने माना कि योजना (planning) शिखर से नीचे (top to down) की ओर थी। आस्कर लेविस ने माना कि विभिन्न विभागों के कर्मचारियो के बीच अधिकारों और कर्तव्यों को लेकर काफी सघर्ष और अस्पष्टता थी और समाज सेवी मानसिकता का अभाव था। सक्षेप में, सामुदायिक विकास योजनाएं अपने अपेक्षित लक्ष्यो मे निरर्थक सिद्ध हुईं।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में समान नियोजन और एकीकृत क्रियात्मकता का अभाव है। आई आरडीपी, एन आर ईपी, आरएलईजीपी, डीपीएपी आदि जैसे बहु-श्रेणीय विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए जिला स्तर पर एक सयुक्त एजेंसी बनाई जानी चाहिए। इस एजेंसी का प्रधान बीडीओ (BDO) से अधिक ऊचे और कलैक्टर से नीचे पद का व्यक्ति होना चाहिए। इसमें सम्बद्ध अनुभागों से पूर्णकालिक विशेषज्ञ और बहु-अनुभागीय समर्थक कर्मचारीगण होने चाहिए। कुछ सदस्य अशकालिक सदस्य भी हो सकते हैं। नियोजित कार्यक्रमों को क्रियान्वयन के लिए एकीकृत योजना के साथ-साथ एकीकृत प्रशासनिक ढाँचा भी होना चाहिए। इसमे बैंक भी होने चाहिएँ।

पचायती राज (Panchayati Raj)

ग्रामीण समुदायों के विकास में लोगों को शामिल करने में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की असफलता के कारण बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों पर पचायती राज की स्थापना हुई। पचायतराज के उद्देश्य जनतान्त्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, और आधुनिकीकरण थे। पचायतों से, निम्नतर स्तर पर ग्राम समस्याओं को सुलझाने और सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति के लिए स्थानीय मानव-शक्ति ससाधनों को सक्रिय बनाए जाने की अपेक्षा की जाती थी। वास्तव में, भारत में पचायती राज उद्‌विकास की लम्बी प्रक्रिया के माध्यम से अस्तित्व में आया। इसके विस्तार का विश्लेषण पांच चरणों में किया जा सकता है 1950 से 1960 तक, 1961 से 1964 तक, 1965 से 1985 तक, 1986 से 1992 तक, और 1993 से 2000 तक।

स्थानीय स्व-शासित इकाइयों के रूप में ग्राम पचायतों के गठन के विषय में घोषणा ज .री 1950 में सविधान में एक प्रावधान द्वारा की गई। प्रथम पचवर्षीय योजना में भी (1951-52 में) इस बात पर बल दिया गया कि स्थानीय प्रतिनिधि सस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण विकास के प्रबन्ध में लोगों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जाये। बलवन्त राय मेहता समिति ने भी 1956 में सामुदायिक विकास योजनाओं पर पुनर्विचार के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक व सामाजिक दशाओं को सुधारने की प्रक्रिया में निरन्तरता बनाए रखने के

लिए पचायत राज सस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की। योजना आयोग पहले से हीं कहता रहा था कि ग्राम पचायतों को सुदृढ बनाया जाना चाहिए और इस नवीन लोकतांत्रिक व्यवस्था को धीरे-धीरे विकास प्रशासन की जिम्मेदारी दे दी जानी चाहिए। तीन स्तरीय पचायत राज व्यवस्था के सगठन की सिफारिश करते समय बीआर मेहता दल का भी यह ही दृष्टिकोण था।

पचायती व्यवस्था प्रारम्भ में 1959 में तीन राज्यों द्वारा स्थापित की गई। 1959 के बाद पचायत राज सस्थाओं का तत्र अधिकतर राज्य सरकारों द्वारा स्थापित किया जाने लगा। 1964-65 तक तत्कालीन भारत के 15 में से 12 राज्यों में पचायतों ने कार्य करना शुरू कर दिया। छ केन्द्र शासित क्षेत्रों में से केवल एक (हिमाचल प्रदेश) ने पचायती राज स्थापित किया। कुछ राज्यों में इसकी सरचना में अन्तर था। 1965-85 की अवधि में पचायती राज में ठहराव आ गया और विकास प्रक्रियाओं के प्रबन्ध की इसकी भूमिका में कुशलता में भी कमी आई। इसकी विश्वसनीयता में भी आघात लगा। सरकारी आदेशों के अनुसार इसकी शक्तियां एव कार्य इस आधार पर कम कर दिए गए कि कई राज्यों में कार्य अक्षमता, भ्रष्टाचार और गुटबाजी अधिक थी। 1977 में जनता दल सरकार ने पचायती राज के कार्य में कमी के कारणों की जाँच और पचायतों को मजबूत बनाने के उपाय सुझाने के लिए अशोक मेहता समिति नियुक्त की। 1978 में इस समिति ने पचायती राज के पुनर्जीवन के लिए अनेक सिफारिशें की। इसमें सम्मिलित थीं पचायतों को अधिक शक्ति देना, जिला परिषद को पचायती राज व्यवस्था की प्रारम्भिक इकाई बनाना, पचायत राज चुनावों में राजनैतिक दलों का भाग लेना, और पचायत सदस्यों को प्रशिक्षण देना।

सन्थानम समिति पचायती राज के वित्त एव ससाधनों की समस्याओं के अध्ययन के लिए नियुक्त की गई। इस समिति ने इन उपायों की सिफारिशें कीं (1) भूमि राजस्व, गृहकर, आदि पर आधारित पचायतों को विशेष कर लगाने की शक्ति देना, (2) राज्य सरकारों द्वारा पचायतों को अनुदान दिया जाना, (3) पचायती राज को राजस्व के साधन सौंपना, (4) पचायती राज के विविध स्तरों के बीच परस्पर वित्तीय सम्बन्धों का विकास करना, (5) भेंट और दान के माध्यम से वित्तीय ससाधनों की वृद्धि करना, (6) पचायतों को वित्तीय सहायता देने और उन्हें गाँवों में मूल अधिकार प्रदान कराने में सहायता देने के लिए पचायत राज वित्त निगम की स्थापना करना।

तथापि पचायतों के पुनर्जीवन और पुनरुद्धार का काम 1985 में शुरू हुआ जब 1984 में तत्कालीन प्रधान मन्त्री ने राज्यों के मुख्यमत्रियों को पचायती राज के लम्बित चुनावों को कराने और उनके कामकाज को फिर से जीवन्त बनाने के लिए लिखा। दो समितियां—1985 में (G V S Rao Committee) और 1986 में (L M Singhvi Committee)—नियुक्त की गईं। राव समिति ने सिफारिश की कि (1) पचायती राज सस्थाओं को प्रभावी संगठन होने के लिए सक्रिय बनाया जाये तथा सभी आवश्यक समर्थन दिया जाये (2) पचायती सस्थाओं को जिला और ब्लाक स्तरों पर नियोजन, क्रियान्वयन, और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को दिशा देने का काम सौंपा जाये, (3) ब्लाक विकास कार्यालय विकास प्रक्रिया में मेरुरज्जू (spinal chord) का काम करे। एलएम सिंघवी कमेटी ने पाया कि पचायती सस्थाएँ, राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी, मूल्यांकन की कमी, और सुधारात्मक उपायों की

कमी के कारण ठीक से कार्य नही कर रही हैं। इस समिति ने पचायती सस्थाओं के लिए पर्याप्त वित्तीय ससाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए साधनों का पता लगाने का सुझाव दिया। समिति ने पाया कि पचायती सस्थाएँ बहुधा अपनी कर लगाने की शक्ति का प्रयोग करने में आनाकानी कर रही हैं। इसलिए इसने कुछ आवश्यक और कुछ ऐच्छिक कराधान करने का सुझाव दिया।

तीनों समितियों के विचारों को सुनने के बाद सरकार ने देश के संविधान को सुधारने का निश्चय किया। यह सशोधन लोकसभा द्वारा दिसम्बर 1992 में और राज्य सभा द्वारा दिसम्बर 1993 में पारित कर दिया गया और 17 राज्य विधायिकाओं द्वारा सशोधित करने के बाद इसको सविधान संशोधन अधिनियम 1993 कहा गया। आज (सितम्बर 2000) पचायती राज सस्थाएं 25 में से 22 राज्यों में और 7 में से 6 केन्द्र शासित क्षेत्रों में कार्यरत हैं। 15 राज्यों में यह त्रिस्तरीय व्यवस्था है, 4 में 2 स्तरीय और तीन में एक स्तरीय व्यवस्था है।

पचायतों को सौंपे गए कार्यों को अनिवार्य (obligatory), विवेकाधीन (discretionary) और स्थानान्तरित (transferred) कार्यों में विभाजित किया जा सकता है। इन कार्यों में निम्नलिखित कार्य सम्मिलित हैं नागरिक सुविधाए, मूल ढाँचागत कार्य और विकासत्मक क्रियाकलाप। मोटे तौर पर, इन कार्यों को स्वास्थ्य व सफाई (महामारी नियत्रण, शौचालयों का निर्माण और रख रखाव, श्मसान स्थलों का रख रखाव, सडकों की सफाई, तालाबों, तालों और नालियों की सफाई), सार्वजनिक कार्य (सडकों का निर्माण और रख रखाव, पीने के पानी के पम्पों, कुओं, गलियों में प्रकाश व्यवस्था), कृषि और पशु पालन (सुधरे बीज और कीट नाशकों का वितरण, बडे हुए कृषि उत्पादों का नियोजन, पशु मेले की व्यवस्था, पशुओं की नस्ल सुधार, मुर्गी व मत्स्यपालन विकास), कमजोर वर्ग का उत्थान (उनकी शिक्षा, सास्कृतिक कार्यक्रमों का प्रबन्ध, कुओं और आवासों का निर्माण), और कुछ विविध कार्य (प्राकृतिक आपदाओं का सामना, घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन और उन्हें मजबूत बनाना, सहकारी समितियों को सुदृढ बनाना, वनों का विकास, स्त्रियों और बच्चों का कल्याण, प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम) शामिल हैं।

प्रारम्भ से ही पचायतों की भूमिका धीरे-धीरे बदली जाती रही है। उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है। यहा तक कि धारणाओं में भी परिवर्तन हुआ है। न केवल पचायत प्रतिनिधियों के स्थानीय सार्वजनिक मामलों का प्रशासन करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है, बल्कि वाच्छित वित्त को बढाना और मानव शक्ति ससाधनों का पता लगाने का उत्तरदायित्व भी दिया गया है।

1993 के सविधान सशोधन के पूर्व पचायतों के सामने मुख्य समस्याए थीं (1) पचायतों को दी गई शक्ति और कार्य सीमित थे। (2) नियोजन के लिए पचायतों के पास मानव ससाधनों की कमी थी। (3) पचायतों को कर लगाकर अपने ससाधन पैदा करने के अधिकार नहीं थे। (4) चुनाव नियमित रूप से नहीं होते थे। (5) स्त्रियों और कमजोर वर्ग का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इस प्रकार पचायतों से अपेक्षित उच्च आकाक्षाए पूर्ण नहीं हुईं। पचायती राज सस्थाओं के सफल क्रियान्वयन में प्रमुख बाधाए इस प्रकार बताई गई इन सस्थाओं की गैर-कानूनी प्रस्थिति, अनियमित चुनाव, नौकरशाही का असहयोग, लोगों की

भागीदारी में कमी, तथा राजनैतिक इच्छा शक्ति में कमी, आदि। (*Journal of Rural Development*, Vol 16, No 4, 1998, Also see, *New Panchayati Raj in Action*, by Mishra, Kumar and Pal, Mittal Publications, 1996 : 1)

एपी बर्नबास (*Indian Journal of Public Administration*, July September, 1998 450) ने पचायती राज की असफलता के पाँच कारण बताये हैं कार्यों के विषय में विभ्राति, स्वायत्तता का अभाव, प्रशासनिक प्रबन्ध में विभ्राति, सामजस्य का अभाव, और विभक्त तथा अस्पष्ट सरचना।

कार्यों के विषय में विभ्राति (confusion about functions) का अर्थ कार्यों के अस्पष्ट विभाजन से है जो तीन स्तरों में बटे हैं। प्रत्येक स्तर पर क्या काम किए जाने हैं, यह स्पष्ट नही है। विभिन्न राज्यों में कार्यों में भेद हैं। ग्राम सभा को सौंपा गया योजना बनाने का कार्य अस्तित्व में ही नही है क्योंकि उनके उद्देश्यों को निर्धारित करने की वाच्छित योग्यता, प्राथमिकताओं की पहचान और कार्यविधि बनाने की योग्यता नही है। अशोक मेहता कार्य समूह और राव समिति ने जिला परिषदों को इस कार्य के लिए उपयुक्त माना था। ग्राम पचायतें और पचायत समितिया अपनी आवश्यकताएँ जिला परिषद को बता सकती हैं। 74वें सशोधन में नियोजन के लिए जिला योजना समिति बनाने का प्रावधान है लेकिन इस समिति के गठन की आलोचना अभी भी की जाती है।

स्वायत्तता का अभाव (absence of autonomy) जिला स्तर पर स्वायत्तता का न होना दर्शाता है क्योंकि राज्य और राष्ट्रीय योजनाओं का समायोजन होना होता है। बहुत सी योजनाए (जैसे आई आर डी पी, पीने के पानी की आपूर्ति, आदि) केन्द्र से वित्त पोषित होती हैं और उनके लक्ष्य अस्पष्ट होते हैं। अत जिला योजना कैसे सार्थक हो सकती है ? हमारे देश की श्रेणीक्रम की प्रशासनिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की सस्कृति के लिए कम ही स्थान है। पचायत का 95 प्रतिशत से भी अधिक बजट प्रतिबद्ध होता हैं। कार्यात्मक और वित्तीय स्वायत्तता के अभाव में पचायतों से मुक्त कार्य की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

प्रशासनिक प्रबन्ध में गडबडी (confusion in administrative arrangement) का अर्थ विस्तार अधिकारियों की अपने विभाग के लिए वफादारी (कृषि, पशु-पालन, सहकारी समितिया) और स्वतत्र कार्य से है। यहा तक कि जिला ग्रामीण विकास ऐजेंसिया (DRDA) जो कि विकास बजट में एक बडा हिस्सा लेती थी, पचायती व्यवस्था के अन्तर्गत नही थीं, यद्यपि अब यह जिला परिषदों की परिधि में आ गया है।

सामजस्य का अभाव (absence of coordination) का अर्थ है जिला और ब्लाक स्तरों पर प्रशासनिक ढाँचे के टुकडे। विभिन्न इकाइयों के बीच कोई तालमेल नही है। ग्राम सेवक, जिसे ग्राम विकास अधिकारी पद नाम दिया गया है, को विविध कार्य सौंपे गए हैं। उसे अनेक ग्रामों को देखना होता है और गरीबों की सहायतार्थ अनेक कार्यक्रम चलाने होते हैं।

विभक्त और अतिछादी सरचना (Fragmented and Overlapping Structure) का अर्थ है किसभी विकास कार्यक्रम पचायतों को नही दिए गए हैं, अत उत्तरदायित्व की स्पष्ट परिभाषा के अभाव में विभ्राति पैदा होती है। 1990 के दशक के प्रारम्भ में पचायती राज सस्थाओं की कार्यप्रणाली का विश्लेषण करते हुए यह निश्चय किया गया था कि केन्द्र

सरकार सविधान में सशोधन कर के पचायतों को अधिक सशक्त और प्रभावी बनावे।

सविधान सशोधन (Constitutional Amendment)

(73 वां) सविधान सशोधन जो 1993 में किया गया, अप्रैल 1974 में प्रभाव में आया। इस सशोधन के बाद, पचायती राज मे लागू किए गए मुख्य परिवर्तन थे दो या तीन स्तरों पर पंचायतों की स्थापना और प्रत्येक गाव में एक ग्राम सभा आवश्यक कर दी गई। (2) पचायती सस्थाओं का कार्य पाँच वर्ष में तीनों पचायत स्तरों पर सदस्यों का चुनाव आवश्यक कर दिया गया। (3) जबकि मध्य और जिला स्तर पर चेयरमैन का चुनाव सीधे होना था, ग्राम स्तर पर चेयरमैन के चुनाव निर्णय राज्य सरकारों पर छोड दिया गया (4) 29 कार्यों की एक सूची पचायतों को उपलब्ध कराई गई थी। इसमें ग्रामीण विकास मूल सरचना, समाज कल्याण, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, सामुदायिक परिसम्पत्ति का रख रखाव आदि थे। (5) पचायतों के तीनों स्तरों पर अनुसूचित जातियों व जनजातियों और स्त्रियों के लिए स्थान आरक्षित थे। (6) धन लगाने और पचायतो को वित्त उपलब्ध कराने के सुझाव देने के लिए वित्त आयोग स्थापित किया गया। (7) पचायतों को कर लगाने, कर्तव्य और शुल्क निश्चित करने के अधिकार दिए गए। राज्य सरकार द्वारा वसूले गए करों में से उनका भाग निश्चित किया गया, और उन्हें अनुदान राशि देने का अधिकार भी दिया गया। (8) चुनाव अयोग को अधिकार दिया गया कि वह पचायत चुनाव करावे। (9) राज्य विधायिकाओं को पिछडे वर्गों/जातियों (OBC) के आरक्षण का अधिकार तथा एमपी/एमएलए को पचायतों में शामिल करने का स्वतत्र विवेक से काम लेने के लिए छोडा गया। (10) सशोधन से पूर्व ग्राम पचायतों के सरपचों को पचायत समितियों का सदस्य बनाया गया था और पचायत समितियों के प्रधानों को जिला परिषद का सदस्य बना दिया गया था, सशोधन के बाद उच्च स्तर पर पचायतों के पदेन सदस्य होने का प्रावधान समाप्त कर दिया गया। परन्तु राज्य सरकारों के सरपचों को पचायत समितियों तथा प्रधानों को जिला परिषदों से जोडने का निर्णय करने का अधिकार दे दिया गया।

1993 में किए गए सशोधन के बाद इन परिवर्तनों के परिणाम इस प्रकार माने जा सकते हैं · (1) तीनों स्तरों पर प्रत्यक्ष चुनाव के सम्बन्ध में सरचनात्मक परिवर्तन पचायतों की कार्यात्मकता को सुधारेगा। पूर्व में पचायत समितियों और जिला परिषदों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव नही होते थे। सभी सरपच पचायत समिति के सदस्य हुए और सभी प्रधान जिला परिषदों के सदस्य हो गए। अब प्रत्यक्ष रूप से चुने गए सदस्यों की भूमिका और उत्तरदायित्व विस्तृत हो जायेंगे। (2) पचायतों की बढती शक्तियाँ और वित्तीय ससाधन पचायतों की स्थिति सुधारेंगे। (3) अनुसूचित जातियों व जनजातियों और स्त्रियों के लिए आरक्षण कमजोर वर्ग के लोगों को पचायत व्यवस्था में सक्रिय भागीदारी के योग्य बनाएगा। (4) नयी सरचना पचायतों को नीचे से योजना बनाने में सहायक होगी, स्थानीय ससाधनों का प्रयोग सम्भव होगा, बडी सख्या में समुदाय की भागीदारी बढेगी, भ्रष्टाचार कम होगा, और विकास प्रयासों की गुणवत्ता में सुधार होगा।

इसके नकारात्मक प्रभाव भी हो सकते हैं : (1) प्रत्यक्ष चुनाव तीन स्तरों पर पचायतों में सम्बवत् अन्तर्क्रिया को रोक सकता है (2) आरक्षित स्थानों का आवर्तो क्रम (rotation)

लम्बी अवधि के विकास कार्य करने के प्रतिनिधियों के वायदों में कमी कर सकता है।

हूजा और हूजा (Hooja and Hooja, "Panchayati Raj in Rajasthan" in *The Indian Journal of Public Administration*, July-Sept, 1998· 474-75) ने कई प्रकरणों की ओर सकेत किया है जिनके अध्ययन पचायतों की सफल कार्यान्यवन के लिए आवश्यक हैं। ये हैं (1) विकेन्द्रीकृत आयोजना का स्तर क्या होना चाहिए ? (2) क्योंकि जिला योजना समिति बहुत बडी हो जायेगी, इसलिए विकेन्द्रीकृत नियोजन और उसके कार्यान्वयन को कार्य रूप देने के लिए सगठनात्मक व्यवस्था क्या होनी चाहिए ? (3) बहुस्तरीय सरचना में किस स्तर पर क्या क्या कार्य अत्यन्त उपयुक्त होंगे ? (4) राज्य सरकार के स्तर पर क्या क्या परिवर्तन आवश्यक हैं तथा विकेन्द्रीकृत आयोजना प्रक्रिया का स्वरूप बिगडने से या पचायतों पर कब्जा जमाने से स्वार्थी तत्वों को या स्थानीय अभिजात वर्ग को दूर रखने के लिए क्या सावधानिया रखना आवश्यक है ? (6) जब योजना बनाने तथा क्रियान्वयन कराने वाली सस्थाए एक ही हों (अर्थात ग्राम पचायत और पचायत समिति) तो यह कैसे सुनिश्चित किया जाये कि आयोजना बनाने वाला अपने लिए लक्ष्य निश्चित नहीं करेगा जो कि महत्वपूर्ण कलापों की अपेक्षा प्राप्त करना सरल है ? (7) विविध पचायत स्तरों तथा राज्य स्तरों पर किस प्रकार सम्भावित सघर्ष टाले जा सकते हैं ?

सविधान सशोधन के बाद की प्रगति
(The Progress After the Constitutional Amendment)

पचायत राज को कार्यात्मक (functional) बनाने में राज्य सरकार अधिकारी कितने गम्भीर हैं ? उनकी वर्तमान में गम्भीरता इस प्रकार दर्शाई गई है (1) नौकरशाह पचायतों को शक्ति स्थानान्तरित करने में उदासीन हैं। (2) वे कोष निर्गमन करने में हमेशा अन्यमनस्क रहते हैं। (3) अधिकारी चुने हुए प्रतिनिधियों में विश्वास नही दर्शाते। (4) कुछ राज्यों ने तो अभी तक चुनाव ही नही कराए हैं, यद्यपि 1994 के 73 वें सविधान सशोधन को लागू होने के एक वर्ष के भीतर ही पचायतों को अस्तित्व में आ जाना चाहिए था। यद्यपि जिला प्रमुखों को जिला ग्रामीण विकास एजेन्सियों (DRDAs) का चेयरमैन होना है जो कि गरीबी निवारण के सभी कार्यक्रम चलाती हैं, लेकिन वे डी आर डी ए (DRDA) के प्रशासकीय समितियों की बैठकों की केवल अध्यक्षता करेंगे, वित्तीय शक्तिया कलेक्टर के हाथ में होगी जो डी आर.डी. ए की कार्यकारिणी समिति का अध्यक्ष बना रहेगा। इस प्रकार पचायतों और डी.आर.डी.ए के सम्बन्धों को स्पष्ट करना आवश्यक है। यह समझ में नही आता कि चुने हुए लोगों को विकास योजनाओं का स्वतत्र भार क्यों नही दिया जाता, उन्हें आगे बैठने की अनुमति क्यों नही दी जाती ताकि लोग विकास प्रक्रिया में बढ कर हिस्सा लें।

अन्त में कहा जा सकता है कि सूक्ष्मीकृत भागीदारी वाले लोकतन्त्र (miniaturised participative democracy) का व्यवहारित दर्शन (pragmatic philosophy), जहा प्रत्येक व्यक्ति महत्वपूर्ण होता है, विकासात्मक गत्यात्मक (developmental dynamics) का आधार शिला (corner stone) है। जनमत यह है कि ग्रामीण विकास को बढाया जा सकता है यदि लोगों के समाधनों को गति प्रदान की जाये और उन्हें निर्णय करने के लिए

प्रेरित किया जाये जो कि जीवन और जीवनयापन को प्रभावित करता है। (*The Third World Programme*, p 36)। वर्तमान में हमारे गांवों में गहरी गुटबाजी है। धन का दुरूपयोग, शक्तिशाली लोगों का दबाव, स्त्रियों को अवसरों का निषेध, दलितों के विरुद्ध आतंक, और चुनावों में व्यवस्थाभजक कार्य (subversion) आदि गावों में प्रचलित हैं। इन समस्याओं का निदान कठिन है। तृणमूल स्तर पर स्व-शासन को समाप्त करने के कोई ठोस कारण भी नही हैं। न्यायमूर्ति कृष्णमूर्ति ने कहा है (*Yojna*, January, 23, 1989, 20) कि पक्षपात, जातिवाद, दुर्भावना, नौकरशाही द्वारा उपेक्षा और असहयोग तो रहेगा ही, फिर भी पचायती राज का प्रयोग (experiments) लोगों की राजनैतिक आँखें खोलेगा। यह फैशन है कि ग्रामीणों की कमजोरी और शहरी लोगों की योग्यताओं को बढा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है लेकिन हमारी ग्रामीण प्रतिमाए (genius) हिस्सेदारी की भूमिका की चुनौती का सामना निश्चित रूप से कर सकेंगे।

11

नगरीय सामाजिक संगठन

(Urban Social Organisation)

प्रस्तावना (Introduction)

1951 के पश्चात भारत में नगर विकास और नगरीकरण की प्रक्रिया के साथ नगरीय विषयों में समाजशास्त्रियों की रुचि बढ गई है। वे न केवल नगरीय सगठन में परिर्वतन का विश्लेषण करते हैं बल्कि नगरीय समुदायों में स्तरीकरण और गतिशीलता का भी अध्ययन करते हैं तथा नवोदित नगरीय समस्याओं का भी परीक्षण करते हैं। 1951 से सन् 2000 तक के परिवर्तन दर्शाते हैं कि नगरीकरण की दर (जनसख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों की ओर जाना और फलत जनसख्या का अधिक अनुपात ग्रामों की अपेक्षा नगरों में अधिक रहना) बहुत अधिक नहीं है लेकिन नगरीय विकास की दर (नगरीय जनसख्या के निरपेक्ष आकार में प्रतिशत वृद्धि) काफी अधिक है। जहाँ 1951 से 1997 तक नगरीय जनसख्या का प्रतिशत आठ प्रतिशत (17.3 से 25 73 प्रतिशत) बढा है, वहा इस अवधि में कुल जनसख्या का पूर्ण आकार 2 6 गुना बढा है (35 69 करोड से बढकर लगभग 95 करोड)। इस नगरीय विकास के दूरगामी परिणाम हो रहे हैं। इससे न केवल ग्रामीण-नगरीय विकास सन्तुलित रूप में कठिन होगा बल्कि सामाजिक-आर्थिक सामजस्य की समस्या भी बढेगी।

नगरीय, नगरीकरण तथा नगरवाद की अवधारणाएँ
(Concepts of Urban, Urbanisation and Urbanism)

यदि भारत का भविष्य ग्रामीण विकास से जुडा है तो यह नगरों के विकास तथा महानगरीय क्षेत्रों के विकास से भी जुडा है। यद्यपि बढते नगरीकरण ने प्रदूषण, अत्यधिक भीड, और गन्दी बस्तियों (slums), बेरोजगारी, गरीबी, अपराध, बाल अपराध, सचार व यातायात नियत्रण, हिंसा, स्त्रियों के प्रति यौन शोषण, तनाव व दबाव जैसी समस्याओं को जन्म दिया है, फिर भी नगर सभ्यता और सस्कृति के केन्द्र होते हैं। ग्रामीण-नगरीय अन्तर्क्रिया, नगरीय सामाजिक सगठन में परिवर्तन, गतिशीलता, नृजातीय समुदायों का एकीकरण, आदि का विश्लेषण करने से पहले यह आवश्यक है कि नगरीय, नगरीकरण तथा नगरवाद की अवधारणाओं को समझ लिया जाये।

'नगरीय' शब्द का प्रयोग जनसख्यात्मक एव समाजशास्त्रीय अर्थों में किया गया है। प्रथम अर्थ के अन्तर्गत यह जनसख्या के आकार, जनसख्या के घनत्व (density) और

निवासियों के काम की प्रकृति पर बल देता है, जबकि दूसरे अर्थ में यह विषमता, अवैयक्तिकता (impersonality), परस्पर निर्भरता, और जीवन की गुणवत्ता पर केन्द्रित है। अत 5,000 से अधिक की जनसख्या, एक वर्ग मील में 1000 व्यक्ति का घनत्व, और 75 प्रतिशत या अधिक जनसंख्या का गैर-कृषि कार्यों (जैसे निर्माण, वाणिज्य, व्यापार, नौकरी, इत्यादि) में व्यस्त होना कस्बा/नगर (town/city) या 'नगरीय' (urban) की विशेषताएँ बताई जाती हैं (R Ramchandran, *Urbanisation and Urban Systems in India*, 1999 . 101-103)। 1991 की जनगणना के अनुसार कोई भी ऐसा स्थान 'नगरीय' है जहां कम से कम 5,000 जनसख्या हो, 75 प्रतिशत पुरुष गैर-कृषि कार्यों में लगे हों, जनसख्या का घनत्व कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी (या 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील) हो, और जहा नगरपालिका/कार्पोरेशन/केन्टनमेन्ट/नोटीफाइड एरिया हो। परन्तु इन मानदण्डों को निम्न आधारों पर अस्पष्ट (vague) और रूढ़िवादी (conservative) कहा गया है . (1) यद्यपि कई स्थानों को, जहाँ 5000 से अधिक जनसख्या है, 'नगरीय' परिभाषित किया गया है और भारत में ऐसे 13000 स्थान हैं, लेकिन जनगणना विभाग 3,245 स्थानों को ही 'नगर' की मान्यता देता है। (2) जनसख्या का घनत्व जो किसी स्थान को 'नगर' होने की पात्रता (eligibility) प्रदान करता है, यथार्थपूर्ण (realistically) कम है। (3) 75 प्रतिशत पुरुष जनसख्या से अधिक गैर-कृषि कार्यों में सलग्न जनसख्या वाला स्थान नगरीय माना गया है, लेकिन 1981 और 1991 की जनगणना के अनुसार कम से कम 25 प्रतिशत कस्बों में कृषि मुख्य क्रियाकलाप के रूप में पाई जाती है। (4) महिला कार्मिकों को काम करने वाली जनसख्या से अलग रखा गया है (Ram Chandran, op cit , 106-107)। इस आधार पर 'नगरीय' समुदाय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है वह समुदाय जो अत्यधिक विषमताओं वाली (heterogeneous), गैर कृषि व्यवसायों की प्रधानतावाला, जटिल श्रम विभाजन वाला, काम में उच्च विशिष्टताओं वाला, औपचारिक सामाजिक नियत्रणों पर निर्भर रहने वाला और स्थानीय सरकार की औपचारिक व्यवस्था वाला है।

'नगरीकरण' जनसख्या की ग्रामीण से नगरीय क्षेत्रों की ओर गतिशीलता है। ऐन्डरसन (Anderson, 1953 : 11) का मानना है कि नगरीकरण में न केवल जनसख्या का नगरों की ओर जाना निहित है बल्कि जाने वालों की अभिवृत्तियों, विश्वासों, मूल्यों और व्यवहार प्रतिमानों में परिवर्तन भी शामिल है।

'नगरवाद' वह जीवनशैली है जिसकी निम्न विशेषताएँ हैं *अस्थिरता* (transiency) अथवा थोडे समय के सम्बन्ध, *उपरिष्ठता* (superciality) अथवा सीमित सख्या में लोगों के साथ औपचारिक और अवैयक्तिक सम्बन्ध, *अनमिकता* (anonymity) अथवा लोगों का गुमनामी में रहना, और *व्यक्तिवाद* (individualism) अथवा लोगों का निजी स्वार्थों को अधिक महत्व देना। ल्यूइस वर्थ (Louis Wirth, 1938 124) ने नगरवाद या नगरीय व्यवस्था की चार विशेषताएँ बताई हैं जनसख्या की विषमता (heterogeneity), कार्यों का विशिष्टीकरण, गुमनामी तथा अवैयक्तिकता, और व्यवहार का मानकीकरण (standardization)।

ग्रामीण-नगरीय भेद : जनसंख्यात्मक तथा सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताएँ (Rural-Urban Differences : Demographic and Socio-Cultural Characteristics)

समाजशास्त्रियों ने 'समुदाय' शब्द का प्रयोग *सम्बन्धों की गुणवत्ता* (quality) बताने के लिए किया है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के बीच सहभागी पहचान (shared identity) की दृढ भावना पैदा करती है। वे 'ग्रामीण' को एक समुदाय तथा 'नगरीय' को एक समाज कहते हैं। जब समाजशास्त्री यह कहते हैं कि समाज 'परम्परा' से 'आधुनिक' की ओर बदल रहा है, तो वास्तव में वे उस समाज की जो पूर्व-औद्योगिक, अधिकतर ग्रामीण तथा परम्परागत समाज है की उस समाज से जो औद्योगिक, अधिकतर नगरीय तथा आधुनिक है, अन्तर करना चाहते हैं। जबकि ल्यूइस वर्थ (Louis Wirth) ने 'ग्रामीण' और 'नगरीय' शब्दों का प्रयोग समुदायों में अन्तर करने के लिए किया है, टानीज (Tonnies) ने गेमिनशेफ्ट (Gemeinschaft) और गेसिलशेफ्ट (Gessellsehaft) शब्दों का, दुर्खीम ने यांत्रिक (Mechanical) और सावयविक (Organic) एकात्मता का, पार्सन्स ने 'परम्परागत' और 'आधुनिक' समाज शब्दों का प्रयोग किया है।

ल्यूइस वर्थ (Louis Wirth, 1938) ने 'नगरीय' की 'ग्रामीण' समाज से अन्तर करते हुए 'नगर' (city) को तीन आधारभूत विशेषताओं के आधार पर परिभाषित किया है जनसंख्या आकार, घनत्व और विषमता। इन विशेषताओं का अर्थ है कि यद्यपि नगर निवासी ग्रामवासियों की अपेक्षा अधिक मानवीय सम्पर्कों का अनुभव करेगा, लेकिन वह अधिक अकेला भी अनुभव करेगा क्योंकि उन सम्पर्कों की प्रकृति 'भावात्मक रूप से शून्य' (emotionally empty) होगी। ल्यूइस वर्थ के अनुसार नगरों में सामाजिक अन्तर्क्रिया, जो शहरों की विशेषता है, अवैयक्तिक, खण्डीय (segmental), दिखावटी (superficial), अस्थाई और आमतौर पर विशुद्ध रूप से व्यावहारिक (practical) और साधक (instrumental) होती है। इनको वह 'द्वैतियक' सम्पर्क कहता है जो ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक सम्पर्कों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। मैक्स वेबर के अनुसार नगर की आधारभूत विशेषता यह है कि यह 'बाजार' (market place) की तरह काम करता है और वाणिज्य व्यापार सम्बन्धों की प्रधानता दर्शाता है।

ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों में कई आधारों पर भेद किया जा सकता है, जैसे, व्यवसाय, आकार, जनसंख्या घनत्व, वातावरण, समता विषमताएँ, सामाजिक स्तरीकरण, गतिशीलता और अन्तर्क्रिया प्रणाली। (1) ग्रामीण समुदाय में लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि होता है यद्यपि कुछ लोग गैर कृषि कार्यों में भी संलग्न होते हैं। नगरों में लोग आमतौर पर गैर कृषि कार्यों में लगे होते हैं जैसे निर्माण, वाणिज्य, व्यापार, नौकरी, और विभिन्न पेशों में। (2) ग्रामीण समुदाय छोटे आकार के तथा नगरीय समुदाय बडे आकार के होते हैं। भारत में 1991 की जनगणना के आकडों के अनुसार गावों में रहने वाली (74 27 प्रतिशत) जनसंख्या में से 36.57 प्रतिशत लोग 2000 से कम जनसंख्या वाले गाँवों में, 21 37 प्रतिशत 2,000 से 5,000 के बीच जनसंख्या वाले गावों में, और 13 33 प्रतिशत 5,000 से अधिक जनसंख्या वाले गाँवों में रहते हैं। दूसरी ओर शहरी क्षेत्रों में रहने वाली (25 73 प्रतिशत)

जनसंख्या में से, 0.72 प्रतिशत लोग 10,000 से कम जनसख्या वाले क्षेत्रों में, 5 27 प्रतिशत 10,000 और 50,000 के बीच जनसख्या वाले क्षेत्रों में, 2 75 प्रतिशत 50,000 से एक लाख के बीच जनसख्या वाले क्षेत्रों में, और 16 4 प्रतिशत एक लाख से अधिक जनसख्या वाले क्षेत्रों में रहते हैं (इन आकडों में जम्मू कश्मीर और असम की जनसख्या सम्मिलित नहीं है)। (*Manpower Profile, India*, 1998, 23-24)। भारत में 1991 में मामीण क्षेत्रों में परिवार का औसत आकार 4.9 और शहरी क्षेत्रों में 4 4 (सदस्यों) का था। (3) ग्रामीण समुदाय में जनसंख्या घनत्व कम है (200 से 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील) जबकि शहरी समुदाय में ऊँचा है (1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील से भी अधिक)। (4) ग्रामीण क्षेत्रों में लोग प्रकृति के बिल्कुल निकट होते हैं जबकि शहरी क्षेत्रों में मानव निर्मित वातावरण से घिरे रहते हैं और प्रकृति से कटे रहते हैं। (5) ग्रामीण समुदाय अधिक समरस (homogeneous) होते हैं जबकि शहरी समुदाय अधिक विषम। (6) ग्रामीण समुदाय जाति तथा वर्ग के आधार पर अधिक स्तरीकृत (stratified) होते हैं जबकि शहरी समुदाय वर्ग के आधार पर अधिक स्तरीकृत होते हैं। (7) ग्रामीण क्षेत्रों में गाँव से गाँव और गाँवों से शहरों की ओर गतिशीलता अधिक है जबकि शहरी क्षेत्रों में गतिशीलता एक शहर से दूसरे शहर के लिए अधिक है। 1991 में देश में 2.25 करोड प्रव्रजकों (migrants) में से 17.7 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों में गये थे, 11 8 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में, 64 5 प्रतिशत ग्रामीण से ग्रामीण क्षेत्रों में, और 0 6 प्रतिशत शहरी क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों में गए (*Manpower Profile, India*, 1998 · 26)। (8) ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के बीच के सम्बन्ध प्रमुखत व्यक्तिगत और अधिकतर दीर्घकालिक होते हैं जबकि शहरी क्षेत्रों में अधिक गौण, अवैयक्तिक, आकस्मिक और अल्प समय के होते हैं। (9) ग्रामीण क्षेत्रों में शिशु मृत्यु दर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा डेढ़ गुना अधिक है (80 : 49 अनुपात में)। (10) ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम शक्ति (labour force) भागीदारी शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा तीन गुनी से भी अधिक है। 1993-94 में ग्रामीण क्षेत्रों में यह 2.94 करोड थी जबकि इसके विपरीत शहरों में 8.57 करोड थी। पुरुषों में यह तीन गुनी से कम है (18 93 6 73 करोड अनुपात में) जबकि स्त्रियों में 5 गुनी से अधिक है (10 47 . 1 84 करोड अनुपात में) (*Manpower Profile*, India, 1998 : 129) (11) ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम कार्यों में सलग्न बच्चों की सख्या शहरी क्षेत्रों से दस गुना अधिक है (1991 में यह सख्या 1 026 करोड 0 03 करोड थी)

यदि हम टानीज (Tonnies) के शब्दों 'गेमिनशेफ्ट' और 'गेमिनशेफ्ट' को ही लें तो यह कहा जा सकता है कि गेमिनशेफ्ट सम्बन्ध ग्रामीण जीवन की विशेषता हैं और गेमिनशेफ्ट सम्बन्ध शहरी जीवन की। गेमिनशेफ्ट प्रकार के समुदाय की विशेषता है घनिष्ट प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता और इसमें परम्परा, मतैक्यता (consensus) और अनौपचारिकता पर बल दिया जाना। सामाजिक बन्धन मित्रता और नातेदारी के घनिष्ट बन्धनों पर आधारित होते हैं। दूसरी ओर, गेसिलशेफ्ट प्रकार के शहरी समाज में सामाजिक सम्बन्ध औपचारिक, सविदात्मक (contractual), हितकारी, और विशिष्ट होते हैं। शहरी समाज में परिवार सगठन कमजोर होता है और इसमें लाभकारी उद्देश्यों तथा औपचारिक और प्रतिस्पर्धात्मक प्रकार के सामाजिक सबधों पर बल दिया जाता है।

दुर्खीम के 'यान्त्रिक' और 'सावयविक' एकात्मकता की अवधारणाओं के अनुसार

(*The Division of Labour In Society*, 1987) यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण समुदाय में एकात्मकता यन्त्रवत (mechanical) होती है और शहरी समुदाय में सावयविक (organic)। ग्रामीण समुदाय यन्त्रवत एकात्मता पर आधारित होने के कारण मूल्यों और व्यवहार में समानता, (अर्थात प्रत्येक व्यक्ति एक सी धार्मिकता से प्रेरित विश्वासों और आदतों में हिस्सा लेता है), दृढ सामाजिक संयम, तथा परम्परा व नातेदारी के प्रति निष्ठा से ओत प्रोत होता है। सरल श्रम विभाजन पर आधारित ग्रामीण समुदाय में कार्यों में बहुत कम विशिष्टता, कुछ सामाजिक भूमिकाएं और व्यक्तित्व में बहुत कम सहनशीलता, आदि गुण भी मिलते हैं। नगरीय समुदाय, जो सावयविक एकात्मता पर आधारित होता है, की विशेषता होती है अत्यन्त विशिष्ट भूमिकाओं की बडी संख्या में अन्तर्निभरता पर आधारित होना और जटिल श्रम विभाजन, जिसमें समाज के सभी समूहों और व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है।

ग्रामीण-नगरीय अन्तर्क्रिया (Rural-Urban Interaction)

ग्रामीण-नगरीय अन्तर्क्रिया नगरीकरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह अपेक्षा की जाती है कि नगरीकरण और नगरीय विकास का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों पर पडेगा और ग्रामीण क्षेत्रों के क्रियाकलापों का प्रभाव आसपास के कस्बों और नगरों पर पडेगा। ग्रामीण-नगरीय अन्तर्क्रिया पर कुछ अध्ययन किए गए हैं जिन्होंने यह दर्शाया है कि (1) नगरीकरण का प्रभाव ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर इस तरह पडता है कि कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है (निकट के शहरों में खाद, अच्छे बीजों और ट्रैक्टरों आदि की उपलब्धता के कारण), फसलों के व्यापारीकरण में वृद्धि होती है, और फार्म जनसंख्या के घनत्व में कमी आती है। (2) प्रव्रजन (migration) के स्तर और स्वरूप में प्रभाव पडा है। (3) ग्रामीणों ने कई शहरी विशेषताओं को अपना लिया है।

समाज विज्ञान साहित्य ने शहरी और ग्रामीण सामाजिक संगठनों और जीवनशैली में अन्तर और दोहरेपन को अक्सर बढा चढा कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य में शहरी क्षेत्रों के आकार में, जो कि 5,000 से 1 5 करोड के बीच भी होता है, अन्तर की उपेक्षा की गई है। दोहरा परिप्रेक्ष्य, निरन्तर अन्योन्याश्रिता के अस्तित्व, ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के पूरक और परस्परोपर सम्बन्ध, जो वस्तुओं और सेवाओं के परस्पर लेनदेन में परिलक्षित होते हैं, की भी उपेक्षा करता है। ग्रामीण लोग नगरवासियों पर बैंक और ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए कृषि साज समान तथा अन्य पूर्तियों के लिए, कृषि उत्पादों के विपणन (marketing) के लिए, और यहाँ तक कि व्यापारिक मनोरंजन के लिए भी निर्भर होते हैं। शहरी क्षेत्र खाद्य पदार्थों की आपूर्ति, सस्ते श्रम और निर्मित सामान के लिए बडे बाजार हेतु ग्रामीण क्षेत्रों पर निर्भर करते हैं। शहरी पेशेवर लोग, जैसे डाक्टर, वकील आदि, अपने अधिकतर मरीज/मुवक्किल ग्रामीण जनता में से प्राप्त करते हैं क्योंकि अस्पताल और न्यायालय शहरी क्षेत्रों में ही सीमित होते है (Hans Nagpal, *Modernisation and Urbanisation in India*, 1996, 155-156)।

दोहरे स्वरूप वाली एक और घटना जो ग्रामीण नगरीय सम्बन्धों को प्रभावित करती है वह है प्रव्रजन। गाँवों से शहर को आने वाले अधिकतर लोग युवा पुरुष होते हैं जो

अकुशल या अर्ध-कुशल व्यवसाय करते हैं। जो ग्रामीण उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वे भी नगरों में ही रहना चाहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में यह प्रव्रजन नगरीय सार्वजनिक सेवाओं पर दबाव बढ़ाता है और सामाजिक विघटन की समस्याएं पैदा करता है।

गाँवों से शहरों की ओर प्रवास अलग प्रकार का होता है। एक तो अपनी इच्छा के शहरी स्थान में स्थाई रूप से बस जाना होता है। इसको स्थानापन्न प्रवास (translocatory migration) कहते हैं। दूसरा वह है जिसमें प्रवासी अपने ग्रामीण आधार पर मंडराते रहते हैं और बार बार प्रवास करते हैं—या तो उसी क्षेत्र में या अलग क्षेत्र में—इसको चक्रीय प्रवास (circulatory migration) कहा गया है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो स्तरीय अवस्था में छोटे से बड़े शहरों में प्रवास करते हैं, इसको क्रमिक प्रवास (step-migration) कहते हैं। मेरी चैटर्जी (Mary Chaterjee, 1971) ने कहा है कि प्रवास का स्थायित्व मूल स्थान से दूरी और साथ ही व्यवसायी स्तर का कार्य है। मूल स्थान से दूरी जितनी अधिक होगी, उन प्रवासियों की संख्या उतनी ही अधिक होगी जो शहरों में अपना ठहराव अस्थाई मानते हैं। उच्च पेशों में सलग्न प्रवासियों की अपेक्षा निम्न-प्रतिष्ठा वाले पेशों में सलग्न प्रवासी शहरों में अपने ठहराव को अधिक अस्थाई मानते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों को प्रवसन कुछ स्वरूप अपनाता है। एक, यह शहरी छोर की ओर 'खिंचाव' (pull) कारकों पर और ग्रामीण छोर पर 'धकेलने' (push) कारकों पर निर्भर करता है। इस प्रकार, कटाई के मौसम में बिहार से पंजाब को कृषि श्रमिकों का प्रवसन इसी प्रकार का होता है। फिर एक और प्रवसन है जो ग्रामीण निर्धनता और शहरों में काम प्राप्ति के अवसरों के कारण पैदा होता है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार से अन्य राज्यों को बच्चों और प्रौढ़ों का काम के लालच में प्रवसन इसी 'खिंचाव' प्रकार का है।

सहकारी सम्बन्धों और कार्यात्मक निर्भरता के साथ ही शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच संघर्ष और टकराव भी होते हैं। संघर्षों को प्राथमिक या द्वैतियक, स्पष्ट (manifest) या अव्यक्त (latent), निरन्तर (continuous) या सायोगिक (episodic) रूप में वर्गीकृत किया गया है। परन्तु ग्रामीण-नगरीय संघर्ष स्पष्ट नहीं होते और खुली हिंसा में नहीं फूटते हैं। उनका आदि और अन्त का निर्धारण करना कठिन है। हंस नागपाल (Hans Nagpal, वही : 158-159) ने इसके लिए तीन कारक बताए हैं जो ग्रामीण लोगों में शहरी लोगों के प्रति संघर्ष या टकराव को प्रोत्साहन देते हैं। ये हैं विपरीत परिस्थितिकीय उप-संस्कृतियां, आधुनिकीकरण, और शहरी पूर्वाग्रह।

विपरीत परिस्थितिकीय उपसंस्कृतियों का अर्थ है कि ग्रामवासियों के प्राकृतिक वातावरण नगरवासियों के कृत्रिम वातावरण से भिन्न होते हैं। ग्रामीण कार्य मौसमों और ऋतुओं से निर्धारित होता है जबकि शहरी कामकाज पूर्वानुमति दशाओं के भीतर किया जाता है। दोनों ही क्षेत्र एक प्रकार से अलग-अलग अपनी उप-संस्कृतियों का विकास कर लेते हैं जिनसे आगे चलकर व्यक्तित्वों और सामाजिक संस्थाओं का स्वरूप बनता है। यद्यपि संख्यात्मक रूप से ग्रामवासी नगरवासियों से अधिक हैं, फिर भी शहरी लोग जीवन के अधिकतर क्षेत्रों में आमतौर पर अपना वर्चस्व रखते हैं। आर्थिक क्षेत्र में भी शहरी लोगों का रहन-सहन का स्तर अच्छा होता है। इसलिए शहरी लोग ग्रामीणों पर आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से अपना अधिकार जमाते हैं।

आधुनिकीकरण का कारक भी संघर्षों को प्रोत्साहित करता है। आधुनिकीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार ने गत पाँच दशकों में पंचवर्षीय योजनाओं, सामाजिक विधानों, कृषि सुधारों, अस्पृश्यता निवारण, जनसंख्या नियंत्रण और वितरणीय न्याय आदि के रूप में अनेक योजनाएँ चलाई हैं। इन आधुनिकीकरण कार्यक्रमों के चार महत्त्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार हुए हैं (1) नगरीकरण की प्रगति और नगरीय क्षेत्र में शक्ति का केन्द्रीकरण (2) राजनैतिक लोकतन्त्रीकरण (3) जाति व धर्म पर आधारित परम्परागत संस्थात्मक संरचना का कमजोर होना और (4) बढती आकांक्षाओं की क्रान्ति का विस्तृत उदय (Hans Nagpal, *op cit*, 160-161)। *गाँवों में दूर-दूर तक शहरी जीवनशैली का विलय हो रहा है*, अधिक से अधिक लोक ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जा रहे हैं, ग्रामीण क्षेत्र से युवा पुरुष अधिक से अधिक बाहर जा रहे हैं, ग्रामीण परिवार स्त्री प्रधान हो रहा है, तथा शहरी-ग्रामीण सम्पर्कों में वृद्धि हो रही है। ग्रामीण लोग शहरवासियों द्वारा भोगी जाने वाली सुख सुविधाओं से ईर्ष्या करते हैं। सम्पर्कों में वृद्धि से नगरवासियों और ग्रामवासियों के बीच टकराव और संघर्षों को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिलता है। राजनैतिक लोकतान्त्रीकरण ने नये तनाव पैदा कर दिये हैं क्योंकि भू-स्वामित्व और जाति के आधार पर अर्जित नेतृत्व के परम्परागत स्वरूप नये प्रकार के नेतृत्व को जन्म दे रहे हैं जो औपचारिकतावाद (formalism) और चुनाव पर आधारित हैं। स्त्रियों की बढती हुई भागीदारी ने भी कुछ संघर्ष, तनाव व खिंचाव पैदा किये हैं। यद्यपि जाति प्रथा की कठोरताएँ कम हो गई हैं, फिर भी राजनीति को प्रभावित करने में जाति का कारक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। आधुनिकीकरण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन ने परम्परागत संस्थाओं (जाति, परिवार और धर्म) को ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में अधिक कमजोर करना शुरू कर दिया है। निम्न जाति समूह आज के राजनैतिक जीवन में दबाव समूह बन गए हैं। लोगों की बढती हुई आकांक्षाओं ने भी आन्दोलनों तथा विरोधों को जन्म दिया है।

अन्तिम, *शहरी पूर्वाग्रह* भी ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में संघर्ष का स्रोत है। आय में असमानता, व्यवसायिक गतिशीलता के लिए अवसर और जीवन स्तर को ऊँचा उठाना भी ग्रामीण लोगों के मन में शहरी लोगों के प्रति पूर्वाग्रह पैदा करते हैं। यद्यपि सरकार ने कृषि विकास, ग्रामीण पुनर्निर्माण, और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को बल दिया है किन्तु व्यवहार में ग्रामीणों की दशा में कोई अधिक सुधार नहीं हुआ है। ग्रामीण लोग इस बात से भी अभिनत (biased) रहते है कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निर्धारित धन को नगरीय आधारभूत संरचना, शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, और यातायात सुविधाओं आदि के लिए खर्चा कर दिया जाता है। कुछ लोग शहरी अभिनति को मानसिक स्थिति कहते हैं, परन्तु सत्य यह है कि इससे संघर्ष और तनाव पैदा होते ही हैं।

सामान्यत अनुसन्धानकर्ता गाँवों में उस समायोजन का अध्ययन करते हैं जो कस्बों और शहरों में परिवर्तनों के कारण (गावों को) करने पडते हैं। लेकिन विक्टर डिसूज़ा ने ग्रामीण क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों और शहरी केन्द्रों पर उनके प्रभावों का अध्ययन किया है। उन्होंने कस्बों और शहरों के कार्यों में और उस व्यापार और वाणिज्य में जो शहरों में वृहद पैमाने पर पाया जाता है, अधिक परिवर्तन देखा।

दूसरी ओर बी आर चौहान (1970) और एन आर सेठ (1969) जैसे विद्वानों ने देखा

कि शहर और गाँव के लोगों के बीच सार्थक और घनिष्ट अन्तर्क्रिया का अभाव है। एन आर सेठ ने तो भारत में ग्रामीण और शहरी समुदायों को अलग करने वाले सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अन्तर की ओर भी सकेत किया है। इस अलगाव के होते हुए भी दो अलग समुदायों के बीच घनिष्ट और पूरक सम्बन्ध सामान्य और वाच्छित माने जाते हैं। शहर और कस्बा अधिकतर अपने चारों ओर के ग्रामीण समुदाय के लिए सेवा का कार्य करते हैं। एलकेसेन (1971) ने दर्शाया है कि कस्बे और शहर की तरह एक बडा गाँव भी आस-पास के शहरों या कस्बों तथा छोटे गाँवों के लिए केन्द्रीय स्थल का कार्य करता है।

क्या भारतीय समाज 'ग्रामीण' से 'नगरीय' होता जा रहा है?
(Is Indian Society Moving from Rural to Urban ?)

'ग्रामीण' व 'नगरीय' शब्दों के बजाय यदि हम पारसन्स के 'परम्परागत' और 'आधुनिक' शब्दों का प्रयोग करें, तो हम उसके बताए परिवर्ती प्रतिमानों (pattern variables) का प्रयोग कर सकते हैं और इस प्रकार दो समाजों में अन्तर कर सकते हैं। परम्परागत समाज की विशेषताएँ हैं : प्रदत्त रोपण (ascription) (जन्मजाति प्रस्थिति), *भूमिका विस्तार* (role diffuseness) (विस्तृत सम्बन्ध), विशिष्टतावाद (particularism) (प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से निजी तरीके से व्यवहार करता है), *भावात्मकता* (affectivity) (भावनाओं की सन्तुष्टि), और सामूहिक उन्मुखता (collective orientation) (हितों में भागीदारी)। आधुनिक समाज की विशेषताएँ हैं : उपलब्धिता (achievement) (व्यक्ति के प्रयत्नों से अर्जित प्रस्थिति), *भूमिका विनिर्दिष्टता* (role specificity) (विशेष उद्देश्य के लिए विकसित सम्बन्ध), सार्वभौमिकता (universalism) (एक से नियम सब पर समान रूप से लागू), *भावपरक निरपेक्षता* (affective neutrality) (नियत्रित भाव), और *आत्मोन्मुखता (self-orientation) (निजी हित का महत्वपूर्ण होना)। अत स्तरीय (graded)* ग्रामीण-नगरीय निरन्तरता के अर्थ में विचार करना सार्थक है जिसके उपरोक्त स्वरूप भिन्नताएँ चरम बिन्दु है। भारत में ये विशेषताएँ ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में मिली-जुली दिखाई देती हैं। क्योंकि ग्रामीण समुदायों में शहरी व शहरी समुदायों में ग्रामीण विशेषताएँ हैं, तो यह कहना तर्कहीन होगा कि भारतीय समाज 'ग्रामीण' से 'शहरी' होता जा रहा है।

नगरीय सामाजिक सगठन : निरन्तरता एव परिवर्तन
(Urban Social Organisation : Continuity and Change)

नगरीय सामाजिक सगठन का दो स्तर पर विश्लेषण किया जाना आवश्यक है (i) वह परिवर्तन का स्तर जिसके अन्तर्गत परिवार, जाति व नातेदारी प्रथाए और धार्मिक मूल्य परिवर्तित हो रहे हैं और (ii) ग्रामीण सामाजिक सगठन से इसकी तुलना व अन्तर। यदि हम दूसरे पक्ष को पहले लें तो यह कह सकते हैं कि जहाँ ग्रामीण सामाजिक सगठन जाति पर आधारित है, वहीं शहरी सामाजिक सगठन वर्ग पर आधारित है। विक्टर डिसूजा (ICSSR Report, 1985 : 161) ने भी कहा है "शहरी सामाजिक सगठन वर्ग आधारित और धर्म निरपेक्षोन्मुख (secular-oriented)" है। परन्तु विल्यम एल रोवे (William L Rowe,

1973), डैविड एस डेकिन (David S Daykin) और ब्राडले आरहरताल (Bradley R Hertal, 1978) जैसे विद्वानों का मानना है कि जाति, नातेदारी और धर्म का भारत के नगरीय समुदाय पर आज भी वर्चस्व बना हुआ है। इस स्तर पर ग्रामीण और शहरी समुदायों में परिवर्तन निवास स्थान के कारण नहीं है, बल्कि सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति में परिवर्तन के कारण है। एसपीजैन ने (1971) उत्तर प्रदेश के एक कस्बे के अध्ययन के आधार पर कहा है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में परम्परागत जाति श्रेणीबद्धता अभी भी जारी है। सिलवीया वतुक (Silviya Vatuk, 1973) ने भी उत्तर भारत के एक कस्बे में प्रवासियों के एक अध्ययन के आधार पर कहा है कि प्रवासियों में नातेदारी का महत्व आज भी जारी है। मेरी चैटर्जी (Mary Chatterjee, 1974) और एमएफ खान (1976) ने कहा है कि नातेदारी सामाजिक सगठन का प्रथम सिद्धान्त है। शहरों और कस्बों में सामाजिक सगठन की परम्परागत विशेषताए, खासतौर पर धार्मिक अवसरों पर, स्पष्ट झलकती हैं। मिल्टन सिंगर (1988) ने सकेत किया है कि शहरी और औद्योगिक परिवेश में भारतीय परम्परागत सयुक्त परिवार आज भी विद्यमान है। शहरी क्षेत्रों में जाति और राजनीति के बीच सम्बन्धों पर अनेक अध्ययनों ने दर्शाया है कि वोट लेने के लिए राजपूत, नादर, जाट, रेड्डी, ब्राह्मण, यादव, आदि द्वारा जाति का प्रयोग किया गया है। दूसरी ओर, कुछ जातियों ने सामाजिक गतिशीलता के लिए शहरों में राजनीति का प्रयोग किया है। अत सामाजिक सगठन के परम्परागत सिद्धान्तों में अर्थात् जाति व नातेदारी प्रथाओं के कार्य करने में तथा धार्मिक मूल्यों के महत्त्व को मानने में निसन्देह निरन्तरता विद्यमान है।

परन्तु शहरी क्षेत्रों में जाति और नातेदारी के कार्य करने में भी कुछ परिवर्तन आए हैं। शहरी क्षेत्रों में लोगों के बीच दिन प्रतिदिन अन्तर्क्रिया में न तो जाति, और न ही धर्म को कोई महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, विभिन्न अवसरों पर सामाजिक और आर्थिक सहायता के लिए लोग जाति और नातेदारों की अपेक्षा पडौसियों, परिचितों और दफ्तर के सहयोगियों पर अधिक निर्भर करते हैं।

नगरीकरण और परिवार (Urbanisation and Family)

परिवार सरचना पर नगरीकरण का प्रभाव एमएम गोरे, एलिन रास, केएमकापडिया और आईपी देसाई जैसे विद्वानों द्वारा बताया गया है। नगरीकरण न केवल परिवार सरचना को प्रभावित करता है, बल्कि परिवार के अन्तर्पारिवारिक सम्बन्धों के साथ-साथ परिवार द्वारा किए जाने वाले कार्यों को भी प्रभावित करता है। आईपीदेसाई (1964) ने गुजरात के एक छोटे कस्बे (महुवा) में परिवार के अध्ययन में पाया कि परम्परागत सयुक्त परिवारों (अर्थात निवास, अधिकार, सम्पत्ति और तीन सदस्यों से अधिक पीढ़िया) के स्थान पर प्रकार्यात्मक (functional) सयुक्त परिवार आ रहे हैं, परिवार का आकार छोटा हो रहा है और नातेदारी सम्बन्ध दो या तीन पीढ़ियों तक ही सीमित हो गए हैं। कापडिया (1959) ने गुजरात में 'ग्रामीण' और शहरी परिवारों के तुलनात्मक अध्ययन में पाया कि ग्रामीण समुदाय में सयुक्त परिवारों का अनुपात वही है जो एकल परिवारों का (497 503) है, शहरी समुदाय में एकल परिवारों की अपेक्षा सयुक्त परिवार अधिक है, और उनका अनुपात प्रत्येक तीन सयुक्त परिवारों के लिए दो एकल परिवार है। रास ने 1957 में बगलौर के मध्यम और उच्च हिन्दू

परिवारों के अपने अध्ययन में पाया कि परिवार के ढाँचे और आकार में परिवर्तन के साथ-साथ दूर के नातेदारों से सम्बन्ध कमजोर हुए हैं या टूटे भी हैं। एमएस गोरे (1969) ने नगरीकरण के कारण परिवार में कम परिवर्तन देखे हैं।

नगरीकरण और जाति (Urbanisation and Caste)

जहाँ तक जाति पर नगरीकरण के प्रभाव का प्रश्न है, रामू (1975), हेमलता आचार्या (1976) और डीए. चेक्की (1974) ने जाति और नातेदारी सम्बन्धों में परिवर्तन और निरन्तरता दोनों की ओर संकेत किया है। शहर का व्यक्ति न केवल जाति से अपनी प्रस्थिति को प्राप्त करता है बल्कि अन्य विचारों से भी। वृहत् दृष्टिकोण से यह कहना गलत न होगा कि नगरीकरण के साथ-साथ जाति पहचान समाप्त होती जाती है। शहर के लोग ऐसे सम्बन्धों में भाग लेते हैं जिनमें अनेक जातियों के लोग होते हैं। रजनी कोठारी के अनुसार विशिष्टापरक (particularistic) निष्ठाओं की सरचना के स्थान पर सामाजिक और राजनैतिक भागीदारी की अधिक परिष्कृत (sophisticated) व्यवस्था मिलती है जिसमें निष्ठाओं में सहदृश्य काट (cross-cutting) पायी जाती है। आन्द्रे बेतेइ (1966 209-10) ने कहा है कि पश्चिमीकृत अभिजात वर्ग में जाति बन्धनों की अपेक्षा वर्ग बन्धन अधिक मजबूत होते हैं।

कभी-कभी किसी जाति के कुछ शिक्षित व आधुनिक व्यवसायों में लगे व्यक्ति स्वय को एक दबाव समूह (pressure group) के रूप में सगठित कर लेते हैं। फल यह होता है कि राजनैतिक और आर्थिक संसाधनों (resources) को प्राप्त करने के लिए एक जाति समिति (association) अन्य दबाव समूह के साथ एक निगमित सघ (Corporate body) के रूप में प्रतिस्पर्धा में आ जाती है। इस प्रकार के सगठन नये प्रकार की एकता दर्शाते हैं। ये प्रतिस्पर्धी इकाइयाँ जाति सरचना की अपेक्षा सामाजिक वर्ग की तरह काम करती हैं।

आज एक और परिवर्तन दृष्टिगत होता है और वह है उपजातियों का आपस में और जातियों का आपस में सम्मिश्रण (fusion)। कोलेण्डा (Kolenda, 1984 150-51) ने तीन प्रकार का सम्मिश्रण बताया है (i) विभिन्न जातियों और उपजातियों के लोग अपने कार्यस्थलों में और शहरों में नये पडौस में मिलते हैं। वे लगभग एक ही दर्जे के होते हैं। पडौस या कार्यालय समूह में निष्ठा का विकास होता है। बड़े शहरों में सरकारी कालोनियों में यह आमतौर पर देखा जा सकता है, (ii) अन्त उप जातीय विवाह हो रहे हैं जिससे उप-जातियों की एकरूपता बढ रही है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कई बार शिक्षित कन्या के लिए उस उपजाति का यथेष्ट शिक्षित वर मिलना कठिन होता है लेकिन पडौस की उपजाति में मिल सकता है, और (iii) लोकतान्त्रिक राजनीति उप-जातियों और आसपास की जातियों के मेल या एकरूपता लाने में सहायक होती है। तमिलनाडु की द्रविड मुनेत्र कषगम और अन्ना द्रमुक पार्टियाँ एक उदाहरण हैं जिनमें उच्च गैर ब्राह्मण जाति के सदस्य हैं।

शहरी लोग जाति प्रतिमानों का सख्ती से पालन नहीं करते। सहभोज सम्बन्धों, विवाह सम्बन्धों, सामाजिक सम्बन्धों, यहा तक कि व्यावसायिक सम्बन्धों में परिवर्तन आया है। बिहार में जाति प्रथा पर एक अध्ययन (नर्मदेश्वर प्रसाद) से स्पष्ट हुआ कि नगरीकरण जाति प्रथा की सभी विशेषताओं को समान रूप से प्रभावित करता है। इस अध्ययन में पाँच जातियों (ब्राह्मण, राजपूत, धोबी, अहीर और चमार) के 200 लोगों के अध्ययन के आधार पर

यह पाया गया कि सभी उत्तरदाताओं ने अपनी ही जाति में विवाह किया, यद्यपि शहरों में रहने वाले 20 प्रतिशत उत्तरदाता (ग्रामीण क्षेत्रों के 5% के विपरीत) अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में थे। जहाँ तक पेशे का सम्बन्ध है, शहर में एक भी उत्तरदाता परम्परागत जाति पेशे में नही लगा था यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में 80% उत्तरदाता अपने परम्परागत धन्धे में लगे थे। इसी प्रकार शहरों में जातीय एकता इतनी मजबूत नही थी जितनी ग्रामों में। शहरों में जाति पचायतें काफी कमजोर थी। जीएस घूर्ये (1952), केएम कापडिया (1959), एपी बरनाबास, योगेंद्र सिंह, आरके मुकर्जी, एमएन श्रीनिवास, योगेश अटल और एससी. दुबे ने भी नगरीकरण के प्रभाव के कारण जाति प्रथा और अन्तर्जातीय सम्बन्धों में परिवर्तन की बात कही है।

नगरीकरण और महिलाओं की प्रस्थिति (Urbanisation and Status of Women)

शहरों में स्त्रियों की प्रस्थिति गाँवों की स्त्रियों से ऊची है। शहरी स्त्रियाँ तुलनात्मक रूप से अधिक उदार और अधिक शिक्षित होती हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार शहरी क्षेत्रों में 54 प्रतिशत स्त्रियाँ शिक्षित हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 25 1 प्रतिशत ही हैं। उनमें से कुछ धनोपार्जन का काम भी करती हैं। (16 5 प्रतिशत महिलाएँ 1993-94 में श्रम से सम्बन्धित थी *Manpower Profile*, 1998 129)। अत वे न केवल अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूक हैं परन्तु वे अपमान और शोषण से बचने के लिए इन अधिकारों का प्रयोग भी करती हैं। शहरों में विवाह योग्य लडकी की औसत आयु गावों की अपेक्षा कही अधिक होती है।

परन्तु श्रम बाजार में स्त्रियाँ अभी भी सुविधा वचित स्थिति में हैं तथा अभी भी उनके साथ भेदभाव किया जाता है और अवसर की समानता (रोजगार, प्रशिक्षण और पदोन्नति अवसरों में) का विरोध होता है। इस अर्थ में तो लिंग के आधार पर विभाजित श्रम बाजार में परिवर्तन सभव नही है जिसकी सरचना बताती है कि स्त्रियों की जीवनवृति (career) असातत्य (discontinuity) वाली होती है जबकि सामान्य पुरुष कार्य के स्वरूप में निरन्तरता अधिक होती है। लिंग के आधार पर अलग किए गए श्रम बाजार में प्रतिबन्धों के कारण स्त्रियाँ चुने हुए व्यवसायों में अधिक सख्या में आती हैं जिनकी प्रस्थिति निम्न और मजदूरी भी कम होती है। सामान्यत स्त्रियाँ अध्यापन, नर्सिंग, सामाजिक कार्य, सचिव का कार्य और लिपिकीय कार्य को वरीयता देती हैं। इन सभी व्यवसायों में निम्न प्रस्थिति और निम्न मानदेय होता है। वे स्त्रियाँ भी जो पेशेवर शिक्षा की कठिनाई को पार कर लेती हैं, सुविधा वचित स्थिति में रहती हैं क्योंकि वे व्यवसाय की माँग की प्रतिस्पर्धा और अपने घर दोनों में समझौता करने में कठिनाई अनुभव करती हैं।

स्त्रियों के लिये अकेला रहना या विवाह के साथ-साथ जीवनवृत्ति (career) में लगा रहना कठिन होता है। इस सामान्य अपेक्षा के अलावा कि स्त्रियों को गृहिणी (housewife) होना चाहिए, यह देखा गया है कि जब कभी आवश्यकता पडती है, स्त्रियों को अपनी जीवनवृत्ति को बलिदान करना पडता है। इस प्रकार अपनी जीवन वृत्ति के साधन को अपने पति की वृत्ति के आधीन मानना पडता है। इससे बहुधा स्त्रियों में कुण्ठा पैदा होती है जिससे कई स्त्रियों में मानसिक बीमारी भी पैदा होती है। परन्तु ग्रामीण स्त्रियों को ऐसी समस्या का

सामना नही करना पडता।

यह भी पाया गया है कि भारत के नगरों में लडकियों में उच्च शिक्षा का स्तर छोटे आकार के परिवार में मिलता है। यद्यपि स्त्रियों की शिक्षा से विवाह की आयु में वृद्धि तथा जन्म दर में कमी हुई है, लेकिन इससे दहेज के साथ परम्परागत तयशुदा (arranged) विवाह के स्वरूप में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ है। मार्गरेट कारमैक (Margaret Cormack, 1961 : 109) ने विश्वविद्यालय के 500 छात्रों के अपने अध्ययन में पाया कि लडकियाँ कालेज जाना और लडकों से मिलना-जुलना चाहती थी लेकिन वे यह भी चाहती थी कि उनका विवाह उनके माता-पिता तय करें। लडकियाँ नये अवसर तो चाहती हैं लेकिन सुरक्षा भी चाहती हैं। वे अपने नव स्वतत्रता का भोग भी करना चाहती है लेकिन साथ-साथ पुराने मूल्यों को भी जारी रखना चाहतीं हैं।

तलाक और पुन विवाह दो नयी घटनाएँ हैं जो शहरी स्त्रियों में अधिक मिलती हैं। आज स्त्रियाँ कानूनी तलाक में अधिक पहल करती हैं, यदि वे विवाह के बाद समायोजन असम्भव देखती हैं। केवल देहली में ही प्रति सप्ताह 20 दम्पत्ति अपने जीवन साथी से तलाक के लिए मुकदमें दायर करती हैं। जनवरी और मई, 1999 के बीच पाँच महीनों में लगभग 2,000 तलाक के मामले दिल्ली के न्यायालयों में दर्ज कराये गये थे (*The Hindustan Times*, June, 12, 1999)। बडी बात यह है कि बडी सख्या में स्त्रियों द्वारा मानसिक उत्पीडन और बेमेल विवाह होने के आधार पर तलाक के लिए याचिका दायर कराई जाती है।

राजनैतिक दृष्टि से भी शहरी स्त्रियाँ आज अधिक सक्रिय हैं। चुनाव लडने वाली स्त्रियों की सख्या हर स्तर पर बढी है। वे महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं और उनकी विचारधारा भी स्वतत्र हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहा ग्रामीण स्त्रियाँ आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार से पुरुषों पर आज भी निर्भर हैं वही शहरी स्त्रियाँ अधिक आत्म निर्भर हैं और अधिक स्वतत्रता का आनन्द उठाती हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अगर हम अशीश नन्दी (1975) जैसे उन विद्वानों के विचारों को स्वीकार भी करें जिन्होंने शहरी सामाजिक सगठन के बन्धनों के स्थान पर नये आयामों की चर्चा की है, फिर भी हम शहरी परिवेश में परिवार, जाति, नातेदारी व धर्म के कार्य प्रणाली के परम्परागत पक्ष की मौजूदगी की अवहेलना नही कर सकते।

नगरीय समुदायों में स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता
(Stratification and Social Mobility in Urban Communities)

भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की विशेषता जाति और वर्ग है। नगरीकरण और औद्योगीकरण ने स्तरीकरण प्रणाली को गतिशीलता प्रदान की है। विक्टर डिसूजा (1978) ने माना है कि जाति और सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन लाने में औद्योगीकरण की भूमिका को बहुत अधिक बल दिया गया है। शहरी क्षेत्र सामाजिक गतिशीलता के लिए अधिक अवसर प्रदान करते हैं लेकिन क्या शहरों में जातियां अपनी सामाजिक परिस्थितियों को ऊँचा उठाने में सफल होती हैं ? जेम्स फ्रीमैन (James Freeman) ने 1973 में एक शहरीकृत हिन्दू गाँव

के अपने अध्ययन में और श्यामलाल ने 1975 में राजस्थान में जोधपुर के निकट भंगियों के अध्ययन में जाति प्रथा में गतिशीलता नही पाई। इसके विपरीत शहरी क्षेत्रों में निम्न जाति के लोगों ने अपने परम्परागत विशेषाधिकारों और कर्तव्यों को बनाए रखने में अधिक झुकाव का सकेत दिया है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि आज के युग में व्यक्ति की व्यावसायिक प्रतिष्ठा अधिकतर उसकी शिक्षा पर निर्भर है। जितनी ऊँची शिक्षा होगी उतनी ही ऊँची व्यावसायिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की सम्भावना होती है। क्योंकि शहरी समुदाय अच्छे शैक्षिक अवसर प्रदान करते हैं इसलिए यहाँ प्रस्थिति गतिशीलता के अवसर भी अधिक होते हैं। परन्तु राजेन्द्र पान्डे (1974) ने शहरी व ग्रामीण कालेज युवकों की व्यावसायिक आकाक्षाओं के अन्तर में अपने तुलनात्मक अध्ययन में निष्कर्ष निकाला कि शहरी और ग्रामीण समाजों के सरचनात्मक आधार युवाओं की आकाक्षाओं, इच्छाओं, और मूल्यों में कोई भेद नही करते और तदनुसार शहरी और ग्रामीण युवा विभिन्न प्रकार की वृत्तियों (jobs) को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं।

यद्यपि जाति व्यवस्था गतिशीलता को स्वीकार करती है, लेकिन जाति श्रेणीक्रम में सम्पूर्ण समूह अपनी स्थिति बदल लेता है। लिंच (Lynch, 1969), हार्डग्रेव (Hardgrave, 1970) और अशीश नन्दी जैसे विद्वानों ने सकेत दिया है कि जाटवों, नादरों, और महिशों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहा नगरीकरण और औद्योगीकरण ने सामाजिक गतिशीलता का समर्थन किया है। सतीश सब्बरवाल (1976) ने पजाब में बढई जाति के रामगढियाँ लोगों में ऊर्ध्वमुखी (upward) गतिशीलता की चर्चा की है।

नृजातीय विविधता आर सामुदायिक एकीकरण
(Ethnic Diversity and Community Integration)

चुनिन्दा प्रकार के लोग ही क्योंकि शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवास करते हैं, शहरी समुदायों में भी कुछ नृजातीय अल्पसख्यक होते हैं। यह शहरी सामाजिक सरचना में उनके एकीकृत होने की समस्या पैदा करता है। इस परिप्रेक्ष्य में डिसूज़ा ने दो विद्वानों के अध्ययनों का सन्दर्भ दिया है—एक 1978 में पूना में के.एस.नैयर के अध्ययन का और दूसरा ऐन्ड्री मेनेफी सिंह (Andrea Menefe Singh) का। इन दोनों ने ही श्वेतवसन व्यवसायी दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों के एकीकरण का अध्ययन किया। दोनों ही अध्ययनों में यह पाया गया कि प्रव्रजकों ने स्थानीय सदस्यों की जीवनशैली को नही अपनाया बल्कि इसके विपरीत अपने पृथक निवास स्थानों में अपने निजी समुदायों की दशाओं का दक्षिण भारतीय सेवाओं, सस्थाओं और सघों की स्थापना करके निर्माण कर लिया। इसी प्रकार की एकीकरण की प्रक्रिया हम बगालियों, पजाबियों, केरल वासियों, तमिलों, महाराष्ट्रियों और कश्मीरियों में भी देख सकते है जो अपने मूल नगरों से दूसरे राज्यों के नगरों में जाकर बस जाते हैं। वे न केवल अपने सघ (associations) बना लेते हैं बल्कि विशेष अवसरों पर एक दूसरे से मिलते भी हैं जहाँ वे अपनी सामाजिक प्रथाओं का पालन करते हैं। बी.पुनेकर (B Punekar, 1974) ने भी बैंगलोर नगर में उत्तर भारत से आए लोगों के बीच एकीकरण की यही प्रक्रिया पायी। पुनेकर, सिंह और नैयर ने एक नगर में रहने वाले भिन्न भिन्न नृजातीय समूहों के बीच सम्बन्धों के विश्लेषण में परस्पर उदासीनता और विघ्न न डालने की प्रवृत्ति (non-interference) को

विरल (rare) देखा। कुछ मामलों में ही उन्हें आक्रामकता (hostility) दिखाई दी। एमएसगोरे (1970) ने मुम्बई में अपने अध्ययन में पडौसियों के साथ सम्बन्धों में आक्रामक रूख देखा जहाँ महाराष्ट्रियों ने अपने उन पड़ौसियों के साथ नकारात्मक रूख का प्रदर्शन किया जो अन्य क्षेत्रों से आए थे। परन्तु महाराष्ट्रीय लोग शिव सेना सैनिकों के आदर्शों से *इतने अधिक प्रभावित हैं (महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए) कि यह नहीं कहा जा सकता कि इसी* प्रकार की विचारधारा देश के अन्य भागों में विभिन्न नृजातिय समूहों के बीच सम्बन्धों को निर्धारित करती है। शहरों में विभिन्न नृजातीय समूहों के समायोजन के प्ररूपी (typical) स्वरूप सामजस्य (accommodation) और सहिष्णुता (toleration) के स्वरूप होते हैं।

नगरीय पड़ौस (*Urban Neighbourhood*)

समाजशास्त्रियों ने पडौस को प्राथमिक समूह कहा है जिसके सदस्य एक दूसरे के साथ घनिष्ट और निकट सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन नगरीकरण ने पडौसी सम्बन्धों को इस प्रकार प्रभावित किया है कि पडौसी एक दूसरे को जानते भी नहीं हैं, सामाजिक अन्तर्क्रिया और निकट सम्बन्धों की तो बात ही क्या है। पडौसी सम्बन्धों पर किए गए एमएस गोरे के अध्ययन के अतिरिक्त 1977 में सुभाष चन्द्रा ने उत्तर प्रदेश के कानपुर शहर में पडौस में सामाजिक सहभागिता (participation) के स्तर (level) का अध्ययन किया था उन्होंने पाया कि पडौसी अन्तर्क्रिया में उच्च स्तरीय अनौपचारिकता होती है। हरिश दोषी ने 1974 में अहमदाबाद में पडौसियों के अपने अध्ययन में परम्परागत पडौस को दृढता के साथ-साथ बदलते परिवेश के साथ अनुकूलन भी देखा। निरजन पथ ने 1978 में अपने अध्ययन में पाया कि *पडौस में उच्च सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति के लोग सामुदायिक मामलों तथा पडौस* की मार्गों और आवश्यकताओं को अभिव्यक्त करने में अधिक सक्रिय होते हैं।

नगर के आन्तरिक भागों में रहने वालों का विश्लेषण यह दर्शाता है कि आय, शिक्षा और व्यवसाय जैसे सन्दर्भों में उसी पडौस में रहने वाले लोग बिल्कुल भिन्न जीवन व्यतीत करते हैं। पड़ौस में रहने वालों को कई समूहों में विभक्त किया जा सकता है आप्रवासी (immigrants), पेशेवर, छात्र, बुद्धिजीवी, व्यापारी, नौकरी पेशा वाले, कम शिक्षित, उच्च शिक्षित और मध्यम तथा धनी वर्ग के सदस्य। ये विविध सामाजिक वर्ग यद्यपि निकट भौतिक सन्निघ्य (proximity) में रहते हैं, फिर भी सामाजिक रूप से वे विभिन्न जगत में रहते हैं। उच्चवर्गीय सदस्य निम्नवर्गीय सदस्यों से थोडी ही दूरी पर रह सकता है, लेकिन अपने धन, शक्ति और विशेषाधिकारों के कारण उनसे अलग-थलग पड जाता है। इसी प्रकार के अन्तर भिन्न वर्ग के लोगों के बीच भी देखे जा सकते हैं जो शहरों में नव विकसित बडी कालोनियों में रहने आते हैं। उनके घर अलग न भी हों लेकिन सामाजिक दृष्टि से वे स्पष्ट और अलग जीवन व्यतीत करते हैं। वहाँ रहने वाले धनी लोग अपने को स्थानीय समुदाय का हिस्सा नहीं मानते। उच्च वर्ग के सदस्य परस्पर एक दूसरे को जानते हैं लेकिन अन्य केवल उनके बारे में ही जानते हैं। कभी-कभी मध्यम वर्गीय लोग शहरों में श्रमिक क्षेत्रों में सम्पत्ति क्रय करते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया को 'कुलीनीकरण' (gentrification) कहते हैं। इससे निवासियों में सामाजिक स्वरूप (patterns) की गुणवत्ता पर प्रभाव पडता है।

नगरीय समाज की समस्याएँ
(Problems of Urban Society)

शहरी समस्याएँ अनन्त हैं। प्रदूषण, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, अपराध, बाल अपराध, अधिक भीडभाड और झुग्गी बस्ती, मादक पदार्थों का सेवन, शराब खोरी, और भिखारी उनमें से कुछ हैं। यहाँ हम कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण करेंगे।

मकान और गन्दी बस्तियाँ (Housing and Slums)

शहर में मकान मिलना या बेघर समस्या का उन्मूलन एक गम्भीर समस्या है। सरकार, उद्योगपति, पूजीपति, उद्यमी, ठेकेदार, और मकान मालिक, गरीब और मध्यम वर्ग लोगों की मकान की जरुरतों से तालमेल करने में असमर्थ रहे हैं। 1988 की सयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार (*The Hindustan Times*, 9 May, 1988), भारत के बडे से बडे नगरों में रहने वाली शहरी जनसख्या का एक चौथाई और आधे के बीच भाग झोपड पट्टियों में रहता है। लाखों लोगों को अत्यधिक किराया, जो उनके साधनों से कही अधिक होता है, देना पडता है। हमारी लाभोन्मुख अर्थव्यवस्था में निजी भवन मालिक और कालोनी बसाने वाले लोग शहरों में गरीबों और मध्यम वर्गीय लोगों के लिए मकान बनाने में कम लाभ देखते हैं, और इसकी अपेक्षा वे धनी व उच्च मध्यमवर्गीय लोगों की मकान की आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित करने में लाभ समझते हैं। अत उच्च किराए और कुछ उपलब्ध मकानों के लिए भीड इसका नतीजा होता है। लगभग आधी जनसख्या खराब मकानों में रहती है या किराए पर अपनी आय के 20 प्रतिशत से अधिक देती है। कुछ राज्यों में हाउसिंग बोर्ड और नगर विकास प्राधिकरणों ने जीवन बीमा निगम, हुडको (HUDCO) और ऐसी ही एजेंसियों की सहायता से मकानों की समस्या का समाधान का प्रयत्न किया है। वे मकान की कुल लागत मासिक किश्तों में भी वसूल करते हैं जो 9 प्रतिशत से 12 प्रतिशत के बीच ब्याज की दर पर होती है। इस प्रकार शहरों में मकान आज भी रोटी और कपडे के बाद सबसे बडी समस्या बनी हुई है।

नवी पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में मकानों की अनुमानित कमी लगभग तीन करोड की थी जिसमें से लगभग एक करोड तो शहरी क्षेत्रों के लिए ही चाहिए थे। 1999 तक यह कमी शहरी क्षेत्रों में लगभग 1 5 करोड इकाइयों की थी। केवल दिल्ली में ही जहा एक दशक में (1991 और 1999 के बीच) 0 62 से 0 93 करोड जनसख्या वृद्धि तथा हर वर्ष 65,000 से 75,000 लोगों की वृद्धि हो जाती है, उन्हें नये घर प्रदान करने की आवश्यकता होती है। दिल्ली की लगभग 70 प्रतिशत जनसख्या यू एन आई की रिपोर्ट के अनुसार, निम्न स्तरीय स्थितियों में रहती है। यदि केवल चार महानगरों को लें तो दिल्ली में कुल जनसख्या का 44 प्रतिशत, मुम्बई में 45 प्रतिशत, कलकत्ता में 42 प्रतिशत और चेन्नई में 39 प्रतिशत लोग झोपड पट्टियों में रहते हैं। अन्य आठ महानगरों, बैंगलोर और जयपुर में भी दशा इससे अच्छी नही है। सरकारी प्रयत्नों के बावजूद भी, झोपड पट्टियों की जनसख्या 2010 तक मकानों की समस्या और अभाव को भयावह बना देगी। गन्दी बस्तियों में जीवन दशाओं की विशेषताएँ हैं अधिक भीड, खराब वातावरण, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण सेवाओं का अभाव, और मकानों की पूर्णरूपेण कमी। परिणामत इन बस्तियों में रहने वाले लोगों की

दशाएं ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक खराब और दयनीय हैं।

भीड़ और निर्वैयक्तिकरण (Crowding and Depersonalization)

भीड (जनसंख्या घनत्व) और अन्य लोगों की समस्याओं के प्रति लोगों की उदासीनता की समस्याएं (पड़ौसियों की समस्याओं सहित) एक और समस्या शहरी जीवन की उपज है। कुछ घर तो इतने अधिक भीड-भाड़ वाले होते हैं कि उनमें एक कमरे में पाँच से छ व्यक्ति तक रहते हैं। कुछ शहरी पड़ौस बहुत अधिक भीड वाले होते हैं। अधिक भीड के खराब प्रभाव होते हैं। यह विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देता है, बीमारियाँ फैलाता है और मानसिक रोगों, शराबखोरी और साम्प्रदायिक दगों के लिए स्थितिया पैदा करता है। घनी आबादी के शहरी जीवन का एक और प्रभाव है लोगों की उदासीनता। शहर के लोग दूसरे लोगों के मामलों में उलझना नहीं चाहते। कुछ ही लोग दुर्घटना, स्त्री उत्पीडन, हमलों और यहा तक कि हत्या के मामलों में रुचि लेते हैं, लेकिन अन्य लोग मात्र दर्शक रहते हैं।

जल आपूर्ति और जल निकास (Water Supply and Drainage)

पानी की समस्या भारत में अति गम्भीर होती जा रही है। गुजरात और राजस्थान में तो सूखा इतिवृत्त (chronicle) है। पानी की कमी की समस्या न केवल दो-तीन राज्यों में है परन्तु अन्य प्रदेशों में भी यह ही स्थिति है। लगता है कि भविष्य में राजनीति को लेकर नही परन्तु पानी को लेकर ही विभिन्न राज्यों में विरोध बढेगा। ताज्जुब यह है कि पृथ्वी के धरातल (surface) का एक-तिहाई हिस्सा पानी से ढका हुआ है और फिर भी निवासी प्यासे हैं। यह इसलिए कि कुल उपलब्ध पानी का केवल 2 5 प्रतिशत ही शुद्ध (fresh) पानी है। फिर इसका 0 26 प्रतिशत ही झीलों, नदियों आदि द्वारा उपलब्ध है। दूसरे शब्दों में जमीन पर कुल उपलब्ध पानी का केवल 0 007 प्रतिशत ही धारणीय (sustainable) आधार पर उपलब्ध है। (*The Hindustan Times*, April 22, 2000)। भारत 21 वीं शताब्दी में पहुँच चुका है और अब न्यूक्लीय शक्ति के रूप में उद्भमन हो कर विश्वव्यापी स्तर पर प्रमुख भूमिका निभाने जा रहा है। लेकिन व्यग वाली बात यह है कि लोगों के बहुत बडे भाग को इस देश में पानी की समस्या का सामना करना पडेगा। यह सकट आदमियों द्वारा निर्मित (man-made) है क्योंकि अधिकाश नदियाँ रसायनिक और औद्योगिक मलनिस्राव (effluent) से प्रदूषित हो गई हैं। फिर देश का दो-तिहाई शुद्ध पानी हर वर्ष वाष्पित (evaporate) होता है या समुद्रों में बह जाता है। हाल ही में यूएन आपत्ति स्थिति फण्ड (U.N. Emergency Fund) ने जमीन के पानी प्रदूषण, पानी के साधनों का कुप्रबन्धन, अपर्याप्त कानून और वर्तमान कानूनों का दोषपूर्ण रूप से कार्यान्वित करने को समकालीन भारत में पानी की कमी का कारण माना है। भारत में वर्षा से काफी पानी मिलता है। फिर भी देश के 56 लाख गाँवों में से आधे से अधिक को पर्याप्त और शुद्ध पानी की समस्या है। ग्रामीण विकास मत्रालय के अनुसार देश में 70,000 वासस्थानों (habitations) (हर एक 50 परिवारों के साथ) को 1 6 किलोमीटर की परिधि (radius) में पानी के साधन की कमी है। सन् 2025 तक भारत की यह समस्या गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु आदि में गम्भीर हो जायेगी। यमुना नदी का पानी हर वर्ष 0 15 मीटर नीचे

होता जा रहा है। जब अन्य देशों में प्रति व्यक्ति 8,500 क्यूबिक मीटर पानी उपलब्ध है, भारत में यह केवल 2,200 क्यूबिक मीटर है जो 25 वर्ष बाद 1500 क्यूबिक मीटर ही रह जायेगा। देश के कुल पुन नवीयन वाले (renewable) पानी की आपूर्ति 1869 क्यूबिक किलोमीटर ही है। पानी की कमी से कम वनस्पति (vegetation), अधिक वनोन्मूलन (deforestation), कम चारा (fodder), कम कृषि उत्पादन और अनुचित पोषणाहार (nutrition) की समस्याएँ बढती हैं। इस समय झीलों और नदियों का 70 प्रतिशत पानी सिंचाई और प्रतिदिन की आवश्यकता के लिए उपयोग हो रहा है। गगा नदी को साफ करने में कुछ वर्ष पूर्व गगा योजना में 300 लाख रुपये व्यय किये गये थे परन्तु गगा अब भी बैकटीरिया धारण किये हुए है। अत अब यह जरुरी है कि पानी प्रबन्धन और सरक्षण (conservation) उपायों पर अधिक बल दिया जाये। चेन्नई, हैदराबाद, अजमेर, राजकोट और उदयपुर जैसे शहरों में नगरपालिका से जलापूर्ति एक दिन में एक घन्टे से भी कम समय के लिए होती है। कुछ स्थानों में तो मुख्य जलापूर्ति बिल्कुल नही होती और लोग ट्यूब वैल्स पर निर्भर रहते हैं। अपेक्षाकृत योजनाबद्ध और जलापूर्ति सेवित नगर दिल्ली को भी जल आपूर्ति में सुनिश्चित वृद्धि के लिए 180 किलोमीटर तक रामगगा तक जाना पडता है। बैंगलोर नगर को दूर से 700 मीटर की ऊचाई तक पानी पम्प से उठाना पडता है। प्रति वर्ष अच्छी वर्षा प्राप्त करने वाले अधिकतर शहर और कस्बे भी गत आठ नौ वर्षों से पानी की कमी से त्रस्त हैं। सबसे बडा अभाव है राष्ट्रीय जल नीति का जो पहले जल ससाधनों का आँकलन करे और तब जल का आवटन। सितम्बर 1987 में देहली में राज्यों के मुख्यमत्रियों की सभा में पारित राष्ट्रीय जलनीति जिसका उद्देश्य पीने के पानी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देना था, के बावजूद यह स्थिति अब भी बनी हुई है।

जब हम जल समस्या के दूसरी तरफ देखते हैं, अर्थात जल निष्कासन (drainage), तो स्थिति समान रूप से खराब पाते हैं। भारत के विषय में कम जानकारी का तथ्य यह है कि यहाँ एक भी ऐसा शहर नही है जो पूर्णरूपेण विकसित मल प्रवाह प्रणाली रखता हो। यह सम्मान चण्डीगढ जैसे शहर को भी प्राप्त नहीं है क्योंकि इसके अन्दर और चारों अनाधिकृत निर्माण मुख्य प्रणाली के घेरे से बाहर है। जल निष्कासन प्रणाली के न होने के कारण गर्मी के महीनों में भी ठहरे हुए पानी के बडे तालाब देखे जा सकते हैं। जिस प्रकार हमें राष्ट्रीय जल नीति की आवश्यकता है, उसी प्रकार हमें एक राष्ट्रीय व क्षेत्रीय गन्दे जल के निष्क्रमण नीति की भी आवश्यकता है।

परिवहन और यातायात (Transportation and Traffic)

भारत के सभी शहरों में परिवहन और *यातायात की तस्वीर अत्यन्त असन्तोषजनक* है। अधिकतर लोग बस और टैम्पों का प्रयोग करते हैं जबकि कम लोग रेल का प्रयोग आवागमन के लिए करते हैं। स्कूटरों, मोटर साइकिलों, मोपेडों तथा कारों की बढती सख्या ने यातायात की समस्या को और भी खराब कर दिया है। उदाहरणार्थ, मुम्बई में 1986 और 1996 के बीच स्वचालित वाहनों की सख्या तिगुनी (3 1 लाख से 8 73 लाख) हो गई (*The Hindustan Times*, November 29, 1996)। ये वाहन धुए के साथ हवा को दूषित करते हैं। केवल मुम्बई में ही हवा में पहुँचने वाले दूषित तत्व लगभग 3,000 टन हैं जिसका

52 प्रतिशत स्वचालित वाहनों से, 2 प्रतिशत घरेलू ईंधन से, और शेष 46 प्रतिशत उद्योगों से होता है।

देहली, मुम्बई, कलकत्ता व चेन्नई जैसे महानगरों में चलने वाली बसों की सख्या पर्याप्त नहीं है और दैनिक यात्रियों को बस के लिए दो या तीन घन्टे तक प्रतीक्षा करनी पडती है, जिसका अर्थ है कि अपने कार्य स्थल तक पहुँचने के लिए उन्हें दो घन्टे पूर्व अपने घर से निकलना और शाम को दो घंटा देर से घर पहुँचना। इस प्रकार की अव्यवस्था का प्रमुख कारण है कि बसों से यात्रा करने वाले लोगों की कम आमदनी उन्हें सस्ते रिहायशी क्षेत्रों में रहने को मजबूर करती है जिसके लिए लम्बी यात्रा की आवश्यकता होती है। शहर में रहने वाले लोग क्योंकि सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था के मँहगे किराए बर्दाश्त नही कर पाते, इसलिए नगर बस सेवा में कम किराए रखे जाते हैं। परन्तु शहर की आवश्यकता के अनुरूप बसों की पर्याप्त व्यवस्था नही हो पाती और उनके विकास और रखरखाव में भी बाधाएँ आती हैं।

ऊर्जा की कमी (Power Shortage)

आवागमन की समस्या के समान दूसरी समस्या है ऊर्जा की कमी। शहरों में बिजली के उपकरणों का उपयोग बढ गया है। दूसरी ओर नये उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों के विस्तार ने भी बिजली पर निर्भरता में वृद्धि की है। अधिकतर राज्य अपनी आवश्यकता की बिजली उत्पादन की स्थिति में नही हैं, परिणामत: वे पडौसी राज्यों पर निर्भर करते हैं। दो राज्यों के बीच बिजली आपूर्ति के विषय पर विवाद शहरों में लोगों के लिए गभीर सकट पैदा कर देता है।

सफाई (Sanitation)

भारतीय शहरों में नगरपालिकाएं और कारपोरेशन कुव्यवस्था से इतने घिरे हैं कि उन्हें अन्य सब कार्यों में रुचि है, परन्तु सफाई में विशेष रूप से कूडा हटाने, नालियों की सफाई और सीवरों में रुकावटों को साफ कराने में कोई रुचि नहीं है। सफाई कर्मचारी मुश्किल से ही अपने प्रदत्त कार्य को पूरा करते हैं और प्रत्येक कुछ माह बाद वेतन बढाने के प्रसग में हडताल पर जाने की धमकी दे डालते हैं। कचरा उठाने वाले वाहन क्षमता से एक तिहाई या आधा काम उठाते हैं। जब कचरा हटाने का यही काम निजी ठेकेदारों को दे दिया जाता है तो वे भुगतान न होने की शिकायत करते हैं और थोडे से बहाने मात्र से काम रोक देते हैं। अत शहरों की सफाई व्यवस्था का प्रबन्ध करने में प्रेरणा का पूर्ण अभाव है। भीड भाडवाले शहरी क्षेत्रों में अवैध गन्दी बस्तियों का विस्तार और उनमें रहने वाले लोगों में नागरिक समझदारी की कमी गन्दगी के ढेरों को तथा बीमारियों को और भी बढाती है।

हमारे शहरों में विविध प्रकार के म्युनिसिपल कार्यों में विविध प्रकार का कूट-व्यापार (racketeering) विद्यमान है। उदाहरण के लिए (a) क्योंकि कचरा उठाने के लिए भुगतान चक्करों के आधार पर किया जाता है, न कि वाहन की भार क्षमता के आधार पर, इसलिए आलेखों में बडी सख्या में चक्कर दर्शाए जाते हैं और धन ठेकेदारों और म्युनिसिपल

कर्मचारियों के बीच बँट जाता है; (b) कचरा इकट्ठा करने वाले वाहनों की बडी सख्या वास्तव में बाहरी कार्यों में प्रयोग की जाती है, (c) मलबा हटाकर निजी पार्टियों को बेच दिया जाता है जो भवनों में भरान के काम आता है जबकि मलवा हटाने का भुगतान नगरपालिका से भी वसूल कर लिया जाता है और (d) ट्रकों और डम्परों के चालक सफाई ट्रकों में प्रयोग किए जाने वाले डीजल को बेच देते हैं।

स्पष्ट है कि मूल समस्या अत्यधिक नगरीकरण और परिणामस्वरूप गन्दी बस्तियों का होना है। लेकिन क्योंकि राजनीतिज्ञ प्रवासियों (migrants) को वोट बैंक की तरह मानते हैं, इसलिए वे आवश्यक नागरिक कार्यवाही करने से कतराते हैं। नियोजन स्तर पर नासमझी, सम्बन्धित ऐजेन्सियों के बीच तालमेल की कमी, म्युनिसिपल बोर्डों में अव्यवस्था, और राज्य सरकारों द्वारा आवटित सहायता धनराशि में कमी हमेशा सफाई चक्र को सही दशा में रखरखाव करने में बाधा उत्पन्न करते रहेंगे। यदि शहर सफाई और सीवर व्यवस्था की उपेक्षा करना जारी रखेंगे तो आगामी वर्षों में शहरों में स्वास्थ्य सकट पर विजय पाना असम्भव हो जायेगा। दीर्घ-कालिक उपाय के रूप में आवश्यकता इस बात की है कि कूडा करकट एकत्र करने की नयी प्रविधि का प्रयोग किया जाये। नयी प्रविधि के प्रयोग के अलावा नगरपालिका की मूल सरचना और भूमि-प्रयोग नियोजन में मूलभूत परिवर्तन भी जरुरी है।

प्रदूषण (Pollution)

हमारे शहर व कस्बे वातावरण के मुख्य प्रदूषक हैं। अनेक शहर अपने सम्पूर्ण मल निष्क्रमण का लगभग 40 से 60 प्रतिशत और औद्योगिक सडे पदार्थों का बहाव बिना शुद्ध किए पास की नदियों में बहा देते हैं। छोटे से छोटा कस्बा भी अपनी खुली नालियों के द्वारा अपनी गन्दगी निकट बहने वाले नदी या नाले में बहा देता हैं। शहरी उद्योग अपनी चिमनियों से धुआ और गन्दी गैसें छोडकर वातावरण को प्रदूषित करते है। जिन क्षेत्रों में प्रदूषण का स्तर अधिक है वहा काफी बीमारिया होती हैं जो विशेषरूप से 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों और 50 वर्ष आयु से अधिक के लोगों को प्रभावित करती हैं। सल्फर डाइआक्साइड, नाइट्रोजन डाइआक्साइड, आदि का प्रभाव इन बीमारियों को जन्म देता है। देहली के चारों ओर की वायु की गुणवत्ता इस प्रकार की है कि इसने देहली को विश्व के चार सबसे अधिक प्रदूषित शहरों की कतार में खडा कर दिया है।

शहरी क्षेत्रों में वातावरण प्रदूषण का विषय इतना महत्वपूर्ण समझा जाता है कि उच्चतम न्यायालय ने भी जुलाई 1995 में वातावरण सम्बन्धी कानूनों को सख्ती से लागू करने के आदेश दिए जिसमें दिल्ली के लगभग 146 सकटमय उद्योगों को नवम्बर-दिसम्बर 1996 तक या तो बन्द किया जाना था यह कही अन्यत्र लगाया जाना था। इस आदेश का दिसम्बर 1996 में प्रभावित श्रमिकों ने विरोध भी किया लेकिन शिखस्थ न्यायालय (Apex Court) ने राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (National Capital Region-NCR) के अन्दर इन उद्योगों के न स्थापन पर अपने निर्णय को नही बदला बल्कि उन्हें किसी पडौसी राज्य में लगाने के आदेश पर अडिग रहा। वाहनोत्सर्जित (vehicular emissions) वायु प्रदूषक भार दिल्ली में 64 प्रतिशत, ऊर्जा चालित उद्योगों से 16 प्रतिशत, तथा उद्योगों से 16 प्रतिशत माना गया है।

इसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण निर्णय उच्चतम न्यायालय ने अक्टूबर, 1996 में आन्ध्र प्रदेश के एक अन्य वातावरण संरक्षण सम्बन्धी मामले में भी किया। इस निर्णय द्वारा 6,000 किमी. लम्बी तटरेखा (coastline) पर उच्च ज्वारीय रेखा (high tide line) के सहारे 500 मीटर के भीतर शिरिम्प (एक छोटी समुद्री मछली) (shrimp) सवर्द्धन पर रोक लगा दी तथा मार्च 1997 तक प्रतिबन्धित क्षेत्र में सभी प्रकार की सरचनाओं को नष्ट करने का आदेश भी दिया। देश को अकेले तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश से शिरिम्प मछली के निर्यात से लगभग 600 करोड रुपये का विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। केन्द्रीय प्रदूषण नियत्रण बोर्ड के एक अनुमान के अनुसार मत्स्य सवर्द्धन फार्म (acqua culture farms) से उत्पन्न गन्दा पानी पश्चिमी तट पर 2.37 क्यूबिक मीटर था (*The Hindustan Times*, January 6, 1997)। जो विष हम वातावरण में घोल रहे हैं वह वायु, जल और भोजन के माध्यम से हमारे पास वापस आ जाता है और धीरे-धीरे हमारे शरीर में प्रवेश करके कैन्सर, प्रतिरोध विहीन अव्यवस्थाएँ या हारमोन प्रणाली सम्बन्धित रोगों में दर्शाता है। इसमें कोई आश्चर्य नही कि डाक्टरों का दावा है कि भारत में वातावरण की बदत्तर होती दशाओं ने भारत के चार महानगरों—दिल्ली, चेन्नई, मुम्बई और बगलौर—में कैन्सर की जकड के अवसर बढा दिए है। कैन्सर के यह अवसर जीवन काल में 7 से 11 प्रतिशत तक हो सकते हैं। सन् 2001 तक भारत में कैन्सर पीडितों की अनुमानित सख्या 8 लाख तक बताई गई है। वास्तव में, वातावरण की गिरावट से गरीब लोग धनी लोगों की अपेक्षा अधिक पीडित होते हैं।

नगरीय समस्याओ के कारण (Causes of Urban Problems)

मैकवेह और शोस्ताक (McVeigh and Shostak, 1978 . 198-205) जिन्होंने अमरीका में शहरी समस्याओं को चार कारकों से जोडा, का अनुगमन करते हुए हम भारत में शहरी जीवन की समस्याओं में निम्नलिखित पाँच कारण चिन्हित कर सकते हैं (i) शहर में और शहर से प्रव्रजन, (ii) औद्योगिक विकास, (iii) सरकार की असहानुभूति, (iv) दोषमुक्त नगरीय नियोजन और (v) स्वार्थी ताकतें।

प्रव्रजन (Migration)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोग शहरों/कस्बों में आते जाते रहते हैं क्योंकि वहाँ रोजगार के अवसर अपेक्षाकृत अच्छे होते हैं। भारत में गाँवों से शहरों में और शहरों से ग्रामों में प्रव्रजन महत्त्वपूर्ण है। 1991 के जनगणना आकडे दर्शाते हैं कि 17 7 प्रतिशत मामलों में प्रव्रजन ग्रामीण से शहरों में और 11 8 प्रतिशत मामलों में शहरों से शहरों में था। (*Manpower Profile*, India, 1998 26)। अन्तजनपदीय (Inter-district) प्रव्रजन, अन्तर्जनपदीय प्रव्रजन या अन्तराज्यीय प्रव्रजन और अतर्राज्यीय प्रव्रजन का विश्लेषण दर्शाता है कि लगभग 60 प्रतिशत प्रव्रजन लघु दूरी प्रव्रजन, 21 प्रतिशत मध्यम दूरी प्रव्रजन और 11 प्रतिशत लम्बी दूरी के प्रव्रजन रहे (Bose, 1979 187)।

गरीब ग्रामीणों का शहरों में प्रवेश आय स्रोतों को कम करता है। दूसरी ओर आज धनी लोग उप-नगरीय क्षेत्रों में रहना पसन्द करते हैं। धनी लोगों की यह गतिशीलता शहरों को वित्तीय हानि पहुचाती है। शहरों की ओर तथा शहरों से बाहर की ओर प्रव्रजन

समस्याओं को अधिक गम्भीर बना देता है।

औद्योगिक विकास (Industrial Growth)

भारत में जहाँ शहरी जनसख्या विकास 4 प्रतिशत है, वही औद्योगिक विकास लगभग 6 प्रतिशत वार्षिक है। नवम् पचवर्षीय योजना के अनुसार औद्योगिक विकास 8 प्रतिशत वार्षिक होना चाहिए। इस वृद्धि से शहरों में अतिरिक्त रोजगार की आवश्यकता होने की अपेक्षा थी। तृतीयक (tertiary) क्षेत्र भी प्रव्रजकों को शरण प्रदान करता है यद्यपि उनकी आमदनी निम्न स्तरीय ही होती है।

सरकारी उदासीनता (Apathy of the Government)

हमारे नगरों का प्रशासकीय प्रबन्ध भी उस गडबडी के लिए उत्तरदायी है जिसमें नगरवासी अपने आप को पाते हैं। म्युनिसिपल प्रशासन नगरीय विकास के साथ-साथ नही चलता है, न तो स्थान की दृष्टि (spatially) से और न ही मूल ढाँचे के प्रबन्धन में ही। भविष्य के लिए योजना बनाने की न तो क्षमता ही है और न ही इच्छा। जो कुछ विद्यमान है उसका प्रबन्ध करने की भी न तो कुशलता है और न ही सामर्थ्य। जब तक हम शहरों की प्रबन्धन क्षमता में सुधार नही करते तब तक शहरी अव्यवस्था से छुटकारा नही पा सकते। दूसरी ओर राज्य सरकारें भी स्थानीय निकायों पर विशेष नगरीय समस्याओं के समाधान के लिए धन इक्टठा करने में प्रतिबन्ध लगा देती हैं।

दोषपूर्ण नगरीय नियोजन (Defective Town Planning)

नागरिक सेवाओं के मानकों (standard) में सामान्य गिरावट में एक चौंकाने वाला कारण है हमारे योजना बनाने वालों तथा प्रशासकों में असहाय (helplessness) होने की भावना का उदय। योजना आयोग से नीचे की ओर देखने पर पता लगता है कि लोगों में महानगरीय जनसख्या अनियमित वृद्धि के प्रति भाग्यवादी (fatalistic) स्वीकृति को मान्यता प्राप्त है। वास्तव में, नगरीकरण पर राष्ट्रीय आयोग के एक सदस्य ने यह भाव व्यक्त किया था कि हमारे देश में नगरों के सुनियोजित विकास के लिए बहुत कम प्रयत्न किया जा रहा है।

स्वार्थी शक्तियाँ (Vested-interest Forces)

शहरी समस्याओं का अन्तिम कारण है स्वार्थी शक्तियाँ जो लोगों के विरुद्ध काम करती हैं लेकिन निजी व्यापारिक हितों और लाभों को बढावा देती हैं। नगरवासी आमतौर पर उन निर्णयों को प्रभावित करने में शक्तिहीन होते हैं जो अभिजात वर्ग के लोग अपने हितों, शक्ति और लाभ को बढाने के लिए लेते हैं। वे इस बात का बिल्कुल ध्यान नहीं रखते कि उनके निर्णयों से कितने लोगों को चोट पहुँचती है। स्वार्थी लोगों की भूमिका का एक सबसे अच्छा उदाहरण था महाराष्ट्र के एक म्युनिसिपल आयुक्त का दस वर्षों में 25 बार स्थानान्तरण जिसने स्वार्थ प्रेरित राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों और छोटे अधिकारियों के नक्शे कदम पर चलने से इन्कार करते हुए अनेक अवैध निर्माणों को धराशाही करा दिया।

शहरी समस्याओं के समाधान
(Solutions to Urban Problems)

यदि हम शहरी समस्याओं का समाधान चाहते हैं तो कुछ उपाय करने होंगे। कुछ सुझाये गए उपाय इस प्रकार हैं :

(i) नगरीय केन्द्रों का सुव्यवस्थित विकास और काम के अवसरों को उपलब्ध करना (Systematic Development of Urban Centres and Creation of Job Opportunities)

हमारी नगरीय समस्याओं का एक महत्त्वपूर्ण समाधान है तेजी से बढते शहरी केन्द्रों का सुव्यवस्थित विकास और विनियोजन (investment) कार्यक्रम का नियोजन जो आगामी 20-25 वर्षों में समूचे देश में एक बडी सख्या में अच्छी तरह वितरित, जीन योग्य (viable) नगर केन्द्रों को विकसित कर सके। अब तक तो लोगों को गावों मे ही रोके रखने के लिए ग्रामीण विकास योजनाओं (IRDP, NREP और JRY) के माध्यमों से ग्रामीण क्षेत्रों में पारिश्रमिक रोजगार प्रदान करने के कार्यक्रमों पर ही ध्यान केन्द्रित किए हुए थे। जहाँ ग्रामीण रोजगार मुहय्या कराने के लिए कार्यक्रमों में काफी न्यायसगत हैं वहा केवल इतना ही करना काफी नही है। कृषि क्षेत्र में एक निश्चित बिन्दु के बाद लाभकारी रोजगार उपलब्ध कराना सम्भव नही है। इस उद्देश्य के लिए हमें ऐसे कार्यक्रमों पर बल देना होगा जो शहरों में लोगों को रोके रखने के लिए बहुआयामी क्रियाकलापों को करने की अनुमति देते हों।

(ii) नगर नियोजन के साथ क्षेत्रीय नियोजन (Regional Planning along with City Planning)

नगर नियोजन लगभग नगर केन्द्रित ही होता है। हम हमेशा से कस्बों और शहरों के नियोजन की बात करते रहे हैं, लेकिन समूचे क्षेत्र के नियोजित विकास की कभी नही जिससे कि जनसख्या का तर्कसगत वितरण हो सके और क्रियाकलापों का भी समुचित विभाजन हो सके। नगर नियोजन तो एक काम चलाऊ (ad-hoc) समाधान है लेकिन क्षेत्रीय नियोजन अधिक टिकाऊ हो सकता है। उदाहरणार्थ, गन्दी बस्तियों में रहने वालों को नगर विकास प्राधिकरणों के माध्यम से शहरों में मकान दिलाने की अपेक्षा यदि क्षेत्रीय नियोजन के माध्यम से प्रवजकों को अन्य क्षेत्रों में मोड़ा जा सके, जहाँ उन्हें अच्छा रोजगार मिल सके, तब विद्यमान शहरी विकास की गति रोकी जा सकती है। यह प्रशसनीय है कि नवम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में भारत सरकार ने क्षेत्रीय योजना सगठन स्थापित करने के और सार्थक क्षेत्रीय स्थापन योजनाओं के विकास में राज्यों को सहायता देना प्रारम्भ कर दिया है।

(iii) उद्योगों के पिछड़े क्षेत्रों मे ले जाने के लिए प्रोत्साहन (Encouraging Industries to Move to Backward Areas)

भूमि मूल्य नीति जो भूमि के बडे टुकडे सस्ती दर पर देती है, का पुनर्नियोजन किया जाना है ताकि उद्योगों को पिछडे क्षेत्रों/जनपदों में ले जाने के लिये प्रोत्साहित किया जा सके।

इससे भी नगरों और महानगरों का क्रमबद्ध विकास हो सकेगा। बडे शहरों के अन्दर और चारों ओर सम्भावित उच्च मूल्य की भूमि को बाद में पूरी कीमत वसूल करने के उद्देश्य से राज्य सरकार द्वारा ग्रहण करने की नीति पर भी गम्भीरता से विचार किये जाने की आवश्यकता है।

(iv) नगरपालिकाएँ अपने वित्तीय ससाधनो का प्रवन्ध करे
(Municipalities to Find Own Financial Resources)

लोग नगरपालिकाओं को कर देने को बुरा नही समझते यदि उनके धन का सदुपयोग सडकों के रखरखाव, सीवर प्रणाली प्रदान करने, पानी की कमी पूरा करने, और बिजली प्रदान करने में किया जाये। यह तथ्य सर्वविदित है कि शहर वित्तीय ससाधनों की कमी से परेशान रहते हैं। यदि भ्रष्ट म्युनिसिपल अधिकारियों को निवारक (deterrent) दण्ड दिया जाये तो कोई कारण नही है कि म्युनिसिपल कारपोरेशन अपने नागरिकों से धन इक्टठा करने में कठिनाई अनुभव करे। शहर को अपने विकास की कीमत स्वय उठानी चाहिए। राज्य से उच्च वित्तीय सहायता कठिन होती जा रही है। सम्पति, जल और बिजली करों के पुनर्निधारण द्वारा धन एकत्र किया जा सकता है और आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष अधिक धन एकत्र किया जा सकता है। शहर में या आसपास जब कोई नया उद्योग या व्यापार शुरू हो तो उस पर थोडा सा कर लगाया जा सकता है ताकि स्थानीय निकाय को अधिक धन उपलब्ध हो सके।

(v) निजी परिवहन को प्रोत्साहन (Encouraging Private Transport)

नगर परिवहन ही सार्वजनिक एकाधिकार क्यों हो ? जब परिवहन व्यवस्था राज्य कर्मचारियों द्वारा सम्भाली जाती है, यह देखा गया है कि वे बहुत बुरी तरह रूखेपन से व्यवहार करते हैं। मजदूर सघों के समर्थन से वे बार-बार हडताल पर जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि निजी परिवहन व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाये। निजी तौर पर चलाई जाने वाली मिनी बसें और टेम्पों सेवाए थोडा सा अधिक किराया वसूल करेंगी और दैनिक यात्रियों को भी अच्छी सेवा के बदले में थोडा अधिक पैसा देना बुरा नही लगेगा।

(vi) किराया नियत्रण अधिनियम मे सुधार (Amendment of Rent Control Act)

नये मकानों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने वाले या मकानों को किराए पर देने से सम्बन्धित कानूनों में सुधार किया जाना चाहिए। कौन सा मकान मालिक दो या तीन कमरों के किराये पर देने वाले मकान पर पाँच-सात लाख रुपया लगायेगा और आगामी 10 से 20 वर्षों तक के लिए 1000 से 1200 रु प्रतिमाह किराए पर देगा और उसे न तो किराया बढाने का अधिकार होगा और न वह उचित आधार पर मकान खाली भी करा पाएगा। महाराष्ट्र ने किराया नियत्रण अधिनियम में सुधार कर अग्रणी भूमिका अदा की है जिसने हजारों मकान किराए के लिए उपलब्ध करा दिए हैं। इसी प्रकार के कदम अन्य राज्यों में भी स्वागत योग्य होंगे।

(vii) व्यावहारिक आवास नीति अपनाना (*Adopting Pragmatic Housing Policy*)

मई 1988 में सरकार ने संसद में राष्ट्रीय आवास नीति प्रस्तुत की थी जिसका उद्देश्य 1999 के अन्त तक आवास विहीनता की स्थिति को समाप्त करना तथा एक निश्चित मानक तक आवास की गुणवत्ता को ऊँचा उठाना था। इस प्रकार नीति अति महत्त्वाकांक्षी तथा सब्ज बाग दिखाने वाली प्रतीत होती थी। यह एक स्वप्न मात्र था जो एक दशक में पूर्ण होना असम्भव था। अब तो इक्कीसवी शताब्दि आरम्भ भी हो गयी है। सरकार को नीति को सरल नीति बनाना होगा। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि एनएचपी की अवधारणा विवेकहीन है। एनएचपी नीति विस्तृत आधार वाली नीति है। इसका उद्देश्य वित्त प्राप्ति तक सुलभता और भूमि तथा निर्माण सामग्री को उपयुक्त दरों पर उपलब्ध कराना है। यह निर्माताओं को नये प्रकार की निर्माण सामग्री के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित भी करती है। साथ ही यह नीति भूमि अवधि, भूमि अधिग्रहण, एपार्टमेन्ट मालिकाना अधिकार को सीमित करना, नगरपालिका नियमों और किराये के नियमों की सम्पूर्ण परिधि पर पुनर्विचार करने पर भी बल देती है। लेकिन यह सब कठिन कार्य है। एनएचपी धनी निर्माताओं, जमीनदारों और ठेकदारों के लिए है। इसको विलासितापूर्ण आवासों को हतोत्साहित करना है और सहकारी तथा सामूहिक आवास समितियों को प्रोत्साहित करना है। इसको गरीबों और निम्न आय वर्ग के लिए विशेष योजनाएँ चलानी चाहिए। नियोक्ताओं को प्रेरित करना होगा कि वे अपने कर्मचारियों के लिए मकान बनाकर दें। इसे (एनएचपी) अपनी 100 करोड रुपये की अधिकृत पूजी को बढाना होगा जो वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हर जगह प्रयोग नही की जा सकती। जब तक अधिक व्यवहारिक आवास नीति नही अपनायी जाती तब तक निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति असम्भव होगी।

(viii) संरचनात्मक विकेन्द्रीकरण (*Structural Decentralization*)

नवाचारक नियोजकों (innovative planners) और कुछ आमूल परिवर्तनवादियों (radicals) के प्रस्ताव स्थानीय निकायों की सरकार के संरचनात्मक विकेन्द्रीकरण का स्वप्न देखते हैं। इससे पडौसी क्रियात्मक समूहों (neighbourhood action groups) के सृजन का स्वप्न पूरा हो सकता है जिन्हें 'सामुदायिक केन्द्र' कहा जाये जिसमें नगरपालिका अधिकारी और नगरवासियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। यह केन्द्र पडौस की आवश्यकताओं का पता लगाकर उन पर कार्यवाही करेंगे। उदाहरण के लिए, कई शहरों में कई नई कालोनियाँ स्थापित हो गई है जिनमें 10,000 से 50,000 तक लोग रहते हैं। इस प्रकार ये बस्तिया स्वय में एक छोटा कस्बा बन गई हैं। गृहकर, सडक कर, प्रकाश कर, आदि कुछ कर प्रत्यक्ष रूप से इन सामुदायिक केन्द्रों को हस्तान्तरित किये जायें, बजाय नगरपालिकाओं को देने के। यह केन्द्र, नगर म्युनिसिपल कार्पोरेशन को सन्दर्भित किये बिना, पडौस के मामलों को निर्देशित कर लेंगे और इस प्रकार एकत्र किये गए धन को सडकों, प्रकाश व्यवस्था आदि के रख-रखाव पर प्रयोग कर सकेंगे। इस प्रकार की शहर के भीतर विकेन्द्रीकृत संरचना का तर्क यह है कि वही व्यवस्था जो लाखों लोगों पर काफी नियत्रण का अधिकार देती है, वही उनके जीवन को बनाने में जो संस्थाएं है उनमें उनकी प्रभावी भूमिका को अस्वीकार कर देती

है। सामुदायिक केन्द्र उन्हें अपनी सरकार बनाने की अनुमति दे देगा।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि नगरीकरण, नगरवाद, और शहरों की समस्याए कभी भी हल नही हो सकती जब तक कि नगरीय नियोजन सुधारा नही जाता और आमूल परिवर्तनवादी उपाय नही अपनाये जाते। यह लाभ के आधार पर नहीं होने चाहिए जो कि कुछ स्वार्थी लोगों के लाभ के लिए ही होगा। भूमि, प्रविधि, और करों का प्रयोग लोगों की भलाई के लिए होना चाहिए, न कि कुछ शक्तिशालियों के हित के लिए। नगरवासियों को सक्रिय होना पडेगा और स्वय को सगठित करके शहरों में विद्यमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के बदलने के लिए आन्दोलित होना होगा।

नगरों का वि-नगरीकरण और गाँवों का नगरीकरण
(Deurbanization of Cities and Urbanization of Villages)

यदि हम शहर को एक भौतिक इकाई मानकर नही बल्कि लोगों के समूहों, जिन में से सबसे शक्तिशाली व्यापारी, राजनीतिज्ञ और राज्य कर्मचारी होते हैं, के क्रियाकलापों का एक केन्द्र मान कर विश्लेषण करें तो हमें पता लगता है कि कभी यह समूह मिलकर काम करते हैं, तो कभी सघर्ष में, लेकिन उनके प्रमुख निर्णय शेष लोगों के जीवन को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त शहरों में (जैसे कि लुधियाना, कलकत्ता, मुम्बई, इन्दौर, भीलवाडा, आदि में) व्यापार केन्द्रों के चारों ओर के क्षेत्र में कम आमदनी वाले लोग रहते हैं और अनेक सामाजिक समस्याओं से घिरे होते हैं। इसके साथ-साथ, विकसित प्रौद्योगिकी एव बडे पैमाने के उद्योग, शिल्प उद्योगों और घरेलू औद्योगिक इकाइयों को चलन से बाहर (obsolete) और अप्रतिस्पर्धी बना देते हैं। नया आर्थिक विकास, उल्लेखनीय रूप से सेवा क्षेत्र (service sector) में, बाहरी आन्तरिक नगरीय औद्योगिक क्षेत्रों में काफी होता है। इसलिये लोग अन्य क्षेत्रों को चले जाते हैं। जो शहर के अन्दर रह जाते हैं वे पुराने, सामाजिक रूप से पिछडे अकुशल और अर्धकुशल श्रमिकों में से होते हैं। उनके साथ वे आव्रजक (immigrants) भी शामिल हो जाते हैं जो शहर के अन्दर के भाग में अर्द्ध कुशल और अकुशल कार्य करने को तैयार रहते हैं। शहरी क्षेत्रों में आर्थिक मन्दी की यह प्रक्रिया तथा शहरों से जनसख्या का बाहर जाना सम्मिलित रूप से विनगरीकरण (deurbanization) कहलाता है। दूसरी ओर अनेक ग्रामीण उपनगरीय क्षेत्रों का नगरीकरण भी होता है। वास्तव में सभी नगरीय क्षेत्र इस अधोस्थिति (decline) को नही जाते। पुराने औद्योगिक नगर ही वि नगरीकरण का सामना करते हैं। कई औद्योगिक शहरों में समान रूप से जनसख्या में वृद्धि होती है। विनगरीकरण की प्रक्रिया फिर से लौटाई भी नही जा सकती।

दिल्ली में जब उच्च न्यायालय ने प्रदूषण से बचने के लिए भारी उद्योगों को दिल्ली से हटाकर अन्य क्षेत्रों में लगाने के आदेश दिये, इन उद्योगों में काम करने वाले हजारों उद्योग कर्मियों को दिल्ली छोडना पडा और उद्योग के नये स्थानों पर बसना पडा। अनेक सरकारी अधिकारियों को भी दिल्ली से हटकर गाजियाबाद और गुडगाँव के आस पास के क्षेत्रों में जाना पडा। इससे प्रभावित लोगों को भी दिल्ली छोडने को बाध्य होना पड़ा। उप-नगरीय क्षेत्र जहा ये कार्यालय और उद्योग लगे हैं, धीरे-धीरे शहरीकृत हो गए। इस प्रकार

विनगरीकरण शहरवासियों को और नगरीकरण गाँव वासियों को प्रभावित करता है।

नगरीय-ग्रामीण सीमा (हाशिया/उपान्त) पर (On Rural-Urban Fringe)

स्वतंत्रता के पश्चात् जो परिवर्तन देखा गया, वह है नगरों के चारों ओर नगरीय-ग्रामीण हाशिया (उपान्त) का होना। नगर ग्रामों के भीतर लगभग 15 किलोमीटर दूरी तक प्रवेश कर गये हैं। इस प्रकार बहुत सा विकास अनियत्रित, अस्त व्यस्त, और प्रवाह के रूप मे हुआ है। जब कोई शहर से बाहर जाता है तो उसको नयी आवासीय बस्तियाँ, कुछ फैक्ट्रियाँ, सडक के दोनों ओर वाणिज्य सस्थान, शीतगृह इकाइयाँ, भण्डार गृह, लकडी के गोदाम आदि दिखाई देंगे। ये सब लक्षण नगर के विस्तार के प्रतीक है। 'ग्रामीण नगरीय हाशिया' ऐसे क्षेत्रों को नामांकित करने के लिए प्रयोग किया गया है। अत हाशिया (उपान्त) क्षेत्र ग्रामीण शहरी भूमि प्रयोग करने वाले मिश्रित लोगों के बीच का वह बिन्दु है जहाँ नगरीय सेवाओं की उपलब्धि कम हो जाती है और वह बिन्दु जहाँ भूमि का कृषि प्रयोग प्रधान होता है। यह क्षेत्र न केवल लोगों के जीवन को प्रभावित करते हैं बल्कि ग्रामीणजन के लिए काम भी उपलब्ध कराते हैं। यहाँ तक कि वे लोग भी जो कृषि जारी रखते हैं उन्हें भी विस्तृत सब्जी बाजार, फल, दूध, आदि के लिए अच्छा बाजार मिल जाता है। यह परम्परागत अभिवृत्तियों और मूल्यों को और साथ ही परम्परागत ग्रामीण जीवन शैली को भी प्रभावित करता है।

संरचनात्मक रूप से 'ग्रामीण-नगरीय हाशिया' में ग्रामीण हाशिया और नगरीय हाशिया दोनों सम्मिलित होती हैं। 'नगरीय हाशिया' में म्युनिसिपल या गैर-म्युनिसिपल कस्बा और नगरीकृत गाँव शहर/कस्बे को छूते हुए सम्मिलित होते हैं। 'ग्रामीण हाशिया' में म्युनिसिपल या गैर-म्युनिसिपल कस्बे, आशिक रुप से नगरीकृत गाव (जो मुख्य शहर से दूर होते है) और पूर्ण-रुपेण गाव शामिल होते हैं। इस प्रकार नगरीय ग्रामीण हाशिया में शहरी गलियारे और उप-नगर शामिल हैं, लेकिन उपग्रह और हरित पेटी क्षेत्र नहीं आते। गलियारे वाले क्षेत्र (corridors) नगर केन्द्रों से कभी-कभी 30 किलोमीटर तक दूरी तक विस्तृत होते हैं जबकि उप-नगर में नगर के आस-पास के क्षेत्र आते हैं। अधिकतर उप-नगर आवासीय विशेषता वाले होते है। उप नगर में लोग नगर से अपनी पहचान जोडते हैं और शहर के अन्दर ही रहने का दावा करते हैं। उपनगर और सेटेलाइट में अन्तर केवल शहर से दूरी का है। उप नगर शहर से निकट होते हैं जबकि सेटेलाइट दूर होते हैं।

हाशिया (fringe) क्षेत्रों में गाँव तीन प्रकार की परिवर्तन प्रक्रिया से गुजरते हैं (a) गाँवों के भीतर भूमि प्रयोग में परिवर्तन, (b) व्यवसाय में परिवर्तन, (c) गाँवों के लोगों की जीवनशैली में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारत में अब नगर असमान रूप से विकसित हो रहे हैं। प्रदूषण, असमानता, घर से कार्य स्थल तक परिवहन सुविधा का अभाव और भी इसी प्रकार के कारक हैं जिनके लिये आवश्यक है कि बस्तियों के विषय में नीति और शहरों के भिन्न क्षेत्रों में सुविधाओं का उपलब्ध कराया जाना केवल राज्य सरकारों और स्थानीय निकायों पर ही नहीं छोडा जाना चाहिए बल्कि स्थानीय निवासियों को भी उनकी बस्तियों के

पुनर्जागरण के लिए प्रभावशाली एवं लाभकारी ढंग से सम्मिलित किया जाना चाहिए। लयूइस वर्थ (Louis Wirth) का ग्रामीण-नगरीय का मॉडल तथा टान्नीज का गेमिनशेफ्ट (Gemeinschaft)-गैसिलशेफ्ट (Gessellschaft) का मॉडल आज के सन्दर्भ में समकालीन शहरी मामलों के विषय में अवधारणा सम्बन्धी स्वरूप पर्याप्त नहीं प्रतीत होते। बेरोजगारी, गरीबी, जाति एवं साम्प्रदायिक संघर्ष, सार्वजनिक अव्यवस्था, और प्रदूषण, आदि ने शहरी नीति पर बहस की आवश्यकता को बढ़ा दिया है।

12

जनसंख्या गतिकी

(Population Dynamics)

जनांकिकीय विश्लेषण (Demographic Analysis)

जनसख्या का अध्ययन इसके आकार, सरचना, वितरण, विकास और इसकी वृद्धि का समाज के आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक पक्षों पर प्रभाव पर केन्द्रित है। यह कहा जा सकता है कि जनसख्या विस्तार के भीतर दो विस्तृत क्षेत्र हैं (a) जनांकिकीय विश्लेषण, अर्थात् आकार, वितरण, रचना, जननक्षमता (fertility), मृत्युदर, प्रव्रजन, और गतिशीलता, और (b) जनसख्या विश्लेषण अथवा जनसंख्या परिवर्तन व गरीबी, निरक्षरता, खराब स्वास्थ्य, परिवार सरचना, व्यापार क्रियाकलाप, आदि जैसे आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक तत्वों के बीच सम्बन्ध जो कि विभिन्न समाज विज्ञानों की अवधारणाओं और सिद्धान्तों पर आधारित हों। यहा हम दोनों पक्षों का संक्षेप में विश्लेषण करेंगे।

आयु रचना (Age Composition)

देश में लोगों की आयु रचना जनसख्या परिवर्तन के तत्वों से कार्यात्मक रूप से सम्बद्ध होती है, जैसे जननक्षमता, मृत्यु, विवाह आयु, प्रव्रजन, आदि। इसका वितरण (distribution) भी सामाजिक आर्थिक प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उत्पादक कार्य, आय में भागीदारी, प्रजनन (reproduction) प्रक्रिया में भागीदारी, उपभोग का स्तर, और आवश्यक सेवाएँ, सभी आयु से प्रभावित होती हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 37 8 प्रतिशत जनसख्या 0-14 वर्ष आयु समूह में, 55.5 प्रतिशत 15-59 वर्ष आयु समूह में और 6 7 प्रतिशत 60 + आयु समूह में आती है (*Manpower Profile, India*, 1998 19)। लिंग के आधार पर पुरुषों में 37 73 प्रतिशत 0-14 वर्ष आयु समूह के, 55 60 प्रतिशत 15-59 वर्ष आयु समूह के, और 6 67 प्रतिशत 60 वर्ष से ऊपर की आयु समूह के हैं, जबकि स्त्रियों में 37.79 प्रतिशत 0-14 वर्ष आयु समूह के, 55 55 प्रतिशत 15-59 वर्ष आयु समूह के और 6 66 प्रतिशत 60 + वर्ष आयु समूह के हैं (वही 16)। अनुमान है कि इस वर्ष (2000 A D) के अन्त तक कुल जनसख्या का लगभग 32 प्रतिशत 14 वर्ष से नीचे आयु समूह के, 8 प्रतिशत 60 वर्ष से ऊपर और 60 प्रतिशत 15-59 वर्ष आयु समूह के होंगे। (*India*, 1992 : 19)। 1951 से 25 वर्ष से कम आयु समूह की जनसख्या में वृद्धि हुई है, इसका कारण मृत्यु दर में कमी है। इस आयु सरचना के प्रभाव इस प्रकार रहे (1) बच्चों की स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक धन का आवटन, (2) एक वर्ष में तेजी से जनसख्या वृद्धि; (3) काम करने वाले लोगों पर अधिक लोगों का

निर्भर होना, और (4) श्रम की निम्न उत्पादकता।

लिंग रचना (Sex Composition)

जनसख्या में लिंग अनुपात महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इसका प्रभाव विवाह दर, मृत्यु दर, जन्म दर और यहा तक कि प्रव्रजन दर पर भी पडता है। 1991 जनसख्या आकडों के अनुसार भारत में प्रति 1000 पुरुषों पर 927 स्त्रियों का अनुपात आता है। लिंग असन्तुलन के कारण हैं स्त्री बाल हत्या, बालिकाओं की उपेक्षा, बाल विवाह, बच्चे की जन्म पर मृत्यु, स्त्रियों के साथ बुरा व्यवहार, और कठिन कार्य। लिग अनुपात लगातार गिरता चला जा रहा है। 1901 में 972 से 1931 में 950, 1951 में 946, 1991 में 930, और 1991 में 927 रहा।(*Census of India*, 1991 and *Manpower Profile, India*, 1998 :10)

निसन्देह ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में लिंग अनुपात अधिक ऊचा है क्योंकि एकल पुरुष शिक्षा, रोजगार तथा अन्य कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में चले जाते है। अलग राज्यों में भी लिंग अनुमान में अन्तर है। 13 राज्यों में लिंग अनुपात राष्ट्रीय स्तर से ऊँचा है तथा 12 राज्यों में निम्न है (*Manpower Profile, India*, 1998 : 15)।

वैवाहिक रचना (Marital Composition)

1994 में विवाह की औसत आयु स्त्रियों की 19 4 और पुरुषों की 24 7 वर्ष थी (वही . 462)। शहरी स्त्रियाँ 20 24 वर्ष आयु समूह में विवाह अधिक करती हैं। विवाह आयु ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरों में काफी ऊँची है। 1951 के बाद से स्त्रियों और पुरुषों दोनों की विवाह आयु में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं (स्त्रियों में 15 4 से 19 4 और पुरुषों में 19 9 से 24 7 वर्ष)। वैवाहिक प्रस्थिति के अर्थ में, 1994 में 50 4 प्रतिशत लोग अविवाहित थे, 44 6 प्रतिशत विवाहित और 5 प्रतिशत विधुर/तलाकशुदा/पृथक किए हुए थे। लिंग आधार पर 45 6 प्रतिशत स्त्रिया और 54 9 प्रतिशत पुरुषों ने विवाह ही नही किया, स्त्रिया 46 6 प्रतिशत व 42 7 पुरुष विवाहित हैं और 2 4 प्रतिशत पुरुष व 7 8 प्रतिशत महिलाएँ विधुर/तलाकशुदा/पृथक हैं (वही 464)। सामान्य रूप में यद्यपि भारत में विवाह की आयु यह दर्शाती है कि लगातार इसमें वृद्धि ही हुई है तथापि विकसित देशों की तुलना में यह काफी न्यून है। निम्न विवाह आयु सामाजिक प्रस्थिति तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। सामाजिक प्रभाव विशेष रूप से शैक्षिक स्तर में कमी, विधवाओं के उच्च अनुपात में वृद्धि, बच्चों की सख्या में वृद्धि, तथा पुरुषों पर निर्भरता में वृद्धि है। अपरिपक्व आयु में बच्चे को जन्म देने से माँ और शिशु के स्वास्थ्य पर प्रभाव पडता है।

ग्रामीण-शहरी रचना (Rural-Urban Composition)

सन् 1991 के जनगणना के अनुसार कुल जनसख्या के 25.73 प्रतिशत शहरी और 74 27 प्रतिशत ग्रामीण हैं। 1998 में शहरी जनसख्या अनुमानत 28.3 प्रतिशत थी (*Manpower Profile, India*, 1998 14) यद्यपि शहरी जनसख्या के प्रतिशत में काफी वृद्धि हुई है

(1901 में 10 8 प्रतिशत से 1951 में 17 3 प्रतिशत और 1981 में 23 7 प्रतिशत), तथापि 1991 में 26 प्रतिशत जनसख्या को शहरीकरण का उच्च स्तर नही कहा जा सकता। लगभग 224 9 मिलियन लोगों में से (या भारत की कुल जनसख्या का 26 6%), जो 1991 में अपने पुराने निवास से नयी जगहों में जाकर बस गए, 64 5 प्रतिशत गाँव से गाँव में प्रव्रजन वाले थे, 17.7 प्रतिशत गाँव से शहरों मे, 11 8 प्रतिशत शहरों से शहरों में, और 6 प्रतिशत शहरों से गाँवों में जाने वाले थे (वही· 26)। परिवम में प्रव्रजन गतिशीलता, जो शहरीकरण के साथ-साथ होती है, अच्छी मानी जाती है क्योंकि यह रोजगार के अवसर तथा अन्य सुविधाए प्रदान करती है लेकिन भारत मे यह ग्रामीण गरीबी को शहरों में जाना दर्शाती है और इस प्रकार गरीब बस्तियों में धीमी वृद्धि के बावजूद नगरों और कस्बों में जनसख्या दबाव का पैमाना तेजी से बढ रहा है। गाँवों से शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन में वृद्धि से औद्योगिक व वाणिज्य के क्षेत्रों में सस्ते श्रम की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है लेकिन साथ ही इससे शहरों और कस्बों में अधिक समस्याए पैदा होने की भी अपेक्षा की जाती है। यद्यपि भारत की ग्रामीण जनसंख्या मे भी वृद्धि हुई है तथापि कुल जनसख्या (अर्थात् 74 2%) का लगभग 18 44 प्रतिशत 1000 व्यक्तियों से भी कम व्यक्तियों वाले छोटे गाँवों में और 36 57 प्रतिशत 2000 जनसख्या से कम के गाँवों में रहते हैं।

व्यावसायिक सरचना (Occupational Structure)

आर्थिक रूप से सक्रिय लोगों (15 से 59 वर्ष आयु) पर निर्भर आश्रितों (14 वर्ष से कम या 60 वर्ष आयु से अधिक) की सख्या बहुत अधिक है। 1993-1994 में भारत में लगभग 45 प्रतिशत लोग (44 86%) (15-59 वर्ष आयु समूह में) अनुमानत आर्थिक रूप से सक्रिय या कार्यरत थे और लगभग 55 प्रतिशत आर्थिक रूप से निष्क्रिय थे (वही 128)। 1993-94, में 44 9 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में और 36 3 प्रतिशत लोग शहरी क्षेत्रों में श्रमशक्ति में लगे थे (वही . 49)। लिंग के सन्दर्भ में 67 6 प्रतिशत पुरुष (15-59 आयु समूह के) और 32 4 प्रतिशत स्त्रिया उत्पादक कार्यों में लगे हैं। 15 से 19 वर्ष की आयु समूह में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में पुरुषों की क्रियाशीलता की दर क्रमश 73 8 प्रतशित और 26 2 प्रतिशत है; जब कि स्त्रियों में शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में यह दर क्रमश 14 9 प्रतिशत तथा 85 प्रतिशत है (वही . 129)। 1993-94 में 64 6 प्रतिशत लोग प्राथमिक क्षेत्र (कृषि) में, 14 2 प्रतिशत लोग द्वैतीयक क्षेत्र (निर्माण) में और 21 2 प्रतिशत लोग तृतीयक क्षेत्र (नौकरी) में लगे थे (वही · 229)। पुरुषों में कार्य न करने वालों की सबसे बडी सख्या पूर्णकालिक छात्रों की है और स्त्रियों में घरेलू काम करने वाली स्त्रियों की। व्यावसायिक रचना की यह सरचना का प्रभाव सामाजिक स्तर पर पडता है जो पुन स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति को प्रभावित करता है। श्रम शक्ति में शहरी भागीदारी दोनों के लिए (स्त्री-पुरुष) ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरों में काफी कम है। 0-14 वर्ष आयु समूह में विशेष रूप से क्रियाशीलता की दर दर्शाती है कि शहरी और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में बाल श्रम प्रथा स्त्री और पुरुषों दोनों में प्रचलित है। 1993 94 में ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों में यह दर 5-9 वर्ष आयु समूह में 1.1 प्रतिशत और 10-14 वर्ष आयु समूह में 13 8 प्रतिशत थी तथा स्त्रियों में 5-9 वर्ष आयु समूह में 1 4

प्रतिशत और 10-14 वर्ष आयु समूह में 14.1 प्रतिशत थी। शहरी क्षेत्रों में पुरुषों में 10-14 वर्ष आयु समूह में यह दर 0.5 प्रतिशत और स्त्रियों में 4.5 प्रतिशत थी।

साक्षरता रचना (Literacy Structure)

1991 की जनगणना में साक्षरता स्तर 7 वर्ष और उससे ऊपर की आयु की जनसख्या के लिए किया गया था। पूर्व की जनगणना में इस उद्देश्य के लिए 5 वर्ष और इससे ऊपर आयु समूह की गणना की जाती थी। 1991 में कुल जनसख्या का 52.21 प्रतिशत साक्षर पाए गए (64.3% पुरुष, 39.29% स्त्रियाँ) (वही 142)। एनएसएस का अनुमान है कि 1997 के अन्त तक पुरुषों की साक्षरता दर 72 प्रतिशत और स्त्रियों की 49 प्रतिशत हो गई (*The Hindustan Times*, April 17, 2000)। सर्वाधिक साक्षरता दर (1997 में) मिज़ोरम में (95%) है और न्यूनतम बिहार में (38.38%) है। शैक्षिक रचना के उपलब्ध आकडे कुछ विशेषताएँ दर्शाते हैं (1) साक्षरों की अपार सख्या कुछ ही वर्षों तक स्कूल जाती है और स्कूल छोडकर जाने वालों की सख्या बहुत अधिक है। 1991 में भारत में कुल साक्षरों में से 56.7 प्रतिशत 3 वर्ष से भी कम स्कूल गये थे, 23.8 प्रतिशत 3-6 वर्ष की शिक्षा प्राप्त थे, 11 प्रतिशत 7-11 वर्ष, 6.8 प्रतिशत 12-14 वर्ष और 1.7 प्रतिशत 14 वर्ष से अधिक की शिक्षा प्राप्त किए हुए थे (वही 48)। (2) एक ओर उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की कमी है और दूसरी ओर हमें अधिक सख्या में शिक्षित बेकारों का सामना करना पड रहा है।

भाषायी रचना (Language Composition)

हमारे सविधान में वर्णित 15 प्रमुख भाषाओं में से सर्वाधिक प्रतिशत में लोग हिन्दी बोलते हैं (43%), इसके बाद बगला तेलुगू और मराठी बोलने वाले (8% प्रत्येक), तमिल और उर्दू (6% प्रत्येक), गुजराती (5%), मलायालम, कन्नड और उडीया (4% प्रत्येक), पजाबी (3%), और अन्य भाषाए (असामी, कश्मीरी, सिन्धी, सस्कृत, आदि सहित) (1%) बोलने वाले लोग हैं।

धार्मिक रचना (Religious Compostion)

यद्यपि सविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष देश कहा गया है तथापि यहाँ अनेक धर्मों का सम्मिश्रण है। कुल जनसख्या का (1991 में) 82.6 प्रतिशत हिन्दू, 11.4 प्रतिशत मुसलमान, 2.4 प्रतिशत ईसाई, 2.0 प्रतिशत सिख, 0.7 प्रतिशत बौद्ध, 0.5 प्रतिशत जैन और 0.4 प्रतिशत अन्य हैं। जहाँ जैन लोग (60%) और उसके बाद मुस्लिम (29%) अधिकतर शहरवासी हैं वही हिन्दू अधिकतर ग्रामवासी हैं (शहर की जनसख्या का 76% और ग्रामीण का 84%)।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Castes and Scheduled Tribes)

अनुसूचित जाति के लोग अधिकतर हिन्दू धर्म के हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार

जनसख्या का 16 48 प्रतिशत भाग अनुसूचित जाति और 8 08 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों में थे। (*Manpower Profile, India*, 1998 34)। इस प्रकार मोटे तौर पर भारत में 4 लोगों में से एक व्यक्ति अनुसूचित जाति या जनजाति का है। इन समूहों के राज्यवार वितरण में बडी भिन्नताएँ हैं। कुल अनुसूचित जातियों में अधिकतम सख्या उत्तर प्रदेश में, फिर पश्चिम बगाल, बिहार, तमिलनाडु, और आन्ध्र प्रदेश में है, जबकि नागालैण्ड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश में अनुसूचित जाति के लोग बिल्कुल नही हैं। (वही 34-35)। नागालैण्ड व मेघालय में 80 प्रतिशत से अधिक अनुसूचित जनजाति के लोग हैं और हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, पंजाब, सिक्किम और गोआ में अनुसूचित जनजाति के लोग बिल्कुल नही हैं। अनुसूचित जनजातियों के लोगों की सर्वाधिक सख्या मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उडीसा, बिहार और गुजरात में पाई जाती है। कुल अनुसूचित जनजाति की जनसख्या का लगभग तीन पाचवां भाग (62.75%) उपरोक्त पाँच राज्यों में है (वही 34)।

जनसंख्या विस्फोट
(Population Explosion)

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल (अर्थात 1945 के बाद का समय) को जनाकिकी में जनसख्या विस्फोट का काल कहा जाता है। यह वह काल था जिसमें भारत सहित सम्पूर्ण विश्व की जनसख्या में अभूतपूर्व तथा तेज गति से वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए जब 1600 एडी में भारत की अनुमानित जनसख्या 10 करोड थी, वही 1800 में 12 करोड, 1901 में 23 84 करोड, 1951 में 36 11 करोड, 1991 में 84 96 करोड, 1997 में 95 52 करोड तथा मई 2000 में यह 100 करोड थी (*Manpower Profile, India*, 1998 12 and *Crime in India*, 1997 :12) । इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ 1600 एडी और 1800 एडी के बीच 200 वर्षों में इसमें 20 प्रतिशत वृद्धि हुई और अगले 100 वर्षों में (तथा 1801 और 1901 के बीच) लगभग 100 प्रतिशत (98 66%) वृद्धि हुई, वहीं अगले 100 वर्षों में (1901 से 2000 तक) यह वृद्धि 319 प्रतिशत हुई। यदि जनसख्या वृद्धि को पुन तीन स्पष्ट अवधियों में विभाजित करें : (a) 1901 से 1931 तक, (b) 1931 से 1961 तक, और (c) 1961 से 1999 तक, तो पता चलता है कि 30 वर्ष की प्रथम अवधि में केवल 17 प्रतिशत की वृद्धि हुई, अगले 30 वर्षों में 57.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई और अगले 38 वर्षों में (या लगभग चार दशकों में) 127 प्रतिशत की विस्फोटक वृद्धि हुई। इस प्रकार 1921 से पूर्व जनसख्या वृद्धि मन्दर गति से (sporadic), 1921 से 1951 के बीच तीव्र गति से (rapid), और 1951 के बाद इसको विस्फोटक (explosive) कहा जा सकता है।

जनसख्या मे वृद्धि (Increase in Population)

स्वास्थ्य एव परिवार कल्याण मत्रालय द्वारा 1997 में तैयार किए गए राष्ट्रीय जनसख्या नीति पत्रक के अनुसार कुल प्रजनन शक्ति दर (total fertility rate or TFR), यानी 2.1, सन् 2010 तक प्राप्त कर लिया जायेगा। लेकिन रजिस्ट्रार जनरल की प्रेक्षाओं के अनुसार, 2.1

का टी एफ आर वर्ष 2026 से पूर्व प्राप्त नही किया जा सकता (यदि मौजूदा जनांकिकी प्रवृत्ति जारी रहे)। यह दर्शाता है कि सरकार और राष्ट्र जनसख्या वृद्धि नियत्रण करने में कितने उदासीन रहे हैं।

विस्फोटक गति से वृद्धि करती हुई भारत में जनसख्या के निम्नलिखित पक्ष प्रमुख हैं

- आजादी से पहले भारत की जनसख्या में 10 करोड की वृद्धि में साढे बारह साल, दूसरे 10 करोड में सवा नौ साल, तीसरे 10 करोड में साढे सात साल, चौथे 10 करोड में सवा छह साल है और पाँचवें 10 करोड में मात्र पाँच साल दो महीने का समय लगा।
- एक दशक पूर्व विश्व में प्रत्येक छठा व्यक्ति भारतीय था और शताब्दि के बदलते ही प्रत्येक पाँचवा व्यक्ति भारतीय है।
- भारत की जनसख्या में हर मिनट में 30 और प्रतिदिन 43,200, और हर वर्ष 1.55 करोड व्यक्ति जुड जाते हैं (Census Commissioner India, *The Hindustan Times*, August 18, 1999)
- भारत की जनसख्या में वृद्धि 15 दिन में एक चन्डीगढ (6,40,725 जनसख्या), और प्रत्येक माह में एक आस्ट्रेलिया (1.85 करोड) की जनसख्या के बराबर हो जाती है। भारत में हर वर्ष में जनसख्या में वृद्धि (1.55 करोड) फ्रास (58.4 मिलियन जनसख्या) ब्रिटेन (58.8 मिलियन जनसख्या) और इटली (57.6 मिलियन जनसख्या) की मिश्रित जनसख्या से कुछ कम है।
- 2035 तक भारत चीन से आगे निकलकर विश्व का सबसे अधिक जनसख्या वाला देश हो जायेगा। जब भारत में जनसख्या वृद्धि की वार्षिक दर 3.5 प्रतिशत है वहीं चीन में यह 2.1 प्रतिशत है। 1999 के अन्त में चीन की आबादी 125.9 करोड थी और भारत की 99.5 करोड थी। चीन की जनसख्या को 2010 तक 140 करोड पर नियत्रित करने का तथा वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के नीचे रखने का लक्ष्य तय किया गया है। (Bhaskar, May 8, 2000)।
- भारत की जनसख्या में एक दशक में लगभग 40 प्रतिशत की वृद्धि चार राज्यों—बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश—में ही है। (जिन्हें बिमारू—BIMARU के नाम से भी जाना जाता है)।
- जो जोडे (couples) पुनरोत्पादी विस्तृति (reproductive span) से बाहर हो जाते हैं उनका तीन गुणा इस चक्र में प्रवेश कर जाते हैं। जो पुनरोत्पादी चक्र में प्रवेश करते हैं उनकी प्रजनन क्षमता तीन गुणी अधिक होती है, अपेक्षाकृत उनके जो चक्र से बाहर हो चुके हैं।
- वृद्धि की वर्तमान दर पर अधिकतर भारतीयों का जीवन असह्य (unbearable) हो जायेगा—चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराना मुश्किल होगा, शिक्षा, आवास आदि पर व्यय अधिक हो जायेगा, प्राविधिक एव व्यावसायिक शिक्षा मात्र अभिजात वर्ग की ही विशेषाधिकार बन जायेगा और भोजन की कमी एक बार फिर से आधे से अधिक राष्ट्र को गरीबी रेखा से नीचे ले जायेगी।

जनसंख्या वृद्धि या जनांकिकी उथल-पुथल के विश्लेषण् में यह कहा जा सकता है कि देश तीन विविध चरणों से गुजरता है जिसमें प्रत्येक में विभिन्न प्रवृतिया होती हैं। वह तीनों चरण अधिक जन्म-अधिक मृत्यु, अधिक जन्म-कम मृत्यु, और कम मृत्यु-कम जन्म की श्रखला दर्शाते हैं। प्रथम 'स्थिर' (stationary) चरण में जन्म और मृत्यु दोनों ही दर ऊँची और अनियत्रित होती हैं, इसलिए जनसंख्या वृद्धि कम होती है। दूसरा चरण 'विस्तार' (expansion) का है क्योंकि जन्म दर काफी अधिक है और मृत्यु दर घटती जाती है। तीसरा चरण 'अधोगति' (decline) का है। भारत अभी भी द्वितीय चरण में से गुजर रहा है जिसमें प्रजनन दर मृत्यु से अधिक रहती है। प्रजनन दर भी कम हो सकती है जब आर्थिक व सामाजिक स्तर में सुधार आ जाये। आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन के कुछ लक्षण हैं शहरीकरण, औद्योगीकरण, (दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परिवार व नातेदारी बन्धनों के महत्व को कम कर देते हैं) साक्षरता, तथा शिशु मृत्यु।

जनसख्या वृद्धि के कारण (Causes of Population Growth)

1951 के बाद जनसख्या वृद्धि की व्याख्या निम्न कारकों के आधार पर की जाती है : उपचारात्मक व निरोधक औषधियों के कारण मृत्यु दर में कमी, अकाल और महामारी पर नियत्रण, युद्धों में कमी, तथा जनसंख्या का बडा आधार (base)।

जनसख्या विस्फोट के लिए निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं

1. जन्म एव मृत्यु दर के बीच विस्तृत दूरी (Widening Gap Between Birth and Death Rate)

भारत में वार्षिक औसत जन्म दर जो 1951-61 में प्रति हजार जनसख्या पर 42 थी, 1996 में घटकर 28 1 हो गई। मृत्यु दर भी 1951-61 में प्रति हजार जनसख्या में 27 से घटकर 1996 में 9 1 ही रह गई (*Manpower Profile*, 1998 37)। इस प्रकार क्योंकि जन्म दर में उपेक्षणीय कमी और मृत्यु दर में तीव्र कमी देखी गई है, अत इस वृहत दूरी ने हमारी जनसख्या को तेजी से बढाया है। प्रजनन दर (प्रति स्त्री जन्म दिए गए बच्चों की औसत सख्या) 1950 के दशक में 6 से घटकर 1993-94 में 4 4 ही रह गई। यदि हम वार्षिक गर्भपात के आँकडों (1 करोड से 1 1 करोड के बीच, जिसमें 0 4 करोड स्वतपात और 0 67 करोड प्रेरित गर्भपात शामिल है) को जन्म की वार्षिक सख्या में जोड दे (0 17 करोड) जो कि देश में होते हैं, तो हम घातक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिवार के प्रजनन काल में प्रत्येक पाच में से एक भारतीय स्त्री हर समय गर्भवती रहती है।

2. विवाह के समय कम आयु (Low Age at Marriage)

हमारे देश में बाल विवाह आम बात रही है। 1931 की जनगणना के अनुसार, भारत में 72 प्रतिशत विवाह 15 वर्ष की आयु से पूर्व और 34 प्रतिशत 10 वर्ष की आयु से पूर्व सम्पन्न हो जाते थे। तब से स्त्री पुरुषों दोनों में विवाह की औसत आयु में वृद्धि हुई है। यद्यपि अनुमान है कि विवाह की औसत आयु में वृद्धि हो रही है तथापि आज भी बडी सख्या में

लडकियों का विवाह ऐसी आयु में हो जाता है जब वे न तो सामाजिक रूप से या भावात्मक रूप से या मनोवैज्ञानिक और आयु क्रम से ही विवाह के लिये तैयार होती हैं।

बाल मृत्यु दर का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्त्री की विवाह के समय आयु से है। 1995 में भारत में औसत बाल मृत्यु दर 1000 प्रति जीवत जन्म (live births) पर 74 थी—ग्रामीण क्षेत्रों में यह दर 80 तथा शहरी क्षेत्रों में यह दर 49 प्रति हजार पर थी। यदि विवाह के समय स्त्रियों की आयु के सन्दर्भ में उन्हें तीन समूहों में विभाजित करें—18 वर्ष से कम, 18 वर्ष से 20 वर्ष तक, तथा 21 वर्ष से अधिक—तब हम देखते हैं कि इन तीनों समूहों में ग्रामीण क्षेत्रों में बाल मृत्यु दर (1978 में) क्रमश 141, 112 और 85 थी जब कि शहरी क्षेत्रों में यह दर क्रमश 78,66 और 46 थी। यदि हम जनन क्षमता दर को आयु समूहों से जोडें (प्रति स्त्री से जन्में बच्चों की औसत सख्या) तो हम देखते हैं कि जैसे जैसे आयु समूह अधिक होता है, प्रजनन दर कम होती जाती है। यदि जनसख्या वृद्धि पर नियत्रण करना है तो स्त्रियों का विवाह (ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में) 21-23 या 23-25 आयु समूह में किया जाये न कि 15-18 या 18-21 वर्ष आयु समूह में।

3. अत्यधिक निरक्षरता (High Illiteracy)

परिवार नियोजन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्त्रियों की शिक्षा से है और स्त्री शिक्षा विवाह के समय आयु, स्त्रियों की प्रस्थिति, उनकी प्रजनन शक्ति, बाल मृत्यु दर आदि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है। एन एमएस के द्वारा 1999 के आँकडों के अनुसार भारत में समूचा साक्षरता प्रतिशत 62 प्रतिशत था जबकि 1991 में 52 21 तथा 1981 में 43 56 प्रतिशत था। 1991 में पुरुष साक्षरता प्रतिशत 64 13 था जबकि स्त्रियों की साक्षरता का प्रतिशत 39 29 था (वही . 42)। 1999 में, यह अनुमानत क्रमश 73 तथा 49 प्रतिशत था। शिक्षा व्यक्ति को उदार, विशाल हृदय, नये विचारों के लिये तत्पर तथा तर्कसगत बनाती है। यदि स्त्री और पुरुष दोनों को ही शिक्षित किया जाता है तो वे सरलता से परिवार नियोजन के तर्क को समझ जायेंगे, लेकिन उनमें से कोई एक या दोनों ही अशिक्षित होंगे तो वे अत्यधिक रूढिवादी, धर्मभीरू एव विवेकहीन होंगे। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि केरल में जहा कुल साक्षरता दर 89 81 प्रतिशत और स्त्रियों की साक्षरता दर 86 91 प्रतिशत है (1991 में) वहा सबसे कम जन्म दर (17 8 प्रति हजार) है, जबकि राजस्थान में स्त्री शिक्षा दर 20 44 प्रतिशत (वही · 378 42) के साथ देश में जन्म दर तीसरे स्थान पर सबसे ऊची है (34 6 प्रति हजार); सबसे ऊँची जन्म दर उत्तर प्रदेश में (36 प्रति हजार) है और उसके बाद मध्य प्रदेश (34 7 प्रति एक हजार) में है। ये साख्यिकी आँकडे अन्य राज्यों के लिए भी काफी सही हैं।

4. परिवार नियोजन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण (Religious Attitude Towards Family Planning)

धार्मिक दृष्टि से कट्टर एव रूढिवादी लोग परिवार नियोजन के उपायों के उपयोग के विरुद्ध होते हैं। अधिकतर महिलाएँ यह तर्क देती हैं कि वे ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकतीं। कुछ स्त्रियाँ यह तर्क देती हैं कि स्त्रियों के जीवन का उद्देश्य ही बच्चों को जन्म देना

है। कुछ अन्य स्त्रियों के दृष्टिकोण में निष्क्रियता है "यदि मेरे भाग्य में ही अनेक बच्चों के जन्म देना लिखा है तो मैं उन्हें जन्म दूगी, यदि नही तो नही। इसके विषय में मैं चिन्ता क्यों करूं ?"

भारतीय मुसलमानों में जन्म दर एवं उत्पादकता दर हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक है (मुस्लिम महिलाओं में उत्पादकता दर 4 4 है, जबकि हिन्दुओं में 3 3)। 1978 में ऑपरेशन्स रिसर्च ग्रुप द्वारा मुसलमानों में किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, यद्यपि अधिकतर पुरुष और स्त्री उत्तरदाता आधुनिक परिवार नियोजन के तरीकों को जानते थे, किन्तु या तो वे धार्मिक आधार पर उनका प्रयोग नही कर रहे थे या उनको सही जानकारी नही थी।

1992 में जनसख्या अनुसन्धान केन्द्र, उदयपुर द्वारा किये गए सर्वेक्षण से पता चलता है कि 218 मुसलमान पुरुष साक्षात्कारियों में से 43 1 प्रतिशत परिवार नियोजन को स्वीकृति देने वाले थे, 26 6 प्रतिशत अस्वीकृति देने वाले थे और 30 3 प्रतिशत ने ठीक से जवाब नहीं दिया (वही : 110)। इसकी तुलना में 2748 हिन्दू पुरुष साक्षात्कारियों में से 61 7 प्रतिशत ने इसे सहमति प्रदान की, 14 5 प्रतिशत ने अस्वीकृति, और 23 8 प्रतिशत ने अनिश्चितता प्रकट की (वही 110)। यह दर्शाता है कि मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा परिवार नियोजन में अधिक रूढिवादी हैं।

अन्य कारण (Other Causes)

जनसंख्या वृद्धि के कुछ अन्य कारण हैं सयुक्त परिवार और इन परिवारों में युवा दम्पत्तियों में अपने बच्चों के पालन पोषण के प्रति जिम्मेदारी में कमी, मनोरजन के साधनों की कमी, तथा बन्ध्याकरण, ट्यूबोक्टोरी तथा लूप के बुरे प्रभावों के विषय में गलत सूचना या सूचना की कमी। बहुत से गरीब माँ बाप इसलिए बच्चे पैदा करते हैं क्योंकि उन्हें उनकी आवश्यकता है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि हमारे देश में लगभग 3 5 करोड बाल श्रमिक हैं। यदि यह परिवार उन बच्चों को काम करने से रोक लें तो उनके परिवार की आमदनी बहुत कम हो जायेगी।

गरीबों के द्वारा अधिक बच्चे पैदा करना दर्शाता है कि गरीबी और जनसख्या के बीच आन्तरिक सम्बन्ध है। गरीबी जनसख्या वृद्धि का कारण और प्रभाव भी है। अधिक बच्चे पैदा करके (बेटे) अपने परिवार की बढती आवश्यकताओं से जूझने माँ बाप को बाध्य होकर उन्हें स्कूल जाने से रोकना पडता है ताकि वे घर खर्च में मदद कर सकें। और फिर, अशिक्षित तथा अज्ञानी बच्चे अपने पिता के जैसे भाग्य के ही उत्तराधिकारी होंगे और अपने पिता की ही तरह इतने पुत्र चाहेंगे जितने कि जीवन यापन के लिए आवश्यक होते हैं।

जनसख्या विस्फोट के प्रभाव (Effects of Population Explosion)

जनसख्या वृद्धि का प्रत्यक्ष प्रभाव लोगों के जीवन स्तर पर पडता है। यही कारण है कि आजादी के बाद से हमारी कृषि एव औद्योगिक क्षेत्रों में चमत्कारिक प्रगति के बावजूद भी हमारी प्रति व्यक्ति आय में सन्तोषजनक वृद्धि नही हो पाई है।

जनसख्या वृद्धि ने भारत पर किस प्रकार प्रभाव डाला है ? अनुमान है कि 2.5 करोड

लोग (100 करोड में से अर्थात 25%) आवास विहीन हैं, 17 1 करोड लोगों को (17%) स्वच्छ पीने का पानी नहीं मिलता, 32.89 करोड प्रौढ (33%) अशिक्षित हैं, 5 वर्ष आयु से कम 53 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं, और समूचा देश विश्व मानव विकास सूची में 135 वें स्थान पर है। हमारे शहरों में अत्यधिक भीडभाड (जो कि केन्सर वृद्धि की तरह गन्दी बस्तियों में फलफूल रही है) ने यातायात, विद्युत तथा अन्य सेवाओं में व्यवधान डाला है। इससे शहरी व उप नगरीय क्षेत्रों में अपराध और हिंसा में वृद्धि हुई है। यह सब कुछ प्रतिवर्ष 1.5 करोड जनसख्या में वृद्धि से प्रभावित हुआ है (वही 11)। यदि जनसख्या इसी दर से बढती रही तो अब से कुछ ही वर्षों में हमारे पास बेरोजगार, भूखे, और असहाय लोगों की फौज हो जायेगी जो कि देश की *आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था और सस्थात्मक* ढाँचे की नींव को ही हिला देंगे। चुनाव का खेल सख्या का खेल है। चाहे शिक्षा, रोजगार, आवास, जल आपूर्ति या कि अन्य कोई क्षेत्र हो, एक ही प्रश्न है कितनों के लिए ? यहा तक कि वर्तमान में 100 करोड की जनसख्या के लिए (मई 2000 में) सभी के लिए रोजगार या आवास या स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम के विषय में सोचना भी निरर्थक है, क्योंकि 2001 में 1.55 करोड लोग और बढ जाएगे, अत उनका भी समायोजन होना ही है। एक वर्ष में 1.55 करोड लोगों की वृद्धि के लिए हमें प्रति वर्ष 1.5 लाख प्राथमिक विद्यालय और 3 75 लाख माध्यमिक विद्यालय अध्यापकों की आवश्यकता होगी, 5000 अस्पताल और डिस्पैन्सरियों की, 2000 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की, 2 लाख अस्पताल के बिस्तरों की, 50 हजार डाक्टरों की, 25 हजार नर्सों की, सवा करोड क्विटल से अधिक खाद्यान्न, 20 करोड मीटर कपडे की, और 25 लाख मकानों की तथा 40 लाख नौकरियों की आवश्यकता होगी। (*दी हिन्दुस्तान टाइम्स*, जुलाई 4, 1997 और *इडिया फ्राम मिडनाइट टू मिलेनियम*)

जीवन की गुणवत्ता पर जनसख्या वृद्धि का प्रभाव घरेलू वेदना की सूची (Household Misery India (HMI) के अन्तर्गत, अर्थात् लोगों की वचनाओं और मूलभूत आवश्यकताओं के अर्थ में परीक्षण किया जा रहा है (देखें बोस, 1996)। एचएम आई (HMI) सूची के पाँच मापदण्ड हैं पक्का मकान, सुरक्षित पीने का पानी, बिजली, सफाई व्यवस्था, तथा खाना पकाने के लिए ईंधन। कुछ विद्वानों ने इसका (जनसख्या वृद्धि) परीक्षण मानव ससाधनों के अर्थ (साक्षरता, स्वास्थ्य आदि) में किया है।

वर्तमान में 49 1 प्रतिशत भारत के लोगों के घरों में बिजली नहीं है, 69 7 प्रतिशत शौचघर सुविधा, (फ्लश या अन्य प्रकार के शौचालय) प्राप्त नहीं है, 51.5 प्रतिशत के पास पक्के मकान नहीं हैं और 19 प्रतिशत को सुरक्षित पीने का पानी उपलब्ध नहीं है (*आउटलुक*, अगस्त 21 1996 53)। यदि हम भारत में 1990 की मानव विकास सूची की तुलना कुछ चयनित वस्तुओं के आधार पर अन्य देशों से करें तो हमें पता चलता है कि बढती जनसख्या का हमारे जीवन की गुणवत्ता पर गम्भीर प्रभाव पडा है।

1996 की यूएनडी पी (UNDP) की रिपोर्ट के अनुसार (*Outlook, op cit* 51) भारत केवल 14 डालर (लगभग 500 रुपये) प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष स्वास्थ्य और शिक्षा पर खर्च करता है जबकि अन्य विकासशील देश, जैसे दक्षिण कोरिया और मलेशिया, 150 से 160 डालर खर्च करते हैं। हमारे देश की गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली लगभग 37

प्रतिशत जनसख्या पर इस अपर्याप्त धनराशि के प्रभाव की केवल कल्पना ही की जा सकती है।

यह सब आँकडे क्या पूर्वाभास (prediction) देते हैं ? 21 वी सदी प्रारम्भ हो गई है। 1970 के दशक में प्रकाश और आशा थी। 1980 के दशक में अन्धकार का समय आया। जनसंख्या विस्फोट, उग्रवाद एव अलगाववाद को बल मिला। 1990 के दशक में ये सब मामले और अधिक गहराते गए। हमारे देश को विश्व अर्थव्यवस्था की कठोर स्पर्धा का सामना करना है। भारत अब एक ऐसी नीति की तलाश करेगा जो जनसख्या विस्फोट के प्रकरण को सख्ती से निपटने में सक्षम होगी। जब तक भारत को ऐसी नीति नही मिलती, इसका भविष्य उज्जवल नही हो सकता।

जनसंख्या वृद्धि एवं नियंत्रण की सैद्धान्तिक व्याख्यायें
(Theoretical Explanations of Population Growth and Control)

जनसख्या पर नियत्रण और विकास
(Development and Control Over Population)

जनसख्या और विकास के बीच के सम्बन्ध को 1940 के दशक में प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के जनसख्या अनुसन्धान कार्यालय द्वारा इस आधार पर कि विकास जननक्षमता (fertility) की दर को कम कर देता है, समझाया गया है। अब यह कहा जाता है कि विकास मृत्यु दर को जन्म दर की अपेक्षा अधिक कम करता है जिसका परिणाम जनसख्या में वृद्धि होती है। फिर भी कुछ समय के बाद जन्म दर भी आवश्यक रूप से कम होती ही है और इस कारण एक बार फिर से जनसख्या वृद्धि दर धीमी हो जाती है। लेकिन यह सिद्धान्त इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर नही देता कि जैसे-जैसे विकास होगा तो जन्म दर में कमी कब आयेगी ? यह, यह भी नही बताता कि जननक्षमता किस स्तर तक कम होगी और वह समय अवधि जिसमें यह कमी शुरु होगी क्यों होगी ? जननक्षमता कमी की गति और समय प्रश्नों के बाद फिर प्रश्न उठता है उन कारकों की पहचान का जो जननक्षमता में कमी पैदा करते हैं। जनांकिकी परिवर्तन के समय का अनुमान लगाने के लिए सयुक्त राष्ट्र के एक अध्ययन में 21 चरों (variables) को परखा गया जिसमें प्रति व्यक्ति आय, नगरीकरण, स्त्री शिक्षा, आदि शामिल थे। परिणाम व्यर्थ ही रहा।

घरेलू अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त (Theory of Economy of Households)

इस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार एक गृहस्थी बडे परिवार की कीमत (cost) का परितुलन प्राप्त लाभों से करता है। जब तक बच्चों के पालन पोषण की कीमत अतिरिक्त आय के अर्थ में प्राप्त लाभों की तुलना में कम रहती है तब तक जन्म दर ऊँची बनी रहेगी। परिवर्तन तब आएगा जब नगरीकरण, आवश्यक रूप से बच्चों को विद्यालय भेजना, बाजार प्रवेश (market penetration) आदि जैसे सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप बच्चों के लालन-पालन की कीमत लाभों की अपेक्षा ऊची होगी। जौन काल्डवैल का जननक्षमता में कमी का सिद्धान्त (1982) भी यही बताता है कि जननक्षमता में कमी तब

शुरू होती है जब ससाधनों की कमी (reversal) माता पिता की अपेक्षा बच्चों की ओर हो जाती है और यह कमी वृहत् सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से सम्बद्ध होती है।

गर्भ निरोध तक पहुँच सम्बन्धी विचारो के विसरण का सिद्धान्त (Theory of Diffusion of Ideas Regarding Access to Contraception)

उपरोक्त सिद्धान्त, जो जननक्षमता के आर्थिक और सामाजिक निर्धारकों पर आधारित हैं, को एक अन्य सिद्धान्त के द्वारा चुनौती दी गई है जो गर्भ निरोध तक पहुँच और जननक्षमता नियत्रण के सम्बन्ध में विचारों के विस्तार की भूमिका पर जोर देता है। एन्सले कोल (1973) ने इस सिद्धान्त का 1850 और 1930 के बीच यूरोप में प्रजनन शक्ति दर में कमी के अध्ययन के द्वारा समर्थन किया। गर्भ निरोधकों की उपलब्धता उर्वरता दर में कमी तथा इसके विपरीत वृद्धि करती है।

भारत में अध्ययनों ने इन सभी सिद्धान्तों का समर्थन किया है और अन्य कारकों की ओर भी सकेत किया है जो जननक्षमता को प्रभावित करते हैं, जैसे विवाह के समय अधिक आयु या वे कारक जो गर्भ निरोधक विधियों के प्रयोग में बाधक बनते है, जैसे स्त्री शिक्षा, बेटों का महत्व, गरीबी, आर्थिक क्रियाकलापों में स्त्री सहभागिता, आदि। के जी जौली, अनिरुद्ध जैन, आदि द्वारा इस सन्दर्भ में भारतीय आँकडों के साथ अनुभवाश्रित अध्ययन किए गए हैं। जौली (Jolly, 1986) ने गर्भ निरोधी विधियों की प्रचलन दर और नगरीकरण के स्तर, स्त्री शिक्षा, आर्थिक क्रियाकलापों में स्त्रियों की सहभागिता के बीच सकारात्मक सम्बन्ध पाया और आर्थिक असमानता के स्तर और गैर हिन्दू जनसख्या के बीच नकारात्मक सम्बन्ध देखा। जैन (1985) ने अन्तर्राज्यीय आकडों पर कार्य करते हुए पाया कि शिशु मृत्यु सबसे महत्वपूर्ण चर है जबकि स्त्री शिक्षा, नगरीकरण, आदि अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध कारक हैं। एक अन्य अध्ययन में पाया गया कि जहा तक गर्भ निरोधक उपायों के प्रचलन दर का सम्बन्ध है स्त्री शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण कारक है (देखें प्रणव बनर्जी, 1992 250-256)

जनसख्या नीति (Population Policy)

सकीर्ण रूप में "जनसख्या नीति' यूएनईपी (UNEP) का अर्थ है (1973 632), "जनसख्या की विशेषताओं या आकार, सरचना और वितरण को प्रभावित करने का प्रयत्न"। वृहत रूप में इसका अर्थ है "आर्थिक और सामाजिक दशाओं को नियमित करने के प्रयत्न जिनसे जनाकिकीय परिणाम सम्भावित हों"। नोर्टमेन (1975 20) ने कहा है कि उक्त सकीर्ण अर्थ उस 'स्पष्ट नीति' (explicit policy) से है जो जनसख्या की विशेषताओं के प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं, और विस्तृत अर्थ 'उपलक्षित नीति' (implicit policy) से है जो इन विशेषताओं के परोक्ष रूप से और कभी कभी बिना बाह्य (explicit) इरादे को प्रभावित करती है।

दो प्रकार की जनसख्या नीतियाँ बनाई गई हैं (a) प्रसव विरोधी (antinatal) नीति जिसका उद्देश्य जनसख्या वृद्धि को हतोत्साहित (discurage) करना है, और (b) वितरणात्मक (distributional) नीति जिसका उद्देश्य जनसख्या के वितरणात्मक असन्तुलन

पर विचार करना एव उन पर कार्य करना है। राष्ट्रीय विज्ञानों की अकादमी ने जनसख्या नीति का इस प्रकार विवेचन किया है : (a) जो पूर्व निर्धारित उद्देश्य के अनुसार जनांकिकीय प्रक्रिया को प्रभावित करे (उदाहरण के लिए लोगों को नगर क्षेत्रों से उप-नगरीय क्षेत्रों में जाने के लिए प्रोत्साहित करना) और (b) जो जनांकिकीय प्रक्रियाओं से उत्पन्न माँगों की पूर्ति करे (उदाहरणार्थ उपनगरीय क्षेत्रों में लोगों को मूल सुविधाएँ प्रदान करना)।

भारत जैसे विकासशील देश की जनसख्या नीति के उद्देश्य निम्न होने चाहिए (i) जन्म दर कम करना (ii) परिवार में दो बच्चों तक सख्या सीमित करना (iii) मृत्यु दर कम करना (iv) तेज गति से बढती जनसख्या के परिणामों के प्रति जन जागरण पैदा करना (v) आवश्यक गर्भ निरोधक उपाय उपलब्ध करना (vi) गर्भपात को वैध बनाने सम्बन्धित कानूनों का क्रियान्वयन (vii) प्रोत्साहन एव हतोत्साहन दोनों देना। दूसरी ओर, इसके यह भी उद्देश्य हैं (a) भीड-भाड वाले क्षेत्रों में लोगों का केन्द्रित होना रोकना (b) नये क्षेत्रों में प्रभावी आवास के लिए आवश्यक सार्वजनिक सेवाएँ उपलब्ध कराना, और (c) कम जनसख्या वाले स्थानों में कार्यालयों का पुर्नस्थापन।

एक बार जनसख्या नियंत्रण की आवश्यकता अनुभव हो जाये तो विशेषज्ञों से सलाह करने तथा अध्ययन के लिए आयोगों और समितियों की नियुक्ति करके नीति बनाई जानी चाहिए। तब विविध कार्यक्रमों के द्वारा इसका क्रियान्वयन हो और समय समय पर मूल्याकन भी।

भारत की जनसख्या नीति (a) जनसख्या के कुल आकार का (b) अधिक वृद्धि दर का, और (c) ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में असमान वितरण की समस्या का प्रत्यक्ष परिणाम है। क्योंकि हमारी नीति के उद्देश्य की आवश्यकता है 'जीवन की गुणवत्ता में सुधार' और 'व्यक्तिगत सुख की वृद्धि करना', अत सामाजिक प्रगति और व्यक्तिगत सुख पूर्ति की उपलब्धता के विस्तृत उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन के रूप में कार्यवाही होनी चाहिए। प्रारम्भ में, 1952 में बनाई गई नीति अस्थाई, लचीली, और 'प्रयत्न और भूल' के दृष्टिकोण पर आधारित थी। धीरे-धीरे इसके स्थान पर अधिक वैज्ञानिक योजना प्रारम्भ की गई।

राष्ट्रीय योजना समिति द्वारा राधा कमल मुखर्जी की अध्यक्षता में 1940 में नियुक्त जनसख्या पर उप-समिति ने (1938 में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस द्वारा नियुक्त) आत्म नियत्रण, जन्म नियत्रण के सस्ते व सुरक्षित उपायों के ज्ञान का विस्तार तथा जन्म नियत्रण उपचार केन्द्रों की स्थापना पर बल दिया। इसने विवाह आयु बढाने, बहु विवाह प्रथा को हतोत्साहन करने, सप्रेषणीय (transmissible) रोगों से पीडित लोगों के बन्ध्याकरण (sterilization) तथा सुप्रजननिक कार्यक्रम (eugenic programme) चलाने की सिफारिश की। 1943 की भोर समिति, जो सरकार द्वारा नियुक्त की गई थी, ने आत्म नियत्रण विधि को प्रमाणित किया और 'परिवारों के स्वेच्छा से सीमित करने' की वकालत की।

स्वतत्रता के बाद 1952 में जनसख्या नीति समिति और 1953 में परिवार नियोजन अनुसन्धान और कार्यक्रम समिति गठित की गई। 1956 में एक केन्द्रीय परिवार नियोजन बोर्ड बनाया गया जिसने बन्ध्याकरण पर बल दिया। 1960 के दशक के दौरान अधिक शक्तिशाली परिवार नियोजन कार्यक्रम एक उपयुक्त समय के भीतर जनसख्या वृद्धि को स्थिर करने के लिए बनाया गया। पूर्व में जब सरकार द्वारा यह माना जा रहा था कि परिवार

नियोजन कार्यक्रम ने लोगों को काफी प्रेरित कर दिया है और सरकार को केवल गर्भ निरोध की सुविधाए ही प्रदान करनी हैं, बाद में यह अनुभव किया गया कि लोगों को प्रेरणा की और शिक्षित करने की आवश्यकता थी।

अप्रैल 1976 में स्वास्थ्य व परिवार नियोजन मत्री कर्ण सिंह ने ससद के सामने राष्ट्रीय जनसख्या नीति प्रस्तुत की जो सरकारी और गैर सरकारी सगठनों, शैक्षिक सस्थाओं, सुविख्यात जनाकिकी शास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों से लम्बी बातचीत व सलाह के बाद बनाई गई थी। इस नीति में कार्यक्रमों के विस्तृत आयाम थे जिनमें विवाह की आयु कानूनी रूप से बढाना, उन राज्यों को प्रत्यक्ष आर्थिक प्रोत्साहन देना शुरु करना जो परिवार नियोजन में अच्छी भूमिका अदा करें, स्त्री शिक्षा के सुधार की ओर अधिक ध्यान देना, सभी उपलब्ध जन सचार के साधनों द्वारा सार्वजनिक शिक्षा (रेडियो, टेलीविजन, प्रेस, फिल्म), नसबन्दी तथा बन्ध्यकरण ऑपरेशन कराने वालें को वित्तीय प्रोत्साहन देना तथा प्रजनन जीव विज्ञान और गर्भ निरोध में नये अनुसन्धान शुरु करना शामिल हैं। यद्यपि इस नीति को ससद की मान्यता मिल गई, यह उस समय बनाई गई थी जब आपात काल लागू था। भारतीय युवा काग्रेस के अध्यक्ष सजय गान्धी के नेतृत्व में बन्ध्यकरण आन्दोलन में इतनी ज्यादतिया हुई कि लोगों ने इसको अत्याचार माना। कुछ उत्तर भारतीय राज्यों में यह कार्यक्रम इतनी सवदेनहीनता तथा अति उत्साह से चलाया गया कि आपातकाल के बाद 1977 के चुनाव में ये ज्यादतिया चुनाव का मुद्दा ही बन गई और केन्द्र में काग्रेस पार्टी पराजित हुई। 1980 में जब इन्दिरा गान्धी पुन सत्ता में वापस आई उन्होंने परिवार नियोजन कार्यक्रम के अपने वायदे को पूरा करने में सावधानी और सूझबूझ से काम लिया। तब से, लगभग सभी राज्य तथा केन्द्र सरकारें इतनी कतराती रही हैं कि जनसख्या वृद्धि दर जो कि 2 प्रतिशत कम होने की उम्मीद थी, अभी भी (2000 में) लगभग 2 35 प्रतिशत है।

1979 में जनसख्या नीति पर कार्य कर रहे समूह (Workıng Group) ने शुद्ध प्रजनन दर (net reproductıve rate) एक (1 0) तक कम करने के लम्बे समय के जनाकिकी लक्ष्य रखने की सिफारिश की। इस लम्बे समय के लक्ष्य के उद्देश्य इस प्रकार रखे गए (1) परिवार का औसत आकार 4 3 बच्चों से 2 3 बच्चे रखा जाये, (2) प्रति हजार जन्म दर 33 से 21 होगा, (3) मृत्यु दर प्रति हजार 14 से 9 होगी जबकि बाल मृत्यु दर 129 से 60 होगी, (4) परिवार नियोजन के द्वारा वरणीय (elıgıble) 22 प्रतिशत सुरक्षित दम्पत्तियों की बजाय 60 प्रतिशत दम्पत्तियों को सुरक्षित किया जायेगा और (5) 2050 A D तक भारत की जनसख्या 120 करोड तक हो जायेगी।

1993 में, एक राष्ट्रीय जनसख्या नीति प्रस्तावित करने के लिए स्वामीनाथन समिति गठित की गई जिसने मई 1994 में एक नीति पत्रक (Polıcy draft) प्रस्तुत किया।

परिवार नियोजन (Family Plannıng)

1950 के दशक में भारत सरकार समर्थित परिवार नियोजन कार्यक्रम चलाने वाला प्रथम देश था जबकि शेष जगत को इस समस्या का आभास भी नहीं था। आज 50 वर्ष बाद भी भारत जनसख्या नियत्रण में पीछे है। दुर्दान्त आपात काल में 1975 व 1977 के बीच, राजनैतिक नेताओं, सरकारी अधिकारियों और पुलिसकर्मियों ने जोर से बन्ध्यकरण की वकालत की।

उन्होंने महत्वकांक्षी कार्यक्रम बनाए और जन इच्छा के विरुद्ध चलाया भी। बन्ध्यकरण कराने के ऐसे ठोस कठोर और जबर्दस्ती वाले तरीके अपनाए कि आज जनता के समक्ष परिवार नियोजन की बात करना भी सकोच होता है। परिवार कल्याण/नियोजन विभागों के सम्बन्धित अधिकारी इससे हमेशा स्तम्भित (scared) रहे हैं। विशेषज्ञों ने लक्ष्य पूर्ति की उम्मीद छोड दी है। सत्य तो यह है कि व्यवहार में देश के पास न तो प्रभावी कार्यक्रम रहा है और न ही लक्ष्य। राजनैतिक दल बडी सावधानी से विषय से बचकर चुनाव अभियान में इस विषय पर बोलते तक नही। एक बार जो विषय उच्च नाटकीय राजनैतिक प्रकरण हुआ करता था अब मात्र निषेध (taboo) बन कर रह गया है।

1977 में परिवार नियोजन को 'परिवार कल्याण' नाम दिया गया और परिवार कल्याण के सभी पक्षों को लेते हुए दक्षता से परे, स्त्रियो के शिक्षा स्तर को सुधारने के कार्य सहित विषय इसमें सम्मिलित किए गए। परिवार नियोजन जागरण मुहिम में भारत सरकार ने 'पहला बच्चा अभी नहीं' के यू एनईपी (UNEP) के दिशा निर्देशन पर प्रत्येक अगले बच्चे के जन्म में फासलों की मुहिम को चलाया।

परिवार नियोजन के तरीकों में बन्ध्यकरण, लूप, गर्भ निरोधक गोली (pill), निवर्तन (withdrawal), लय (rhythm), शीथ (sheath) और डायाफ्राम (diaphragm) आदि हैं। कण्डोम और गोलियाँ उच्च सामाजिक आर्थिक समूहों में अधिक प्रचलित मालूम पडती है, मध्यमवर्गीय समूहों में निवर्तन (withdrawal) विधि तथा कण्डोम प्रचलित हैं, और निम्न सामाजिक स्तर में बन्ध्यकरण को प्राथमिकता दी जाती है। सामाजिक रूप से सम्पन्न लोगों में परिवार नियोजन आपरेशन अधिक प्रचलित नही है क्योंकि इस समूह के लोग जन्म नियत्रण के अन्य तरीके भी अपनाते हैं। काफी सख्या में स्त्रिया एक से अधिक तरीके अपनाती हैं जो कि परिस्थितियो, उपलब्धता तथा समय पर मनःस्थिति कैसी है, इस बात पर निर्भर करता है।

अपनाये गए उपाय (Measures Adopted)

1951 में अधिकारिक रूप से चलाए गए लगभग 150 परिवार नियोजन क्लिनिक प्रथम पचवर्षीय योजना (1951-56) के बीच स्थापित किए गए। तब से सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों का एक जाल, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और उप केन्द्रों का जाल, पूर्व सरकारी सहायता से राज्य सरकारों के माध्यम से परिवार नियोजन कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु बनाया गया है। बडी सख्या में केन्द्र व उपकेन्द्र ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्रत्येक पच वर्षीय योजना में स्थापित किए गए हैं। 1998 में देश में लगभग 1 5 लाख उप केन्द्र, 25,000 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तथा 2500 सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र थे।

परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों में से सरकार अब तक 'शिविर दृष्टिकोण' पर अधिक निर्भर रही है जो कि जिला अधिकारियों पर अधिक निर्भर रहे जो अपने अधिकारी वर्ग पर बन्ध्यकरण अभियान के लिए (अधिकतर पुरुष बन्ध्यकरण) दबाव डाल सकें। सरकार ने विभिन्न राज्यों और ज़िलों के लिए लक्ष्य निर्धारित किए और उन्हें प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रलोभन व विश्वास में लेकर कार्य सम्पन्न करने के लिए उपाय किए। लक्ष्य प्राप्ति की सर्वोच्च दर (200%) 1976-77 में देखी गई जबकि अलग अलग वर्षों में बन्ध्यकरण

लक्ष्य प्राप्ति की दर 40 से 65 प्रतिशत के बीच रही। 1976-77 की सर्वोच्च उपलब्धि दर को 'सजय प्रभाव' कहा गया है जो कि दबाव, निर्दयता, भ्रष्टाचार और अतिशयोक्तिपूर्ण उपलब्धि आँकडों का परिणाम था। निर्दयता और बर्बरता के सबसे बुरे शिकार रहे हरिजन, चपरासी, लिपिक कर्मी, स्कूल अध्यापक, अबोध ग्रामीण, अस्पतालों के मरीज, जेल के बन्दी, तथा फुटपाथों पर रहने वाले व्यक्ति। परिवार नियोजन विधि के रूप में इस बर्बरता (विसक्रमण) ने अन्तत 1977 में सरकार के पतन का द्वार खोल दिया।

परिवार नियोजन कार्यक्रमों में लगे गाँवों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र दो विशेष कार्य करते हैं लोगों को सेवाएँ प्रदान करना तथा इन सेवाओं के विषय में सभी लोगों तक सूचना पहुँचाना ताकि लोगों को परिवार नियोजन अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके। लगभग 5 लाख चिकित्सा एव सह-चिकित्सा कर्मचारी इस कार्यक्रम में लगे हैं। इनके अतिरिक्त लगभग 5 लाख अशकालिक ग्रामीण स्वास्थ्य दिग्दर्शक भी हैं।

राष्ट्रीय जनसख्या नीति, (2000)

फरवरी 16, 2000 को भारत सरकार ने एक नई नीति की घोषणा की। इसके मुख्य लक्षण निम्न थे

1 आर्थिक और सामाजिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर को उठाना, उनके लिए कल्याण सबधी कार्यक्रम बढाना और उन्हें समाज में उत्पादी परिसम्पत्ति (productive assets) बनने के अवसर उपलब्ध करना है। अवलम्बनीय (sustainable) विकास के लिए जनसख्या को स्थिर करना आवश्यक है। ऐसे विकास के लिए सभी व्यक्तियों के लिए प्रजननीय (reproductive) स्वास्थ्य सबधी देखभाल सुलभ करवाना, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए अवसर बढाना, सफाई, सुरक्षित पीने का पानी व मकान जैसी मूल सुविधाएँ देना, महिलाओं का सशक्तिकरण करना एव उन्हें काम करने के अवसर प्रदान करना तथा यातायात व सचार के साधन उपलब्ध करवाना जरुरी है।

2 भारत में जनसख्या में वृद्धि के मूल कारण हैं प्रजननीय आयु समूह में जनसख्या का बडा आकार, उच्च प्रजनन क्षमता (fertility), तथा लडकियों का कम आयु में विवाह। अत राष्ट्रीय जनसख्या नीति के प्रमुख उद्देश्य होंगे गर्भनिरोध, स्वास्थ्य अधसरचना (infrastructure), स्वास्थ्य कार्मिक तथा जननीय स्वास्थ्य देखभाल के लिए एकीकृत सेवा पर अधिक ध्यान देना। इसका मध्य-कालीन लक्ष्य होगा सन् 2010 तक प्रजनन दर को कम करना। इसका दीर्घ-कालीन लक्ष्य होगा 2045 तक जनसख्या को उस स्तर पर लाना जो अवलम्बीय आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए उचित है।

3. उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए 14 राष्ट्रीय सामाजिक जनसाख्यकीय लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं, जिन्हें 2010 तक प्राप्त करना होगा। यह लक्ष्य हैं :

(i) मूल प्रजननीय और बाल स्वास्थ्य सेवाएँ और अधसरचना सबधी आवश्यकताएँ पूरी करना, (ii) 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा को मुफ्त व अनिवार्य करना, (iii) शिशु

मृत्यु दर को प्रति हजार पर 30 से कम करना, (iv) मातृ मृत्यु दर को एक लाख पर 100 से कम करना; (v) बच्चों की रोकने योग्य बीमारियों के लिए टीकों द्वारा उन्मुक्त (immunise) करना; (vi) लडकियों का विवाह 20 वर्ष के बाद करने को प्रोत्साहित करना, (vii) प्रसव (deliveries) 80 प्रतिशत सस्थात्मक तरीकों से और 100 प्रतिशत प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा करवाने पर बल देना, (viii) गर्भपात (contraception) के बारे में पूरी जानकारी उपलब्ध करवाना, (ix) एड्स के बारे में जानकारी देना, (x) प्रेषणशील (communicative) बीमारियों पर नियत्रण करना, (xi) जननीय और बाल स्वास्थ्य देखभाल में चिकित्सा की एकीकृत व्यवस्था पर बल देना, (xii) कुल प्रजनन क्षमता (TFR) स्तर के लिए छोटे परिवार के विचार को प्रोत्साहित करना।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निम्न प्रोग्राम को लागू करने पर बल दिया गया है योजना का विकेन्द्रीकरण, ग्राम स्तर पर सेवाओं की उपलब्धि, महिलाओं का सशक्तिकरण, नगरों में गन्दी बस्तियों, गावों में जनजातीय समुदायों व किशोरों पर अधिक ध्यान देना, और गैर-सरकारी सगठनों का सहयोग। जनसख्या नियत्रण का कार्य क्योंकि राज्य सरकारों का है, इसलिए मानीटर करने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जायेगी जिसके चेयरमैन प्रधानमत्री तथा सदस्य सभी राज्यों के मुख्यमत्री, केन्द्रीय परिवार कल्याण मत्री, गैर-सरकारी सगठनों के प्रतिनिधि, मशहूर जनाकिकी विशेषज्ञ, आदि होंगे।

छोटे परिवार के विचार को बढावा देने के लिए निम्न अभिप्रेरणा सबधी उपायों का सुझाव दिया गया है : (i) अनुकरणीय कार्य के लिए ग्राम पचायतों व जिला परिषदों को पुरस्कार देना, (ii) दो बच्चों तक लडकी के लिए महिला और शिशु विकास विभाग द्वारा 500 रुपये नकद प्रोत्साहन देना, (iii) गाँवों में पहली सन्तान 19 वर्ष की आयु के उपरान्त जन्म देने के लिए 500 रुपये का पुरस्कार, (iv) गरीबी रेखा से नीचे दम्पत्तियों के लिए दो बच्चों बाद बध्यकरण (sterilisation) के लिए स्वास्थ्य बीमा योजना लागू करना, (v) गाँवों में बाल-गृहों और बाल सतर्कता केन्द्र स्थापित करना।

इसके अलावा कुछ और उपाय निम्न अपनाये जायेंगे (1) सुरक्षित गर्भपात के लिए सुविधाओं को सशक्त करना, (2) रोगीवाहन (ambulance) सेवाओं के लिए कर्जा देना, (3) लडकियों के व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए समर्थन देना, (4) 1976 के बाल-विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम को सख्ती से लागू करना, (5) 2026 तक लोकसभा के लिए सदस्य सख्या न बढाना।

उपलब्ध प्रगति (Progress Achieved)

प्रथम पचवर्षीय योजना के बाद, अगले आठ पचवर्षीय योजनाओं में इस कार्यक्रम को वरीयता दी गई, लेकिन 1968-69 से ही जन्म दर में कमी देखी गई। 1961 में जो जन्म दर 41 7 प्रति हजार थी, 1994 में 28 7 और 1995 में घटकर 25 2 प्रति हजार रह गई। 1956 और 1996 के बीच लगभग 13 करोड जन्म-जापान की वर्तमान जनसख्या के बराबर—टाल दिए गए (*The Hindustan Times*, February 11, 1997)।

सभी क्षेत्रों में लक्ष्यों की उपलब्धि खराब नहीं रही है यद्यपि बन्ध्यकरण की सख्या कम हुई है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार (NFHS, 1992 93), जो कि स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मत्रालय द्वारा चलाया गया था, 13 वर्ष से 49 वर्ष आयु समूह की भारतीय स्त्रियों में से केवल 6 प्रतिशत ही किसी आधुनिक गर्भ निरोध के तरीके का प्रयोग करती हैं। तथापि एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार लगभग आधे दम्पत्ति परिवार नियोजन का अनुसरण नही करते यद्यपि 90 प्रतिशत इसके विषय मे जानकारी रखते हैं (*The Hindustan Times*, February 11, 1997)। भारत में कण्डोम का प्रयोग इतना कम है कि यह प्रतिवर्ष केवल प्रति दम्पत्ति 6 है। सर्वेक्षण के द्वारा बन्ध्यकरण दर पर दिए गए आकडे (30%)—जो परिवार नियोजन कार्यक्रम का मुख्य आधार है—अविश्वसनीय हैं क्योंकि अधिकतर बन्ध्यकरण 2 या तीन बच्चों के जन्म के बाद अपनाया जाता है। भारत की कुल उर्वरता दर अभी भी 3 5 है और यह सर्व विदित है कि यह दर 3 से 2 1 पर लाना एक कठिन कार्य है और वह अवस्था भारत में अभी शुरु भी नही हुई है (सहाय, 1977)। आज यह प्रयास भी इस सीमा तक कम हो गया है कि आशीष बोस, एक सुविज्ञ जनांकिकीयशास्त्री ने अपने 1990 के दशक में भारतीय जनसख्या' विषय पर वक्तव्य में (8 फरवरी 1991 में दिल्ली में) कहा कि देश में परिवार नियोजन कार्यक्रम पूरी तरह से असफल हो गया है और इसकी सफलता के लिए बिल्कुल नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

जनसख्या वृद्धि को रोकने में प्रगति बहुत धीमी गति से हुई है जैसा कि चीन से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है जिसने गहन परिवार नियोजन कार्यक्रम के माध्यम से 1970 से 20 करोड बच्चों के जन्म को रोक दिया है और जननक्षमता दर को अर्ह (eligible) माताओं में 5 82 से कम करके 2 5 पर ला दिया है (स्त्री जो 15 वर्ष से 49 वर्ष की आयु के बीच उत्पादक वर्षों में औसत सख्या में बच्चों को जन्म देगी (*The Hindustan Times*, July 11, 1994)। चीन ने शहरी क्षेत्रों में 'एक दम्पत्ति का एक बच्चा' का प्रतिमान अपनाया और ग्रामीण क्षेत्रों में एक दम्पत्ति के दो बच्चों के बाद प्रतिबन्ध लगाया तथा नियोजित बच्चे तथा उनके माता पिता के लिए भी प्रोत्साहन दिए। जो इन प्रतिमानों का उल्लघन करते उन्हें दण्डित किया जाता था। नियोजित बच्चे को शिक्षा तथा पालन पोषण के लिए 14 वर्ष की आयु तक विशेष भत्ता दिया जाता था तथा उसके माता पिता को मकान बनाने के लिए भूमि या फार्म के लिए मशीन आदि दी जाती थी। चीन में इस कार्यक्रम का प्रमुख भाग है, देर से विवाह और देर से बच्चों को जन्म देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना।

भारत में प्रजनन स्वास्थ्य (reproductive health) से सम्बद्ध उपलब्ध तथ्य (*Outlook*, August 21, 1996 58 सकेत करते हैं कि

- वर्ष भर में कुल गर्भाधानों (conceptions) के लगभग 78 प्रतिशत अनियोजित होते हैं और लगभग 25 प्रतिशत निश्चित रूप से अनचाहे होते हैं।
- भारत में लगभग तीन करोड स्त्रियाँ अच्छी परिवार नियोजन सेवाएँ चाहती हैं क्योंकि वे उपलब्ध सेवाओं/कार्यक्रमों से सन्तुष्ट नहीं हैं।
- प्रतिवर्ष होने वाले लगभग 1 1 करोड गर्भपातों में से 31 प्रतिशत आत्मस्फूर्त (spontaneous) होते हैं।

- गर्भ धारण तथा बच्चों को जन्म देने की अवधि में एक लाख से अधिक स्त्रियाँ मर जाती हैं।
- लगभग तीन चौथाई प्रसव घरों में ही होता है और केवल एक तिहाई प्रसव डाक्टर, नर्स या मिडवाइफ के सहयोग से होते हैं।
- प्रत्येक 13 बच्चों में से एक बालक एक वर्ष के जीवन काल में ही मर जाता है और प्रत्येक नौ में से एक पाँच वर्ष की आयु तक पहुँचते मर जाता है। शिशु मृत्यु दर (infant mortality) ग्रामीण क्षेत्रों में 52 प्रतिशत है।

परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण (Attitudes Towards Family Planning)

परिवार नियोजन का विचार एक औसत भारतीय स्त्री तक भली-भाँति पहुँचा दिया गया है। परिवार नियोजन के प्रति स्त्रियों का दृष्टिकोण शिक्षा, आयु, आय पृष्ठभूमि, पति का व्यवसाय, और अन्य कारकों में उसकी प्रस्थिति (कार्य की) आदि हैं। आयु के अर्थ में यह देखा गया है कि जैसे-जैसे आयु समूह में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे परिवार नियोजन को स्वीकार करने वाली स्त्रियों का प्रतिशत कम होता जाता है। लेकिन अधिक आयु समूह में भी लगभग दो तिहाई स्वीकृति होती है। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि अधिक सख्या में भारतीय स्त्रियाँ आयु की चिन्ता किए बिना भी परिवार नियोजन स्वीकार करती है।

1988 में कोठारी और गुलाटी (1989 71) द्वारा राजस्थान में किए गए सर्वेक्षण में पाया गया कि अध्ययन किए गए कुल व्यक्तियों में से 88 1 प्रतिशत परिवार नियोजन के पक्ष में थे और 11 9 प्रतिशत विरुद्ध थे। कोठारी (1994) ने यह भी देखा कि 1993 में राजस्थान में राष्ट्रीय परिवार कल्याण सर्वेक्षण के निष्कर्षों के अनुसार 13-49 वर्ष आयु समूह की विवाहित स्त्रियों में 90 प्रतिशत परिवार नियोजन के कुछ तरीके जानती थी, और 76 2 प्रतिशत वाच्छित गर्भ निरोध प्राप्त करने के स्रोतों के विषय में जानती थी, यद्यपि केवल 31 8 प्रतिशत ही वास्तव में उनका प्रयोग कर रही थी।

राव तथा इनबराज (Rao and Inbaraj) द्वारा तमिलनाडु के वेल्लोर नगर तथा आस-पास के गाँवों में परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण पर एक सर्वेक्षण किया गया था। कुल 2,426 व्यक्तियों का साक्षात्कार इस इरादे से किया गया कि वे समझते थे कि बच्चों की सख्या नियंत्रित करना दम्पत्ति के वश में था। लगभग 37 प्रतिशत ने पक्ष में और 41 प्रतिशत ने नकारात्मक उत्तर दिया (*The Journal of Family Welfare.* 2-22)। उन 899 व्यक्तियों में से जो इसको सम्भव मानते थे, 46 6 प्रतिशत इसको परिवार नियोजन विधियों से सम्भव मानते थे, 37.5 प्रतिशत स्व नियत्रण के द्वारा, जबकि 15 9 प्रतिशत ने कोई निश्चित तरीका नहीं बताया। जब उनसे पूछा गया कि क्या वे स्वय परिवार नियोजन के पक्ष में थे, 64 6 प्रतिशत ने 'हाँ' कहा और 25.4 प्रतिशत ने 'ना' कहा। परिवार नियोजन उपायों के विरुद्ध आक्रामक्ता (hostility) दिखाने के कारणों में थे · यह स्त्रियों के लिए हानि कारक थे, यह परिवार अर्थव्यवस्था के विरुद्ध जाते हैं, यह ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है : और ये अप्राकृतिक व्यवहार है। परन्तु क्योंकि प्रति 10 व्यक्तियों में से 7 परिवार नियोजन के पक्ष में थे, यह इस तथ्य को प्रकट करता है कि आजकल लोगों ने अपने

विश्वासों में तथा मूल्यों में कम परम्परागत होना शुरु कर दिया है।

राष्ट्रीय सामुदायिक विकास सस्थान द्वारा 16 राज्यों के 43 जिलो के 365 गावों के 7,224 उत्तरदाताओं पर किया गया अध्ययन दर्शाता है कि 51 6 प्रतिशत परिवार नियोजन के पक्ष में थे और 23 7 प्रतिशत परिवार प्रतिपक्ष में थे (Balakrishna and Narayan Murthy, *The Journal of Family Welfare)*

हमारे समाज के गरीब वर्ग में क्योंकि अशिक्षा व्याप्त है, अत यह देखा गया है कि निम्नतर में कम शिक्षित स्त्रियाँ परिवार नियोजन विधियाँ अपनाने में अधिक उत्साहहीन (reluctant) होती है। वे सोचती हैं कि क्योंकि उनके पास धन नही है अत उनके बच्चों की आय ही उनके जीवन आशा होती हैं। औसत भारतीय निर्धन दम्पत्ति दो या तीन से कम बच्चों से सन्तुष्ट नही होते। यह तथ्य समय समय पर किये गये अध्ययनों से उजागर होता है। लगभग एक दशक पूर्व एक बहुत बडे सर्वेक्षण से, जो कि 32,000 उत्तरदाताओं पर स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मत्रालय द्वारा प्रोयाजित कराया गया था, यह निष्कर्ष निकला कि अधिकतर दम्पत्ति न केवल दो या तीन बच्चे चाहते थे बल्कि वे यह भी चाहते थे कि उनमें से दो पुत्र हों (*The Hindustan Times*, November 5, 1987)।

सन् 1991 में 'जनसख्या के विषय में भारतीय युवा वर्ग का सामाजीकरण' पर एक सर्वेक्षण परिवार नियोजन फाउन्डेशन, दिल्ली द्वारा आपरेशन रिसर्च ग्रुप दिल्ली के सहयोग से किया गया था। इस सर्वेक्षण में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली के 22 जिलों के शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के 251 स्कूलों से चयनित 17, 185 लडके व लडकियों के दृष्टिकोण का अध्ययन किया गया। उत्तरदाताओं की एक बडी सख्या दो बच्चों वाले परिवार की पक्षधर थी। जब 90 प्रतिशत उत्तरदाता एक पुत्र और एक पुत्री को अच्छा मानते थे, वही 73 प्रतिशत उत्तरदाता बच्चों में लिंग को कोई महत्व नही देना चाहते थे। अधिकाश उत्तरदाता 22 वर्ष से कम की आयु विवाह के लिए सही आयु नही मानते थे। उनमें से काफी सख्या में उत्तरदाताओं को गर्भ निरोध विधियों का थोडा सा ही ज्ञान था। उनमें से अधिकाश ने यह ज्ञान टीवी देखकर प्राप्त किया था। (*The Hindustan Times*, March 15, 1992)।

1992 में राजस्थान में उदयपुर के जनसख्या अनुसन्धान केन्द्र द्वारा एक सर्वेक्षण किया गया था जिसमें 5,211 स्त्रियों का (1019 शहरी क्षेत्रों से, और 4192 ग्रामीण क्षेत्रों से) जो 13-39 वर्ष आयु समूह से 27 जिलों से थी, साक्षात्कार किया गया। सर्वेक्षण से पता लगा कि हाल ही में विवाहित स्त्रियों में से (5058) शहरी क्षेत्रों में 99 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में 84 प्रतिशत स्त्रियों का आधुनिक परिवार नियोजन की विधियों में से कम से कम एक का ज्ञान था (अर्थात बन्ध्यकरण, कण्डोम, गोली, IUD और इन्जैक्शन) जो कि मासिक धर्म बचाव व निकास जैसे परम्परागत तरीकों से भिन्न थे (वही . 82)। जहाँ तक उनके पतियों का सम्बन्ध है, 2,433 ग्रामीण पतियों में से 57 प्रतिशत परिवार नियोजन को स्वीकृति देते थे, 16.8 प्रतिशत अस्वीकार करते थे और 26 1 प्रतिशत अनिश्चित थे। शहरी पतियों में 74.9 प्रतिशत इसे स्वीकार करते थे, 9 4 प्रतिशत अस्वीकार, और 15.7 प्रतिशत अनिश्चित थे।

जिन स्त्रियों पर सर्वेक्षण किया गया उनमें से 27 7 प्रतिशत (बन्ध्यकरण पुरुषों की

स्त्रियों या पत्नियों) ने बन्ध्यकरण कराया था। 2035 (39%) स्त्रियों ने परिवार नियोजन के किसी भी तरीके के प्रयोग न करने के कारण (वही 103) बताए बच्चे चाहती थी (39 7%), बेटा या बेटी चाहती थी (22 9%), सह प्रभावों की चिन्ता (1 3%), ज्ञान का अभाव (3 7%), बन्ध्यकरण का डर (4 3 %), धर्म विरुद्ध (1 4%), परिवार नियोजन के विरुद्ध (0 8%), पति द्वारा विरोध (3 7%) या ससुराल वालों का विरोध (0 7%), स्वास्थ्य अनुमति नहीं देता (2%), असुविधा (0.4%), और मासिक धर्म में रुकावट (10 7%)।

साक्षात्कार की गई 3,027 स्त्रियों में से (2433 ग्रामीण और 594 शहरी) (उनको छोड़कर जो स्वयं या उनके पति बन्ध्या करवा चुके थे) 75 5 प्रतिशत परिवार नियोजन के पक्ष में थे, जबकि 23 4 प्रतिशत ने कोई विशेष रूझान नही दर्शाया (वही 110)। इनमें से 50.5 प्रतिशत हाल ही में विवाहित स्त्रियाँ किसी न किसी प्रकार की गर्भ निरोध विधि का प्रयोग कर रही थी (वही : 86)।

कार्यक्रम का मूल्याकन (Evaluation of the Programme)

मोटे तौर पर भारत में नौकरशाह यह तर्क देकर जनता को गुमराह कर रहे हैं कि क्योंकि हमारी अशोधित (crude) जन्म दर (CBR) 1960 में 42 प्रतिहजार से घटकर 1996 में प्रतिहजार 25 हो गई हैं, अत परिवार नियोजन बिल्कुल सफल रहा है। लेकिन यह दावा भ्रामक है। किसी विकासशील देश के लिए इतना ही काफी नही है कि इसका अशोधित जन्म दर घट गया है। महत्वपूर्ण है कमी (decline) की दर। थाइलैण्ड का सीबीआर 1960 में 44 प्रति हजार से घटकर 1996 में 17 प्रति हजार रह गया, जबकि भारत में इसी अवधि में सीबीआर 42 से 25 तक ही हुआ। थाइलैण्ड ने गर्भनिरोधक प्रचलन दर (Contraceptive Prevalence Rate, CPR) 75 प्रतिशत से अधिक प्राप्त कर ली है जबकि भारत में यह केवल 43 प्रतिशत ही है, और यहा पुन परिवार नियोजन के अधिकतर कार्यक्रम (हमारे सीपीआर 43% में से 30% ही) तीन या अधिक बच्चों के जन्म के बाद ही अपनाए जाते हैं। 13-49 वर्ष आयु समूह की केवल 6 प्रतिशत स्त्रियाँ ही किसी न किसी आधुनिक गर्भ निरोध विधि का प्रयोग करती हैं।

जनसंख्या नियत्रण 1951 में प्रारम्भ होने के समय से ही शत प्रतिशत केन्द्र प्रयोजित कार्यक्रम रहा है। जनसख्या नियत्रण पर व्यय वर्षों से बढता जा रहा है। प्रथम पचवर्षीय योजना अवधि (1951-56) में 14 लाख रुपये के बजट से यह बढकर आठवी पचवर्षीय योजना (1992-97) अवधि में 6500 करोड रुपया हो गया। प्रतिशत में यह नियत धनराशि कुल सार्वजनिक क्षेत्र में नियत राशि का केवल 1 5 प्रतिशत है। प्रश्न है जनसख्या नियत्रण केन्द्र सरकार का ही उत्तरदायित्व क्यों हो ? राज्य इस व्यय में भागीदारी क्यों न करें ? क्या जनसख्या वृद्धि पर नियत्रण से उन्हें लाभ न होगा ? फिर भी, राज्य सरकारें प्रारम्भिक शिक्षा, स्वास्थ्य केन्द्रों आदि जैसे कार्यक्रमों पर अधिक धन व्यय करती हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से जनसख्या वृद्धि रोकने में योगदान करती हैं। लेकिन राज्य सरकारें भी इन योजनाओं पर (स्वास्थ्य और शिक्षा की) किस प्रकार खर्च करती हैं ? एक उदाहरण इसको समझने में सहायक होगा। गाँव के एक उप स्वास्थ्य केन्द्र में पुरुष (MPW-M) और स्त्री (MPW-F or ANM) कार्यकर्ता होते हैं। एएनएम (ANMs) का वेतन परिवार कल्याण कार्यक्रम के

अन्तर्गत केन्द्र सरकार के अनुदान से वहन किये जाते हैं जबकि पुरुषकार्यकर्ताओं के वेतन स्वास्थ्य बजट में से राज्य सरकारें वहन करती हैं। परिणामत राज्य सरकारें स्त्री कार्यकर्ताओं के सभी पद भर देती हैं परन्तु पुरुष कार्यकर्ताओं के सभी पद रिक्त पडे रहते हैं क्योंकि बहाना यह होता है कि कम खर्च के उपायों के कारण ऐसा करना पडता है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश और असम में एक भी पुरुष कार्यकर्ता नही है, यद्यपि मानक (norms) के अनुसार उत्तर प्रदेश में 20,000 पुरुष स्वास्थ्य कार्यकर्ता तथा असम में 5000 पुरुष स्वास्थ्य कार्यकर्ता होने चाहिए। इन दोनों राज्यों में एएनएम (ANMs) का एक भी पद रिक्त नही है (*The Hindustan Times*, February 27, 1996)। जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और सी एच सी (CHCs) को राज्य बजट से चलाया जाना चाहिए लेकिन वास्तव में वे परिवार कल्याण केन्द्र कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्र सरकार द्वारा 500 करोड रुपये लगभग के अनुदान से चलाए जाते हैं। तब केन्द्र सरकार राज्य सरकार के साथ समान मूल्य हिस्सेदारी के आधार पर वित्तीय प्रतिबद्धता की सक्रिय भागीदारी से परिवार नियोजन कार्यक्रम को पुनर्जीविन एव पुनरुद्धार का कार्य क्यों नही करती ? यह समय है कि राज्य सरकारें अपना दृष्टिकोण 'जितना प्राप्त कर सकते हो करो' की अपेक्षा 'जितना कर सकते हो करो' का बनाए, यदि परिवार नियोजन के कार्यक्रम को एक सफल कार्यक्रम बनाना है।

भारत में परिवार नियोजन का कार्यक्रम शिथिल हो गया है। वास्तव में, यह कार्यक्रम पीछे की ओर जा रहा है। क्योंकि 1941 में 8 बच्चे प्रति मिनट तथा 1971 के 21 बच्चे प्रति मिनट की तुलना में आज (2000 में) हम 30 बच्चे पैदा कर रहे हैं। यह स्थिरता निश्चय ही 1952 से किए जा रहे प्रयत्नों को समाप्त करने के लिए बाध्यता है। यह जब सत्य है कि दम्पत्ति सुरक्षा प्रतिशत लगातार 1971 में 10 4 से 1998 में 43 96 तक ऊँची उठी है, फिर भी यह पूछा जाना चाहिए कि ये दम्पत्ति कौन हैं जिनको सरक्षण प्राप्त है ? ये वही दम्पत्ति हैं जिनके दो या तीन बच्चे हो चुके हैं और जिन्होंने दो बच्चों के परिवार के मानक को पहले से ही हानि पहुँचा रखी है।

जो प्रश्न पूछा जाता है वह है यदि देश में जन्म 11 6 बिन्दु तक कम होने में 28 वर्ष लगे (1970 में 36 8 से 1998 में 25 2) तब 2001 तक 21 प्रति हजार के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए 7 7 बिन्दु की गिरावट लाने में कितने वर्ष लगेंगे ?

स्वास्थ्य मत्रालय की अधिकारिक गणनाएँ बताती हैं कि उच्च प्रजनन स्तर वाले चार राज्यों—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान को बीडा उठाना है। इन चार राज्यों में ही देश की 40 प्रतिशत जनसख्या है। इन चार राज्यों में जन्म दर 1995 में राष्ट्रीय औसत 25 2 प्रति हजार से कही अधिक थी (उत्तर प्रदेश में जन्म दर 35 4, मध्य प्रदेश में 32.8, राजस्थान में 33 7 और बिहार में 32 5 थी (*Outlook*, August 21, 1996 . 56)। इन चार राज्यों में जब जनसख्या वृद्धि दर 33 8 प्रति हजार (1995 में) है, वही आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, और कर्नाटक दक्षिण भारत के चार राज्यों में यह दर केवल 13 6 है। आश्चर्य तो यह है कि इन चार राज्यों के लिए निर्धारित बन्ध्यकरण लक्ष्य उनके यहा की जनसख्या की अपेक्षाओं से कही कम हैं। जब तक ये चार राज्य अपना क्रियान्वयन स्तर नहीं सुधारेंगे तब तक जनसख्या रोकने की समस्या देश के लिए विकट बनी रहेगी।

विभिन्न अध्ययनों से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक

स्वास्थ्य केन्द्रों की सेवाओं का लाभ पूर्णरूपेण नही उठाया जा रहा है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे राज्यों में जहां यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट है, इनका उपयोग केवल 15 प्रतिशत तक ही है। असख्य अध्ययनों ने यह सकेत किया है कि गाँवों मे केवल मीडिया ही है जो लोगों के प्रश्नों का तुरन्त उत्तर दे देता है और परिवार नियोजन में सहायक हो सकता है। ब्लॉक विस्तार एव स्वास्थ्य सहायकों को ही यह भूमिका दी गई है लेकिन अर्न्तवैयक्तिक सवाद बहुत महत्त्वपूर्ण होता है।

परिवार नियोजन प्रचार का क्या तरीका व क्या उद्देश्य होने चाहिए ? एक महत्वपूर्ण सुझाव है कि हमारे नारे होने चाहिए 'तीसरा बच्चा कभी नही, 35 वर्ष की आयु के बाद कोई बच्चा नहीं'। यह दो विकल्प हैं जो कि पूर्णरूपेण दम्पत्ति के नियत्रण में है। जीवन स्तर सुधार, अच्छी शिक्षा प्रदान करना, दो बच्चो के स्वास्थ्य की गारन्टी और स्त्रियों/माताओं के स्वास्थ्य के लिए अच्छी सेवाएं उपलब्ध कराने के साथ जुडा हुआ इस प्रकार का प्रचार दम्पत्तियों की ऐसी मानसिकता बना देगा जिससे वे स्वय इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उत्सुक होंगे। धन का प्रलोभन एक अच्छा प्रोत्साहन कारक नही हो सकता। धन प्रेरक के लिए प्रोत्साहन हो सकता है ताकि वे अभियान के दौरान दम्पत्तियों को प्रेरित कर सकें लेकिन उस व्यक्ति के लिए नही जो बन्ध्याकरण कराने जा रहा है।

कुछ विद्वान आगे आने वाले समय में जनसख्या विस्फोट रोकने के लिए आशावादी रेखाचित्र (blue-print) प्रस्तुत करते हैं। एक बिन्दु यह रखा जाता है कि हमारे देश में ऐसे अनेक ससाधन है जिनका दोहन नही हुआ है। यदि उनका सही विकास किया जाये तो वर्तमान जनसंख्या की तीन गुणा अधिक जनसख्या का जीवन चलाया जा सकता है। दूसरा बिन्दु यह है कि औद्योगिक विकास, आर्थिक विकास और निर्यात में वृद्धि से गरीबी, बेरोजगारी और बढ़ती जनसंख्या से निपटा जा सकता है। ये दोनों ही विचार थोथे और तर्कहीन हैं। किसी भी देश के लिए वे साधन और सेवाए जो उपलब्ध हैं, न कि जो सम्भावित हैं वे ही लाभदायिक हैं क्योंकि वे जनसख्या की आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंगे। जब वर्तमान में केन्द्र तथा राज्यों में राजनैतिक अस्थिरता हो, जब राजनैतिक दल सामुदायिक विकास की अपेक्षा सत्ता हथियाने और उसे बनाए रखने की होड में हों, जब जातिवाद, क्षेत्रवाद, ग्राम्यवाद, भाषावाद बढ रहा हो, तब इन सबके चलते हम अपने सत्ता में अभिजात वर्ग से यह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वे विकास और आधुनिकीकरण और/या उन ससाधनों का दोहन करें जिनका अभी तक दोहन नही हो सका है।

स्वामीनाथन समिति (Swaminathan Committee)

स्वामीनाथन समिति द्वारा प्रस्तुत नीति पत्रक में नीति के क्रियान्वयन के लिए कुछ सरचनात्मक परिवर्तन तथा स्वास्थ्य के लिए समष्टिगत (holistic) दृष्टिकोण बताया गया है। इस समिति द्वारा सुझाए गए कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय इस प्रकार हैं (1) 2010 तक 2 1 की कुल जननशक्ति दर के लक्ष्य को प्राप्त करके जनसख्या स्थिर करना। (2) तीव्र और न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम लागू करना। (3) पचायतों, नगरपालिकाओं और राज्यों की विधायिकाओं के माध्यम से वर्तमान ऊर्ध्वाकार (vertically) सरचित परिवार कल्याण कार्यक्रम के स्थान पर विकेन्द्रीकृत, लोकतात्रिक नियोजन लागू करना। (4) जननशक्ति दर के राष्ट्रीय औसत उपलब्धि

के लक्ष्य को छोडकर केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा विशेष गर्भ निरोध विधियों के प्रयोग के लिए लक्ष्य निश्चित करने का विचार त्यागना। (5) गर्भ निरोध विधि प्रयोगकर्ताओं और उनके प्रेरकों को नकद या वस्तु के रूप में दिया जाने वाला प्रोत्साहन समाप्त कर दिया जाये। इसके बजाय सरकार और अन्तर्राष्ट्रीय दानदाता एजेन्सियों से उपलब्ध होने वाली धन राशि से जनसख्या एव सामाजिक विकास कोष स्थापित किया जाये। यह कोष गाँव, कस्बे, जिला, और राज्य स्तर के सामाजिक जनांकिकी आवश्यकताओं के उपभोग में फासले को दूर करने के काम में लगाया जाये। (6) देश की जनसख्या नीति को नियोजित, क्रियान्वित तथा सचालित करने के लिए एक राज्य जनसख्या एव सामाजिक विकास आयोग की नियुक्ति करना। पीएसडी सी (PSDC) की उप-समितियाँ भी राज्य, जनपद तथा पचायत स्तर पर बनाई जायें जिनमे विभिन्न राजनैतिक दलों, व्यवसायों में से जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि हों तथा गैर सरकारी सगठनों, महिलाओ तथा युवा सगठनों के प्रतिनिधि भी शामिल हों। (7) इस समय परिवार नियोजन केवल स्त्रियों की जिम्मेदारी बन कर रह गया है, स्पष्ट रूप से आवश्यकता इस बात की है कि परिवार सीमित करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी को स्त्रियों पर रखने की प्रवृत्ति को रोका जाये।

राष्ट्रीय जनसख्या नीति के एक आवश्यक भाग को जनसख्या कल्याण के क्षेत्र में बनाने के लिए समिति द्वारा बनाए गए कुछ सामाजिक-आर्थिक तथा चिकित्सा सम्बन्धी उद्देश्य इस प्रकार थे (1) लडकियों के विवाह के लिए 18 वर्ष से कम आयु की सख्या को शून्य करना, (2) प्रशिक्षित कर्मियों द्वारा कराये जाने वाले प्रसवों (deliveries) के प्रतिशत को बढाकर 100 प्रतिशत किया जाना, (3) जच्चा-बच्चा मृत्यु दर को घटाना, (4) क्षय रोग, पोलियो, डिप्थीरिया, काली खाँसी, टिटनेस, और खसरा के विरुद्ध बच्चों का सार्वजनिक मुक्तिकरण (immunisation), (5) सभी के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल का प्रावधान, (6) जन्म सीमित करने की विधियों पर व्यक्तियों को सूचना ताकि उन्हें अपने परिवार को नियोजित करने में पूर्ण इच्छा से नियोजन करने का अवसर मिले, (7) सार्वभौमिक आधार पर अच्छी गुणवत्ता वाली गर्भ निरोध सेवाए उपलब्ध कराया जाना, (8) प्राथमिक शिक्षा का सार्व भौमीकरण।

अनेक विद्वानों ने इस समिति की सिफारिशो की आलोचना की है और सुझाव दिया है कि उन्हें बिल्कुल अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। उनके प्रमुख तर्क हैं (1) रिपोर्ट में गहन विश्लेषण, औचित्य और तीव्रता का अभाव है। सुझाया गया दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से प्रबन्धात्मक (managerial) है और सुझाए गए कदम पूर्व के असफल इन सूत्रों की पुनरावृत्ति मात्र हैं, कि 'विकास सबसे अच्छा गर्भ निरोध हैं।' (2) न्यूनतम आवश्यकताओं और जनसख्या नियत्रण का कोई सम्बन्ध नही है। वे सभी लक्ष्य जो तमाम राजनैतिक वायदों के साथ विभिन्न आम चुनावों और पचवर्षीय योजनाओं के बावजूद गत दशकों में प्राप्त न किए जा सके, 2010 तक तथा आगे भी किस प्रकार पूर्ण हो सकेंगे जबकि हमारी जनसख्या ने (अक्टूबर 2000 मे) 100 करोड का चिन्ह पहले ही पार कर लिया है जिसमें से लगभग 37 करोड लोग अभी भी गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीने के लिए मजबूर हैं ? (3) राजनीति से प्रेरित जनसख्या आयोग अप्रभावी रहेगा। (4) समिति ने उन लोगों के लिए कोई हतोत्साहन नही रखा जिन्होने परिवार नियोजन प्रतिमानों का उल्लघन किया। करुणाकरण

समिति ने हतोत्साहनों को शुरु करने का प्रस्ताव रखा है—भले ही प्रचलित न हो—ताकि परिवार नियोजन कार्यक्रम अधिक प्रभावी तथा तेज गति से कार्य करे। ऐसा एक कार्यक्रम राजस्थान सरकार द्वारा चलाया गया था जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति जिसके तीन बच्चों से अधिक बच्चे हों चुनाव नही लड सकता। परन्तु यह कार्यक्रम केवल कागजों में ही है। इसको अभी भी व्यवहार में लाया जाना है। महाराष्ट्र ने भी जुलाई 2000 में इसी प्रकार का कार्यक्रम सुझाया है। (5) रिपोर्ट यह नही स्पष्ट करती कि हम तेज गति बढने वाली जनसख्या को क्यों रोक नही सके, यद्यपि 1951 से ही अबोध रूप से भारत में जनसख्या कार्यक्रम चल रहे हैं। क्या यह असफलता प्रशासनिक व्यवस्था में कमी के कारण हुई या गलत नीतियों के कारण या दोषपूर्ण क्रियान्वयन के कारण ? यह मौलिक प्रश्न है जिसकी रिपोर्ट में उपेक्षा की गई है। इस विश्लेषण के बिना रिपोर्ट में प्रस्तुत सरचनात्मक परिवर्तन अप्रासागिक हो सकते हैं (6) भारत में जनसंख्या नियन्त्रण करने की राह में सबसे बडी बाधा है राजनैतिक उदासीनता, लेकिन समिति ने इस पक्ष को कोई महत्व नही दिया। राजनैतिक नेताओं के कानूनी उपायों को लागू करने में साहसी होना है जो विषय की तीव्रता और आवश्यकता को उद्घाटित कर सकें। उन लोगों के लिए कुछ हतोत्साहन (disincentives) जो दो बच्चों के परिवार के प्रतिमान को नही मानते, इस प्रकार हो सकते हैं · प्रोन्नति न देना, किसी चुनाव वाले पद के लिए अयोग्य मानना, आरक्षण लाभ न देना, बैंक ऋण मना करना, आदि। इनको कानूनी तौर पर लागू किया जा सकता है।

जनसख्या विस्फोट नियंत्रण के लिए सुझाए गए उपाय
(Measures Suggested to Control Population Explosion)

हमारे देश में लगातार विस्फोटक स्थिति की जनसख्या के लिए आत्म मथन की आवश्यकता है। सरकार को समस्या के विस्तार का आभास है और सरकार सोचती है कि राष्ट्र और सरकार के सामने यह सबसे बडी चुनौती है। लेकिन परिवार नियोजन के क्षेत्र में निश्चित किए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए गम्भीर कदम उठाने में 1976-77 के सरकार के अनुभव ने आगे आने वाली सभी सरकारों को अति सतर्क बना दिया। फिर भी, अभी भी कार्य करने के लिए समय है। जनसख्या वृद्धि रोकने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रमों को करने के सुझाव दिये जा सकते हैं :

प्रोत्साहन बनाम हतोत्साहन (Incentives v / s disincentives)

दो बच्चों के परिवार प्रतिमान को अपनाने के लिये दम्पत्तियों को कुछ प्रोत्साहन देने की जरुरत के अन्तर्गत पहचाने गए प्रोत्साहन हैं : नकद पुरस्कार/प्रोन्नति/वेतन वृद्धि और विशेष भत्ते, सेवा निवृत्ति की आयु में वृद्धि, दो बच्चों के लिए शिक्षा भत्ता, आवास ऋण के लिए वरीयता व्यवहार, यातायात के साधनों की खरीद, तथा दो बच्चों तक चिकित्सा व्यय की प्रतिपूर्ति (re-imbursement) एव मुफ्त चिकित्सा। दो बच्चों के परिवार प्रतिमान का उल्लघन करने वालों को उकृत प्रोत्साहन न देना हतोत्साहन होगा। जनसख्या नीति के सम्बन्ध में कुछ विचारकों द्वारा एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है—सहयोग बनाम दबाव,

या प्रोत्साहन बनाम हतोत्साहन, या केरल प्रतिरूप (model) बनाम चीनी प्रतिरूप ? कुछ विचारक सहयोग के समर्थक हैं तो कुछ अन्य दबाव के। एक भारतीय प्रोफेसर (अमर्त्य सेन, नोबेले पुरस्कार से पुरस्कृत, अब अमरीका के निवासी) ने अगस्त 1995 में दिल्ली में सम्पन्न हुए प्रतिष्ठित जे.आर.डी टाटा मैमोरियल भाषण श्रखला में 'जनसख्या स्थिरीकरण कार्यक्रम' विषय पर बोलते हुए 'सहयोग' के दृष्टिकोण का पक्ष लिया और कन्डोरसेट (फ्रास के) तथा माल्थस (ब्रिटेन के) के दो प्रसिद्ध सिद्धान्तों में दबाव के प्रयोग की भर्त्सना की। उन्होंने कन्डोरसेट (condorset) के उस दृष्टिकोण को स्वीकारा जिसमें जनसख्या की समस्या का 'विवेक की प्रगति' पर आधारित छोटे आकार के परिवार के प्रतिमान के उदय की बात कही गई है। कन्डोरसेट का विश्वास था कि स्त्री शिक्षा लोगों को स्वेच्छा से छोटे परिवार पर विचार करने में प्रेरित करेगी और उत्पादकता दर में भी कमी लाएगी। परन्तु माल्थस ने 'परिवार नियोजन के स्वेच्छा से स्वीकार' के विचार पर सन्देह जताया है। उसके विचार से कुछ सकारात्मक प्रतिबन्ध (positive checks) जैसे आर्थिक दारिद्रय (penury) अथवा मृत्यु दर में वृद्धि लोगों को जनसख्या वृद्धि दर में कमी करने के लिए बाध्य (coerce) करेंगे। सेन ने कन्डोरसेट के 'सहयोग' (cooperation) के रास्ते को ही निसन्देह सही माना और माल्थस के 'दबाव' (coercion) के रास्ते को अवाच्छनीय और जनसंख्या रोकने में प्रतिकूल प्रभाव वाला बताया। उसने अपने दृष्टिकोण के समर्थन में केरल का उदाहरण दिया (यही विचार उसकी पुस्तक "इण्डिया इकोनोमिक डेवलपमेण्ट एण्ड सोशल अपोर्चुनिटी" में भी दिया गया है) और 'जनसख्यात्मक परिवर्तन की केरल परिकल्पना' नामक परिकल्पना का विकास किया। इस परिकल्पना में उन्होंने साक्षरता में वृद्धि और अच्छी प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल जनसख्या वृद्धि नियत्रण के दो महत्वपूर्ण कारक बताए हैं। लेकिन अपनी परिकल्पना का समर्थन करते समय ऐसा मालूम पडता है कि सेन ने केरल के सम्बन्ध में कुछ आँकडों की उपेक्षा की है। 1941-1971 के बीच केरल में साक्षरता की दर में वृद्धि हुई थी, फिर भी जनसख्या वृद्धि दर (population growth rate) (PGR) भी इस अवधि में बढी (2 08% से 2 3% प्रतिवर्ष)। केवल 1971-81 और 1981-91 के दशकों में ही राज्य की पी.जी.आर में कमी पजीकृत की गयी। इसलिए केरल परिकल्पना को वैध कैसे माना जा सकता है ? केरल परिकल्पना में एक कमी और है, वह यह है कि 1991 जनगणना रिपोर्ट के अनुसार केरल की कुल साक्षरता दर 89 81 प्रतिशत और स्त्री साक्षरता 86 13 प्रतिशत थी (*Manpower Profile, India*, op cit 42) फिर इस 'लगभग कुल साक्षरता' के बावजूद मुसलमानों की जनसख्या (जो केरल की कुल जनसख्या के एक चौथाई भाग है) वृद्धि दर 2 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष है जो कि 2 11 प्रतिशत के राष्ट्रीय पी.जी आर से भी कही अधिक है और स्वय केरल के हिन्दुओं के पी.जी. आर से दो गुनी है। इस प्रकार के तथ्यों की उपेक्षा *परिकल्पना को अमान्य ही बनाती है* ।

केरल मॉडल के विपरीत जनसख्या नियत्रण के लिए चीन का मॉडल है जो दबाव में विश्वास रखता है। हमारे देश की जनसख्या की भयावह स्थिति को देखकर विचारकों ने इस दबाव के मॉडल को जनसख्या समस्या का एक मात्र हल मानते हुए इसका समर्थन किया है। ये विचारक यह सकेत भी देते हैं कि स्वार्थ भरे राजनैतिक हित देश को नुकसान पहुचाने के

लिए विविध वोट बैंकों के जनसख्या वृद्धि दर को प्रोत्साहित कर रहे हैं। कुछ विचारक भारत की जनसख्या वृद्धि को रोकने के लिए 'सहयोग' और 'दबाव' के तथा 'प्रोत्साहन' और 'हतोत्साहन' के समन्वय की बात करते है, लेकिन 'हतोत्साहन' की प्रकृति की पहचान अभी तक नहीं की गई है। क्या दो बच्चों से अधिक परिवार वाले लोगों को आरक्षण के लाभ से वचित रखना हतोत्साहन होगा ? क्या प्रवेश, प्रोन्नति, वोट देने के अधिकार या चुनाव लड़ने के अधिकार से वचित करना 'हतोत्साहन' होगा ? क्या इस प्रकार के निषेध मौलिक अधिकारों का हनन नही होगा ? भारत में विद्यमान सामाजिक-राजनैतिक स्थिति में हतोत्साहनों के क्रियान्वयन के लिए रूप रेखा बनाना, विशेष रूप से, जब केन्द्र में साझा सरकार बनाने के लिए 'सामाजिक न्याय और आरक्षण मुद्दे' पर तेरह से बीस राजनैतिक दल गठबन्धन बनाएं, सरल नही होगा।

खण्डो (जोन) और क्षेत्रो में विभाजन (*Division into Zones and Regions*)

बड़ौदा में ऑपरेशन रिसर्च ग्रुप के दो जनसख्या विशेषज्ञों द्वारा फरवरी 1990 में किये गए अध्ययन दर्शाते हैं कि समस्या को किस प्रकार हल किया जाये। उत्पादकता सरूप (pattern) के आधार पर उन्होंने देश के 350 जिलों (district) को 16 खण्डों (जोन्स) तथा 4 क्षेत्रों में विभाजित किया। उन्होंने उन जोन और क्षेत्रों की पहचान की है जो उर्वरता दर पर परिवार नियोजन के सकारात्मक प्रभाव दर्शाते हैं, वे क्षेत्र जहा उत्पादकता दर किसी भी प्रकार के परिवार नियोजन के प्रयत्न के बावजूद भी कम रही है, और वे क्षेत्र जो कठोर (hard) क्षेत्र है जहा अधिकतम प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है। 1990 के सर्वेक्षण से सकेत मिलता है कि उच्च उर्वरता (fertility) के क्षेत्र हैं —उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, मध्य प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश और राजस्थान। इनमें (1990 में जन्म दर 34% और 37 7% के बीच तथा 1995 में 32% और 35% के बीच थी) यह क्षेत्रवार दृष्टिकोण परिवार नियोजन कार्यक्रम के क्रियान्वयन में कमियों को ठीक करने में सहायक सिद्ध होने की अपेक्षा रखता है।

नये गर्भ निरोध विधियो की खोज (*Searching for New Contraceptives*)

अभी तक नये, कम खर्चीले, प्रयोग में सरल, और हानिरहित गर्भ निरोध विधियों की खोज में नाटकीय सफलता नहीं प्राप्त हुई है। यद्यपि गर्भ निरोध गोलिया बड़ी मात्रा में स्वीकार की गई हैं और यह विधि हरियाणा, मध्यप्रदेश, पंजाब, पश्चिम बगाल, गुजरात और उडीसा में प्रचलित हो रही है, परन्तु यह भी आवश्यक है कि भारतीय जडी बूटियों का भी उनके औषधीय प्रभाव के लिए पूर्णरूपेण अनुसन्धान किया जाये। अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह के कुछ आदिवासियों की आहार आदतों और स्वास्थ्य स्तर के गहन छानबीन करते हुए, जिनमें कुछ में उत्पादकता दर अत्यन्त कम देखी गई है, पाया गया कि यह आवश्यक समाधान प्रदान कर सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक और फार्मास्युटिकल कम्पनियां गर्भनिरोध प्रौद्योगिकी में नवीन आविष्कार व परिणाम प्रस्तुत करने में रुचि नही रखते है। हम अभी भी कण्डोम और शल्यक्रिया प्रविधि पर निर्भर हैं जबकि हमें आवश्यकता है ऐसी अनाक्रामक प्रविधि तथा गर्भ विरोधी टीके या गोली की जो शारीरिक स्वास्थ्य के

लिए हानिकारक भी न हो और मनोवैज्ञानिक रूप से भी हानिकारक न हो।

विवाह आयु मे वृद्धि (Raising Marriage Age)

परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण और परिवार के आकार और विवाह के समय आयु में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। केरल में एक अध्ययन ने यह दर्शाया कि 1970 के दशक के मध्य में विवाह के समय आयु में वृद्धि देखी गई। 1969 में 15 से 19 वर्ष आयु समूह में विवाहित स्त्रियों की सख्या 30 प्रतिशत थी जबकि 1974 में घटकर 14 प्रतिशत हो गई। 20-24 वर्ष आयु समूह में यह कमी 1969 में 74 प्रतिशत से 1974 में 56 प्रतिशत रह गई (*India Today*, March 1-15, 1980)। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह केरल में जन्म दर में नाटकीय गिरावट के लिए महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार विवाह आयु को बढाने से अन्य राज्यों में भी परिवार के आकार में कमी होगी। इसके लिए जनजागरण के लिए तथा अन्तर्मन से प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

स्त्रियो को शिक्षित करना (Educating Females)

उत्पादकता दर को कम करने में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण कारक है। इसका प्रभाव प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और सयुक्त होता है। प्रत्यक्ष प्रभाव छोटे परिवार के प्रति दृष्टिकोण और विश्वास परिवर्तन में दिखाई देता है। अप्रत्यक्ष प्रभाव (शिक्षा के) निम्नलिखित अर्थ में होते हैं · (i) विवाह करने में देर कराता है, (ii) परिवार नियोजन से सम्बद्ध सूचनाओं को प्राप्त करना सुविधाजनक बनाता है, (iii) परिवार नियोजन प्रचार को और भी विस्तृत करता है, (iv) यह ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता के लिए आकाक्षा पैदा करता है (v) यह स्त्रियों को रोजगार सम्भावनाए प्रदान करता है, (vi) यह बच्चों के विषय में आर्थिक उपयोगिता की धारणा को कम करता है, (vii) यह पति पत्नि को जन्म नियत्रण उपाय अपनाने के लिए बाध्य करता है (viii) यह शिशु मृत्यु कम करता है, और (ix) यह तर्कशीलता को बढाता है। शिक्षा के सयुक्त प्रभाव हैं—औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण। आधुनिकीकरण शिक्षा के साथ मिलकर उत्पादकता को प्रभावित करता है।

जे.सी पन्त (Indian Journal of Public Administration, July-Sept, 1992, 333-340) ने परिवार में बच्चों की सख्या और शिक्षा के स्तर के बीच सम्बन्धों का विश्लेषण करने के लिए अप्रैल 1985 से जून 1986 तक पजाब के 486 ग्रामीण और शहरी परिवारों का अध्ययन किया। उसने देखा कि अशिक्षित स्त्रियों के मामले में ग्रामीण शहरी, और कुल प्रतिदर्श बच्चों की औसत सख्या क्रमश 3.61, 3.30 और 3.52 थी, कक्षा एक से 8 तक शिक्षित स्त्रियों के मामले में क्रमश 2.27, 3.30 और 2.50 थी, कक्षा 9 से 11 तक शिक्षित स्त्रियों के मामले में क्रमश 2.42, 2.48, और 2.45 थी, मैट्रिक से इण्टरमीडिएट तक शिक्षित स्त्रियों के लिए क्रमश 1.87, 1.53 और 1.63, तथा स्नातक स्त्रियों के लिए यह औसत सख्या क्रमश 1.57, 1.62 और 1.60 थी (वही · 338)। यह दर्शाता है कि उत्पादकता शिक्षा के स्तर से विपरीत दिशा में सम्बद्ध है और स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्त्रिया छोटे परिवार प्रतिमानों को अपनाती हैं।

आर्थिक विकास (Economic Development)

आर्थिक विकास सर्वोत्तम गर्भ निरोधक सिद्ध हो सकता है। हमें माँग और पूर्ति मात्र आर्थिक सिद्धान्त को किसी भी कीमत पर शीघ्र जनसख्या नियत्रण के लिए अपनाना है। किसी भी आर्थिक समीकरण को सन्तुलित करने के लिए या तो हम पूर्ति बढा सकते हैं जो वित्तीय और भौतिक ससाधनों दोनों पर निर्भर करती है, या माँग को कम कर सकते हैं जो विभिन्न सेवाओं तथा वस्तुओं को माँगने वाले लोगों की सख्या पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, केवल आवास में ही पूर्ति के दृष्टिकोण यह मानते हुए कि एक छोटा सा मकान बनाने के लिए 10,000 रुपये की आवश्यकता होगी तो देश में प्रतिवर्ष बढने वाली 1.5 करोड जनसख्या के लिए 30 लाख मकान बनाने के लिए 3,000 करोड़ रुपये की वार्षिक लागत आवश्यक होगी। लेकिन यदि हम इसी समस्या को माँग के आधार पर लें और प्रभाव जनसख्या नियत्रण रणनीति के माध्यम से 1.5 करोड जनसख्या की वृद्धि को कम कर लें तो 30 लाख मकानों की माँग या मकान बनाने के लिए आवश्यक 3,000 करोड रुपये की माँग भी कम हो जायेगी। इस प्रकार माँग से बचाव उतना ही अच्छा है जितना पूर्ति के लिए कार्य करना। यही किसी कीमत के बिना माँग और पूर्ति का सन्तुलन करना है और ऐसे ही बिना मूल्य के समाधान की हमें तलाश है। आवास के विषय में जो बात लागू होती है वही शिक्षा, नौकरी, यातायात और स्वास्थ्य क्षेत्र में भी ठीक है। प्रत्येक समस्या को माँग के आधार पर समाधान का प्रयत्न अत्यन्त खर्चीला पड़ेगा।

इस दृष्टिकोण का एक और महत्त्वपूर्ण आयाम है। यदि हम समस्या को पूर्ति के आधार पर समाधान का प्रयत्न करें तो अन्य क्षेत्रों में भी माँग स्वय बढ जायेगी। उदाहरणार्थ, यदि हम मकानों की सख्या बढा दें तो सीमेन्ट, ईंट, लकडी के सामान तथा बिजली की चीजों के मूल्य बढ जायेंगे। लेकिन यदि इस समस्या को माँग के आधार पर लें और आवश्यक मकानों की सख्या घटा दें तो सभी क्षेत्रों पर दबाव स्वय कम हो जायेगा। प्रति मिनट 30 जन्म या प्रति वर्ष 1.5 करोड जन्म की दर से शिक्षा, यातायात, और कल्याण जैसे क्षेत्रों में धन और वस्तुओं की माग इतनी बढ जायेगी कि दस वर्ष की अवधि में स्थिति ऐसे बिन्दु पर पहुच जायेगी जहा से लौटना सम्भव न होगा और देश तथा अर्थव्यवस्था को अपार क्षति होगी।

सन् 1994 में 5 से 13 सितम्बर तक काहिरा में जनसख्या और विकास पर हुई तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का घोषित मुख्य उद्देश्य जनसख्या प्रकरणों, आर्थिक विकास और स्थिर विकास के बीच की कडी था। परन्तु दस में से छ दिनों तक कान्फ्रेन्स 'गर्भपात जनसख्या नियत्रण के उपाय के रूप में', की वैधता और प्रभाविता के प्रश्न पर विवाद के दलदल में फँसी रही। गरीबी निवारण, अशिक्षा, रोजगार, ग्रामीण उत्थान, या तीसरी दुनिया में निर्यात की मुक्त बाजार पहुच जैसे मुद्दों पर न कोई चर्चा, न वाद विवाद ही हुआ। 1974 और 1984 में जनसख्या पर प्रथम दो अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों में यह तर्क दिया गया कि बडे परिवार गरीबी के कारण की अपेक्षा इसके परिणाम होते हैं। इसलिए गरीबी उन्मूलन पर बल दिया गया। गरीबी हटाकर बडे परिवार की आवश्यकता को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु तीसरी कान्फ्रेन्स में इस मुद्दे को अधिक महत्व नही दिया गया। विकसित देशों का यह अनुभव रहा

है कि उच्च परिवार आय और सुधरी सेवाओं का अर्थ है कि बच्चे कम जन्मे। अत, उनका सुझाव है कि तीसरी दुनिया को भी इसी रास्ते पर चलना चाहिए। बिरैण्ड (Brand) रिपोर्ट ने भी विस्तृत परिवार नियोजन कार्यक्रम की प्रशसा करते हुए कहा कि परिवार नियोजन कार्यक्रम तभी प्रभावी होते हैं जब वे आर्थिक व सामाजिक प्रगति के साथ चलाए जायें। इस प्रकार यह माना गया कि केवल विकास ही देश की जनसख्या को स्थिर करने में सुचारु वातावरण प्रदान करेगा।

जहा जनसख्या और विकास के बीच सम्बन्ध को ठीक से समझा गया है, वही 'विकास' की प्रकृति कुछ वाद विवाद का प्रश्न रहा है। तीसरी दुनिया के प्रमुख विश्लेषक (analysts) जो यह मानते हैं कि 'विकास' (उच्च प्रौद्योगिकी, बड़े पैमाने पर उत्पादन और प्रेरित उपभोक्तावाद के द्वारा), जैसा कि समृद्ध (affluent) राष्ट्रों द्वारा परिभाषित किया जाता है और तीसरी दुनिया को समझाया जाता है, जनसख्या की समस्या को और भी गम्भीर बना रहा है। यह विचार जो बात स्पष्ट करता है वह यह है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी (technology) उद्योग में एक ऐसे लाभ प्रेरित अभिजात वर्ग (profit-motivated elite) को जन्म देता है जो केवल अपने ही हितों को महत्व देता है तथा श्रमिक वर्ग के कष्टों और गरीबी के प्रति उदासीन रहता है। परिणाम यह है कि एक ऐसा आर्थिक व जनांकिकी परिदृश्य (scenario) पैदा होता है जो कि शिखर विस्फोटक (बढते धन के कारण) और तल की (बढती गरीबी के कारण) दोनों पर विस्फोटक होता जा रहा है। इस प्रकार मान्यता यह है कि जनसख्या समस्या को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नही देखा जाना चाहिए। वह विकास जो वितरण तथा समानता के लक्ष्य को लेकर चलता है, गरीबी का उन्मूलन कर सकता है और जनसख्या वृद्धि पर रोक लगा सकता है।

गैर सरकारी सस्थाओ की भूमिका (Role of NGOs)

किसी भी कार्यक्रम की सफलता लोगों द्वारा इसकी स्वीकृति पर निर्भर करती है। जब तक समस्त समुदाय कार्यक्रम में सम्मिलित नही होगा और इसे अपना कार्यक्रम नही समझेगा तब तक वांछित परिणाम कठिन होंगे। गैर सरकारी सगठनों के माध्यम से यह सम्भव हो सकता है क्योंकि जन साधारण के साथ इनके घनिष्ट सम्बन्ध होते हैं। बडे परिवार और अधिक लडके होने के पक्षधर विश्वासों को समाप्त करने, महिला साक्षरता में सुधार करने में, लडकियों की विवाह आयु में वृद्धि करने में, नवजात शिशु की आवश्यक देखभाल करने में, बच्चों को जन्म में फासला बनाने में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ऐसे सगठनों के पास न केवल दूरस्थ स्थानों तक पहुचने की क्षमता होती है बल्कि उनके क्रियाकलाप मूल्य-प्रभावी भी होते हैं। परिवार कल्याण विभाग ने गत पाँच छ वर्षों से परिवार कल्याण कार्यक्रम में गैर सरकारी सगठनों की बेहतर भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए कई योजनाए चलायी हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं · (1) जनसख्या नियत्रण और छोटे परिवार प्रतिमान को प्रोत्साहित करने के लिए योजना के मूल्य का 90 प्रतिशत तक सगठनों की सहायता करना। (2) इन योजनाओं को चलाने के लिए स्वैच्छिक संगठनों को आगे आने के आग्रह करने के लिए सरकार द्वारा विस्तृत प्रचार करना (3) इन सगठनों की भागीदारी बढाने हेतु गत चार पाच वर्षों में क्षेत्रीय कान्फ्रेन्स कराना। (देहली, मुम्बई, कलकत्ता, चेन्नई और लखनऊ में)

छ बड़े सगठनों को उनके क्षेत्रों में छोटे सगठनों की पहचान करने तथा उनकी योजनाओं की स्वीकृति पर अनुदान देने के लिए उनकी योजनाओं की स्वीकृति पर अनुदान देने के लिए 'मदर यूनिट्स' के रूप में मान्यता देना। (5) परिवार कल्याण सचिव की अध्यक्षता में 'स्वैच्छिक कार्यों पर राज्य स्थाई समितियाँ' (State Standing Committees) की स्थापना करना जिनको प्रति योजना दस लाख रुपये तक मजूरी का अधिकार है। (6) स्वास्थ्य कर्मियों को प्रशिक्षण देने हेतु गैर सरकारी सगठन के क्षेत्र में एक संस्था की पहचान करने के लिए राज्यों से कहना। (7) कम सामुदायिक भागीदारी वाले राज्यों में से अच्छा कार्य करने वाले राज्यों में जाने के लिए संगठनों के लिए अध्ययन यात्रा का प्रबन्ध करना।

गैर सरकारी संगठन निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं (1) सलाह और सेवाए सालता से उपलब्ध कराना, विशेष रूप से अल्प-सेवित (under-served) क्षेत्रों में; (2) अस्पतालों और स्वास्थ्य गाइडों के साथ समन्वय करना; (3) कार्यकर्ताओं (functionaries) को प्रशिक्षित करना, विशेष रूप से निम्न स्तरीय कार्यकर्ताओं को; (4) गर्भ निरोधक विधियों की लगातार पूर्ति में सहायक होना, (5) स्वीकारकर्ता (acceptors) को अनुसरण सेवाए (follow-up-services) प्रदान करना; और (6) शैक्षिक क्रियाकलापों को अधिक प्रभावी बनाने में योगदान करना।

परिवार नियोजन कार्यक्रमों में गैर सरकारी सगठनों के प्रभावी सिद्ध न होने के निम्न कारण हैं : (1) कई सगठन सरकारी सहायता अनुदान योजनाओं से अनभिज्ञ हैं। (2) अनुदान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना पत्र प्रक्रिया बड़ी लम्बी और पेचीदा है। (3) छोटे कस्बों में काम करने वाले सगठन अनुदान ऐजेन्सियों तक कम पहुँच पाते हैं। (4) सगठनों के प्रति सरकारी अधिकारियों का रूख असहयोग का होता है। (5) सगठनों के पास कोष तथा प्रशिक्षण देने वाले व्यक्तियों की कमी होती है।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में हमने यह विश्वास करने की गलती की कि हमारी जनसख्या हमारी परिसम्पत्ति है, और अब हम यह सोचने की महान भूल कर रहे हैं कि भारत की तीव्र जनसख्या वृद्धि विकास की प्रक्रिया, अर्थात साक्षरता, स्वास्थ्य देखभाल, रोजगार, आदि से रुक जायेगी। यदि राष्ट्र 1 5 करोड जन प्रतिवर्ष वृद्धि से बचना चाहता है कि तो केवल एक ही रास्ता बचा है कि आवश्यक परिवार नियोजन तथा हतोत्साहन की कड़वी घूंट लोगों को पिलाई जाये। इसके लिए एक उपयुक्त जनसख्या नीति की आवश्यकता है। नयी आर्थिक नीति के सफल होने का कोई अवसर नही है जब तक कि इसके साथ मिलने वाली जनसख्या नीति न हो।

हमारी सरकार की जनसख्या नीति का उद्देश्य न केवल सख्या की शक्ति (numerical strength) की अनियन्त्रित मानव वृद्धि (unregulated human growth) (जनसख्या विस्फोट) होना चाहिए बल्कि जनसख्या की अनियत्रित गतिशीलता को रोकना, शहरीकृत क्षेत्रों में लोगों का जमाव रोकना, लोगों के विविध मिश्रण के लिए रहने को पर्याप्त जगह, और आकर्षक वातावरण प्रदान करना भी होना चाहिए। इन उद्देश्यों को प्राकृतिक एव मानव ससाधन दोनों के दोहन के लिए जनसख्या नियोजन एव नियमितीकरण के उद्देश्य से

मिलाकर जोडना होगा। इस प्रकार केवल जनसख्या वृद्धि को स्वय एक समस्या के रूप में नही देखा जाना चाहिए बल्कि ससाधनों की उपलब्धता को इसके साथ गम्भीर चिन्तन से देखा जाना चाहिए।

परिवार नियोजन को उस दलदल से बचाना है जिसमें यह फँसा है। इसके लिए कार्यक्रम को आन्तरिक रूप से देखा जाना है और विकास इकाई के रूप में देखा जाना है। अगरचि यह भी मान लें कि जनसख्या वृद्धि रोकने का सबसे अच्छा उपाय विकास है, तब इसका उल्टा भी सही है अधिक जनसख्या वृद्धि धीमी गति के विकास के लिए उत्तरदायी है। यदि नकारात्मक नही तो परिवार नियोजन अभियान को फिर से खडा करने के लिए अनेक उपाय करने होंगे। थोडी बाध्यता के साथ प्रोत्साहन भी आवश्यक होगा। वैधानिक उपाय भी सहायक हो सकते हैं लेकिन तुरन्त आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरदायी माता पिता की भावना पैदा करने के लिए सामाजिक जागृति और भागीदारी अधिक से अधिक हो।

सबसे अधिक बल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि परिवार नियोजन कार्यक्रम में अत्यधिक जोर बन्ध्याकरण पर देने के बजाय फासले की विधि को प्रोत्साहित किया जाये ताकि इससे अनुरूप जनाकिकीय प्रभाव प्राप्त किया जा सके। हमारे देश में लगभग पाँच में से तीन (57 1%) विवाहित स्त्रिया कम उम्र की हैं (30 वर्ष से कम) और दो या अधिक बच्चों की माँ हैं। 'बच्चिया ही बच्चे पैदा करें' इस तथ्य को हमें रोकना है। यह केवल 'फासले की विधि तथा लडकियों का 21 वर्ष आयु के बाद ही विवाह को प्रोत्साहन देने से हो सकता है।

इसके साथ ही परिवार नियोजन, जनसख्या विस्फोट रोकने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका से स्त्रियों की सामान्य प्रस्थिति को सुधारने में भी सहायक होगा। वह स्त्री जिसके पास पालन पोषण के लिए अनेक बच्चे हों और जो बारबार प्रसव प्रक्रिया से गुजरती हो, वह अपना अधिक समय माँ और पत्नि के रूप में ही व्यतीत करती है और घर की चार दीवारी में ही बन्द रहती है। वह समुदाय और समाज में कोई भूमिका अदा नही कर सकती जब तक कि वह अपने परिवार के आकार को तर्क सगत न बना ले। परिवार नियोजन न केवल परिवार कल्याण में सुधार करेगा बल्कि सामाजिक समृद्धि तथा व्यक्तिगत सुख में भी योगदान करेगा।

13

भ्रष्टाचार
(Corruption)

भारत में भ्रष्टाचार की जड़ें गहरी हैं। जिस तेजी से अनेक नेताओं के नाम भ्रष्टाचार से जुड़ने लगे हैं, लगता है कि इक्कीसवी शताब्दी में भ्रष्टाचार को बढने से रोकना असम्भव होगा। बहुधा हम राज्य और केन्द्र के उच्च राजनीतिज्ञों को यह कहते हुए सुनते हैं कि "हमें भ्रष्टाचार के विरुद्ध युद्ध करना है," "भ्रष्टाचार की बुराई से लड़ना है," "भ्रष्टाचार से हम कोई समझौता नही करेंगे", "किसी भी भ्रष्टाचारी व्यक्ति को माफ नही किया जायेगा, चाहे वह कितना भी ऊंचा क्यों न हो"। फिर भी यह सर्व विदित है कि हमारा देश भ्रष्टाचार में कितना डूबता जा रहा है। एक मुख्य मंत्री सरकारी भूमि को अपने निजी प्रयोग के लिए वास्तविक मूल्य की चौथाई में खरीदने में सफल हो जाता है। एक अत्यन्त वरिष्ठ अधिकारी अपने मकान के निर्माण के लिए निःशुल्क मार्बल, लकडी व अन्य चीजों का प्रबन्ध करता है। एक नव निर्वाचित स्वतंत्र विधायक को शासक दल का समर्थन करने के लिए 50 से 75 लाख रुपये और मंत्री पद का लोभ दिया जाता है। एक सरकारी दफ्तर में चपरासी एक फाइल ढूँढने के 50 रुपये मांगता है। एक रेल्वे टिकट निरीक्षक जो खाली यान में शयिका का आवटन करता है, 200 रुपये से 300 रुपये प्रति दिन कमाता है। एक आयकर आयुक्त के निवास पर छापा मारते हुए सी.बी.आई. अफसरों को अघोषित लाखों रूपए की सम्पत्ति मिलती है। हमारे केन्द्रीय कारागारों में कितने भ्रष्ट राजनेता, अफसरशाह और व्यापारी 'सी' और 'डी' श्रेणी वाले खण्डों में पाये जाते हैं। कारागारों पर अनुभवजन्य अध्ययन में लगे हुए अपराधशास्त्रियों को अभी भी यह जानना शेष है कि रिश्वत और दलाली में लिप्त अभियुक्त और दण्डित उच्च स्तरीय राजनीतिज्ञ, शासक और गैर-शासक दलों के राजनीतिज्ञ, उच्च स्तरीय सरकारी अफसर जेल में बढ़ईगीरी, दरी व निवार बुनकर, या रसोईये के रूप में साधारण बन्दियों की तरह किस प्रकार कार्य करते हैं।

अवधारणा (Concept)

सरल शब्दों में, भ्रष्टाचार को 'रिश्वत का कार्य' कहा जा सकता है। इसे "निजी लाभ के लिए सार्वजनिक शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना जिसमें कानून तोडना शामिल हो या जिससे समाज के मानदण्डों का विचलन हुआ हो" भी कहा जाता है। डी.एच.बेली (D H Bailey) (cf, Doughlas and Jhonson, 1971) ने भ्रष्टाचार को इस प्रकार बताया है "निजी लाभ के विचार के परिणामस्वरूप सत्ता का दुरूपयोग जो धन सम्बन्धित नही भी हो सकता है"। एन्ड्रिस्की (Andriski, cf. Machael Clarke, 1983) ने कहा है, "ऐसे तरीकों से

सार्वजनिक शक्ति का निजी लाभ के लिए प्रयोग जो कानून का उल्लघन करता हो"। मौरिस जैफेटल (Morris Szeftel, cf, Machael Clarke, 1983) ने कहा है, "भ्रष्टाचार वह व्यवहार है जो मानदण्डों और सार्वजनिक भूमिका निर्वाह के कर्त्तव्यों को सचालित करने या निजी लाभों के लिए पद के उचित उपयोग से विचलन होता है"। यह निजी लाभ कुछ कार्यों पर लगे प्रतिबन्धों की अवहेलना करके या उस कार्य के प्रति वैध विवेकाधिकार (legitimate discretion) का प्रयोग करके, या उस कार्य के प्रति कुछ कर्त्तव्यों को पूरा करने के द्वारा प्राप्त किया जाता है। जे नाय (J Nye, 1967 410) का कहना है कि "भ्रष्टाचार निजी लाभों के लिए सार्वजनिक पद का दुरूपयोग दर्शाता है"। भ्रष्टाचार को इस प्रकार भी समझाया गया है "यह आर्थिक या प्रतिष्ठा सम्बन्धी लाभों की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक भूमिका के प्रति औपचारिक कर्त्तव्यों से विचलन है।"

समाज में भ्रष्टाचार अनेक स्वरूपों में फैला हुआ है। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं रिश्वत, (देने वाले के पक्ष में अवैध, बेइमानी से युक्त कार्य करने को प्रेरित करने के लिए नकद या वस्तु या उपहार में दिया गया), भाई-भतीजावाद (nepotism) (सम्बन्धियों को अनावश्यक पक्षपात द्वारा सरक्षण प्रदान करना), दर्विनियोग (misappropriation) (दूसरे के धन को अपने प्रयोग में लेना), सरक्षण (patronage) (सरक्षक द्वारा गलत समर्थन/प्रोत्साहन दिया जाना और इस प्रकार पद का दुरूपयोग करना), और पक्षपात (favouritism) (एक व्यक्ति को छोडकर दूसरे को अनावश्यक वरीयता देना)।

भाई-भतीजावाद (Nepotism)

सामाजिक विश्लेषण बताता है कि सामाजिक बन्धन और नातेदारी भ्रष्टाचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिकीकरण के मान्य आदर्श तथा आज के शासकों द्वारा प्रचलन में लाए जाने वाले आदर्श परम्परात्मक समाज के सार्वजनिक व्यवहार के प्रतिमानों और मूल्यों के विपरीत हैं। आज नातेदारी व जातिगत निष्ठाए सार्वजनिक सेवकों के मस्तिष्क में पहले से ही रहती हैं। आधुनिक प्रशासक का सबसे प्रथम दायित्व अपने परिवार के सदस्यों के प्रति होता है और इसके बाद निकट नातेदार या वश या फिर नृजातीय समूह के प्रति। इस प्रकार के बन्धन नियमों और प्रक्रिया से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। नातेदार व जातियाँ ऐसे व्यवहार को, जो सार्वजनिक भूमिका की औपचारिकता से विचलित होते हैं, 'विचलन' या भ्रष्टाचार नही समझते बल्कि इसे वे पारिवारिक दायित्व मानते हैं। यह अनेक सार्वजनिक सेवकों के निम्न और उच्च स्तर पर भ्रष्ट कार्यों को स्पष्ट करता है।

भ्रष्टाचार एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (Corruption: A Historical Perspective)

भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी तथ्य है। यह अनन्त समय से प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। प्राचीन समय में मिस्र, बेबीलोनिया और हैब्यू समाजों में न्यायाधीश रिश्वत लेते थे। रोम में सार्वजनिक पदों पर चुनाव के दौरान रिश्वत एक आम बात थी। फ्रास में 15वी शताब्दि में इग्लैण्ड को भ्रष्टाचार का गड्ढा (sink-hole) कहा जाता था। उन्नीसवीं शताब्दि में भी ब्रिटेन में भ्रष्टाचार इतना अधिक था कि गिब्बन (Gibbon) ने इसे

संवैधानिक स्वतत्रता का सबसे अचूक लक्षण कहा है (*Seminar*, No 421, September 1994)।

भारत में कौटिल्य ने भी अपने 'अर्थशास्त्र' (cf, *Samasastry*, 1967 15-17) में राज्य कोष से सरकारी कर्मचारियों द्वारा गबन किये जाने का सन्दर्भ दिया है। उसने सरकारी कर्मचारियों द्वारा अपनाए जाने वाले लगभग 50 प्रकार के गबन और अन्य भ्रष्ट तरीकों का वर्णन किया है। अशोक के शासनकाल में भ्रष्टाचार कम पैमाने पर पाया जाता था। (cf, Mazumdar, R.C., *Ancient India, 1960 13)*। मध्ययुगीन समाज में भी भ्रष्टाचार का क्षेत्र कम था क्योंकि कर वसूली के लिए कम से कम अधिकारी थे। जितना अधिक धन सग्रह वे लोग करते थे उतनी ही उनकी प्रशसा होती थी, न कि उन पर दोष लगाया जाता था। ब्रिटिश शासनकाल में रिश्वत न केवल भारतीय अफसरों द्वारा स्वीकार की जाती थी बल्कि उच्च पदस्थ अग्रेज अधिकारियों द्वारा भी। क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज तो इस कदर भ्रष्ट पाए गए कि उनके इग्लैण्ड लौटने पर एक ससदीय समिति द्वारा उन पर मुकदमा चलाया गया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के दौरान आर्थिक क्रियाकलापों के विस्तार ने देश में भ्रष्टाचार के नए तरीकों को जन्म दिया (देखें, Hallaya, M, 1948 13-51)। युद्ध के दौरान लगाए गए प्रतिबन्धों, नियत्रणों और अभावों ने रिश्वत, भ्रष्टाचार और पक्षपात के लिए यथेष्ट अवसर प्रदान किए। स्वतत्रता के बाद यद्यपि राष्ट्रीय स्तर का उच्च राजनैतिक अभिजात वर्ग एक दो दशकों तक अति ईमानदार बना रहा किन्तु तीसरे (1962) और चौथे (1967) चुनावों के बाद नवोदित राजनैतिक अभिजात वर्ग ने अपने ईमानदार होने के विषय में जनता का विश्वास खो दिया। सभी स्तरों के सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में कार्यरत सरकारी कर्मचारियों ने छोटी बातों के लिए बडी-बडी रिश्वतें स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। आज केन्द्रीय एव राज्य दोनों स्तरों पर ईमानदार छवि के मत्रियों और प्रशासकों की सख्या उगलियों पर गिनी जा सकती है। स्वतंत्र भारत में सब से पहले 1949 में विध्य प्रदेश के कांग्रेसी नेता व तत्कालीन उद्योग मत्री को 25 हजार रुपये रिश्वत लेने के लिए जेल की सजा दी गयी थी। 1962 में कृष्णा मेनन पर 2000 जीपों की खरीद के मामले में घूस खाने का आरोप था। इंदिरा गाधी के शासनकाल में 20 करोड रुपये के क्युओ आयल कपनी के साथ का विवादास्पद सौदा, 60 लाख रुपये का नागरवाला मामला, मारुति उद्योग घोटाला, एचबी डब्ल्यू पनडुब्बी का घोटाला उद्घाटित हुए थे। 1980-1990 के दशक में भी अनेक केन्द्रीय मत्री और मुख्यमत्री उन उच्चतम स्तर के राजनीतिज्ञों मे थे जिन पर अपने राजनैतिक सत्ता के काल में भ्रष्ट तरीकों को अपनाने का आरोप लगा था। तब से एक बडी सख्या में मुख्यमत्रियों, मत्रियों और उच्च स्तरीय नौकरशाहों पर लगभग सभी राज्यों में अवैध रूप से धन सग्रह और भाई-भतीजावाद अपनाने के आरोप लगे हैं। सरकार की लाइसेन्स प्रणाली, नियत्रण के नियमों, और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार ने जीवन के सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार का विस्तार किया है।

भ्रष्टाचार केवल भारत, चीन और पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों में ही नहीं बढ रहा है, बल्कि अनेक यूरोपीय देशों में भी फैल रहा है। समृद्ध और विकसित देशों में भ्रष्टाचार की कल्पना तक नही की जा रही थी, परन्तु अब जो तथ्य सामने आ रहे हैं वे महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, चिंतनीय भी हैं। इन दिनों जर्मनी के लोकप्रिय नेता व पूर्व चासलर पर

भी रिश्वतखोरी का आरोप साबित किया गया है। फ्रांस में घोटाले के आरोपित वहा के राष्ट्रीय विधानसभा के स्पीकर को भी 18 महीने का करावास दिया गया था। रूस के राष्ट्रपति येल्तसिन की बेटी के स्विस बैंक के खाते में लाखों डालर जमा पाये गये। अमेरिका के पिछले राष्ट्रपति चुनाव के दौरान चीन की एक हथियार बेचने वाली सरकारी कपनी द्वारा दिया गया डेमोक्रेट पार्टी के चुनाव में लगभग एक लाख डालर का चन्दा अब (2000 में) सार्वजनिक हो चुका है। अमेरिका में यह भी बताया गया है कि 1995 चुनाव में भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी के मद में व्यापारियों को लगभग 11 हजार मिलियन डालर खर्च करने पडे थे। इटली का प्रधान मत्री भी 1990 में भ्रष्टाचार में कुख्यात रहा था। पश्चिमी यूरोप की बडी-बडी कम्पनियों ने अपना माल बेचने के लिए दलाली या कमीशन देने की परम्परा शुरु की है। पाकिस्तान के दो भूतपूर्व प्रधानमत्रियों श्रीमति भुट्टो और नवाब शरीफ के नाम भ्रष्टाचार के लिए बहुत मशहूर हो चुके हैं जिसके लिए उन पर मुकदमा भी चल रहा है। ऐसे भ्रष्ट आरोपित नेता लोग आरोप को 'राजनीतिक दुश्मनों की एक चाल' कह कर बेशर्मी से टाल जाते हैं। यह कहना गलत नही होगा कि न केवल एशियाई देशों को, बल्कि यूरोपीय और विकसित देशों को भी भ्रष्टाचार का कैंसर खाता चला जा रहा है। ईमानदारी में सबसे ऊपर (10 में से 9 अक प्राप्त करने वाले) फिनलैण्ड, डेनमार्क, न्यूजीलैंड, स्वीडन, कनाडा और आईसलैण्ड को रखा गया है (*Times of India*, September, 19, 2000)।

एक गैर-सरकारी जर्मन सगठन (Transparency International) (*The Hindustan Times*, September 19, 2000) के अनुसार, सन् 2000 की रिपोर्ट में भारत विश्व के अध्ययन किये गये 90 देशों में नीचे (bottom) से इक्कीसवा भ्रष्ट देश माना गया है। यह सगठन, वित्तीय पत्रकारों के तथा उन देशों से व्यवहार करने वाले व्यापारियों के दृष्टिकोणों के अनुसार उनके लेन देन में उस देश को ईमानदारी या भ्रष्टाचार की श्रेणी प्रदान करके मूल्याकन करता है। इस अध्ययन में इस सगठन ने नाइजेरिया, युगोस्लेविया, उक्रेन, इन्डोनेशिया, अगोला, रशिया, पाकिस्तान, चीन, थाइलैण्ड, इटली और मोरक्को को भ्रष्ट देश पाया।

लोकसेवको मे भ्रष्टाचार (Corruption Among Public Servants)

लोकसेवकों में भ्रष्टाचार हमेशा एक या दूसरे रूप में विद्यमान रहा है, यद्यपि इसका स्वरूप, आयाम, प्रकार और छवि समय-समय और स्थान-स्थान पर बदलते रहे हैं। एक समय था जब रिश्वत गलत कार्यों को कराने के लिए दी जाती थी लेकिन अब सही कार्य को सही समय पर कराने के लिए दी जाती है।

सार्वजनिक सेवाओं में कौन से कार्यों को 'भ्रष्ट' कहा गया है? यद्यपि 'भ्रष्टाचार' शब्द के व्यापक अर्थ हैं किन्तु कानूनी प्रावधानों के अन्तर्गत लोकसेवकों के निम्नलिखित व्यवहार भ्रष्ट कहे गए हैं (Malhotra, 1992. 254-256) (i) अधिकारिक हैसियत से किए गए कार्य के लिए पुरस्कार स्वरूप भेंट स्वीकार करना, (ii) अवैध रूप से कोई भी वस्तु या आर्थिक लाभ प्राप्त करना, (iii) सार्वजनिक सम्पत्ति का धोखाधडी से दुरुपयोग करना, (iv) आय के ज्ञात ससाधनों से अधिक अनुपात में सम्पत्ति या आर्थिक ससाधन जुटाना, (v) अधिकारिक पद का दुरुपयोग, (vi) सरकारी व्यवहार से सम्बन्धित किसी व्यक्ति से कीमती

वस्तु खरीदने के लिए धन उधार लेना, यह मानते हुए कि उधार लिया धन वापस नही किया जाता है, (vii) उच्च स्थिति या पद पर होने वाले व्यक्ति द्वारा ऐसे लोगों से भेंट/उपहार स्वीकार करना जिनके साथ उनके पद के नाते सम्बन्ध हों, (viii) जानबूझ कर नियमों की अनदेखी करते हुए देयकों/करों/ आदि के भुगतान करने से बचने में नागरिकों की मदद करना, (ix) किसी बहाने से किसी कर्त्तव्य को करने से इन्कार करना जिससे दूसरों का फायदा होता हो, (जैसे अपराधी की मदद करने की नीयत से पुलिस अधिकारी का किसी मामले को पंजीकृत न करना)।

केन्द्र सरकार में कम से कम चार ऐसे मन्त्रालय हैं जो धन अर्जन के लिए सोने की खान माने जाते हैं। ये हैं: रक्षा, पेट्रोलियम, ऊर्जा (power) और सचार मत्रालय। रक्षा मत्रालय प्रतिवर्ष रक्षा सम्बन्धी वस्तुओं की खरीद पर लगभग 30,000 और 40,000 करोड रुपये के बीच खर्च करता है। यह कहा जाता है कि अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारुद, अतिरिक्त कल पुर्जे (spare parts) और मिराज विमानों की मरम्मत व खरीद के लिए 15 से 40% दलाली आम चलन है। पेट्रोलियम मत्रालय तेल और प्राकृतिक गैस के आयात पर प्रतिवर्ष 50,000 करोड रुपये से अधिक खर्च करता है। 1998-99 में इस ने 24,000 करोड रुपये, 1999-2000 में 54,000 करोड रुपये खर्च किये और अनुमान है कि 2000-2001 में यह राशि 64,000 करोड रुपये होगी। आयातित तेल के बैरल किसी न किसी के लिए दलाली के रूप में आय का अच्छा साधन सिद्ध होते हैं। तेल की खुदाई के अधिकार देने में, पेट्रोल पम्पों को खोलने में, पाइप लाइनों को बिछाने के लिए रिश्वत दिये जाने में भी बहुत सा धन लगता है। ऊर्जा मत्रालय लगभग 4,000 करोड रुपये प्रतिवर्ष खर्च करता है जो अपने अधिकारियों को काला धन कमाने के अच्छे अवसर प्रदान करता है। सचार मत्रालय का बजट भी प्रतिवर्ष हजारों करोड रुपये का होता है और इस मत्रालय में भी दलाली आम है।

चार अन्य विभाग जहा भ्रष्टाचार अतिव्याप्त है वे हैं पी डब्ल्यू डी (लोक निर्माण विभाग), पुलिस, चुंगी (excise), और राजस्व (revenue)। पी डब्ल्यू डी को बजट और योजनाओं के अन्तर्गत भवनों के निर्माण, सडकों के रख-रखाव, नालियों के निर्माण, बाधों (dams) के निर्माण, आदि के लिए एक बडी धन राशि आवंटित की जाती है। इस विभाग में ऊपर से लेकर नीचे तक भ्रष्टाचार व्याप्त है, जैसे कार्य स्थल (site) का चुनाव, अनुमानित खर्च (estimated cost) का तैयार किया जाना, धन की स्वीकृति, वस्तुओं की खरीद, निर्माण कार्य करवाना, बिलों का भुगतान, और विवादों का समाधान, आदि। यह कहा जाता है कि किसी प्रोजेक्ट के लिए स्वीकृत समस्त राशि में से लगभग 70% कार्य पर खर्च किया जाता है, 20% ठेकेदार का लाभ और 10% विभिन्न अफसरों की जेबों में चला जाता है।

पुलिस विभाग को सबसे अधिक भ्रष्ट विभाग कहा जाता है जहा एक कान्स्टेबिल से लेकर उच्च पदस्थ अधिकारी तक रिश्वत लेते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि पुलिस अपराधी और शिकायतकर्ता दोनों से रिश्वत लेती है। पुलिस के अधिकार इतने विस्तृत हैं कि वे ईमानदार व्यक्ति को आरोप लगाकर गिरफ्तार व परेशान कर सकते हैं। गरीबों को छोटे-छोटे बहानों पर (जैसे, रिक्शा चालक, आदि) उनकी जेबों से उनका सारा पैसा निकाल लेना, ट्रक ड्राइवरों से धन लेना, दुकानदारों से हफ्ता वसूल करना, आदि भ्रष्टाचार आम बातें हैं।

भ्रष्टाचार की सम्भावना उन क्षेत्रों में अधिक है जहा महत्वपूर्ण निर्णय किए जाते हैं, जैसे कर समग्रह का मूल्याकन, ठेके स्वीकृत करना, बिल पास करना, चैक जारी करना, आपूर्ति को मान्यता देना, आदि। अधिकारियों को पूर्व-निर्धारित प्रतिशत दिया जाता है और यह धन राशि उस सस्थान में सभी के हिस्से में आती है। रेल विभाग में वैगनों के आवटन में, खराब होने वाली चीजों के पार्सल बुक कराने, नष्ट हुई चीजों के दावे पास करने, आदि के लिए पैसा देना पडता है। कई सस्थानों में तो ठेका देते समय एक निश्चित प्रतिशत धन राशि नियमत ली जाती है। इसी प्रकार यदि यह धन राशि न दी जाये तो बिल के पास होने व चैक आदि प्राप्ति में देरी होना इसका परिणाम होता है। अक्सर बेईमान ठेकेदार और आपूर्तिकर्ता (suppliers) जो निम्न कोटि की चीजें देना चाहते हैं या थोडे कार्य की स्वीकृति प्राप्त करना चाहते हैं अपना काम करवाने के लिए अपनी गलत कमाई में से काफी खर्च कर देते हैं। कर वचना, खराब निर्माण, थोडी मात्रा में माल आपूर्ति करना, सरकारी वाहनों की मरम्मत, आदि के लिए अत्यन्त ऊची कीमत वसूल करना भ्रष्टाचार के अन्य उदाहरण हैं।

भ्रष्टाचार न केवल उच्च स्तर पर व्याप्त है बल्कि निम्न स्तर तक भी फैला हुआ है। सहायक एव कनिष्ठ अभियन्ता, टेलीफोन, राज्य विद्युत परिषद और जलदाय विभाग के मध्यम और निम्न श्रेणी के अधिकारी, राजस्व व चुगी विभाग के निरीक्षक, सचिवालय लिपिक, और रेलवे के कनिष्ठ कर्मचारी वर्ग छोटे-बडे पक्षपात के लिए रिश्वत स्वीकार करते हैं। कई सस्थानों में कनिष्ठ अधिकारियों की दलाली की निश्चित राशि बधी है। उदाहरणार्थ, इन्जीनियरिंग विभाग में एक जूनियर इन्जीनियर सौदे की पूरी रकम का 5%, सहायक अभियन्ता 3% , और अधिशाषी अभियन्ता 2% मागता है। आयकर विभाग में दर भिन्न हैं निरीक्षक 10,000 रुपये, तथा कमिश्नर के 5 लाख रुपये या अधिक बँधे हैं जो कर की राशि पर निर्भर करता है। पुलिस विभाग में दर भिन्न हैं कॉंस्टेबिल 10 रुपये से 2000 रुपये तक, उप निरीक्षक और निरीक्षक 2000 रुपये से 10,000 रुपये तक, उप-अधीक्षक और पुलिस-अधीक्षक 10,000 रुपये से 20,000 रुपये या इससे भी अधिक हैं। सरकारी कार्यालयों में किसी कार्य की अनुमति प्रदान किए जाने के बाद भी जब तक सम्पूर्ण स्वीकृत धनराशि का 1% या 2% रिश्वत न दिया जाये तब तक सम्बन्धित लिपिक स्वीकृति पत्र को टाइप नही करेगा या डाक में नही डालेगा। निम्नतम स्तर पर चपरासी भी अपने साहब से मिलने देने के लिए आगन्तुक से 10 रुपये या 20 रुपये झाड लेते हैं। सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार इतना व्याप्त है कि एक प्रधानमत्री को भी एक सार्वजनिक सभा में कहना पडा कि सार्वजनिक कार्यक्रमों के लिए आवटित धन राशि 100 रुपये में से जनता के लाभ में केवल 20 रुपये ही लगते हैं। इसमें आश्चर्य नही कि जनता की उदासीनता के कारण ही देश में भ्रष्टाचार इतनी विकट स्थिति में पहुचा है।

भेंट (उपहार) देना शहरों में भ्रष्टाचार का एक प्रमुख रूप है। एक ठेकेदार किसी अभियन्ता को या लेखा अधिकारी को अपने बिल पास कराने के लिए सूखे मेवे के डिब्बे और मिठाइया और चाँदी के गिलास उपहार में देता है। डाक्टर और यहा तक कि पुलिस अधिकारी भी अपनी इच्छा के स्थान पर स्थानान्तरण के लिए मत्री का उपहार देता है। वह व्यापारी जो आयकर के आँकलन को अपने पक्ष में कराने में सफल रहा है एक फ्रिज, या कार या कोई कीमती बिजली का सामान या सोने की चेन बेटे के जन्मदिन या बेटी के विवाह में

देता है। इन सब में उपहार देने का एक स्वरूप और साथ ही कुछ 'सास्कृतिक मूल्य' परिलक्षित होते हैं।

'त्वरित धन' (speed money) भ्रष्टाचार के तरीकों में सामान्य है, विशेष रूप से अनुदान (grants) व संस्वीकृति (sanctions) के मामलों में। यह प्रचलन सार्वजनिक कार्यालयों में प्रशासनिक विलम्ब का परिणाम है। एक बार एक फाइल किसी कार्यालय में आ जाये, इस पर निर्णय प्राप्त करना टेढ़ी खीर हो जाता है। विलम्ब से बचने के लिए 'गतिवान धन' जैसे भ्रष्ट तरीके प्रयोग में लाए जाते हैं। कभी-कभी किसी फाइल पर निर्देश पारित होने बाद भी इसकी सूचना प्राप्तकर्त्ता को देर से जाती है जब तक कि वह अधीनस्थ अधिकारियों को उपयुक्त धन नहीं देता।

रिश्वत और दलाली की दर प्रतिवर्ष ऊची ही होती जा रही है। वैकल्पिक आर्थिक नीतियों के लिए गठित प्रारम्भिक समिति ने (Preparatory Committee for Alternative Economic Policies), जो वामपन्थी अर्थशास्त्रियों का एक समूह है, दलाली में कुछ अनुसन्धान किए हैं। इसका अनुमान है कि दलाली की राशि 1980-81 में 3,036 करोड़ रुपये से 1990-91 में 19,414 करोड रुपये की आश्चर्यचकित करने वाली ऊचाई तक पहुच गई, अर्थात् एक ही दशक में राशि में छ गुनी वृद्धि हो गई।

भारत में 1947 के भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के अन्तर्गत भ्रष्टाचार के पजीकृत मामलों की सख्या 1981 और 1987 के बीच 300 से 500 तक थी लेकिन 1988 के अधिनियम के लागू होने के बाद अब यह संख्या 1,700 से 2,100 प्रतिवर्ष तक है। जब 1988 में सीबीआई और राज्य सरकारों द्वारा 1,295 भ्रष्टाचार के मामले पंजीकृत किए गए, 1994 में 3,210 और 1998 में 3,701 मामले पजीकृत किए गए थे और 2,667 को गिरफ्तार किया गया था। पंजीकृत किए गए मामलों में केवल 70% से 75% मामलों में ही व्यक्तियों को आरोप-पत्र जारी हुए। (*Crime in India*, 1998. 225-227)। उदाहरण के तौर पर, 1998 में 2,817 नये मामले दर्ज किए गए जबकि 4,644 मामले पहले से ही न्यायलयों में लम्बित पडे थे। सर्वाधिक सख्या में मामले 1998 में महाराष्ट्र में (899) और उसके बाद राजस्थान (840), पंजाब (752), उडीसा (740), जम्मू कश्मीर (568), कर्नाटक (515), केरल (512), मध्य प्रदेश (508) में रिपोर्ट किये गये। 1998 में 5409 केस की छानबीन की गयी और 1902 लोगों पर मुकदमे चले जिनमें से केवल 13 9% ही अभियुक्त पाए गए। (*Crime in India*, 1998 227)।

राजनैतिक भ्रष्टाचार और घोटाले (Political Corruption and Scandals)

यह सर्वविदित है कि एक बड़ी सख्या में राजनीतिज्ञ न केवल भारत में बल्कि विश्व में भ्रष्ट है। राजनीतिज्ञों के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश होने पर लोगों को कभी आघात नही पहुचता। ईमानदार राजनीतिज्ञ वर्तमान में लुप्त प्राय प्रजाति होती जा रही है। भ्रष्ट राजनीतिज्ञ न केवल बेदाग, बिना दण्ड के बच निकलते हैं बल्कि वे तो राजनीतिज्ञ मच पर सम्माननीय नेता के रूप में अकड कर चलते हैं। लाल बहादुर शास्त्री और सरदार वल्लभ भाई पटेल जैसे मंत्रियों के उदाहरण कम हैं जिनकी मृत्यु पर बैंक में जमा राशि नगण्य थी। हमारी इस धरती पर जब एक व्यक्ति बेरोजगारी के कारण अपने भूखे बच्चों की रोटी का प्रबन्ध करने के लिए चोरी

करता है तब उसको जेल की हवा खानी पडती है, जबकि वे लोग जो देश को दोनों हाथों से लूटने में लगे हैं सम्माननीय नागरिक होते हैं क्योंकि या तो वे राजनीति में बडी तोप हैं या सत्ता के केन्द्र।

गत दो या अधिक दशकों में, हमारे देश में भारी दलाली और परोक्ष भुगतान से सम्बन्धित अनेक घोटाले और आर्थिक अनियमितताओं के मामले प्रकाश में आए हैं। इन घोटालों में अधिकतर मुख्यमत्री, मत्री, महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर आसीन नेता, नौकरशाह और बडे व्यापारी शामिल रहे हैं। लेकिन 'साक्ष्य के अभाव' (lack of evidence) के कमजोर आधार पर अपराधियों को प्रकाशित, खोजने, पकडने, मुकदमा चलाने और दण्डित करने में कुछ भी नही किया गया। यहा हम 1985 के बाद के कुछ कुख्यात घोटालों, जैसे बोफोर्स, स्टॉक मार्केट प्रतिभूतियों, हवाला, चीनी, और कुछ अन्य को इगित करेंगे।

कुछ बदनाम घोटाले इस प्रकार थे बोफोर्स (Bofors) घोटाला (1986) जिसमें 64 करोड रुपये की दलाली का मामला था, हवाला घोटाला (1991) जिसमें 115 वरिष्ठ राजनैतिज्ञ और नौकरशाह शामिल थे (जिनको अदालत ने बाद में छोड दिया), पशुधन घोटाला (1999) जो बिहार के पूर्व मुख्यमत्री के विरुद्ध था जिसमें 113 करोड रुपये की दलाली का मामला था, दूरसचार विभाग घोटाला जिसमें एक केन्द्रीय मत्री के घर 3.5 करोड रुपये नकद और साथ ही करोडों रुपये के आभूषण, राष्ट्रीय बचत पत्र, सावधि जमा-पत्र आदि पाये गये थे, जब मत्री जी स्वय इलाज के लिए लन्दन में थे, बिटूमिन कोयला घोटाला जो बिहार (1996) में 100 करोड रुपये का था, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा रिश्वत घोटाला (1993) जिसमें मोर्चा के चार सासद और जनता पार्टी के तीन विधायक 40 लाख रुपये प्रत्येक पर लेने का आरोप था (जिसमें पूर्व प्रधानमत्री नरसिहराव एव उनके एक मत्रिमडलीय साथी को सी बी आइ की विशेष अदालत ने 29 सितम्बर 2000 को दोषी करार दिया), भारतीय बैंक घोटाला (1991-95) जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक को 2,358 करोड रुपये की हानि हुई, सीमेन्ट घोटाला (1985) जिसमें महाराष्ट्र के मुख्यमत्री शामिल थे, भूखण्ड घोटाला (1988-89) जिसमें महाराष्ट्र के एक अन्य मुख्यमत्री शामिल थे, महाराष्ट्र प्रतिभूति (securities) घोटाला (1992) जिसमें एक करोड रुपये लेने के लिए पूर्व प्रधानमत्री आरोपी थे, चीनी घोटाला (1994) जिसमें एक केन्द्रीय मत्री शामिल थे और देश को 650 करोड रुपये की हानि उठानी पडी, असम का कोषागार धोखाधडी घोटाला (1995) जो 200 करोड रुपये का घोटाला था, और तमिलनाडु के भूतपूर्व मुख्यमत्री के विरुद्ध करोडों रुपये के 38 घोटाले।

तमिलनाडु के मुख्यमत्री पर भ्रष्टाचार के आरोप 1995 में लगाए गए थे। तमिलनाडु के राज्यपाल ने तो अप्रैल 1995 में जनता दल अध्यक्ष को तमिलनाडु के मुख्यमत्री के विरुद्ध भ्रष्टाचार निरोधक कानून के अन्तर्गत उनके विरुद्ध लगाए गए 38 आरोपों में से दो के लिए मुकदमा चलाए जाने तक की अनुमति प्रदान कर दी थी। इन दो आरोपों में से एक 365 करोड रुपये के कोयला आयात सौदे से सम्बन्धित है जो अगस्त 1993 में हुआ था और दूसरा राज्य सरकार से भूखण्ड खरीदने के सम्बन्ध में था जो उन्होंने अनुमानित बाजार मूल्य 4 27 करोड रुपये के स्थान पर केवल 1 82 करोड़ रुपये में खरीदा था। इस पूर्व मुख्यमत्री के विरुद्ध मामले, जिसकी पार्टी केन्द्र में 1998-99 में भाजपा-नीत मत्रिमण्डल की घटक थी,

तमिलनाडु की विशेष अदालतों में स्थानान्तरित कर दिए गए थे, फिर फरवरी 1999 में उन्हें शान्त करने के लिए साधारण न्यायालयों में स्थानान्तरित कर दिए गए क्योंकि वे प्रतिदिन केन्द्र सरकार से अपना समर्थन वापस लेने की धमकी दे रही थी। इन्ही मुख्यमत्री पर सितम्बर 1995 में अपने गोद लिए बेटे के विवाह पर 50 से 75 करोड रुपये खर्च करने का भी आरोप है। एक अन्य मुख्यमंत्री जिन पर अप्रैल 1995 में भ्रष्ट कार्यों में लिप्त होने के आरोप लगाए गए थे वे पश्चिम बगाल के मुख्यमत्री हैं जो गत 23 वर्षों से वहा के मुख्यमत्री के पद पर बने हुए हैं। यह आरोप उन पर त्रिपुरा के मुख्यमत्री और एक मार्क्सवादी नेता ने लगाए थे।

सिविल सेवाओं में भी भ्रष्टाचार सामान्य है, यहा तक कि उच्चासीन पदाधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें आती हैं व जाँच होती है। यद्यपि सतर्कता एजेंसियों को जनता व मीडिया को आश्वस्त करने के लिए क्रियाशील बना दिया जाता है, लेकिन आरोपित अधिकारी शायद ही दण्डित किए जाते हैं। सन्थानम (Santhanam) समिति ने भी सकेत दिया है कि ऐसा विश्वास है कि सरकारें भ्रष्टाचार के विरुद्ध थी लेकिन भ्रष्टाचारी लोगों के विरुद्ध नही थी। ऐसे व्यक्तियों के पास आवश्यक शक्ति, प्रभाव और सुरक्षा थी। इनके तीन प्रमुख उदाहरण निम्न हैं एक काग्रेस पार्टी के केन्द्रीय सचार मत्री जिनके घर से बहुत बडी रकम पाई गई थी और जो अनेक मामलों में आरोपित थे, एक बिहार के तथा एक तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमत्री जो थोडे समय के लिए जेल भी भेजे गए थे और जिनके मामले न्यायालयों में अब भी विचाराधीन पड़े हैं (अक्टूबर 2000 में)।

केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त ने जनवरी और फरवरी 2000 में भ्रष्टाचार लिप्त सरकारी अधिकारियों के लगभग 200 नामों को सार्वजनिक कर देने के लिए वैबसाइट पर डाल दिया। भारतीय प्रशासन और पुलिस सेवा अधिकारी 107, राजस्व सेवा अधिकारी (आय कर, आबकारी व सीमाशुल्क) 77; और वन सेवा अधिकारी 23। इसके अलावा उन्होंने एक ओर हवाला काड में ग्रस्त राजनैतिक नेताओं के केस, जो अदालतों द्वारा सब निरस्त कर दिये गये थे, पुन जाँच के लिए सी बी आई को (जनवरी, 2000 में) सौंप दिये हैं, तो दूसरी ओर रक्षा सौदों की जांच का काम भी हाथ में ले लिया है। यद्यपि इस जाच में काफी समय लगने की सम्भावना है, फिर भी लगता है कि अब राजनैतिक भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने के लिए राजनैतिक इच्छा विकसित हो रही है। केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त कहा तक अफसरों और राजनैतिक नेताओं के गुस्से को सहन कर पायेगा यह तो समय ही बतायेगा। पर जिस तेजी से अनेक नेताओं के नाम भ्रष्टाचार से जुडने लगे हैं, लगता है कि इक्कीसवी शताब्दी में भी भ्रष्टाचार को बढने से रोकना असम्भव होगा।

भारतीय जनमत सस्था (Indian Institute of Public Opinion) ने सितम्बर 1997 में भ्रष्टाचार से सबधित दिल्ली व चेन्नई में 1500 साक्षर वयस्कों की महम से एक सर्वेक्षण किया था। अधिसख्य (88 8%) सूचनादाताओं का मानना था कि भ्रष्टाचार एक गम्भीर सामान्य समस्या है जबकि 1 3% की राय इसके विरुद्ध थी तथा 10% ने इसके बारे में कोई राय व्यक्त नहीं की। लगभग 95 8% ने पुलिस को सबसे ज्यादा भ्रष्ट बताया, 89.3% ने टेलीफोन व बिजली विभाग को, 87 4% ने केन्द्र सरकार को, 85 8% ने राज्य सरकार को, 83 4 % ने न्याय प्रणाली व अदालतों को भ्रष्ट कहा। पाँच में से तीन

सूचनादाताओं (61 4%) ने कहा कि भ्रष्टाचार तो सदैव रहेगा परन्तु इसकी मात्रा को नियंत्रित किया जा सकता है, 21 3% ने कहा कि इसकी जड़ें गहरी नहीं हैं और इसे समाप्त किया जा सकता है।

भ्रष्टाचार के कारण (Causes of Corruption)

(1) स्व-हित वाले राजनैतिक अभिजन का अभ्युदय

भ्रष्टाचार या सार्वजनिक बेईमानी के कई कारण बताए गए हैं। प्रथम कारण है ऐसे राजनैतिक अभिजात वर्ग का अभ्युदय जो राष्ट्रहित के कार्यक्रमों और नीतियों की अपेक्षा अपने हित में विश्वास करते हैं। वास्तव में, ब्रिटिश शासन के पश्चात का शासन मंत्रियों और नौकरशाहों का शासन कहलाता है। आजादी के बाद प्रथम दो दशकों में राजनैतिक अभिजात इस हद तक ईमानदार, समर्पित और राष्ट्रवादी थे कि वे हमेशा देश की प्रगति के लिए कार्य करते थे। 1967 में चौथे आम चुनाव में राज्यों और केन्द्र में सत्ता में ऐसे लोग आए जो अपने निहित स्वार्थों के आधार पर कार्य करते थे, या यों कहा जाये कि वे अपने परिवार, जाति, क्षेत्र, दल, आदि के स्वार्थों के लिए कार्य करते थे। हो सकता है कि उनके कार्यक्रम और उनकी नीतिया राष्ट्रहित की रही हों लेकिन मुख्य रूप से वे उनके निजी हितों पर ही आधारित थे। उन्होंने नौकरशाहों को भी अपने पदचिन्हों पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया। हमारे देश में अधिक सख्या में नौकरशाह रीतिवादी (ritualists) हैं और समाज हित के विकासवादी कार्यक्रमों की अपेक्षा अपने पारिश्रमिक तथा अन्य लाभों के प्रति अधिक चिन्तित रहते हैं। इस प्रकार राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों ने अपने पद और शक्ति का दुरूपयोग अवैध लाभों के लिए प्रारम्भ किया। नये व्यापारी नेता, जो अपने मुनाफे को शक्ति और सत्ताधारी लोगों के साथ बाटना चाहते थे, का अभ्युदय भी सार्वजनिक सेवकों में भ्रष्ट आदतों के विकास के लिए उत्तरदायी रहा। भ्रष्टाचार का उदय सरकारी अफसरों के निर्णय लेने की शक्ति से भी होता है, जैसे लाइसेंस जारी करने, आयकर निर्धारण, विस्तार (extension) प्रदान करना, आदि में।

नियमों के अर्थ (interpretation) न कि नियम, अधिकारियों को परोक्ष रूप से धन लेकर जेब में डालने योग्य बनाते हैं। अनेक अधिकारी हजारों और लाखों रुपये देकर अपने को किसी खास जगह तैनात कराते हैं, केवल इसलिए कि उन जगहों पर हजारों-लाखों रुपये रिश्वत कमाने का अवसर होता है।

(2) सरकार की आर्थिक नीतियाँ

दूसरा कारण है सरकार की आर्थिक नीति। हाल के अधिक्तर घोटाले उन क्षेत्रों में हुए हैं जहां क्रय नीति या मूल्य सरकार के नियंत्रण में है। चीनी, उर्वरक, तेल, सैन्य अस्त्र-शस्त्र, बिजली के उपकरण कुछ उदाहरण हैं। एक अप्रवासी भारतीय (NRI) व्यापारी ने न्यायालय में दावा किया कि भारत को लुग्दी (pulp) बेचने के लिए ठेका प्राप्त करने के लिए उसे पूर्व प्रधानमंत्री के मौखिक आश्वासन पर, चन्द्रास्वामी को 20 लाख रुपये देने पड़े। इसी प्रकार की दलाली अन्य कई घोटालों में देनी पडी। मुख्य समस्या अर्थतंत्र को भ्रमित सरकारी

नियमों से मुक्त कराने की है। लेकिन निजीकरण के प्रति उदासीन रवैये से भी काम नही चलेगा। अब देश को स्पष्ट और पारदर्शी नियमों की आवश्यकता है। कुछ व्यक्तियों (जैसे मंत्री, महानिदेशकों, और सचिवों) द्वारा एकतरफा निर्णय भ्रष्टाचार को न्योता देना है। 1995 में महाराष्ट्र का एनरान प्रोजेक्ट (Enron Project) मुसीबत में लटक गया क्योंकि उसको बातचीत व शर्तें गुप्त रूप से तय हुई थी।

(3) आवश्यक वस्तुओं में कमी

भ्रष्टाचार कमी के कारण भी होता है। जब आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में कमी होती है, सत्ताधारी लोग उन वस्तुओं की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए कुछ अपेक्षा करते हैं या उनकी कीमतें बढवा लेते हैं। यह तब होता है जब माग बहुत ज्यादा होती है लेकिन रोजाना की आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत कम होती है, जैसे चीनी, सीमेन्ट, तेल, आदि।

(4) व्यवस्था में परिवर्तन

हमारे समाज में मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। नैतिकता, ईमानदारी और त्याग के पुराने आदर्श निरर्थक माने जाते हैं और भेंट स्वीकार करना मूर्खता की अपेक्षा 'आवश्यकता' (need) के रूप में माना जाता है।

(5) अप्रभावी प्रशासनिक सगठन

भ्रष्टाचार प्रशासनिक कमी से भी पनप सकता है। देखभाल व सतर्कता की कमी, प्रशासनिक कर्मचारियों को अत्यधिक शक्ति देना, गैरजिम्मेदारी, त्रुटिपूर्ण सूचना व्यवस्था, आदि अधिकारियों को न केवल भ्रष्ट होने का अवसर प्रदान करते हैं बल्कि भ्रष्ट तरीके अपनाने के बाद भी वे अप्रभावित रहते हैं।

भ्रष्टाचार के कारणों को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैधानिक और न्यायिक श्रेणी में भी रखा जा सकता है। आर्थिक कारणों में, उच्च जीवनशैली के प्रति अति मोह, मुद्रा प्रसार, लाइसेंस प्रणाली तथा ज्यादा लाभ लेने की प्रवृत्ति है। सामाजिक व्यवसायियों में ईमानदारी की कमी, जीवन के प्रति भौतिकतावादी दृष्टिकोण, सामाजिक मूल्यों में गिरावट, अशिक्षा, अर्जनशील (acquisitive) सास्कृतिक गुण, सामन्तवादी स्मृतिया (feudalistic hangover), जनता की सहनशीलता व उदासीनता, तथा शोषणवादी सामाजिक सरचना हैं। राजनैतिक कारणों में, राजनैतिक सरक्षण, अप्रभावी राजनैतिक नेतृत्व, राजनैतिक तटस्थता (apathy), राजनैतिक नैतिकता, चुनाव में धन देना, राजनैतिक और राजनैतिक उप-सस्कृति के साथ साठगाठ, आदि हैं। वैधानिक कारणों में अपर्याप्त कानून, कानून में कमिया, कानून पालन कराने में सुस्ती है। न्यायिक कारणों में, महगी न्याय व्यवस्था, न्यायिक उदासीनता, न्यायाधीशों में प्रतिबद्धता की कमी; तथा तकनीकी कारणों से अपराधियों को अधिक छूट देना, आदि हैं।

भ्रष्टाचार को बढाने वाले कुछ कारक इस प्रकार भी है पहला कारक है एक अधिकारी के हाथ में शक्ति का केन्द्रित होना जिसके लिए मनमाना निर्णय करना सम्भव है और पीडित

नागरिक प्रभावी हल पाने की स्थिति में नही रहता। शक्ति और विवेक कार्यकारिणी, पुलिस और न्यायपालिका में निहित हैं जिसके सभी सदस्य चरित्रवान नहीं होते हैं। दूसरा कारक है आर्थिक व सामाजिक पिछडापन। लोकसेवक और उसके ग्राहकगणों (clientele) की प्रस्थिति के बीच फासला इतना अधिक होता है कि लोकसेवक समाज के प्रति अपने दायित्वों को भूल जाता है और ग्राहकगण उसकी अपमान भरी भाषा भी सहन करते हैं। तीसरा कारक है उपनिवेशवादी और सामन्ती ताकतों से शक्ति प्राप्त लोगों की जनता के द्वारा आधीनता स्वीकार करना। चौथा कारक है अधिकारियों का गैर जिम्मेदारीपूर्ण रवैया और प्रशासनिक विलम्ब। पाँचवा कारक है भ्रष्टाचार के मामलों से उदासीनता से निपटना। जो लोग श्रेणीक्रम का लाभ उठाते हैं और शक्तिशाली होते हैं वे जबावदेही से कतराते हैं और भ्रष्ट अधीनस्थ व्यक्ति के खिलाफ कार्यवाही करने में ढीलापन दिखाते हैं। यह बात पुलिस, सचिवालय, पी डब्ल्यू डी, सीमाशुल्क (customs) और कई अनेक विभागों में है। अंतिम कारक जनता की चीख-पुकार में कमी तथा जनमच की कमी है जो भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठा सके। हमारी सामाजिक व्यवस्था ऐसी 'मुलायम' है कि लोग सबसे भ्रष्ट व्यक्ति के विरुद्ध निष्क्रिय और गूंगे बन जाते हैं, उनके समाज विरोधी व्यवहार को सहन करते हैं और शक्तिशाली जन-प्रचार करने में असफल रहते हैं।

भ्रष्टाचार का प्रभाव (Impact of Corruption)

भ्रष्टाचार की बात करते समय क्या हमें बडे वित्तीय मामलों या घोटालों पर ही बात करनी चाहिए या फिर सार्वजनिक, नौकरशाही, औद्योगिक, सस्थात्मक आदि प्रकार के भ्रष्टाचार पर या फिर उन मामलों पर भी जो दिखाई तो नही देते किन्तु हमारे दैनिक जीवन में छाए रहते हैं और हमारे नैतिक तानेबाने को कमजोर बनाते रहते हैं। कुछ लोग महसूस करते हैं कि हमें भ्रष्टाचार को कई श्रेणियों मे बाट लेना चाहिए। एक विचार के अनुसार भ्रष्ट कार्य का आधार 'धन राशि' (amount) होनी चाहिए, जबकि दूसरा विचार है कि 'आवश्यकता' (need) पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए। एक बडे लाभ की प्राप्ति के लिए खर्च किए गए थोडे रुपये पर परेशानी नही होनी चाहिए। दूसरा विचार यह है कि 'वांछित सेवा' प्राप्त करने के लिए 'खर्च' की गई राशि चिन्ता का विषय नही होनी चाहिए। भ्रष्टाचार तभी आता है जब कीमत चुकाई जाती है लेकिन उसके लिए कोई सेवा नही की गई। लेकिन भोजन में मिलावट या नकली दवाए बेचने पर और इसी प्रकार के मामलों को क्या कहें? सामान्यत हमारे दैनिक जीवन में ऐसे मामले 'भ्रष्टाचार' नही कहे जाते। क्या परीक्षा में नकल करवाना भ्रष्टाचार है? क्या उत्तर पुस्तिका में परीक्षक द्वारा अक बढाए जाना, किसी मित्र की सिफारिश पर या नातेदार या सहयोगी के कहने पर, (लेकिन धन स्वीकार कर के नही) भ्रष्टाचार है? अपने बचाव में परीक्षक कहते हैं कि वे 'एहसान' करते हैं और एहसान करना भ्रष्टाचार कैसे हो सकता है? बहुत से लिपिक कार्यालय जाते हैं और उपस्थिति-पंजिका पर हस्ताक्षर कर देते हैं, लेकिन अपनी कुर्सी पर नही मिलते। वे तभी उपलब्ध होते हैं जब उन्हें फाइल आगे बढाने के लिए धन दिया जाता है। यहा धन लेना भ्रष्टाचार है।

कुछ लोग कहते है कि जब भ्रष्टाचार अमेरिका, जापान, इग्लैण्ड, फ्रान्स, कनाडा और

जर्मनी जैसे विकसित देशों में है तो भारत में अनावश्यक रूप से लोग इसके लिए क्यों चिन्तित हैं? यह लोग भूल जाते हैं कि भ्रष्टाचार की प्रकृति उन देशों में हमारे देश से भिन्न है। इन देशों में भ्रष्टाचार केवल उच्चस्थ व्यापारी लोगों के बीच होता है, जबकि भारत में हमें रेल आरक्षण के लिए, न केवल व्यावसायिक सस्थाओं में प्रवेश हेतु बल्कि बच्चों को प्राथमिक स्कूल में प्रवेश के लिए भी, सिनेमा टिकट खरीदने के लिए, गैस सिलेण्डर खरीदने के लिए, बिना हेल्मेट स्कूटर चलाने के लिए, बकाया राशि (arrears) का बिल पास कराने के लिए, टैक्स वापस लेने (refund) के लिए पैसा देना पडता है। अन्य देशों में जब अवैध वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए पैसा दिया जाता है, भारत में वैध और अधिकारिक चीजों को प्राप्त करने के लिए पैसा देना पडता है। आम आदमी के दैनिक जीवन को यह सब बातें प्रभावित करती हैं। अतः हमें ऐसे भ्रष्ट कार्यों पर भी चिन्ता करनी है।

भ्रष्टाचार ने हमारे समाज को कई प्रकार से प्रभावित किया है (1) इसने देश के आर्थिक विकास को रोका है, (2) इसने समाज में हिंसा और अराजकता को जन्म दिया है क्योंकि भ्रष्ट व्यक्ति के पास कानून लागू करने वालों को अपने फायदे के लिए खरीदने की धन शक्ति है, (3) इसने जातिवाद, भाषावाद, और सम्प्रदायवाद को जन्म दिया है, (4) इसने नैतिकता को गिराया है और वैयक्तिक चरित्र को नष्ट किया है, (5) इसने अकुशलता को बढ़ाया है, भाई-भतीजावाद और सुस्ती में वृद्धि की है और प्रशासन के हर क्षेत्र में अनुशासनहीनता को जन्म दिया है जिससे साधारण आदमी का जीवन कष्टप्रद हो गया है, (6) इसने जनता की दृष्टि में अफसरों की विश्वसनीयता को कम कर दिया है, (7) इसने देश में काले धन में वृद्धि की है, (8) इसने खाने-पीने की चीजों मे, दवाओं में मिलावट का रास्ता दिखाया है और उपभोक्ता पदार्थों में कमी पैदा की है, और (9) इसने सरकार को केन्द्र और राज्य दोनों स्तरों पर अस्थिर बनाया है।

कानून/विधान (The Legislation)

भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम (Prevention of Corruption Act) सितम्बर 1988 में लागू हुआ। इसमें 1947 के भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के प्रावधान समाहित थे और आईपीसी (IPC) की कुछ धाराएं, अपराधी प्रक्रिया सहिता (Criminal Procedure Code) और 1952 का अपराधी कानून अधिनियम (Criminal Law Act) के प्रावधान भी समाविष्ट हैं। यह पता लगने पर कि द्वितीय महायुद्ध के बाद लोक सेवकों में रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार काफी बढ़ गए हैं और बहुत से स्वार्थी अधिकारियों ने बहुत धन इकट्ठा कर लिया है तथा मौजूदा आईपीसी. और सी. आरपीसी समस्याओं से जूझने के लिए अपर्याप्त है, 1947 का भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम पारित किया गया। सीआरपीसी (Cr PC) में लोक सेवकों से सम्बन्धित अपराध सज्ञेय (cognizable) नहीं है, लेकिन 1947 के अधिनियम ने अपराधियों के विरुद्ध अपराध की कुछ मान्यताएँ बनाना न्यायालय के लिए आवश्यक हो गया। 1947 के अधिनियम के अन्तर्गत साक्ष्य प्रस्तुत करने का बोझ आरोपी पर आ गया। आरोपी के विरुद्ध जाँच उप-पुलिस अधीक्षक से नीचे के अधिकारी द्वारा नहीं की जा सकती। 1947 के अधिनियम ने रिश्वत लेना, धन का दुरूपयोग करना, आर्थिक लाभ

उठाना, आय से अधिक सम्पत्ति जमा करना तथा अधिकारिक पद का दुरूपयोग करना आदि भ्रष्टाचार के कार्य व अपराध घोषित किये हैं। परन्तु मुकदमा चलाने का अधिकार केवल विभागीय अधिकारियों को दिया है, न कि केन्द्रीय जॉंच ब्यूरो (CBI) को।

1988 अधिनियम में 'लोक सेवक' शब्द का क्षेत्र व्यापक कर दिया गया और इसमें बडी सख्या में कर्मचारियों को शामिल किया गया। केन्द्रीय कर्मचारियों और केन्द्र प्रशासित राज्यों के कर्मचारियों के अलावा, सार्वजनिक उपक्रमों, राष्ट्रीकृत बैंकों, केन्द्रीय व राज्यों से सहायता प्राप्त सहकारी समितियों के पदाधिकारी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कर्मचारी, उप कुलपति, केन्द्रीय व राज्य सरकारों से आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली सस्थाओं में वैज्ञानिक और प्रोफेसर, तथा स्थानीय प्रशासन से सम्बन्धित सस्थाओं के कर्मचारी, सभी को 'लोक सेवक' घोषित कर दिया गया। यद्यपि, ससद सदस्य तथा विधायिकाओं के सदस्य सार्वजनिक कार्य करते है तथापि उन्हें इस अधिनियम की परिधि से अलग रखा गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत 1947 के अधिनियम में वर्णित सभी भ्रष्ट कृत्य सम्मिलित किए गए हैं (रिश्वत, दुरूपयोग, धन सम्बन्धी लाभ उठाना, आमदनी से अधिक सम्पत्ति एकत्र करना)। अधिनियम सम्पूर्ण भारत में (जम्मू और कश्मीर को छोडकर) सभी नागरिकों पर लागू होता है, भले ही वे देश में रहते हों या देश से बाहर।

यदि लोक सेवक के विरुद्ध न्यायालय में अपराध सिद्ध हो जाता है तो इसमें कम से कम 6 माह के कारावास का दण्ड है, लेकिन यह 5 साल से अधिक नही हो सकता। इस प्रकार 6 माह का कारावास तो आवश्यक (mandatory) है ही और न्यायालय का विवेक इस सम्बन्ध में मान्य नही है। यदि लोक सेवक को यह अपराध करने का अभ्यस्त पाया जाता है तो उसको दो वर्ष से कम की सजा नही होती लेकिन सात वर्ष से अधिक का कारावास और आर्थिक दण्ड नही हो सकता।

भ्रष्टाचार को रोकने के लिए किए गए उपाय
(Measures Taken to Contain Corruption)

विद्यमान केन्द्रीय जाच ब्यूरो और भ्रष्टाचार-विरोधी पुलिस जॉंच पडताल, कार्यवाही प्रारम्भ करने और भ्रष्ट मत्रियों तथा शीर्षस्थ अधिकारियों को दण्डित करने मे असहाय सिद्ध हुए हैं। इसमे आश्चर्य नही, हाल ही में लोगो ने 'न्यायिक सक्रियवाद' (judicial activism) की बात करना शुरु कर दिया है। यह सर्वविदित है कि सीबीआई बिहार के पूर्व मुख्यमत्री के मामले की तेजी से जाच केवल उच्च न्यायालय के सरक्षात्मक शाखा के अन्तर्गत ही कर सकी। सीबीआई सरकारी तन्त्र होने के कारण सरकार को दरकिनार करके लम्बी अवधि के आधार पर न्यायालय को सीधे रिपोर्ट नही कर सकती। इसकी कार्यप्रणाली सरकारी देखरेख के बिना नही चलती। सीबीआई के अधिकारियों ने अपने ऊपर राजनैतिक दबाव की बात स्वीकार की है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न और मध्यम कोटि के लोक सेवकों पर सतर्कता बरतने में सीबीआई की भूमिका सीमित ही होगी। लोकपाल और लोकायुक्तों को ही मत्रियों तथा उच्चस्थ राजनीतिज्ञों को दण्डित करना होगा। समाज केवल पुलिस की निगरानी पर निर्भर नही रह सकता क्योंकि पुलिस कुख्यात है कि वह भ्रष्ट अधिकारियों के विरुद्ध साक्ष्यों को मिटाने, तोडमोड कर प्रस्तुत करने तथा झूठे मामले बनाने में माहिर है।

श्री के सन्थानम की अध्यक्षता में एक भ्रष्टाचार निरोधक समिति का गठन 1960 में किया गया था। विभाग के कामकाज को कुशल बनाने के लिए सन्थानम समिति ने यह उपाय सुझाए थे. (1) सतर्कता (vigilance) अधिकारियों को भ्रष्टाचार की शिकायतों की जाँच करने की स्वतत्रता देना, न कि भ्रष्ट प्रथाओं की जाँच करने की, (2) सतर्कता अधिकारियों को कुशल कार्य के लिए प्रोन्नति का आश्वासन देना, (3) उच्चस्थ अधिकारियों के मामलों की जाँच पडताल के लिए सतर्कता अधिकारियों को उनके मूल केडर में वापस भेजने से सुरक्षा का आश्वासन देना, (4) केन्द्रीय सतर्कता आयोग में केन्द्रीय लोक सेवाओं और तकनीकी सेवाओं को प्रतिनिधित्व देना। (यह सिफारिश 1998 के अन्तिम महीनों में सतर्कता आयोग का पुनर्गठन करके लागू कर दी गई, (5) सतर्कता विभाग के अराजपत्रित कर्मचारियों को विभाग के नियमों और कार्यप्रणाली के विषय मे गहन प्रशिक्षण देना क्योंकि सतर्कता के 80 % मामलों की छानबीन निम्न स्तर पर ही होती है, (6) मामलों की छानबीन में विलम्ब को रोकने के लिए सरकार द्वारा व्यवस्था के चरणों की सख्या में कमी।

इस समिति की सिफारिशों के आधार पर ही केन्द्र सरकारी और अन्य कर्मचारियो के विरुद्ध भ्रष्टाचार के मामलों को देखने के लिए 1964 में केन्द्रीय सतर्कता आयोग की स्थापना की गई थी। केन्द्रीय सरकार ने निम्नलिखित चार विभागों की स्थापना भ्रष्टाचार विरोधी उपायों के अन्तर्गत की. (i) कार्मिक एव प्रशिक्षण विभाग मे प्रशासनिक सतर्कता प्रभाग (Administrative Vigilance Division), (ii) केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (CBI), (iii) राष्ट्रीयकृत बैंकों/सार्वजनिक उपक्रमों/मन्त्रालयों/विभागों में घरेलू सतर्कता इकाइया और (iv) केन्द्रीय सतर्कता आयोग (C.V.C.)।

पूर्व मुख्य सतर्कता आयुक्त द्वारा भ्रष्टाचार से निपटने के लिए दिये गये कुछ सुझाव विचारणीय है. (देखें, *Indian Journal of Public Administration*, July-September 1997 438) (1) केन्द्रीय मत्रियों और सासदों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए (राजनीतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध) शक्तिवान लोकपाल सस्था की स्थापना करना, (2) सी बी आई पर निर्भर हुए बिना लोकपाल की अपनी स्वतत्र जाँच पडताल करने वाली तथा मुकदमा चलाने वाली ऐजेन्सी होनी चाहिए, (3) लोकपाल के पास अपनी छानबीन करने के बाद मत्री के विरुद्ध विशेष अदालत में प्रथम दृष्टा दोषी ठहराए जाने के बाद मुकदमा चलाने की शक्ति होनी चाहिए, (4) न्यायालय में आरोपी मत्री के विरुद्ध आरोप पत्र दाखिल किए जाने के बाद उसे आवश्यक रूप से अपने पद से इस्तीफा दे देना चाहिए, (5) मुख्य सतर्कता आयुक्त को केन्द्रीय लोकायुक्त का पद भी दिया जाना चाहिए, (6) केन्द्रीय लोकायुक्त, सामान्य अधिकारियों और कर्मचारियों और पूछताछ तथा अभियोग चलाने वाली एजेन्सियों से जुडा रहना चाहिए।

सी.वी.सी. (CVC) के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं· (i) किसी भी लोक सेवक के विरुद्ध भ्रष्टाचार की शिकायत आने पर उसकी जाँच पडताल करना, (ii) भ्रष्टाचार के लिप्त आरोपी कर्मचारी के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के प्रकार के विषय में अनुशासनात्मक अधिकारी को परामर्श देना, (iii) नियमित मामला पजीकृत करने के लिए सी.बी.आई को निर्देशित करना, और (iv) मन्त्रालयों/विभागों/बैंकों/ सार्वजनिक उपक्रमों में सतर्कता और भ्रष्टाचार निरोधी कार्यों का निरीक्षण और उन पर रोक लगाना।

राजनीतिज्ञो और सार्वजनिक कम्पनियो के भ्रष्टाचार पर आयोग
(Commissions on Corruption of Politicians and Public Companies)

गत 50 वर्षों में राजनीतिज्ञों और सार्वजनिक कम्पनियों के विरुद्ध लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच के लिए भारत सरकार द्वारा दो दर्जन से भी अधिक आयोग (1955 और मार्च 2000 के बीच) नियुक्त किए जा चुके हैं। इनमें से नौ आयोग तो 1963 से 1983 तक ही विविध राज्यों के मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध नियुक्त किए गए थे। ये थे पजाब के मुख्यमत्री सरदार प्रताप सिंह कैरों के विरुद्ध दास आयोग (1963), जम्मू-कश्मीर के मुख्यमत्री बख़शी गुलाम मुहम्मद के विरुद्ध आयगर आयोग (1965), गोआ के मुख्यमत्री दयानन्द भाण्डोडकर के विरुद्ध कपूर आयोग (1968), उड़ीसा के मुख्यमत्री बीजू पटनायक के विरुद्ध खन्ना आयोग (1967), असम के मुख्यमत्री वी के मेहताब के विरुद्ध मधोकर आयोग (1968), तमिलनाडु के मुख्यमत्री करुणानिधि के विरुद्ध सरकारिया आयोग (1976), कर्नाटक के मुख्यमत्री देवराज उर्स के विरुद्ध ग्रोवर आयोग (1977), आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमत्री वेंगल राव के विरुद्ध विमदा लाल आयोग (1977), और पजाब के मुख्यमत्री जैलसिंह के विरुद्ध गुरुदेव सिंह आयोग (1979)।

मत्रियों के विरुद्ध पाँच आयोग इस प्रकार थे केन्द्रीय वित्त मत्री टीटी कृष्णामाचारी (जीवन बीमा निगम के अध्यक्ष और सचिव भी) के विरुद्ध छागला आयोग (1956), बिहार के पाँच मत्रियों के विरुद्ध अय्यर आयोग (1967), बिहार के 13 मत्रियों के विरुद्ध मधोलकर आयोग (1968), केरल के मत्री आर के कुँजू के विरुद्ध आयोग (1969), और केन्द्रीय रक्षामत्री बन्सीलाल के विरुद्ध (ठेके देने पर) रेड्डी आयोग (1977)।

भ्रष्टाचार के ही आरोपों के विरुद्ध पाँच अन्य आयोग इस प्रकार थे सरकारी मामलों में अतिरिक्त सवैधानिक अधिकारों का प्रयोग करके हस्तक्षेप करने तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध जाच के लिए मोरारजी देसाई के पुत्र कान्ति भाई देसाई और प्रधानमत्री चरण सिंह की पत्नी गायत्री देवी के विरुद्ध वैद्यालिंगम आयोग (1979), केरल और तमिलनाडु स्पिरिट घोटाले के विरुद्ध कैलासम सदाशिवम और रे आयोग (1981), बोफोर्स तोप सौदे में भ्रष्टाचार के आरोपों पर जाँच हेतु शकरानन्द समिति (1990) और सुरक्षा घोटाले पर जानकीरमन समिति (1992)।

बोहरा समिति की स्थापना जुलाई 1993 में भारत में भ्रष्टाचार के अध्ययन के लिए की गई थी जिसमें सरकारी कार्यकर्त्ताओं, राजनैतिक महानुभावों, अपराधी गठजोड और माफिया सगठनों के बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया जाना था। समिति ने अक्टूबर 5, 1993 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। सरकार 18 माह तक इस रिपोर्ट को दबाए रही लेकिन ससद में विपक्षी दलों के दबाव डाले जाने पर 1 अगस्त, 1995 को यह रिपोर्ट ससद के दोनों सदनों में रखी गई। इस रिपोर्ट में राजनीतिज्ञों और अपराधियों के बीच गठजोड पर विध्वसक प्रहार किए गए हैं। इसमें कहा गया है कि माफिया जाल एक समानान्तर सरकार चला रहा है जिससे राज्यतत्र निरर्थक हो गया है। समिति ने तो यह भी कह डाला कि 'कुछ' सासद और विधायक केवल इन 'गिरोहों' और सशस्त्र सेनाओं के बल पर ही राजनैतिक सत्ता में आए हैं। समिति में एक सर्वाधिकार ऐजेन्सी की स्थापना की सिफारिश की है जो सभी

एजेन्सियों से सूचना एकत्र करे, उनकी तुलना करे, और उन अपराधी सिण्डिकेटों, तस्कर गिरोहों और देश में कार्यरत आर्थिक लॉबीज के विरुद्ध तुरन्त प्रभावी और निरोधक कार्यवाही करे जिन्होंने स्थानीय स्तर पर सरकारी तन्त्र से तथा राज्य और केन्द्रीय स्तर पर राजनीतिज्ञों और प्रचारतन्त्र से वर्षों से सम्पर्क जाल विकसित कर लिया है।

भारत में 11 राज्यों में (बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान और उत्तर प्रदेश आदि सहित) मन्त्रियों, विधायकों, सरकारी कार्यकर्त्ताओं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच के लिए लोक आयुक्त की स्थापना की गई है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी कोई सस्था नही है जो मन्त्रियों की ईमानदारी व नैतिकता पर निगाह रखने का कार्य करती रहे, यद्यपि अगस्त 1992 में और पुन अगस्त 1994 में प्रधानमन्त्री ने वायदा किया था कि स्वीडन के ओमबड्समैन (Ombudsman) और योरोप के कुछ अन्य देशों की तरह यहा भी कानूनी तौर पर केन्द्रीय स्तर पर एक सस्था बनाई जायेगी। गत 26 वर्षों में पाच बार (1968, 1971, 1977, 1985 और 1989 मे) लोकपालों को नियुक्त करने के सम्बन्ध में लोकसभा में लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किया गया था किन्तु पारित कभी नही किया गया। सयुक्त मोर्चा सरकार ने भी सितम्बर 1996 में लोकपाल विधेयक ससद में पेश किया था जो भी पास नही हो सका। 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी की राजग गठबन्धन सरकार ने भी लोकपाल बिल पास करने का आश्वासन दिया था परन्तु अक्तूबर 2000 तक कुछ नही हो पाया है। वास्तव में रूकावट यह है कि राजनैतिक इच्छाशक्ति का अभाव रहा है। लोकपाल का दूसरा स्थानापन्न (substitute) नही है जिसका कार्यक्षेत्र उच्च पदस्थ लोगों, प्रधानमन्त्री सहित, के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने तक ही सीमित हो। भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के अन्तर्गत मुकदमा चलाना केवल तभी सम्भव है जब शिकायतकर्ता को सरकार की अनुमति प्राप्त हो जाये जो कि शायद ही कभी किसी खास कारण पर दी जाती है। जब तक सरकार सहमत न हो, कोई भी नागरिक विशेष अदालत अधिनियम के अन्तर्गत अपील नही कर सकता कि कार्यवाही के लिए प्रथम दृष्टा मामला बनता है। लोकपाल में यह दोनों बाधाएँ नही होंगी जो कि किसी व्यक्ति द्वारा एक शपथ-पत्र भर कर चलाया जा सकता है।

भ्रष्टाचार से सघर्ष (Combating Corruption)

क्या हमारे समाज में भ्रष्टाचार को रोकना सम्भव है? कई नेता जब प्रथम बार सत्ता में आते हैं तो घोषणा करते हैं कि वे भ्रष्टाचार मिटाने के लिए वचनबद्ध हैं, लेकिन जल्दी ही वे स्वय भ्रष्ट हो जाते हैं और धन इकट्ठा करना शुरु कर देते है। 1977 में जब बगाल में कम्युनिस्ट सरकार सत्ता में आई, तब यह कहा जा रहा था कि यह कुछ ही वर्षों में भ्रष्टाचार समाप्त कर देगी। आज पार्टी में अधिकतर सत्ताधारी नेता इस हद तक भ्रष्टाचार में लिप्त हैं कि पोलितब्यूरों का एक सदस्य, जो एक समय त्रिपुरा का मुख्यमन्त्री था, को अप्रैल 1995 में पार्टी से ही इस कारण निकाल दिया गया, क्योंकि उसने पार्टी के शीर्षस्थ व्यक्ति को भ्रष्ट और भाई-भतीजावाद में लिप्त होने का दोषी ठहराया। 1984 में जब राजीव गाधी प्रधानमन्त्री बने उन्होंने भी भ्रष्टाचार के विरूद्ध जग का ऐलान कर दिया लेकिन जल्दी ही वे स्वय बोफोर्स घोटाले में आरोपित हो गए। इस प्रकार भ्रष्टाचार एक सस्थात्मक

(institutionalised) रूप ले चुका है।

भ्रष्टाचार के विषय में कई भ्रामक धारणाएं (myths) हैं जिनको हमें मिटाना पड़ेगा, यदि इससे हम वास्तव में लड़ना चाहते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं. भ्रष्टाचार जीवनशैली बन गया है और अब इसके विषय में कुछ भी नहीं किया जा सकता, या कि भ्रष्टाचार स्वतंत्रयोत्तर काल की घटना है और यह जनतंत्र में लोगों को अत्यधिक आजादी देने का परिणाम है, या कि गरीब और पिछड़े देशों के लोग सामान्यत बेईमान और स्वभाव में अविश्वसनीय होते हैं और आसानी से ललचा जाते हैं, जबकि विकसित देशों के लोग भ्रष्टाचार में कम लिप्त होते हैं, या कि भ्रष्टाचार केवल निम्न या आधीनस्थ स्तर पर ही होता है, या कि भ्रष्टाचार शिक्षित लोगों की अपेक्षा अशिक्षित लोगों में अधिक पाया जाता है, या कि भ्रष्टाचार प्रमुखत राजनीतिज्ञों के कारण फैलता है। यह सभी भ्रमात्मक तथ्य अत्यन्त भद्दे और अशोधित (crude) हैं और भ्रष्टाचार को रोकने के उपायों की योजना बनाते समय हमें इनसे सावधान रहना है।

भ्रष्टाचार को कम करने के कुछ तरीके सुझाए गए हैं। ये हैं एक, भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करने के लिए हमें कानून, कार्यविधि, और प्रशासन पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। विशिष्ट स्तर और विशिष्ट व्यक्तियों के विशेष स्थितियों में काम करने और व्यवहार करने के सम्बन्ध में कानून और नियमों का होना आवश्यक है। 'बुरे' कानूनों/नियमों को समाप्त किया जाना चाहिए। यदि कानून/नियम अत्यन्त कठोर, जटिल और द्विअर्थक हों तो इससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा ही। कानून ऐसे न हों कि उनमें विवेक प्रयोग की अत्यधिक छूट हो। विवेक का प्रयोग अधिकारी के स्तर और उसकी भूमिका के आधार पर निश्चित होना चाहिए। प्रशासनिक कारकों में सरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनों ही कारक शामिल हैं। सगठन की सरचना किस प्रकार की है यह तथ्य भ्रष्टाचार के लिए कमजोरियों का निर्धारण करेगा। प्रकार्यात्मकता (functioning) कर्म करने की निरन्तर प्रक्रिया को इगित करती है जो कि कार्य की गुणवत्ता, परिमाण, निरीक्षण तथा मान्य कर्मियों की अधिकता दर्शाती है। दो, कृत्रिम कमी और अभावों पर नियत्रण हो जिससे अवैध सन्तुष्टि की सुविधा को बल मिलता है, तीन, सतर्कता में वृद्धि हो। यह एक भ्रम है कि सतर्कता से कुशलता में बाधा उत्पन्न होती है, बल्कि यह तो इसमें वृद्धि करती है। सद्दिग्ध अधिकारी जिनकी निष्ठा सन्देहास्पद हो, को सवेदनशील पदों से दूर रखा जाये। भ्रष्टाचार के ज्वलत बिन्दुओं का अचानक निरीक्षण किया जाये। चार, उदारीकरण की नीति को सावधानी से लागू किया जाये। कभी-कभी उदारीकरण और मुक्त बाजार की नीतिया भ्रष्टाचार को कम करती हैं लेकिन वर्तमान में उदारीकृत अनुमतिया (sanctions), कोई 'पक्षपात' प्राप्त करने के बदले में स्वीकृत की जाती हैं। अमेरिका, जापान, दक्षिणी कोरिया, कनाडा, चीन, फ्रास, जर्मनी जैसे पूँजीवादी देश अत्यधिक भ्रष्ट समाजों में गिने जाते हैं। जापान में तो आए दिन हम भ्रष्टाचार, घोटालों आदि के विषय में सुनते रहते हैं जो कि बेईमानी और दम्भ (hypocrisy) के सस्थानीकरण को दर्शाते हैं। पाँच, चुनाव के खर्चों पर सख्ती से नियत्रण लगाया जाये। अन्तिम, भ्रष्टाचार को सफलता से रोकने के लिए लोगों का सहयोग लिया जाना चाहिए। हम अन्तिम दो उपायों की विस्तार से विवेचना करेंगे।

भ्रष्टाचार के मामलों की सूचना पुलिस को क्यों नही दी जाती? क्या इसलिए कि

लोगों को डर रहता है कि भ्रष्ट लोग उन्हें ही हानि पहुचा देंगे ? वे उदासीन होते हैं कि समाज को सुधारना उनका कर्त्तव्य नही है, और निराशावादी होते हैं कि भ्रष्ट लोग शक्तिशाली और प्रभावशाली लोग होते हैं और उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नही की जायेगी। तथापि, ऐसे लोग हैं जो भ्रष्टाचार के मामलों को अधिकारियों के समक्ष लाने का प्रयास तो करते हैं। ये वे लोग होते हैं जो बेचैन रहते हैं, जिनमें अपराध भावना नही होती है और जिन्हें समाज की भलाई के लिए कुछ करने में चैन मिलता है। भ्रष्टाचार एक बहुमुखी शैतान है जिसको लोगों के सामूहिक प्रयास से ही पराजित किया जा सकता है। यदि जनसमुदाय यह मानस बना ले कि बेईमान राजनीतिज्ञों को नही चुना जाना है तो आधी बाजी जीत ली। लेकिन अहम् प्रश्न यह है कि क्या यह कभी होगा ?

भारत जैसे प्रजातन्त्र में क्या लोग कभी यह महसूस करेंगे कि भ्रष्टाचार जैसी समस्या से लडने के लिए उन्हें अहम् भूमिका निभानी है ? वास्तव में, अधिकतर भ्रष्टाचार इसलिए होता है क्योंकि लोग सहनशील होते हैं और इसके विरुद्ध हल्ला-गुल्ला नही करते हैं तथा शक्तिशाली मंच की कमी भी होती है। यद्यपि अनेक बुद्धिजीवी, शिक्षित, सुपरिचित और स्पष्टवादी नागरिक देश की इस शैतानी समस्या के प्रति चिन्तित रहते हैं लेकिन वे अपना विरोध, शक्तिशाली जनमत बनाने में नही लगा पाते और असफल हो जाते हैं। जिम्मेदार और जागरूक नागरिकों का सम्मिलित प्रयास भ्रष्टाचार के स्तर को नीचे गिरा सकता है। हमारे विश्वविद्यालयों के छात्र भी ऐसे समाजोन्मुखी उद्देश्यों को लेकर इस बुराई के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर सकते हैं।

एक और प्रभावशाली उपाय ऐसे तरीकों को लागू करना हो सकता है जो राजनैतिक दलों के चुनावी धन को स्थाई रूप से प्राप्त करने में मदद करें, या केन्द्रीय सरकार चुनाव कोष से चुनाव को वित्त व्यवस्था प्रदान करे। यह व्यवस्था जर्मनी, नार्वे और स्वीडन और योरोप के कुछ प्रगतिशील देशों में अपनाई जा रही है। राजनीतिक दलों को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता पूर्व चुनावों में उनको मिले वोटों के आधार पर की जा सकती है। यह धन प्रति वोट के हिसाब से, यों कहिए दो रुपया प्रति वोट, या इसी प्रकार निश्चित किया जा सकता है। प्रति वोट के हिसाब से धन देने का विचार ससद में हाल के ही वर्षों में चर्चा का विषय बना है, लेकिन वर्तमान (अक्टूबर 2000) राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबधन सरकार महसूस करती है कि वह नकद धन देने में असमर्थ है। यह सत्य प्रतीत नही होता। मुद्रास्फीति की वर्तमान दर पर संसद और विधानसभाओं के चुनाव के लिए लगभग 1000 करोड रुपये की आवश्यकता है। क्योंकि चुनाव प्रति 5 वर्ष में होते हैं अत सरकार को केन्द्रीय बजट में केवल 200 करोड रुपये वार्षिक रखने होंगे। क्योंकि हमारा वार्षिक बजट 50,000 करोड रुपये से भी अधिक का होता है, इसका अर्थ हुआ कि वार्षिक बजट में 0 4% ही चुनाव पर खर्च होगा। यदि सरकार यह समझती है कि इतना थोडा सा धन भी नहीं दिया जा सकता तो वोटों पर चुनाव कर लगाया जा सकता है। चुनाव को सरकारी सहायता भ्रष्टाचार को काफी हद तक कम करेगी। चुनावों में राज्य द्वारा धन दिया जाना न केवल भ्रष्ट व्यापारियों एव स्वार्थी समूहों से आने वाले योगदान को कम करेगा बल्कि स्वतत्र एव स्वच्छ चुनावों में भी योगदान करेगा और विधायिकाओं में ईमानदार व्यक्तियों को आकर्षित करेगा तथा विविध पार्टियों द्वारा खर्च किए गए धन को समान करेगा।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त, लोकपालों की नियुक्ति उच्चासीन लोगों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों को देखने के लिए एक प्रभावी उपाय सिद्ध हो सकता है। वर्तमान में 11 राज्यों में नियुक्त लोकपाल निष्प्रभावी हो गए हैं क्योंकि कई अयोग्यताएं और कमियां रह गई हैं। उनके ही अनुभवों से पता लगा कि लोकपालों के अधिकार विस्तृत किए जाने की आवश्यकता है। उनकी सिफारिशों को कानूनी दर्जा दिया जाना चाहिए। इनकी सिफारिशों को ससद पटल पर रखा जाना चाहिए और प्रचार माध्यमों द्वारा प्रकाशित किया जाना चाहिए। लोकपाल के लिए उच्चतम न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश या दो या तीन अन्य न्यायाधीश होने चाहिए। उनका चयन कार्यपालिका द्वारा न होकर चार लोगों की एक समिति द्वारा होना चाहिए, जिसमें प्रधानमत्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश, लोकसभा के अध्यक्ष, और विपक्ष के नेता होने चाहिए। लोकपाल के पास स्वतत्र जाँच तन्त्र होना चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आजकल भ्रष्टाचार लोगों को कोई आघात नही पहुचाता। जब इस प्रकार के कृत्य पकडे भी जाते हैं, तब भी मत्री और बडे अधिकारी तो आजाद घूमते हैं। ज्यादा से ज्यादा उनका स्थानान्तरण कर दिया जाता है। जब तक भ्रष्टाचार पर *नैतिक, कानूनी और सामाजिक प्रतिबन्ध नही लगते तब तक इसको समाप्त करने या कम* करने की कोई सम्भावना नही है। वैसे भ्रष्टाचार को सभी स्तरों पर जड से उखाड फेंकना सम्भव नही हैं, लेकिन इसे सहनशीलता की सीमा तक रोके रखना सम्भव है। भ्रष्टाचार एक कैंसर की तरह है जिससे प्रत्येक भारतीय को सावधान रहना है। सार्वजनिक जीवन में ईमानदार लोग जो अपने चरित्र और ईमानदारी के लिए सुविख्यात हैं, आर्थिक क्षेत्र में सरकारी नियत्रण की कमी, उदारीकरण की नीति और चुनावी खर्चे में नियन्त्रण, भ्रष्टाचार को रोकने के महत्वपूर्ण नुस्खे हो सकते हैं। लोगों ने भ्रष्ट व्यक्तियों को बहुत समय से सहन किया है। अब समय आ गया है जब गम्भीर राजनैतिक शासकों द्वारा भ्रष्टाचार को रोकने की बात को गम्भीरता से लिया जाए।

14

काला धन

(Black Money)

कालाधन एक सामाजिक व आर्थिक समस्या है। सामाजिक सन्दर्भ में इस समस्या को समाज पर बुरे समाजशास्त्रीय प्रभाव डालने वाली समस्या माना जाता है, जैसे, सामाजिक असमानता, सामाजिक वंचनाएं, आदि। आर्थिक सन्दर्भ में काले धन की समस्या को समानान्तर (parallel) अर्थव्यवस्था, भूमिगत अर्थव्यवस्था, या अनाधिकारिक (unofficial) अर्थव्यवस्था के रूप में देखा जाता है जो सरकार की आर्थिक नीतियों का परिणाम है और जिसका देश की अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्र की सामाजिक विकास योजनाओं पर घातक प्रभाव पड़ता है। जब ग़रीबी जैसी समस्या उन लोगों को प्रभावित करती है जो गरीब हैं, बेरोजगारी उन्हें प्रभावित करती है जो बरोजगार है, शराबखोरी व नशीले पदार्थों का प्रभाव उन पर पडता है जो उन चीजों का उपभोग करते है, काला अथवा बेहिसाबी धन ऐसी समस्या है जो उन्हें प्रभावित नही करती है जिनके पास काला धन होता है बल्कि यह तो समाज के सामान्य आदमी को प्रभावित करती है। इसमें आश्चर्य नही कि इसी कारण इसको एक अलग प्रकार की समस्या कहा गया है।

अवधारणा (Concept)

काला धन कर-अपवंचित (tax-evaded) आय है। यह कानूनी और गैर-कानूनी दोनों तरीकों से अर्जित की जा सकती है। इसका कानूनी स्रोत यह है कि आय अर्जित करने वाले व्यक्ति कर-उद्देश्यों के लिए अपनी समस्त आय को प्रकट नही करते। उदाहरणार्थ, सरकारी डाक्टर का अनाभ्यास भत्ता (non-practising allowance) लेते हुए भी निजी अभ्यास करना, अध्यापकों का ट्यूशन, परीक्षा तथा पुस्तकों की रायल्टी से धन अर्जित करते हुए भी उस आय को आयकर विवरणी में न दर्शाना, वकीलों का अपने आय-व्यय खाते में दर्शायी गई राशि से कही अधिक वसूल करना, आदि। इसका गैर-कानूनी स्रोत है रिश्वत, तस्करी, काला बाजारी, नियंत्रित मूल्यों से अधिक मूल्य पर वस्तुओं का विक्रय, मकान दुकान के लिए 'पगड़ी' लेना, मकान को ऊँची बढी हुई कीमतों पर बेचना किन्तु लेखा-पुस्तकों में काफी कम मूल्य दर्शाना, आदि।

काले धन को सफेद धन में बदलना तथा सफेद धन को काले में बदलना सम्भव है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति वस्तु खरीदे बिना बिक्रीकर भुगतान करके दुकानदार से रसीद प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में वह काला धन बना लेता है क्योंकि रसीद के आधार पर उससे प्रतिपूर्ति (reimbursement) भुगतान मिल ही जाता है। इस मामले में वास्तव में

जिस धन का भुगतान किया ही नहीं गया वह काला धन है। ऐसे मामले में दुकानदार वही वस्तु दूसरे व्यक्ति को बिना रसीद दिए बेच देता है। दूसरी ओर यदि कोई व्यक्ति प्रयोग की हुई कार सफेद धन में 90,000 रुपये देकर खरीदता है, लेकिन केवल 60,000 रुपये की रसीद लेता है तो बेचने वाले के लिए 30,000 रुपये की शेष धनराशि काला धन होगी। इस मामले में सफेद धन काला धन हो जाता है।

काले धन का फैलाव (Magnitude of Prevalence)

किसी भी समाज में काले धन के प्रचलन के महत्व का आकलन करना सरल नहीं है। अमरीका, ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, और इटली में अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न उपाय किए लेकिन काले धन में लगे हुए धन का आकलन नही कर सके। नार्वे और स्वीडन में प्रश्नावली विधि से लोगों से उत्तर निकलवाने का प्रयत्न किया गया कि क्या उन्होंने क्रेता या विक्रेता के रूप में गैर-कानूनी क्रियाकलापों में भागीदारी की थी? इटली में भूमिगत अर्थव्यवस्था का अनुमान वास्तव में रोजगार में लगे हुए और अधिकारिक रूप से रिपोर्ट किए गए श्रम बल के आकार के बीच अन्तर का पता लगाने का प्रयत्न किया गया था। इससे भूमिगत अर्थतंत्र क्षेत्र में उत्पादकता निर्धारण में सहायता मिली। ब्रिटेन ने सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के सरकारी अनुमान को उपभोग पक्ष की आय पक्ष की तुलना के लिए बनाए गए अनुमान से समानान्तर अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। अमरीका में गट्टमैन (Guttman) ने माना कि केवल नकद धन ही गैर-कानूनी लेनदेन में प्रयोग होता है। उसने एक निश्चित अवधि में आर्थिक लेनदेन के लिए वाँछित मुद्रा (required currency) और उसी अवधि में बैंकों से बाहर चलन में आ रही वास्तविक (actual) मुद्रा राशि के बीच के अन्तर का पता लगाने का प्रयत्न किया।

विभिन्न विधियों के प्रयोग के बावजूद समाज में काले धन के महत्व का अनुमान लगाना सम्भव नही है, यद्यपि इसे विश्वव्यापी घटना कहा जाता है। न केवल विकासशील देशों में इसका चलन बताया जाता है, बल्कि अमरीका, ब्रिटेन, रूस, जापान, कनाडा, फ्राँस, जर्मनी जैसे देशों में भी यह प्रचलित है।

लगभग 15 वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सबधी फड (IMF) द्वारा कराए गए अध्ययन (Vito Tangani The Underground Economy, December 1983 31) से पता चलता है कि भूमिगत अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में भारत का स्थान प्रथम है, इसके बाद अमरीका दूसरे स्थान तथा कनाडा तीसरे स्थान पर आता है।

भारत में काला धन या अलिखित धन प्रो कालदार के अनुमान से 1953-54 में 600 करोड रुपये था जबकि 1965-66 में वाचू समिति का अनुमान 1,000 करोड रुपये था और 1969-70 में यह अनुमान 1,400 करोड रुपये था। रागनेकर (Rangnekar) ने काले धन के आकडे 1961-62 में 1,150 करोड रुपये, 1964-65 में 2,350 करोड रुपये, 1968 69 में 2,833 करोड रुपये, और 1969-70 में 3,080 करोड रुपये बताए हैं। चोपडा (*Economic and Political Weekly*, Vol xvii, Numbers 17 and 18, April 24 and May 1, 1982) ने अनुमान लगाया कि 1960-61 में 916 करोड रुपये काला धन था जो 1976-77 में बढकर 8,098 करोड रुपये हो गया। गुप्ता (*Economic and Political Weekly*,

January 16, 1982 : 73) के अनुसार हमारे देश में काले धन की राशि 1967-68 में 3,084 करोड़ रुपये और 1978-79 में 40,867 करोड़ रुपये थी। उसके अनुमान से 1967-68 में सकल घरेलू उत्पाद (G N P) का 9 5% काला धन का था जो 1978-79 में बढ़कर 4 9% हो गया। 1981 में एक स्रोत के अनुसार काला धन अनुमानत 7500 करोड़ रुपये (अर्थात वर्तमान मूल्य पर राष्ट्रीय आया का 6 8%) था और दूसरे स्रोत के अनुसार काला धन अनुमानतः 25,000 करोड़ रुपये (अथवा वर्तमान मूल्य पर राष्ट्रीय आय का 22.7%) था।

राष्ट्रीय जन वित्त प्रबन्ध और नीति सस्था (National Institute of Public Finance and Policy) के अनुमान के अनुसार काले धन की राशि 1985 में एक लाख करोड़ रुपये के आस पास या राष्ट्रीय आय का 20% थी। योजना आयोग के अध्ययन के अनुसार अनुमानतः काला धन 70,000 करोड़ रुपये की श्रृखला में ही था। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष 50,000 करोड़ रुपये काले धन के रूप में और पैदा हो जाते हैं (*The Hindustan Times*, 2 August, 1991: 11)। पूँजी की इस अप्रत्याशित वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि विदेशों में इसका बहाव होने लगा जो सरकारी अधिकारियों के अनुसार 500 लाख डालर (लगभग 2,00,000 करोड़) था। 1996 में हमारे देश में अनुमानित काला धन 4 लाख करोड़ रुपये से भी अधिक था (*The Hindustan Times*, January, 20, 1997)। विभिन्न अर्थशास्त्रियों के अनुमानों के मुताबिक आज हमारे देश में 7 लाख करोड़ रुपये से अधिक काला धन है जो सकल घरेलू उत्पाद के 40 प्रतिशत के बराबर है (*The Hindustan Times*, September, 21, 2000)।

विद्वानों ने यह भी संकेत किया है कि हमारे समाज में विद्यमान कुल काले धन का लगभग एक चौथाई (26%) कर अपवचित (tax-evaded) आय से है। अमेरिका में काला धन सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का लगभग 8% होने का आभास है। भारत में जब काला धन गैर-कानूनी साधनों के द्वारा अधिक एकत्र किया जाता है, अमरीका में यह कानूनी स्रोतों के माध्यम से अधिक होता है (लगभग 75%)।

कालाधन उत्पन्न होने के कारण (Causes of Generating Black Money)

1 अयथार्थवादी कर कानून और कर धोखाधड़ी
(*Unrealistic Tax Laws and Tax Frauds*)

करों और शुल्कों (duty) में वृद्धि कुछ लोगों को उनसे बचने के लिए बाध्य कर देती है। वर्तमान नियम (अक्तूबर 2000) के अनुसार 50,000 रुपये तक की आय आयकर से मुक्त है (20,000 रुपये के मानकित कटौती (standard deduction) को छोड़कर)। आज के मुद्रा स्फीति के युग में क्या कोई मध्यम वर्ग व्यक्ति इस सीमा के भीतर रहकर जीवित रह सकता है? एक राज मिस्त्री या बढ़ई शहर में 150 रुपये प्रतिदिन तथा महानगरों में 150 से 200 रुपये तक लेते हैं। गोलगप्पे वाला तथा पानवाला भी 200 रुपये से 300 रुपये प्रतिदिन अर्जित कर लेता है। यह मानते हुए कि ये लोग वर्ष में 300 दिन कार्य कर लेते हैं तब भी इनकी आय आयकर की निर्धारित सीमा से अधिक आती है। पर इनमें से कितने लोग आय

कर देते हैं? एक फिल्म अभिनेता जो एक फिल्म के 30 या 40 लाख रुपये से लेकर 5 करोड रुपये तक लेता था, उसको मार्च 1999 तक 30% कर देना था। मार्च 1999 के बाद अब (2000 में) उसे 30% कर के अलावा 10% अधिशेष (surplus) भी देना पडता है।कर देने के बजाय वह दोहरे लेखे रखता है और कर भुगतान से कतराता है और अधिक काले धन का स्वामी हो जाता है। एक डाक्टर जिसकी निजी प्रेक्टिश से 500 रुपये से 1500 प्रतिदिन आय होती है, एक शल्यचिकित्सक (surgeon) एक शल्यक्रिया (आपरेशन) के 5,000 से 10,000 रुपये लेता है और महीने में कम से कम 10 आपरेशन करता है, एक एडवोकेट एक पेशी के 2000 रुपये से 25,000 रुपये वसूल करता है, एक दुकानदार 1,000 रुपये से 5,000 रुपये रोज का व्यापार करता है, एक ठेकेदार का व्यापार चक्र 10 करोड रुपये वार्षिक है, एक उद्योगपति जिसका वार्षिक लाभ करोडों रुपये में आता है— सभी अपनी समस्त आय में से 30% का आयकर व अधिशेष देने से बचने के लिए बाध्य हैं। अप्रत्यक्ष कर, जैसे उत्पाद शुल्क, बिक्री कर, चुगी सीमा शुल्क, आदि भी कर प्रवचना और काले धन को प्रोत्साहित करते हैं।

बडी कम्पनियों और निगमों द्वारा कर अपवचन उत्पाद कर (excise duty) के रूप में एक वर्ष में 400 करोड रुपये तथा सीमा शुल्क (customs duty) के रूप में 3500 करोड रुपये प्रति वर्ष होने का सन्देह किया जाता है। अपवचन-विरुद्ध निदेशालय (Directorate General of Anti-Evasion) के द्वारा 1991 से 1996 तक पकडे गए उत्पाद कर का अपवचन 1991-92 में 562 करोड रुपये से बढकर 1995-96 में 1,236 करोड रुपये हो गया, जबकि फेरा (FERA) उल्लघन का अपवचन 1994-95 में 663 करोड रुपये से बढकर 1995-96 में 1,447 रुपये हो गया (*India Today*, November 30, 1996 97-103)। उत्पाद एव सीमा शुल्क की सकल प्रवचना का अनुमान (दोनो शुल्कों को मिलाकर) 7500 करोड से 10,000 करोड रुपये के बीच आता है या इन दोनों शुल्कों से प्राप्त कुल वसूली का दसवा भाग आता है।

1996 में अन्तिम तीन महीनों में एक शीर्षस्थ कम्पनी (ITC) के द्वारा फेरा (FERA) उल्लघन लगभग 300 करोड रुपये का प्रकाश में आया। यदि यह बात एक सुप्रसिद्ध उद्यम फर्म के साथ हो सकती है तो क्या अन्य पीछे रहेंगे? नरसिह राव सरकार के कुछ मत्रियों (जैसे पैट्रोलियम और सचार मत्री) में से प्रत्येक के 25 करोड रुपये से अधिक के भ्रष्टाचार के मामलों में लिप्त होने की घटनाए देश मे काले धन के उदय और राजनीतिज्ञों तथा बडे व्यापारियों के बीच साँठ गाँठ की ओर सकेत करता हैं।

1996 में विश्व आर्थिक मच (World Economic Forum) के ससार के 49 देशों के 200 व्यापार प्रबन्धकों (business executives) द्वारा भ्रष्टाचार की विशेष विषय सूची पर कर अपवचना के मुद्दे पर किए गए सर्वेक्षण में भारत को 40वा स्थान मिला था (बेइमानों में) और ईमानदारी सुनिश्चित करने वाले उद्यमियों में 46वा स्थान (*India Today*, November 30, 1996 97)। 2000 में किये गये 90 देशों के एक अन्य सर्वेक्षण में भारत को नीचे से इक्कीसवाँ स्थान (भ्रष्ट देश का) मिला था।

यदि आय कर और कम कर दिया जाये तो धन छिपाने की प्रवृत्ति कम हो और इस प्रकार राजस्व में वृद्धि हो सकती है। परन्तु क्या यह उचित होगा? यह 1993-94 में

परीलक्षित हुआ था जबकि आयकर की अधिकतम सीमा 40% से नीचे कर दी गई थी। इसके अलावा दुकानदारों और स्वरोजगार में लगे लोगों के लिए कर राशि निश्चित कर देने के परिणाम स्वरूप अधिक आयकर वसूल हुआ क्योंकि अधिक से अधिक लोग कर तन्त्र में शामिल हो गए।

2. उत्पाद शुल्क की विविध दरें (Different Rates of Excise Duty)

एक समान उत्पादों पर भी उत्पाद कर की दरें अलग-अलग हैं (यद्यपि 2000-2001 की बजट में इस अन्तर को कम किया गया है)। उदाहरणार्थ, वस्त्र और सिगरेट उत्पादन में उत्पादों की त्रुटिपूर्ण श्रेणीबद्धता से कर अपवचना को प्रोत्साहन मिलता है। वस्त्रों में, विविध किस्मों के वस्त्रों के लिए अलग-अलग उत्पाद शुल्क लिया जाता है। वस्त्र निर्माता नियमित रूप से वस्त्र उत्पाद की गुणवत्ता गिरा देते हैं और कम दर का उत्पाद शुल्क देते हैं। केवल इतने से ही लगभग 1000 करोड़ रुपये के काले धन की उत्पत्ति होती है। समूचे निर्माण क्षेत्र में, स्टील सहित, उत्पाद, सीमा और बिक्री करों की वचना से 50,000 करोड रुपये के काले धन में वृद्धि होती है।

3. नियन्त्रण नीति (Control Policy)

काले धन का एक और कारण है सरकार की मूल्य नियंत्रण नीति। नियन्त्रण के लिये वस्तुओं के चयन तथा उनके मूल्य निर्धारण में सरकार माँग और पूर्ति के निहित लचक को ध्यान में कम रखती है। उदाहरणार्थ, 1991 के लिए सम्प्रयुक्त आर्थिक अनुसधान राष्ट्रीय परिषद (National Council of Applied Economic Research–NCAER) की रिपोर्ट के अनुसार 1965-66 से 1974-75 की नौ वर्ष की अवधि में सीमेन्ट, स्टील, कागज, वनस्पति, स्वचालित वाहन टायरों और उवरकों जैसी छ वस्तुओं में मूल्य नियत्रण लागू करने के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में 840 करोड़ रुपये मूल्य का काला धन उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार चीनी पर नियंत्रण के फलस्वरूप 1991-92 में लगभग 400 करोड रुपये का काल धन बन गया। 2000-2001 के वित्तीय वर्ष में भी चीनी पर टैक्स बढाने का ऐसा ही परिणाम होगा।

विदेशी विनिमय के नियमितिकरण से भी आयातों में अधिक मूल्य लगाने व निर्यातों में कम मूल्य लगाने तथा मुद्रा की काला बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। अत नियत्रण के उपाय तथा अर्थव्यवस्था जितनी अधिक नियमित होगी, इसके उल्लघन के प्रयत्न भी उतने ही अधिक होंगे जो जमाखोरी, धोखाधडी, कृत्रिम अभाव एव परिणामत काले धन में वृद्धि होगी।

4. कोटा व्यवस्था (Quota System)

कोटा व्यवस्था काले धन का एक और स्रोत है। आयात कोटा, निर्यात कोटा और विदेशी मुद्रा विनिमय कोटा अधिक मूल्य पर बेचकर उनका दुरुपयोग किया जाता है। अयथार्थ नियन्त्रण ऐसी सस्कृति को बढावा दे रहा है जो उद्यमियों को कर कानून तोडने के लिए उकसाते हैं, विशेषरूप से फेरा (FERA) कानून। कुछ वर्ष पूर्व (1992-93 में) जब सरकार

ने निर्यातकों को सीमा शुल्क का भुगतान किये बिना वस्तुओं को आयात करने की स्वीकृति देने की योजना बनाई तो इस योजना से भी धन बनाने की तरकीबें निकाली गईं, जैसे अधिक लाभ प्राप्त करने तथा निर्यात के लिए कर में छूट के प्रावधानों का लाभ उठाने के लिए निर्यात वस्तुओं का अधिक मूल्य दर्शाना, आदि। 1992-96 की अवधि में राजस्व आसूचना निदेशालय (Directorate of Revenue Intelligence) तथा सीमा अधिकारियों ने 605 ऐसे मामलों का पता लगाया। एक निर्यातक घराने ने (Ganapati Exports) तो 85 करोड रुपये का लाभ अर्जित किया।

5 अभाव (Scarcity)

काला धन अभाव तथा त्रुटिपूर्ण सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के कारण भी बढता है। जब आवश्यक वस्तुओं की कमी होने लगती है तो लोगों को नियत्रित मूल्य से अधिक मूल्य चुकाना पडता है जो काले धन को बढाता है। रसोई गैस, सीमेन्ट, केरोसीन, चीनी, रिफाइण्ड तेल, आदि की कमी का फल गैर-कानूनी सौदेबाजी और काला धन होता है।

6. मुद्रा स्फीति (Inflation)

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पेट्रौल आदि जैसी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि, सरकार द्वारा लगाए गए शुल्कों व करों में वृद्धि, वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, अलिखित धन से लोगों द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग की स्थिति बनाना, उत्पादन से सट्टे की ओर ससाधनों को मोडना यह सब स्थितिया मुद्रा स्फीति बढाती हैं और काला धन बनाती हैं।

7 लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे चुनाव तथा राजनैतिक कोष बनाना
(Election in a Democratic System and Political Funding)

देश में प्रत्येक चुनाव में हजारों करोड रुपये लग जाते हैं। लोकसभा का चुनाव लडने के लिए एक उम्मीदवार आमतौर पर दस लाख से 20 लाख रुपये और विधानसभा चुनाव के लिए पाँच लाख से 10 लाख रुपये आजकल खर्च करता है। अनुमान है कि अकेले लोकसभा चुनाव के लिए राजनैतिक दल चुनाव खर्च के रूप में 1000 करोड रुपये तक भुगतान करते हैं। राजनीतिज्ञों को भी अपने चुनाव क्षेत्रों में विकास के लिए व्यापार ससाधनों पर भी निर्भर रहना पडता है। सख्या बल को बढाने के लिए काला धन इस व्यवस्था में बनाया जाता है। राजनीतिज्ञों को धन का सहयोग देने के लिए ईमानदार उद्यम घरानों के पास भी अलिखित धन पैदा करने के अलावा कोई उपाय नही रहता। उम्मीदवार को क्योंकि कानूनी रूप से सीमित खर्च की ही स्वीकृति होती है और कम्पनिया अपने लाभ में से केवल 5% ही राजनीतिक दलों को चुनाव खर्च के लिए दान के रूप में दे सकती हैं इसलिए चुनाव खर्च अधिकतर काले धन वालों द्वारा ही वहन किया जाता है। यह लोग राजनैतिक सरक्षण तथा आर्थिक छूट की अपेक्षा करते हैं जो कि सत्ताधारी राजनैतिक अभिजात वर्ग की सुविधा अनुसार वस्तुओं पर कृत्रिम नियत्रण, वितरण के साधनों में कमी आदि के रूप में प्राप्त होते हैं। ये सब तरीके काले धन को जन्म देते हैं।

8. अचल भूसम्पत्ति का लेनदेन (*Real Estate Transactions*)

सम्पत्ति लेनदेन काले धन को उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण साधन है। आजकल मकान खरीदना या जमीन खरीदना लाभप्रद समझा जाता है। शहरी क्षेत्रों में आवासीय स्थानों की कमी के कारण ग्रामीण कृषि भूमि को शहरी आवास भूमि में बदलने की प्रवृत्ति बढ रही है। कृषि भूमि पर आवासीय कालोनी स्थापित करना गैर-कानूनी है। पजीयीकरण पत्रों (registration deeds) बस्ती निर्माताओं (colonizers) के द्वारा दर्शाया जाने वाला मूल्य वास्तविक बाजार मूल्य से कही कम होता है। इससे भूमि विक्रेता को पूँजी प्राप्ति कर (capital gain tax) से बचने में सहायता मिलती है। एक अनुमान के अनुसार सम्पत्ति के गैर-कानूनी लेनदेन से ही एक वर्ष में लगभग 2000 करोड रुपये धन के रूप में बढ जाते है, यदि यह मान लिया जाये कि प्रति वर्ष शहरी सम्पत्ति में लगभग 50 लाख सौदे होते हैं।

मुद्राक शुल्क (stamp duty) की ऊँची दरें—जो कि भिन्न-भिन्न राज्यों में 15.4% से 28% की सीमा के बीच हैं—सम्पत्ति के कम मूल्य और असूचित सौदे या दोनों के प्रमुख कारण हैं। सुझाव यह है कि यदि शुल्क 2 से 3% कम कर दिए जायें तो कर प्रवचना नही होगी। दूसरी बाधा है शहरी भूमि सीमा अधिनियम जो भूमि की पूर्ति कम करता है और काला बाजार को जन्म देता है। मोटे तौर पर वास्तविक सम्पत्ति लेनदेन से वर्ष में 13,000 करोड रुपये काला धन बनते हैं।

9. निजीकरण (*Privatization*)

निजीकरण ने निजी क्षेत्र तथा मत्रियों और नौकरशाहों के लिए काला धन बनाने के नये क्षेत्र खोल दिए हैं। 1996 में संचार मत्रालय का एक उदाहरण सामने आया जिसमें सम्बन्धित मत्री (नरसिंहराव के मत्रिमण्डल में) को ठेके तथा अनुज्ञा-पत्र (licences) स्वीकृत करने का अधिकार था जिसका मूल्य 1,50,000 करोड रुपये था। मत्री ने अपने पक्ष की कम्पनियों को ठेके देने के लिए विभागीय सहयोगियों तक को किनारे कर दिया। यह मामला मत्री के विरुद्ध मई 1999 से न्यायालय में विचाराधीन है। अकेला आयकर विभाग ही आयकर नियमों के उल्लघन के आरोप में इस मत्री जी से 20 करोड रुपये (नवम्बर 1996 में) वसूल करने की सोच रहा था हालाँकि ऐसा कर नही सका। नरसिंहराव सरकार में एक और केन्द्रीय (इस्पात) मत्री शक्तिशाली व्यक्ति थे जिन पर सितम्बर 1995 में एक सम्बन्धित व्यक्ति को बहुत कम मूल्य पर एक खान (mine) के निजीकरण के मामले को हरी झण्डी दिखाकर 16 करोड रुपये काले धन के रूप में बनाने का आरोप था। जनता की चीख पुकार से सौदा तो रद्द किया गया, परन्तु मत्री बच निकले। पेट्रोलियम मत्रालय भी निजीकरण से सम्बन्धित एक घोटाले में लिप्त था। मत्रालय ने 1992 में कुछ चुने हुए तेल क्षेत्र खोल दिए। एक सौदे के एक विशेष व्यक्ति को तेल क्षेत्र में ठेका दिया गया और आरोप है कि पूर्व पेट्रोलियम मत्री ने इन ठेके को हासिल करने में मदद करने के लिए एक समूह से 7 करोड रुपये प्राप्त किए। यह मामला लम्बे समय तक केन्द्रीय जाच ब्यूरो (CBI) के जाँच के अन्तर्गत रहा (*India Today*, November 30, 1996 99)। उम्मीद है कि निजीकरण के माध्यम से काला धन बनने के और मामले भी प्रकाश में आएगे।

10 कृषि आय (Agricultural Income)

राजनैतिक आधार पर शासकों की कृषि आय को आयकर के घेरे में लाने की अनिच्छा ने भी काले धन की वृद्धि में योगदान किया है। बडे औद्योगिक घराने गत कुछ दशकों से बडे कृषि फार्म खरीदकर उन पर कुछ न कुछ उगाकर एक बडे तरीके से कृषि क्षेत्र में प्रवेश कर गए हैं। अन्य स्रोतों से एकत्र किया गया काला धन कृषि आय मद में दिखाकर सफेद धन में बदलने का प्रयास किया जाता है। कृषि आय पर कर लगाकर इस घटना को रोका जा सकता है। 2000-2001 के केन्द्रीय बजट में पहली बार फार्म हाउसों पर कृषि के अतिरिक्त अन्य आय पर कर लगाया है।

आर्थिक प्रभाव (Economic Impact)

काला धन देश की अर्थव्यवस्था को अपूरणीय (irrepairable) हानि पहुँचाता है और इसका प्रभाव आम आदमी पर अधिक पडता है। कुछ प्रमुख आर्थिक प्रभाव हैं · मुद्रा स्फीति दबाव में वृद्धि, विकास कार्य में बाधा, ससाधनों में अव्यवस्था, कर आधार का सीमितिकरण, और समानान्तर अर्थव्यवस्था का उदय। देश का आर्थिक सन्तुलन खतरे में पड जाता है, सामान्य व्यापार के क्रियाकलाप प्रभावित होते हैं तथा वित्तीय सस्थानों और वाणिज्य सस्थाओं के ससाधन विकृत और इधर-उधर हो जाते हैं।

सामाजिक प्रभाव (Social Effects)

आर्थिक प्रभावों के अतिरिक्त, काले धन के अनेक सामाजिक दुष्परिणाम भी होते हैं। जहाँ आर्थिक दृष्टि से काला धन राजकोष में जाने वाली देय राशि को रोकता है, आर्थिक असमानता बढाता है और आर्थिक विकास कार्यक्रमों को बाधा पहुचाता है, वही सामाजिक दृष्टि से यह सामाजिक असमानता को बढाता है, भ्रष्टाचार के जन्म स्थल का काम करता है, ईमानदार लोगों में कुण्ठा पैदा करता है, तस्करी, रिश्वत जैसे अपराधों को जन्म देता है, तथा समाज के गरीब और कमजोर वर्ग के उत्थान के कार्यक्रमों पर कुप्रभाव डालता है। यह यथार्थ दरों, जैसे विकास दर, मुद्रा स्फीति दर, बेरोजगारी दर, गरीबी, आदि के सही आकलन को विकृत करता है जो पुन इनको रोकने की सरकारी नीतियों को प्रभावित करता है।

नियत्रण के उपाय (Measures of Control)

गत 50 वर्षों में सरकार ने काले धन को बाहर लाने के उद्देश्य से अवसर प्रदान करने के लिए अनेक योजनाओं की घोषणा की है। इनमें से कुछ योजनाए हैं विशेष धारक बॉण्ड को चलाकर, उच्च मुद्राक वाले मुद्रा नोटों को कम करके, छापे मारकर, और स्वैच्छिक घोषणा की योजनाएँ, आदि। जुलाई 1991 में केन्द्रीय वित्तमत्री ने एक नयी योजना प्रस्तावित की थी—राष्ट्रीय गृह बैंकिंग योजना—जिससे काला धन निकलवा कर राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं में लगाया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत अलिखित धन को धन के स्रोत की घोषणा किए बिना एनआईएचबी (NIHB) में (10,000 रुपये की न्यूनतम सीमा से) कितनी भी धनराशि जमा कराने का अवसर प्रस्तावित किया गया था। यह प्रस्ताव 7 माह तक खुला रहा और

जनवरी 31, 1992 को बन्द हुआ। इसके अन्तर्गत खातेदार को अपने खाते से 60% तक की राशि निकालने की अनुमति दी गई थी। इस योजना में 40% तक खर्च करने की व्यवस्था निम्न योजनाओं के लिए की गई थी, जैसे, कच्ची बस्ती उद्धार और गरीबों के लिए मकान बनाने में। धनराशि का आहरण करने की अनुमति तब थी जबकि उस राशि के प्रयोग के उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया जाये। इन लोगों पर 40% की दर पर कर लगाया गया था जबकि शेष राशि को खुली अर्थव्यवस्था में पुन लगा दिया गया। 1997-98 के बजट में कर के रूप में 30% धन की अदायगी काले धन को कानूनी बनाने के लिए दिए जाने पर क्षमादान भी प्रस्तावित किया गया था।

कुछ विद्वानों का मानना है कि इन सभी उपायों ने बर्फ की चट्टान के ऊपर से स्पर्श मात्र किया है। पचास वर्षों की अवधि में इन सभी उपायों से मात्र 5,000 करोड रुपया ही खींचा है। इन योजनाओं का मुख्य दोष यह है कि वे पहले से ही बनी हुई काले धन की स्थिति को केवल स्पर्श ही कर पाती हैं, लेकिन वे काले धन की उत्पत्ति की जड में नही जाती और यही कारण है कि इतनी समस्याओं के बावजूद भी लोग काला धन रखने के जोखिम उठाने को तैयार रहते हैं। जब तक इस समस्या का समाधान नही होता, काले धन का सकट बढ़ता ही रहेगा।

यह सुझाव दिया गया है कि काले धन और समानान्तर अर्थव्यवस्था की समस्या, कुछ क्षेत्रों में कर घटा कर, आय की स्वैच्छिक घोषणा के लिए प्रोत्साहन देकर, आर्थिक खुफिया तंत्र को चुस्त दुरुस्त करके, मकान बनाने पर खर्च किए गए धन को कर से मुक्त रखकर, नियंत्रण नीतियों से छुटकारा पाकर नियत्रण किया जा सकता है। अलग-अलग किये गए प्रयत्नों का अधिक लाभ नही होगा बल्कि परस्पर क्रियान्वित उपाय तथा दृढ राजनैतिक इच्छाशक्ति और राजनैतिक अभिजात वर्ग की प्रतिबद्धता काफी हद तक सफल सिद्ध हो सकते हैं।

15

तस्करी

(Smuggling)

अवधारणा एव प्रकृति (Concept and Nature)

तस्करी एक आर्थिक अपराध है जो पारम्परिक श्वेतवसन अपराध से गुणों के आधार पर भिन्न है। आर्थिक लाभ इस अपराध का मुख्य उद्देश्य है। जिन वस्तुओं की अधिकतर तस्करी की जाती है वे हैं हेरोइन व अन्य मादक पदार्थ, सोना, चाँदी, हथियार और विस्फोटक सामग्री, हाथ की घडिया, इलैक्ट्रानिक वस्तुए, सिन्थेटिक धागे, आदि। वैश्वीकरण (globalization) के कारण व्यापार गतिशीलता में वृद्धि सम्भव हो गई है तथा सचार के तीव्र साधनों आदि ने तस्करी को और भी सरल कर दिया है। यह अवैध कार्य या तो अकेले या फिर कुछ सहयोगियों के साथ या बिना सहयोगियों के किया जाता है। अपराधी गिरोह मुख्यत अवैध तरीकों से धन कमाने के उद्देश्य से तस्करी में लिप्त रहते हैं। गुणवत्ता में ये अपराध अन्य अपराधों से भिन्न हैं क्योंकि नियमों और कानूनों में कमियों का लाभ उठाते हुए उनकी कार्यविधि (modus operandi) भिन्न होती है। राजस्व गुप्तचर निदेशालय (Directorate of Revenue Intelligence), प्रवर्तन निदेशालय (Directorate of Enforcement), नशीले पदार्थ नियत्रण विभाग (Narcotic Control Bureau), तथा विदेश व्यापार महानिदेशालय (Directorate General of Foreign Trade) इन अपराधों के होने की सूचना मिलने पर कार्यवाही करने वाले सक्षम अधिकारी हैं।

विस्तार (The Magnitude)

सीमा शुल्क अधिकारियों द्वारा वस्तुओं के कब्जा/जब्ती (seizure/confiscation) मामलों की सख्या प्रतिवर्ष 50,000 से 60,000 तक होती है। इस प्रकार से अधिग्रहित (seized) वस्तुओं का मूल्य 400 करोड रुपये से 1000 करोड रुपये तक प्रतिवर्ष होता है। उदाहरण स्वरूप, पाँच वर्षों में-1994 और 1998 के मध्य सीमा शुल्क अधिकारियों द्वारा अधिग्रहित वस्तुओं का प्रति वर्ष मूल्य 704 7 करोड रुपये था। इन पाँच वर्षों में औसतन लगभग 135 मामले प्रतिदिन कब्जा/जब्ती के हुए और इस प्रकार जब्त की गई वस्तुओं का मूल्य प्रति दिन 3 4 करोड रुपये के आसपास था। 1998 में जब्त की गई वस्तुओं में से 63 7 करोड रुपये मूल्य के मादक पदार्थ, 39 करोड रुपये मूल्य के विद्युत उपकरण एव वस्तुए, 23 2 करोड रुपये मूल्य का स्वर्ण, 0.5 करोड रुपये मूल्य की चाँदी, तथा 549 1 करोड रुपये मूल्य की अन्य वस्तुए थी। इन सभी वस्तुओं की तस्करी में लिप्त व्यक्तियों की संख्या 952 थी (*Crime In India*, 1998 220)।

तस्करी में मादक पदार्थों की गिनती सूची में सर्वोपरि थी। 1985 के मादक पदार्थ अधिनियम (Narcotic Drugs Act, 1985) और 1988 के (PITNDPS) अधिनियम के बावजूद, मादक पदार्थों की तस्करी अपराध जगत के बाजार में धन बनाने वाला चक्र है। तस्करी किए जाने वाले मादक पदार्थों में गाजा, हेरोइन, हशीश तथा अफीम सबसे अधिक होते हैं। 1997 में इस प्रकार की तस्करी के लिए 12,797 व्यक्ति और 1998 में 11,330 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए थे जिनमें 148 विदेशी व्यक्ति भी सम्मिलित थे (*Crime in India*, 1998 223)। यह दर्शाता है कि मादक पदार्थों की तस्करी का बाजार अति विस्तृत है। इसने नवधनवान वर्ग को जन्म दिया है जो अचल सम्पत्ति, फिल्म निर्माण, हवाई कम्पनियों तथा प्रतिष्ठित उपक्रमों (corporate houses) पर नियत्रण रखते हैं। राष्ट्र विरोधी कार्यों, आतकवादी गतिविधियों तथा हथियारों के गुप्त व्यापार में उनकी भूमिका को हाल में ही चिन्हित किया गया हैं।

सगठित तस्करी (Organised Smuggling)

प्राय तस्करी भी सगठित व्यवसाय की तरह ही सहयोगी प्रयत्नों पर आधारित होती है, जैसे, इसमें निम्न तत्व सम्मिलित होते हैं· कुछ व्यक्तियों का सगठन, इस प्रकार योजना बनाना जिससे सदस्य पकड़े न जाएं, सफलतापूर्वक वस्तुओं की तस्करी के लिए धन सग्रह, सदस्यों का बचाव, तथा राजनैतिक सम्बन्ध बनाना ताकि पकडे जाने पर बचाव हो सके।

लक्षण (Characteristics)

अनेक व्यक्तियों के सहयोग पर आधारित तथा सगठित रूप में लम्बे समय के आधार पर की जाने वाली तस्करी की निम्नलिखित विशेषताएं हैं·

- टोली (team-work) के आधार पर कार्य, अर्थात् व्यक्तियों का दल या समूह जो लम्बे समय तक चलता है।
- श्रेणीबद्ध सरचना, अर्थात् ऐसी संरचना जिसमें निम्नतम से उच्चतम स्तर तक अधिकार हों और जिसमें ऐसी व्यवस्था हो कि आपसी दायित्वों और विशेषाधिकारों की स्पष्ट व्याख्या हो।
- योजना (planning), अर्थात् सफल तस्करी के लिए पूर्व में ही प्रबन्ध करना, जोखिम कम करना, तथा सुरक्षा एवं सरक्षण सुनिश्चित करना।
- केन्द्रित सत्ता, अर्थात् केन्द्रीय नियत्रण के आधार पर कार्य करना। यह अधिकार एक व्यक्ति या कुछ सदस्यों के हाथ में होता है।
- विशिष्टीकरण (specialisation), अर्थात् किसी एक कार्य में विशिष्टता प्राप्त करना, जैसे हेरोइन, स्वर्ण या हथियार, आदि की तस्करी। कुछ समूह एक से अधिक वस्तुओं की तस्करी में लगे रहते हैं।
- श्रम विभाजन, अर्थात् कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व सौंपना।

- सुरक्षा के उपाय, अर्थात् कानून लागू करने वाले अधिकारियों द्वारा बाधा पैदा करने वालों से बचाव का प्रबन्ध करना। सुरक्षा कदमों में पुलिसकर्मियों, वकीलों, डाक्टरों, राजनेताओं, न्यायधीशों तथा समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना सम्मिलित है। नकद धन देना या भेंट स्वरूप वस्तुएं देना, चुनाव में मदद करना, विवाह आदि में सहायता करना, विदेशी यात्राओं का प्रबन्ध करना, आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जो सगठित तस्करों द्वारा अपने बचाव तथा गिरफ्तारी एव दोष सिद्धि (conviction) से बचने के लिए प्रयोग किए जाते हैं।
- आचरण सम्बन्धी प्रतिमान (conduct norms), अर्थात् आचार सहिता बनाना तथा सदस्यों के लिए कार्यविधि तैयार करना, इससे अनुशासन बनाए रखने, दक्षता, वफादारी, आज्ञा पालन और आपसी विश्वास बनाए रखने में मदद मिलती है।

सगठित सरचना (Organised Structure)

सगठित तस्करी में स्थितियों की श्रेणीबद्ध सरचना होती है। यदि पिरामिड के रूप में इसकी *व्याख्या करें तो 'लार्ड्स' (lords) यानि शक्तिशाली नेता सब से ऊपर होते हैं जो महत्वपूर्ण* निर्णय लेते हैं और सगठन का सचालन करते हैं। ये नेता मध्यम और निम्नतम स्तर के सदस्यों के साथ मालिक और नौकर वाले सम्बन्ध को बनाए रखते हैं। मध्यम स्तर पर दल में वे 'लेफ्टिनैण्ट' (lieutenants) होते हैं जो नेता की आज्ञा का पालन करते हैं। निम्नतम सतह पर 'वाहक' (carriers) होते हैं जो तस्करी के सामान को हवाई जहाजों, रेलों, कारों या बसों से ले जाते हैं।

यह श्रेणीबद्ध सरचना व्यक्तिगत बफादारी, आचार सहिता और आज्ञाओं की एक श्रखला से जुडी रहती है। यह सरचना तस्करों के भावी जीवन को प्रभवित करती है, विशेष रूप से सस्तरण में निचले सदस्यों को। इन सतही तस्करों में लडकिया भी होती हैं जो तस्करी की वस्तुओं को ले जाती हैं। यह सतही तस्करी या तो सगठन में वेतन भोगी होते हैं या उन्हें निश्चित धनराशि मिलती है या लाभ में से हिस्सा प्राप्त होता है। मध्यम स्तर के तस्करों को या तो सतही तस्करों में ले लिया जाता है या कभी तस्करी का अनुभव रखने वाले नये भर्ती कर लिए जाते हैं। तस्करी अपराध के नेता अलग जीवन जीते हैं जो सम्मान वाला एकाकी जीवन होता है। फिर भी अपराध जगत के प्रति उनकी निष्ठा बनी रहती है जहा वे विस्तृत समाज के मूल्यों से अलग होते हैं, लेकिन शक्ति, सम्मान और विलासितापूर्ण जीवनशैली उन्हें प्राप्त रहते हैं।

प्राय तस्करी 'अभिषद' (सिण्डिकेट) आमतौर पर स्थापित मुख्यालयों से कार्य करते हैं और अपनी कार्यशैली स्वय बनाते हैं। वे हिंसा के प्रयोग से बचते हैं जो उन्हें उन सगठित गिरोहों से भिन्नता प्रदान करता है जो हिंसा या हिंसा की धमकी का प्रयोग करते हैं। अभिषदों के इन सदस्यों को समाज ने सम्माननीय नागरिक के रूप में पहचाना है जो सम्भ्रान्त (posh) अवासीय क्षेत्रों में रहते हैं, उच्च पदस्थ लोगों से खुलकर मिलते-जुलते हैं और किन्हीं विधिमान्य आय के कार्यों में लगे होते हैं। तस्करों के अभिषद् प्राय बडे महानगरों में या आसपास के बडे शहरों में काम करते हैं जो सचार के बडे केन्द्र होते हैं और जहा से

आवागमन एवं माल का वितरण सुलभ होता है।

उत्तर-पूर्व के राज्य, कश्मीर, बिहार, पजाब और तमिलनाडु कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहा आतकवादी, हथियार बन्द लोग, नक्सलवादी, घुसपैठिए अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पुलिस व सेना से भिड़ते रहते हैं। वे आवश्यक अस्त्र, हथियार व गोला-बारूद के सगठित तस्करों से मिलते रहते हैं। एक न्यूजीलैण्ड निवासी द्वारा सचालित लन्दन स्थित कम्पनी के हवाई जहाज के चालक दल के 6 सदस्यों की गिरफ्तारी, जिन्होंने दिसम्बर 1995 मे पश्चिम बंगाल के पुरूलिया जनपद में अति छदमवाले हथियारों को गिराया, और जिन्हें फरवरी 2000 में न्यायालय द्वारा लम्बा कारावास दिया गया, व्यवस्थित बन्दूक सचालन की सगठित तस्करी का एक उदाहरण है। प्रमुख भारतीय आरोपियों में से एक बिहार का व्यक्ति था जबकि दूसरे के पास सिंगापुर का पासपोर्ट था।

आचार सहिता (Code of Conduct)

ऐसा कोई साक्ष्य नही है कि विभिन्न तस्कर सगठन एक ही आचार सहिता का पालन करते हों। किन्तु आमतौर पर तस्कर निम्निलिखत निर्देशों का पालन करते हैं मुखबिर (informer) मत बनों, टीम के सदस्य के रूप में काम करो, सगठन के प्रति वफादार रहो, दूसरों के हित में टाग न अडाओ, दिए हुए काम शान्ति व सुरक्षा से करो, आँख व कान खुले रखो और मुह बन्द रखो। इस प्रकार, तस्करों की आचार सहिता पेशेवर अपराधियों से मिलती जुलती है, जिन पर उनके अपराधी कार्यों के कारण कानून अधिकारियों का दबाव रहता है। अलिखित नियमों में हैं· रहस्य बनाए रखना, स्वय के आगे सगठन को महत्व देना, अपने निकट मित्रों और रिश्तेदारों को कुछ भी न बताना, तथा आज्ञा का उल्लघन न करना।

अस्तित्व की विधिया (Survival Mechanisms)

वे कारक क्या हैं जो संगठित तस्करी को जीवित रखते हैं? इस सदर्भ में चार कारक महत्वपूर्ण हैं. सुगठित सरचना, आचार सहिता, बचने के उपाय और कानून की कमजोरिया। यहा सुगठित संरचना को समझना आवश्यक है। 'निर्धार्य' या 'हवाला' को निर्धारित करने में सगठित तस्करों का अस्तित्व 'हवाला' (fix) पर निर्भर होता है तथा सरकार, कानून व पुलिस के उच्च पदस्थ व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए तस्करों के पास इन सब कार्यों को करने के लिए अपने सदस्य होते हैं जिन्हें कार्य सौंपा जाता है ताकि भ्रष्ट अधिकारियों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखें। इन सदस्यों को 'भ्रष्टकर्त्ता' (corrupters) कहा जा सकता है। 'भ्रष्टकर्त्ता' का काम है रिश्वत देना, धमकाना, बातचीत करना और पुलिसकर्मियों, राजनीतिज्ञों, न्यायाधीशों, नौकरशाहों और उन सभी को अपनी गिरफ्त में रखना जो सगठित अपराधियों को गिरफ्तारी यानी मुकदमें तथा दण्ड आदि से बचा सकें। इसको हम 'सत्ता का निष्फलीकरण' (nullification of authority) कह सकते हैं। 'निष्फलीकरण' निम्न एवं उच्च दोनों स्तरों पर होता है। निचले स्तर पर वे लोग होते हैं जो कानून लागू करने वाले सगठनों में होते हैं, अर्थात् पुलिस कर्मी, वकील, मजिस्ट्रेट, आदि। इन लोगों को रिश्वत देकर 'भ्रष्टकर्त्ता' कानून लागू करने की प्रक्रिया को ही 'निष्फल' कर देता है। उच्च स्तर पर मन्त्री, सांसद, विधायक, आदि होते हैं।

यह कहा जा सकता है कि सगठित तस्करों का बचाव अनेक प्रकार से होता है. (i) नेता आमतौर पर गिरफ्तार नहीं होते क्योंकि वे कार्य दृश्य के पीछे रहते हैं। (ii) सस्तरण में निचले लोग यदि पकडे जायें तो वे अपने से उच्च लोगों की कार्यवाही से छूट जाते हैं। इस प्रकार से मुक्ति 'हवाले वाले व्यक्ति' (the fix) द्वारा सुनिश्चित की जाती है। (iii) सुरक्षा या तो राजनैतिक दलों को योगदान करके, राजनैतिक शक्ति प्राप्त करके, या नेताओं द्वारा स्वय ससद, विधायिका या म्युनिसिपल कार्पोरेशन के चुनाव लडकर प्राप्त की जाती है। (iv) कानून प्रतिपालक अधिकारियों को नियमित रूप से राशि देकर। (v) कानून की खामिया भी बचाव प्रदान करती हैं। वकील लोग कानूनी कार्यवाही करके अपने मुवक्किलों के बचाव का प्रबन्ध कर लेते हैं क्योंकि यह खामिया उन्हें ऐसा करने में सफलता दिलाती है। फरवरी 2000 में बिहार में विधानसभा चुनाव में विभिन्न राजनैनिक दलों के 15 गम्भीर अपराधियों द्वारा विधायक पद का चुनाव लडना भी बताता है कि किस प्रकार अपराधी प्रतिष्ठित व्यक्ति बन कर सत्ता का दुरुपयोग करके अपनी अपराधी क्रियाओं से बचाव प्राप्त करते हैं।

16

सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण
(Social Change and Modernisation)

भारत में सामाजिक परिवर्तन : अवधारणा, उद्देश्य, दिशाएँ एवं प्रतिरोध
(Social Change in India : Concept, Goals, Direction and Resistances)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा (Concept of Social Change)

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं या उप-व्यवस्थाओं में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन समग्र अथवा आंशिक हो सकता है, यद्यपि अधिकतर यह आंशिक ही होता है। जिस प्रकार परीक्षण प्रणाली में परिवर्तन शिक्षा प्रणाली में आंशिक परिवर्तन माना जाता है, उसी प्रकार मन्दिरों में अस्पृश्यों के प्रवेश को वर्जित करने वालों को दण्ड के विधान का क्रियान्वयन, विवाह विच्छेद की वैधानिक अनुमति, अल्पायु विवाह पर रोक सम्बन्धी विधान, आदि को समाज में आंशिक सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण, आदि समाज की आर्थिक प्रणाली में आंशिक परिवर्तन के उदाहरण हैं, क्योंकि यह परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति के स्वामित्व की व्यवस्था के साथ-साथ विद्यमान रहता है। कठिनाई तो समाज के समग्र परिवर्तन या सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन को पहचानने में आती है। यदि हम कहें कि समाज के न केवल कुछ पक्षों में बल्कि प्रत्येक पक्ष में परिवर्तन हो गया है तो इसे समग्र परिवर्तन कहा जायेगा लेकिन ऐसा कभी होता नहीं है। इसी प्रकार परिवार व्यवस्था, बैंकिंग व्यवस्था, जाति व्यवस्था या फैक्ट्री व्यवस्था के कुछ पक्षों में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन इनमें से किसी भी व्यवस्था में समग्र परिवर्तन कभी नहीं होता। कोई भी सामाजिक व्यवस्था समग्र रूप में कभी परिवर्तित नहीं होती। सामाजिक परिवर्तन सदैव अथवा अधिकांशत आंशिक ही होता है।

पर्सी कोहेन (1979 .176) ने कहा है कि समाज में लघु अथवा वृहद् या मौलिक (fundamental) परिवर्तनों में अन्तर किया जा सकता है। समाज या सामाजिक व्यवस्था के मूल अथवा महत्वपूर्ण लक्षणों में परिवर्तन को 'वृहद्' परिवर्तन कहा जाता है। यदि जेल को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में लें तो इसकी महत्वपूर्ण व्यवस्थाएँ हैं बन्दियों को प्रशिक्षण देना, बन्दियों के लिए भोजन, मनोरंजन एवं स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करना, जेल नियमों को तोड़ने वाले अपराधियों को दण्ड देना, अपराधियों का मित्रों व परिवार जनों से सम्पर्क कराना, तथा जेल से भागने को रोकने के लिए प्रबन्ध करना, आदि। अब मान लिया जाये कि समस्त सुरक्षा बल हटा लिए जाते हैं और कैदियों को दिन के समय बाजार जाने

की स्वतत्रता दे दी जाये लेकिन रात को जेल में रहना आवश्यक हो तो जेल व्यवस्था में यह परिवर्तन जेल के अन्य पक्षों को भी प्रभावित करेगा। ऐसा होने पर इसको जेल व्यवस्था में 'मूलभूत और वृहद्' परिवर्तन कहा जायेगा। इसी प्रकार अन्तर्जातीय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटा लिया जाये तो इसे जाति व्यवस्था में 'प्रमुख' परिवर्तन कहा जायेगा। सामाजिक व्यवस्था में मूल लक्षणों को पृथक करना कठिन नहीं होता। उदाहरणार्थ, लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था में चुनाव व्यवस्था में परिवर्तन न हो, किन्तु चुनाव व्यवस्था में परिवर्तन चुनाव परिणामों को प्रभावित करते तो यह कहा जायेगा कि चुनाव व्यवस्था राजनैतिक व्यवस्था का 'मूल' लक्षण है।

सामाजिक विकास की अवधारणा एव सूचक
(The Concept and Indicators of Social Development)

सामाजिक विकास एक ओर मानव आवश्यकताओं और आकाक्षाओं के बीच और दूसरी ओर सामाजिक नीतियों और कार्यक्रमों के बीच अच्छा सामजस्य स्थापित करने के लिए एक नियोजित सस्थात्मक प्रक्रिया है। यह समाज में व्यक्तियों के लिए आर्थिक प्रगति को अच्छी जीवन स्थितियों में परिवर्तित करता है। यह गरीबी, निरक्षरता, अज्ञानता, असमानता, विवेकहीनता, तथा समाज में प्रचलित दमन आदि के विरुद्ध एक युद्ध की घोषणा है। इसका उद्देश्य न केवल निर्बलों तथा विशेषाधिकार वचितों का उत्थान करना है, बल्कि सभी नागरिकों के जीवन की गुणवत्ता को सुधारना है। यदि सामाजिक विकास की पूर्वावश्यकता सभी नागरिकों को अपने समाज निर्माण में भागीदारी है, तो लोगों का यह भी विशेषाधिकार है कि सामान्य प्रयत्नों में भागीदारी के लाभों का भी वे लाभ उठाए।

सामाजिक विकास का अभिकल्प निर्धारित (design) करने में चार बातें निहित हैं (i) समाज में लोगों की आवश्यकताओं का आकलन, (ii) समाज में कुछ रचनात्मक परिवर्तनों को प्रारम्भ करना, जिसमें कुछ पुरानी प्रथाओं का उन्मूलन, कुछ नयी परम्पराओं की स्थापना व कुछ विद्यमान सस्थाओं को बदलना सम्मिलित है, (iii) सस्थाओं को व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी बनाना जिससे वे कुछ चुने हुए व्यक्तियों व समूहों के लिए ही नही, अपितु समाज के सभी खण्डों के हित के लिए कार्य कर सकें, (iv) निर्णय लेने की प्रक्रिया में लोगों को सम्मिलित करना, अर्थात् नियोजन को जमीनी स्तर (grass root level) तक ले जाना।

सामाजिक विकास के अभिकल्प (design) तैयार करने की विधि में पाँच चीजें सम्मिलित हैं (i) *नीति नियोजन* (policy planning), अर्थात् उद्देश्य निश्चित करना तथा वरीयताए एव रणनीतिया तैयार करना, (ii) *कार्यक्रम बनाना* (programming), अर्थात् संसाधनों को जुटाना , (iii) *क्रियान्वयन* (administering), अर्थात् निर्णय लेने की प्रक्रिया में जनता की भागीदारी, (iv) सगठन (organizing), अर्थात् लोगों की सेवाओं तथा संसाधनों में लाभ उठाने के लिए और आवश्यकता पडने पर व्यवस्था को बदलने के लिए तैयार करना और, (v) *मूल्याकन*, अर्थात् उद्देश्यों और क्रियान्वयन के बीच की दूरी को मापना तथा भविष्य की योजनाओं के लिए प्रति पुष्टि (feedback) देना।

सामाजिक विकास के महत्त्वपूर्ण निदर्शक (indicators) है : (i) जीवन स्तर में

परिवर्तन, (ii) गरीबी उन्मूलन, (iii) शिक्षा में विस्तार , (iv) रोजगार स्तर में वृद्धि, (v) सामाजिक न्याय, अर्थात् अवसरों का समान वितरण, (vi) कमजोर समूहों का उत्थान, (vii) जीवन की विविधताओं और विषमताओं से सुरक्षा (viii) समाज कल्याण सुविधाओ में सुधार,(ix) असमानताओं का उन्मूलन-क्षेत्रीय,प्रखण्डीय तथा सामाजिक, (x) स्वास्थ्य सरक्षण एव विकास, (xi) पर्यावरण संरक्षण, (xii) विस्तार कार्यक्रमों में सभी की भागीदारी जिसमें गुण तथा सरचनात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन सम्मिलित हों।

भारत मे सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य (Goals of Social Change in India)

भारत की राजनैतिक स्वतत्रता के समय अनेक बुद्धिजीवियों ने अनुभव किया कि भारत आधुनिकीकरण के क्षेत्र में असफल रह गया है, क्योंकि यह पूँजीवाद साम्राज्यवाद का शिकार रहा है जहा विकास की सम्भावनाए कम होती है। सामाजिक सास्कृतिक परिवर्तन, जिसको हमने 53 वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया था तथा जिसको भविष्य के लिए हमने अपना उद्देश्य बनाया है, सरचनात्मक परिवर्तन के उद्देश्य से किया है। इससे जन आकाक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग मिलेगा। गणतत्र की स्थापना के प्रारम्भिक दस वर्षों में जिन सामूहिक उद्देश्यों की योजना हमने बनाई थी वे थी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सास्कृतिक।

सामाजिक उद्देश्य थे समानता, न्याय, स्वतत्रता, युक्तिकरण और व्यक्तिवाद। आर्थिक उद्देश्यों में वितरण सम्बन्धी न्याय तथा आर्थिक धर्म दर्शन (theology) के स्थान पर आर्थिक युक्तिकरण (rationalism) सम्मिलित थे। राजनैतिक उद्देश्य थे ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना करना जहा शासक वर्ग जनता के प्रति उत्तरदायी हो, राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, तथा अधिकारिक लोगों के निर्णय की प्रक्रिया मे सम्मिलित किया जा सके। हमारा सास्कृतिक उद्देश्य था 'पवित्रता' के स्थान पर 'धर्म निरपेक्षता' की नीति। हमारे सत्ताधारी अभिजनों (power elite) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्देश्य बनाए ·

- *शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना* यह इसलिए आवश्यक था क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में राजनैतिक सत्ता का विखण्डन हो चुका था। स्वतत्रता के पश्चात यह भय था कि धार्मिक, भाषायी, जातीय, जनजातीय, वर्गवादी शक्तिया सत्ता का और भी विखण्डन कर सकती हैं। केन्द्र में शक्तिशाली तथा राज्यों को आदेश देने वाली सरकार ही ऐसे प्रयत्नो को रोक सकेगी।
- *अर्थ व्यवस्था को आधुनिक बनाना* यह प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने, देश को आत्म निर्भर बनाने, तथा स्वदेशी पूजी क्षेत्र बनाने के लिए आवश्यक था।
- *समाजवादी समाज की रचना* : यह निजी पूजीपतियों की भूमिका को प्रतिबन्धित करने के लिए आवश्यक था, न कि उनको समाप्त करने तथा प्रमुख उद्योगों के जन स्वामित्व पर बल देना था।
- जातियों, क्षेत्रों तथा वर्गों में असमानताएँ कम करना।
- मूलभूत मानव अधिकारों का सरक्षण करना, जैसे, स्वतत्र भाषण का अधिकार, स्वतत्र धार्मिक अभिव्यक्ति का अधिकार, राजनैतिक भागीदारी का अधिकार, आदि।

- एक ऐसे समाज की स्थापना करना जहा व्यक्ति निस्वार्थ, त्याग, सहयोग तथा आदर्शवाद की ओर प्रेरित हो।

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन सम्बन्धी उपागम
(Approaches to the Study of Social Change)

योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक परिवर्तन पर अपने प्रारम्भिक लेखों में (1969 11) भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की प्रकृति और प्रक्रिया पर तीन उपागमों की चर्चा की थी दार्शनिक-ऐतिहासिक और आध्यात्मिक उपागम, राजनैतिक-ऐतिहासिक उपागम, सामाजिक मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय उपागम।

दार्शनिक-ऐतिहासिक उपागम के स्रोत भारतीय एव पश्चिमी दोनों ही बताए गए हैं। भारतीय दर्शन और धर्म ने परिवर्तन के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसकी विशेषता थी समाज में काल चक्रीय गति (विलय प्रलय, सतयुग कलियुग) जो समय-समय पर अवतारों के द्वारा खण्डित किया गया तथा पुन सक्रिय किया गया। इस सिद्धान्त का आधार कर्म, धर्म और मोक्ष में विश्वास है। एक समय था जब इस सिद्धान्त पर दृढ विश्वास किया जाता था लेकिन अब यह विलुप्त होता जा रहा है क्योंकि इसका व्यवस्थित विश्लेषण सम्भव नही है। ऐतिहासिक उपागम से सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन भारतीय इतिहास के आलेखों द्वारा होता है, उदाहरणार्थ जाति प्रथा में परिवर्तन या स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन का अध्ययन विविध युगों के ऐतिहासिक आलेखों के आधार पर किया जाता है, जैसे मौर्यकाल, गुप्त काल, ब्राह्मणिक काल, मुगल काल, ब्रिटिश काल तथा स्वातत्र्योत्तर काल। इस उपागम की सीमा यह है कि ऐतिहासिक आलेख उपलब्ध नही हो पाते हैं, या फिर साक्ष्य विश्वसनीय नही होते हैं। अत इस उपागम पर निर्भर रहने से समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण भ्रामक हो सकता है। सामाजिक मानवशास्त्रीय उपागम अन्य दोनों उपागमों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित समझा जा सकता है। इस उपागम में गहन क्षेत्रीय कार्य या सहभागी अवलोकन विधि का प्रयोग होता है। इस प्रकार के उपागम में सैद्धान्तिक प्रस्थापनाए मानव जातीय आकडों की व्याख्या करते हैं जो या तो अध्ययनकर्ता के स्वय के या दूसरों के क्षेत्रीय कार्य के परिणाम होते है। इस उपागम की सीमा यह है कि यह सूक्ष्म स्तर (microcosm) के आधार पर स्थूल स्तर (macrocosm) के विषय में सामान्यीकरण का प्रयत्न करता है। यह निर्विवाद कल्पना सार्वभौमिकता एव समरूपता पर आधारित है। लेकिन भारत में विषमता और विविधता अधिक है। इस प्रकार एक गाँव की किसी सस्था (जैसे परिवार, जाति, आदि) के परिवर्तन को दो समय—अवधि के बीच अध्ययन कर के हम इस सामान्य निष्कर्ष पर नही पहुच सकते कि दूसरे गाँवों में या समूचे भारत में इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। सामाजिक मानवशास्त्रीय उपगाम की त्रुटिया समाजशास्त्रीय उपागम द्वारा कम हो गई हैं। सामाजिक उपागम में आनुभविक जाँच पडताल वृहद् स्तर पर की जाती है और सामान्य निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं।

सामाजिक परिवर्तन पर अपने बाद के लेखों में योगेन्द्र सिंह (1977) ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के विषय में पाँच उपागमों की चर्चा की है। ये हैं उद्‌विकासीय उपागम, सघर्ष उपागम, सास्कृतिक उपागम (सस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, लघु व महत् परम्पराए,

सकुचितीकरण और सार्वभौमीकरण), संरचनात्मक उपागम (प्रकार्यात्मक तथा द्वन्द्वात्मक मॉडल पर आधारित), तथा एकीकरण उपागम।

उद्विकासीय उपागम (Evolutionary Approach)

इस उपागम में एक लम्बी श्रंखला में छोटे-छोटे परिवर्तनों के द्वारा सरल से जटिल मन्द गति से होने वाले विकास का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक परिवर्तन व्यवस्था को थोडा सा बदलता है, लेकिन लम्बे समय बाद परिवर्तन का समय का प्रभाव नवीन जटिल स्वरूपों को जन्म देता है। उद्विकासीय उपागम में विविध विद्वानों ने चार उप पद्धतियों का प्रयोग किया है : एक रेखीय (unilinear), सार्वभौमिक (universal), चक्रीय (cyclical) एव बहुरेखीय (multilinear)।

सघर्ष उपागम (Conflict Approach)

इस उपागम के अनुसार आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक समूहों तथा समाज व्यवस्था के विविध अगों के बीच गहन सघर्षों के माध्यम से अन्य परिवर्तनों को जन्म देता है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि समाज में मतैक्य हो और यदि विविध खण्डों में एकीकरण हो तो परिवर्तन के लिए बहुत कम दबाव रह जायेगा।

सास्कृतिक उपागम (Cultural Approach)

इस उपागम में समाज के बदलते हुए सास्कृतिक तत्वों का विश्लेषण कर के परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। इसी उपागम के अन्तर्गत एम एन श्रीनिवास ने सस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से तथा मैकिममरियट ने सकुचितीकरण व सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से परिवर्तन का अध्ययन किया।

सरचनात्मक उपागम (Structural Approach)

यह उपागम सामाजिक सम्बन्धों के जाल तथा सामाजिक सरचना में परिवर्तन का अध्ययन करता है (जैसे जाति, नातेदारी, फैक्ट्री प्रशासनिक सरचना, आदि)। इन सामाजिक सरचनाओं और सम्बन्धों की तुलना अन्त. सास्कृतिक दृष्टि से तथा सास्कृतिक दृष्टि के परे भी की जाती है।

योगेन्द्र सिंह (1977 :17) के अनुसार परिवर्तन के सरचनात्मक विश्लेषण के सम्बन्धों के सरूपण में नये सामजस्य के गुणात्मक प्रकृति का अध्ययन निहित है।

एकीकृत उपागम (Integrated Approach)

योगेन्द्र सिंह (1973 : 22 ,27) मानते हैं कि उपरोक्त कोई भी उपागम भारत में सामाजिक परिवर्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत नही करता। अत उन्होंने सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध विभिन्न विचारों को मिलाकर एक नए उपागम का विकास किया जिसको उन्होंने 'एकीकृत' उपागम कहा है। इस उपागम में उन्होंने (अ) परिवर्तन की दिशा (एक रेखीय या चक्रीय), (ब)

परिवर्तन का सन्दर्भ (लघु या वृहद् सरचनात्मक स्तर के द्वारा), (स) परिवर्तन होने वाली घटना का सारभूत क्षेत्र (अर्थात् सांस्कृतिक या सामाजिक सरचना) आदि को मिला दिया है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं दिशा
(Nature and Direction of Social Change in India)

क्या हमने अपने सामूहिक लक्ष्य प्राप्त कर लिए हैं ? बीसवी शताब्दि के पूर्वार्ध तक भारतीय समाज को परम्परागत समाज समझा जाता था यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने हमारे देश को औद्योगिक बनाने का प्रयत्न किया और अनेक सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन लाने की भी कोशिश की, लेकिन लोगों के जीवन के गुणात्मक सुधार करने और जीवन स्तर उठाने में उनकी कोई रुचि नही थी। राजनैतिक स्वतत्रता प्राप्ति के बाद क्या हम अपने समाज का आधुनिकीकरण करने में सफल हुए ? यदि हाँ, तो परिवर्तन का स्वरूप क्या रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए यह समझना आवश्यक है कि एक परम्परागत समाज क्या है और आधुनिक समाज क्या है ? परम्परागत समाज वह है जिसमें (i) व्यक्ति की प्रस्थिति उसके जन्म से निश्चित व निर्धारित होती है, अर्थात् व्यक्ति सामाजिक गतिशीलता के लिए सघर्ष नही करता है, (ii) व्यक्ति का व्यवहार रिवाजों और प्रथाओं से सचालित होता है और लोगों के व्यवहार में पीढी दर पीढी थोडा ही परिवर्तन आता है (iii) सामाजिक सगठन का आधार सस्तरण होता है, (iv) व्यक्ति अपनी पहचान प्राथमिक समूह से बनाता है तथा परस्पर अन्तर्क्रिया में नातेदारी सम्बन्ध महत्वपूर्ण होते हैं, (v) प्रस्थिति की अपेक्षा व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना से अधिक महत्व दिया जाता है, (vi) लोग रूढिवादी होते हैं (vii) अर्थव्यवस्था सरल होती है तथा जीविका से परे आर्थिक उत्पादन अपेक्षाकृत कम होता है और (viii) समाज में मिथकीय (mythical) विचार प्रभावी होते हैं।

इसके विपरीत आधुनिक समाज वह है जिसमें (i) समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी स्वय की योग्यता एव सामर्थ्य से निर्धारित होती है, (ii) व्यक्ति का व्यवहार रिवाजों की अपेक्षा कानून से अधिक नियत्रित होता है, (iii) सामाजिक सरचना का आधार समानता होता है, (iv) द्वैतीयक सम्बन्ध प्राथमिक सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं; (v) समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति अर्जित होती है और सामाजिक जीवन में तथा सामाजिक सम्बन्धों में इसका अधिक महत्व होता है, (vi) लोग नवीनता में विश्वास करते हैं, (vii) अर्थव्यवस्था जटिल तकनीक पर आधारित होती है, और (viii) समाज में तार्किक विचारों का बोलबाला होता है।

तब क्या इसका अर्थ यह हुआ कि परम्परावाद और आधुनिकता दो चरम सीमाए (extremes) हैं और ये दोनों एक साथ नही चल सकती ? योगेन्द्र सिंह तथा एस.सी. दुबे जैसे विद्वानों का मत है कि दोनों का सह-अस्तित्व हो सकता है। परम्परावाद को स्वीकारने का यह अर्थ नहीं कि आधुनिकता को अस्वीकार कर दिया जाता है। इसका सरल सा अर्थ है आधुनिकता की शक्तियों पर नियत्रण। इसी प्रकार आधुनिकता को स्वीकार करने का यह अर्थ नही है कि परम्परावाद को पूर्णरूपेण अस्वीकार कर दिया जाये। इसका अर्थ है कि परम्परावाद के केवल उन तत्वों को रखा जाये जिनको समाज द्वारा प्रकार्यात्मक माना जाये। इस दृष्टिकोण के आधार पर हमें यह पता लगाना है कि किस सीमा तक भारतीय समाज

परम्परागत और किसी सीमा तक यह आधुनिक हो गया है।

यह कहना गलत न होगा कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें आधुनिक व परम्परा का स्पष्ट समन्वय दिखाई देता है। एक ओर तो हमने उन विश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं की उपेक्षा की है जिनकी आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, तो दूसरी ओर हमने उन मूल्यों को अपनाया है जिनको हमने अपने मौलिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक माना है।

ब्रिटिश काल की तुलना में आज स्वतत्रता अधिक है। सामाजिक पैमाने में उन्नति के अधिक अवसर प्राप्त हैं। हम परम्परागत सामाजिक प्रथाओं को छोडने में तथा नई सस्थात्मक रचनाओं के निर्माण में अधिक विवेकी हो गए हैं। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की सख्या में कमी हुई है। गणतंत्र बनने के बाद गत 50 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में कई गुणा वृद्धि हुई है तथा पिछड़े तथा निम्न जाति के लोगों के लिए उच्च सामाजिक स्थिति की उपलब्धि अब कोई भ्रम नही रह गया है।

क्या हमने साम्प्रदायिक सौहार्द (harmony) प्राप्त कर लिया है ? क्या हम स्त्रियों को पुरुषों की समानता पर ले आए हैं ? क्या हम अस्पृश्यों की स्थिति में सुधार कर सके हैं ? क्या हम विभिन्न वर्गों में से उपेक्षा भाव निकालने में समर्थ हुए हैं , जैसे कृषक औद्योगिक श्रमिक, दैनिक वेतन भोगी, आदि ? क्या हम सम्पत्ति के विशेषाधिकारों को निम्न वर्ग के लोगों के पक्ष में लाने में समर्थ हो सके हैं ? क्या हम समाजवादी समाज होने का दावा कर सकते हैं ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है कि हमारे समाज में आन्दोलन बढ गये हैं और सामाजिक असन्तोष फैल गया है।

विद्यमान वृहद् असन्तोष हमारे समाज में अनेक बढते हुए विरोधाभासों का परिणाम है। कुछ विरोधाभास (contradictions) इस प्रकार हैं हमारी भूमिकाए तो आधुनिक हो गई हैं किन्तु हमारे मूल्य अभी भी परम्परागत हैं, हम समतावाद दर्शाते हैं किन्तु हम भेदभाव का व्यवहार करते हैं; हमारी आकाक्षाए बहुत ऊँची तो हो गई हैं किन्तु उनकी प्राप्ति के साधन या तो उपलब्ध नही हैं या पहुंच से बाहर हैं, हम राष्ट्रवाद की बात तो करते हैं लेकिन हम क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन देते हैं; हम दावा करते हैं कि हमारा गणतत्र समानता लाने के लिए समर्पित है किन्तु यह जाति व्यवस्था के शिकजे में जकडा हुआ है, हम तर्कशील होने का दावा करते हैं किन्तु हम अन्याय व पक्षपात को भी भाग्यवादी भावना से स्वीकार करते हैं, हम उदारीकरण की नीति की घोषणा करते हैं, फिर भी अनेक नियत्रण लागू करते हैं, हम व्यक्तिवाद का समर्थन करते हैं लेकिन हम समूहवाद को लागू करते हैं, हम आदर्शवादी संस्कृति का उद्देश्य बनाते हैं लेकिन हम भौतिक सस्कृति के पक्षधर हैं, अनेक नये कानून लागू किए जाते रहे हैं लेकिन ये क़ानून किसी को लाभ नही पहुचाते, केवल वकील ही उससे लाभान्वित होते हैं। विधान अनेक हैं किन्तु न्याय बहुत कम, कार्यक्रम व सरकारी कर्मचारी अनेक हैं किन्तु जन सेवा कम, अनेक योजनाए हैं किन्तु कल्याण कम, सरकारी क्षेत्र कम, सरकारी तत्र अधिक हैं तथा प्रशासन कम है।

इन सभी विरोधाभासों का परिणाम यह है कि हमारे समाज में असन्तोष बढता जा रहा है। भ्रष्ट तत्र तथा अप्रतिबद्ध राजनैतिक अभिजात वर्ग तथा उप-अभिजन जो अपने निजी स्वार्थों में रुचि लेते हैं जिन्हें देश के भविष्य की कोई चिन्ता नहीं होती; उन्होंने विकास का

विरोध किया, निहित स्वार्थों, समूहों, आर्थिक एकाधिकारियों और धर्मान्ध धार्मिक नेताओं तथा निष्क्रिय अधिकारियों आदि ने भी जमकर विरोध किया क्योंकि वे अपनी अपार शक्ति को कम होते नही देख सकते थे।

सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध (Resistance to Social Change)

यह सत्य है कि भारतीय समाज परिवर्तित हो रहा है और विकास की कुछ दिशाए स्पष्ट होती जा रही हैं, फिर भी सत्य यह है कि हम सभी लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल नही हो पाए हैं जो हम चाहते थे। हमारे लक्ष्यों की प्राप्ति में क्या बाधाए रही है ? गुन्नार मिरडल जैसे कुछ पश्चिमी विद्वानों ने सुझाया है कि भारत की आर्थिक कमजोरी का कारण लोगों में तकनीकी कुशलता की कमी नहीं है बल्कि साहस, स्थिति सुधारने की इच्छा, श्रम का सम्मान करने में कमी है। इस प्रकार के विचार तर्कहीन व पक्षपात पूर्ण हैं। कुछ पश्चिमी व भारतीय विद्वानों द्वारा इनको चुनौती भी दी गयी है। इन विद्वानों में मोरिस (Morris, 1967), मिल्टन सिंगर (1966, 1969), टी एन मदान (1968), योगेन्द्र सिंह (1973) और एस सी दुबे, आदि हैं। ग्रामीण भारत के क्षेत्रों में किए गए विविध अध्ययनों से पता लगा है कि ग्रामीण लोगों में सुधार के लिए तीव्र इच्छा है। वे लोग कठिन परिश्रम करने के लिए अपनी व्यर्थ की तथा हानिपूर्ण प्रथाओं के बदलने के लिए और प्रलोभन तथा मानव कमजोरियों से ऊपर उठने के लिए तैयार हैं। विकास सबधी प्रयासों में बाधक मानवीय कारक नही है, बल्कि राजनैतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक सरचनाए, तथा आर्थिक कठिनाइया हैं। इस सम्बन्ध में निम्न कारकों का विश्लेषण आवश्यक है।

परम्पराओ की शक्तियाँ (Forces of Tradition)

समाज में परिवर्तन तभी सभव है जब कि नए कार्यों को करने की विधियों को स्वीकार करने के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की जाए। परम्पराओं से लगाव तथा नवीन विचारों की अस्वीकृति सामाजिक परिवर्तन में बाधा उत्पन्न करते हैं। सास्कृतिक एकत्रीकरण (accumulation) की मात्रा तथा अन्य समाजों से सम्पर्क की मात्रा किसी भी समाज में सामाजिक परिवर्तन की सीमा निर्धारित करते हैं। सास्कृतिक एकत्रीकरण की मात्रा के कारण आविष्कारों की सम्भावना तथा अन्य सस्कृतियों की नवीन विशेषताओं का प्रारम्भ सीमित हो जाता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि परम्परा को त्यागने की तत्परता कितनी है। दूसरी सस्कृतियों के सम्पर्क में आने से जो कुछ ज्ञात होता है वह विस्तारित हो जाता है, यही सामाजिक परिवर्तन का स्रोत है। पृथक (isolated) समाज परिवर्तन का अनुभव कम करते हैं लेकिन जो समाज मिलते-जुलते रहते हैं वे तेज परिवर्तन का अनुभव करते हैं। जो समाज बिल्कुल परिवर्तित नही हो तो उसमें लोग स्वतत्रता पूर्वक मेलजोल से इन्कार करते हैं तथा दूसरों के रीति-रिवाज, ज्ञान, तकनीकी एव विचारधाराओं में भागीदारी करने में उत्साह नही दिखाते। यह इन्कार इसलिए होता है कि वे अपनी परम्पराओं को पवित्र मानते हैं। उनकी मान्यता है कि परम्पराओं के गुण पवित्रता के सचरण (transmission) से आते हैं।

परम्परा से प्रेषित इसलिए स्वीकार नही किए जाते कि वे विद्यमान होते हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि वे किसी स्थिति में नियमों की आवश्यकता पूर्ण करते हैं। वे समाज में

स्थायित्व का काम करते हैं। अत. वह भूमिका जो परम्परागत प्रतिमान (norms), आर्थिक तथा तकनीकी रूप से परिवर्तित होते हुए समाज में निभा सकते हैं, कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि समाज के परम्परा से प्रभावित व्यवहार क्या स्थान रखता है। यहाँ परम्परा और आधुनिकता के अटूट क्रम (continnum) के बीच विभाजन रेखा खीची जा सकती है। परम्परागत समाज में परम्परागत मूल्यों को महत्व दिया जाता है क्योंकि वे अतीत से अर्जित किए जाते हैं; लेकिन आधुनिक समाज में परिवर्तन की दशाओं का स्वागत होता है क्योंकि वे वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

जाति व्यवस्था (Caste System)

जाति प्रथा न्याय व समृद्धि दोनों की ही प्राप्ति में बाधक रही हैं। किंगस्ले डेविस (1951 216) का यह कथन सत्य था कि आनुवंशिक व्यवसाय का विचार, मुक्त अवसरों के विचार, मुक्त प्रतिस्पर्द्धा, बढती हुई विशेषता, तथा व्यक्ति की गतिशीलता जो गतिशील औद्योगिक अर्थव्यवस्था से संबंधित है, के बिल्कुल विपरीत है।

विकास योजनाओं के विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों मे असफल होने का कारण गुटबाजी भी होता है। गुटों की रचना का आधार जाति या उपजाति की सदस्यता होता है। कई क्षेत्रों में जहाँ कृषक एक जाति के होते हैं, दूसरी जाति के लोग उनके साथ कोई सहयोग नही करते क्योंकि उन्हें किसी लाभ की आशा नही रहती है। उन क्षेत्रों में जहाँ कृषक सत्ताधारी हैं वहाँ भी विकास कार्यक्रम विस्तृत स्वीकृति प्राप्त करने में असफल रहते हैं। कोई भी कार्यक्रम जो एक जाति की सहायता के लिए होता है दूसरी जातियों द्वारा उसका विरोध किया जाता है जो समाज में उनकी स्थिति से ईर्ष्या करते हैं या दूसरों की कीमत पर अपनी स्थिति के हित के लिए उत्सुक होते रहते हैं। जाति की तरह ही अन्त जाति गुटबाजी भी सामाजिक परिवर्तन में बाधक होती है।

प्रारम्भ में अन्य जातियों के लोगों के साथ अन्तर्क्रिया में जाति प्रथा के बन्धन गतिशीलता तथा औद्योगीकरण की अनुमति प्रदान नही करते थे, और आज राजनीति में इसके प्रयोग से शासक रचनात्मक दिशा में कार्य नही करते हैं। विलियम कैप (1963 64) ने भी संकेत दिया है कि हिन्दू सस्कृति तथा हिन्दू सामाजिक सगठन भारत में विकास की कम दर के निर्णायक कारक हैं। मिल्टन सिंगर (1966 · 505) इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही करते। उनकी मान्यता है कि ऐसा कोई पर्याप्त साक्ष्य नही है जो यह दर्शाता हो कि हिन्दू सस्कृति तथा जाति व्यवस्था ने भारत के विकास में कोई बाधा उत्पन्न की है। उन्होंने कैप (Kapp) के निष्कर्षों को अनुमान पर आधारित (speculative) मूल्याकन माना है जो उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों में निहित विचारों को गलत समझकर लिए हैं।

निरक्षरता, अज्ञानता तथा भय (Illiteracy, Ignorance and Fear)

निरक्षरता के कारण अज्ञानता भय उत्पन्न करती है जो सामाजिक परिवर्तन में बाधा डालती है। प्रथा के अनुसार कार्य करना सुरक्षित होता है क्योंकि उनका परीक्षण हो चुका होता है। एक और बात यह है कि 'नया' अनजान होता है, अत उससे बचना ही ठीक होता है। वे आविष्कार जो वर्तमान भौतिक सस्कृति से सम्बद्ध हैं यदि उनकी अधिक आवृत्ति होती है तो

लोग उनके आदी हो जाते हैं और परिवर्तन के प्रति उनका वैमनस्य भाव कम हो जाता है। इसके विपरीत, यदि भौतिक संस्कृति से सम्बद्ध आविष्कार अधिक व जल्दी न हों तो परिवर्तन कम होता है और भय का कारण भी। जब निरक्षरता संस्करण को प्रोत्साहन देती है, तब शिक्षा समानता के विचार पर बल देती है। यह विवेक को भी प्रोत्साहन देती है। शिक्षित लोग सभी प्रकार की इच्छाओं को जन्म देते हैं तथा उनकी प्राप्ति के साधन भी विकसित करते हैं।

मूल्य (The Values)

सामाजिक परिवर्तन में मूल्यों की भूमिका विवाद का विषय है। उदाहरणार्थ, हीगल (Hegel) का विचार था कि सामाजिक परिवर्तन विचारों की अभिव्यक्ति का परिणाम है। मार्क्स का विचार था कि लम्बी अवधि के सामाजिक परिवर्तन पर मूल्यों का कोई प्रभाव नही होता है। उन्होंने सोचा कि सामाजिक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों की अन्तर्क्रिया का प्रतिफल होता है, जो कि वर्ग संघर्ष में प्रकट होता है। अधिकतर भारतीय समाजशास्त्री इस विचार से सहमत हैं कि मूल्य, व्यक्ति और सामूहिक व्यवहार दोनों को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। अनेक लोग अनुभव करते हैं कि मूल्य परिवर्तन का परिणाम होते हैं, अत मूल्यों को सामाजिक परिवर्तन में प्राथमिक कारक नही मानना चाहिए। जाति प्रथा के मूल्य (संस्तरण, अपवित्रता, अन्तर्विवाह) भारतीय समाज के परिवर्तन में बहुत बाधक थे। जब लोगों ने तकनीकी तथा औद्योगीकरण को स्वीकार कर लिया, तभी भौगोलिक गतिशीलता के बाद सामाजिक गतिशीलता सम्भव हुई। भाग्यवाद ने भी कठिन परिश्रम तथा सामाजिक परिवर्तन में बाधा उत्पन्न की। अकाल, बाढ, भूकम्प, निर्धनता, बेरोजगारी सभी ईश्वरीय प्रकोप के परिणाम समझे जाते थे। औद्योगिक समाजों में लोगों ने सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति पर नियंत्रण सम्भव है तथा अवांछनीय स्थिति निराशाजनक बाधा नही है, बल्कि मनुष्य की शक्ति को चुनौती है।

स्वजातिवाद (ethnocentrism) भी लोगों को दूसरी संस्कृतियों अथवा नवीन विचारों को स्वीकार करने से रोकता है। भारतीयों के मस्तिष्क में जातिवाद इतनी गहरी जड़ें जमा चुका है कि यद्यपि वे सांस्कृतिक सापेक्षवाद (cultural relativism) के दर्शन के प्रति सचेत होते हैं फिर भी वे दूसरों के विचारों को अपने विचारों के प्रकाश में मूल्यांकन करने के शिकार हो ही जाते हैं। स्वाभिमान व इज्जत का विचार लोगों को दूसरों के विचारों को स्वीकार करने से रोकते हैं। वे समझते हैं कि वे इतने विद्वान व विचारवान है कि दूसरों के विचार उनके लिए कोई महत्व नही रखते, इसलिए उन्हें छोड देना चाहिए।

सत्ताधारी अभिजन (The Power Elite)

हमारे देश के लगभग सभी विद्वानों ने माना है कि सरकार भारतीय समाज में परिवर्तन लाने वाली प्रमुख एजेन्सी रही है और सामाजिक परिवर्तन का एक अच्छा भाग सरकारी एजेन्सियों द्वारा ही प्रेरित और निर्देशित हुआ है। सरकार में सुधारवादी कार्य सत्ता में अभिजनों पर निर्भर होता है। परेटो (Pareto) ने इन्हें शासकीय अभिजन (governing elite) कहा है। सभी अभिजन समुदाय के कल्याण या समाज के विकास के लिए प्रतिबद्ध नही होते। अनेक

अभिजनों के कार्य स्वार्थों पर आधारित होते हैं। इस लेखक ने (1975 65-66) 'स्व' (self) तथा 'जन' (public) के हितों में कार्य कर रहे अभिजनों को चार समूहों में वर्गीकृत किया है : उदासीन (indifferent) (S-,P-), छलयुक्त (manipulative) (S + P-), प्रगतिशील (progressive) (S-, P+), तथा विवेकी (rationalist) (S +, P+)। समाज में प्रगति सत्ता-प्राप्त राजनैतिक अभिजनों पर ही निर्भर करती है। स्वतत्रता के प्रथम बीस वर्षों में हमारे राजनैतिक अभिजन राष्ट्रवादी व विवेकी थे, जबकि शेष 30 वर्षों में वे विवेकहीन तथा क्षेत्रवादी हो गए हैं। क्योंकि छलयुक्त और उदासीन अभिजनों का प्रभाव प्रगतिशील व विवेकी अभिजनों पर बना रहा, इसलिए हमारे समाज का विकास अवरुद्ध हो गया। राजनैतिक अभिजन की तरह ही हमारे अफसरशाह नवीनतावादी (innovative) की अपेक्षा सास्कारिक (ritualistic) अधिक है; हमारी न्याय पालिका उदार होने की अपेक्षा अधिक परम्परावादी है; हमारी पुलिस कानून की अपेक्षा सत्ता के नेताओं के प्रति अधिक प्रतिबद्ध है। अतः चूकि हमारे नीति निर्माता तथा कानून पालक उन कल्याणकारी विकास की आवश्यकता नही समझते, इसलिए विकास उपेक्षित रहा है।

जनसख्या विस्फोट (*Population Explosion*)

जनसख्या के विस्फोट के कारण निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की संभावनाए अवरुद्ध हो जाती है। हमारी जनसंख्या में लगभग 1.5 करोड बच्चे प्रति वर्ष बढ रहे हैं। अनुमान है कि इतनी वृद्धि के लिए हमें हजारों और लाखों में ससाधनों का इन्तजाम करना होगा। इस प्रकार अधिक जनसंख्या गरीबी रोकने के प्रयासों और तीव्र विकास की राह में रुकावट डालती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जहाँ तक भारत में सामाजिक परिवर्तन की दिशा का प्रश्न है सांस्कृतिक निरन्तरता प्रचुर मात्रा में रही है। साथ ही आधुनिक मूल्यों, प्रथाओं तथा सस्थाओं में परिवर्तन भी आया है। परम्परात्मक स्वरूप स्थिर नही रहा है तथा आधुनिक व्यवहार सामान्यत लम्बी अवधि तक चलते रहने के कारण कार्य प्रणाली में ही समाविष्ट हो गया है।

नियोजन तथा सामाजिक परिवर्तन (**Planning and Social Change**)

किसी निश्चित क्रिया के प्रति प्रतिबद्धता नियोजन कहलाती है। यह सामाजिक सस्थाओं का नवीन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियों में समायोजन है। यह आवश्यक नहीं है कि नियोजन तर्क संगत ही हो क्योंकि यह सदैव विश्वसनीय वैज्ञानिक सूचनाओं पर आधारित नही होता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत में निर्धनता उन्मूलन के लिए केवल उत्पादन की वृद्धि पर ही बल दिया जाये और जनसंख्या विस्फोट के नियत्रण के पक्ष की उपेक्षा की जाती है तब ऐसे नियोजन को तर्कसगत कैसे कहा जा सकता है? सामाजिक नियोजन के निम्न उद्देश्य होते हैं· (i) सामाजिक सगठन में परिवर्तन (ii) सामुदायिक कल्याण, जैसे शिक्षा सुविधाओं में सुधार करना, नौकरी के अवसरों में वृद्धि करना, सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना, आदि

रीमर (Riemer) के अनुसार नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं (अ) उद्देश्यों का पूर्व निर्धारण और मूल्यों की घोषणा, (ब) मूर्तता (concreteness) अथवा विषय सामग्री को

निश्चितता निर्धारित करना, (स) विविध कुशलताओं तथा विविध पेशे की ट्रेनिंग में समन्वय स्थापित करना। योजना की सफलता के लिए कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है : (i) योजना का निर्माण लोगों के द्वारा होना चाहिए, (ii) लोगों की भागीदारी अत्यन्त आवश्यक है, (iii) योजना को प्रारम्भ करने के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को आगे आना चाहिए न कि योजना बनाने वालों को, (iv) प्राथमिकताए पूर्व निश्चित करनी चाहिए, (v) निर्णय करने में मध्यस्थता उस व्यक्ति के द्वारा की जानी चाहिए जो तकनीकी ज्ञान रखता हो और जो दक्षता प्राप्त पेशेवर व्यक्ति हो क्योंकि उसमें विकल्प ढूंढने की क्षमता होती है।

भारत में 1940 के दशक में एम विश्वेशरैया द्वारा आर्थिक नियोजन का प्रतिपादन किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर (1938-39) एक अखिल भारतीय योजना बनाने के उद्देश्य से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय योजना समिति की नियुक्ति की। लेकिन बम्बई योजना (टाटा-बिड़ला योजना) ने ही भारत के लोगों को नियोजन-चेतना प्रदान की। 1943 में भारत सरकार ने एक वाइसराय काउन्सिल की कमेटी, जिसे पुनर्निर्माण कमेटी ऑफ काउन्सिल (Reconstruction Committee of Council) के नाम से जाना जाता है, की स्थापना की (जिसकी सहायता प्रान्तीय नीति समितियों ने की) जिसका उद्देश्य पुनर्निर्माण की योजना तैयार करना था। 1944 में योजना तथा विकास विभाग का भी निर्माण किया गया। परन्तु, उस समय सरकारी योजनाए निश्चित आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनाई गई थीं। उनका सम्बन्ध केवल जीवन स्तर उठाने, लोगों की क्रय शक्ति बढाने, कृषि मूल्यों को स्थिर करने, उद्योगों का विकास करने, धन सम्बन्धी विषमता को दूर करने, तथा पिछडे वर्गों को उठाने के प्रकरणों से था। विविध प्रान्तों से अपनी-अपनी योजनाए बनाने के लिए कहा गया था। उनके लिए न तो ससाधन बजट था और न ही किसी प्राथमिकता का ही उल्लेख था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत की स्वतत्रता प्राप्ति तक प्रेरित सामाजिक परिवर्तन सम्भव न था क्योंकि (i) पर्याप्त नियोजन द्वारा विकास की प्राथमिकताओं को पूर्व निश्चित नहीं किया गया था, (ii) उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय की आवश्यकता से सबधित पर्याप्त आकडे तैयार नही किए गए थे, (iii) विकास उद्देश्यों के लिए केवल सीमित विदेशी विनिमय ही उपलब्ध था, (iv) निजी उद्यमी औद्योगिक विकास में बडी पूँजी निवेश करने में कम उत्साही थे क्योंकि सरकारी नीतियाँ उनके लिए सहायक नही थी, (v) विदेशों से कच्चा माल, मशीनें और प्रमुख वस्तुए आयात करने की सुविधा नहीं थी, (vi) जनसख्या वृद्धि को रोकने के गभीर प्रयत्न नही किए गए थे, (vii) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय समितियों के बीच नियोजन प्रक्रिया में तालमेल नही था, (viii) विश्व युद्धों के कारण मुद्रा स्फीति में वृद्धि होती जा रही थी, और (ix) प्रशासनिक प्रक्रिया का विकास मुख्यत राज्य के पुलिस कार्यों के उद्देश्य से किया गया था। नौकरशाही को विकास योजनाओं में रुचि लेने की ट्रेनिंग नही दी जाती थी।

स्वतत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने सन् 1950 में सभी राज्यों और केन्द्रीय योजनाओं में तालमेल बैठाने के उद्देश्य से योजना आयोग की नियुक्ति की। यह आयोग (i) प्राथमिकताओं को निश्चित करने (ii) देश के ससाधनों के सतुलित नियोजन के लिए (iii) देश के भौतिक, पूँजी एव मानव ससाधनों का मूल्याकन करने (iv) समय-समय पर प्रगति का मूल्यांकन तथा पुन समायोजन की सिफारिश करने (v) उन कारकों का पता लगाने के

लिए जो आर्थिक प्रगति में बाधा डालते हैं, आदि कार्य करने के लिए था।

अपने प्रारम्भ होने से अब तक योजना ने नौ पचवर्षीय योजनाए तैयार की हैं तथा प्रत्येक योजना विशेष उद्देश्य पर केन्द्रित की गई है। उदाहरणार्थ, अप्रेल, 1951 में जब प्रथम पच वर्षीय योजना प्रारम्भ की गई तो इसका प्रमुख केन्द्रबिन्दु कृषि विकास था। द्वितीय योजना में भारी उद्योगों पर बल दिया गया, जबकि शेष सात योजनाए कृषि व औद्योगिक विकास दोनों पर केन्द्रित थी। प्रेरित परिवर्तन के लिए अन्य प्राथमिकताएँ थी परिवार नियोजन, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, 5 से 7% वार्षिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि, मूल उद्योगों का विकास (लोहा, इस्पात, शक्ति, रसायन), मानव ससाधनों का अधिकतम प्रयोग, आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण, आय वितरण की असमानताए कम करना, सामाजिक न्याय तथा समानता प्राप्त करना, आदि। यह कहा जा सकता है कि भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना तथा उनके लिए समृद्ध जीवन के लिए अवसर प्रदान करता रहा है।

किन्तु क्या भारत में नियोजन से नियोजित परिवर्तन का उद्देश्य प्राप्त हो सका है ? 50 वर्ष के नियोजन की अवधि में आर्थिक विकास की दर 3.5% रही है। यद्यपि यह विश्व की आय में 4% की वृद्धि की तुलना में बुरी नही है, किन्तु विकासशील देशों की 7% से 10% की वृद्धि की अपेक्षा अच्छी नही है। 1951 से 2000 की अवधि में भारी राष्ट्रीय आय में केवल 3.5% की ही वृद्धि सम्भव हो पायी है।

रोनाल्ड लिप्पिट (Ronald Lippet, 1958 96-99) के अनुसार कहा जा सकता है कि यदि विकास कार्यक्रम को सफल बनाना है तो कुछ सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना होगा। इसके कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं : (i) विकास प्रस्ताव व प्रक्रिया में परस्पर मेल होना चाहिए, (ii) विकास के लक्ष्य समुदाय के लिए सार्थक मूल्य वाले होने चाहिए, (iii) नियोजकों को सामुदायिक सांस्कृतिक मूल्यों तथा विश्वासों का समुचित ज्ञान होना चाहिए, (iv) विकास प्रक्रिया में समुदाय की भी सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए, (v) विकास समूचे समुदाय के संदर्भ में होना चाहिए और (vi) विकास की विविध एजेन्सियों के बीच सम्प्रेषण एव सहयोग आवश्यक है। जापान, जर्मनी सहित देश जिन्होंने प्रगति की है, वे देश हैं जहाँ न तो कोई योजना आयोग है और न ही कोई योजना। क्या भारत को भी वही रास्ता अपनाना नहीं चाहिए ?

नियोजित परिवर्तन के कारक (Factors of Planned Change)

1950 में स्थापित योजना आयोग देश के ससाधनों एवं आवश्यकताओं का समग्र रूप से विचार करते हुए देश के विकास के लिए पचवर्षीय योजनाए बनाता रहा है। यदि हम अभी तक बनी सभी नौ योजनाओं का जायजा लें तो पता चलता है कि हमने योजना के पाँच दशकों में से कुछ काम पूर्ण कर लिए हैं। हमारी सभी योजनाए कभी कृषि उत्पादन आत्मनिर्भरता, कभी रोजगार, कभी औद्योगिक विकास और इसी प्रकार उन्मुख रहे हैं। लेकिन गरीबी और बेरोजगारी बढते ही रहे हैं।

50 वर्षों की अवधि में आर्थिक विकास की औसत दर अधिक नहीं है। 1951 और

1999 के दौरान हमारी राष्ट्रीय आय 3 5 प्रतिशत के लगभग बढी थी, कृषि उत्पादन 2 7 प्रतिशत, औद्योगिक उत्पादन 6 1 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति उपभोग 1 1 प्रतिशत बढा। यद्यपि सरकार ने दावा किया कि गरीबी रेखा के नीचे के लोगों की सख्या 1999 में 34 प्रतिशत ही थी लेकिन क्योंकि बेरोजगार लोगों की सख्या में भी वृद्धि हुई, हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि गरीबी को रोक लिया गया है। इसमें आश्चर्य नही कि आज अधिक लोग कुण्ठा का अनुभव करते हैं और आन्दोलनों की सख्या भी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है।

वैधानिक उपाय (Legislative Measures)

सामाजिक कानून और प्रशासनिक उपाय काफी सख्या में भारत में विविध श्रेणियों के लोगों के लिए लागू किए गए हैं, जैसे, स्त्रियों, दलितों, जनजातियों, श्रमिकों, किसानों, पिछडी जातियों और इसी तरह के अन्य लोगों के लिए प्रमुख कानूनी उपाय हैं बाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929 जिसको 1974 में सशोधित किया गया जिससे लडकियों का विवाह 18 वर्ष से कम और लडकों का विवाह 21 वर्ष से कम रोका गया, 1954 का विशेष विवाह अधिनियम जो माता पिता की अनुमति के बिना विवाह की स्वीकृति देता है तथा अन्तर्जातीय विवाह और तलाक की भी स्वीकृति देता है, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 जो 18 वर्ष से कम लडकियों और 21 वर्ष से कम लडकों के विवाह को अवैध करार देता है तथा तलाक की अनुमति देता है, 1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम जो विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति देता है, 1961 का दहेज विरोधी अधिनियम जो विवाह में दहेज लेने व देने पर प्रतिबन्ध लगाता है, 1955 का अस्पृश्यता अधिनियम अस्पृश्यता को व्यवहार में लाने वाले को दण्ड का प्रावधान करता है, 1956 का हिन्दू एडोप्शन एण्ड मेन्टिनेन्स अधिनियम जो *स्त्रियों को दत्तक बालक रखने की अनुमति देता है, 1971 का गर्भ समापन अधिनियम जिसमें* गर्भपात को अनुमति दी गई है, 1956 का हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम जिसमें स्त्रियों को पत्नी, पुत्री या माँ के रूप में सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया है, तथा समान पारिश्रमिक अधिनियम जो कि रोजगार के दौरान स्त्री पुरुष की कार्य दशाओं के भी मजदूरी में भेदभाव को रोकता है।

प्रशासनिक उपाय थे जमीन्दारी प्रथा उन्मूलन, मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करना जिसमें नौकरी में ओबीसी (OBC) के लिए 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करना था। लोक सभा व राज्य विधान मण्डलों में अब महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने सम्बन्धी योजना ससद में विचार के लिए रखी गयी है। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत तथा 7 प्रतिशत जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित हैं।

नगरीकरण और औद्योगीकरण
(Urbanisation and Industrialization)

नगरीकरण (Urbanisation)

भारत की शहरी जनसख्या स्वतत्रता प्राप्ति के बाद तेजी से बढी है। इन असख्य लाखों लोगों के लिए शहर ही वह स्थान होता है जहा वे रोजगार की तलाश में आते हैं। 1961 की

जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का केवल 10 8 प्रतिशत (या 23 8 करोड में से केवल 2.58 करोड) शहरों में रहते थे। 1991 में यह प्रतिशत बढकर 25 72 हो गया है और 2001 तक लगभग 35 प्रतिशत लोग शहरों के निवासी हो जायेंगे (अनुमानित एक अरब जनसख्या का 35 करोड)। इसका अर्थ यह हुआ कि आने वाले 5 वर्षों में (2005 तक) 10 लाख से एक करोड की आबादी वाले लगभग 35 नगर होंगे। मुम्बई, देहली और कलकत्ता में 1 5 करोड से दो करोड के बीच लोग होंगे, जबकि 1998 में इनकी जनसख्या क्रमश 172 लाख, 112 लाख व 126 लाख थी।

एक कारक जिसने शहरी आबादी की वृद्धि में योगदान किया है वह है औद्योगीकरण। यह वैसा ही हुआ जैसा कि पश्चिमी देशों में जहा कि बढता हुआ नगरीकरण अधिकाशत औद्योगीकरण का ही परिणाम था। गाँवों से नगरों में गति के लिए धात/खिंचाव (Push/Pull) कारक अधिक कार्यकारी रहा है। घात कारकों में प्रथम, कृषि क्षेत्र में रोजगार की कमी आबादी बढ़ने से हो जाती है, दूसरे, जहा कृषि का आधुनिकीकरण हो रहा है वहा नौकरियों में पूर्णरूपेण कमी हो जाती है। खिंचाव कारकों में प्रथम है ग्रामीण जीवन की अपेक्षा शहरों में अच्छे जीवन जीने के अवसर। शहरों में अर्थव्यवस्था भी वृहद् होती है जिनमें दृढ निश्चयी व खोज करने वाले लोग जीवित रहते हैं और कुछ मामलों में समृद्ध भी हो जाते हैं। शहरों में भिखारियों की आमदनी भी बढने को सम्भावनाए रहती है। दूसरे, बिजली, साफ पानी, शिक्षा, संचार एवं मनोरजन के साधन शहरों में अधिक सम्भव होते हैं। तीसरा कारक है शहरों का सास्कृतिक आकर्षण तथा आधुनिक जीवन के तरीकों और चमक-दमक का आकर्षण। युवा ग्रामीणों को जो सबसे ज्यादा अच्छा लगता है वह है शहरी धन दौलत और जीवन शैली, लेकिन शायद 'शहरी' होने की इच्छा गहराई में छिपी रहती है—शहरी युवाओं की भाँति सोचने और समझने की इच्छा। आधुनिकीकरण के सिद्धान्तवादी इस प्रक्रिया को 'उदारीकरण' मानते हैं। शहरों में ही व्यक्तिवाद जन्मता और पनपता है और वहीं व्यक्ति को पारम्परिक सीमाए तोडने का अवसर मिलता है और उन आदर्शों और लक्ष्यों की प्राप्ति का अवसर मिलता है जिनसे उसकी अपनी पहचान बनती है।

लेकिन शहरों की बढती जनसख्या उद्घाटित करने से अधिक छिपाती है। शहरों में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को घर नही मिल सकता या तो किराया न दे पाने के कारण या उनके कार्य स्थल से दूर होने के कारण घर नही मिलता। यह उन्हें गन्दी बस्तियों में रहने को बाध्य करता है। मुम्बई में ही लगभग आधी आबादी—65 करोड लोग—अस्थाई बस्तियों या फुटपाथों पर रहते हैं। शहर की आबादी 1964 से तीन गुनी बढ गई है लेकिन अस्थाई निवासी पन्द्रह गुणा बढे हैं। दिल्ली, कलकता और चेन्नई के राजधानी क्षेत्रों में कच्ची बस्तियों में रहने वाले लोगों की सख्या लाखों में है जबकि जयपुर, अहमदाबाद, बैंगलोर, लखनऊ आदि जैसे शहरों में भी उनकी भी सख्या लाखों में है। गन्दी बस्तियों में वृद्धि के रूप ही शहरीकरण ने पारिवारिक सम्बन्धों, अन्तर्जातीय व अन्तर्सामुदायिक सम्बन्धों, स्त्रियों की प्रस्थिति, अपराध तथा किशोर अपराध आदि को भी प्रभावित किया है।

शहरी नियोजन में थोडा पक्षपात रहा है क्योंकि इसने पारम्परिक रूप से शक्तिशाली और मध्यम वर्गीय लोगों के हितों को ही दर्शाया है। जन आवश्यकताओं को कभी भी ध्यान में नहीं रखा गया है। उदाहरणार्थ, मुम्बई में व्यापारिक और आवासीय प्रयोग की भूमि के

पुनरुद्धार में नियोजित अनुपात 80 20 का था जिससे वह अत्यधिक भीड, सकरापन तथा सडकों, उपनगरीय रेलों और जलापूर्ति, बिजली और गन्दे पानी के निकास की व्यवस्था आदि पर अत्यधिक दबाव पडा।

शहरी भीडभाड पैदा करने में मुख्य कारण हैं, दोषयुक्त नियोजन, विदेशी नमूने, समझदारी और सार्वजनिक यातायात में विनियोजन में कमी, अधिक कानून, तथा नियोजन और निर्माण में निजी एजेन्सियों को न लगाना, आदि।

नगरों के निकास को कम करने का समाधान रिंग कस्बों के विकास सार्वजनिक यातायात व्यवस्था को मजबूत करने के साथ ही निजी वाहनों पर दबाव कम करने में, नही है बल्कि सार्वजनिक यातायात को त्वरित बनाने में है। मुम्बई में उप नगरीय रेलों ने नगर के उप नगरों को 120 किलोमीटर तक बढा दिया है।

नगरीकरण से कार्य शक्ति के ढाँचे में भी परिवर्तन आता है (अर्थात् प्राथमिक (कृषि), द्वैतियक (रचना में) और तृतीयक व्यवसाय (व्यापार, यातायात, सार्वजनिक प्रशासन, बैंक और अन्य सेवाओं में लगे लोग) तथा ग्रामीण नगरीय उत्पादन फासले में भी परिवर्तन आया है। उदाहरणार्थ, यदि हम पश्चिम बगाल को ही देखें, राज्य में 1951 व 1991 के बीच शहरीकरण की दर महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु और साथ ही अखिल भारतीय स्तर की तुलना में कम थी। इसने राज्य में सभी तीनों क्षेत्रों (प्राथमिक, द्वैतियक व तृतीयक) में कार्यशक्ति के वितरण को प्रभावित किया। इस राज्य के शहरी क्षेत्रों के प्राथमिक क्षेत्र में 1951 व 1991 के बीच कार्य शक्ति का प्रतिशत 3 37 से 8 22 प्रतिशत के बीच था, द्वैतियक क्षेत्र में 34 78 व 41 06 के बीच तृतीयक क्षेत्र में 52 25 तथा 60 73 के बीच रहा (*Economic and Political Weekly*, November 21-27/ December 4, 1998 3035)

औद्योगीकरण (Industrialisation)

औद्योगीकरण ने न केवल नगरीकरण को प्रोत्साहित किया है, बल्कि सामाजिक सरचना और सामाजिक सस्थाओं को भी प्रभावित किया है। इसका एक प्रभाव तो विशिष्ट शिक्षा की महत्ता की वृद्धि में देखा जा सकता है जिसने फिर विवाह आयु को प्रभावित किया है। परिपक्व और वयस्क युवा शिक्षा पूर्ण होने तथा जीवन में स्थापित होने तक विवाह रोक देते हैं। यौवनारम्भ के पश्चात होने वाले विवाह, वैवाहिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करते हैं। व्यक्ति अपने हितों और आकाक्षाओं में अधिक रूचि लेते हैं। इसके अलावा औद्योगीकरण ने गतिशीलता को प्रेरित किया है। गतिशीलता सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन की अपेक्षा पार्श्वीय (lateral) होती है। लेकिन जैसे जैसे श्रमिक उद्योग में दक्षता प्राप्त करता जाता है उसकी सामाजिक प्रस्थिति भी बदलती है यद्यपि परिवर्तन लम्बाकार (vertical) आधार की अपेक्षा क्षैतिजीय (horizontal) आधार पर अधिक होता है।

औद्योगीकरण ने नियत्रण के साधनों को भी प्रभावित किया है। अनौपचारिक साधनों ने औपचारिक साधनों को स्थान दिया है। लुमिस ने भी कहा है कि औद्योगीकरण ने बाजार अर्थव्यवस्था को जन्म दिया है जो परम्परागत मौखिक नियत्रण के साधनों को स्वीकार नही करती बल्कि नियत्रण के उपायों को लिखित में स्वीकार करती है। औद्योगीकरण ने मजदूर

संघों के विकास में भी योग दिया है जिनसे नियोजक कर्मचारी सम्बन्धों पर भी प्रभाव पडा है तथा कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक कल्याण और हितों की रक्षा पर भी ध्यान दिया गया है। इससे सरकार को सामाजिक कानून बनाने को बाध्य होना पडा है। अन्त मे, औद्योगीकरण के प्रभाव की बात करते हुए, समाजशास्त्रियों ने सचार साधनों पर भी इसके प्रभाव की ओर सकेत किया है जिसने गाँव वालों की आत्मनिर्भरता कम की है, जीवन काल में वृद्धि की है और व्यापारोन्मुख मनोरजन को प्रोत्साहन दिया है। सक्षेप में, औद्योगीकरण ने समाज के हितों और मूल्यों को इस कदर प्रभावित किया है कि व्यक्ति की पहचान, प्रस्थिति, प्रतिबद्धताए और व्यवहार एक बार पुन नई शक्ल तथा नये उद्देश्यों पर सोचने को मजबूर हुए हैं।

सामाजिक (सुधार) आन्दोलन
[Social (Reform) Movements]

भारत में सामाजिक आन्दोलन केवल विरोध और असहमति प्रकट करने वाले आन्दोलन ही नहीं रहे हैं, बल्कि सुधारात्मक, प्रतिक्रियात्मक के साथ साथ सामाजिक-धार्मिक और स्वतत्रता आन्दोलन भी रहे हैं। ये आन्दोलन, जिन्हें "परिवर्तन को प्रोत्साहित/विरोध करने के सामूहिक प्रयत्न" कहा गया है, बौद्धिक विकास, सामाजिक सरचनाओं, वैचारिक वरीयताओं (ideological preferences) और सत्य के ज्ञान आदि से अस्तित्व में आये। यह सर्वविदित सत्य है कि समाज की विशेषताए ही आन्दोलनों के प्रारूप (styles) तैयार करती है। अत. सामाजिक सरचना के तत्व और समाज के भविष्य की छवि ही सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण को केन्द्र बिन्दु प्रदान करते हैं।

ब्रिटिश काल तक हमारे देश में सामाजिक आन्दोलन धर्मोन्मुख थे, यद्यपि 1930 के बाद राष्ट्रीय आन्दोलनों का भी उदय हुआ जो कि स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की शक्तियों के विरुद्ध थे। लेकिन स्वतंत्रता के बाद जो नयी स्थिति पैदा हुई, जैसे राजनैतिक कुप्रशासन, आर्थिक शोषण, महिलाओं का अपमान व तिरस्कार, सास्कृतिक भ्रमुल, उसने आक्रमण के लक्ष्यों (target) में विविधता पैदा की तथा विविध आन्दोलनों में विस्तार किया।

सामाजिक आन्दोलन अक्सर विशेष भागीदारों की पहचान (identity of particular participants) के आधार पर चिन्हित किए जाते हैं जैसे जनजातीय आन्दोलन, हरिजन आन्दोलन, महिला आन्दोलन, किसान आन्दोलन, छात्र आन्दोलन, औद्योगिक श्रमिकों का अन्दोलन, आदि। इसी प्रकार जिन समूहों के विरुद्ध वे जा रहे हैं उनकी *सामूहिकता की प्रकृति* के आधार पर भी वे चिन्हित किए जाते हैं जैसे ब्राह्मण विरोधात्मकता, वामपन्थी विरोधी, दलित विरोधी, आदि। वर्गीकरण का एक और आधार है *सीमागत ठहराव* (territorial anchorage) यानी, वह स्थान जहा उनका उदय हुआ और जो उनका कार्यक्षेत्र है; जैसे विदर्भ आन्दोलन, तेलगाना आन्दोलन, छत्तीसगढ आन्दोलन, झारखण्ड या वानाञ्चल आन्दोलन, उत्तराञ्चल आन्दोलन, आदि। इस प्रकार के नाम से उद्देश्यों का पता चलता है। आन्दोलन उद्देश्यों से भी जाने जाते हैं, जैसे, हिन्दी विरोधी आन्दोलन। आन्दोलनों को उनके शीर्ष नेतृत्व से भी जाना जाता है, जैसे, गान्धी आन्दोलन, रामकृष्ण आन्दोलन, जे.पी.आन्दोलन, आदि। एम.एस.ए. राव (1978) ने तीन प्रकार के

आन्दोलनों की बात की है—सुधारवादी, परिवर्तनवादी (transformative) और क्रान्तिकारी।

यहा हम अपने विश्लेषण को एक ही प्रकार तक सीमित रखेंगे, अर्थात् सुधारवादी। सुधारवादी आन्दोलन मूल्य व्यवस्था में आंशिक परिवर्तन लाते हैं। वे सरचनात्मक परिवर्तनों को प्रभावित नही करते (जैसा कि परिवर्तनवादी करते हैं और न ही वे सामाजिक व सास्कृतिक व्यवस्थाओं की पूर्णता में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाते हैं (जैसे कि क्रान्तिकारी आन्दोलन करते है)। यहा हम पाँच विशिष्ट सामूहिकता से सम्बद्ध आन्दोलनों की चर्चा करेंगे, अर्थात् कृषक आन्दोलन, जनजातीय आन्दोलन, दलित आन्दोलन, पिछडी जाति/वर्ग आन्दोलन और महिला आन्दोलन। इन सभी आन्दोलनों में ये पाँच तत्व हैं, (i) सामूहिक लक्ष्य (ii) वृहद् स्वीकृति वाले (widely accepted), कार्यक्रमों की समान विचारधारा, (common ideology) (iii) सामूहिक क्रियान्वयन (iv) कम से कम सगठन स्तर, (v) नेतृत्व। इस प्रकार उपरोक्त विशेषताओं वाला कोई आन्दोलन 'एजीटेशन' (agitation) से भिन्न है क्योंकि विरोध में न तो कोई विचारधारा और न ही कोई सगठन होता है।

घनश्याम शाह (Social Movements in India, 1998 19) की मान्यता है कि कुछ विद्वानों द्वारा कुछ 'सामूहिक कृत्यों' को 'एजीटेशन' कहा गया है, लेकिन दूसरों ने उन्हें 'आन्दोलन' ही कहा है, जैसे भाषायी राज्यों के गठन की माँग। शाह स्वय उन्हें आन्दोलन (movements) या समाज के विशेष स्तर के सामाजिक आन्दोलन का ही एक हिस्सा मानता है। इस प्रकार वनाञ्चल की माँग बिहार में, उत्तर प्रदेश में उत्तराञ्चल की माँग, मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ की माँग उसके अनुसार सामाजिक आन्दोलन कहे जा सकता है (वही 19)।

सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण में सामान्यतया दो उपागम प्रयोग में लाये जाते हैं मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी। मार्क्सवादी उपागम के अनुसार आन्दोलन में निम्न लक्षण मिलते हैं (1) समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए सामूहिक कार्यवाही (ii) इसका कारण समाज के आर्थिक ढाँचे में स्थित है या विरोधी हितों में जो कि दो विपरीत वर्ग के हो, (iii) शक्तिवान वर्ग विचारधारा को सुधारने और शोषित वर्ग को नियन्त्रित करने के लिए राज्य की दमनात्मक शक्ति (Coercive power) का प्रयोग करता है जबकि शक्तिहीन वर्ग इसका प्रतिरोध करता है। (iv) एक ही वर्ग के सदस्यों के न केवल समान हित होते हैं, जैसे कि अन्यों के, बल्कि समाज में अपनी स्थिति के विषय में समान चेतना में भी भागीदार होते हैं। (शाह, वही 21)। गैर मार्क्सवादी उपागम ने इस उपागम की इस आधार पर आलोचना की है कि (a) यह सास्कृतिक कारकों की उपेक्षा करता है और सरचनात्मक कारकों पर अधिक बल देता है। (b) यह आर्थिक कारकों का अधिक निर्धारण करता है। (c) यह पराभवी (reductionist) उपागम है। गैर मार्क्सवादी विद्वानों के उपागम में सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण में बहुत विविधता है। कुछ तो कारणों की छानबीन नही करते जबकि अन्य आन्दोलनों के लिए उत्तरदायी कारणों पर बल देने में भिन्नता रखते हैं। कुछ सास्कृतिक कारकों पर, कुछ व्यक्तिगत गुणों पर, कुछ अभिजनों द्वारा किए जाने वाले जोड तोड पर और कुछ परम्परा और आधुनिकता के बीच सघर्ष पर बल देते हैं।

उपरोक्त पाँचों आन्दोलनों (कृषक, जनजातीय, दलित, पिछडी जाति और महिला) के विश्लेषण में हमारी धारणा मुख्यत एआर देसाई, रजनी कोठारी और एसएराव के उपागमों

पर आधारित है। देसाई (1986) ने माना है कि कुछ आन्दोलन हमारे सविधान द्वारा लोगों के नागरिक और लोकतांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा न करने के कारण होते हैं। रजनी कोठारी (1984 : 1986) की राय है कि समाज के रूपान्तरण (transformation) में राज्य की असफलता जिसमें विशाल जन समूह का दमन (repression) और उपेक्षा (intimidation) आम बात हो, लोगों को अपने अधिकारों को विविध संघर्षों के माध्यम से मनवाने को बाध्य होना पड़ता है। गुर (Gurr, 1970) और एम एस एस ए राव (1979) ने सामाजिक आन्दोलनों को सापेक्ष वञ्चनाओं (relative deprivation) के संदर्भ में समझाया है। राव ने पीड़ित द्वारा सापेक्ष वञ्चना के साथ कुछ करने की सम्भावना पर बल दिया है। घनश्याम शाह (1979) और टी के ओमन (Oomen, 1977) सामाजिक आन्दोलनों की व्याख्या करते समय सापेक्ष वञ्चना के उपागम को स्वीकार नहीं करते। ओमन का तर्क है कि वञ्चना सिद्धान्तवादी आन्दोलनों को 'परिवर्तन की लगातार चलने वाली प्रक्रिया' नहीं मानते। वे वञ्चना के स्रोतों को भी नहीं मानते। शाह का मानना है कि वञ्चना सिद्धान्तवादी (deprivation theorists) चेतना के महत्व की भी अवहेलना करते हैं तथा भागीदारों के वैचारिक पक्ष की भी उपेक्षा करते हैं।

जनजातीय आन्दोलन (Tribal Movements)

आदिवासियों के आन्दोलन 1772 में बिहार से शुरु होकर, अनेक राज्यों में हुए हैं· आंध्र प्रदेश में विद्रोह, अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, अरुणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम और नागालैण्ड तक कई आन्दोलन चले। उन्नीसवीं शताब्दी में विद्रोहों में सम्मिलित प्रमुख जनजातिया थी : मिजो (1810), कोल (1795 और 1831), मुण्डा (1889), डाफ्ला (1875), खासी और गारो (1829), कछारी (1839), सन्थाल (1853), मुरिया गोण्ड (1886), नागा (1844 और 1879), भुल्या (1868) और कोन्ध (1817)।

ए आर. देसाई (1979), गफ (1974) और गुहा (1983) जैसे कुछ विद्वानों ने स्वतंत्रता के बाद के जनजातीय आन्दोलनों को कृषक आन्दोलन माना है, लेकिन के एस सिंह (1985) ने ऐसे उपागम की आलोचना की है क्योंकि इसका कारण थे आदिवासियों के सामाजिक और राजनैतिक सगठन, मुख्य धारा से उनका सापेक्ष एकाकीपन, उनके नेतृत्व के स्वरूप और उनकी राजनैतिक गतिशीलता की कार्य शैली। आदिवासियों की सामुदायिक चेतना बड़ी मजबूत है। जनजातीय आन्दोलन न केवल कृषक सम्बन्धी थे बल्कि वनों पर आधारित भी थे। कुछ विद्रोह तो नृजातीय प्रकार के थे क्योंकि वे जमींदारों, साहूकारों और छोटे-मोटे सरकारी अधिकारियों के खिलाफ थे जो न केवल उनके शोषक थे बल्कि विदेशी भी (देखें, घनश्याम शाह, op. cit , 1998, 86)

जब आदिवासी कर्जा या ब्याज चुकाने में असमर्थ रहते थे तब महाजन और जमींदार उनकी भूमि हड़प लेते थे। इस प्रकार वे अपनी ही भूमि पर काश्तकार हो गए और कभी-कभी बन्धुआ मजदूर। पुलिस और राजस्व अधिकारी कभी उनकी मदद को नहीं आते थे। इसके विपरीत वे भी अपने व्यक्तिगत कार्यों या सरकारी कार्यों के लिए मुफ्त में उनकी सेवाए लेते थे। न्यायालयों को आदिवासी कृषि व्यवस्था और रिवाजों का ज्ञान नहीं था बल्कि उनकी दशा का भी ज्ञान नहीं था। जमीन हड़पने, बन्धुआ मजदूरी, न्यूनतम पारिश्रमिक

और जमीन पर कब्जा, आदि ने अनेक जनजातियों—जैसे मुण्डा, सन्थाल, कोल, भील, वर्ली आदि—को अनेक क्षेत्रों—जैसे असम, उडीसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र मे—विद्रोह के लिए बाध्य कर दिया।

वन प्रबन्ध के कारण भी कुछ जनजातीय विद्रोह हुए क्योंकि कुछ क्षेत्रों में वन ही उनकी आजीविका का साधन थे। ब्रिटिश सरकार ने कुछ विधानों के द्वारा व्यापारियों और ठेकेदारों को वन काटने की अनुमति दी थी। इन नियमों ने आदिवासियों को न केवल वन उत्पादों से वञ्चित रखा बल्कि वन अधिकारी उनको उत्पीडित भी करते थे। इससे आन्ध्र प्रदेश और कुछ अन्य क्षेत्रों में आदिवासी आन्दोलन चलाने लगे।

राघवैया ने 1971 में आदिवासियों के विद्रोहों—1778 से 1970 की अवधि के—विश्लेषण में 70 विद्रोहों की सूची बनाई और समय क्रम से व्यवस्थित किया। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण में 1976 में जनजातीय आन्दोलनों के अपने सर्वेक्षण में भारत में चल रहे 36 आन्दोलनों की पहचान की। यह कहा गया कि यद्यपि ये विद्रोह न तो अधिक सख्या में थे और न ही जल्दी जल्दी हो रहे थे, फिर भी मध्य या पूर्वी भारत में शायद ही कोई प्रमुख जनजाति रही हो जिसने गत 150 वर्षों में अपनी पीडा को व्यक्त करने के लिए आन्दोलन का सहारा न लिया हो।

उत्तरपूर्वी व मध्य भारत में जनजातीय आन्दोलनों पर कुछ अध्ययन किये गए और उनका उल्लेख किया गया है। परन्तु दक्षिण भारत में बहुत कम सख्या में या बिल्कुल नहीं के बराबर जनजातीय आन्दोलनों के विषय में जानकारी है। यह इसलिए है क्योंकि दक्षिण भारत में जनजातियाँ या तो अत्यन्त आदिकालीन अवस्था में हैं, या अत्यन्त अल्पसख्या में, या इतने एकाकी (isolated) रहते हैं कि आन्दोलन के सगठन में सक्षम नही है, यद्यपि उनमें शोषण के विरुद्ध असन्तोष काफी है। (के.एस. सिंह, 1983 Xvi)। एल के महापान (1972 408) ने भी देखा है कि सख्यात्मक रूप से अल्प तथा घुमक्कड जनजातियों में महत्वपूर्ण सामाजिक, धार्मिक, प्रस्थितीय गतिशीलता के या राजनैतिक आन्दोलन नहीं हुए हैं। जनजातीय आन्दोलनों का विवरण अध्याय नौ में भी दिया गया है।

कृषक आन्दोलन (Peasant or Agrarian Movements)

कृषक आन्दोलनों पर दो विचार हैं, एक, कि ये आन्दोलन स्वतत्रता के बाद उभरे और शुद्ध रूप से सामाजिक और सास्कृतिक प्रकृति के हैं, दूसरा, ये आन्दोलन स्वतत्रता से पहले भी थे और उपनिवेशवादी शासकों तथा जमीदारों के विरुद थे अर्थात् वे राजनैतिक और सास्कृतिक थे।

मूर जूनियर (घनश्याम शाह, 1998 34-35 द्वारा उद्धृत) ने भारत में कृषक आन्दोलनों *पर लिखते हुए (1967 में) भारतीय कृषकों की क्रान्तिकारी क्षमता* को स्वीकार नही किया है। उसके अनुसार भारतीय कृषक परम्परा से निष्क्रिय एव भीरू होते हैं जिसके कारण मुगल और ब्रिटिश काल में कृषि अकुशल तथा दोषपूर्ण बनी रही। इसलिए बहुत बडे कृषक आन्दोलन भी नहीं हुए। लेकिन मूर की धारणा को ए आर देसाई, कैथलीन गफ और डी एन धनागे द्वारा चुनौती दी गई है। उनका तर्क है कि इतिहासकारों ने अनेक कृषक आन्दोलनों की

अनदेखी की है। गफ ने गत दो शताब्दियों में लगभग 77 कृषक विद्रोहों की बात की है जिनमें सबसे छोटे आन्दोलन में कई हजार कृषकों ने सक्रिय समर्थन किया था। एआर देसाई (1979 : XII) ने भी देखा कि सम्पूर्ण ब्रिटिश शासन काल तथा बाद में भी भारतीय ग्रामीण परिदृश्य विरोध और विद्रोह के स्वरों से उद्वेलित था और यहा तक कि बडे पैमाने पर संघर्ष वर्षों तक चले जिसमें सैकडों ग्रामीण भी सम्मिलित थे। रणजीत गुहा (1983) ने कहा है कि विविध स्वरूपों एवं स्तरों के कृषक आन्दोलन 19 वीं सदी के अन्त तक शुरु हो गए थे। ब्रिटिश शासन के दौरान कम से कम 110 विद्रोहों की जानकारी है। धनाग्रे (1983 5) का तर्क है कि मूर के सामान्यीकरणों पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है क्योंकि भारत में अनेक किसान आन्दोलन और विद्रोह हुए हैं।

एआर. देसाई (1986) और घनश्याम शाह (1998 P 31-38) के अनुसार भारत के कृषक आन्दोलन, समय के आधार पर पूर्व-ब्रिटिश और स्वतत्रयोत्तर कालों में वर्गीकृत किए गए हैं। स्वतंत्रयोत्तर काल को पुन पूर्व नक्सलवादी और उत्तर नक्सलवादी काल में बाँटा गया है या इन्हें पूर्व व उत्तर हरित क्रान्ति युग भी कहा गया है। बाद के काल को पूर्व और उत्तर आपातकाल युग में और भी वर्गीकृत किया गया है। एआर देसाई की यह भी राय है कि कृषक आन्दोलनों की प्रकृति कृषक सरचना के अनुसार भिन्न है जिसमें विविध कालों के दौरान परिवर्तन हुए हैं। उसने (1986) उप-निवेशवादी भारत को ब्रिटिश सीमा में रैयतबाडी क्षेत्रों, राज शासन के दौरान जमीदारी क्षेत्रों और जनजातीय परिक्षेत्रों (zones) में बाँटा है। इन क्षेत्रों में कृषक संघर्ष की विविध विशेषताए थी, विभिन्न प्रकरणों को उनमें उठाया गया था और उसमें विविध स्तर के कृषक सम्मिलित थे। उसने स्वतत्रयोत्तर सघर्षों को पुन दो श्रेणियों में बाँटा : धनी किसानों द्वारा चलाए गए आन्दोलन तथा गरीब किसानों द्वारा चलाए गए आन्दोलन। इस प्रकार कृषक सरचना समूचे देश में एक समान रूप में विकसित नही हुई थी।

कैथलीन गफ (1974) ने कृषक विद्रोहों को उनके उद्देश्यों, विचारधारा और सगठन की विधियों के आधार पर पाच प्रकारों में बाँटा है (i) ब्रिटिश लोगों को बाहर खदेडने के लिए पुनर्स्थापना के विद्रोह, ताकि पूर्व के शासकों को पुनर्स्थापित किया जा सके (ii) धार्मिक आन्दोलन; (iii) सामाजिक दस्युता, (iv) सामूहिक न्याय के लिए आतकवादी दुर्भावना, और (v) विशेष शिकायतों के समाधान के लिए जन विद्रोह। जहा तक कृषक आन्दोलनों से सम्बद्ध प्रकरणों का प्रश्न है, तो कुछ तो काश्तकार भूस्वामी के बीच सघर्ष से सम्बद्ध थे, कुछ बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय के जमीदारों द्वारा दबाव के कारण थे (हिन्दू) और कुछ साम्प्रदायिक हिंसा, सरकारी कर्मचारियों तथा पुलिस द्वारा उकसाए जाने, आर्थिक दशा सुधारने के कारण, अधिक पारिश्रमिक की माँग के लिए, बेगार आदि कारकों के कारण थे। कुछ लेखक मानते हैं कि गान्धी जी ने कृषक समाज को राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए प्रेरित किया था, न कि जमीदारों और साहूकारों के विरुद्ध। अन्य लेखक भी हैं जो सुझाव देते हैं कि कृषक आन्दोलनों व राष्ट्रीय आन्दोलनों के बीच का सम्बन्ध परस्पर आदान प्रदान का था। कृषक वर्ग की माँगों को उठाना और साम्राज्यवादियों के विरुद्ध समयावधि की सुरक्षा के हित, ऋण माफी, और सस्ती दर पर ऋण आदि विषयों पर राष्ट्रीय नेतृत्व मजबूती से बल न दे सका।

आजादी के बाद नेताओं ने कृषक समाज को जमीदारों और भूस्वामियों के विरुद्ध आन्दोलित करने का प्रयत्न किया। शोषित कृषक वर्ग एक जुट नही थे क्योंकि वे अपने मालिकों से गुटीय बन्धनों से बन्धे हुए रहते थे। प्रारम्भ में गरीब कृषक बहुत कम लडाकू प्रवृत्ति के थे, लेकिन बाद में जैसे-जैसे भूस्वामी विरोधी तथा धनी कृषक विरोधी भावना मध्यम वर्ग द्वारा बनती गई, गरीब किसानों की विद्रोही शक्ति भी क्रान्तिकारी शक्ति में बदल गई। लेकिन क्रान्तिकारी कदम उठाने वाले कृषक अखिल भारतीय स्तर पर कार्य नही कर पा रहे थे। कुछ ही क्षेत्रों में कृषक आन्दोलन सगठित हो पाए थे।

विभिन्न क्षेत्रों में प्रमुख कृषक आन्दोलन इस प्रकार थे तेभागा (Tebhaga), तेलगाना और नक्सलवादी। भूदान और सर्वोदय आन्दोलन में कृषकों के हितों को भी उजागर किया गया था, लेकिन उनका सचालन कृषकों द्वारा न होकर विनोबा भावे और जय प्रकाश नारायण द्वारा हो रहा था।

तेभागा आन्दोलन (1946-47) अनेक कारकों द्वारा चलाए गए थे। ये कारक थे 1943 का अकाल, जोतदारों, जमाखोरों व काला बाजारियों के विरुद्ध अभियान, आन्दोलन में शामिल आदिवासियों की सामाजिक एकता, तथा बटाई पर काम करने वालों (sharecroppers) की बढती सौदेबाजी की क्षमता। क्योंकि इस आन्दोलन का विस्तार सीमित था अत यह असफल रहा। हिन्दू मुसलमानों के बीच की खीचातानी, अर्थात् साम्प्रदायिक राजनीति, वर्ग और जाति के बीच तालमेल की कमी, और कृषक समाज के भीतर ही बफादारी के लिए उच्च वर्ग के जोड-तोड के कारण भी यह आन्दोलन असफल रहे (धनाग्रे)।

तेलगाना आन्दोलन (1946-51) दक्षिण भारत में प्रारम्भ में तो सफल रहा लेकिन अन्तत असफल रहा क्योंकि साम्यवादियों ने भारतीय सेना के विरुद्ध मुस्लिम रजाकारों का समर्थन किया जो कि राष्ट्रीय भावनाओं और आन्दोलन के विपरीत गया। धनाग्रे ने इस आन्दोलन को विस्तृत वर्ग आधारित आन्दोलन कहा क्योंकि इसमें भूस्वामियों के विरुद्ध मध्यम, गरीब, भूमिहीन किसान शामिल थे।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन (Naxalbari Movement)

फरवरी 1967 में पश्चिम बगाल में जब कम्यूनिस्ट पार्टी (CPI) के सहयोग से सयुक्त मोर्चा सरकार सत्ता में आई, तब कुछ सक्रिय एव स्थानीय समूहों का उदय हुआ। उनमें से एक चारू मजूमदार तथा कानू सान्याल के नेतृत्व में शुरु हुआ जिसने कृषक समाज में सशस्त्रता को विकसित करने पर जोर दिया जिससे किसानों को सशस्त्र सघर्ष के लिए तैयार किया जा सके। प्रारम्भ में नेताओं ने बेनामी भूमि पर जबरन कब्जा में कृषकों से भाग लेने को कहा लेकिन बाद में उन्होंने गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से वर्ग शत्रुओं को समाप्त करने पर बल दिया। इस प्रकार जन आन्दोलन का स्थान भूमिगत छोटे समूह दस्तों ने ले लिया। इस प्रकार नक्सलबाडी आन्दोलन की गुरिल्ला कार्यवाही ने पश्चिम बगाल और आन्ध्र प्रदेश में सबसे अधिक प्रभाव डाला और बाद में बिहार में भी।

नक्सलबाडी में कृषक विद्रोह 1972 में पश्चिम बगाल के दार्जिलिंग जिले में तीन

क्षेत्रों में शुरु हुआ। राजवशी (मूलरूप से एक जनजाति), ऑरॉन, मुण्डा, सन्थाल इस क्षेत्र में सबसे अधिक थे। अन्तिम तीन जनजातियों के लोग वे थे जो छोटा नागपुर (बिहार) से दार्जिलिंग के चाय बगानों में काम करने आए थे। भूस्वामी *जोतदार* कहलाते थे और काश्तकार *अधियारी*। अधियारी की प्रस्थिति संकटपूर्ण थी। उनका इतना शोषण होता था और बधुआ मजदूरों जैसा व्यवहार उनके साथ होता था कि इससे 1950 और 1960 के दशकों में कृषक आन्दोलन हुए। कानू सान्याल और अन्य लोगों ने 1960 के दशक में कृषक माँगों को लेकर, जिनमें जमीदारी उन्मूलन, जोतने वाले को भूमि तथा काश्तकार से भूमि खाली कराने से रोकना, आदि, के लिए शोषित किसानों के बीच प्रथम प्रवेश लिया। बेनामी भूमि पर पुन. काबिज होने के लिए 1950 व 1960 के दशकों में किसान सभा द्वारा किसानों को आह्वान किया गया कि फसल काटो और अपनी जगह में भण्डारण करो, किसान समितियों के समक्ष अपने भूस्वामित्व का साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए जोतदारों से कहो, फसल बचाने तथा फसल को पुलिस से बचाने के लिए शस्त्र धारण करो, आदि। 1960 के तथा 1970 के दशकों में नक्सलबाडी कृषक आन्दोलन के दूसरे चरण में गुप्त उग्रवादी दस्ते बनाए गए तथा कृषकों से जोतदारों और बागान श्रमिकों की भूमि पर कब्जा करने को कहा गया जिन्होंने गरीब किसानों से जमीन खरीद ली थी, छीनी गई भूमि को जोतने और सम्पूर्ण प्राप्त फसल पर कब्जा करने को कहा गया, भूस्वामी से भोजन की माँग और उसके मना करने पर उससे जबरन लेने, तथा जोतदार को अग्नेयास्त्रों से उसे वचित करने को कहा गया। नक्सलबाडी क्षेत्रों में 1967 में नक्सलबाडी विद्रोह को पुलिस कार्यवाही द्वारा दबा दिया गया, लेकिन अगस्त-सितम्बर 1968 में पुन. शुरु हो गया जो 1972 तक चलता रहा।

पश्चिम बगाल में नक्सलबाडी आन्दोलन की प्रमुख विशेषताए थी एक, कृषकों और श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षार्थ गतिशीलता और इसमें सभी नृजातीय (जनजातियों सहित) और जाति समूह सम्मिलित थे; दो, अपनाए गए साधन गैर-सस्थागत और हिंसा को प्रोत्साहित किया जाता था, तीन, नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं द्वारा प्रदान किया जाता था, चौथे, इसका उद्देश्य था जोतदारों को नीचे की ओर ले जाना तथा बन्धन युक्त सीमान्त कृषकों को ऊपर की ओर उठाना। इस प्रकार, गान्धी जी के सर्वोदय आन्दोलन और नक्सलवाडी आन्दोलन में अन्तर यह था कि प्रथम का उद्देश्य सामुदायिक स्वामित्व के साथ जमीन के व्यक्तिगत स्वामित्व को हटाना था जब कि दूसरे का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वामित्व था।

इस आन्दोलन की असफलता के कारक थे इसका राष्ट्र विरोधी झुकाव, जैसा कि चीन के प्रति इसके समर्थन से जाहिर होता था, इसका भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व की निन्दा करना और चीनी नेतृत्व को अपनी आकाक्षाओं का स्रोत मानना, राज्य सत्ता को हथियाने का इसका घोषित इरादा, हिंसा और वामपन्थियों में गुटबाजी का खुला समर्थन। आरके मुखर्जी (1978) ने इस आन्दोलन का विश्लेषण सामाजिक सरचना और सामाजिक परिवर्तन के अर्थ में किया है। उसका तर्क है कि यद्यपि आन्दोलन का घोषित इरादा राज्य सत्ता हासिल करना था, परन्तु वास्तव में यह आन्दोलन व्यवस्था के विरुद्ध नही था बल्कि इसकी अतिवादिता के विरुद्ध भूस्वामी और किसान के बीच वस्तु विनिमय को नियमित करने का उद्देश्य था (1978-73-74)।

भारत में कृषक आन्दोलनों का अध्ययन विद्वानों द्वारा छ विविध दृष्टिकोणों से भी

किया गया है · (1) सूक्ष्म एव विशद् स्तर पर सघों के रूप में उनकी कार्य प्रणाली के अर्थ में, (2) राजनीति व कृषक आन्दोलनों के बीच सम्बन्ध, अर्थात् काग्रेस, कम्युनिस्ट जैसी राजनीतिक पार्टियों द्वारा समर्थन, (3) सामाजिक सरचना (जाति, वर्ग और शक्ति) और कृषक आन्दोलनों के बीच सम्बन्ध, (4) हरित क्रान्ति और कृषक आन्दोलनों के बीच सम्बन्ध (हरित क्रान्ति ने न केवल परम्परागत कृषक सम्बन्धों को प्रभावित किया बल्कि आर्थिक विषमताओं को बढाया और ग्रामीणों की सामाजिक आकाक्षाओं को भी बढाया) (5) कृषक कानूनों और आन्दोलनों के बीच सम्बन्ध (अर्थात् आन्दोलन जिनके कारण कानून बने और कानून जिनकी वजह से आन्दोलन हुए, और (6) आन्दोलनों की गतिशीलता और सगठन के बीच सम्बन्ध।

कृषकों के कल्याण के लिए कुछ आन्दोलन गान्धीवादी सिद्धान्तों पर सगठित किए गए थे। दो ऐसे आन्दोलन थे विनोबा भावे का भूदान आन्दोलन और जय प्रकाश नारायण का सर्वोदय आन्दोलन। भूदान आन्दोलन का त्वरित (immediate) उद्देश्य धनी वर्ग से जमीन इकट्ठा कर के गरीबों में बाँटना था। परन्तु यह आन्दोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रहा।

धार्मिक आन्दोलन (Religious Movements)

भारत में धार्मिक आन्दोलन मुख्य रूप से रूढिवादी, हिन्दू विचारधारा विरोधी, ब्राह्मण विरोधी, मुस्लिम पक्ष के, या सिख पक्ष के रहे हैं। ये आन्दोलन या तो विरोध प्रदर्शन (protest) के आन्दोलन थे या अलग पहचान के लिए थे या सामाजिक सम्बन्धों के विद्यमान व्यवस्था में परिवर्तनों को उचित ठहराने के लिए किए गए थे। कुछ आन्दोलन अपने विश्वास के नेताओं की रूढिवादी विचारधारा के विरोध में चलाए गए थे, कुछ ब्राह्मणवादी, हिन्दुत्व और जाति व्यवस्था के खिलाफ थे, कुछ शुद्धता और अशुद्धता के विचारों के विरुद्ध थे और कुछ ब्राह्मणों की भ्रष्ट व्यवस्था के विरुद्ध थे।

ओमन ने धार्मिक आन्दोलनों को तीन श्रेणियों में बाँटा है (Oomen, 87) (1) वे आन्दोलन जो आवश्यक रुप से हिन्दुत्व के विरोध में चलाए गए थे और अलग धर्म के रूप में स्थापित हुए, जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म (2) भक्ति आन्दोलन जो हिन्दुत्व की बुराइयों के शुद्धिकरण का प्रयत्न था तथा जाति प्रथा के अत्याचारों के विरुद्ध सघर्ष था लेकिन फलत पन्थों में बँट गया, जैसे आर्य समाज (3) वे आन्दोलन जो हिन्दूवाद से अलग होने तथा अन्य धर्मों में परिवर्तित के लिए किए जा रहे थे।

भारत में धर्म के विरोध में प्रथम आन्दोलन थे छठी शताब्दि में जैनवाद और बुद्धवाद। जैनवाद वेद के प्रभुत्व को अस्वीकार करता था और बलि के विरुद्ध विद्रोह। बुद्धवाद भी वैदिक बलि प्रथा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध करता था। वैष्णव और शैव आन्दोलन तथा कबीर, चैतन्य व नानक द्वारा शुरु किए गए आन्दोलन मनुष्य और ईश्वर के बीच, अर्थात् ब्राह्मण की मध्यस्थता को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे।

कर्नाटक में वीरेशवाद आन्दोलन जाति प्रथा की कठोरताओं, मूर्तिपूजा, अस्पृश्यता, आदि की प्रथाओं के विरुद्ध थे, लेकिन इसकी परिणिति धार्मिक अधिकारीवाद और श्रेणीक्रम सगठन में हुई और उदय एक पन्थ के रूप में हुआ।

आर्य समाज आन्दोलन का जन्म पंजाब में मुख्यत ईसाइयों और मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले धर्मान्तरण के प्रयत्नों के विरुद्ध हुआ। इसका भी आधार वैदिक दर्शन ही था। इसके अतिरिक्त इसमें शुद्धि पर भी बल दिया गया था। आज (1998-2000) यह पुनर्अन्तकरण का पक्ष हिन्दू परिवार तथा बजरग दल द्वारा पुन उठाया गया है।

धर्मान्तरण (conversion) आन्दोलन निम्नलिखित बिन्दुओं पर बल देता है (ओमन, op cit, 91-92).

(1) विशिष्ट ऐतिहासिक कालों में धर्मान्तरण, विशेष रूप से इस्लाम और ईसाई, आर्थिक व राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित थे।
(2) धर्मान्तरण सामूहिक घटनाएं थी।
(3) सामूहिक अन्तरण के विपरीत व्यक्तिगत या परिवार अन्तरण उच्च और मध्यम वर्ग तक ही सीमित थे।
(4) यदि किसी क्षेत्र में निम्न जाति के लोगों का धर्मान्तरण हुआ और उन्होंने विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक सुधार का अनुभव किया और निश्चित राजनैतिक अनुभव प्राप्त किया तो इससे गैर-ब्राह्मण जातियों को भी धर्मान्तरण के लिए प्रोत्साहन मिलता था।
(5) किसी जाति के एक प्रभाग का धर्मान्तरण धर्मान्तरित लोगों में तनाव पैदा कर देता था।
(6) विभिन्न धार्मिक समूहों द्वारा अपनाई गई धर्मान्तरण की रणनीति में भी अन्तर था। मुस्लिम लोग अभिजनों को पहले परिवर्तित करते थे जबकि ईसाई मिशनरी निम्न जाति के लोगों का धर्मान्तरण पहले करते थे।
(7) धर्मान्तरित लोगों के साथ पूर्ण सामाजिक समानता के आधार पर व्यवहार नही किया जाता था।
(8) समय के साथ धर्मान्तरण आन्दोलन की तेजी भी घट गई। आज हिन्दू विश्वास में पुन धर्मान्तरण कराने पर बल दिया जा रहा है

पिछड़ी जाति/वर्ग आन्दोलन (Backward Caste/Class Movements)

इन आन्दोलनों का उदय राष्ट्रीय आन्दोलन के विस्तार के साथ भारत के विभिन्न भागों में समाज के वंचित एवं दलित लोगों में हुआ। धार्मिक और जाति आन्दोलनों में अन्तर यह है कि जहा धार्मिक आन्दोलन हिन्दुत्व की बुराइयों पर आक्रमण थे, वही जाति आन्दोलन हिन्दुत्व के स्वरूप गत ढाँचे में ही अपने धर्म को छोडे बिना समस्याओं का समाधान करने की बात कहते थे।

पिछडी जाति/वर्ग आन्दोलनों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है (a) विविध प्रकार के भेदभावों के विरुद्ध विरोध (b) आत्म-सम्मान और प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए आन्दोलन (c) प्रस्थिति गतिशीलता आन्दोलन (d) जाति एकता आन्दोलन, और (e) जाति कल्याण आन्दोलन। प्रस्थिति गतिशीलता आन्दोलनों को उप श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे अनुकूलिनी (adaptive) आन्दोलन, सांस्कृतिक विद्रोहोन्मुखी आन्दोलन, और संस्कृति विरोधी आन्दोलन।

पिछडी जातिया धर्म, शिक्षा, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में वचना का शिकार हो रही थी। वे अपने भाग्य को तब तक इसी स्थिति में स्वीकार किये हुए थीं जब तक कि बाह्य प्रभावों ने उनमें जागृति पैदा करने की पर्याप्त दशाए प्रदान नहीं कर दी। इस प्रकार का प्रकटीकरण (e position) ईसाई मिशनरियों द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिये कार्यक्रम आयोजन से हुआ जिन्हें तब दलित वर्ग में माना जाता था। अन्य दशा थी राष्ट्रीय आन्दोलन जो कि समतावादी विचार प्रदान करती थी और उन सामाजिक आन्दोलनों का समर्थन करती थी, जो कि किसी भी प्रकार के भेद भाव का विरोध करते थे। तीसरी दशा थी उच्च जातियों द्वारा आयोजित सुधार आन्दोलनों की जिन्होंने दलित जातियों तथा पिछडे वर्गों के लिए शिक्षा और कल्याण कार्यक्रम प्रारम्भ किए। यह आन्दोलन अनेक रूढिवादी ब्राह्मण प्रथाओं के विरुद्ध थे। अन्तिम, ब्रिटिश लोगों द्वारा प्रारम्भ किए गए कानूनों की समतावादी व्यवस्था ने भी भेदभाव के खिलाफ पिछडी जातियों को आन्दोलित होने का अवसर प्रदान किया।

उच्च प्रस्थिति के लिए पिछडी जाति आन्दोलन तीन विचारधाराओं पर आधारित थे (एमएस ए राव, *Social Movements in India*, 1953 197-98)। प्रथम, अनेक जातियों ने उच्च वर्ण प्रस्थिति का दावा किया, जैसे उत्तर भारत में अहीरों ने, पश्चिम बगाल में गोपाओं ने, महाराष्ट्र में गावलियों ने, आन्ध्र और कर्नाटक में गोला लोगों ने तथा तमिलनाडु में कोनार ने यदु (क्षत्रिय) होने का दावा किया। इसमें अपने-अपने क्षेत्रों में उच्च जातियों की जीवन शैली अपनाना शामिल है, (एमएन श्रीनिवास ने इसको सस्कृतीकरण की प्रक्रिया कहा है)। इम्तियाज अहमद ने कहा है कि गतिशीलता की इस प्रक्रिया को प्रारम्भिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए या विरोध परक आन्दोलन या गतिशीलता के विरोध के रूप में। उच्च वर्ग के लोग इनका विरोध करते थे। उच्च प्रस्थिति का दावा करने की इच्छा के अलावा इसने पिछडी जातियों को सघ बनाने के लिए प्रेरित किया ताकि दबाव समूह के रूप में काम करते हुए वे जनगणना अधिकारियों पर उन्हें सस्कारीय प्रस्थिति वाली जातियों के रूप में दर्ज कराने के लिए दबाव डाल सकें। जाति समूहों को गतिशील बनाने की यह विधि 1931 तक काफी महत्वपूर्ण हो गई। दूसरी विधि थी आत्म निर्धारण की खोज में हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या, जैसे श्री नारायण धर्म परिपालन आन्दोलन जो कि केरल के इझावा लोगों ने चलाया। केरल के इझावा लोगों ने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण विरोधी झुकाव दर्शाया और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जन आन्दोलन का मार्ग अपनाया। दूसरे प्रकार की विरोध विचारधारा थी ब्राह्मणवादी आर्य धर्म और सस्कृति का विरोध जैसे तमिलनाडु में द्रविड कषघम आन्दोलन। तीसरी विचारधारा थी हिन्दुत्व का परित्याग और किसी अन्य धर्म का अनुगमन जैसे, महाराष्ट्र में मेहर लोगों द्वारा किया गया आन्दोलन।

तमिलनाडु के नादरों ने उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए प्रभाव की राजनैतिक प्रक्रिया का प्रयोग किया जबकि महाराष्ट्र के मालियों ने सास्कृतिक विद्रोह का प्रयोग किया। ओमन (Oomen, op cit, 94) के अनुसार ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि (a) सस्कारिक दृष्टि से ये जातिया बिल्कुल निम्न स्थिति में नहीं थी, (b) स्थानीय मापदण्डों से वे आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे, (c) उनकी सख्यात्मक शक्ति महत्वपूर्ण थी; और (d) और उन्हें क्षेत्रीय शासकों का समर्थन प्राप्त था, जैसे महाराष्ट्र में कोल्हापुर के महाराजा का।

व्यावसायिक परिवर्तन, शिक्षा के प्रति झुकाव, शहरीकरण, विशिष्ट और करिश्माई नेतृत्व आदि कारकों ने भी उनकी गतिशीलता सम्बन्धी आन्दोलनों में उनकी सहायता की। वास्तव में, अनेक जातियों को हिन्दू धर्म के भीतर ही उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने में सफलता नही मिली जिसके कारण उन्हें बुद्ध धर्म की शरण में जाने की प्रेरणा मिली।

संस्कृति विरोधी आन्दोलनों में इन बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया था. (a) जातिवादी हिंदुओं के विरुद्ध विपरीत संस्कृति का विकास विशेष रूप से ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करना, लेकिन हिन्दू बने रहना (b) 'मुख्य धारा' संस्कृति में घुल मिल जाने या मात्र इसका विरोध करने की अपेक्षा अपनी स्वयं की समानान्तर संस्कृति का निर्माण करना। महाराष्ट्र के दलित पेन्थर आन्दोलन से इसी प्रवृत्ति का पता लगा। दक्षिण में द्रविड़ आन्दोलन दो चरणों में विकसित हुआ : ब्राह्मण विरोधी (जाति) चरण और उत्तर विरोधी (क्षेत्र) चरण। प्रथम चरण में द्रविड़ों ने ब्राह्मणों को विदेशी और द्रविड़नाद में घुसपैठिए कहा। उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा रचित *'पुराणों'* की खिल्ली उड़ाई और वर्णाश्रम को विवेकहीन कहा। उन्होंने एक विपरीत संस्कृति का विकास किया जिसके द्वारा उन्होंने मूर्तिपूजा, बाल विवाह और बाध्य वैधव्य जैसे ब्राह्मणवादी प्रथाओं की निन्दा की और द्रविड स्वभाव की संस्कृति का विकास किया। धीरे धीरे ये (आन्दोलन) अपने उद्देश्य में ब्राह्मण विरोध छोडकर उत्तर भारत प्रभुत्व विरोधी हो गए जिसका उद्देश्य प्रभुता सम्पन्न द्रविड राज्य की स्थापना था।

जहां द्रविड आन्दोलन तमिलनाडु तक ही सीमित था, दलित पेन्थर आन्दोलन शहरी महाराष्ट्र से बाहर भी फैल गया। इसका प्रमुख उद्देश्य दलितों में बौद्धिक जागरण और चेतना पैदा करना था। महाराष्ट्र में मेहर आन्दोलन भी यहा उल्लेखनीय है। प्रथम, उन्होंने हिन्दुत्व के पूर्णत. परित्याग के विपरीत संस्कृति वाली रणनीति का सहारा लिया और बाद में अपने उत्थान के लिए राजनैतिक रणनीति का।

यद्यपि पिछड़ी जातियों के आन्दोलन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में आंशिक रूप से सफल रहे लेकिन उन्होंने उच्च जातियों को गतिशीलता सम्बन्धी क्रियाकलापों के लिए संघ बनाने के मॉडल भी प्रदान किए। लेकिन प्रगतिशील जातियों के आन्दोलन मुख्यत बाल विवाह विरोध, विधवा विवाह प्रोत्साहन, महिला शिक्षा, व्यावसायिक परिवर्तन, शिक्षा, और असंख्य जातियों के बीच सामाजिक रुकावटें समाप्त करने जैसे सुधारोन्मुखी आन्दोलन थे।

पिछडी जातियों के लिए सरक्षणात्मक सरकारी नीति ने जनगणना प्रतिवेदनों, संस्कृतीकरण, सांस्कृतिक विद्रोह, या विपरीत संस्कृति के बनाने के बजाय स्वय को राजनीतिक दृष्टि से संगठित करके अपने हितों और कल्याण के लिए लडने के लिए प्रेरित किया। इस राजनैतिक रणनीति का उद्देश्य था उन्हें दलित पिछडी जातियों की सूची में दर्ज कराना, आरक्षण समयावधि को बढवाना, तथा सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए दबाव डलवाना। अगस्त 1990 में मण्डल आयोग की सिफारिशों के लागू होने के बाद और विभिन्न राज्यों में अल्प सख्यक आयोगों की स्थापना के बाद, बहुत बडी सख्या में बढ़िया सरकारी नौकरियों की सभी श्रेणियों में (A, B, C और D) पदों को पूर्णरूपेन भरने के लिए आरक्षित कोटा (15% अनुसूचित जाति और 27% पिछडी जाति का) प्राप्त करने के लिए तथा पिछडी जातियों की मान्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

महिला आन्दोलन (Women's Movements)

आजादी से पूर्व और पश्चात अनेक सुधार आन्दोलनों की चिन्ता का प्रमुख बिन्दु स्त्रियों की प्रस्थिति था। ब्राह्म समाज तथा आर्य समाज के नेताओं के चिन्तन के विषय थे. सती पुनर्विवाह, तलाक, स्त्री शिक्षा, पर्दा प्रथा, बहु विवाह और दहेज आदि। जस्टिस रानाडे ने बाल विवाह, बहुपत्नि प्रथा, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध तथा शिक्षा तक पहुचने से वंचित रखने की आलोचना की, राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा के उन्मूलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और महर्षि कर्वे ने विधवा विवाह का समर्थन किया, गान्धी जी ने राजनैतिक स्वतत्रता तथा साथ ही सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ने के लिए स्त्रियों की सामूहिक गतिशीलता में रुचि दर्शाई।

कुछ विद्वानों ने सूक्ष्म स्तर पर, अर्थात् क्षेत्रीय आधार पर राजनैतिक स्वतत्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भूमिका का अध्ययन किया है। उदाहरणार्थ, अपर्णा बसु (1984) और प्रवीन सेठ (1979) ने गुजरात में इसका अध्ययन किया, राघवेन्द्र राव (1983) ने कर्नाटक में उमा राव (1984) ने उत्तरप्रदेश में। गोविन्द कोल्कर के अनुसार स्वतत्रता आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका 'कामरेड' की अपेक्षा सहायकों की अधिक थी।

घनश्याम शाह (वही 136) ने कुछ विद्वानों का सन्दर्भ दिया है जिन्होंने बिहार और महाराष्ट्र में जनजातीय, कृषक तथा अन्य आन्दोलनों में महिलाओं की भूमिका की ओर सकेत किया है। उदाहरणार्थ, मनोषी मित्रा (1984) और इन्द्रा मुन्शी सल्दान्हा (1986) ने जनजातीय आन्दोलनों में स्त्रियों की लडाकू भूमिका का विश्लेषण किया है कि किस प्रकार अधिकारियों से मुचाटा लेकर, परम्परागत अस्त्रों को चलाकर तथा विद्रोहियों को उनके छिपने के स्थान में आपूर्ति रेखा को बनाए रखने में योगदान किया। सुनिल सेन (1984), पीटर कस्टर्स (1987), आदि ने तेलगाना, पश्चिम बगाल व महाराष्ट्र के कृषक आन्दोलन में उनकी भूमिका का विश्लेषण किया है। मीरा बेलायुधन (1984) ने केरल में रस्सी श्रमिकों के कम्युनिस्ट-नीत आन्दोलन में उनकी भूमिका का विश्लेषण किया है। सेन ने मध्य प्रदेश में कच्चे लोहे की खानों में मजदूर सघों द्वारा सचालित सघर्षों में स्त्रियों की सहभागिता को दर्शाया है।

यह कहा जा सकता है कि आन्दोलनों में महिलाओं की सहभागिता के चार प्रमुख स्वरूप हैं (i) विशिष्ट श्रेणी के लोगों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों के लिए, जैसे, आदिवासी, किसान और औद्योगिक श्रमिक, (ii) स्त्रियों की स्वायत्तता तथा कार्य दशाओं में सुधार के लिए, (iii) कार्य के लिए समान पारिश्रमिक के लिए, (iv) सामान्य सामाजिक आन्दोलनों में पुरुषों और बच्चों को प्रभावित करने वाले प्रकरणों के लिए (जैसे गर्भपात, बच्चों को गोद लेना, यौन शोषण, आदि)

ब्रिटिश राज के अन्तर्गत उदारवादी समतावादी विचारधारा ने भारतीय महिलाओं में सामाजिक जागृति की दशाए उत्पन्न कर दीं। अनेक महिला सगठनों का क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर उदय हुआ। महिला समाज तथा महिला थियोसोफिकल सोसायटी ने महिलाओं के लिए आधुनिक आदर्श प्रोत्साहित करने के लिए स्थानीय स्तर पर कार्य किया। प्रमुख राष्ट्रीय सगठन इस प्रकार थे भारत महिला परिषद (1904), भारत स्त्री महामण्डल (1990), वुमेन्स इण्डियन एसोशिएशन (1917), नेशनल काउन्सिल ऑफ वुमेन इन इण्डिया

(1925) और आल इण्डिया वुमेन्स कान्फ्रेन्स (1927) तथा कस्तूरबा गान्धी नेशनल मैमोरियल ट्रस्ट। इन संगठनों ने ऐसे प्रकरणों को उठाया जैसे स्त्री शिक्षा, खराब सामाजिक रिवाजों का उन्मूलन (पर्दा, बाल विवाह) अधिकारों और अवसरों की समानता और स्त्रियों का उत्पीडन। कांग्रेस पार्टी के समर्थन से कुछ महिला नेताओं ने विधायिकाओं में समान मताधिकार और प्रतिनिधित्व तक की मांग की। यह कहा जा सकता है कि भारतीय महिलाओं के आन्दोलनों के दो प्रमुख लक्ष्य थे : एक, महिला मुक्ति या उत्थान, अर्थात् सामाजिक प्रथाओं का सुधार ताकि महिलाएं समाज में अधिक महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निर्वाह में सक्षम हो जायें, और दो, स्त्री पुरुषों के लिए समान अधिकार अर्थात् राजनैतिक, आर्थिक तथा पारिवारिक क्षेत्रों में पुरुषों द्वारा भोगे जा रहे नागरिक अधिकारों को महिलाओं के लिए भी विस्तृत करना। जन एवरेट (1979) प्रथम को 'कोरपोरेट स्त्रीवाद' और दूसरे को 'उदार स्त्रीवाद' कहती है। महिला संस्थाओं द्वारा अपनाई गई रणनीतियां थी . सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करके माँगें रखना, सरकारी अधिकारियों को अपने दृष्टिकोण बताना, दशाओं की जाँच कराने के लिए समितियां बनाना तथा स्त्रियों को आन्दोलित करने के लिए सम्मेलन करना, आदि।

महिलाओं के आन्दोलनों के लिए वाछित प्रोत्साहन प्रदान करने वाले कारक थे स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव तथा पूरक यौन भूमिकाओं की अवधारणा पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव, शिक्षित अभिजात महिलाओं द्वारा नेतृत्व प्रदान किया जाना, धर्म द्वारा स्वीकृत सामाजिक प्रथाओं के परिवर्तन में पुरुष समाज सुधारकों का रुचि लेना, सामाजिक धार्मिक अभिवृत्तियों और दर्शन में परिवर्तन, स्वय सेवा के कार्यों में लगे महिला सगठनों के प्रति पुरुषों के विरोध और सामाजिक विद्वेष में कमी, महिला आन्दोलनों के हवा देने में राजनैतिक राष्ट्रीय नेताओं का नरम रुख अपनाना और महिलाओं के आन्दोलनों को उनका उत्साह पूर्ण समर्थन। 1975-85 के दशक को अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक के रूप में घोषणा ने भी स्त्रियों की हीनता की भावना को समाप्त करने और उनको उनकी पहचान का बोध कराने में प्रेरणा दी। केन्द्रीय सामाजिक कल्याण परिषद, 1953 में भारत सरकार द्वारा स्थापित भी स्त्रियों के कल्याण के लिए स्वैच्छिक प्रयत्नों को सुदृढ बनाता है और प्रोत्साहित करता है। भारत सरकार का कल्याण मत्रालय भी स्वैच्छिक सगठनों को भी शहरों में कामकाजी महिलाओं के लिए आवास बनाने या उनका विस्तार करने के लिए अनुदान देता है।

सामाजिक आन्दोलनों पर अपनी चर्चा का समापन हम इस कथन के साथ कर सकते हैं कि भारत में सामाजिक आन्दोलन मुख्यत केन्द्रित हैं या तो (a) त्वरित सामाजिक परिवर्तन की गति को जकड कर तथा विद्यमान प्रतिमानों और मूल्यों की पुनर्स्थापित करके व्यवस्था स्थायित्व प्राप्त करने पर और (b) पुरानी सरचना को समाप्त कर नयी सरचना की स्थापना द्वारा व्यवस्था परिवर्तन के प्रयत्न करके। यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि सामाजिक आन्दोलन या तो परिवर्तन प्रतिरोधक या परिवर्तन प्रोत्साहक थे, अर्थात् जिनका उद्देश्य नागरिकों की वञ्चनाओं से बचाना तथा उनके कल्याण तथा उत्थान के विषय में सोचना था। हमने उन सुधार आन्दोलनों पर ध्यान केन्द्रित किया है जिन्होंने संस्थात्मक साधनों के माध्यम से लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न किया, हिंसा का सहारा नहीं लिया तथा जो गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से कुछ वैचारिक समूहों द्वारा चलाए गए थे। इस प्रकार के आन्दोलनों का

विश्लेषण बताता है कि ये आन्दोलन आमतौर पर करिश्माई नेताओं द्वारा चलाए या फैलाए गये या राजनैतिक दलों और धार्मिक सगठनों द्वारा। पहले मामले में विचारधारा नीचे की ओर प्रसारित की गई जबकि दूसरे में ऊपर की ओर। किसी विचारधारा पर आधारित कोई आन्दोलन बदलता है तो यह आवश्यक नहीं है कि समय के साथ इसका विस्तार होगा। यह शक्ति प्राप्त भी कर सकता है और खो भी सकता है क्यों कि या तो इसे प्रासगिक नहीं माना गया या फिर सरकार द्वारा दबा दिया गया। विश्लेषण से अन्य तथ्य जो उभरे हैं, वे हैं : (i) सामाजिक आन्दोलन सामाजिक सरचना के ही उत्पादन हैं जो कि समाज की कुछ दशाओं में उभरते हैं (ii) सामाजिक आन्दोलनों का अपना एक ढाँचा होता है जो उन्हें उनके लक्ष्यों से सम्बद्ध होकर कार्यात्मक बनाते हैं, और (iii) सामाजिक आन्दोलनों का सामाजिक सरचना पर प्रभाव पडता है जिसके वे उत्पाद हैं (Mukherjee, PN, "Naxalbari Movement and Peasant Revolt in West Bengal" in MSA Rao, *Social Movements in India*, Vol 1, 1978 18)

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ
(Processes of Social Change)

सस्कृतिकरण की अवधारणा (The Concept of Sanskritization)

श्रीनिवास ने सस्कृतिकरण की परिभाषा इस प्रकार की है "एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा निम्न जातिया उच्च जातियों, विशेष कर ब्राह्मणों, के रीति-रिवाजों, सस्कारों विश्वासों, जीवन विधि, एव अन्य सास्कृतिक लक्षणों व प्रणालियों को गृहण करती हैं"। वास्तव में, श्रीनिवास सस्कृतिकरण की परिभाषा का समय-समय पर विस्तार करते रहे हैं। आरम्भ में उन्होंने सस्कृतिकरण के बारे में यह कहा कि "यह गतिशीलता की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जातिया शाकाहारी एव मद्यपान निषेधी बनकर एक दो पीढियों में जाति सस्तरण में ऊपर की ओर अग्रसर होती हैं" (1962 42)। बाद में उन्होंने इसे पुन परिभाषित करते हुए कहा कि "यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति, जनजाति या अन्य समूह अपनी प्रथाओं, कर्मकाण्डों (rituals), विचारधाराओं (ideology) एव जीवन-विधि (way of life) को बदल कर द्विज जाति (twice-born caste) की दिशा में अग्रसर होती है" (1966 : 6)। सस्कृतिकरण का यह दूसरा विचार अधिक विस्तृत है क्योंकि श्रीनिवास ने प्रथम परिभाषा में भोजन की आदतों, सस्कारों, तथा धार्मिक प्रथाओं के नकल की बात की है, लेकिन बाद में उन्होंने विचारों के नकल की भी बात की है (जिसमें कर्म, धर्म, पाप, पुण्य व मोक्ष आदि के विचार भी सम्मिलित है)।

निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों तथा ब्राह्मणों की प्रथाओं और आदतों की नकल की प्रक्रिया में जब कभी निम्न जातियों के लोग कुछ ऐसे आचरणों को अपनाते हैं जो वर्तमान विवेकी मानदण्डों के अनुसार अच्छे व प्रकार्यात्मक (functional) समझे जाते हैं, तब वे उन रिवाजों/प्रथाओं को अमान्य मानकर उनके स्थान पर ब्राह्मणों के उन मूल्यों एवं विचारों को गृहण करते हैं जो वर्तमान स्तर के अनुसार अपमानजनक (degrading) एव विकार्यात्मक (dysfunctional) समझे जाते हैं। श्रीनिवास ने मैसूर के अपने अध्ययन से कुछ उदाहरण

दिए हैं। निम्न जातियां स्त्रियों के प्रति अभिवृत्तियों, और विवाह, यौन, आदि मामलों में उदार होती हैं। वे तलाक, विधवा-विवाह, तथा यौन परिपक्वता के पश्चात विवाह की अनुमति देती हैं। किन्तु ब्राह्मण यौन परिपक्वता पूर्व (pre-puberty) विवाह को व्यवहार में लाते हैं, विवाह को अविच्छिन्न (indissoluble) मानते हैं, विधवा पुनर्विवाह को रोकते हैं, और विधवा को आभूषण व साज श्रृंगार व अच्छे वस्त्र पहनने से रोकते हैं तथा सिर मुडवाने की सिफारिश करते हैं। वे वधुओं में कुँवारापन (virginity), पत्नियों में सुचिता/विशुद्धता (chastity), तथा विधवाओं में संयम और आत्म-नियंत्रण के पक्षधर हैं, लेकिन निम्न जाति जैसे-जैसे संस्तरण में उठती है और इसके तरीके अधिक सस्कृतिकरण होते जाते हैं, यह यौन और विवाह विषय पर ब्राह्मणों के आचरण गृहण करने लगती है। संस्कृतिकरण का परिणाम स्त्रियों के प्रति कठोरता का व्यवहार होता है। अयुक्तिसगत (irrational) आचरण अपनाने का एक और उदाहरण यह है कि एक ब्राह्मण और उच्च जातीय हिन्दू पत्नी को आदिष्ट (enjoined) किया जाता है कि वह अपने पति को देवता माने। पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पति के भोजन करने के बाद भोजन करे, अपने पति की लम्बी आयु के लिए अनेक व्रत धारण करे, पुत्र प्राप्ति को धार्मिक आवश्यकता माने, इत्यादि। संस्कृतिकरण में निम्न जातियों द्वारा इन्ही विश्वासों व आचरणों/रीतियों को अपनाना आता है। अत ये उदाहरण इगित करते हैं कि संस्कृतिकरण केवल उच्च जातियों, विशेष कर ब्राह्मणों की प्रथाओं, रीतियों, आदतों मूल्यों का अंधा व अविवेकी नकल करना है।

क्या यह कहा जा सकता है कि असस्कृतिकरण (de-sansritization) की प्रक्रिया भी सम्भव है ? श्रीनिवास का मानना है कि "यह अकल्पनीय नही है, नकल करने वाली जातियों का असंस्कृतिकरण भी कभी-कभी हो सकता है" (1985 . 62)।

सस्कृतिकरण और ब्राह्मणीकरण (Sanskritization and Brahmanization)

श्रीनिवास (1985. 42-43) ने 'सस्कृतिकरण' शब्द को 'ब्राह्मणीकरण' से अधिक प्राथमिकता दी है। उन्होंने इसके कुछ कारण दिए हैं : (1) संस्कृतिकरण शब्द विस्तृत है, जबकि ब्राह्मणीकरण शब्द सकीर्ण व सीमित है। वास्तव में ब्राह्मणीकरण सस्कृतिकरण की व्यापक प्रक्रिया में शामिल है। उदाहरणार्थ, वैदिक काल में ब्राह्मण सोम रस का पान करते थे, मास खाते थे, और पशु बलि चढाते थे। लेकिन उन्होंने यह आचरण वैदिक काल में त्याग दिया, शायद ऐसा उन्होंने जैन एव बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर किया। आज अधिकतर ब्राह्मण शाकाहार एवं मद्यनिषेधी हैं; केवल कश्मीरी, बगाली और सारस्वत ब्राह्मण मासाहारी भोजन करते हैं। यदि 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो यह बताने की आवश्यकता भी पडती है कि कौन से ब्राह्मण के विषय में कहा जा रहा है। (2) सदर्भ समूह या सस्कृतिकरण के एजेन्ट सदैव ही ब्राह्मण नही होते हैं। वास्तव में ब्राह्मणों ने ही, जिन्हें नियमों की घोषणा का अधिकार सौंपा गया था दूसरी जाति के सदस्यों को ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों और सस्कारों को मानने का निषेध किया था। लेकिन इस प्रकार के निषेधों ने निम्न जातियों को अपने रीतिरिवाजों के सस्कृतिकरण से नही रोका। श्रीनिवास ने मैसूर की निम्न जातियों का उदाहरण दिया है जिन्होंने लिंगायतों (जो ब्राह्मन नहीं हैं लेकिन दावा करते हैं कि वे ब्राह्मण के बराबर है) की जीवन-शैली अपना ली है। दक्षिण भारत के लोहार स्वय

को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, जनेऊ धारण करते हैं, और उन्होंने अपने सस्कारों का सस्कृतिकरण भी कर लिया है। फिर भी उनमें कुछ अब भी मास खाते हैं और मदिरा सेवन करते हैं जिसके कारण बहुत सी जातिया, यहा तक कि अस्पृश्य जातिया भी उनके हाथ का पानी तक नहीं पीती हैं (1985 43)। इस प्रकार क्योंकि निम्नजातियों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्षत्रिय, वैश्यों और जाटों की नकल की, इसलिए 'ब्राह्मणीकरण' शब्द को सास्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त नही समझा गया।

सस्कृतिकरण की विशेषताएँ (Features of Sanskritization)

सस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं

1 सस्कृतिकरण की अवधारणा को आर्थिक एव राजनीतिक प्रभुत्व से जोड दिया गया है, अर्थात् प्रबल जाति (dominant caste) की भूमिका को परिवर्तन की सास्कृतिक सचरण में विशेष महत्व दिया गया है। यद्यपि कुछ समय तक निम्न जातियों ने ब्राह्मणों की नकल की, लेकिन शीघ्र ही स्थानीय प्रबल जाति की नकल की जाने लगी और यह जाति गैर ब्राह्मण होती थी।

2 सस्कृतिकरण उन जातियों में कभी न कभी अवश्य होता था जिनको आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त थी लेकिन सस्कारों की दृष्टि से उनकी स्थिति ऊची नहीं थी, अर्थात् उनकी राजनैतिक व आर्थिक स्थिति व कर्मकाण्डी (ritual) स्थिति में बडा अन्तर था। ऐसा इसलिए था क्योंकि सस्कृतिकरण के बिना उच्च स्थिति का दावा प्रभावहीन था। जाति-व्यवस्था में सत्ता के तीन प्रमुख केन्द्र हैं सस्कार, राजनैतिक व आर्थिक। एक क्षेत्र में सत्ता हथियाना दूसरे दो क्षेत्रों में भी सत्ता प्राप्ति में वृद्धि कर देती है। लेकिन श्रीनिवास कहते हैं कि असगतिया होती ही रहती हैं।

3 आर्थिक उन्नति सस्कृतिकरण की आवश्यक शर्त नहीं है और ऐसा भी नही है कि आर्थिक उन्नति के साथ सस्कृतिकरण होना आवश्यक है। तथापि, हो सकता है कि कोई समूह (जाति, जनजाति) राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ले और इससे उसकी आर्थिक उन्नति हो और सस्कृतिकरण भी हो। श्रीनिवास (1985 · 57) ने मैसूर के एक गाव रामपुरा के अस्पृश्यों का उदाहरण दिया है जिनका अत्यधिक सस्कृतिकरण हो गया है यद्यपि उनकी आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन नही हुआ। आर्थिक विकास, राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना, शिक्षा, नेतृत्व, तथा सस्तरण का हर प्रकरण इन सभी या कुछ तत्वों को प्रदर्शित कर सकता है।

4 सस्कृतिकरण दुहरी प्रक्रिया (two-way process) है। ऐसा नही है कि निम्न जाति उच्च जाति से कुछ 'प्राप्त' ही करती है, बल्कि उसे कुछ 'प्रदान' भी करती है। हम देखते हैं कि पूरे भारत के हिन्दुत्व के बडे देवताओं के अलावा ब्राह्मण कुछ स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं जो महामारी से रक्षा करते हैं तथा पशुधन, बच्चों के जीवन व अन्न आदि को भी सरक्षण देते हैं। ऐसे प्रकरणों की भी जानकारी है जहां कहीं कही ब्राह्मण अपने किसी गैर ब्राह्मण मित्र के माध्यम से रक्त बलि भी देता है (श्रीनिवास, 1985 60)। यद्यपि स्थानीय सस्कृतिया 'देने' की अपेक्षा 'लेती' अधिक

है, फिर भी सांस्कृतिक हिन्दुत्व ने स्थानीय तथा लोक तत्वों को आत्मसात (absorb) कर लिया है। आत्मसात करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि लोक परम्पराओं और बड़ी परम्पराओं के बीच निरंतरता (continuity) बनी रहती है।

5. गतिशीलता की इकाई समूह होती है न कि व्यक्ति या परिवार।
6. ब्रिटिश शासन ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जबकि राजनीतिक स्वतंत्रता ने इस परिवर्तन की ओर बढने वाली प्रवृत्ति को कमजोर बनाया। अब समस्तरीय (horizontal) गतिशीलता की अपेक्षा ऊर्ध्वान्तर (vertical) गतिशीलता पर बल दिया जा रहा है।
7. भारत में सामाजिक परिवर्तन की बात संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण के सन्दर्भ में करने का अर्थ है, उसकी व्याख्या प्रमुखत: सांस्कृतिक अर्थों में करना न कि संरचना के अर्थ में। श्रीनिवास (1989 :55) ने भी माना है कि संस्कृतिकरण में जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थितीय (positional) परिवर्तन संरचना सम्बन्धी परिवर्तन के बिना ही होता है।
8. संस्कृतिकरण में समूह की उच्च स्थिति की उपलब्धि स्वत नही होती। समूह को अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होती है और इस अवधि में उसे अपने दावे के लिए निरन्तर दबाव बनाए रखना पड़ता है। इस दावे को स्वीकार करने की शुरुआत करने में एक या दो पीढी का समय भी लग सकता है। कई मामलों में जाति का दावा लम्बे अन्तराल के बाद भी स्वीकृत नही होता। कई बार ऐसा भी होता है कि यह दावा एक समय या स्थान में सफल न हो, पर दूसरे स्थान व अन्य समय में स्वीकार कर लिया जाये।

संस्कृतिकरण निम्न जाति को उच्च पद प्राप्ति में सहायक न भी हो, तब भी यह उसे मास खाने, अशुद्ध व्यवसायों को बदलने, मद्यपान बन्द करने, और कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं, विश्वासों व देवताओं को अपनाने से तो नही रोकता। इस प्रकार गतिशीलता के लक्ष्य को प्राप्त किये बिना भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय बनी रह सकती है।

संस्कृतिकरण के प्रोत्साहन के कारक (Factors Promoting Sanskritization)

संस्कृतिकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं; औद्योगीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, विकसित संचार व्यवस्था, साक्षरता का प्रसार तथा पश्चिमी प्रौद्योगिकी। इसमें आश्चर्य नहीं कि संस्कृत धार्मिक विचारों का विस्तार ब्रिटिश शासन काल में हुआ। संचार साधनों के विकास के साथ संस्कृतिकरण उन क्षेत्रों में चला गया जो पहले अगम्य (inaccessible) थे और साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति संस्तरण में निम्न जातियों तक को आभास करा दिया। श्रीनिवास ने एक विशिष्ट कारक का उल्लेख किया है जिस ने निम्न जातियों में संस्कृतिकरण को फैलाने में सहायता की है। यह (कारक) है कर्मकाण्डी (ritual) क्रियाओं में मंत्रोच्चारण की पृथकता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए। ब्राह्मणों द्वारा जो गैर-द्विज (non twice-born) जातियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उन्होंने केवल वैदिक मंत्रोच्चारण पर पाबन्दी लगायी थी। इस प्रकार निम्न

जाति के लोग भी ब्राह्मणों के सामाजिक आचार विचार को सरलता से अपना सके। इससे संस्कृतिकरण और भी व्यावहारिक बन गया। श्रीनिवास के अनुसार ससदीय प्रजातन्त्र की राजनीतिक सस्था ने भी सस्कृतिकरण की वृद्धि को बढावा दिया है (1985. 49)। भारत के सविधान में मद्यनिषेध, जो कि एक सास्कृतिक मूल्य है, वर्णित है। कुछ राज्यों ने इसे पूर्ण या आशिक रूप से लागू भी किया है।

पश्चिमीकरण की अवधारणा (The Concept of Westernization)

इस अवधारणा का सन्दर्भ गैर-पश्चिमी समाज की प्रौद्योगिकी, सस्थाओं, विचाराधाराओं व मूल्यों में परिवर्तन से है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के सास्कृतिक सम्पर्कों का फल है (श्रीनिवास, 1962 55)। भारतीय समाज का उदाहरण देते हुए, तकनीकी परिवर्तन, शैक्षिक सस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, एव नई राजनीतिक सस्कृति आदि का पश्चिमीकरण भारत में दो सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

पश्चिमीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं (1) तकनीकीकरण तथा युक्तिवाद (rationalism) पर बल (2) इस (पश्चिमीकरण) प्रक्रिया पर सस्कृतिकरण का प्रतिकूल प्रभाव नही है बल्कि कुछ सीमा तक यह इसको प्रोत्साहित करती है। श्रीनिवास ने पहले कहा था कि सस्कृतिकरण पश्चिमीकरण की भूमिका है। परन्तु बाद में उन्होंने अपना यह विचार बदला और कहा कि यह आवश्यक नही है कि पश्चिमीकरण के पूर्व सस्कृतिकरण आये (1985 60)। लेकिन दोनों प्रकियाए एक दूसरे से जुडी हुई हैं। एक को दूसरे के बिना समझना सम्भव नही है। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould) ने भी कहा है कि ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियो के लिए सस्कृतिकरण सस्कृत हो रही निम्न जातियों से दूरी बनाए रखने का एक प्रयत्न है। इस प्रकार एक अर्थ में ब्राह्मण निम्न समूहों से दूर भाग रहे हैं जो उन्हें पकडने का प्रयत्न कर रहे हैं।

भारत में पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति अलग अलग क्षेत्रों में जनसख्या के विविध खडों में अलग अलग पाई गई है (श्रीनिवास, 1985 51)। उदाहरणार्थ, जनसख्या का एक समूह अपने वस्त्रों, भोजन, व्यवहार, भाषा, खेलकूद, तथा छोटे बिजली मशीनों के उपयोग में पश्चिमीकृत हो गया, जबकि दूसरे समूह ने पश्चिमीकरण के बाह्य प्रभावों से अछूते रहकर भी पश्चिम के विज्ञान, ज्ञान, साहित्य आदि को आत्मसात किया। जैसे, ब्राह्मणों ने वेषभूषा तथा बाह्य रूप (चोटी हटाकर बाल कटवाना) स्वीकार कर के, अपने बच्चों को पश्चिमी स्कूलों में भेजकर, सुख सुविधाओं का उपभोग करके पश्चिमीकरण को स्वीकार किया, लेकिन उन्होंने भोजन, नृत्य, शिकार करना तथा अशुद्धता से मुक्ति, आदि को स्वीकार नही किया। परन्तु यह अन्तर केवल सापेक्षिक रूप में बल देने का है। यह स्पष्ट अन्तर नही है।

श्रीनिवास ने 'पश्चिमीकरण' शब्द को 'आधुनिकीकरण' शब्द की अपेक्षा अच्छा माना है जब कि डेनियल लर्नर, हैरोल्ड गूल्ड, मिल्टन सिंगर और योगेन्द्र सिंह ने 'आधुनिकीकरण' शब्द को उचित माना है। वह 'आधुनिकीकरण' को व्यक्तिपरक तथा पश्चिमीकरण को वस्तुपरक मानता है (सेमीनार, 88, 1986 2)। आधुनिकीकरण' में तथाकथित 'लक्ष्यों की तर्क सगतता' (rationality of goals) को निश्चित नहीं माना जा सकता क्योंकि मानव लक्ष्य मूल्य वरीयताओं (preferences) पर आधारित हैं। अत तर्कसगतता को सामाजिक क्रिया

के लक्ष्यों के आधार पर मानकर केवल साधनों के आधार पर पूर्वानुमानित (predict) किया जा सकता है।

विद्वानो द्वारा अवधारणाओ के समर्थन (Scholars' Support to the Concepts)

बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohn) और मिल्टन सिंगर (Milton Singer) जैसे विद्वानो ने संस्कृतिकरण की अवधारणा का आनुभाविक (empirical) अध्ययनों के आधार पर उसकी वैधता (validity) का समर्थन किया है। कोहन ने 1950 के दशक में पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक गाव का अध्ययन किया था। इस गाव में दो जातिया प्रमुख थी—प्रबल जाति ठाकुर तथा बड़ी सख्या में अस्पृश्य जाति चमार। भूमिहीन चमारों ने तो स्थानीय स्कूलों में शिक्षित होकर तथा आय में वृद्धि करके ठाकुर जमींदारों के विवाह और जन्म के समय संस्कारों को धारण करके संस्कृतिकरण प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर अनेक ठाकुर जो शहरों में प्रव्रजन (migrate) करके औद्योगिक मजदूर, क्लर्क, या अध्यापक हो गए थे, उन्होंने अपने धार्मिक दृष्टिकोण, वेशभूषा व आचार व्यवहार में पश्चिमीकरण धारण कर लिया। इस प्रकार जब उच्च जाति जीवन-शैली तथा धार्मिक विश्वासों में पश्चिमीकृत हो रही थी, तब निम्न जाति संस्कृत हो रही थी तथा संस्कारों, विश्वासों, और आचारों के पारम्परिक स्वरूप को धारण कर रही थी।

सिंगर (1967 : 66) ने मद्रास शहर के प्रमुख उद्योगपतियों के अध्ययन के आधार पर उच्च और निम्न जातियों की जीवन शैली तथा धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन की भिन्न प्रक्रिया पायी जिसे उन्होने, 'कोष्ठीकरण' (compartmentalisation) कहा। यह प्रक्रिया श्रीनिवास के संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं से भिन्न है। उन्होंने पाया कि सास्करिक अपवित्रता (ritual pollution) का डर दफ्तरों और फैक्ट्रियों दोनों में ही कम हो रहा है। उदाहरणार्थ, फैक्ट्रियों में विविध जाति के लोग आपस में मुख्य रूप से मिलते जुलते थे, वे एक जलपान गृह में भोजन लेते थे, एक ही बस में यात्रा करते थे, व राजनैतिक प्रदर्शनों में एक दूसरे के साथ मुक्त रूप से भाग लेते थे। ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों ने ऐसे व्यवसाय अपना लिए थे जो 'अपवित्र' समझे जाते थे जैसे चमडे का काम। सिंगर ने इस प्रक्रिया को 'कोष्ठीकरण' कहा है। उच्च जातियों में फैक्ट्री में उनके श्रम व अच्छे हिन्दू के कर्तव्यों के बीच कोई सघर्ष नही था। दोनों (फैक्ट्री और घर की परिस्थितिया) के अलग-अलग क्षेत्र थे और उनके आचार व्यवहार के स्तर भी अलग थे। उदाहरणार्थ, फैक्ट्री में वे पश्चिमी वेषभूषा पहनते, अग्रेजी बोलते, तथा पश्चिमी तौर तरीके अपनाते थे, लेकिन घर में वे भारतीय वेष धारण करते, स्थानीय भाषा बोलते, और अच्छे हिन्दू जैसा आचरण करते थे। सिंगर ने इसी को 'कोष्ठीकरण' कहा है।

लेकिन सिंगर के दृष्टिकोण को कोई नई व्याख्या नहीं देता। व्यक्ति का व्यवहार स्थिति के अनुसार बदलता रहता है, यह एक सर्व विदित तथ्य है। इसका यह अर्थ नही है कि यह 'कोष्ठीकरण' है। वास्तव में, यह एक निरन्तरता (continuity) है। कोहन भी अनुभव करते हैं कि भारतीय समाज में कोष्ठीकरण निरन्तरता से भिन्न नहीं है। परन्तु यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस निरन्तरता में परम्पराओं की रूढिवादिता विद्यमान है। यह सक्रिय और गतिशील निरन्तरता है, और सिंगर इस तथ्य को स्वीकार करते हैं

(1967 68)। लोग नई परिस्थितियों से अनुकूल कर लेते हैं।

अवधारणा की अनुभूति (Perception of the Concept)

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया यह सकेत देती है कि

(अ) यह (संस्कृतिकरण) परिवर्तन की एक प्रक्रिया है,

(ब) इसमें उर्ध्व गतिशीलता, अर्थात् जाति सस्तरण में निम्न जातियों की ऊपर उठने की आकाक्षा है,

(स) यह सस्तरण पर आघात (attack) है तथा यह सस्कृति का समान स्तर बनाने का प्रयास है।

जहा तक सस्तरण पर आघात का प्रश्न है, न केवल निम्न जातिया बल्कि जनजातियां और सस्तरण के मध्य क्षेत्रों की जातिया भी उच्च जातियों की प्रथाओं, रीति-रिवाजों, तथा जीवन-शैली को अपनाने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों की जीवन-शैली और रिवाज सभी हिन्दुओं में फैलते हैं। क्या इसको सस्तरण पर आक्रमण और सस्कृति का समानीकरण (levelling) कहा जा सकता है ? हैरोल्ड गुल्ड ने (1961. 965) इसे सास्कृतिक नकल करना नही बताया है, बल्कि सामाजिक आर्थिक वचन (deprivation) के प्रति विद्रोह एव चुनौती की अभिव्यक्ति कहा है। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह सस्तरण पर आक्रमण है, लेकिन इसे सस्कृति के समानीकरण में सफलता नही मिली।

जहा तक 'उर्ध्व गतिशीलता' का सम्बन्ध है, योगेन्द्र सिंह ने इसे सस्कृतिकरण का 'सदर्भित विशिष्ट लक्षण' (contextual specific connotation) कहा है। यह इस कारण कि यह निम्न जाति द्वारा उच्च जाति की सास्कृतिक नकल करने की प्रक्रिया है, जो राजपूत, जाट, ब्राह्मण, बनिया भी हो सकती है। कुछ स्थानों में तो जनजातिया भी हिन्दू जातियों की प्रथाओं की नकल करने लगी हैं।

अन्त में, जहा तक केवल 'परिवर्तन की प्रक्रिया' का प्रश्न है, सस्कृतिकरण को एक 'ऐतिहासिक विशिष्ट' लक्षण कहा गया है। इस अर्थ में इसका सन्दर्भ भारतीय इतिहास में उस प्रक्रिया से है जिसके कारण इतिहास की विभिन्न अवधियों में अनेक जातियों की स्थिति में तथा उसके (भारत के) सास्कृतिक स्वरूपों में परिवर्तन आए। यह सामाजिक परिवर्तन के आन्तरिक स्रोत की ओर भी सकेत करता है।

सामाजिक परिवर्तन समझने मे इन अवधारणाओ की उपयोगिता (Usefulness of the Concepts in Understanding Social Change)

भारतीय समाज के विश्लेषण में सस्कृतिकरण की अवधारणा को एक उपकरण के रूप में इसकी उपयोगिता को स्वय श्रीनिवास ने अत्यधिक सीमित बताया है क्योंकि 'अवधारणा जटिल एव अयथार्थ है' (वही, 1985 :44)। हम भी इस अवधारणा की कुछ कमिया इगित कर सकते हैं

(1) सदर्भ समूह (reference group) सदैव ब्राह्मण जाति नही होता, अपितु कई मामलों में वह स्थानीय प्रबल जाति (राजपूत, बनिया, जाट, आदि) होता है, इसलिए

संस्कृतिकरण का संदर्भ न केवल हर मॉडल में भिन्न मिलता है (जैसे ब्राह्मण मॉडल, राजपूत मॉडल, बनिया मॉडल, आदि) परन्तु एक ही मॉडल में अलग-अलग क्षेत्रों में भी भिन्नता मिलती है। योगेन्द्र सिंह (1973 :8) के अनुसार यह (भिन्नता का लक्षण) सस्कृतिकरण के विभिन्न 'सदर्भित विशिष्ट' लक्षण में विरोधाभास पैदा करता है।

(2) श्रीनिवास ने शक्ति (power) व प्रभुत्व (dominance) को सस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड दिया है। इससे सामाजिक परिवर्तन के सस्कृतिकरण मॉडल में सरचनात्मक इकाई भी शामिल हो जाती है। श्रीनिवास ने इसको स्पष्ट नही किया है। उनका कहना है कि अनेक निम्न जातियाँ अतीत में उच्च स्थितियों तक पहुंची हैं और या वे राजकीय आदेश से या शक्ति हडप कर प्रबल जातिया बन गई हैं।

(3) 'सस्कृतिकरण' तथा 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाए सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मुख्यत. सस्कृति के सन्दर्भ में करती हैं न कि सरचना के सदर्भ में। सस्कृतिकरण जाति व्यवस्था में केवल 'स्थिति परिवर्तन' प्रकट करता है तथा वह सरचनात्मक परिवर्तन इगित नही करता।

(4) ज़ेटरबर्ग (Zetterberg, 1965 .40) इस विचार के हैं कि श्रीनिवास की दोनों अवधारणाए 'सत्य की दावा करने वाली' (truth asserting) हैं। श्रीनिवास ने स्वय कहा है कि संस्कृतिकरण एक अत्यन्त जटिल तथा विषमरूपी (heterogeneous) अवधारणा है। इसको एक अवधारणा के रूप में समझने को अपेक्षा अवधारणाओं के एक बन्डल के रूप में समझना लाभदायक होगा। यह विस्तृत सास्कृतिक प्रक्रिया का केवल एक नाम है।

(5) श्रीनिवास का मॉडल केवल भारत में सामाजिक परिवर्तन को समझाता है जो कि जाति व्यवस्था पर आधारित है। अन्य समाजों के लिए यह उपयोगी नही है।

(6) ये अवधारणाए सास्कृतिक परिवर्तन के किसी सिद्धान्त की स्थापना नही करती, यहां तक कि सामान्य परिभाषाएं भी सिद्धान्तहीन हैं। ज़ेटरबर्ग (1965 :40) का कहना है कि ये दोनों अवधारणाए उपयुक्त या अनुपयुक्त, प्रभावशाली या मूल्यहीन तो हो सकती है, परन्तु सही या गलत कभी नही हो सकती।

(7) हार्पर भी इस अवधारणा को एक प्रकार्यात्मक अवधारणा मानता है जो कि परिवर्तन की ऐतिहासिक अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है।

(8) योगेन्द्र सिंह (1973 11) की मान्यता है कि सस्कृतिकरण अतीत तथा वर्तमान में हुए भारत में सास्कृतिक परिवर्तन के अनेक पक्षों का विवरण नहीं देता, क्योंकि यह गैर-सास्कृतिक परम्पराओं की उपेक्षा करता है जो कि सास्कृतिक परम्पराओं का स्थानीय स्वरूप है। मेकिम मेरियट (1955 :196-9) ने भी भारत के एक ग्रामीण समुदाय के अपने अध्ययन में यही पाया।

(9) देश के कुछ भागों में (जैसे पजाब तथा देश विभाजन से पहले का सिन्ध) जातियों द्वारा जो कुछ भी नकल किया जाता था वे सास्कृतिक परम्पराए नहीं थीं बल्कि इस्लामी परम्पराएं थीं। पजाब में सिख धर्म का उदय हिन्दू परम्पराओं और सूफीवाद व रहस्यवाद के आन्दोलनों के सश्लेषण का प्रतिफल है।

उपरोक्त विवेचन यह प्रकट करता है कि श्रीनिवास के द्वारा विकसित की गई दोनों अवधारणाए भारत के सपूर्ण परिवर्तन का नही अपितु मात्र सीमित परिवर्तन का सकेत देती हैं।

सामाजिक परिवर्तन पर पश्चिम का प्रभाव
(The Impact of the West on Social Change)

अलाटास (Alatas, 1972 121) के अनुसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का पाँच चरणों में विवेचन किया जा सकता है। प्रथम चरण सिकन्दर की विजय के साथ प्रतिरोधी सम्पर्क है जो कि बाद की शताब्दियों से वाणिज्य व व्यापार से शक्तिपूर्ण आदान प्रदान के रूप में सदियों तक चलता रहा। दूसरा चरण पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा कालीकट में अपने जहाजों के साथ 1498 में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में अपना शासन प्रारम्भ किया और बाद में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। भारत में पश्चिमी सस्कृति के विस्तार का यह प्रथम कदम था। चतुर्थ चरण प्रारम्भ हुआ उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तथा औद्योगिक क्रान्ति के आगमन से। अग्रजों द्वारा कच्चे माल के रूप में आर्थिक शोषण से प्रारम्भ हुआ और तभी से सास्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी सस्कृति का वर्चस्व प्रारम्भ हुआ। पाचवाँ और अतिम चरण प्रारम्भ हुआ 1947 में भारत की राजनैतिक स्वतत्रता के साथ।

हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा हमारी सस्कृति पर प्रभाव के अर्थ में पश्चिमी सस्कृति की क्या छाप पडी है ? इसको सक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है

(1) बैंक व्यवस्था, लोक प्रशासन, सैन्य सगठन, आधुनिक औषधियाँ, कानून आदि जैसी पश्चिमी सस्थाओं को देश में प्रारम्भ किया गया।

(2) पश्चिमी शिक्षा ने उन लोगों के दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिन्होंने आजादी व अधिकारों की बात शुरु की। नवीन मूल्यों, धर्म निरपेक्ष व न्याय सगत भावना तथा व्यक्तिवाद, समानता व न्याय के विचारों के समावेश ने बडे महत्व का स्थान ले लिया।

(3) वैज्ञानिक नवीनताओं की स्वीकृति ने जीवन स्तर ऊचा उठाने की आकाक्षाओं को ऊचा उठाया और लोगों के लिए भौतिक कल्याण उपलब्ध कराया।

(4) कई सुधार आन्दोलन हुए। अनेक परम्परागत विश्वास तथा व्यर्थ की प्रथाए त्याग दी गई तथा अनेक नए व्यवहार स्वरूप अपनाए गये।

(5) हमारी तकनीकी, कृषि, व्यवसाय और उद्योग आधुनिक किए गए जिससे देश का आर्थिक विकास एवं कल्याण हुआ।

(6) राजनैतिक मूल्यों के सस्तरण की पुर्नरचना की गई। प्रजातत्र स्वीकार करने के बाद सभी रियासतें भारतीय राज्य में सम्मिलित कर ली गई तथा सामन्तों और जमीदारों के

अधिकार और शक्ति समाप्त हो गई।

(7) विवाह, परिवार जाति जैसी सस्थाओं में सरचनात्मक परिवर्तन आए और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में नए सम्बन्ध बनने लगे।

(8) रेलवे, बस यात्रा, डाक सेवा, हवाई एव समुद्री यात्रा, प्रेस, रेडियो और दूरदर्शन आदि संचार माध्यमों के आने से मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा है।

(9) राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई है।

(10) मध्यम वर्ग के उदय ने समाज के प्रमुख मूल्यों में परिवर्तन कर दिया है।

अलाटास (Alatas) ने भी पश्चिमी सस्कृति के प्रभाव को हमारी सस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में चार प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर समझाया है : निरस्नात्मक (eliminative) परिवर्तन, योगात्मक (addictive) परिवर्तन, समर्थन (supportive) परिवर्तन, तथा संश्लेषात्मक (synthetic) परिवर्तन। निरस्नात्मक परिवर्तन वे हैं जिनसे सास्कृतिक विशेषताएँ, व्यवहार के स्वरूप, मूल्य, विश्वास और सस्थाए लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, हम युद्ध में प्रयोग आने वाले शस्त्रों में पूर्ण परिवर्तन, सती प्रथा का उन्मूलन आदि ले सकते हैं। योगात्मक परिवर्तनों में जीवन के विभिन्न पहलुओं से सबधित नयी सास्कृतिक विशेषताओं, संस्थाओं, व्यवहार स्वरूपों तथा विश्वासों को अपनाना सम्मिलित है। इस प्रकार के जोड़ लोगों की संस्कृति में पहले विद्यमान नही थे। हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद की व्यवस्था, पिता की सम्पत्ति में पुत्री को भाग देना, पचायतों में चुनाव प्रथा आदि इस प्रकार के परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं। समर्थक परिवर्तन वे हैं जो पश्चिमी सम्पर्क में आने से पूर्व समाज में विद्यमान विश्वास, मूल्य या व्यवहार स्वरूपों को अधिक मजबूत करते हैं। इसका एक मात्र उदाहरण है कर्ज व्यवहार में हुण्डी का प्रयोग। सश्लेषात्मक परिवर्तन वे हैं जो वर्तमान में विद्यमान तत्वों से नए स्वरूपों की रचना करते हैं और साथ ही नए स्वरूपों को भी अपनाते हैं। इसका उदाहरण उस परिवार की रचना है जो आवास की दृष्टि से तो एकाकी है परन्तु कार्य (function) की दृष्टि से अब भी सयुक्त है, जो माता-पिता तथा सहोदरों के प्रति सामाजिक दायित्वों को पूरा करता है। दहेज प्रथा की निरन्तरता बनाए रखना, किन्तु दहेज की धन राशि लेने-देने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना तथा बच्चों का माता-पिता के साथ जीवन साथी के चयन में सहयोग करना सश्लेषात्मक परिवर्तन के दो अच्छे उदाहरण हैं।

पश्चिमी प्रभाव के कारण परिवर्तन का उपरोक्त विभाजन केवल विश्लेषण के उद्देश्य से है, लेकिन एक दूसरे से उनको अलग करना सम्भव नही है। एक ही प्रकार के परिवर्तन के भीतर हम दूसरे प्रकार के परिवर्तनों के तत्व भी देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, वस्त्र उद्योग के प्रारम्भ करने में समर्थक तत्व देखे जा सकते हैं क्योंकि यह कपडे के उत्पादन को सुविधा प्रदान करता है। परन्तु साथ ही क्योंकि इससे हाथकरघा (handloom) उद्योग को आघात लगा है, तो यह कहा जा सकता है कि इसमें हटाने योग्य अथवा निरस्नात्मक परिवर्तन के तत्व भी काम करते हैं। खुले कारागृहों (wall-less prisons) का आरम्भ भी एक और उदाहरण है जिसमें तीन विविध प्रकार के परिवर्तन कार्य करते हैं। इसी प्रकार, शिक्षा व्यवस्था, बैंकिंग व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, आदि में परिवर्तन मिलते हैं।

अब प्रमुख प्रश्न है कि : पश्चिम के सम्पर्क के बाद भारत कहाँ पहुंच गया है? क्या

भारत ने प्रगति की है ? क्या इसने लोक कल्याण में योगदान किया है ? क्या इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर सम्भव है ? क्या ऐसे विश्लेषण में आत्मपरकता (subjectivism) तथा दार्शनिक पक्षपात(philosophical partiality) को हटाया जाना सम्भव है ? कुछ विद्वान मानते हैं कि भारत को द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अनेक समस्याओं का सामना करना पडा, जैसे आर्थिक पिछडापन, बडी सख्या में लोगों का गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करना, बेरोजगारी, जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभुत्व, ग्रामीण ऋण, जातीय सघर्ष, साम्प्रदायिक दुर्भावना, पूँजी की कमी, तकनीकी दक्षता वाले दक्ष कार्मिकों की कमी, आदि। इन समस्याओं का समाधान भी पश्चिमी प्रभाव ने दिया है। लेकिन अन्य विद्वानों की मान्यता है कि पश्चिमी प्रभाव ने भारत को इन समस्याओं के समाधान में कोई सहायता नहीं की। यदि कुछ समस्याओं का समाधान हुआ है तो कई दूसरी समस्याएँ खडी हुई हैं और भारत उन्हें पश्चिम के नमूने पर सुलझाने का प्रयत्न नही कर रहा है। भारत स्वदेशी ढग से उन्हें सुलझाने का प्रयास कर रहा है। देश की स्वतत्रता के बाद ही औद्योगिक विकास में वृद्धि, शिक्षा का विस्तार, ग्रामीण विकास, जनसख्या पर नियत्रण आदि पाया गया है। इस प्रकार पश्चिमी शासन की मुक्ति से और न कि पश्चिमी सम्पर्क से भारत में आधुनिकीकरण सम्भव हुआ है।

वास्तविकता यह है कि जीवन के कुछ क्षेत्रों में पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करके हम सही हो सकते हैं। आधुनिक मेडिकल साइस, आधुनिक तकनीकी, प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के आधुनिक उपाय, देश को बाहरी खतरों से सुरक्षा प्रदान करने के आधुनिक तरीके, आदि भारत के इतिहास में पश्चिम के अद्वितीय योगदान के रूप में गिने जायेंगे। लेकिन, भारत इनके साथ-साथ लोगों के उत्थान के लिए अपनी परम्परागत सस्थाओं, प्रथाओं और विश्वासों का भी प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव के बाद भी तथा विविध व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के बाद भी भारत, भारत ही रहेगा। भारतीय सस्कृति आने वाले कई दशकों तक सुरक्षित रहेगी।

आधुनिकीकरण : अवधारणा, निदर्शक, प्रकृति और समस्याएँ
(Modernisation : Concept, Indicators, Nature and Problems)

आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की अवधारणाएँ
(Concepts of Modernity and Post Modernity)

परम्परा उन सामाजिक प्रथाओं का एक समुच्चय (set) है जो कुछ व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमानों और मूल्यों को सिखाते हैं जो अतीत से जुडे होते हैं। आमतौर पर ये विस्तृत स्वीकृति के सस्कारों (widely acceptd rituals) और प्रतीकात्मक व्यवहार के अन्य स्वरूपों से जुडे रहते हैं। *आधुनिकता* परम्परागत समाज से विच्छेद (break) का प्रतिनिधित्व करता है। स्टुअर्ट (1997 40) ने आधुनिकता के पाँच विशिष्ट गुण बताए हैं. तर्क पर बल, प्रगति में विश्वास, प्रकृति और वातावरण पर नियत्रण, (बौद्धिक विशेषता), धर्मनिरपेक्ष सत्ता का वर्चस्व, और राज्य/राजनैतिक मामलों से धार्मिक प्रभाव का सीमान्तीकरण (राजनैतिक विशेषता), ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें मुद्रा व्यवस्था विनिमय का साधन हो (आर्थिक विशेषता), धर्म का पतन

और धर्मनिरपेक्ष भौतिक संस्कृति का उदय,(धार्मिक विशेषता), परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का पतन और नये श्रम विभाजन का विकास और नये वर्गों का उदय (सामाजिक विशेषताए)। इस प्रकार, आधुनिकता नये सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और बौद्धिक व्यवस्थाओं का समुच्चय (cluster) है जो परम्परागत व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है। परन्तु यद्यपि परम्परा से आधुनिकता में रूपान्तरण शक्तिशाली है, फिर भी यह पूर्ण नहीं है, अर्थात परम्परागत अभिवृत्तियां और व्यवहार जीवित रहते हैं। एंथोनी गिडन्स के अनुसार, आधुनिकता की तीन महत्वपूर्ण विशेषताए हैं . औद्योगीकरण, पूँजीवाद (वस्तुओं का उत्पादन, स्पर्धात्मक बाजार के लिए मजदूरी वाले श्रमिकों का उपयोग करना) और निरीक्षण (surveillance) (राज्य और अन्य संगठनों का व्यक्तियों और समूहों पर नियत्रण) (See, Mike O'Donnel, 1997 :4)

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिकता विज्ञान, तर्क और प्रगति में विश्वास रखने पर बल देती है। आधुनिकता से सम्पर्क रखने वाले वैज्ञानिकों को वस्तुपरक विशेषज्ञ समझते हैं, विज्ञान को जगत के नियमों की खोजकर्त्ता और मानव को प्रकृति और पर्यावरण पर नियंत्रण करने वाला और तर्क को मानव दशाओं में सुधार करने वाला अर्थात् प्रगति को प्राप्त करने के लिए समझते हैं।

'उत्तर आधुनिकता' शब्द तब प्रयोग में आया जबकि आधुनिक समाज आधुनिकता के परिणामों के प्रति सावधानी पूर्वक विवेचन के बाद अच्छी तरह इसको जान गया, विशेष रूप से इसके नकारात्मक पक्ष को। एन्थोनी गिडन्स उत्तर आधुनिकता को चैतन्यता (reflexivity) (अत्यधिक आलोचनात्मक जागृति या चैतन्य आधुनिकता) कहता है क्योंकि यह (नयी अवस्था) आधुनिकता के घातक परिणामों पर बल देती है (जैसे पर्यावरण पर औद्योगीकरण का)। प्रदूषण, जन सहार के लिए परमाणु अस्त्रों का प्रसार, आदि आधुनिकता के जोखिम भरे परिणामों के उदाहरण हैं। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता में अन्तर यह है कि : (i) पहला विज्ञान/तर्क से सम्बन्धित है जबकि दूसरा पर्यावरणीय मानवता और प्रकृति पर व्यावहारिक विज्ञान के अति घातक प्रभावों से, (ii) पहला सामाजिक प्रगति में विश्वास करता है तो दूसरा प्रगति के प्रयत्नों के घातक परिणामों पर, (जैसे कार प्रदूषण, दुर्घटना), (iii) पहला राष्ट्र राज्य को समाज की सीमा मानता है, लेकिन दूसरा वैश्वीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखता है, (iv) पहला आर्थिक विकास पर बल देता है जबकि दूसरा बढ़ते हुए सांस्कृतिक विकास पर, (v) पहला जगत को विरोधाभास के अर्थ में लेता है (जैसे स्त्री/पुरुष, वस्तुपरक/आत्मपरक) लेकिन दूसरा समानताए व एकता खोजने का प्रयत्न करता है (जैसे, आत्मपरक और वस्तुपरक) (Mike O'Donnel, 1997 .43)

आधुनिकीकरण की विशेषताए (The Characteristics of Modernization)

कार्ल ड्यूश (Karl Deutsh, see, Donnel, op. cit., 494 . 95) ने आधुनिकता के एक पक्ष (अर्थात् सामाजिक जनसख्यात्मक या जिसे वह सामाजिक गतिशीलता भी कहते है) का सदर्भ देते हुए इगित किया है कि इसके कुछ सूचक (indices) इस प्रकार हैं : यत्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन के प्रति विगोपन या अनावृत्ति (exposure), शहरीकरण, कृषि धन्धों में परिवर्तन, साक्षरता तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि।

इजेन्स्टाड (Eisenstadt, 1963 3) के अनुसार सामाजिक सगठन (या आधुनिकीकरण) के सरचनात्मक पक्षों के मुख्य सूचक (indices) हैं : विशिष्ट भूमिकाएं उन्मुक्त विचरण वाली (free floating) होती हैं (अर्थात् उनमें प्रवेश व्यक्ति के प्रदत्त लक्षणों से निर्धारित नही होता है), तथा धन व शक्ति जन्म के आधार पर निश्चित नहीं होते (जैसा कि परम्परागत समाजों में होता है)। यह मार्केट जैसी सस्थाओं से,(आर्थिक जीवन में), मतदान से, और राजनीतिक जीवन में पार्टी कार्यों से सम्बद्ध होते हैं।

मूर (Moore, 1961 57-82) ने बताया है कि आधुनिक समाज के विशेष आर्थिक, राजनैतिक और सास्कृतिक लक्षण होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक समाज के लक्षण निम्न हैं (i) अत्यन्त उच्च स्तरीय तकनीकी का विकास जो ज्ञान के व्यवस्थित खोज से होता है, जिसका अनुसरण प्राथमिक व्यवसाय (कृषि) में कम द्वैतीयक (उद्योग, व्यापार) और तृतीयक (नौकरी) व्यवसायों में अधिक होता है, (ii) आर्थिक विशिष्टताओं की भूमिकाओं का विकास, (iii) प्रमुख बाजारों, जैसे वस्तुओं का बाजार, श्रम बाजार, तथा मुद्रा बाजार के क्षेत्र व जटिलता का विकास।

राजनैतिक क्षेत्र में आधुनिक समाज कुछ अर्थों में प्रजातात्रिक या कम से कम जनवादी (populistic) है। इसके लक्षण हैं (i) शासकों के अपने समाज से बाहर शक्ति के सन्दर्भ में पारम्परिक वैधता में गिरावट, (ii) शासकों की उन शासितों के प्रति एक प्रकार के वैचारिक उत्तरदायित्व (ideological accountability) की स्थापना जो राजनैतिक सत्ता के वास्तविक धारणहारी होते हैं, (iii) समाज की राजनैतिक, प्रशासनिक, वैधानिक एव केन्द्रीय शक्ति की सीमाओं का विकासशील विस्तार, (iv) समाज में अधिक से अधिक समूहों में सभावित शक्ति का निरन्तर फैलाव और अन्तत सभी प्रौढ नागरिकों में तथा नैतिक व्यवस्था में फैलाव और (v) किसी भी शासक व्यक्ति या शासक समूह के प्रति प्रदत्त राजनैतिक प्रतिबद्धता में कमी होना।

सास्कृतिक क्षेत्र में आधुनिक समाज के लक्षण हैं (i) प्रमुख सास्कृतिक और मूल्य व्यवस्थाओ के प्रमुख तत्वों जैसे, धर्म, दर्शन और विज्ञान में बढता हुआ अन्तर, (ii) धर्मनिरपेक्ष शिक्षा और साक्षरता का विस्तार, (iii) बौद्धिक विषयों पर आधारित विशिष्ट भूमिकाओं के विकास के लिए जटिल सस्थात्मक व्यवस्था, (iv) सचार साधनों का विकास, (v) नवीन सास्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जिसमें प्रगति व सुधार पर बल,'योग्यताओं की अभिव्यक्ति और प्रसन्नता पर बल, व्यक्तिवाद का नैतिक मूल्यों के रूप में मानने पर बल तथा व्यक्ति की कुशलता और सम्मान पर बल दिया जाता है।

विस्तृत रूप में, आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं . वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, कारण और तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता, उच्च आकाक्षाए तथा उपलब्धि परकता (achievement orientation), मूल्यो, मानदण्डों और अभिरुचियों में सम्पूर्ण परिवर्तन, नवीन प्रकार्यात्मक सस्थाओं की रचना, मानव ससाधनों में निवेश (investment), विकास परक अर्थव्यवस्था, नातेदारी, जाति, धर्म या भाषा परक हितो की अपेक्षा राष्ट्रीय हित, मुक्त (open) समाज, गतिशील व्यक्तित्व।

आधुनिकीकरण के परिमाप (Measures of Modernization)

आधुनिकीकरण के परिमापों के विषय में व्याख्या करते हुए रस्टोव और वार्ड (Rustov and Ward, 1964 :4) ने इनमें परिवर्तन के इन विशेष पक्षों को सम्मिलित किया है (i) अर्थव्यवस्था का औद्योगीकरण, तथा उद्योग, कृषि, दुग्ध उद्योग (dairy farming), आदि में वैज्ञानिक तकनीकी धारण कर के उन्हें अधिकारिक उत्पादक बनाना, (ii) विचारों का धर्मनिरपेक्षीकरण; (iii) भौगोलिक एव सामाजिक गतिशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि, (iv) भौतिक जीवन स्तर में वृद्धि; (v) प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन, (vi) भौतिक जीवन स्तर में वृद्धि; (vii) अर्थ व्यवस्था में निर्जीव शक्ति (inanimate energy) का जैविक (animate) शक्ति से अधिक उपयोग; (viii) प्राथमिक उत्पादन क्षेत्र की अपेक्षा द्वैतीयक तथा तृतीय उत्पादन क्षेत्रो में अधिक श्रमिकों का कार्य करना (अर्थात् कृषि व मत्स्य कार्यों की अपेक्षा निर्माण और नौकरी आदि व्यवसायों में अधिक श्रमिक); (ix) तीव्र शहरीकरण, (x) उच्च स्तरीय साक्षरता, (xi) प्रति व्यक्ति उच्च राष्ट्रीय उत्पादन, (xii) जन संचार का निःशुल्क विस्तार, (xiii) जन्म के समय उच्च जीवन अपेक्षा।

आधुनिकीकरण की पूर्व आवश्यकताए (Prerequisites of Modernization)

परम्परावाद से आधुनिकीकरण में परिवर्तन होने से पूर्व समाज में आधुनिकीकरण की कुछ पूर्व आवश्यकताएं मौजूद होनी चाहिये। ये हैं (i) उद्देश्य की जानकारी तथा भविष्य पर दृष्टि, (ii) अपनी दुनियां से परे भी अन्य समाजों के प्रति जागरूकता, (iii) अति आवश्यकता का भाव, (iv) विविध भूमिकाओं एव अवसरों की उपलब्धता, (v) स्वय लादे गए कार्यों एव बलिदानों के लिए भावनात्मक तत्परता, (vi) प्रतिबद्ध, गतिशील एव निष्ठावान नेतृत्व का उदय (नर्मदेश्वर प्रसाद, 1970 · 19)

आधुनिकीकरण बडा जटिल है क्योंकि इसमें न केवल अपेक्षाकृत नए स्थाई ढाँचे की आवश्यकता होती है, बल्कि ऐसे ढाँचे की भी जो स्वय को निरन्तर बदलती दशाओं एव समस्याओं के अनुकूल बना ले। इसकी सफलता समाज की आन्तरिक परिवर्तन की सामर्थ्य पर निर्भर करती है।

इजेन्टाड (Eisentadt, 1965 659) की मान्यता है कि आधुनिकीकरण के लिए एक समाज के तीन संरचनात्मक लक्षण होने चाहिए · (i) (उच्च स्तरीय) संरचनात्मक अन्तर, (ii) (उच्च कोटि की) सामाजिक गतिशीलता, और (iii) अपेक्षाकृत केन्द्रीय तथा स्वायत्तता धारी सस्थात्मक सरचना।

सभी समाज आधुनिकीकरण की एक सी प्रक्रिया स्वीकार नही करते हैं। हर्बर्ट ब्लूमर (Herbert Blumer, 1964 · 129) के विचार को मानते हुए पाच तरीके बताये जा सकते हैं जिनमें एक परम्परागत समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। ये हैं :

(1) अस्वीकारात्मक अनुक्रिया (Rejective Response)

एक परम्परागत समाज आधुनिकीकरण को अस्वीकार कर सकता है। यह अनेक प्रकार से

विविध स्तरों पर हो सकता है। शक्तिशाली समूह, भूसामन्तशाही, सरकारी स्वल्पतन्त्र (oligarchy), मजदूर संघ तथा धर्मान्ध लोग अपने हितों की रक्षा के लिए आधुनिकीकरण को हतोत्साहित (discourage) कर सकते हैं। सामाजिक पूर्वाग्रह (prejudices), परम्परागत जीवन के कुछ स्वरूप, विश्वासों व प्रथाओं में दृढ़ आस्था तथा विशेष रुचि कुछ लोगों को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अस्वीकार करने और परम्परागत व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

(2) विकल्पयुक्त अनुक्रिया (Disjunctive Response)

प्राचीन और नवीन के बीच सन्धि (conjunction) अनुक्रिया अथवा आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मकता के बीच सह-अस्तित्व (co-existence) तब होता है जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परागत जीवन को प्रभावित किये बिना ही निस्पृह (detached) विकास के रूप में चलता रहता है। इस प्रकार आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मक व्यवस्था में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि प्राचीन व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। आधुनिकीकरण के लक्षण परम्परात्मक जीवन के साथ-साथ रहते हैं।

(3) आत्मसाती अनुक्रिया (Assimilative Response)

इस अनुक्रिया में परम्परागत व्यवस्था द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आत्मसातीकरण निहित है जो कि जीवन के स्वरूप और संरचनात्मक पक्ष पर कोई प्रभाव नहीं डालता। इसका उदाहरण बैंकिंग व्यवस्था में बैंक कर्मचारियों द्वारा कम्प्यूटर विचारधारा का स्वीकार करना है, अथवा गाँवों में किसानों द्वारा कृत्रिम उर्वरकों और ट्रेक्टरों का प्रयोग करना है। दोनों ही उदाहरणों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परात्मक व्यवस्था या उसके मूलभूत ढाँचे को प्रभावित किए बिना आती है।

(4) समर्थक अनुक्रिया (Supportive Response)

इसके अन्तर्गत नवीन व आधुनिक बातें स्वीकार की जाती हैं क्योंकि उनसे परम्परात्मक व्यवस्था को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, पुलिस या सेना में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पुलिस की कार्यक्षमता तथा सेना की शक्ति में वृद्धि करती है। विविध परम्परात्मक समूह और संस्थाएं परम्परागत हितों को जारी रखने के लिए आधुनिकीकरण द्वारा प्रदत्त अवसरों का प्रयोग करते हैं तथा परम्परागत स्थिति को दृढ़ता से बनाए रखते हैं। आधुनिकीकरण परम्परात्मक हितों को आगे बढ़ाए रखने के लिए संसाधन और सुविधाएं उपलब्ध करा सकता है।

(5) विघटनकारी अनुक्रिया (Disruptive Response)

इस अनुक्रिया में परम्परात्मक व्यवस्था को कई बिन्दुओं पर समायोजन द्वारा खोखला बनाया जाता है जो कि आधुनिकीकरण द्वारा उत्पन्न स्थितियों के कारण किया जाता है।

साधारण ये पाचों अनुक्रियाएँ विविध संयोजनों (combinations) द्वारा परम्परागत व्यवस्था के विविध बिन्दुओं पर होती रहती हैं। अनुक्रियाएं वरीयताओं (preferences),

रुचियों (interests), तथा मूल्यों (values) से प्रभावित होती रहती हैं।

माइरन वीनर (Myron Weiner, 1996 : 8) के अनुसार आधुनिकीकरण को सम्भव बनाने वाले प्रमुख साधन (instruments) इस प्रकार हैं ·

(1) शिक्षा (Education)

शिक्षा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करती है तथा तकनीकी नवीनताओं के लिए आवश्यक दक्षता और अभिरुचियाँ पैदा करती है। एडवर्ड शिल्स ने भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका पर बल दिया है। परन्तु आर्नोल्ड एण्डरसन (Arnold Anderson) की मान्यता है कि औपचारिक शिक्षा ही केवल अध्यापन कुशलता के लिए पर्याप्त नहीं है। कभी-कभी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा व्यर्थ हो सकती है, क्योंकि यह डिग्रीधारियों की संख्या में वृद्धि कर देती है, किन्तु आधुनिक दक्षता तथा अभिरुचियों से पूर्ण लोगों की सख्या में वृद्धि नही करती।

(2) सचार (सम्प्रेषण) (Communication)

जनसचार के साधनों का विकास (टेलीफोन, टीवी., रेडियो तथा फिल्म आदि) आधुनिक विचारों को प्रसारित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। केवल खतरा यह है कि यदि इन पर सरकारी नियंत्रण हो तो यह एक ही प्रकार की विचारधारा को प्रसारित करेंगे। प्रजातत्र में प्रेस अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वतत्र होता है।

(3) राष्ट्रीयता पर आधारित विचारधारा (Ideology Based on Nationalism)

बहुल (plural) समाजों में राष्ट्रवादी विचारधाराए सामाजिक दरारें (social cleavages) के एकीकरण के लिए अच्छा साधन होती हैं। वे लोगों के व्यवहार परिवर्तन हेतु राजनैतिक अभिजन की भी सहायता करती हैं। परन्तु बाइन्डर (Binder) की मान्यता है कि अभिजनों को विचारधारा आधुनिक हो सकती है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि इससे विकास को भी सुविधा प्राप्त हो।

(4) करिश्माई (चमत्कारी) नेतृत्व (Charismatic Leadership)

एक करिश्माई (चत्मकारी) नेता लोगों को आधुनिक विचार, विश्वास, रीति-रिवाज तथा व्यवहार अपनाने के लिए प्रेरित करने में अच्छी स्थिति में होता है क्योंकि लोग उसे श्रद्धा व निष्ठा से देखते हैं। भय यही रहता है कि ऐसा नेता कहीं राष्ट्रीय विकास के स्थान पर व्यक्तिगत यश के लिए आधुनिक मूल्यों एवं अभिरुचियों का प्रयोग न करने लगे।

(5) अवपीड़क सरकारी सत्ता (Coercive Government Authority)

यदि सरकारी सत्ता कमजोर है तो यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनी नीतियों को क्रियान्वयन (implementation) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकती, किन्तु यदि सरकार मजबूत है तो यह लोगों को विकास के उद्देश्य से व्यवहार एव

अभिरुचियों को अपनाने के लिए बाध्य कर सकती है और इसके लिए अवपीडन (coercion) का सहारा भी ले सकती है। परन्तु माइरन वीनर का मत है कि तानाशाही शासन की ढाल के नीचे राष्ट्रीयता देश को विकास की ओर जाने के स्थान पर देश के बाहर आत्महत्या का विस्तार स्वरूप (suicidal expansion) सिद्ध हो सकती है। इस सन्दर्भ में बुश प्रशासन (अमेरिका में) के राजनैतिक अभिजनों की नीतियों का उद्धारण देना गलत नहीं होगा जो कि उन्होंने ईराक आदि के लिए बनाई थी। रूस की श्रेष्ठता समाप्त हो जाने के बाद अमेरिका की सरकारी सत्ता ने अविकसित एव विकासशील देशों को आधुनिकीकरण के नाम से पीडित करने की नीति अपनानी प्रारम्भ कर दी।

माइरन वीनर (1966 9-10) ने समाज के आधुनिकीकरण के लिए मूल्यों, अवसरों एव विकासशील समाज तनाव और प्रतिरोधों के भीतर होने के आधार पर कार्य करता है। तनाव आधुनिकता व परम्परा के बीच निहित सघर्षों के कारण बना रहता है। तनाव अतीत की धरोहर होते हैं जो कि आर्थिक विकास के दबाव के कारण बने रहते हैं। बहुधा विकास की प्रक्रिया में कुछ तनाव सुलझ जाते हैं। स्थायित्व और सरक्षण की शक्तियों तथा परिवर्तन और आधुनिकीकरण की शक्तियों के बीच दोहरा सम्बन्ध होता है। विकासशील समाज इन समस्याओं का सामना चतुरता से करता है। अत परिवर्तन और आधुनिकीकरण की चुनौतियों का जैसे, क्षेत्रवाद, प्रान्तीयता, अशिक्षा, प्रव्रजन (migration), मुद्रा स्फीति, पूँजी की कमी, रक्षा खर्च में कमी के उद्देश्य से पडौसी राष्ट्रों से सामजस्य, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नौकरशाही की अकुशलता, और अप्रतिबद्धता आदि का सामना धैर्य पूर्वक एव विधि पूर्वक तरीके से तर्कशील अभिस्वीकरण (adoptive) प्रक्रियाओं द्वारा करता है। परम्परागत समाज के टूटने से व्यक्तिगत स्वतत्रता में वृद्धि, सत्ता का समतलीकरण, व निर्णय लेने में जन समूहों का योगदान अधिक होने लगता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक सरचना के प्रतिरोधों को हटाना सम्मिलित है। साथ ही साथ केवल सभी स्तरों पर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सास्कृतिक विकास का नियोजन ही लोगों को आधुनिक विचारों एव मानदण्डों में भागीदारी के लिए प्रेरित करेगा और महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों—बुद्धिजीवियों, राजनैतिक अभिजनों, नौकरशाही एव तक्नीकी विशेषज्ञों —को नियोजित परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करेगा।

आधुनिकीकरण की समस्याए (Problems of Modernization)

आधुनिकीकरण की कुछ समस्याए निम्नवत हैं

(1) आधुनिकीकरण का प्रथम विरोधाभास यह है कि एक आधुनिक समाज को तुरन्त हर प्रकार से बदल जाना चाहिए, लेकिन ऐसे नियमित एव विकास का समन्वित स्वरूप का अनुमानित नियोजन नही हो सकता। अत एक प्रकार की सामाजिक हलचल पैदा हो ही जाती है। उदाहरणार्थ, जन शिक्षा व्यवस्था की माग है कि दक्ष (trained) व्यक्तियों को उनकी ट्रेनिंग तथा उनके ज्ञान के अनुकूल व्यावसायिक भूमिका में लगा देना चाहिए। लेकिन सभी शिक्षित लोगों का काम दिलाना सदैव सम्भव नही होता है। इससे शिक्षित लोगों में निराशा एव असतोष पैदा होता है।

(2) दूसरी समस्या यह है कि आधुनिकीकरण की अवधि में सरचनात्मक परिवर्तन असमान

होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग आधुनिक बनाए जा सकते हैं, लेकिन परिवार व्यवस्था, धर्म व्यवस्था आदि रूढ़वादी ही बने रहते हैं। इस प्रकार की निवृत्तियाँ व अविच्छिन्नताएँ और परिवर्तन के स्वरूप, स्थापित सामाजिक और सरचनाओं को प्रभावित करते हैं और अन्तराल (lags) वह गत्यावरोध (bottlenecks) पैदा करते हैं। इसका दूसरा उदाहरण है भारत में मताधिकार की आयु 21 से कम करके 18 वर्ष कर देना। यह आधुनिकता में प्रवेश का एक कदम हो सकता है, किन्तु इसने एक सकट पैदा कर दिया है क्योंकि निर्वाचक समूह इस अनुमान पर निर्भर करता है कि नागरिकता की परिपक्व भावना होगी तथा नीतियों में भागीदारी योग्यता होगी।

(3) तीसरी समस्या है कि सामाजिक व आर्थिक सस्थाओं का आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन शैली के साथ सघर्ष पैदा करता है। उदाहरणार्थ, प्रशिक्षित डॉक्टर परम्परागत वैद्यों के लिए खतरा हो जाते हैं। इसी प्रकार मशीनो द्वारा निर्मित वस्तुए घरेलू श्रमिको को रोजी रोटी से वचित कर देती है। इसी तरह बहुत से परम्परावादी लोग उन लोगों के विरोधी हो जाते हैं जो आधुनिकता स्वीकार करते हैं। फलत परम्परावादी और आधुनिक तरीकों में सघर्ष असतोष का कारण हो जाता है।

(4) चौथी समस्या यह है कि अक्सर लोग जो भूमिकाए धारण करते हैं, वे आधुनिक तो होती हैं, किन्तु मूल्य परम्परात्मक रूप में जारी रहते हैं। उदाहरणार्थ, मेडिसिन और सर्जरी में ट्रेनिंग लेने के बाद भी एक डॉक्टर अपने मरीज से यही कहता है, "मैं इलाज करता हूँ, ईश्वर ठीक करता है।" यह दर्शाता है कि उसे अपने पर विश्वास नही है कि वह बीमारी का सही निदान कर सके बल्कि स्वय पर आरोप लगाने की बजाय वह उन तरीकों की निन्दा करता है जिनमें उसका जीवन-मूल्यों को विकसित करने के लिए सामाजीकरण किया गया है।

(5) पाँचवी समस्या यह है कि उन साधनों के बीच जो आधुनिक बनाती हैं और उन सस्थाओं व व्यवस्थाओं में जिनको आधुनिक होना है सहयोग की कमी है। कई बार इससे सास्कृतिक विलम्बना (cultural lag) की स्थिति पैदा हो जाती है तथा सस्थात्मक सघर्ष होते हैं।

(6) अतिम समस्या यह है कि आधुनिकीकरण लोगों की आकाक्षाओं को बढ़ाता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्थाए उन्हें आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए अवसर प्रदान करने में असफल रहती हैं। ये कुण्ठाएँ वचनाएँ और सामाजिक असतोष पैदा करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची
(Bibliography)

Abbi, B L, 'Urban Family in India', in *Contributions to Indian Sociology*, No 3, 1969

Agarwal, S N, *India's Population*, Institute of Economic Growth, Asia Publications, Bombay, 1960

Agarwal, U C, 'Galloping Corruption Need for Effective Vigilance', *The Indian Journal of Public Administration*, New Delhi, July-September, 1997

Ahmad, Imtiaz, (ed), *Caste and Social Stratification Among the Muslims*, Manohar Book Service, Delhi, 1973

Ahuja, Ram, *Indian Social System*, Rawat Publications, Jaipur, 1993

Ahuja, Ram, *Social Problems in India* (2nd ed), Rawat Publications, Jaipur, 1997

Ahuja, Ram, *Sociological Criminology*, New Age International Publishers, Delhi, 1996

Albatch, PG, (eds) *Turmoil and Transition Higher Education and Student Politics in India*, Lalvani Publishing House, Bombay, 1968

Almond, Gabrial and Coleman (eds), *The Politics of Developing Areas*, Princeton University Press, Princeton, 1960

Altekar, A S, *The Position of Women in Hindu Civilisation*, Motilal Banarsidas, Varanasi, 1956 (first published in 1938)

Ansari, Ghans, *Muslim Castes in Uttar Pradesh A Study of Culture Contact*, National Publishing House, Lucknow, 1960

Asthana, Pratima, *Women's Movements in India*, Vikas Publications, Delhi, 1974

Atal, Yogesh, *The Changing Frontiers of Caste*, National Publishing House, Delhi, 1968

Bailey, FG, *Caste and the Economic Frontier*, University Press, Manchester, 1957.

Bailey, F.G., *Tribe, Caste and Nation*, Oxford University Press, Bombay, 1960.

Barnabas, A.P., *Population Control in India: Policy Administration*, Indian Institute of Public Administration, Delhi, 1977.

Barnabas, A.P, 'Good Governance at Local Level', *Indian Journal of Public Administration*, July-September, Vol. XLIV, No.3, 1998

Berreman, Gerald, D, *Caste in the Modern World*, General Learning Press, Morristown, N.Y, 1973.

Beteille, Andre, *Caste, Class and Power: Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village*, University of California Press, Berkeley, 1965.

Beteille, Andre, *Studies in Agrarian Social Structure*, Oxford University Press, Delhi, 1974.

Beteille, Andre, *Inequality Among Men*, Oxford University Press, Delhi, 1977.

Bose, Ashish, *From Population to People*, B.R. Publications, Delhi, 1988

Bose, N K., *Cultural Anthropology and Other Essays*, Asia Publishing House, Calcutta, 1953.

Chandra, Bipin, *Communalism in Modern India*, Vikas Publications, New Delhi, 1984

Chandrasekhar, S., *India's Population Fact and Policy*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1967

Chauhan, Brij Raj, *A Rajasthan Village*, Associated Publishing House, New Delhi, 1967.

Chitnis, Suma, 'Education for Equality: The Case of Scheduled Castes in Higher Education', *Economic and Political Weekly*, Bombay, Vol 7, 1972

Chitnis, Suma, 'Review and Trend Report of the Sociology of Education', *A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, ICSSR, Delhi, 1974 (Vol 1) and 1980 (Vol 1)

Chopra, O P., 'Unaccounted Income: Some Estimates', *Economic and Political Weekly*, Vol XVII, Nos 17 and 18, April 24 and May 1, 1982.

Choudhry, P.C., 'Corruption' in *Seminar*, No. 421, Delhi, September 1994

Cormack, M, *She Who Rides a Peacock: Indian Students and Social Change*, Asia Publishing House, Bombay, 1961.

Dasgupta, S N., *History of Indian Philosophy*, Kitab Mahal, Allahabad, 1969.

Davis, Kingsley, *The Population of India and Pakistan*, Princeton University Press, 1951

Desai, I.P, *High School Students in Poona*, Decan College, Poona, 1953

Desai, I P, 'Joint Family in India An Analysis', *Sociological Bulletin*, No 5 (2), 1956

Desai, I P, *Some Aspects of Family in Mahuva*, Asia Publishing House, Bombay, 1964

Desai, A R, *Rural Sociology in India*, (Rev ed.) The Indian Society of Agricultural Economics, Bombay, 1959

Desai, A R, *Peasant Struggles in India*, Oxford University Press, Delhi, 1983

Dhanagare, D N, 'The Politics of Survival Peasant Organisation and Left Wing in India', *Sociological Bulletin*, 1975

Dhanagare, D N, 'The Model of Agrarian Classes in India' in Desai, A R, *Peasant Movements in India*, Oxford University Press, Delhi, 1983

Donnell, Mike O', *Sociology* (4th ed), Thomas Nelson, UK, 1997

Dowse, Robert E and Hughes, John A, *Political Sociology*, John Wiley and Sons, London, 1972

Dube, S C, *Tradition and Development*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1990

D'Souza, Victor, 'Education in Social Structure and Democracy in India', in S P Ruhela (ed) *Social Determinants of Educability in India*, Jain Publications, New Delhi, 1969

Dumont, Louis, *Homo Hierarchicus*, Chicago University Press, Chicago, 1970

Easton, David, *The Political System*, Elfred, New York, 1953

Eisentadt, S N, *The Political System of Empires*, Free Press, New York, 1963

Engineer, Asghar Ali (ed), *Communal Riots in Post-Independent India*, Sangam Book, Delhi, 1984

Fernandes, Walter, 'Displacement of Tribals' in George Pfeffer, *Contemporary Society Tribal Studies*. 1997

Fox, R G, (ed), *Urban India. Society, Space and Image*, Duke University, Duke, 1970

Ganguli, B N., *Population and Development*, S Chand, New Delhi, 1973

Geriant, Parry, *Political Elite*, George Allen and Unwin, London, 1969

Gerth, H.H., and Mills, C.W., (eds), *From Max Weber: Essays in Sociology,* Routledge and Kegan Paul, London, 1948.

Ghurye, G.S., *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, Bombay, 1961.

Gopinath, P. Krishna, 'Corruption in Political and Public Offices' in *The Indian Journal of Public Administration*, New Delhi, October-December, 1982.

Gore, M.S., *Immigrants and Neighbourhoods: Two Aspects of Life in a Metropolitan City,* Tata Institute of Social Sciences, Bombay, 1970.

Gore, M.S., *Education and Modernisation in India*, Rawat Publications, Jaipur, 1982.

Gould, Harold, *The Hindu Caste System*, Chanakya Publications, New Delhi, 1987.

Gould, Harold, *Caste Adaptation in Modernising Indian Society*, Chanakya Publications, New Delhi, 1988.

Gough, E.K., 'Caste in a Tanjore Village' in Leach (ed), *Aspects of Caste in South India, Ceylon and North-West Pakistan*, Cambridge University Press, Cambridge, 1960.

Gupta, Dipankar, *Social Stratification*, Oxford University Press, Delhi, 1991.

Gupta, P. and Gupta, S, 'Estimates of the Unreported Economy in India', *Economic and Political Weekly,* Bombay, Vol. XVII, No 13, January 16, 1982.

Gupta, Raghuraj, 'Caste Ranking and Inter-Caste Relations among the Muslims of the village in North-Western Uttar Pradesh, *Eastern Anthropologist*, Lucknow, 1956

Hall, Stuart and Gay, *Questions of Cultural Identity*, Sage Publications, 1996.

Hooja, Meenakshi and Hooja Rakesh, 'Panchayati Raj in Rajasthan' *The Indian Journal of Public Administration*, Delhi, Vol. XLIV, No 3, 1998.

Hutton, J.H, *Caste in India*, Cambridge University Press, Cambridge, 1946.

ICSSR: *A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, Vols. I and II, 1974 and 1984.

Iqbal Narain, 'Reforming Educational Administration in India, *Indian Journal of Public Administration*, July- September, 1986.

Isaacs, Harold R., *India's Ex-Untouchables*, John Day, New York, 1965.

Jain, S P, Religion and Caste Ranking in a North Indian Town, *Sociological Bulletin*, 20 (2), 1971

Joshi, PC., 'Students, Youths and National Development', *Yojana*, May 1967

Kali Prasad, *Social Integration Research A Study in Inter-Caste Relationship*, Lucknow University, Lucknow, 1954

Kanal, S P, *Dialogues on Indian Culture*, Panchal Press Publications, Delhi, 1955

Kapadia, K.M., 'The Family in Transition', *Sociological Bulletin*, 8/27, 1959

Kapadia, K.M., 'Caste in Transition', *Sociological Bulletin*, September, 1962

Kapadia, K.M, *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1966 (first published in 1955)

Karve, Irawati, *Kinship Organisation in India*, Asia Publishing House, Bombay, 1953

Khanna, B S, *Panchayati Raj in India*, Deep and Deep Publications, New Delhi, 1994

Khan, M E, 'Muslim Society Structure in an Urban Setting', *Indian Anthropologist*, 6(1), 1976

Kolenda Pauline, *Caste in Contemporary India*, Rawat Publications, Jaipur, 1997 (originally published in 1968)

Kothari, Devendra and Gulati, Anuja, 'Family Welfare Programme in India A Proposal for Structural Change', *Administrative Change*, Jaipur, July 1990-June 1991

Kothari, Rajni (ed), *Caste in Indian Politics*, Orient Longman, Delhi, 1970 (reprinted 1973)

Leach, E R, (ed), *Aspects of Caste in South India, Ceylon and North-West Pakistan*, Cambridge University Press, Cambridge, 1960

Machael, Clarke (ed), *Corruption Causes and Consequences*, Franceeis Publishers, London, 1983

Madan, TN, 'On the Nature of Caste in India' in *Contributions to Indian Sociology*, Delhi, No 5, 1971

Mahapatra, L.K., 'Social Movements Among Tribes in India' in Singh, S K., (ed) *Tribal Situation in India*, Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1972

Mahar, J Michael, *The Untouchables in Contemporary India*, Rawat Publications, Jaipur, 1998

Mahajan, V.S, *Recent Developments in Indian Economy*, Deep and

Deep Publications, New Delhi, 1984.

Majumdar, D N, *The Affairs of a Tribe: A Study in Tribal Dynamics*, Universal Publishers, Lucknow, 1950.

Majumdar, D N, *Caste and Communication in an Indian Village*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

Malgavkar, P D, *Population and Development*, Centre for Policy Research, Delhi, 1980

Malhotra, K L, *Facets of Vigilance*, Malhotra Publications, Delhi, 1988 (and 1992).

Mandelbaum, David G., *Society in India*, (2 Vol), University of California Press, Berkley, 1970.

Manpower Profile, India, 1998, Institute of Applied Manpower Research, 1988 (6th ed).

Marriott, McKim, 'Social Structure and Change in a UP village' in M.N. Srinivas (ed.), *India's Villages*, Asia Publishing House, Bombay, 1955.

Marriott, McKim, *Village India: Studies in Little Community*, (ed), University of Chicago Press, Chicago, 1955.

Mathew, George, *Panchayati Raj From Legislation to Movement*, Concept Publishing Co, 1994.

Mayer, A C, *Caste and Kinship in Central India*, Routledge and Kegan Paul, London, 1960

Mills, C Wright, *The Power Elite*, Oxford University Press, N.Y.1956

Mukherjee, Partha, 'Social Movement and Social Change. To a Conceptual Classification and Theoretical Framework', *Sociological Bulletin*, 26(1), 1977.

Mishra, S N, Kumar Lokesh, and Pal Chaitali, *New Panchayati Raj in Action*, Mittal Publications, New Delhi, 1996.

Mishra, Sweta, *Democratic Decentralisation in India*, Mittal Publications, New Delhi, 1994

Monteria, J B, *Corruption*, Manaktalas, Bombay, 1966.

Mukherjee, Ramkrishna, *The Dynamics of a Rural Society*, Berlin, 1957.

Mukherjee, R.K., *Glimpses of Ancient India*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1961.

Mukherjee, Ramkrishna, *The Sociologist and Social Change in India Today*, Prentice Hall of India, Delhi, 1965.

Muller, Max, *Vedanta Philosophy*, Calcutta, 1955.

Murty, Satchidananda K., *The Divine Peacock*, New Age International Publishers, New Delhi, 1994

Nagpaul, Hans, *Modernisation and Urbanisation in India. Problems and Issues*, Rawat Publications, Jaipur, 1996

Narmadeshwar, Prasad, *The Myth of the Caste System*, Patna, 1956

Oommen, T.K., 'Social Movements' in *Survey of Research* in *Sociology and Social Anthropology, ICSSR*, (1969-1979), Satvaham Publications, New Delhi, 1985

Oscar, Lewis, *Village Life in Northern India. Studies in a Delhi Village*, University of Illinois Press, Urbana, 1958

Pande, Raj Bali, *The Hindu Sanskaras*, Asia Publications, Bombay, 1949

Parvathamma, C, *The Case for Untouchables*, United Asia, 1968

Pendse, D R, 'Black Money Its Nature and Causes', *The Economic Times*, March 19, 1982

Pfeffer, George, and Behera, Deepak, *Contemporary Society Tribal Studies*, (Vol 1 and 2), Concept Publishing Co, New Delhi, 1997.

Prabhu, P.N, *Hindu Social Organisation*, The Popular Book Depot., Bombay, 1954

Ramchandran, R, *Urbanisation and Urban Systems in India*, Oxford University Press, Delhi, 1998 (7th Impression)

Rao, MSA, *Social Movements in India*, (Vol I and II), Manohar Publications, New Delhi, 1978

Ross, Aileen, *Hindu Family in its Urban Setting*, Oxford University Press, Toronto, 1961

Sachchidananda, *The Harijan Elite*, Thomson Press, Faridabad, 1977.

Sachchidananda, *Elite and Development*, Concept Publishing Company, New Delhi, 1980

Santhanam Committee Report on 'Prevention of Corruption', Govt of India, 1964

Shah, A.M, *The Household Dimension of the Family in India*, Orient Longmans Ltd, Delhi, 1956

Shah, B.V, *Social Change and College Students of Gujarat*, M S University, Baroda, 1964

Shah, Ghanshyam, *Social Movements in India*, (4th print) Sage Publications, Delhi, 1998

Sharma, A.N, *Bonded Labour*, Tata Institute of Social Sciences, Bombay, 1990

Sharma, K.L., *Social Stratification in India*, Sage Publications, New Delhi, 1997.

Silverberg, James (ed), *Social Mobility in the Caste System in India*, Monton, Hague, 1968.

Singer, Milton and Cohn, B S., (eds.) *Structure and Change in Indian Society*, Aldine Publishing Company, Chicago, 1968.

Singh, K.S. (ed), *Tribal Situation in India*, Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1972.

Singh, S.S, and Misra, Suresh, *Legislative Framework of Panchayati Raj in India*, Intellectual Publishing House, Delhi, 1993.

Singh, Yogendra, *Modernisation of Indian Tradition*, Thomson Press, New Delhi, 1973.

Singh, Yogendra, *Social Stratification and Change in India*, Manohar Book Service, New Delhi, 1977.

Sinha, Surajeet, 'Caste in India' in ICSSR Report on *A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, New Delhi, 1974

Srinivas, M.N., *Religion and Society Among the Coorgs of South India*, Oxford University Press, Bombay, 1952.

Srinivas, M N, *Caste in Modern India*, Asia Publishing House, Bombay, 1962.

Sylvia, Vatuk, *Kinship and Urbanisation: White- Collar Migrants in North India*, University of California Press, Los Angeles, 1973.

Taylor, C C., *A Critical Analysis of India's Community*, University of Chicago Press, Chicago, 1955.

Thapar, Romila, *Seminar*, No. 313, Delhi, September, 1985

Thorner, Daniel, *Agrarian Structure*, Allied Publishers, Delhi, 1956

Toennies, Fardinand, *Fundamental Concepts of Sociology*, American Book Co, New York, 1940

Varghese, K.V., *Economic Problems of Modern India*, Ashish Publishing House, New Delhi, 1985.

Wirth, Louis, *The Ghetto*, University of Chicago Press, Chicago, 1938.

Wiser, W H, *The Hindu Jajmani System*, Lucknow Publishing House, Lucknow, 1936

Writh, Ronald and Simpkins, Edgar, *Corruption in Developing Countries*, London, 1963

Yojana, Special Issue on 'Could We Break Their Schackles', Vol. 31, No 8, May 1-5, 1987.